श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २७
पारस्कर-गृह्यसूत्रम्
(सम्पूर्ण)
हरिहर-गदाधर-जयरामभाष्य
'सरला' हिन्दी टीकासहित

॥ श्रीः ॥
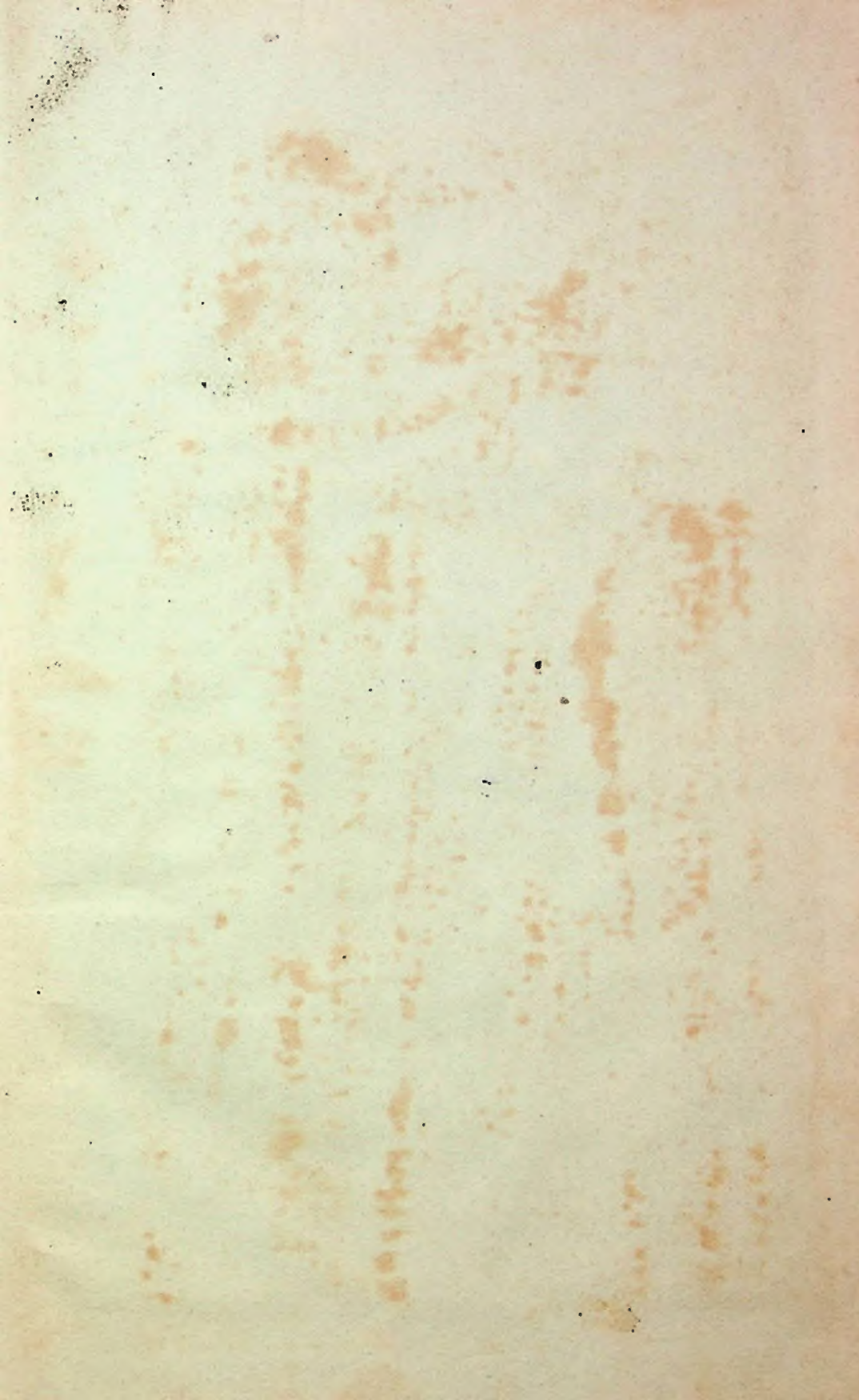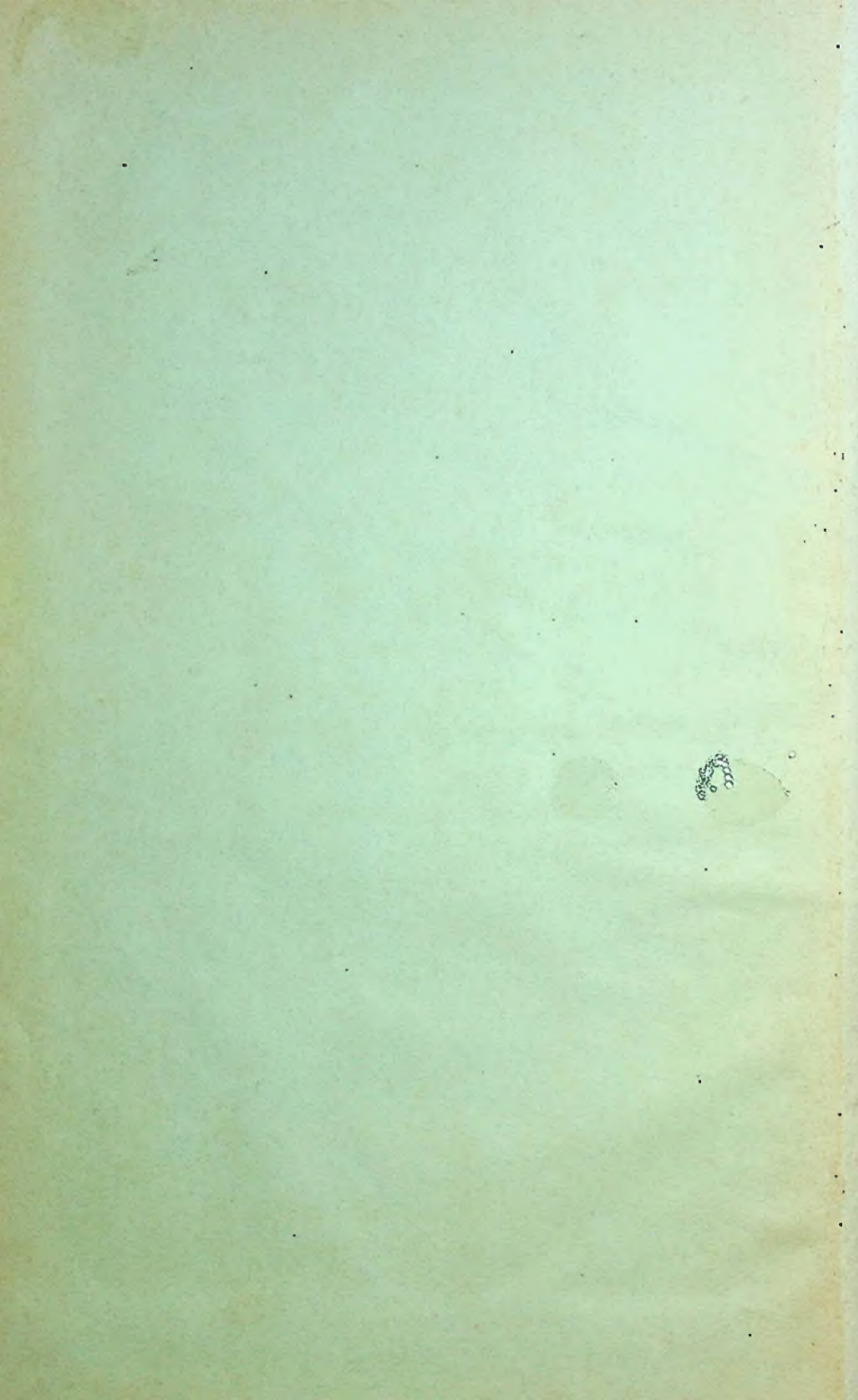
काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७
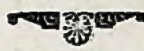
पारस्कर-गृह्यसूत्रम्

(सम्पूर्ण)

(हरिहरभाष्यसहितम्)

द्वितीयकाण्डं गदाधरभाष्यसमन्वितम्, तृतीयकाण्डं जयराम-प्रणीतभाष्येण समलङ्कृतम्, स्नानत्रिकण्डिकासूत्रैः, श्राद्धनवकण्डिकासूत्रैः यमलजननशान्ति-पृष्ठोदिवि-शौच-भोजन-कामदेवकृतभाष्यसहितम् 'उत्सर्ग' अथवा 'प्रतिष्ठा' परिशिष्ट-सूत्रः समलङ्कृतं च

पं० नेने गोपालशास्त्रिणा-टिप्पण्यादिभिः परिष्कृत्य संशोधितम्

'सरला' हिन्दीव्याख्यया भूमिका-परिशिष्टादि-समन्वितम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

संस्कृतविभागः, कलासंकायः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पोस्ट बाक्स नं० ११३९

के ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मंदागिन)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
17

PĀRASKARA-GṚHYA-SŪTRA

COMPLETE

With the Commentaries

OF

Harihar-Bhāṣya, Gadādhara-Bhāṣya upto Second Kānda
and Jayarāma-Bhāṣya on third kānda

With Appendices

Snānatrikandikā-Kalpasūtra with Harihar Bhāṣya,
Śrāddha-navakandikā Kalpasūtra with Gadādhara
Bhāṣya, Yamala jananaśānti, Priṣtodivi,
Sauca, Bhojana and Utsarga or Pratiṣthā-
sūtra with Kamdeva Bhāṣya

Notes by

PAṆḌITA GOPĀLAŚĀSTRĪ NENE

Edited

With 'Saralā' Hindi translation, explanatory Notes,
Critical Introduction & thee vseful Appendices.

By

Dr. SUDHĀKARA MĀLAVĪYA

M. A. Ph. D. Sahityācārya
Department of Saskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University
Varanasi-5

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors Orientol Cultural Literature

Post Box. No. 1139

K. 37|116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
VARANASI (INDIA)

पारस्कर-गृह्यसूत्रम्

सम्पूर्ण

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

पारस्करगृह्यसूत्रम्

प्रथमं काण्डम्

हरिहर-गदाधरभाष्योपेतम्

पं० नेने गोपालशास्त्रिणा भूमिका-टिप्पण्यादिभिः

परिष्कृत्य संशोधितम्

'सरला' हिन्दीव्याख्यासहितम्

विस्तृतभूमिका-परिशिष्टादि-समन्वितम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्यः

(संस्कृत-पालि-विभाग : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

प्रस्ताविका

डॉ० पद्मा मिश्र

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी० (लंदन)

एल० टी०, शास्त्री (पंजाब), काव्यतीर्थ, आचार्य

(सांख्ययोग पुराणेतिहास), अवकाश प्राप्त प्रोफेसर संस्कृत विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
17
*****

PĀRASKARA-GṚHYA-SŪTRA

(First Kāṇḍa)

With the Commentaries

OF

HARIHARA & GADĀDHARA

and

Notes by

PAṆḌITA GOPĀLAŚĀSTRĪ NENE

Edited

with 'Saralā' Hindi Translation, Explanatory Notes, Critical Introduction & Four useful Appendices

By

Dr. SUDHĀKARA MĀLAVĪYA

M. A., Ph. D., Sāhityācārya

Department of Sanskrit & Pali : Banaras Hindu University, Varanasi

Foreword by

Dr. PADMĀ MIŚRA

M. A. (Sans. Hindi), Ph. D. (London),

L. T., Śāstrī (Panjab), Kāvyatīrtha,

Ācārya (Sāṁkhya yoga Purāṇetihāsa) Retd. Professor of Sanskrit

Banaras Hindu University, Varanasi

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Sellers of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

भूमिका

श्रीईशकृपया समाप्तमिदं श्रीमत्परमकारुणिकस्य मुनिवृन्दवित्रन्द्यस्य महर्षिप्रवरस्य सर्वसिद्धिसमर्थस्य विद्यात्रयोपारङ्गतस्य श्रुत्यर्थप्रथनविचक्षणस्य कात्यायनापरनामकस्य भगवतः पारस्कराचार्यस्य कृतेः पारस्करगृह्यसूत्रस्य गृह्यपरिशिष्ट–स्नानत्रिकण्डिका–श्राद्धनवकण्डिकासहितस्य मुद्रणकार्यम्।

अस्मिन् खलु पुस्तके गृह्यसूत्रस्य त्रिकाण्डीरूपस्य सम्पूर्णस्य व्याख्यानभूतं श्रीमदग्निहोत्रिहरिहरविरचितं भाष्यं काण्डद्वयस्य व्याख्यानभूतं श्रोत्रियाग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरविरचितं सौत्रमन्त्रार्थप्रकाशकत्वेन हरिहरभाष्यानुगतार्थमर्मे च तृतीयकाण्डे तदनुपलब्धेः तादृशार्थबोधकतया भारद्वाजगोत्रेण दामोदराचार्यपौत्रेण बलभद्रपुत्रेण केशवशिष्येण जयरामेण विरचितं भाष्यं च निवेशितमास्तिकमतीनां स्मार्तकर्मप्रयोगादिज्ञानसौलभ्याय। अनन्तरं च हरिहरभाष्यसहितं मुख्यगौणस्नान–सन्ध्योपासन–ब्रह्मयज्ञ–तर्पण–विधिकलापात्मकं स्नानत्रिकण्डिकासूत्रं गदाधरभाष्यसहितं श्राद्धनवकण्डिकाकल्पसूत्रं निवेश्य यमलजननशान्तिवृष्टोदिवि–शौच–भोजन–उत्सर्गो[प्रतिष्ठा]त्मकानि पञ्च परिशिष्टसूत्राणि न्यवेश्यन्त। यद्यपि भगवता कात्यायनेनान्यान्यपि परिशिष्टानि कृतानि विद्यन्ते तथापि तेषां श्रौतपरिशिष्टत्वाद् गृह्यसूत्रेण सह समावेशोऽयुक्त इति गृह्यपरिशिष्टत्वात्पञ्चैव समावेशितानि। उत्सर्गसूत्रस्य च श्रीमदग्निचिद्दीक्षितविश्वामित्रात्मजकामदेवकृतं भाष्यं प्रतिष्ठापद्धतिप्रदर्शकं प्रतिष्ठाकामुकानां कृते समावेशितम्। सूत्रभाष्यसमागता मन्त्राश्च तत्तत्स्थलेषु अर्थनिर्देशपूर्वकं सकलानुपूर्वीविशिष्टाः टिप्पण्यां यथामति निवेशिताः। प्रेक्षावतां प्रवृत्तिसौलभ्याय सूत्राणि महत्स्वक्षरेषु ततो ह्रस्वतरेषु हरिहरभाष्यं ततो ह्रस्वतमेषु च गदाधरभाष्यं ततः पूर्णरेखाधस्ता ट्टिप्पणी च वर्तन्ते। पारस्करः कात्यायनश्चाभिन्नावेका व्यक्तिरिति पारस्करसूत्रगदाधरभाष्यादिपर्यालोचनयाऽवगम्यते। तथाहि पारस्करः खलु व्रीहियवयोर्यागसाधनत्वे सन्देहाभावे पूर्वोक्तत्वहेतुं वदता कात्यायनश्रौतसूत्रप्रथमाध्यायनवमकण्डिकाप्रथमसूत्रस्य "व्रीहीन् यवान् वा हविषि" इत्यस्य स्वकर्तृकत्वं" न पूर्वचोदितत्वात्संदेहः" (पा० गृ० २-१७-४) इत्यनेन स्पष्टमुक्तवान्।

गदाधरेण किल श्राद्धसूत्रव्याख्यावसरे प्रथमकण्डिकायां चतुर्थसूत्रे "त्रयः स्नातका भवन्तीत्यादिना स्नातकलक्षणं चोक्तं कात्यायनेन" इति पारस्करप्रणीतगृह्यसूत्रद्वितीयकाण्डपञ्चमकण्डिकात्रयस्त्रिंशत्सूत्रस्य कात्यायनकर्तृकत्वं वदता प्रथमकण्डिकाप्रथमसूत्रे च "पूर्वां पौर्णमासीमुत्तरां वोपवसेत्, इत्यादिना श्रौतकर्माण्युपदिश्य अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म इत्यादिना स्मार्त्तान्यपि व्याख्यायावशिष्टं श्राद्धं कर्म" इतिकात्यायनकर्तृकश्रौतसूत्रस्य गृह्यसूत्रस्य च ल्यबन्तनिर्देशेन समानकर्तृकत्वं स्पष्टमेवोक्तम्।

यद्यप्यनेकानि आश्वलायनशाङ्खायनबौधायनगोभिलादिगृह्यसूत्राणि सन्ति तथापि तेषां तत्तत्स्थलेष्वर्थनिर्णयाय मीमांसाशास्त्रापेक्षत्वेन कात्यायनसूत्राणां च मीमांसादिविशिष्टार्थप्रतिपादकतया इतरसूत्रेभ्यो वैशिष्ट्यम्।

इदं गृह्यसूत्रं च सपरिशिष्टं षष्टिकण्डिकात्मकमिति श्रीमद्भिः कामदेवदीक्षितैः स्वकृतोत्सर्ग [प्रतिष्ठा]-परिशिष्टसूत्रव्याख्यानावसाने लिखितमिति प्रथमकाण्डे एकोनविंशतिकण्डिकानां द्वितीयकाण्डे सप्तदशकण्डिकानां तृतीयकाण्डे पञ्चदशकण्डिकानां यमलजननशान्तिपरिशिष्टे एकस्याः कण्डिकायाः पृष्ठोदिविपरिशिष्टे चैकस्याः कण्डिकायाः शौचपरिशिष्टे कण्डिकात्रयस्य भोजनपरिशिष्टे च कण्डिकात्रयस्य उत्सर्ग [प्रतिष्ठा]-परिशिष्टे एकस्याः कण्डिकाया विद्यमानत्वेन तत्सङ्कलनया षष्टिकण्डिकालाभात् स्नानश्राद्धसूत्रयोः परिशिष्टान्यत्वमिति स्पष्टं प्रतीयते। अत एव च तन्मुद्रणावसरे 'श्राद्धकल्पसूत्रे' 'स्नानकल्पसूत्रे' इति शीर्षकमुट्टङ्कितम्। वस्तुतस्तु गदाधरभाष्ये जातकर्मप्रयोगनिरूपणावसरेऽथातो मूलविधिं व्याख्यास्याम इत्यारभ्य एष एव विधिः कात्यायनेनोक्त इत्येतदन्तेन ग्रन्थजातेन (२७४ पृ०) मूलशान्तिपरिशिष्टस्यापि कात्यायनीयत्वोक्तेः षष्टिसंख्या चिन्त्या पृष्ठोदिविपरिशिष्टस्य कात्यायनीयत्वे वा दृढतरं मानं चिन्त्यम्। सूत्राणां तत्रत्यमन्त्राणां च अकाराद्यक्षरानुक्रमणिका सूत्रभाष्यस्थविषयानुक्रमणिका च सर्वेषामवाप्तिसौलभ्याय निवेशिता वर्तते आशासे मद्दृष्टिदोषेण अज्ञानदोषेण वा सीसकाक्षरयोजकदोषेण वा मुद्रणयन्त्रदोषेण वा सुलभानि स्खलितानि क्षाम्यन्ति गुणैकपक्षपातिनो विद्वाँसः। इति शुभम्।

ऋषिकुल
हरिद्वार
ता० ५-९-२५

विदुषामनुचरः—

गोपालशास्त्री नेने

प्रस्तावना

वेदसम्बन्धी अध्ययन के प्रारम्भिक काल से वेदार्थ-ज्ञान के महत्त्व का वैदिक विद्वानों ने निरन्तर प्रतिपादन किया है। अर्थज्ञान के बिना वेदों की आवृत्ति करने वाले को भारहार बताया गया है:—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

ब्राह्मण ग्रन्थों से ही वेदार्थ की बहुमुखी व्याख्या का प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर युगानुसार अध्येता की क्षमता को ध्यान में रख वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया। वेदाङ्ग शब्द की यह व्युत्पत्ति इनके अर्थद्योतकत्व को ही अभिव्यक्त करती है— 'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते वेदा एभिरिति वेदाङ्गाः।' वैदिक कार्यकलाप के लिए प्रत्येक वेदाङ्ग का अपना अपना महत्त्व है ही, तथापि मानव के अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति के उपायों के निर्देशक होने के साथ ही उसकी दैनन्दिन जीवनचर्या के भी दिग्दर्शक होने से कल्पसूत्रों का विशेष महत्त्व है। व्यक्तिगत कल्याण के साधनों का परिचय श्रौत, गृह्य तथा शुल्वसूत्रों में उपलब्ध है तथा सामाजिक परिवेश में मानव के कर्तव्याकर्तव्यों का निर्णय धर्मसूत्रों में वर्णित है, जिनके विषय का पल्लवन बाद में स्मृतियों में हुआ। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक ऐहिक तथा आमुष्मिक, सभी प्रकार के कल्याण के साधनों का कल्पसूत्रों में विशद वर्णन मिलता है। सूत्र शैली में विरचित इन कल्पसूत्रों में श्रौतयाग, वेदिसम्बन्धी ज्ञातव्य; गृह्यसंस्कार तथा वर्णाश्रम धर्म का सुव्यवस्थित वर्णन संक्षेप में अनायास उपलब्ध होता है। कल्पसूत्रों में भी गृह्यसूत्रों की सामग्री साधारण जन के लिए विशेष रूप से उपादेय है। वस्तुतः समाज में ऐसी मान्यता थी कि व्यक्ति को द्विजत्व की प्राप्ति तथा वेदाध्ययन का अधिकार गृह्य-संस्कारों के द्वारा ही मिलता था—'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।'

गृह्यसंस्कारों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन होने के साथ ही अद्यावधि प्रचलित है। यह निरवच्छिन्नता ही गृह्यसंस्कारों के अत्यधिक महत्त्व की द्योतक है। गृह्यसूत्रों में सुव्यवस्थित रूप से निबद्ध होने से पहले भी ये संस्कार अवश्य ही प्रचलित रहे होंगे। श्रौत यागों की तुलना में सरल एवं सुकर होने से इनके विधान की प्रक्रिया वंशपरम्परा में मौखिक रूप से सुलभ रही होगी। अतः किसी ग्रन्थ विशेष में इन्हें निबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत न हुई हो। जो ऋषि श्रौताग्नियों में विहित अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुःसाध्य यागों से सुपरिचित थे वे यजमान के व्यक्तिगत संस्कारों से उदासीन रहे हों यह संभाव्य नहीं लगता। अनेक ऋत्विजों द्वारा सम्पाद्य सोमयाग आदि में व्यस्त क्रान्तदर्शी धीरों ने सामान्य किन्तु मूलभूत गृह्य-संस्कारों को निबद्ध करना अनिवार्य न समझा हो, परन्तु यह सुनिश्चित है कि समाज में सामान्य रूप से प्रचलित गृह्यसंस्कारों, उनके विधान तथा पद्धति से वे भलीभाँति परिचित थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उन तथ्यों का कहीं कहीं समावेश है जिनका सविस्तर विवेचन बाद में वेदाङ्गों में हुआ है। ऐसे ही कुछ प्रसङ्गों में गृह्यसंकारों का भी उल्लेख हुआ है। गृह्यसंस्कारों के इन प्रासङ्गिक निर्देशों से भी यही सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज इन संस्कारों के विधिसंगत विधानों से पूर्ण रूप से परिचित था। अन्यथा इन निर्दिष्ट संस्कारों की पूरी प्रक्रिया का भी ब्राह्मणों में समावेश होता। शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड (११-५-४) में उपनयन का उल्लेख इस विचार की पुष्टि करता है। अग्निहोत्र एवं तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का विवरण उद्दालक से श्रवण कर उनकी विद्वत्ता में प्रभावित शौचेय ने उनका शिष्य बनने की इच्छा व्यक्त की—'उपायानि भगवन्तम्' तथा उद्दालक ने उन्हे शिष्य रूप में स्वीकार किया—'उपनिन्ये'। इस सन्दर्भ में उपपूर्वक नी धातु के प्रयोग से इस ब्राह्मण में उपनयन का प्रसंगवश संक्षिप्त वर्णन है। गृह्यसूत्रों में बहुधा प्राप्त श्लोकों के समान एक श्लोक भी वहाँ उद्धृत है। इसी काण्ड में (११-५-६-१) पञ्च महायज्ञों का निर्देश तथा उनका विवरण भी मिलता है। इसी ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में (१४-९-४-१७) गृह्यसूत्रों में वर्णित मेधाजनन तथा आयुष्य संस्कारों का भी उल्लेख प्रसंगवश हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के इस ब्राह्मण के उपर्युक्त निर्देशों से यह स्पष्ट है कि गृह्यसंस्कारों का सामान्य तथा विशेष फल के लिए विधान वैदिक समाज में प्रचलित

और सुविदित था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र तत्र निर्दिष्ट विविध तथ्यों का कालान्तर में जब अन्यान्य ग्रन्थों में संग्रह और विश्लेषण हुआ तब गृह्यसंस्कारों के विधान भी विनियोज्य मन्त्रादि के साथ संगृहीत हुए तथा इनकी गृह्यसूत्र के नाम से प्रसिद्धि हुई।

शुक्ल यजुर्वेद का एक मात्र गृह्यसूत्र अपने निर्माता पारस्कर के नाम से प्रख्यात है। कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर और विश्वनाथ नामक प्राचीन विद्वानों के भाष्य इस गृह्यसूत्र पर उपलब्ध हैं जो इसके महत्त्व और लोकप्रियता के सूचक हैं। इस गृह्यसूत्र को प्रो० स्तेन्ज्लर ने जर्मन अनुवाद सहित पाश्चात्य विद्वानों को सुलभ कराया; तथा हरमन ओल्डेनवर्ग ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। भारतीय संस्कृति और परम्परा को समझने का इन विद्वानों ने पूरा प्रयास किया है तथा अपने अपने ढंग से दुर्बोध अंशों की व्याख्या की है। इनका प्रयास स्तुत्य और प्रेरणादायक है तथापि दुरूह प्रसङ्गों को जितनी अच्छी तरह भारतीय प्रचलन और परम्परा की सहायता से एवं गृह्यसंस्कारों की पद्धति को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है उतना भाषा-विज्ञान आदि की सहायता से नहीं। अतः संस्कृतज्ञों को इस ओर अग्रसर होना चाहिए।

चिरकाल से गृह्यसूत्रों में संरक्षित संस्कारों की इस सम्पत्ति को अज्ञानान्धकार में विलीन होने से बचाना अत्यावश्यक कर्तव्य है। संस्कारों के मूल रूप के तथा विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ और उनके महत्त्व के अज्ञान का ही यह परिणाम है कि जातकर्मादि संस्कार विलुप्तप्राय हैं। मुण्डन, उपनयन और विवाहादि में भी धार्मिक महत्त्व कम और सामाजिक आडम्बर अधिक होता जा रहा है। उपादेयता के इस युग में गृह्यसंस्कारों की आवश्यकता और उनके महत्त्व का प्रतिपादन संभवतः जिज्ञासुओं को इन्हें मूलरूप में जानने और उसी रूप में अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्रवृत्त करे। अतः अधिकाधिक गृह्यसूत्रों का हिन्दी में अनुवाद अपेक्षित है।

अत्यन्त सन्तोष का विषय है कि डा० सुधाकर मालवीय ने पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रथम काण्ड को गदाधर और हरिहर के भाष्य के साथ प्रस्तुत किया है। अवशिष्ट दोनों काण्ड भी वे शीघ्र प्रस्तुत करने वाले हैं। भूमिका में श्री मालवीय ने कल्पसूत्रों के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों का सर्वाङ्गीण परिशीलन, पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकर्ता तथा इसके प्रतिपाद्य विषयों का विशद विवेचन किया है। इस संस्करण की यह विशेषता,

है कि एक ओर यह छात्रों के लिए सुबोध है तथा दूसरी ओर विद्वानों एवं अनुसन्धाताओं के लिए भी इसमें पर्याप्त सामग्री है। पाँच भाष्यों में से हरिहर एवं गदाधर के भाष्यों का चयन भी विशेष दृष्टि से किया गया है। हरिहर का भाष्य अपनी प्रामाणिकता के लिए तथा गदाधर का भाष्य मन्त्रों के अर्थ एवं पद्धति के लिए प्रख्यात है। परिशिष्ट में भाष्यान्तर्गत ग्रन्थ व ग्रन्थकार की अनुक्रमणिका; सूत्रान्तर्गत नामों एवं विषयों की अनुक्रमणिका तथा मन्त्रों एवं उद्धरणों के आकर-निर्देश से जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी। इस लोकप्रिय गृह्यसूत्र के प्रकाशन के लिए संपादक एवं प्रकाशक विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
दिनांक १२-१२-७९

पद्मा मिश्र

दो शब्द

'पारस्करगृह्यसूत्र' के प्रस्तुत संस्करण की विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या एवं टिप्पणियों के साथ प्रथम काण्ड प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। वस्तुतः इस क्षेत्र में मेरा यह प्रथम प्रयास था जो आज पूर्ण हो पाया है। इसके बाद के अनेक कार्य यद्यपि प्रकाशित भी हो गए और उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत भी हो चुके हैं, तथापि इसकी पूर्णता में मेरा विशेष ममत्त्व है।

इस ग्रन्थ में सूत्रों की व्याख्या और सरल हिन्दी अनुवाद देने का प्रयत्न किया गया है। सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ [ ] इस प्रकार के बड़े कोष्ठकों में अपनी ओर से कुछ जोड़ा भी गया है। सूत्र में आए हुए प्रायः सभी मन्त्रों का आकर-निर्देश टिप्पणी मे कर दिया गया है। भूमिका में 'गृह्यसूत्र-साहित्य' पर और 'पारस्करगृह्यसूत्र' के सभी पहलुओं पर एवं प्रमुख संस्कारों पर परिशीलनात्मक दृष्टि से विस्तृत विचार प्रस्तुत किया गया है। अन्त में सूत्रानुक्रम और मन्त्रानुक्रम के साथ-साथ सूत्रान्तर्गत नामों एवं विषयों की अनुक्रमणिका तथा हरिहर एवं गदाधर भाष्यान्तर्गत ग्रन्थ और ग्रन्थकार की अनुक्रमणिका भी दी गई है, जो अनुसंधान करने वाले जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होगी।

इस ग्रन्थ को वर्तमान रूप प्रदान करने का श्रेय चौखम्भा संस्कृत संस्थान के कुशल संचालकों को ही है जो संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति की सेवा और प्रतिस्थापना में चिरकाल से अहर्निश संलग्न हैं। हिन्दी अनुवाद व व्याख्या आदि की प्रेसकापी तैयार करने के लिए मैं अपनी सहयोगिनी का आभारी हूँ। अन्त में, मैं अपनी पूजनीया गुरुवर्य डा० पद्मा मिश्र (भू० पू० प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) के मधुर प्रेरणा-स्रोत और स्नेहिल वात्सल्य का स्मरण करता हूँ जिनके कारण मैं इस ग्रन्थ के सम्पादन व अनुवाद आदि में प्रवृत्त हुआ। इसके लिए मैं श्रद्धावनत हो उनसे आशीर्वाद की कामना करता हूँ।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तरम्॥ (वा० सं० २०.२१)

[हम अन्धकार से ऊपर उठकर उत्तम स्वर्गलोक को तथा देवताओं में अत्यन्त उत्कृष्ट सूर्यदेव को भलीभाँति देखते हुए उस सर्वोत्तम ज्योतिर्मय परमात्मा को प्राप्त हों।]

मकरसंक्रान्ति १९८० — विदुषां वशंवदः

२१/२१ लंका, वाराणसी–२२१००५ — सुधाकर मालवीय

भूमिका

वेद विश्वसाहित्य की अप्रतिम निधि हैं। वेद के छः अङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. निरुक्त, ४. व्याकरण, ५. छन्द और ६. ज्योतिष। षड्गुरुशिष्य द्वारा वेद के इन अङ्गों को हाथ और पैर के समान कहा गया है—

छन्दः पादौ शब्दशास्त्रं च वक्त्रं
कल्पं पाणी ज्योतिषं चक्षुषी च।
शिक्षा घ्राणं श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं
वेदस्याङ्गान्याहुरेतानि षड् हि॥[1]

वेद पुरुष के अङ्गों में 'कल्प' को हस्तस्थानीय माना गया है। जिस प्रकार हाथ के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता उसी प्रकार 'कल्पशास्त्र' के ज्ञान के बिना कोई यज्ञीय कार्य नहीं हो सकता। वेद का मुख्य प्रयोजन कर्मकाण्ड अथवा यज्ञीय प्रक्रिया है। षडङ्ग वेद में से कल्पशास्त्र में इसी यज्ञीय अनुष्ठान का व्यवस्थित वर्णन है।

कल्प—

'कल्प' वेदविहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करने वाला शास्त्र है।[2] अथवा **'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'कल्प' वह है जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय। यज्ञीय प्रयोगों के वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त हैं। किन्तु ये विवेचन इतने जटिल हैं कि उनको स्पष्टतः क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने के लिए 'कल्पसूत्रों' की रचना हुई। 'सूत्र-ग्रन्थों' में शास्त्रीय विषय को व्यवस्थित रूप में संक्षिप्ततः प्रस्तुत किया जाता है। अधिक अर्थ को संक्षेप से कहना ही 'सूत्र' है।[3]

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—

१. श्रौतसूत्र—वेदोक्त अग्नित्रय-साध्य कर्मों (श्रौतयाग) के अनुष्ठानक्रम के बोधक 'श्रौतसूत्र' होते हैं।

---

१. ऋक्सर्वा० की षड्गुरुशिष्य कृत भूमिका श्लोक ९।

२. 'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।'

३. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ विष्णुधर्मोत्तर पुराण।

२. गृह्यसूत्र—एकाग्निसाध्य जातकर्मादि संस्कार-कर्मों के प्रतिपादक 'गृह्यसूत्र' होते हैं।

३. धर्मसूत्र—साधारण वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक 'धर्मसूत्र' होते हैं।

४. शुल्वसूत्र—यज्ञ-वेदि के निर्माण की रीति के प्रतिपादक 'शुल्वसूत्र' होते हैं।

सूत्रसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास

श्रौतसूत्र—

ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र दो हैं—१. आश्वलायन और २. शाङ्खायन। आश्वलायन श्रौतसूत्र आश्वलायन महर्षि द्वारा प्रणीत है, और शाङ्खायन श्रौतसूत्र[1] शाङ्खायन महर्षि द्वारा। इन श्रौतसूत्रों में पुरोनुवाक्या, याज्या, तत्तत् शस्त्रों और उनके अनुष्ठान प्रकारों का उल्लेख करते हुए उनके देशकाल व कर्ता आदि का विधान, स्वर-प्रतिगर,[2] न्यूङ्ख[3] और प्रायश्चित्त आदि प्रधानतया अभिहित हैं।

कृष्ण-यजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र हैं—इनमें १. बौधायन, २. आपस्तम्ब, ३. हिरण्यकेशी, ४. भारद्वाज, और ५. वखानस—ये पाँच श्रौतसूत्र तैत्तिरीय शाखा के हैं, और ६. मानव श्रौतसूत्र मैत्रायणीयसंहिता का है।

शुक्ल-यजुर्वेद का मात्र एक ही श्रौतसूत्र है। यह शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं को अधिकृत करके वर्णित है। विशेषतः यह काण्व और माध्यन्दिन शाखीय है। इसमें २६ अध्याय हैं।

सामवेद का एक लाट्यायन श्रौतसूत्र है, दूसरा द्राह्यायण श्रौतसूत्र और तीसरा मशककल्पसूत्र है। इनके अलावा प्रायः ५२ परिशिष्ट भी मिलते हैं।

अथर्ववेद का एक ही सूत्र कौशिक श्रौतसूत्र उपलब्ध होता है। विशेषता यह है कि यह श्रौतसूत्र मात्र श्रौतविषयों का ही प्रतिपादन न करके गृह्यविषयों का भी प्रतिपादन करता है। 'वितानसूत्र' नामक श्रौतसूत्र किस वेद का अवलम्बन करके प्रतिपादित है यह अज्ञात है। इसके २६ परिशिष्ट उपलब्ध होते हैं, जिनमें कुछ श्रौत विषय और अधिकतर स्मार्त विषय प्रतिपादित हैं।

---

१. हिलेब्रान्त के द्वारा संपादित और बिब्लो० इण्डिका, १८८८ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित। सम्प्रति पं० रामनाथ दीक्षित द्वारा संपादित, का० हि० वि० वि० से (१९८० में) की व्याख्या के साथ प्रकाशित।

२. यज्ञे शस्त्रं प्रयुञ्जानस्य होतुरुत्साहजनकमध्वर्योर्वचनं प्रतिगरः।

३. नितराम् अत्यन्तविषमप्रकारेण ऊङ्खनमुच्चारणं न्यूङ्खः।

द्र० आश्व० श्रौ० ७. ११. १–५।

गृह्यसूत्र—

ऋग्वेद के गृह्यसूत्र

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र—इसमें चार अध्याय हैं जो खण्डों में विभाजित हैं। इसमें गृह्यकर्म और संस्कारों के वर्णन के साथ-साथ अन्यत्र अप्राप्त प्राचीन आचार्यों के नाम भी निर्दिष्ट है (३.३)।

२. शाङ्खायनगृह्यसूत्र—यह ६ अध्यायों में विभक्त है। संस्कारों के वर्णन के साथ-साथ इसमें गृहनिर्माण और गृहप्रवेश आदि का भी वर्णन है। इसके रचयिता सुयज्ञ हैं।

३. कौषीतकि-गृह्यसूत्र—इसमें पाँच अध्याय हैं। इनमें प्रथम चार अध्याय विषय की दृष्टि से शांखायन गृह्यसूत्र के ही समान हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में विवाह संस्कार और जात शिशु के संस्कारों के परिचय के बाद उपनयन वर्णन है। वैश्वदेव, कृषिकर्म के बाद श्राद्ध का और अन्त में पितृमेध का वर्णन है। पितृमेध, शाङ्खायन-गृह्य में नहीं है; किन्तु शाङ्खायन-श्रौतसूत्र (४.१४-१६) में है।

कृष्ण-यजुर्वेद के गृह्यसूत्र—

१. बौधायन-गृह्यसूत्र—यह कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का है। यह गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर से प्रकाशित है।

२. आपस्तम्ब-कल्पसूत्र—तीन प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त आपस्तम्ब-कल्पसूत्र के प्रथम तेइस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं, २४ वाँ प्रश्न परिभाषा है और २५ एवं २६ प्रश्नों में गृह्यकर्म के मन्त्रों का संकलन है तथा २७ वाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। २८ और २९ प्रश्न धर्मसूत्र है तथा अन्तिम ३० वाँ प्रश्न शुल्व-सूत्र है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में ८ पटल एवं २३ खण्ड है। यह विन्टरनित्स द्वारा सम्पादित और १८८७ में वियना से प्रकाशित हुआ और चौखम्बा से भी दो बार प्रकाशित हुआ।

३. हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र—तैत्तिरीय शाखा के इस गृह्यसूत्र को 'सत्याषाढ-गृह्यसूत्र' भी कहते हैं। यह संस्कृत टीका के साथ डा० क्रिस्ते द्वारा सम्पादित व वियना से प्रकाशित है। इसमें उपनयन से लेकर विवाह तक शालाकर्म, शूलगव, नवान्नप्राशन, मासिकश्राद्ध, अष्टका, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, उपाकर्म आदि कृत्यों का विधान है। इसका विभाग प्रश्न और पटल में है।

४. भारद्वाजगृह्यसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का चौथा गृह्यसूत्र भारद्वाज गृह्यसूत्र है। यह लाइडेन से १९१३ में प्रकाशित हुआ।

५. मानवगृह्यसूत्र—यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। अष्टावक्र की टीका के साथ यह गायकवाड ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित है।

इसमें उपनयन, सन्ध्या, उपाकर्म उत्सर्ग, विवाह एवं गर्भाधान आदि, दीक्षा, और्ध्वदेहिककर्म, नित्यहोम, स्थालीपाक, आश्वयुजा, आग्रहायणी, नवान्न, पशुयाग, स्रस्तराष्टका, लाङ्गलयोजन, गृहप्रवेश, वैश्वदेव, षष्ठी कल्प, विनायकादि-शान्ति कर्म प्रतिपादित हैं। इसका विभाग पुरुषों और खण्डों में हैं।

६. काठकगृह्यसूत्र--यह कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से संवद्ध है। इसे लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी कहते हैं। एक विभाग के अनुसार इसमें ७३ कण्डिकाएँ हैं। दूसरे विभाग के अनुसार यह पाँच बड़े-बड़े खण्डों अथवा अध्यायों में विभक्त है जिसके कारण इसे 'गृह्यपञ्चिका' भी कहा जाता है। इसके तीन प्रसिद्ध व्याख्याकार १. आदित्यदर्शन, 'माधवाचार्य के पुत्र, २. ब्राह्मणबल तथा ३. हरिपाल के पुत्र देवबल हैं। डा० कैलेन्ड ने इसका संस्करण लाहौर से निकाला था। इस गृह्यसूत्र में गर्भाधानादि, गृहशान्ति, लाङ्गल, श्राद्ध, अष्टका, शूलगव, वैश्वदेव, श्रवणाकर्म फाल्गुनीकर्म, होलाकर्म आदि विषय प्रतिपादित हैं।

शुक्लयजुर्वेद के गृह्यसूत्र--

१. शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र ही है। इसमें तीन काण्ड हैं; और काण्डों के अन्तर्गत कण्डिकाएँ हैं।

सामवेद के गृह्यसूत्र--

१. गोभिलगृह्यसूत्र—यह सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बद्ध है। इसमें चार प्रपाठक हैं।

इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय-परिभाषा, अग्न्याधान, वैश्वदेव, स्थालीपाक, विवाह, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान से उपनयन तक के कर्म, उपाकर्म, गोपालनविधि, श्रवणाकर्म, आश्वयुजी, नवान्नप्राशन, अष्टका, पिण्डपितृयज्ञ, काम्यकर्म, वास्तुयज्ञ और मधुपर्क आदि हैं। यह कलकत्ता से प्रकाशित है।

२. खादिर गृह्यसूत्र—यह सामवेद की राणायनीय शाखा से संबद्ध है। यह गोभिलगृह्यसूत्र से मिलता जुलता है। यह मैसूर से प्रकाशित है। इसमें विवाह आदि, नित्यहोम, वैश्वदेव, स्थालीपाक, उपाकर्म आदि, आश्वयुजी, आग्रहायणी; अष्टका और पौष्टिक कर्मों का विधान है।

३. द्राह्यायणगृह्यसूत्र—यह भी राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है। इसका हिन्दी के साथ एक संस्करण प्रकाशित है। इसमें परिभाषा, पाकयज्ञ, विवाह, गर्भाधान; उपनयन, उपाकर्म, आश्वयुजी, स्रस्तरारोहण, अष्टका, और्ध्वदेहिक कर्म, मधुपर्क, आदि विषय सन्निविष्ट हैं। यह पटल और खण्डों में विभक्त है।

४. जैमिनीय गृह्यसूत्र—इस गृह्यसूत्र का सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से है। इसमें दो खण्ड है : प्रथम खण्ड में चौबिस कण्डिकाएँ हैं और द्वितीय खण्ड में नौ कण्डिकाएँ

हैं। इसके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीनिवासाध्वरी हैं। यह लाहौर से प्रकाशित हुआ है। इसमें पाकयज्ञ, पुंसवन से उपनयन तक के कर्म, नान्दीश्राद्ध, विवाहोपाकर्म, नित्यहोम, सन्ध्या, वैश्वदेव आदि, अद्भुतशान्ति, ग्रहशान्ति आदि विषयों का प्रतिपादन है।

अथर्ववेद के गृह्यसूत्र——

१. कौशिक गृह्यसूत्र—अथर्ववेद का यही एकमात्र गृह्यसूत्र है। इसमें चौदह अध्याय है। यह प्राचीन भारतीय यातुविद्या [= जादू की विद्या] की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। इसमें वैद्यकशास्त्र के विषय भी वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त वराह गृह्यसूत्र भी प्राप्त होता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र—एक समीक्षा

वैदिक शाखा और पारस्करगृह्यसूत्र—

सभी गृह्यसूत्र शाखान्तर्गत ही हैं। पतञ्जलि के अनुसार शाखाएँ निम्न हैं— 'एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः'—एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः—महाभाष्य। किन्तु बहुत सी शाखाएँ अब प्राप्त नहीं हैं। 'शाखा' शब्द संहितावयववाचक नहीं है। 'शाखा' शब्द से एक ही संहिता के शिष्य प्रशिष्यों में प्रचरित विभिन्न ब्राह्मणादि भाग का ग्रहण करना चाहिए। अतः जितनी संहितायें हैं उससे कहीं अधिक शाखा हैं। वस्तुतः अध्ययन-अध्यापन के ही कारण शाखाभेद हुआ है।

शाकल और बाष्कल शाखाओं के स्वाध्याय में कुछ भेद है। उनमें दोनों का ही गृह्यसूत्र आश्वलायन और शाङ्खायन उपलब्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद में काण्व और माध्यन्दिन शाखा के अध्ययन-भेद के होने पर भी पारस्कर गृह्यसूत्र ही एक मात्र दोनों का ही प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह गृह्यसूत्र दोनों ही शाखाओं को ध्यान में रखकर निर्मित है। कल्पसूत्रों में यह नियम है कि जिस शाखा का अवलम्बन करके वे प्रवृत्त होते हैं उसी शाखा के मन्त्रों का प्रतीकमात्र ही ग्रहण भी करते हैं। 'यदि शाखान्तर मन्त्र का ग्रहण होता है तो वे पूर्णरूपेण उद्धृत किए जाते हैं मात्र प्रतीक नहीं। किन्तु इस गृह्यसूत्र में काण्वशाखान्तर्गत मन्त्र भी प्रतीक रूप से गृहीत हुआ है।'[1] इससे यह स्पष्टतः प्रमाणित है कि यह गृह्यसूत्र माध्यन्दिन शाखा का ही नहीं अपितु काण्व शाखा का भी अवलम्बन करता है।

---

१. 'मित्रस्य त्वा' पा० गृ० १.३ वाज. सं. (काण्व) २. ३. ४।

२ पा० गृ० भू०

इसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र भी दोनों ही शाखाओं का अवलम्बन करके प्रवृत्त है। यह कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्कभाष्य से प्रमाणित होता है।[1] तैत्तिरीय शाखा के समान पाठ होने पर भी अनेक गृह्यसूत्र बौधायन, आपस्तम्ब आदि मिलते हैं। सामवेद की तीन शाखा—कौथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय हैं। इनके गृह्यसूत्र गोभिल, हिरण्यकेशी आदि प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद की यद्यपि अनेक शाखाएँ थी तथापि एक ही गृह्यसूत्र प्राप्त है।

इस प्रकार गृह्यसूत्र शाखा-भेद के कारण अनेक ऋषि प्रणीत होने से अनेक प्रकार के हैं, जैसे आपस्तम्बगृह्यसूत्र आपस्तम्ब महर्षि द्वारा प्रणीत है और बौधायन-गृह्यसूत्र बौधायन महर्षि द्वारा। इसी प्रकार पारस्कर आचार्य के द्वारा यह गृह्यसूत्र प्रणीत है।

'गृह्य' शब्द का अर्थ योगरूढ है। गृह के लिए और गृहस्थाश्रमधर्म के हित के लिए 'गृह' एक यौगिक प्रयोग है। खादिरगृह्यसूत्र के उद्धरण से यह रूढ़ि स्पष्ट है—

'यस्मिन्नग्नौ पाणिं गृह्णीयात् स गृह्यः—(खादिर० १.५.१)।

वस्तुतः 'गृह', 'उपासन' और 'आवसथ' गृह के पर्यायमात्र हैं। अतः स्मार्त अग्नि की 'गृह्य', 'औपासन' और 'आवसथ्य' संज्ञायें हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रयोगों से ही यह स्पष्टतः देखा जा सकता है—

१. गृह्यस्थालीपाकानां कर्म (१ १.१); २. आवसथ्याधानम् (१.१.१) ३. औपासनस्य परिचरणम् (१.८.१)।

इस प्रकार गृह्याग्नि में होने वाले कर्मों की 'गृह्य' संज्ञा है, और उन कर्मों का संक्षेप से कथन ही 'गृह्यसूत्र' है। अतः जैसे गोभिल आपस्तम्ब आदि महर्षियों ने स्वनामाङ्कित गृह्यसूत्रों का निर्माण किया; वैसे ही महर्षि पारस्कर ने भी माध्यन्दिन शाखाध्यायियों के लिए स्वनामाङ्कित गृह्यसूत्र को सूत्रवद्ध किया।

इस तरह धार्मिक विषयों का अवलम्बन करके सूत्रों की रचना करने में प्रवृत्त सूत्रकारों ने श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र—इन तीन प्रकार के सूत्रों की रचना की। उनमें वेदोक्त अग्नित्रयसाध्य कर्मों के अनुष्ठान के बोधक श्रौतसूत्र हैं। एकाग्नि साध्य जातकर्मादि संस्कारों के प्रतिपादक ग्रन्थ गृह्यसूत्र हैं। वर्णाश्रम के सामान्य धर्म के प्रतिपादक ग्रन्थ धर्मसूत्र हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र तीनों ही बौधायन; आपस्तम्ब और मानव द्वारा रचित हैं। किन्तु वसिष्ठ और गौतम दोनों ने धर्मसूत्र का ही प्रणयन किया। जबकि आश्वलायन, शाङ्खायन और हिरण्यकेशी आचार्यों ने मात्र श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र का ही प्रणयन किया। वहीं कात्यायन आचार्य का मात्र श्रौतसूत्र ही है और आचार्य पारस्कर द्वारा भी एकमात्र गृह्यसूत्र का ही प्रणयन हुआ।

---

१. कात्यायन श्रौ० २.१.१ पर कर्क०।

किन्ही गृह्यसूत्रों में विवाह, किन्हीं में जातकर्म, किसी में उपनयन और किसी में अन्य संस्कारों का प्राथम्य है। पारस्कर गृह्यसूत्र में 'विवाह' ही प्रथमतः उपन्यस्त है। इसका औचित्य भी है। पुत्रोत्पत्ति के बिना जातकर्म का प्रथमतः कथन अयुक्त है। विवाह विधि के बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः 'विवाह विधि' का ही प्राथम्य है।

विवाह विधि के प्राथम्य का दूसरा कारण यह है कि 'अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म' इस प्रथमकण्डिकोक्त सूत्र से यह सिद्ध होता है कि स्थालीपाक कर्मों का विधान आवसथ्याग्नि में किया गया है, तथा आवसथ्याग्नि का आधान विवाह के समय उद्दिष्ट है। किन्तु हवनकर्म विवाहादि सभी कर्मों में सामान्य कर्म होने से सर्वत्र उपयोगी है। उसके अनन्तर 'आवसथ्याधान' का विधान माध्यन्दिन शाखानुयायियों के लिए है। अतः वैवाहिक-अग्नि आवसथ्याग्नि नहीं है। किन्तु विवाहाग्नि को अलग करके बताने के लिए ही ऐसा पारस्कर का विधान है। आश्वलायन आदि आचार्य वैवाहिक होम को दाराग्नि का संस्कारक मानते हैं। माध्यन्दिन शाखानुयायियों के लिए **'आवसथ्याधानं दारकाले'**—इस सूत्र के द्वारा आवसथ्य का आधान विवाह से पूर्व भी हो सकता है। अतः पृथक् कथन के कारण इस संस्कार से संस्कृत अग्नि 'आवसथ्याग्नि' है, न कि 'विवाहाग्नि'। इसीलिए संस्कारों में विवाह का ही कथन प्रथमतः आचार्य पारस्कर द्वारा किया गया है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रतिपाद्य विषय

यह गृह्यसूत्र तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम काण्ड में उन्नीस कण्डिकाएँ हैं। द्वितीय काण्ड में सत्रह और तृतीय में पन्द्रह कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल ५१ कण्डिकाएँ हैं।

'काण्ड' शब्द अध्याय के लिए पर्यायतः प्रयुक्त है। चुरादिगणीय भेदनार्थक 'कडि' धातु से कण्डिका शब्द बना है। जहाँ प्रकरणों का परस्पर भेद दिखलाया जाय उसे 'कण्डिका' कहते हैं।

प्रथम काण्ड की प्रथम कण्डिका 'कुश-कण्डिका' कही जाती है। इसमें यज्ञस्थल का शोधन, होम की आवश्यक सामग्री एवं होम का विधान है। द्वितीय कण्डिका में आवसथ्याधान की विधि बतलाई गई है। तृतीय कण्डिका से आरम्भ करके आठ कण्डिका तक मधुपर्क से आरम्भ करके विवाह का काल और विवाह-विधि वर्णित है। नवम कण्डिका में नित्य-होम का विधान है, और दसवीं कण्डिका में नैमित्तिक-कर्म वर्णित हैं। ग्यारहवीं कण्डिका में चतुर्थी-कर्म, बारहवीं में पक्षादि-कर्म और गर्भाधान का वर्णन है। तेरहवीं कण्डिका में गर्भ धारण की औषधि बताई गई है। चौदह, पन्द्रह एवं सोलहवीं कण्डिकाओं में

क्रमशः पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जात-कर्म वर्णित हैं। सत्रहवीं कण्डिका में नामकरण और निष्क्रमण, अट्ठारहवीं कण्डिका में प्रवास से आए हुए व्यक्ति के लिए नियमों का उल्लेख है। इस काण्ड की अन्तिम कण्डिका उन्नीसवीं कण्डिका में अन्नप्राशन-विधि वर्णित है।

द्वितीय काण्ड की प्रथम कण्डिका में चौल कर्म का विधान है। उसके बाद द्वितीय से लेकर आठवीं कण्डिका तक उपनयन संस्कार का वर्णन है। नौवीं कण्डिका में पञ्च-महायज्ञों का, दसवीं में उपाकर्म, ग्यारहवीं में अनध्याय, बारहवीं में उत्सर्ग की विधि बताई गई है। तेरहवीं कण्डिका में लाङ्गलयोजन कर्म, चौदहवीं में श्रवणाकर्म और पन्द्रहवीं कण्डिका में इन्द्रयज्ञ एवं पृषातक-होम (= आश्वयुजी कर्म) वर्णित हैं। इस काण्ड की अन्तिम सत्रहवीं कण्डिका में 'सीतायज्ञ' का वर्णन है।

तृतीय काण्ड की प्रथम कण्डिका में नवान्नप्राशन विधि और द्वितीय में आग्रहायणी-कर्म और स्तरारोहण दोनों ही साथ-साथ वर्णित हैं। तृतीय कण्डिका में अष्टका, चतुर्थ में शाला-कर्म, पाँचवीं में मणिकावधान, षष्ठ कण्डिका में शिरो-रोग-भेषज, सप्तम में दास-वशीकरण है। इसके बाद आठवीं से लेकर ग्यारहवीं कण्डिका तक क्रमशः शूलगव, वृषोत्सर्ग, और्ध्वदेहिक (= अशौच) और पशु-याग वर्णित है। बारहवीं कण्डिका में अवकीर्णि-प्रायश्चित्त है। तेरहवीं में सभा-प्रवेश-विधि, चौदहवीं में रथारोहण-विधि है। इस काण्ड की अन्तिम पन्द्रहवीं कण्डिका में हस्त्यारोहण विधि, वन-गिरि-श्मशान आदि का अभिमन्त्रण आदि और अन्त में अध्ययन-विधि है।

पारस्कर गृह्यसूत्र की विशेषताएँ

इस गृह्यसूत्र का भारत में अधिकतर प्रचार है। इसका कारण यह है कि बड़े ही सरल ढंग से क्रमपूर्वक संस्कारों का इसमें विधान किया गया है। इसकी प्रथमतः विशेषता है कि—यह शुक्ल-यजुर्वेद की दो शाखाओं का गृह्यसूत्र है। दूसरी विशेषता यह है कि अन्य गृह्यसूत्रों में न प्राप्त होने वाले विषयों का भी इसमें वर्णन है, जैसे मणिकावधान (= घड़े को जमीन में गाड़ने की विधि); शिरोरोग-भेषज, और दास-वशीकरण।

मन्त्रों के उच्चारण

मन्त्रों का उच्चारण शाखानुसार ही होना चाहिए।[1] अतः पारस्कर गृह्यसूत्र में मन्त्रों के उच्चारण में कुछ विशेष नियम हैं; जैसे रेफ और हकार से संयुक्त 'य'; जो वर्णान्तर से असंयुक्त हो और यदि पद के आदि में स्थित हो तो उस यकार

---

१. 'छन्दोवत् सूत्राणि' प्र० प०।

का जकार उच्चारण होता है; जैसे—'रय्या' का उच्चारण 'रज्जा' होगा। इस प्रकार जहाँ यकार का द्वित्व होगा वहाँ भी जकार ही उच्चरित होगा। किन्तु उपसर्ग से परे यदि यकार हो तो उसका उच्चारण जकार नहीं होगा। ऐसा ही संहिता में भी होता है; जैसे—'न यत्' (२०-८२), 'वि यत्', (१२-३४) आदि। इसी प्रकार एक ही शब्द के द्विरावृत्त होने पर भी जकार उच्चारण नहीं होगा; जैसे—'यजुषे यजुषे' इस द्विरावृत्त पद का उच्चारण 'जजुषे जजुषे' नहीं होगा। किन्तु 'अनुयोज' और 'अभियज्ञ' आदि में उपसर्ग परे यकार होने पर भी पदादि यकार का जकार उच्चारण विशेष नियम से होता है।

इसी प्रकार पद के आदि में स्थित वकार का भी द्वित्व करके उच्चारण होता है। किन्तु वा, वाम्, वः, वै—इनमें वकार का द्वित्व उच्चारण न होगा। अन्य हल् से असंयुक्त किन्तु ऊष्मा एवं ऋकार से संयुक्त रेफ का सर्वत्र रकार उच्चारण होता है। इसी प्रकार ऋकार का भी रकार उच्चारण होता है, और ऊष्मा से संयुक्त लृकार का लकार उच्चारण होता है। टवर्ग के साथ यदि षकार न हो तो सर्वत्र खकार उच्चारण होता है; जैसे पुरुषः। दीर्घ से परे अनुस्वार का ह्रस्व गुंकार उच्चारण होता है और ह्रस्व से परे अनुस्वार का दीर्घ गूंकार उच्चारण होता है; जैसे—'देवानाꣳ हृदयेभ्यः' यहाँ दीर्घ गूंकार है। यहाँ संयोग से परे और ह्रस्व से परे होने पर भी अनुस्वार का दीर्घ गूंकार उच्चारण ही होता है।

कुछ लोग 'गुं' और 'गूं' इन दोनों के स्थान पर 'ग्वम्' पढ़ते है। यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह नियमविरुद्ध है। प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में 'गुम्' इस कारिका के द्वारा आनुपूर्वी रूप से इसका स्पष्टतः उल्लेख है। वस्तुतः 'ग्वम्' उच्चारण करने में ह्रस्व और दीर्घ का स्पष्टतया उच्चारण-भेद न होने के कारण कोई औचित्य नहीं है।

इसी तरह 'गर्भधम्', 'सहस्रपात्' और 'रश्मीन्' आदि में अर्धमात्रिक मकार आदि के उच्चारण के बाद, दोनों ओष्ठों को विलग करके उसी तरह के मकार के उच्चारण में ऋगन्तादि नियम के द्वारा मात्रा त्रय आदि के विराम में अर्धमात्रिक मकार का सस्वर की तरह उच्चारण किया जाता है। पाणिनीय शिक्षा में अवसानगत मकार आदि का उच्चारण करके ओष्ठों को विलग करना विहित है।[1]

इसी प्रकार 'निर्ऋति' में रेफ और ऋकार के योग में स्वरभक्ति का प्रयोग होता है या नहीं? इस प्रश्न पर याज्ञवल्क्य-शिक्षा का मत इस प्रकार है—

'करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा।
तथा हंसपदा चैव पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥' (उत्तरार्ध, श्लोक १३)

---

१. 'अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयात्'—पा० शि० २४।

रकार और लकार से स्वरपरक ऊष्मा को 'स्वरभक्ति' कहते हैं। 'स्वरभक्ति' के पाँच भेद हैं १. करिणी, २. कुर्विणी, ३. हरिणी ४. हरिता और ५. हंसपदा। इन पांच प्रकार की स्वरभक्तियों के विधान से यहाँ निर्ऋति का अन्तर्भाव होता है। 'दाक्षिणात्य सम्प्रदाय में स्वरभक्ति-पाठ के अभाव होने पर वहाँ स्वरभक्ति नहीं हैं'—ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन हम यही मानते हैं कि 'वहाँ भी स्वरभक्ति प्रयोग शास्त्र-सम्मत है।' यद्यपि शिक्षा-ग्रन्थों में ऐसा नहीं कहा गया है फिर भी प्रतिज्ञासूत्र के—'अथापरान्तस्य रेफोष्म ऋकाररकारसहितोच्चारणम्'—(कात्यायन परिशिष्ट) इस वचन में निर्ऋति को भी स्वरभक्ति बतलाया गया है। इस प्रकार इन सभी विषयों का विस्तार से विवेचन प्रातिशाख्यों में किया गया है।

संस्कार—

'संस्कार' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर बना है। किन्तु यह शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। जब कि सम् उपसर्ग के साथ कृ धातु और 'संस्कृत' शब्द मिलता है जैसे ऋग्वेद में संस्कृतत्र (ऋ० ६–२८–४) तथा शतपथ ब्राह्मण में 'स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह' (१–१–४–१०)। सर्वप्रथम जैमिनि सूत्र (६–१–६५) में 'संस्कार' शब्द उपनयन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। जैमिनि सूत्र में संस्कार शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ। शबर स्वामी के अनुसार 'संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है?'[1] तन्त्रवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियाएँ एवं रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं।[2] यह योग्यता दो प्रकार की होती है—१. पापमोचन से उत्पन्न योग्यता और २. नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता। तप से पापों अथवा दोषों का मार्जन होता है और संस्कारों से नवीन गुणों की प्राप्ति होती है। हारीत के अनुसार इन संस्कारों की दो कोटियाँ १. ब्राह्म एवं २. दैव हैं।[3] गर्भाधान आदि स्मृतियों में वर्णित संस्कार ब्राह्म हैं। इनको करने से ऋषियों की समकक्षता प्राप्त होती है। पाकयज्ञ, यज्ञ और सोमयाग आदि दैव संस्कार हैं। इन्हें करने से देवों की समकक्षता प्राप्त होती है। वीरमित्रोदय के अनुसार संस्कार एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्रविहित क्रियाओं के करने से उत्पन्न होती है। यह योग्यता दो प्रकार की होती है—१. जिससे व्यक्ति अन्य

---

१. 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य' —जै० सू० ३–१–३ पर शाबर भाष्य।

२. योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते—वहीं, तं० वा०।

३. ब्राह्म संस्कार संस्कृत ऋषीणां समानतां गच्छति।
दैवेनोत्तरसंस्कारेण सस्कृतो देवानां समानतां गच्छति॥ (हारीतस्मृति)

क्रियाओं के योग्य हो जाता है (जैसे उपनयन से वेदाध्ययन आरम्भ होता है) और २. जिससे वह दोष से मुक्त हो जाता है (जैसे जातकर्म से वीर्य एवं गर्भाशय के दोष का मार्जन होता है) । 'संस्कार' शब्द मात्र वैखानस गृह्यसूत्र में ही प्राप्त होता हैं ।[1] किन्तु यह धर्मसूत्रों में बहुधा प्राप्त है ।[2]

मनु के अनुसार द्विजातियों में माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधान के समय किए गए होम और जातकर्म संस्कार से, चौल [= मुण्डन] संस्कार से तथा मूँज की मेखला पहनने अर्थात् उपनयन से दूर करना संस्कारों का उद्देश्य है।[3] वस्तुतः वेदाध्ययन व्रत होम, त्रैविद्य व्रत, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पञ्चमहायज्ञों तथा वैदिक यज्ञों से मानवशरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है । याज्ञवल्क्य के मत में संस्कार करने से बीजगर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं ।[4] अङ्गिरा के अनुसार सभी संस्कार चित्ररचना के रंगों के समान मानवरूपी चित्र को पूर्ण स्वरूप देने के साधन हैं ।[5] इस प्रकार संस्कारों का मुख्य प्रयोजन मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में योगदान करना है ।

व्यास के अनुसार संस्कार मुख्य रूप से सोलह हैं—

> १–गर्भाधानं २–पुंसवनं ३–सीमन्तो ४–जातकर्म च ।
> ५–नामक्रिया ६–निष्क्रमोऽ ७–न्नप्राशन ८–वपनक्रिया ॥
> ९–कर्णवेधो १०–व्रतादेशो ११–वेदारम्भक्रियाविधिः ।
> १२–केशान्तः १३–स्नान १४–उद्वाहो १५–विवाहोऽग्निपरिग्रहः ॥
> १६–त्रेताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः ।

यद्यपि संस्कारों का विधान अनेक गृह्यसूत्रों में प्राप्त है फिर भी अङ्गिरा के मत से अपनी ही शाखा के अनुसार संस्कारों का अनुष्ठान करना चाहिए ।[6] अन्यथा वसिष्ठ के अनुसार उसमें शाखारण्ड दोष आ जाता है ।[7] वस्तुतः प्रत्येक गृह्यसूत्र में

---

१. वैख० गृह्य० ।
२. गौ० धर्म० ८. ८; आप० धर्म० १–१–१–९ । वसिष्ठ धर्म० ४–१ ।
३. मनु० २–२७–२८ ।
४. याज्ञ० १–१३ ।
५. चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम् ॥ अङ्गिरास्मृति ।
६. स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः ।
कर्तव्या भूतिकामेन नान्यथा भूतिमृच्छति ॥ (अङ्गिरास्मृति)
७. न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ।
आचरन् परशाखोक्तं शाखारण्डः स उच्यते ॥ (वसिष्ठस्मृति)

प्राचीन हिन्दू जीवन की रूपरेखा देश व काल के अनुसार वर्णित है। अतः अनुष्ठान भी उन्हीं के अनुसार होना औचित्यपूर्ण है।

प्रथमकाण्ड में वर्णित संस्कार—

१. विवाह—पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह का अत्यन्त विस्तृत विवेचन है।

गृह्यकर्मों का उद्गम या केन्द्र विवाह संस्कार ही है। इसीलिए सर्वप्रथम इसका विवेचन है। पारस्कर के अनुसार विवाह सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में माङ्गलिक तिथि में होना चाहिए। माङ्गलिक तिथि अर्थात् उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा; उत्तराषाढ, श्रवण, धनिष्ठा; उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी में से कोई एक नक्षत्र हो अथवा स्वाती मृगशिरा, रोहिणी में से कोई एक-एक हो। ब्राह्मण की वर्ण क्रम से तीन (स्त्रियाँ-ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या) कन्या विवाह के योग्य है। क्षत्रिय की वर्णक्रम से दो वर्ण की कन्या और वैश्य की एक मात्र वैश्य की ही कन्या विवाह के योग्य है। कुछ ऋषियों के मत में शूद्रा सभी वर्णों के द्वारा विवाह्य है। किन्तु उसका विवाह बिना वेद मन्त्र के होना चाहिए।

इस संस्कार के अनुष्ठान का आरम्भ मन्त्र द्वारा कन्या को वस्त्र पहनाने से होता है। धोती आदि अधोवस्त्र के पहनने के बाद उत्तरीय को मन्त्र द्वारा ही ओढ़ाया जाता है। इसके बाद मन्त्र पढ़कर कन्या का पिता दोनों ही वर और वधू को परस्पर सम्मुख करता है। संकल्प करके दी हुई कन्या को प्रतिग्रह विधि से लेकर उसका हाथ पकड़ कर मन्त्र पढ़ते हुए वह मण्डप से निकलता है। इसके बाद मन्त्र पढ़ते हुए कन्या का पिता परस्पर दोनों को दिखलाता है। इसके बाद आघार-आदि आहुतियाँ और जयाभ्यातान होम का निर्देश है। राष्ट्रभृत् संज्ञक ऋताषाडादि १२ मन्त्रों से फल की इच्छा करता हुआ होम करता है, और जया संज्ञक तथा अभ्यातान संज्ञक मन्त्रों से फल की कामनार्थ होम करता है। तीन मन्त्रों से लाजा होम के बाद साङ्गुष्ठ पाणिग्रहण होता है। वर कन्या के दाहिने हाथ को अँगूठे सहित पकड़ता है और मन्त्र पढ़ता है—'अतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम्हारे हाथ को पकड़ता हूँ...आओ हम दोनों विवाह करें और साथ मिलकर पुत्रोत्पत्ति करते हुए वृद्ध शरीर वाले होकर हम दोनों एक दूसरे को प्यार करते हुए दीप्तिमान होकर शुभ मन वाले हम दोनों सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीएँ और सौ वर्ष तक सुनें।'

पाणिग्रहण के बाद अश्मारोहण, गाथागान, अग्नि की प्रदक्षिणा और लाजा होम होता है। तीन परिक्रमा के अनन्तर सूप के कोने से सभी लावों को मन्त्र पढ़ते हुए कन्या के हाथ में छोड़ता है। फिर प्राजापत्य होम होता है। सप्तपदी (उत्तर की ओर सात पग चलना), अभिषेक, सूर्यावेक्षण सिन्दूरदान और अन्त में ध्रुव तारे का अवेक्षण होता है। उस वधू को वर उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में

वस्त्रादि से आच्छादित गृह में बैल के लाल रंग के चर्म पर मन्त्र पढ़ते हुए बैठाता है। इसके अनन्तर पारस्कर के अनुसार जैसा कुलाचार हो उसे सम्पादित करना चाहिए।

चतुर्थीकर्म विवाह संस्कार का अन्तिम कर्म है। यह विवाह के दिन से चौथे दिन होता है। इसीलिए इसे 'चतुर्थी' कहते हैं। इसमें आज्य और चरु की आहुतियों के अनन्तर वर हविःशेष को मन्त्र पढ़ते हुए वधू को खिलाता है—'हे कन्ये, तुम्हारे प्राणों के साथ मैं अपने प्राणों को मिलाता हूँ, तुम्हारी अस्थियों के साथ अस्थियों को, मांसों के साथ मासों एवं त्वचा के साथ त्वचा को मिलाता हूँ।

पारस्कर गृह्यसूत्र (१–११) के अनुसार चतुर्थी कर्म की क्रिया वैसी ही है जैसी अन्यत्र गर्भाधान में पायी जाती है। अतः इस गृह्यसूत्र में गर्भाधान के लिए पृथक् वर्णन नहीं है। जबकि बौधायन काठक आदि गृह्यसूत्रों में 'गर्भाधान' शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. पुंसवन संस्कार गर्भ में बच्चे के हिलने डुलने से पहले अर्थात् गर्भ से दूसरे या तीसरे महीने में करना चाहिए। जिस दिन चन्द्रमा पुष्य आदि पुरुष-नक्षत्रों[1] से युक्त हो उस दिन पत्नी को उपवास कराकर, स्नान करके, नवीन वस्त्र पहना कर बरगद वृक्ष की बरोहों (जड़ों) को और उनके अंकुरों को जल में पीसकर रात्रि के समय दाहिने नासिका में मन्त्रों को पढ़ते हुए छोड़ना चाहिए। कुछ ऋषियों के अनुसार कुश की जड़ और सोमलता के टुकड़े भी बरगद की जड़ के साथ पीसना चाहिए। इस प्रकार गर्भाधान से द्वितीयादि मास में जिस दिन पुंसंज्ञक नक्षत्र हो उस दिन स्त्री के दक्षिण नासिका पुट में सवन अर्थात् न्यग्रोधादि–औषधियों के रस का मन्त्र सहित आसिंचन करना 'पुंसवन संस्कार' कहलाता है।

३. सीमन्तोन्नयन संस्कार स्त्री के प्रथम गर्भकाल के छठें अथवा आठवें महीने में होता है। पुंसवन कर्म के सदृश पुंसंज्ञक[1] नक्षत्र में गर्भिणी के सीमन्त [= माँग] को पति द्वारा सविधि औदुम्बरादि द्रव्यों से ऊर्ध्व विनयन [= झाड़ना] करना ही 'सीमन्तोन्नयन' कहलाता है। तिल-मूग मिश्रित हविर्द्रव्य को पकाकर प्रजापति की आहुति देकर अग्नि के पश्चिम ओर पीढ़े पर बैठी हुए स्त्री की माँग को पति दो कच्चे मिले हुए गूलर के फल से, तीन कुश की रस्सियों से, तीन स्थान पर सफेद धब्बे वाले साही के काँटे से, पीपल की खूँटी और सूत से भरे टेकुएँ से बीच से विभक्त करता है। फिर त्रिगुण चोटी में औदुम्बरादि को बाँधकर वीणा-गान करने वालों से गाथा-गान कराता है।

---

१. पुंनक्षत्र—पुष्य, श्रवण, हस्त, पुनर्वसु, मृगशिरा, अभिजित्, मूल, अनुराधा और अश्विनी हैं।

४. सोष्यन्तीकर्म—पारस्कर ग्रह्यसूत्र की सोलहवीं कण्डिका में यह वर्णित हैं। यह बालक के जन्म से पूर्व बच्चा जनने वाली नारी के लिए किया जाता है। वस्तुतः दसवें महीने में भ्रूण के हिलने और सुप्रसव के लिए यह किया जाता है। प्रसव की पीड़ा से विकल स्त्री को जल से 'एजतु' आदि मन्त्र से पति सिंचन करता है। फिर वह जरायु के अवपतन के लिए 'अवैतु···पद्यताम्' आदि मन्त्र पढ़ता है। इस प्रकार यह सुखप्रसवार्थ कर्म है।

५. जातकर्म—जात अर्थात् उत्पन्न हुए पुत्र का संस्कार 'जातकर्म' संस्कार है। इसका मुख्य प्रयोजन बालक में मेधा शक्ति और आयुर्बल की वृद्धि करना है। अतः यह दो भाग में प्रस्तुत किया गया है—१. मेधाजनन, और २. आयुष्यकर्म।

(i) मेधाजनन—नवजात शिशु का नालच्छेदन से पूर्व 'मेधाजनन' पिता करता है। सुवर्ण से ढँककर अनामिका अंगुलि से पिता मन्त्र पढ़ते हुए मधु और घृत मिलाकर चटाता है।

(ii) आयुष्यकर्म—मेधाजनन के बाद दीर्घायु की प्राप्ति के लिए पिता 'आयुष्य-कर्म' करता है। नाभि के समीप अथवा दक्षिण कर्ण में 'अग्निरायुष्मान्' इत्यादि आठ मन्त्रों को वह जपता है। प्रत्येक दिशा में पाँच ब्राह्मणों को नियुक्त करके 'इस बालक को प्राणों वाला बनाओ'-ऐसा वाक्य कहता है। सभी ब्राह्मण मन्त्र कहते हैं। फिर जहाँ बालक जन्म लेता है उस भूमि को अभिमन्त्रित करता है। इसके बाद मन्त्रोच्चार पूर्वक वह बालक का स्पर्श करता है। इसके बाद बालक की माता को अभिमन्त्रित करता है और मन्त्र पूर्वक माता के स्तन धोकर बालक को पीने के लिए कहता है। पानी से भरा हुआ घड़ा 'आपो देवेषु' आदि मन्त्र से सिरहाने रखता है। द्वार पर सूतिका-अग्नि को स्थापित करके सूतकान्त पर्यन्त सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों समय चावल की खुद्दी मिले हुए सरसों से वह 'शण्डा···स्वाहा' आदि मन्त्र से आहुति देता है।

६. नामकरण—बालक के जन्म के दसवें दिन पिता उसका नाम रखता है। सूतिका गृह से माता को निकाल कर ब्राह्मण-भोजन के बाद यह संस्कार होता है। नाम दो या चार अक्षर का होना चाहिए। नाम के आदि में कोई घोष वर्ण हो, बीच में कोइ अन्तस्थ वर्ण हो और अन्त में दीर्घ या विसर्ग हो। नाम कृत् प्रत्ययान्त होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। लड़की के नाम में विषम अक्षर हों, अन्त में आकार हो अथवा तद्धित प्रत्ययान्त नाम हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के नाम के अन्त में क्रमशः शर्मा, वर्मा और गुप्त होना चाहिए।

७. निष्क्रमण—जन्म के चौथे महीने निष्क्रमण संस्कार होता है। कुमार को घर से प्रथमतः बाहर निकालने को 'निष्क्रमण' कहते हैं। इस संस्कार में 'तच्चक्षुः' इस मन्त्र से पिता सूर्य का दर्शन कराता है।

कर्णवेध—यद्यपि पारस्कर गृह्यसूत्र में यह वर्णित नहीं है। फिर भी गदाधर के भाष्य में इसका वर्णन है। ऋषियों के अनुसार सातवें, आठवें, दसवें या बारहवें मास में इसे करना चाहिए। पुण्याहवाचनादि के पश्चात् सुवर्ण के तार से 'भद्रं कर्णेभि' इत्यादि मन्त्र से कान छेदा जाना ही 'कर्णवेध' संस्कार है।

८. अन्नप्राशन—यह संस्कार जन्म से छठें महीने किया जाता है। इस संस्कार में बच्चे को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता है। इसके पहिले अन्न नहीं खिलाना चाहिए। आघार और आज्यभाग संज्ञक आहुतियों के अन्तर 'देवीं वाचं' आदि से घृत की आहुति और चरु से 'प्राणेन' इत्यादि चार मन्त्रों को पढ़ते हुए आहुति दे। संस्रव प्राशन के अन्त में सभी मधुर लवण, तिक्तादि रसों को और सभी अन्नों को एक ही थाली में रखकर इस बालक को खिलाना चाहिए। बिना मन्त्र के 'हन्त' कहते हुए खिलावे। वाक्प्रसार और ब्रह्मवर्चस आदि की कामना के लिए विभिन्न पक्षियों के मांस का प्राशन कराने को भी कहा गया है। अन्त में ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए।

पारस्कर गृह्यसूत्र के संस्करण—१. सर्वप्रथम स्टेंजलर द्वारा सम्पादित होकर यह लिपज़िग से प्रकाशित हुआ। २. महादेव गंगाधर बाकरे द्वारा सम्पादित होकर १९१७ में गुजराती प्रेस, बम्बई से पञ्चभाष्य और विभिन्न परिशिष्टों के साथ प्रकाशित हुआ। ३. पं० गोपाल शास्त्री नेने द्वारा सम्पादित होकर १९२६ में काशी-संस्कृत-सीरीज, चौखम्बा, वाराणसी से हरिहर और गदाधर के भाष्य के साथ प्रकाशित हुआ। ४. खेमराज से पञ्चभ ष्य के साथ प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त पारस्कर के मूल मात्र के अनेक संस्करण निकले।

पारस्कर गृह्यसूत्र की टीकाएँ—गृह्यसूत्र-साहित्य में पारस्कर गृह्यसूत्र पर ही सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गईं। इनमें अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं और प्रकाशित भी हैं। कुछ अप्राप्त ही हैं और यदि प्राप्त भी है तो प्रकाशित ही नहीं हैं। इनका विवरण इस प्रकार हैं—

१. पारस्कर गृह्यसूत्र की 'अमृतव्याख्या' का वर्णन नन्द पण्डित (१५५० ई०) के द्वारा शुद्धिचन्द्रिका में किया गया है। २. 'अर्थभास्कर' नामक टीका राघवेन्द्रारण्य के शिष्य भास्कर की थी। ३. 'प्रकाश' नामक टीका विश्वरूप दीक्षित के पुत्र वेदमिश्र द्वारा विरचित एवं उनके पुत्र मुरारिमिश्र द्वारा प्रयुक्त है। ४. 'संस्कारगणपति' अत्यन्त विस्तृत टीका है जो मात्र दो काण्ड पर ही है। यह प्रयागभट्टात्मज कोनेट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा विरचित है। १९३४–३८ ई० के मध्य चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा चार खण्डों में पं. ढुण्ढिराज शास्त्री के संपादन में प्रकाशित है। रामकृष्ण भारद्वाजगोत्रीय और विजयसिंह द्वारा संरक्षित थे। यह टीका वसिष्ठा नदी के चिचमण्डलपत्तन में लिखी गई थी। इसमें कर्क, हरिहर, गदाधर, हलायुध,

काशिका और दीपिका को उद्धृत किया गया है। लेखक द्वारा 'श्राद्धगणपति' भी लिखा गया था जो इण्डिया आफिस (पृ० ५६२) में 'श्राद्धसंग्रह' नाम से वर्णित है। ५. 'सज्जनवल्लभा' नामक टीका जयराम की है। ये मेवाड़वासी भारद्वाज गोत्रीय बलभद्र के पुत्र थे। इन्होंने उव्वट, कर्क एवं स्मृत्यर्थसार का उल्लेख किया है। ये गदाधर द्वारा वर्णित हैं। अलवर के कैटलाग में (उद्धरण ३६) पाण्डुलिपि की तिथि सं० १६११ अर्थात् १५५४-५५ ई० है। अतः इनका समय १२००–१४०० के मध्य होना चाहिए। गुजराती प्रेस से यह सम्पूर्ण प्रकाशित है। १६२५ में चौखम्बा से मात्र तृतीय काण्ड पर प्रकाशित हुई थी।

६ 'कर्कभाष्य' कर्कोपाध्याय द्वारा रचित है। ये त्रिकाण्डमण्डन, हेमाद्रि एवं हरिहर द्वारा वर्णित हैं। इनका समय ११०० ई० के पूर्व होना चाहिए। यह भी गुजराती प्रेस द्वारा मुद्रित है। ७. 'हरिहर भाष्य' हरिहर द्वारा रचित है। यह अत्यधिक प्रसिद्ध टीका है। इसमें पद्धति भी है। गुजराती प्रेस एवं चौखम्बा सं सी० से प्रकाशित है। इसमें कर्क, कल्पतरुकार, रेणु, वासुदेव और विज्ञानेश्वर के उल्लेख है। गोविन्दानन्दकृत श्राद्धक्रियाकौमुदी में भी वर्णित है। इनका समय १२७५-१४०० ई० के मध्य होना चाहिए। इन्होंने अपने को अग्निहोत्री भी कहा है। हेमाद्रि, समय प्रदीप, श्रीदत्त के आचारादर्श एवं हरिनाथ के स्मृतिसार में इनके मत उद्धृत हैं। अतः ये १२५० ई० के पूर्व आते हैं। चण्डेश्वरकृत विवादरत्नाकर के उद्धरण से विदित होता है कि इन्होंने व्यवहार पर भी लिखा है। ८. 'गदाधरभाष्य' वामन के पुत्र गदाधर का है। इन्होंने अनेक टीकाकारों और धर्मशास्त्रकारों के मत उद्धृत किए हैं; जैसे-कर्क, जयरामभाष्य, भर्तृयज्ञभाष्य, मदन पारिजात, हरिहर, वासुदेव, रेणुकदीक्षित आदि। मात्र दो काण्ड पर ही इनकी टीका है। इन्होंने बड़ी विस्तृत पद्धति भी प्रस्तुत की है। इनका समय लगभग १५०० ई० होना चाहिए। ६. 'भर्तृयज्ञभाष्य' भर्तृयज्ञ द्वारा रचित था जिसका उल्लेख जयराम के भाष्य में है। १०. 'पारस्कर मन्त्र-भाष्य' वेदमिश्र के पुत्र मुरारिमिश्र द्वारा पारस्कर गृह्यसूत्रगत मन्त्रों के ऊपर रचित है। पाण्डुलिपि स्टीन के कैटलाग में (पृ० २५२) है। इसकी तिथि १४३० अर्थात् १३७३ है। ११. वासुदेव दीक्षित द्वारा सभी कृत्यों पर एक विस्तृत पद्धति है जो हरिहर एवं यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व में रघुनन्दन द्वारा वर्णित है। 'विश्वनाथ भाष्य' कश्यपगोत्र के नागर ब्राह्मण नृसिंह के पुत्र विश्वनाथ द्वारा रचित है। इनके चाचा अनन्त के पौत्र लक्ष्मीधर द्वारा काशी में संगृहीत थी। इसकी तिथि १६६२ माघ अर्थात् १६३५ ई० है। इसमें कर्क, हरिहर, कालनिर्णय–प्रदीपिका के उल्लेख हैं, अतः विश्वनाथ का समय लगभग १५५० ई० होना चाहिए। यह गुजराती प्रेस से मुद्रित है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त याद कारिका और कुछ पद्धति ग्रन्थ भी हैं। १. पारस्करगृह्यकारिका (या कातीय गृह्यसूत्र-प्रयोग-विवृत्ति)—शाण्डिल्य गोत्र के

सोमेश्वरात्मज महेशसूरि के पुत्र रेणुकाचार्य द्वारा शक सं. ११८८ अर्थात् १२६६ ई० में रचित है। इण्डिया आफिस में जिल्द १ पृ० ६७ पर है। २. पारस्कर-गृह्यपरिशिष्टपद्धति–कूपादि प्रतिष्ठा पर कामदेव दीक्षित द्वारा रचित है। गुजराती प्रेस से मुद्रित है। ३. पारस्करश्राद्धसूत्रवृत्त्यर्थसंग्रह उदयशंकर द्वारा रचित है। यह स्टीन के कैटलाग में पृ० १७ पर है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुवाद—यह एस० बी० आई० सीरीज में (२६ जिल्द), ओल्डेनवर्ग द्वारा अंग्रेजी में अनूदित हुआ है। पण्डित परम्परा की हिन्दी के दो संस्करण प्रकाशित हैं। १६७३ में भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी से हरिहरभाष्य के साथ पं. हरदत्त शास्त्री द्वारा हिन्दी में अनूदित है। १६६६ में ही प्रस्तुत ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या और अनुवाद के प्रकाशन का आरम्भ चौखम्बा से हो गया था। किन्तु प्रकाशन व्यवस्था में व्यवधान के कारण ग्रन्थ प्रकाश में न आ सका।

भाष्यकारों द्वारा प्रयुक्त धर्मशास्त्र-ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के परिचय—

१. मनु [२०० ई० पू०–१०० ई०]

आचार्य मनु द्वारा विरचित मनुस्मृति' में बारह अध्याय हैं। यह अत्यन्त सरल और प्रायः पाणिनि-सम्मत व्याकरण युक्त है। इसमें तीन वेदों के नाम आए हैं। इसी प्रकार आरण्यक, छः वेदाङ्गों और धर्मशास्त्रों की भी चर्चा है। इसके सिद्धान्त गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। इसमें कुल २६६४ श्लोक हैं। इसके व्याख्याकारों में 'मेधातिथि' गोविन्दराज और कुल्लूक बहुत प्रसिद्ध हैं।

२. याज्ञवल्क्य [१०० ई०—३०० ई०]

आचार्य याज्ञवल्क्य द्वारा विरचित 'याज्ञवल्क्यस्मृति' मनुस्मृति की अपेक्षा संक्षिप्त और अधिक सुव्यवस्थित है। यह तीन भागों में विभक्त है। याज्ञवल्क्य ने विष्णुधर्मसूत्र की बहुत सी बातें मान ली हैं। इनकी स्मृति एवं कौटिलीय में पर्याप्त समानता है। मनु पुत्रहीन पुरुष की विधवा पत्नी के दायभाग पर मौन है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने इसकी स्पष्टतः चर्चा की है। उन्होंने विधवा को सर्वोपरिस्थान दिया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकारों में विश्वरूप, विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा टीका); अपरार्क एवं शूलपाणि बहुत प्रसिद्ध हैं।

३. पराशर [१—५ शती के मध्य]

आचार्य पराशर द्वारा विरचित पराशरस्मृति में बारह अध्याय है। महर्षि पराशर व्यास के पिता और शक्ति के पुत्र हैं। यह अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। तैत्तिरीय आरण्यक और बृहदारण्यक में क्रम से 'व्यासपाराशर्य' एवं 'पाराशर्य' का उल्लेख है। निरुक्त ने पराशर के मूल की चर्चा की है। पाणिनि ने 'भिक्षुसूत्र' नामक ग्रन्थ को पराशर निर्मित कहा है। पराशरस्मृति में भी अन्य उन्नीस स्मृतियों का उल्लेख है।

४. नारद [१००—४०० ई०]

महर्षि नारद द्वारा विरचित नारद स्मृति के व्याख्याकार असहाय हैं। याज्ञवल्क्य एवं पराशर ने नारद को धर्मवक्ताओं में नहीं गिना है। किन्तु विश्वरूप ने वृद्धयाज्ञवल्क्य के एक उद्धरण के आधार पर नारद को दस धर्मशास्त्रकारों में माना है। याज्ञवल्क्यस्मृति में दिव्य के पाँच प्रकार बताए गए हैं। किन्तु नारद में सात है। इसमें 'दीनार' शब्द भी आया है। इराक में अभी भी इसका प्रचलन है। डा० जाली द्वारा यह ग्रन्थ सम्पादित है। इसकी रमानाथ की भी एक टीका है।

५. बृहस्पति [३००–५०० ई०]

बृहस्पति धर्मसूत्रकार एवं स्मृतिकार भी हैं। दुर्भाग्यवश सम्पूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्राप्त है। जीवानन्द और आनन्दाश्रम से कुछ अंश ही छपे हैं। हेमादि द्वारा परिशेषखण्ड पृ० ३६९ में भी वर्णित है। प्राप्त ग्रन्थ में व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त एवं परिभाषाएँ सुन्दर ढंग से दी गई हैं। बृहस्पति ने 'धन' एवं 'हिंसा' (सिविल एवं क्रिमिनल) के व्यवहार सम्बन्धी अन्तर्भेद को प्रकट किया है। इतना ही नहीं अपितु युक्तिहीन न्याय की भर्त्सना भी की है।

६. कात्यायन [४००—६०० ई०]

प्राचीन भारतीय व्यवहार और व्यवहारविधि के क्षेत्र में रत्न हैं। याज्ञवल्क्य, विज्ञानेश्वर और हेमाद्रि ने भी इनकी चर्चा की है। यह ग्रन्थ जीवानन्द द्वारा (भाग १ के पृ० ६०४–६४४ तक) मुद्रित है। किन्तु आनन्दाश्रम (पृ० ४९–७१) में इसे कर्मप्रदीप एवं गोभिलस्मृति कहा गया है। कात्यायन ने स्त्रीधन की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम अध्यग्नि, अध्याहृनिक, प्रीतिदत्त शुल्क, अन्वाधेय और सौदयिक नामक स्त्रीधन के कतिपय प्रकारों को बतलाया है।

निबन्ध-ग्रन्थकार एवं टीकाकार—

प्रायः सातवीं शती से अट्ठारहवीं शती० तक अनेक निबन्धग्रन्थ और टीकाएँ लिखी गईं। बारहवीं शती से सूत्रों अथवा स्मृतियों पर व्याख्यान किए गए, या स्मृतियों के धर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर स्वतन्त्र रूप से निबन्ध-ग्रन्थ लिखने की सामान्य प्रवृत्ति विद्वानों में जागृत हुई। प्रथमतः 'कामधेनु' नामक प्राचीन निबन्ध धर्मशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर लिखा गया था। इसका उल्लेख लक्ष्मीधर के कल्पतरु, हारलता, स्मृत्यर्थसार, विवादरत्नाकर, श्राद्धक्रियाकौमुदी, श्राद्धविवेक एवं समयप्रदीप में बार-बार किया गया है। कामधेनु के प्रणेता गोपाल का पता हमें चण्डेश्वर के 'व्यवहाररत्नाकर' मिलता है। इसी प्रकार हलायुध भी अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं। जिनके मतों का उल्लेख हमें लक्ष्मीधर के कल्पतरु, चण्डेश्वर के विवादरत्नाकर और हरिनाथ के स्मृतिसार में मिलता है। इसके अतिरिक्त विवादचिन्तामणि में रघुनन्दन ने दायतत्त्व, व्यवहारतत्त्व एवं दिव्यतत्त्व के प्रसङ्ग में तथा वीरमित्र ने वीरमित्रोदय में भी इसके चर्चा की है।

१. अपरार्क [१११५–११३० ई०]

महाराज अपरादित्य ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर अत्यन्त विस्तृत व्याख्या के रूप में एक महान् निबन्ध ही लिखा है, जो 'अपरार्क' के नाम से प्रसिद्ध है। अपरादित्य जीमूतवाहन वंश के शिलाहार राजकुमार थे। शिलाहारों के अभिलेख से पता चलता है कि इनकी तीन शाखाएँ थीं; जिनमें एक उत्तरी कोंकण के 'थाणा' नामक स्थान में, दूसरी दक्षिण कोंकण में और तीसरी कोल्हापुर में थी। इस निबन्ध के अन्त में लेखक विद्याधरवंश के जीमूतवाहन के कुल में उत्पन्न राजा शिलाहार अपरादित्य कहे गए हैं।

२. श्रीधर [११५० ई०]

श्रीधर विरचित 'स्मृत्यर्थसार' नामक निबन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रीधर विश्वामित्र गोत्र के विष्णुभट्ट के पुत्र थे। इस निबन्ध में पूर्वयुगादेशित एवं कलियुगवर्जित कर्म, संस्कार-संख्या, उपनयन का विस्तृत वर्णन, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, अनध्याय, विवाह, विवाहप्रकार, सपिण्डता के कारण निषेध, गोत्रप्रवर विवेचन, आह्निक-कर्म, श्राद्ध का विस्तृत वर्णन और मलमास आदि अनेक विषय बताए गए हैं।

३. हेमाद्रि [१२६०–१२७० ई०]

दाक्षिणात्य धर्मशास्त्रकारों में हेमाद्रि एवं माधव अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हेमाद्रि का विपुलकाय ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' है। यह धर्मकृत्यों का विश्वकोष ही है। व्रत, दान, श्राद्ध–काल आदि इस निबन्ध के प्रकरण हैं। हेमाद्रि ने अपरार्क, आपस्तम्बधर्मसूत्र कर्कोपाध्याय, गोविन्दराज, गोविन्दोपाध्याय, त्रिकाण्डमण्डन, देवस्वामी, निर्णयामृत, न्यायमञ्जरी, पण्डितपरितोष, पृथ्वीचन्द्रोदय, बृहत्कथा, बृहद्वार्तिक, भवदेव, मदननिघण्टु, मधुशर्मा, मेधातिथि, वामदेव, विधिरत्न, विश्वप्रकाश, विश्वरूप, विश्वादर्श, शंखधर, शम्भु, वृद्धशातातप, भाष्यकार, शिवदत्त, श्रीधर, सोमदत्त, स्मृतिचन्द्रिका आदि अनेक धर्मशास्त्र ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम उद्धृत किए हैं। हेमाद्रि देवगिरि के यादवराज महादेव के मन्त्री थे।

४. चण्डेश्वर [१३००–१३७० ई०]

ये मिथिला के अत्यन्त प्रसिद्ध निबन्धकार हैं। इनका विस्तृत निबन्ध 'स्मृतिरत्नाकर' है। इसमें कृत्य, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाद एवं गृहस्थ नामक सात अध्याय हैं। तिरहुत में हिन्दू कानूनों के लिए चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर एवं वाचस्पति का विवादचिन्तामणि प्रामाणिक माना जाता है। स्मार्त विषयों के अतिरिक्त चण्डेश्वर ने कृत्यचिन्तामणि, राजनीतिरत्नाकर आदि ग्रन्थ भी लिखे। ये राजमन्त्री थे। मैथिल एवं वंगीय लेखकों पर इनका बहुत प्रभाव है। वीरमित्रोदय में 'रत्नाकर' को पौरस्त्य (पूर्वी) निबन्ध कहा गया है।

४. नृसिंह प्रसाद [१४९०–१५१५ ई०]

इनके निबन्ध बारह भागों में विभक्त हैं—संस्कार, आह्निक, श्राद्ध, काल, व्यवहार, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, व्रत, दान, शान्ति, तीर्थ, एवं प्रतिष्ठा। प्रत्येक विभाग के अन्त में नृसिंह भगवान् की स्तुति की गई है। शङ्कर भट्ट के द्वैतनिर्णय में और नीलकण्ठ के मयूखों में इनका उल्लेख है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भाष्यकार गदाधर ने कुछ अप्राप्त अथवा अप्रकाशित ग्रन्थों से भी उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें 'सारावलि' है जो 'त्रिपुष्करयोग' में अपरार्क द्वारा भी वर्णित है। सम्भवतः यह ज्योतिष का ग्रन्थ है जो कल्याणवर्मा-कृत था। इसे अलबरूनी ने भी वर्णित किया है। अतः १००० ई० के पूर्व ही इसका समय होगा। २. **सिद्धान्तशेखर** नारायणभट्ट के प्रयोगरत्न एवं रघुनन्दन के मठप्रतिष्ठातत्त्व में भी वर्णित है। सम्भवतः तान्त्रिक ग्रन्थ है, जो १५०० ई० के पूर्व रहा हो। एक अन्य 'सिद्धान्तशेखर' भी है जो भास्कर के पुत्र विश्वनाथ द्वारा विरचित है। ३. **'संहिताप्रदीप'** निर्णयसिन्धु में भी वर्णित है। यह ज्योतिष का ग्रन्थ है। ४. **अगस्त्य** (या अगस्तिसंहिता) जीमूतवाहन के कालविवेक में तथा अपरार्क में भी वर्णित है। ५. **कपर्दिकारिका** निर्णयसिन्धु और सिद्धेश्वरकृत संस्कारमयूख में भी वर्णित है। ६. **कारिका** अनन्तदेव द्वारा विरचित है। माधव के द्वारा कारिकाटीका (लघु) भी है। ७. गंगाधर द्वारा 'गङ्गाधरपद्धति' रचित है। रुद्रकल्पद्रुम में भी वर्णित है। बी. बी. आर० ए० एस०, जिल्द २ में पृ० २२६ पर है। स्टीन के कैटलाग में पृ० ८७ पर है। ८. **गर्ग-पद्धति** (या गृह्यपद्धति) यह ग्रन्थ पारस्कर गृह्यसूत्र के स्थालीपाकहोम, बलिदान, पिण्डपितृयज्ञ, श्रवणाकर्म, शूलगव, वैश्वदेव, मासश्राद्ध, चूड़ाकरण, उपनयन, ब्रह्मचारिव्रतानि, सीतायज्ञ, शालाकर्म आदि पर स्थपति गर्ग द्वारा गृह्यकर्मों का एक संग्रह है। गदाधर के भाष्य के अतिरिक्त श्राद्धतत्त्व में भी वर्णित है। इसकी पाण्डुलिपि इन्डिया आफिस लाइब्रेरी के कैटलाग के पृ० ५१५ में १७३३ संख्या पर है। यह १५७५ संवत् की पाण्डुलिपि है। ९. **गृह्यकारिका** (या रेणुक कारिका) रेणुकदीक्षित द्वारा १२६६ ई० में प्रणीत है। १०. **गृह्य-पद्धति**—वासुदेव दीक्षित द्वारा विरचित संस्कारों और अष्टका आदि पर तीन खण्डों में है। शक सं० १७२० में इसकी पाण्डुलिपि की गई है। ११. **बह्वृचकारिका** निर्णयसिन्धु में भी वर्णित है। **बह्वृचगृह्यकारिका** शाकलाचार्य की है। बर्नेल कृत तंजौर के कैटलाग में (पृ० १४) है। यह समयमयूख में भी वर्णित है। **बह्वृचगृह्यपरिशिष्ट** हेमाद्रि, रघुनन्दन एवं निर्णयसिन्धु में भी उल्लिखित है। १२. **भट्टकारिका** निर्णयसिन्धु में भी वर्णित है। १३. **मुहूर्त-दीपिका** निर्णयसिन्धु के अनुसार कालविधान में भी वर्णित है और इसे बादरायण का कहा गया है। १४. **यज्ञपार्श्वसंग्रह-कारिका** का उल्लेख मात्र गदाधर ने ही किया है १५. **रत्नकोश** का हेमाद्रि द्वारा (३. २. ७५०) रघुनन्दन द्वारा

मलमासतत्त्व में एवं टोडरानन्द द्वारा भी उल्लेख है। १६. रत्नमाला शतानन्द या श्रीपति का ग्रन्थ होगा। यह रघुनन्दन के शुद्धितत्त्व में, गोविन्दार्णव और निर्णयदीप में भी वर्णित हैं। १७. रत्नसंग्रह का निर्णयसिन्धु में भी उल्लेख है। १८. राजमार्तण्ड भोज कृत है। यह ग्रन्थ डेकन कालेज (सं० ३४२, १८७९–८० ई०) के संग्रह में है। जिसमें धर्मशास्त्र–सम्बन्धी ज्योतिष का उल्लेख है और व्रतबन्धकाल, विवाहशुभकाल, विवाहराशियोजनविधि, संक्रान्तिनिर्णय, दिनक्षय, पुरुषलक्षण, मेषादिलग्नफल के विषय हैं। पाण्डुलिपि की तिथि. सं० १६५५ चैत्र अर्थात् १५९८ ई० अप्रैल है। इस पर गणपति की टीका है। १६. शौनककारिका (या शौनकोक्त-वृद्धकारिका) डेकन कालेज (संख्या ६७, १७६६–७० ई०) के संग्रह में प्राप्त है। यह गृह्यकृत्यों पर २० अध्याय का एक बृहत् ग्रन्थ है; जिसमें आश्वलायनाचार्य, ऋग्वेद की पाँच शाखाओं और ऋक्सर्वानुक्रमणी का भी उल्लेख है। पाण्डुलिपि की तिथि-सं० १६५३ अर्थात् १५६६–६७ ई० है। बीकानेर के संग्रह में १५२ पृ० पर और बड़ौदा के संग्रह में ८६३७ संख्या पर है। शौनकगृह्य विश्वरूप, अपरार्क और हेमाद्रि द्वारा भी वर्णित है। शौनकगृह्यपरिशिष्ट अपरार्क द्वारा वर्णित है। शौनकस्मृति की बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २०८) में एक पद्यमय बृहत् ग्रन्थ की चर्चा है। २०. हारीतस्मृति बड़ौदा के संग्रह में (८१८५) है। वर्णों एवं आश्रमों के नित्य, नैमित्तिक कृत्यों और नारीधर्मों, नृपधर्म, जीव परमेश्वर स्वरूप, मोक्षसाधन, ऊर्ध्वपुण्ड्र पर चार अध्याय और व्यवहाराध्याय भी है।

इनके अतिरिक्त १. बल्लालसेन [१०६०-१०६१ ई०] की कृति 'अद्भुत सागर' (कलकत्ता से प्रकाशित है जिसका उल्लेख टोडरानन्द संहिता सौख्य एवं निर्णयसिन्धु में है। २. स्मृतिचन्द्रिका' आचार्य देवणभट्ट [१२००–१२२५ ई०] का है। इस निबन्ध में अनेक स्मृतिकारों का उल्लेख है। इसमें विज्ञानेश्वर का नाम बड़े आदर से लिया गया है। यह ग्रन्थ दक्षिण में व्यवहार सम्बन्धी एवं न्याय संबन्धी बातों में प्रामाणिक माना जाता है। ३. दाक्षिणात्य निबन्धकार माधवचार्य का पराशरमाधवीय और कालमाधव अत्यन्त प्रसिद्ध है। वस्तुतः यह पराशरस्मृति की व्याख्या है किन्तु आचार संबन्धी एक निबन्ध ही बन गया है। ४. मदनपाल के आश्रम में विश्वेश्वर भट्ट [१३६०–१३९० ई०] ने 'मदनपारिजात' नामक निबन्ध लिखा। इन्होंने 'सुबोधिनी' नाम से विज्ञानेश्वर के मिताक्षरा की व्याख्या भी की। ५. 'मदनरत्न' [मदनरत्नप्रदीप या मदनप्रदीप] एक विशाल निबन्ध है; जिसे राजा मदनसिंह ने रत्नाकर, गोपीनाथ, विश्वनाथ एवं गंगाधर को बुलाकर इसके प्रणयन का भार सौंपा था। इसमें सात उद्योत हैं। काल, आचार, व्यवहार, प्रायश्चित, दान, शुद्धि और शान्ति। ६. नारायणभट्ट [१५१३–१५९० ई०] काशी के निबन्धकार है। इनका त्रिस्थलीसेतु एवं 'प्रयोगरत्न' अत्यन्त प्रसिद्ध है। ७. मित्रमिश्र का 'वीरमित्रोदय' हिन्दू कानून की वाराणसी शाखा में अत्यन्त महत्त्व का रहा है।

प्रस्तुत संस्करण

यह संस्करण हिन्दी व्याख्या और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि अभी प्रथम काण्ड ही प्रकाशित हो रहा है किन्तु शीघ्र ही सम्पूर्ण ग्रन्थ हरिहर एवं गदाधर के भाष्य और हिन्दी व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित होगा। चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस के काशी संस्कृत सीरीज के अन्तर्गत 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' का प्रथम संस्करण हरिहर-गदाधर के भाष्य के साथ १९२५ में निकला था। प्रथम संस्करण का संपादन पं० गोपाल शास्त्री नेने जी ने किया था। उन्होंने अत्यन्त श्रमपूर्वक चौखम्बा संस्करण तैयार किया था जिसका विवेचन उन्होंने अपने 'प्रास्ताविकम्' शीर्षक प्राक्कथन में किया है। पं० नेने जी द्वारा सम्पादित संस्करण में मात्र मन्त्र-सूची और सूत्र-सूची थी। उस सूची को प्रस्तुत संस्करण में भी स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्ति कई नए परिशिष्ट जोड़े गए हैं।

इस संस्करण में सूत्रों का सरल और स्पष्ट हिन्दी अनुवाद देने के साथ-साथ शब्दशः व्याख्या प्रस्तुत की गई है। टिप्पणी में मन्त्रों के सन्दर्भ दे दिए गए हैं। हरिहर और गदाधर भाष्य में सूत्र के भाष्य पर सूत्र संख्या लगा दी गई है। सब कुछ होते हुए भी त्रुटियाँ होना स्वाभाविक ही है। अतः विद्वानों से निवेदन है कि—

पारस्करगृह्यसूत्रमित्थं संशोधितं मया।
सद्भिः सारं तु वै ग्राह्यमसारं त्यजतामिति ॥ शम् ॥

मकरसंक्रान्ति, सं० २०३६
संस्कृत-पालि विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विदुषां वशंवदः
सुधाकर मालवीयः

विषयानुक्रमः

परिशिष्टानि

॥ श्रीः ॥

पारस्कर-गृह्यसूत्रम्

'सरला' हिन्दीव्याख्यासहित-हरिहर-गदाधरभाष्योपेतम्

प्रथमं काण्डम्

प्रथमा कण्डिका

अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म ॥ १ ॥

(सरला)

अज्ञानराशिमभितो विनिवारयन्ती या सूर्यदीप्तिरिव गाढनिशान्धकारम् ।
शास्त्राध्वनिप्रतनुते प्रगतिं नराणां देवीं नमामि विनयेन सरस्वतीं ताम् ॥

श्रीमत्पारस्कराचार्य-गृह्यसूत्रस्य साम्प्रतम् । आलोक्य पञ्च भाष्याणि विचार्य च पुनः पुनः ॥
हिन्दीटीकामिमां तस्य 'सरला'न्वर्थनामिकाम् । करोति स्पष्टबोधार्थं मालवीयः सुधाकरः ॥

प्राक्कथन—श्रौत कर्म [दर्श-पूर्णमास आदि] करने के बाद [स्थालीपाक से अनुष्ठेय] स्मार्त कर्म करना चाहिए। अतः श्रौतसूत्र के बाद आवसथ्य अग्नि में घृत, चरु और पुरोडाश आदि पकाकर होम और गर्भाधान आदि संस्कार कर्मों का प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णन है। सूत्रकार पहले उन कर्मों को कहते हैं जो आवसथ्य से लेकर समस्त अग्नि-स्थापन में काम आते हैं। इन गृह्योक्त कर्मों की यह एक विशेषता है कि इनमें ब्रह्मा के अतिरिक्त कोई भी ऋत्विक् नहीं होता। किन्तु यजमान ही सब कार्यों का सम्पादन करता है।

व्याख्या—अथ = श्रौतकर्मानन्तर अब; अतः = स्मार्तकर्म विधेय होने के कारण; गृह्यस्थालीपाकानाम् = आवसथ्य अग्नि में घृत, चरु, पुरोडाश आदि पाकों का; कर्म = कर्म कहते हैं ॥ १ ॥

हिन्दी—श्रौतकर्म विधानानन्तर अब स्मार्त कर्म अवशिष्ट होने से गृह्यस्थालीपाकों[1] के (द्वारा अनुष्ठेय) कर्मों की व्याख्या आरम्भ होती है ॥ १ ॥

---

१. गृह्य अग्नि (शालाग्नि या औपासनाग्नि) में पका हुआ अन्न स्थालीपाक कहलाता है जैसे चावल की खीर [इसी को चरु भी कहते हैं] अथवा पुरोडाश अर्थात् मोटी रोटी या लिट्टी। 'स्थाली' का अर्थ है बटलोई (पतीली)। बटलोई में जिस अन्न को पकाया जाय वह स्थालीपाक होगा। किन्तु स्थालीपाक शब्द बाद में चलकर रूढ़ हो गया। और पुरोडाश, घी, धान के लावे और सत्तू के लिए भी उपलक्षित होने लगा।

(हरिहरविरचितं पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानम्)

इष्टापूर्तक्रियासिद्धिहेतुं यज्ञभुजां मुखम्। अग्निं त्रयीवचःसारं वन्दे वागधिदैवतम् ॥१॥
पारस्करकृते गृह्यसूत्रे व्याख्यापुरः (१)सराम्। प्रयोगपद्धतिं कुर्वे वासुदेवादिसंमताम् ॥२॥

अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म। अथ श्रौतकर्मविधानानन्तरं यतः श्रौतानि कर्माणि विहितानि, स्मार्त्तानि तु विधेयानि, अतो हेतोर्गृह्ये आवसथ्येऽग्नौ ये स्थालीपाकाः गृह्यस्थालीपाकाः तेषां गृह्यस्थालीपाकानां कर्म क्रियाऽनुष्ठानमिति यावत्। 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः। तत्रादावाधानादिसर्वकर्मणां साधारणो विधिः प्रथमकण्डिकयोच्यते। तत्र गृह्येष्वावसथ्याधानादिषु सर्वकर्मसु यजमान एव कर्त्ता, नान्य ऋत्विक्। तस्यानुक्तत्वात् ॥ १ ॥

(गदाधरविरचितं गृह्यसूत्रभाष्यम्)

आविर्भूतश्चतुर्द्धा यः कपिभिः परिवारितः। हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ॥ १ ॥
स्वाभिप्रायेण हि मया न किञ्चिदिह लिख्यते। किन्तु वाचनिकं सर्वमतो ग्राह्यश्च निर्भयैः ॥२॥

(२) "अथातोऽधिकारः" (का. श्रौ. सू. अ. १ कं. १ सू. १) इत्यादिना श्रौतानि कर्माण्युक्तानि, तदनन्तरं स्मार्तानि विधीयन्ते। तत्रैतत्प्रथमं सूत्रम्—"अथातो गृह्यस्था-

---

(१) व्याख्यानपूर्विकामिति पाठान्तरम्।

(२) अथैतद्भाष्यं नारब्धव्यं विषयाभावात्। तथा हि—तत्किं सूत्रार्थप्रकाशकं सूत्रादनधिगतार्थबोधकं, सूत्राविविक्तविवेचकं वा, सूत्रापेक्षितपूरकं वा ? न तावत्प्रथमः कल्पः। 'आवसथ्याधानं दारकाले' (पा. गृ. सू. का. १ क. २ सू. १) इत्यादिसूत्राणां स्पष्टार्थत्वात्। न द्वितीयः। शाब्दो ह्यनवबोधः शब्दानुपादानमूलस्तथा च येनार्थस्य प्रकारान्तरलभ्यतामधिगत्य ग्रन्थगौरवाद्वा स्वल्पं सूत्रितं तेन भाष्यपूरितापेक्षयाऽधिकं न त्यक्तमित्येवं कः समाश्वसेत्। कथं वाऽतीताऽनागतद्रष्टा आचार्यः सूक्ष्मदर्शी मांसलधीसापेक्षं वदेत्। न चाऽज्ञ एव स इति वाच्यम्। वैपरीत्यस्यैव सुवचत्वात्। प्रत्यक्षीकृतधर्ममूलकत्वेन सूत्रस्यानादीनवत्वेन न तदुपायस्यानादीनवत्वम्। पौरुषेयत्वेनादीनवत्वात्। नापि तृतीयः। न हि किं चित्सूत्रं स्वरूपत एव गूढम्। अपि तु बुद्ध्यधीनं तत्। तथा च दोषाविच्छेदादनवस्थैव पर्यवस्येत्। नापि तुर्यः। अधिकारिणां स्मृत्यर्थानुष्ठानाय प्रवृत्तेः कथं भाष्यसापेक्षं वदेत्। वदन्वा पूर्वोक्तप्रसक्तिरेव कथं न ग्रासीकुर्यादिति प्राप्ते ब्रूमः–'सूचनात्सूत्रम्'। सूचनात् = लिङ्गोपन्यासात्। तदुक्तम्—

"सूचनात्सूत्रमन्त्रोक्तं सूचनं लिङ्गभाषणम्।
तन्मात्रं साधकं न स्याद्विना साध्यप्रयोगताम् ॥" इति

तथा च तत्सूचितार्थद्योतकेन भाष्येण भाव्यम् इति। यच्चोक्तं स्पष्टार्थत्वादिति, तदपि न। सर्वेषां न ह्याहरणारणेयपक्षयोर्न्यायधौरेयमन्तरेण सिद्धान्तकोटिरधिगन्तुं शक्या। तथा च न्यायगर्भागर्भसकलसूत्रार्थद्योतकनावश्यं भाष्येण भाव्यमिति। न च वक्तव्यं न्यायाधीनकर्तव्यताबोधकत्वान्न्यूनत्वम्। सूचनत्वलक्षणसूत्रत्वव्याकोपादिति। केचित्तु श्रुतिस्वभावत्वात्सूत्रेष्वपि विध्यर्थवादविवेकार्थं न्यायापेक्षेति। तन्न, अर्थवादोपरक्तत्वे श्रुत्यभेदापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। संज्ञाभेदानुपपत्तेरिति। यच्चोक्तं 'द्वितीयपक्षे दुष्टमूलकस्य दुष्टत्वापत्तिरिति, तन्न। आर्षेयत्वेनाकरस्यादुष्टत्वादिति। तद्गर्भन्यायनिरूपणाच्च न तदुपायोऽपि दुष्ट इति नाप्रामाणिकत्वम्। एतेन विपक्षोऽपि निरस्तः। तृतीयपक्षे नाप्यनवस्था। न्यायादर्थाधिगमनं व्युत्पन्नस्याकाङ्क्षानुदयात्। अत एव न तुर्योऽपि। सूत्रस्योपायापेक्षाया व्युत्पा-

लीपाकानां कर्म"। 'उच्यते' इति सूत्रशेषः। श्रौतानन्तर्यप्रज्ञप्त्यर्थोऽयमथशब्दः (१)। आनन्तर्यप्रज्ञापनन्तु "अथातोऽधिकारः" इत्यादि यत्साधारणं तस्य प्रवृत्त्यर्थम्। श्रौताना-मुपनिबन्धनं पूर्वमिति "प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत्' (पा. गृ. सू. कां. १ कं. १८ सू. १) इत्येतत्सूत्रप्रवृत्त्या ज्ञायते। अत इति हेतुः। यतः श्रौतान्युक्तानि स्मार्तान्येवाव-शिष्यन्तेऽतस्तान्युच्यन्ते। ननु पूर्वं गर्भाधानादीनामनुष्ठानात् पूर्वमनुष्ठानक्रमेण स्मार्तान्येव वक्तव्यानीति चेत्, मैवम्। श्रौतेषु हि प्रत्यक्षपठिताः श्रुतयः स्मार्तेषु च पुनः कर्तृसामा-न्यादनुमेयाः श्रुतयः। स्मार्तानामपि हि वेदमूलत्वमुक्तं भट्टैः। तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतित्वाच्छ्रौता-नामेव पूर्वमभिधानम्। 'स्मरणादेव स्मृतीनां प्रामाण्यम्' (२) इति कर्कोपाध्यायैरुपन्य-स्तम्। (३) गृह्यः शालाग्निः, तत्र ये स्थालीपाकास्ते गृह्यस्थालीपाकाः तेषां गृह्यस्थाली-पाकानां कर्म क्रिया इति। स्थालीपाकशब्द आज्यपुरोडाशाद्युपलक्षणार्थः। कथं ज्ञायते? येन स्थालीपाकमुपक्रम्याज्यमुपसंहरति—निरुप्याज्यमित्यादि। एवमाज्यग्रहणमपि चर्वाद्यु-पलक्षणार्थम्। यतः सर्वसाधारणमेवेदं कर्म। न ह्यस्य कर्मणः कुतश्चित्प्रकृतेः कस्याञ्चि-द्विकृतावतिदेशोऽस्ति। यत्प्रधानविधिरङ्गविध्यन्वितः पठ्यते सा प्रकृतिः। यथा—दर्शपूर्ण-मासौ। यत्प्रधानविधिरङ्गविधिरहितः पठ्यते सा विकृतिः। यथा—सौर्यः। न च दर्शपूर्ण-मासविधौ प्रयाजविधेरिव एतत्कर्मविधेः कस्मिंश्चित्प्रधानविधौ शेषभावोऽस्ति, यतः सर्वा-ण्येव कर्माणि प्रकृत्य धर्मविधानम्॥ १॥

दितत्वादिति। नन्वस्तु तावद्भाष्यापेक्षा तथाऽपि हरिहरादिभाष्यादिभिरेव तदर्थसिद्धेः किमर्थमिदमारभ्यत इति चेत्? तत्किमेकस्मिन् सत्यपरं व्यर्थमिति यदि ब्रूषे तदा साधु, समर्थितं हरिहरस्य प्रामाण्यम्। कर्कादिना तस्याऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात् अथ विशेषा-प्रतिपादकत्वे तथात्वं प्रोच्यते। हरिहरादेस्तु विशेषप्रतिपादकत्वान्न व्यर्थतेति चेत्। न, प्रकृतेऽपि विशेषाप्रतिपादकत्वस्य दुर्वचत्वादित्यलमतिविस्तरेण। तथा च प्रकृतेऽप्यारम्भ-सामग्री विद्यमानत्वादारभ्यते भाष्यम्—अथात इत्यादिना। (विश्वनाथभाष्यम्)

(१) अत्राऽयमथशब्द आनन्तर्यं मङ्गलं च बोधयति। न च सकृदुच्चरितस्य सकृदर्थग-मकत्वमिति विरोधः। शक्त्यानन्तर्यमात्रं बोधयति श्रवणाच्च मङ्गलमिति सम्प्रदायः। नवी-नास्तु नानार्थाध्यवसायार्थं सकृत्प्रोच्चारितमपि पदमनेकार्थप्रत्यायकं भवत्येव, तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वादित्याहुः। यत्तु प्रश्नार्थोऽयमथशब्द इति। तन्न। सन्देहजिज्ञासामूल-कत्वात्प्रश्नस्य, प्रकृते च सन्देहाभावात्। अनध्यवसायमूलकः प्रश्नश्चेत्। न, अतःशब्दा-नन्वयापत्तेः। केचित्तु क्रमतात्पर्यकतामाहुः। तदपि न। प्रधानफलफलकत्वेनाऽङ्गानां फलोत्पत्तौ प्रधानमुपकर्तुं प्रवृत्तानां युगपदनुष्ठानाशक्यत्वेन क्रमाकाङ्क्षायामथातइत्यादिनो-पात्तोऽथशब्दो वस्त्रपरिधानाद्यानन्तर्यं मज्जनादेर्बोधयितुं समर्थो भवेत्। तच्च न। पूर्वोप-क्रान्तपदार्थाभावात्। नन्वेवमानन्तर्यार्थतां वर्णयतः का गतिः? किं च क्रमतात्पर्यकतायां तत्कालजातकर्माद्यकरणदोषः। व्यवधानेऽपि क्रमभङ्गाभावात् क्रमार्थतैव युक्तेति चेत्। न, अव्यवधानार्थमेवानन्तर्यार्थसमाश्रयणात्। विवाहानन्तरमावसथ्यमिति अन्यथा आधाने-कालबाधेऽपि दोषाभावेन प्रायश्चित्तादिकर्तव्यताबोधकविधेरप्रामाण्यप्रसङ्गः। (वि० भा०)

(२) अव्यवच्छिन्नं हि स्मरणमष्टकादीनाम्—'अष्टकाः कर्तव्याः' इति। अनादिरयं संसारः, स्मरणमप्येषामनाद्येवेति। इति अस्य शेषः। (वि० भा०)

(३) गृहं गृहिण्यन्वितम्। तत्र भवा गृह्याः। स्थाल्यां ताम्रादिनिर्मितायां तण्डुलादेः पाकः स्थालीपाकः गृह्याश्च ते स्थालीपाकास्तेषामित्यर्थः। (वि० भा०)

परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरूप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्निकुर्यात् ॥ २ ॥

(सरला)

व्याख्या—[जहाँ होम करना हो उस स्थान को] [1]परिसमुह्य = (कुश से) झाड़कर; उपलिप्य= (जल व गोबर से) लीपकर; उल्लिख्य=(तीन) रेखा [स्फ्य, कुश या स्रुव से] खींचकर; उद्धृत्य= [उन तीनों रेखा की क्रमशः मिट्टी] निकालकर; अभ्युक्ष्य = (जल से) सींचकर; अग्निम् = अग्नि को; उपसमाधाय = भलीभाँति (वेदी के मध्य में) स्थापित करके; दक्षिणतः=दक्षिण की ओर; ब्रह्मासनम्=ब्रह्मा के लिए आसन; आस्तीर्य=बिछाकर; प्रणीय=जलयुक्त प्रणीता को आगे रखकर; परिस्तीर्य=अग्नि के चारो ओर कुश बिछाकर; अर्थवत्=[यज्ञ के लिए] आवश्यक वस्तुएँ; आसाद्य= रखकर; पवित्रे कृत्वा=पवित्री बनाकर; [2]प्रोक्षणीः संस्कृत्य=प्रोक्षणी को [जल और पवित्री से] प्रोक्षित करके अर्थात् जल छिड़ककर संस्कार करके; अर्थवत् प्रोक्ष्य=आवश्यक वस्तुओं को प्रोक्षित करके; आज्यं निरूप्य=घी को थाली में रखकर; अधिश्रित्य=उसे अग्नि पर रखकर; [3]पर्यग्नि कुर्यात्= उसके [घी के] चारो ओर अग्नि का उल्मुक घुमाना चाहिए ॥ २ ॥

हिन्दी—[जहाँ होम करना हो उस स्थान को] झाड़कर, लीपकर, रेखा खींच कर, रेखा से मिट्टी निकालकर, जल छिड़ककर, अग्नि को समीप में स्थापित करके, दक्षिण की ओर ब्रह्मा का आसन बिछाकर प्रणीता का जल लाकर, अग्नि के चारो ओर कुश बिछाकर, [याज्ञिक प्रयोजन की] वस्तुओं को आवश्यकतानुसार रखकर, दो पवित्रों को बनाकर, प्रोक्षणी का संस्कार करके, यज्ञ की अन्य आवश्यक वस्तुओं पर जल छिड़ककर, घी को पात्र में डालकर, उसे [अग्नि के ऊपर] तपाकर, घी के चारो तरफ़ अग्नि घुमाना चाहिए ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अथ यजमानः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः कर्मस्थानमागत्य वारणादि-यज्ञियवृक्षोद्भवासने प्रागग्रानुदगग्रान्वा त्रीन्कुशान् दत्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य वाग्यतः शुद्धायां भूमौ सहविंशत्यङ्गुलं मण्डलं परिलिख्य तत्र परिसमुह्य त्रिभिर्दर्भैः पांसूनपसार्य उपलिप्य गोमयोदकेन त्रिः उल्लिख्य त्रिः खादिरेण हस्तमात्रेण खड्गाकृतिना स्फ्येन उल्लिख्य प्रागग्रा उदक्संस्थाः स्थण्डिलपरिमाणास्तिस्रो रेखाः कृत्वा उद्धृत्य अनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यां यथोल्लिखिताभ्यो लेखाभ्यः पांसूनुद्धृत्य अभ्युक्ष्य मणिकाद्भिरभिषिच्य अग्निमुपसमाधाय कर्म्मसाधनभूतं लौकिकं स्मार्त्तं श्रौतं वाऽग्निम् आत्माभिमुखं स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य तस्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि ब्रह्मणे आसनं वारणादियज्ञियदारुनिर्मितं पीठमास्तीर्य कुशैः स्तीर्त्वा तत्र वरणाभरणाभ्यां पूर्वसम्पादितं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं, तदभावे पञ्चाशत्कुशनिर्मितमग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुखमासीनं स्वयमुदङ्मुख आसीनोऽनुलेपनपुष्प-

---

१. झाड़ना, लीपना, रेखा खींचना, मिट्टी निकालना और जल छिड़कना ये पाँच भू-संस्कार हैं। इनके संस्कृत नाम क्रमशः परिसमूहन, उपलेपन, उल्लेखन, उद्धरण और अभ्युक्षण हैं।

२. प्रोक्षणी और प्रणीता एक यज्ञीय पात्र है जिसमें जल रखा रहता है।

३. जलते हुए तृण को अग्नि के ऊपर चारो ओर घुमाने को पर्यग्नि करना कहते हैं।

माल्यवस्त्रालङ्कारादिभिः संपूज्यामुककर्माहं करिष्ये, तत्र मे त्वमुकगोत्रामुकप्रवरामुकशर्मन् ब्राह्मण त्वं ब्रह्मा भवेति वृत्वा भवामीत्युक्तवन्तमुपवेश्य प्रणीय 'अपः' इति शेषः (तद्यथा—अग्नेरुत्तरतः प्रागग्रकुशैरासनद्वयं कल्पयित्वा वारणं द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातं चमसं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तोद्धृतपात्रस्थोदकेन पूरयित्वा पश्चिमासने निधायाऽऽलभ्य पूर्वासने स्थापयित्वा) परिस्तीर्य अग्निं बर्हिर्मुष्टिमादाय ईशानादिप्रागग्रैर्बर्हिर्भिरुदक्संस्थमग्नेः परिस्तरणं कृत्वा अर्थवदासाद्य यावद्भिः पदार्थैरर्थः प्रयोजनं तावतः पदार्थान् द्वन्द्वं प्राक्संस्थान् उदगग्रानग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा आसाद्य (तद्यथा—पवित्रच्छेदनानि त्रीणि कुशतरुणानि, पवित्रे साग्रे अनन्तर्गर्भे द्वे कुशतरुणे, प्रोक्षणीपात्रं वारणं द्वादशाङ्गुलदीर्घं करतलसम्मितखातं पद्मपत्राकृति कमलमुकुलाकृति वा, आज्यस्थाली तैजसी मृन्मयी वा द्वादशाङ्गुलविशाला प्रादेशोच्चा, तथैव च—चरुस्थाली, सम्मार्गकुशास्त्रयः, उपयमनकुशास्त्रिप्रभृतयः, समिधस्तिस्रः पालाश्यः प्रादेशमाभ्यः, स्रुवः खादिरो हस्तमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्र-खात-परिणाह वर्तुलपुष्करः, आज्यं गव्यं, चरुश्चेद्व्रीहितण्डुलाः। षट्पञ्चाशदधिकमुष्टिशतद्वयपरिमितं परार्ध्यं, बहुभोक्तृपुरुषाहारपरिमितमपरार्ध्यं, तण्डुलाद्यन्नपूर्णपात्रं दक्षिणा वरो वा यथाशक्ति हिरण्यादिद्रव्यम्) पवित्रे कृत्वा प्रथमं त्रिभिः कुशतरुणैरग्रतः प्रादेशमात्रं विहाय द्वे कुशतरुणे प्रच्छिद्य प्रोक्षण्याः संस्कृत्ये प्रोक्षणीपात्रं प्रणीतासन्निधौ निधाय तत्र पात्रान्तरेण हस्तेन वा प्रणीतोदकमासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय पवित्रे प्रोक्षणीषु निधाय दक्षिणेन हस्तेन प्रोक्षणीपात्रमुत्थाप्य सव्ये कृत्वा तदुदकं दक्षिणेनोच्चाल्य प्रणीतोदकेन प्रोक्ष्य अर्थवत्प्रोक्ष्य अर्थवन्ति प्रयोजनवन्ति आज्यस्थाल्यादीनि पूर्णपात्रपर्यन्तानि प्रोक्षणीभिरद्भिरासादनक्रमेणैकैकशः प्रोक्ष्य असञ्चरे प्रणीताग्न्योरन्तराले प्रोक्षणीपात्रं निधाय निरूप्याज्यम् आसादितमाज्यमाज्यस्थाल्यां पश्चादग्नेर्निहितायां प्रक्षिप्य चरुश्चेच्चरुस्थाल्यां प्रणीतोदकमासिच्य आसादितांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य अधिश्रित्य तत्राज्यं ब्रह्माऽधिश्रयति । तदुत्तरतः स्वयं चरुमेवं युगपदग्नावारोप्य पर्यग्नि कुर्यात् ज्वलदुल्मुकं प्रदक्षिणमाज्यचर्वोः समन्ताद् भ्रामयेत् ॥ २ ॥

(गदाधर०)

सर्वसाधारणं कर्माह—'परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय'। दर्भैः परिसमुह्य, गोमयेनोपलिप्य, वज्रेणोल्लिख्य, अनामिकाङ्गुष्ठेनोद्धृत्य, उदकेनाभ्युक्ष्य तस्मिन्नग्निं स्थापयेत्। 'त्रिरुल्लेखनम् , त्रिरुद्धरणम्' इति हरिहरः । पारिसमूहनादि पञ्चापि त्रिस्त्रिरित्यन्ये। कर्कोपाध्यायैरपि "विपर्यस्य पित्र्येषु सकृद्दक्षिणा च" (का. श्रौ. सू. अ. १ कं. ७ सू. २६) इत्येतत्सूत्रव्याख्यानावसरे 'यदभ्यस्तं रूपं दैवे स्मर्यते तत्पित्र्ये सकृत्कर्तव्यम्। यथा 'परिसमुह्योपलिप्योल्लेखनम्' इति लेखनेनैतावद्दर्शितम्—'दैवे परिसमूहनादि त्रिस्त्रिः, पित्र्ये सकृत्सकृत्' इति। 'एते पञ्च भूसंस्काराः' इति भर्तृयज्ञभाष्ये। 'अग्न्यर्थाः' इति कर्कोपाध्यायाः तेन यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते कर्तव्याः, अतः श्रौताग्निस्थापनेऽपि कर्तव्याः। न चैतेषां स्थालीपाकविधावन्तर्भावः। येन 'एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः' (पार. गृ. सू. कां. १ कं. १ सू. ५) इत्यभिहितेऽपि पुनरभिधीयते—'उद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय' (पा० गृ. सू. कां. १ कं. ४ सू. ३) इति। नूनमनेनाप्रवृत्तिः। अग्निसाध्यानि स्मार्तानि सर्वाण्यावसथ्याग्नौ कार्याणि। तथा च स्मृतिः—

"कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वापि, श्रौतं वैतानिकाग्निषु॥" इति।

"तस्मिन्गृह्याणि" इत्यापस्तम्बस्मरणाच्च। गृहाय हितं गृह्यं गृहशब्दश्च दम्पत्योर्वर्तते,

तस्मिन्नित्यावसथ्ये। अतश्च यत्किंचिद्दम्पत्योर्हितं कर्म शान्तिकपौष्टिकव्रताङ्गहोमादिकं स्मार्तं तत्सर्वमावसथ्येऽग्नौ भवतीति। अत एवाह कात्यायनः—

"न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्। स्वगर्भसत्क्रियार्थांश्च यावन्नासौ प्रजायते॥ अग्निस्तु नामधेयादौ होमे सर्वत्र लौकिकः। न हि पित्रा समानीतःपुत्रस्य भवति क्वचित्॥"

अतश्च 'सीमन्तोन्नयनमपि स्मार्ताग्नावेव कार्यम्' इति देवभाष्ये परिभाषायाम्। स्फ्येनोल्लेखनम्' इति गर्गहरिहरौ। 'काष्ठेन कुशमूलेन वा' इति केचित्। अत्रैतद्विचार्यते–'किमावसथ्याधानादिषु वक्ष्यमाणेषु सर्वकर्मसु अध्वर्योः कर्तृत्वम् उत यजमानस्येति। "अध्वर्युः कर्मसु वेदयोगात्" (का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ८ सू० २९) इति परिभाषणात् पूर्णपात्रो दक्षिणाऽवरो वेति दक्षिणाज्ञानादध्वर्योः कर्तृत्वमिति चेत्? उच्यते, 'न स्मार्तेषु कर्मसु अध्वर्योः कर्तृत्वम्। वेदयोगाभावात्। समाख्यया हि अध्वर्योः कर्मसु योगः। समाख्या हि वेदयोगात्। न च स्मार्ते वेदयोगोऽस्ति नहि ज्ञायते अमुकवेदोक्तं स्मार्तम् इति। तथा च श्रुतिः—"सहोवाच यद्यृक्तो भूरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा गार्हपत्ये जुहवथ, यदि यजुष्टो भुव इति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽग्नीध्रीये जुहवथान्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञे, यदि सामतः स्वरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहवनीये जुहवथ, यद्यु अविज्ञातमसत्सर्वाण्यनुदुत्याहवनीये जुहवथ" इति। अविज्ञातं स्मार्तं यत्र ज्ञायते किमार्ग्वेदिकं किं वा सामवेदिकमिति। नापि दक्षिणान्यथानुपपत्त्याऽन्यस्य कर्तृत्वम्। अस्ति ह्यत्रान्योऽपि ब्रह्माख्यः कृताकृतावेक्षकत्वेन कर्ता, तदर्थः परिक्रयोऽयमिति दक्षिणार्थापत्तिः। तस्मात्स्वस्यैव कर्तृत्वम्। "दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य" स्थापितस्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि ब्रह्मण उपवेशनार्थं दर्भानभिधाय ब्रह्मोपवेशनं कुर्यात्। ननु "दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने" (का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ८ सू० २७) इति परिभाषातो दक्षिणत आसनं प्राप्तं किमर्थं पुनर्दक्षिणग्रहणम्? सत्यम्, पुनर्दक्षिणग्रहणं यजमानस्य तत्रासनं मा भूदित्येतदर्थमित्यदोषः। एवं च यजमानासनं वचनाभावे सर्वत्राग्नेरुत्तरतः स्यात्, "उत्तरत उपचार" (का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ८ सू० २६) इति परिभाषणात्। तत्र पुनर्वचनं यथा–'पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति' (पा० गृ० सू० का० १ कं० ५ सू० २) इति तत्र तत्रैवोपवेशनम्। यद्वा दर्शपूर्णमासविषया परिभाषेयम्। "वेदिस्पृक्" (का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ८ सू० २८) इति सूत्रे "तस्माद्दक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवाऽऽसीत" इति श्रुतौ चोक्तत्वात् (१) तेनात्राप्राप्तिर्वेद्यभावाद्दक्षिणग्रहणमपूर्वविधानार्थम्। अतोऽपि यजमानोपवेशनमुत्तरत एव। अत्र चास्तरणमात्रोपदेशात् चतुर्थीकर्मणि "दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्य" (पा० गृ० सू० का० १ कं० ११ सू० १) इत्युपवेशनविधानाच्च न ब्रह्मोपवेशनम्। मैवम्। अदृष्टार्थप्रसङ्गात्। न ह्यदृष्टार्थं कश्चिदासनप्रकल्पनं कुर्यात्। ब्रह्मासनव्यपदेशानुपपत्तेश्च। तस्माद्ब्रह्मोपवेशनार्थमेवास्तरणम्। यच्च चतुर्थीकर्मण्युपवेशनमुक्तम्, तदुदपात्रस्थापनावसरविधानार्थम्। तस्माद्ब्रह्मोपवेशनं भवत्येव। 'यदा ब्रह्मा न भवति तदा कौशः कार्यः' इति हरिहरः। तन्मूलं छन्दोगगृह्येऽस्ति। 'प्रणीय' प्रणयनञ्चापां सर्वार्थं प्रदेशान्तरे दृष्टन्तद्वदत्रापि कार्यम्। 'परिस्तीर्य' अग्नेर्दर्भैः प्रदक्षिणं परिस्तरणं कृत्वा। 'अर्थवदासाद्य' अर्थः प्रयोजनम्। अग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा द्वन्द्वं प्रयोजनवतां पात्राणामासादनं कार्यक्रमेण मुख्यक्रमानुग्रहात्, पश्चाच्चेत्प्राक्संस्थानामुदगग्राणां प्रागग्राणां वा आसादनम्। उत्तरत उदक्संस्थानां प्रागग्राणामुदगग्राणां वाऽऽसादनम्। कारिकायाम्—

---

(१) वस्तुतस्तु उक्तसूत्रात् पूर्वस्मिन्सूत्रे "दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने" (का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ८ सू० २७) इत्यत्र एषा श्रुतिः कर्कभाष्ये वर्तते।

"पश्चादुत्तरतो वा स्यात्पात्रासादनमग्नितः। उत्तरे चेदुदक्संस्थं प्राक्संस्थं पश्चिमे भवेत् ॥"

एतच्च विपुलस्थानसम्भवे। असंभवे तु कात्यायनेनोक्तम्—प्राक्चं प्राग्ग्रमुदगग्रेरुदगग्रं समीपतः" इति देवयाज्ञिकाः। 'पवित्रे कृत्वा' कौशे समे अप्रक्षीर्णाग्रे प्रादेशमात्रे अनन्तर्गर्भे कुशैश्छिन्द्यादित्यर्थः। 'प्रोक्षणीः संस्कृत्य' प्रादेशमात्रे वारणे पात्रे प्रणीतोदकमासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय सव्यहस्ते तत्पात्रं कृत्वा दक्षिणेनोर्ध्वनयनं कृत्वा प्रणीतोदकेन तत्प्रोक्षणं कुर्यात्। ततस्तस्मिन्पवित्रनिधानम्। 'अर्थवत्प्रोक्ष्य' तज्जलेन यथासादितानां पात्राणां प्रत्येकं प्रोक्षणम्। निरुप्याज्यम्' औपयिकासादिताज्यस्य स्थाल्यां प्रक्षेपः। चरुश्चेदत्र तण्डुलानां स्वस्थाल्यामावापः। 'अधिश्रित्य' तदाज्यमग्नौ स्थापयेत्। चरुश्चेदत्रावसरे आज्यादुत्तरतोऽग्नावधिश्रयणम्। 'पर्यग्नि कुर्यात्' अग्नेरुल्मुकं गृहीत्वा आज्यस्य परितो भ्रामयेत्। चरुश्चेत्तमपि पर्यग्निकुर्यात्। उपलक्षणार्थत्वादाज्यस्य ॥ २ ॥

स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात् ॥ ३ ॥

आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान्कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात् ॥ ४ ॥ एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः ॥ ५ ॥

इति प्रथमा कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—स्रुवं प्रतप्य=स्रुवा[1] को (आगे की ओर से) तपाकर, सम्मृज्य=मार्जन करके, अभ्युक्ष्य=प्रणीता के जल से प्रोक्षित करके; पुनः प्रतप्य=फिर से तपाकर; निदध्यात्=वेदी के दक्षिण भाग में रख देना चाहिए ॥ ३ ॥ आज्यम्=घी को; उद्वास्य=[अग्नि से] उतार कर; उत्पूय=(दोनो हाथ की अनामिका[2] और अंगुष्ठ से पवित्री कुश पकड़े हुए) उत्पवन करके; अवेक्ष्य=देखकर [कि कोई अपद्रव्य तो नहीं है]; च=और; प्रोक्षणीः=प्रोक्षणी के जल को भी; पूर्ववत्=पहले की भाँति; (घृत की ही तरह तवित्र करके); [3]उपयमनान् कुशान्=उपयमन संज्ञक कुशों को; आदाय=दाहिने हाथ में लेकर (फिर बाएँ हाथ में लेवें); समिधः=(घृताक्त) समिधाओं [लकड़ियों] को; अभ्याधाय=अग्नि में छोड़कर; पर्युक्ष्य=पर्युक्षण करके [जल छिड़क कर]; जुहुयात् = हवन करना चाहिए ॥ ४ ॥ एष एव=यही; विधिः=(होम की सामान्य) विधि है; यत्र क्वचित्=जहाँ कहीं भी; होमः=हवन हो (ऐसा ही करना चाहिए) ॥ ५ ॥

हिन्दी—स्रुवा को तपाकर, मार्जन करके उस पर पानी छिड़ककर, फिर से तपाकर उसे रख देना चाहिए ॥ ३ ॥ घी को अग्नि से हटाकर उसका उत्पवन करके, उसे देखकर, प्रोक्षणी को भी पूर्ववत् [पवित्र करके] उपयमन नामक कुशों को [दाहिने हाथ से उठाकर बाँए हाथ में] लेकर;

---

१. स्रुवा एक यज्ञीय पात्र है जो आहुति देने के काम आता है।

२. अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामुत्तानाभ्यां पाणिभ्याम् उत्पुनाति—आश्व० गृ० १. ३. ३।

३. उपयमन कुश सात होते हैं। तीन–चार कुश एक साथ मिलाकर बटकर एक उपयमन कुश बनाया जाता है। इस प्रकार के सात कुशों का एक साथ प्रयोग होता है।

समिधाओं को [अग्नि में] डालकर, उस पर जल छिड़क कर हवन करना चाहिए ॥ ४ ॥ जहाँ कहीं भी होम हो, [सामान्य रूप से] विधि यही है ॥ ५ ॥

प्रथम काण्ड में प्रथम कण्डिका समाप्त ।

(हरिहर०)

(१) श्रृषच्छृते चरौ स्रुवं प्रतप्य दक्षिणेन हस्तेन स्रुवमादाय प्राञ्चमधोमुखमग्नौ तापयित्वा सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेन सम्मार्गाग्रैर्मूलतोऽग्रपर्यन्तं सम्मृज्य मूलैरग्रामारभ्य अधस्तान्मूलपर्यन्तम् अभ्युक्ष्य प्रणीतोदकेनाभिषिच्य पुनः प्रतप्य निदध्यात् पुनः पूर्ववत्प्रतप्य दक्षिणतो निदध्यात् ॥ ३ ॥

आज्यमुद्वास्य आज्यमुत्थाप्य चरोः पूर्वेण नीत्वाऽग्नेरुत्तरतः स्थापयित्वा चरुमुत्थाप्य आज्यस्य पश्चिमतो नीत्वा आज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा आज्यमग्नेः पश्चादानीय चरुं चानीय आज्यस्योत्तरतो निधाय (एवं त्रिचतुरवत्तादीन्यान्यपि हवींष्युद्वासयेदधिश्रितानां पूर्वेणोद्वासितानां पश्चिमतो हविष उद्वास्यानयनमिति याज्ञिकसम्प्रदायात्) उत्पूय पूर्वपवित्राभ्याम् अवेक्ष्य अवलोक्याज्यं तस्मादपद्रव्यनिरसनं प्रोक्षणीश्च पूर्ववत् पवित्राभ्यामुत्पूय पूर्ववत् उपयमनान् कुशानादाय दक्षिणपाणिना गृहीत्वा सव्ये निधाय समिधोऽभ्याधाय उत्तिष्ठन् समिधः प्रक्षिप्य पर्युक्ष्य जुहुयात् प्रोक्षण्युदकेन सपवित्रेण दक्षिणचुलुकेन गृहीतेन अग्निमीशानादि उदगपवर्गं परिषिच्य जुहुयात् आघारादीन् संस्रवधारणार्थं पात्रं प्रणीताग्न्योर्मध्ये निदध्यात् ॥ ४ ॥

एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः । एषः परिसमूहनादिपर्युक्षणपर्यन्तो विधिरेव न मन्त्राः यत्र क्वचित् क्वचन लौकिके स्मार्त्ते वाऽग्नौ होमः तत्र वेदितव्यः ॥ ५ ॥

इति हरिहरकृते पारस्करकृतगृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

(गदाधर०)

'स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्' अग्नौ स्रुवं तापयित्वा, दर्भैः संमृज्य, प्रणीतोदकेनाभ्युक्ष्य, पुनस्तापयित्वा निदध्यात् । स्रुवस्यायं संस्कारो होमार्थः । एवञ्च दृष्टार्थता तत्संस्कारस्य । अतः संस्कारविस्मरणे प्रायश्चित्तपूर्वकं प्रागन्त्यहोमात्कार्यः । ऊर्ध्वन्तु प्रायश्चित्तमात्रम् । 'प्रोक्षण्युदकेनाभ्युक्षणम्' इति गर्गः ॥ ३ ॥

'आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य' अग्नेः सकाशादाज्यमुत्तरत उद्वास्य, पवित्राभ्यामुत्पूय, तदाज्यमवलोक्य चरुश्चेदाज्योद्वासनोत्तरं तस्योद्वासनम् । तच्चैवम्—अग्नेः सकाशादाज्यं गृहीत्वा चरोः पूर्वेण नीत्वा अग्नेरुत्तरतो निधानम् । ततश्चरुमादायाज्यपश्चिमतो नीत्वा आज्यादुत्तरतो निधानम् । 'हविषाञ्च यथापूर्वम्' इत्युक्तेः । 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' पूर्ववदिति पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पूय तास्वेव पवित्रनिधानम् । चशब्दादाज्यमपि पूर्ववदेव । अतः पवित्राभ्यां स्यात् प्रोक्षणीसंस्कारोऽयं पर्युक्षणार्थः । 'उपयमनान् कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात्' उपयमनान्कुशान् गृहीत्वा उपतिष्ठन् तिस्रः समिधोऽग्नावभ्याधाय प्रक्षिप्य

---

(१) 'अर्धश्रृते' इति पाठान्तरम् ।

प्रोक्षण्युदकेनाग्निं प्रदक्षिणं परिषिच्य स्रुवेण वक्ष्यमाणं होमं कुर्यात्। तिष्ठन् समिधः सर्वत्रे-त्युक्तेरत्र तिष्ठता समिदाधानम्। समिल्लक्षणञ्च स्मृत्यर्थसारे—

"पलाशखदिराश्वत्थशम्युदुम्बरजा समित्। अपामार्गार्कदूर्वाश्च कुशाश्चेत्यपरे विदुः॥
सत्वचः समिधः कार्या ऋजुश्लक्ष्णाः समास्तथा। शस्ता दशाङ्गुलास्तास्तु द्वादशाङ्गुलिकास्तु वा॥
आर्द्राः पक्वाः समच्छेदास्तर्जन्यङ्गुलिवर्तुलाः। अपाटिताश्चाद्विशाखाः कृमिदोषविवर्जिताः॥
ईदृशा होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम्॥" इति।

यद्वा—समित्पवित्रं वेदश्च त्रयः प्रादेशसम्मिताः। इध्मस्तु द्विगुणः कार्यस्त्रिगुणः परिधिः स्मृतः॥

"एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः" यत्र क्वचिद्धोमः शान्तिकपौष्टिकादिष्वपि एष एव विधिः स्यात्। एवकारो मन्त्रप्रतिषेधार्थः। गृह्याग्निव्यतिरेकेणापि यथाऽयं विधिः स्यादित्येवमर्थः क्वचिच्छब्दः। यथा दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयादित्यादौ॥ ५॥

इति श्रीचिरञ्जित्रित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमा कण्डिका॥ १॥

द्वितीया कण्डिका

आवसथ्याधानं दारकाले॥ १॥ दायाद्यकाल एकेषाम्॥ २॥ वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य॥३॥ चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम्॥४॥ अरणिप्रदानमेके॥ ५॥ पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः॥ ६॥

(सरला)

यस्यास्य पद्ममकरन्दवचोऽमृतानिच्छात्रा निपीय नितरां विबुधा भवन्ति।
सर्वागमप्रतिनिधिं करुणावतारं सिद्धेश्वरं गुरुवरं तमहं नमामि॥

[गृह्याग्नि की स्थापना]

प्राक्कथन—प्रथम कण्डिका में आचार्य पारस्कर जिस आवसथ्य अग्नि में घृत चरु और पुरोडाश पकाकर कर्म करने की प्रतिज्ञा करते हैं; उसी अग्नि का स्थापन कहाँ और कब होना चाहिए—यही प्रस्तुत कण्डिका का विषय है। घर का संस्कृत नाम 'आवसथ्य' भी है। और गृह में रहने वाले को गृहस्थ कहते हैं। प्रत्येक गृहस्थ को नित्य पंच-महायज्ञ करना चाहिए। अतः पंच-महायज्ञ का जो आधार [अग्नि] है, उसी अग्नि का नाम आवसथ्य अग्नि है।

व्याख्या—आवसथ्याधानं = गृह्य अग्नि का स्थापन; दारकाले = विवाह के समय चतुर्थी कर्म के बाद [करना चाहिए]॥ १॥ एकेषाम् = कुछ आचार्यों के मतानुसार; दायाद्यकाले = पैतृक संपत्ति के विभाजन के समय [करना चाहिए]॥ २॥ बहुपशोः = बहुत [गाय आदि] पशुओं वाले; वैश्यस्य = वैश्य के; गृहात् = घर से; अग्निम् आहृत्य = अग्नि लाकर [स्थापित करना चाहिए]॥ ३॥ [1]चातुष्प्राश्यपचनवत् = चातुष्प्राश्य में होने वाले पाककर्म के समान; सर्वम् =

१. श्रौत अग्नियों के आधान के समय चार ऋत्विजों के लिए पकाया जाने वाला अन्न 'चातुष्प्राश्य' कहलाता है।

सम्पूर्ण कर्म [यहाँ भी करना चाहिए] ॥ ४ ॥ एके = कुछ ऋषियों के मतानुसार; [1]अरणिप्रदानम् = काष्ठ को रगड़कर अग्नि प्रकट की जाय [वैश्य के घर से न लाई जाय] ॥ ५ ॥ क्योंकि; [2]पंचमहायज्ञाः = "पाँच महायज्ञ हैं"; इति श्रुतेः = यह श्रुति है ॥ ६ ॥

हिन्दी—आवसथ्य अग्नि की स्थापना विवाह के समय होती है ॥ १ ॥ कुछ आचार्यों के मतानुसार दायाद्य के समय [जब पिता के धन का पुत्रों में विभाजन हो] उसकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए ॥ २ ॥ बहुत पशु-धन वाले वैश्य के घर से अग्नि लाकर [स्थापन करना चाहिए] ॥ ३ ॥ चातुष्प्राश्यपचन से सम्बद्ध सभी विधियाँ प्रतिपादित करनी चाहिए ॥ ४ ॥ कुछ आचार्यों के अनुसार अरणि-मंथन होना चाहिए, क्योंकि श्रुति के अनुसार पंचमहायज्ञ होते हैं ॥ ५–६ ॥

(हरिहर०)

आवसथ्याधानं दारकाले । आवसथ्याग्निना साध्यानि कर्माणि व्याख्यातुं प्रतिज्ञातानि प्रथमसूत्रे सूत्रकृता पारस्करेण यतोऽतस्तस्याधानविधिं व्याख्यातुमुपक्रमते । आवसथ्यस्य गृह्यस्य अग्नेराधानम् आवसथ्याधानं, तद्दारकाले विवाहकाले चतुर्थीकर्मानन्तरं कुर्यात् । प्राक् चतुर्थीकर्मणः पत्न्या भार्यात्वस्यानुपपत्तेः, सभार्यस्य च आधानेऽधिकारः । वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निरित्याश्वलायनादीनां पक्षः । ते हि विवाहहोममेव दाराग्न्योः संस्कारकं मन्यन्ते । अस्माकं तु आवसथ्याधानं दारकाल इत्यारभ्याग्निसंस्कारस्य पारस्कराचार्येण पृथगभिधानात् तत्संस्कारसंस्कृतोऽग्निरौपासनः ॥ १ ॥

दायाद्यकाल एकेषाम् । एकेषामाचार्याणां मते दायाद्यकाले भ्रातॄणां पितृधनविभागकाले । अविभक्ते हि पित्र्ये धने सर्वेषां भ्रातॄणां स्वत्वस्य साधारणत्वेन विनियोगानर्हत्वात् । धनविनियोगसाध्यं हि आवसथ्यादिकर्मानुष्ठानम् । अतो भ्रातृमतां विभक्तानामाधानेऽधिकार इति तेषामभिप्रायः । अभ्रातृकस्य दारकाले । एवं व्यवस्थितो विकल्पः ॥ २ ॥

एवं कृतविवाहस्य विभक्तधनस्य च आधाने अधिकारमभिधाय इदानीमाहरणपक्षे आधानमाह—वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य, चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम् । तत्रावसथ्याधानं करिष्यन् उक्तकालातिक्रमाभावे ज्योतिः शास्त्रे अग्न्याधानार्थोपदिष्टमासतिथिनक्षत्रवारादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः सपत्नीको गोमयोपलिप्ते शुचौ देशे स्वासने उपविश्य अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा आवसथ्याग्निमहमाधास्ये इति संकल्पं विधाय मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं यथोक्तं कुर्यात् । कालातिक्रमे तु—

यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः । तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि ॥

इति वचनादतिक्रान्तसंवत्सरसंख्यया प्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दत्वा तदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्द्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजनमयुतं गायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयाऽन्यतमं विधाय हौम्यं सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । प्रशंसावाक्यं तत्र गृह्यकाण्डे—

---

१. 'अरणि' दो पीपल या शमी की लकड़ियों को आपस में रगड़ कर निकाली जाने वाली अग्नि है ।

२. शतपथब्राह्मण में पाँच महायज्ञ विहित हैं । अतः श्रौत होने से पंचमहायज्ञ पूर्ण करने का साधन अग्नि भी [श्रौताधान के ही समान] अरणि मंथन से होनी चाहिए । यही उन आचार्यों का अभिप्राय है ।

नावसथ्यात्परो धर्मो नावसथ्यात्परं तपः। नावसथ्यात्परं दानं नावसथ्यात्परं धनम् ॥
नावसथ्यात्परं श्रेयो नावसथ्यात्परं यशः।
नावसथ्यात्परा सिद्धिर्नावसथ्यात्परा गतिः। नावसथ्यात्परं स्थानं नावसथ्यात्परं व्रतम् ॥

इत्थावश्यकत्वान्नित्यम्। तस्मात्तदकरणे प्रत्यवायात् तत्क्षयार्थं प्रायश्चित्तमुचितम्। तत्र वाक्यम्—'आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्निवर्जनितदुरितक्षयाय एतावन्ति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये"। तदशक्तौ "प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे"। एवमन्येषु गोमूल्यदाननिष्कतदर्द्धार्द्धद्वादशब्राह्मणभोजनायुत-गायत्रीजपगायत्र्यातिलाहुतिसहस्ररूपेषु वाक्यमूहनीयम्। ततः स्वशाखाध्यायिनं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालङ्कारादिभिरभ्यर्च्यामुकगोत्रममुकशर्माणममुकवेदममुक-शाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिर्गन्धपुष्पाक्षतवस्त्रा-लंकारैस्त्वामहं वृणे, 'वृतोऽस्मि' इति तेन वाच्यम्। केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणार्चयन्ति ऋत्विक्त्वाविशेषात्। ततः पत्न्या सह अहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थण्डिल-मुपलिप्य पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तं देशमहतवाससा पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमा-दाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमङ्गलगीतवाद्यादिभिर्जनितोत्साहो वैश्यस्य तृतीयवर्णस्य बहुपशोः पशुभिः समृद्धस्य तदलाभे गोभिलादि सूत्रवचनात् भ्राष्ट्रगृहादम्बरीषाद् बहु-याजिनो ब्राह्मणस्य गृहाद् बह्वन्नपाकाद् ब्राह्मणमहानसाद्वा स्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परिसमूहनादिपञ्चभूसंस्कारसंस्कृते स्थण्डिले प्राङ्मुख उपविश्यात्माभिमुखमग्निं निदध्यात्। ततो ब्रह्मोपवेशनादिब्राह्मणभोजनान्तं वक्ष्यमाणं कर्म कुर्यात्। "चातुष्प्राश्य-पचनवत्सर्वम् इति सूत्रकृता पूर्वपक्ष उपन्यस्तो न तु सम्मतः" इति कर्कोपाध्यायो भाष्ये निरूपितवान् ॥ ४ ॥

अधुनाऽऽरणेयपक्षमाह—अरणिप्रदानमेके। एके आचार्या अरणिप्रदानं, प्रशब्द उपशब्द-स्यार्थे, अरणिप्रदानमुपादानं कारणमुत्पत्तिस्थानं यस्याग्नेः सोऽरणिप्रदानस्तमरणिप्रदान-मग्निमादधीतेति मन्यन्ते ॥ ५ ॥

पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः। पञ्चमहायज्ञानां श्रौतत्वात् आरणेयेऽग्नावनुष्ठानं युक्तमित्य-भिप्रायः ॥ ६ ॥

(गदाधर०)

"आवसथ्याधानं दारकाले" आवसथं गृहं तत्रस्थोऽग्निरावसथ्य इत्युच्यते। तस्याधानं स्थापनमात्मसात्करणमात्मनिष्ठफलसाधनकर्मानुष्ठानसंपादकसंस्कारविशिष्टत्वेन संपादनमिति यावत्। तद्दारकाले भवति। दारकालशब्देन पाणिग्रहणं क्रिया उच्यते। चतुर्थ्युत्तरकालं दारकाल इति सम्प्रदायः। "पित्रा प्रत्तामादय निष्क्रामतीत्येष दारकालः" इति भर्तृयज्ञभाष्ये ॥ १ ॥

"दायाद्यकाल एकेषाम्" एकेषामाचार्याणां मते दायाद्यकाले अग्न्याधानं भवति। पैतृ-कद्रव्यस्य भ्रातृभिः सह रिक्थविभागकालो दायाद्यकालः तस्मिन् काले स्वेन द्रव्येण कर्मा-नुष्ठानसमर्थो भवति। साधारणद्रव्यस्य परित्यागासामर्थ्यादनधिकार एव। अतो व्यवस्था भ्रातृमतो दायाद्यकाले, अभ्रातृकस्य दारकाले। अविभक्तस्यापि विवाहकालेऽपि आधाना-धिकार इति मदनपारिजाते। आश्वलायनादीनां वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निरिष्टः। अत्र सांख्यायनगृह्ये तु 'अभिसमावर्त्स्यमानो यत्रान्त्यां समिधमभ्यादध्यात्तमग्निमिन्धीत वैवाह्यं वा दायाद्यकाल एके प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्वैशाख्याममावास्यायामन्यस्यां वा

कामतो नक्षत्र एके' इति। अत्र छन्दोगगृह्ये विशेषः—'भूर्भुवः स्वरिति अभिमुखमग्निं प्रणयन्ति प्रेते वा गृहपतौ-परमेष्ठिकरणं, तथा तिथिनक्षत्रसमवाये दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्नि-समाधानं कुर्वीत' इति। तत्र कारिकायां विशेषः—

'अपि वैवाहिको येन न गृहीतः प्रमादतः। पितर्युपरते तेन ग्रहीतव्यः प्रयत्नतः॥
कृतदारो न तिष्ठेच्च क्षणमप्यग्निना विना। तिष्ठन् भवेद् द्विजो व्रात्यस्तथा च पतितो भवेत्॥
पितृपाकोपजीवी स्याद् भ्रातृपाकोपजीवकः। ज्ञानाध्ययननिष्ठो वा न दुष्येताग्निना विना॥
यथा संध्या यथा स्नानं वेदस्याध्ययनं यथा। तथैवौपासनं प्रोक्तन्न स्थितिस्तद्वियोगतः॥
योऽग्निं स्मार्तमनादृत्य कर्म स्नानजपादिकम्। होमान्समाचरेद्विप्रो न स पुण्येन युज्यते॥
यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं पृथिवीं च ससागराम्। तत्सायंप्रातर्होमस्य तुल्यं भवति वा नवा॥
योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते। अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः॥
वृथापाकस्य भुञ्जानः प्रायश्चित्तं समाचरेत्। प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति॥"

तथा—

कालद्वयेऽपि चेद्येन नाधानं तु कृतं पुरा। स कृत्वाऽन्यतमं कृच्छ्रमग्निमध्याहरेत्ततः॥

एतदाधानं गृहपतौ मृते एकादशाहे द्वादशाहे वा कार्यम्। तदुक्तं रेणुकदीक्षितैः—

"एतद् गृहपतौ प्रेते कुर्यादेकादशेऽहनि। प्रागेवैकादशश्राद्धाद् वृद्धिश्राद्धविवर्जितम्॥
एवं ज्येष्ठः समादध्यात्कनीयांश्च विवर्जयेत्। एकादशेऽह्नि कुर्वन्ति द्वादशे वा विचक्षणाः॥
अधिकारेऽपि न कुर्वीत मले वाऽस्तंगते गुरौ।"

तथाह लल्लः—

"आधानपुनराधाने न कुर्यात् सिंहगे रवौ।" कालातिक्रमे तु प्रायश्चित्तमुक्तम्—

"यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः। तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि॥
कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम्। चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा॥" इति

कालप्रसङ्गान्मुहूर्तविचारोऽप्यत्र क्रियते। तत्र कारिकायाम्—

'माघादिपञ्चमासेषु श्रावणे चाश्विनेऽथ वा। कुर्यान्मृगोत्तमाङ्गे वा आधानं शुक्लपक्षतः॥
(मृगोत्तमाङ्गो मार्गशीर्षः।)
हस्तद्वये विशाखासु कृत्तिकादित्रये तथा। पुनर्वसुद्वये तद्वद्रेवतीषूत्तरासु च॥
भौमार्कवर्जिते वारे नाधिमासे क्षये तथा। चन्द्रेऽनुकूले पूर्वाह्णे रिक्ताविष्टिविवर्जिते॥
(चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यो रिक्ताः।)

'सवैधृतिश्च व्यतीपातनामा सर्वोऽप्यनिष्टः परिघस्य चार्धम्।'

"विष्कम्भे घटिकास्तिस्रो नव व्याघातवज्रयोः।
गण्डातिगण्डयोः षट् च शूले पञ्च न शोभनाः॥"

महेश्वरः—

"चूडाकर्मनृपाभिषेकनिलयाग्न्याधानपाणिग्रहान्
देवस्थापनमौञ्जिबन्धनविधीन्कुर्यान्न याम्यायने।
देवेज्यास्फुजितोस्तथाऽस्तमितयोर्बाल्ये च वार्द्धे तयोः
केतावभ्युदिते तथा ग्रहणतो यावत्तिथिश्चाष्टमी॥
(देवेज्यो गुरुः, आस्फुजित् शुक्रः।)

केतुनिर्घातभूकम्पविद्युत्स्तनितदर्शने। आधानं न हि कर्तव्यं सुधिया शुभमिच्छता॥
पश्चिमायां दिशि सितो बालः स्याद्दश वासरान्। वृद्धः पञ्च दिनान्यैन्द्र्यां त्रिदिनं पक्षमेव च॥
शिशुवृद्धौ जीवसितावुभयत्राप्युदीरितौ। अन्यैः पञ्चदशाहानि दशान्यैः सप्त चापरैः॥

उपरागनिवृत्तौ च यावत्स्याद्दिनसप्तकम् । अग्न्याधेयं विवाहादि मङ्गलं न समाचरेत् ॥"

रत्नमालायाम्—

"राशौ विलग्नेऽम्बुचरे घटे वा तदंशके वाप्यथवा शशाङ्के ।
आधानकालो द्विजपुङ्गवानां जातोऽपि निर्वाणमुपैति वह्निः ॥

(विलग्नं लग्नपर्यायः । अम्बुचरे कर्के, मीने, मकरोत्तरार्द्धे च । मेषकर्कटतुलामकराश्च चरलग्नानि । घटे कुम्भलग्ने । तदंशके चरांशे, कुम्भांशे च । शशाङ्के चन्द्रे चरराशिस्थिते, कुम्भराशि स्थिते तदंशस्थिते चेत्यर्थः ।)

त्रिकोणकेन्द्रोपचयेषु सूर्ये बृहस्पतौ शीतकरे कुजे च ।
शेषग्रहेषूपचयस्थितेषु धूमध्वजोत्पादनमामनन्ति ॥

(त्रिकोणं नवपञ्चकम् । लग्नसप्तमदशमचतुर्थं च केन्द्रम् । तृतीयषष्ठदशमैकादश-मुपचयः । कुजो मङ्गलः ।)

चन्द्रे पत्नी मृत्युगे मृत्युमेति क्षिप्रं वह्न्याधायकः प्रमासुते च ।
भानोः सूनौ देवपूज्ये रवौ वा रागैर्जुष्टो दुःखितः स्याद्द्विजेन्द्रः ॥

नो कुर्याद्धुतभुक्परिग्रहमिनक्ष्मापुत्रजीवेन्दुभिर्नीचस्थैर्विजितै रिपोर्भवनगैरस्तङ्गतैर्वा द्विजः।
चापस्थे तनुगे गुरौ क्रियगते सप्ताम्बरस्थे कुजे शीतांशौ त्रिषडायगे दिनकरे वा स्यात्तदा दीक्षितः॥

पापग्रहेषु धनगेषु धनेन हीनः सौम्यग्रहेषु धनवान् उडुपेऽन्नदः स्यात् ।
लग्नस्थिते च सबुधार्कजभार्गवेन्दावुत्पादितोऽग्निरचिरात्खलु नाशमेति ॥"

चापस्थे धनूराशिस्थिते । तनुगे लग्नस्थे । क्रियगते मेषराशिस्थिते । अम्बरस्थे दशम-स्थे । आयगे एकादशस्थे । कन्यायां मिथुने च मङ्गलः शत्रुगृहस्थः । कन्यामिथुनतुलावृषेषु बृहस्पतिः शत्रुगृहस्थः । रविमङ्गलशनैश्चराः पापग्रहाः, क्षीणचन्द्रश्च । धनगेषु द्वितीयस्थेषु ।

अथाधिकारी निरूप्यते—

"ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रं हित्वाऽनुलोमजाः। अधिकुर्वन्ति गार्ह्येषु सह भर्त्रा स्त्रियस्तथा ॥
मासोर्ध्वं स्त्रीप्रसूर्या स्यात्पुत्रसूर्दिनविंशतेः । रजस्युपरते स्नानं दिनादूर्ध्वं रजस्वला ॥
नाधिकारोऽस्ति सर्वेषां सूतके मृतकेऽपि च । तथैव पतितानां च तथा दोषयुजामपि ॥
अग्न्याधानेऽधिकारोऽस्ति रथकारस्य चोत्तरे । माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ॥
वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्यो मुनिभिः स्मृतः । जाता वैश्येन शूद्रायां करणीत्यभिधीयते ॥
वेदाध्ययनसंपन्नाः प्रयोगेन श्रुतेन च । अधिकुर्वन्ति सर्वत्र यद्वाऽर्थश्रवणं विना ॥
यद्वाऽध्ययनवेदार्थविज्ञानरहितोऽपि सन् । नाधिकारी क्रियाशून्यो भर्तृयज्ञादिशासनात् ॥
द्रविडस्त्वन्यथा प्राह सर्वशून्येऽप्यधिक्रियाम् । श्रद्धावांश्चेद्भवेत्कर्ता नेदृक् सर्वानुसंमतम् ॥
भार्याः सन्तीह यावत्यस्ताभिः सर्वाभिरन्वितः । यद्वा सवर्णया ज्येष्ठभार्ययैव समन्वितः ॥
व्यभिचारवती पापा रोगिणी द्वेषिणी च या । आधाने सा परित्याज्या नवा त्याज्या मतान्तरात् ॥
तुल्याधिकार उभयोर्यज्ञपार्श्वे निरूपणात् । अतस्त्वन्यतराभावे नाधिकारोऽस्ति कुत्रचित् ॥"

अथानधिकारिणः—

आवसथ्यं विवाहं च प्रयोगे प्रथमे स्थितः । न कुर्याज्जनके ज्येष्ठे सोदरे चाप्रकुर्वति ॥
क्षेत्रजादावनीजाने विद्यमानेऽपि सोदरे । नाधिकारविघातोऽस्ति भिन्नोदर्येऽपि चौरसे ॥
पङ्ग्वन्धमूकबधिरपतितोन्माददूषणे । संन्यस्ते छिन्नकर्णादौ यद्वा षण्ढादिदूषणे ॥
जनके सोदरे ज्येष्ठे कुर्यादेवेतरः क्रियाम् । ज्येष्ठे श्रद्धाविहीने च सत्याधेयं तदाज्ञया ॥
पितृसखेऽप्यनुज्ञातो नादधीत कदाचन । जीवत्पितरि चादध्यादाहिताग्निः स वै यदि ॥
तथैव भ्रातरि ज्येष्ठे यजेत्सैव विवाहयेत् । अनाहिताग्नौ पितरि योऽग्न्याधानं करोति हि ॥

अरण्योरग्निमारोप्य तमाधाप्यादधीत सः। उद्वाहं चाग्निसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ॥
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः। परिवित्तिः परीवेत्ता नरकं गच्छतो ध्रुवम् ॥
अपि चीर्णप्रायश्चित्तौ पादोनफलभागिनौ। पितृव्यपुत्रियोरपन्नः परनारीसुतोऽपि वा ॥

(दत्तकादयः परनारीसुताः।)

विवाहे चाग्निसंयोगे न दोषः परिवेदने। देशान्तरस्थक्लीबैकवृषणानसहोदरान् ॥
वेश्यानिष्ठांश्च पतितान् शूद्रतुल्यातिरोगिणः। जडमूकान्धबधिरकुब्जवामनखञ्जकान् ॥
अतिवृद्धानभार्यांश्च कृषिसक्तान्नृपस्य च। धनवृद्धिप्रसक्तांश्च कामतोऽकारिणस्तथा ॥
कुटिलोन्मादरोगांश्च परिविन्दन्न दुष्यति। गीतवादित्रनिरतान्नर्तकान्पारदारिकान् ॥
वशिकान् गारुडांश्चैव परिविन्दन्न दुष्यति। योगशास्त्राभियुक्ते च द्विजे प्रव्रजिते तथा ॥
नास्तिके चाग्निसंयोगे न दोषः परिवेदने। पिता पितामहो यस्य अग्रजो वाऽप्यनग्निमान् ॥
इज्यातपोऽग्निसंयोगे न दोषः परिवेदने। परिवेदनवाक्ये ये श्रूयन्ते दोषसंयुताः ॥
तेषामप्यधिकारोऽस्ति प्रायश्चित्तादनन्तरम्। पिता पितामहो वापि नास्तिको वाप्यनाश्रमी ॥
यस्य दोषोऽस्ति नैवेह तस्याधाने कदाचन। अग्रजे सति निर्दुष्टे यवीयानग्निमान् भवेत् ॥
प्रतिपर्व भवेत्तस्य ब्रह्महत्या न संशयः। नाग्नयः परिविन्दन्ति न वेदा न तपांसि च ॥
न च श्राद्धं कनिष्ठस्य विरूपा या च कन्यका। ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैव चाश्रयेत् ॥
अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शङ्खस्य वचनं यथा। ज्येष्ठभ्रात्रा त्वनुज्ञातः कुर्यादग्निपरिग्रहम् ॥
अनुज्ञातोऽपि सन्पित्रा नादध्यान्मनुरब्रवीत्। धनवार्धुषिकं राजसेवकं कर्षकं तथा ॥
प्रोषितं च प्रतीक्षेत वर्षत्रयमपि त्वरन्। प्रोषितश्चेत्त्रिवर्षं स्यात् त्र्यब्दादूर्ध्वं समाचरेत्।
आगते तु पुनस्तस्मिन्पादकृच्छ्रद्वयं चरेत्। देशान्तरस्थो न ज्येष्ठो ज्ञायेताहितवानिति ॥
कनीयानधिकारी चेदादधीताविचारयन्। द्वादशैव तु वर्षाणि ज्यायान् धर्मार्थयोगतः ॥
न्याय्यः प्रतीक्षितो भ्राता श्रूयमाणः पुनः पुनः। प्रोषितस्तु यदा ज्येष्ठो ज्ञायेतानाहितानलः ॥
षड्वत्सरान् प्रतीक्षेत आदधीतानुजस्तथा। पितरि प्रेतभार्ये वा देशान्तरगतेऽपि सन् ॥
अधिकारविघातो हि न पुत्रस्योपजायते। सोदराणां च सर्वेषां परिवेत्ता कथं भवेत् ॥
दारैस्तु परिविद्यन्ते नाग्निहोत्रेण नेज्यया ॥" इति ॥ २ ॥

अग्न्याहरणार्थं योनिमाह—'वैश्यस्य······इति श्रुतेः'। पशुभिः समृद्धस्य वैश्यस्य गृहादग्निं हुतोच्छिष्टमसंस्कृतं वा आनीयाऽऽधानं कुर्यात्। एके अरणिप्रदानम् अरण्युपादानकमिच्छन्ति। अयमर्थः—प्रशब्दोऽत्र उपशब्दार्थे, अरणी प्रदानमुपादानकारणमुत्पत्तिस्थानं यस्याग्नेः सोऽरणीप्रदानस्तमग्निमादधीतेति मन्यन्ते, अतो विकल्पः। अत्र सांख्यायनगृह्ये 'बहुपशुविट्कुलाम्बरीषबहुयाजिनामन्यतमं तस्मादग्निमिन्धीत' इति। छन्दोगगृह्ये—'वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यादपि वा बहुयाजिन एवाऽऽगाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वाऽपि वा अन्यं मथित्वाऽभ्यादध्या(१)त्पुण्यस्त्वेवानदर्धुको भवतीति यथा कामयेत तथा कुर्यात्स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति' इति। तथा गृह्यान्तरं छन्दोगभाष्ये—'ब्राह्मणकुलात्तु ब्रह्मवर्चसकामोऽग्निमाहृत्यादधीत, राजन्यादोजोवीर्यकामो,

---

(१) पुण्यस्त्वेवानदर्धुको भवतीति। पुण्यः पुण्यकृत्, केवलपुण्यकोशवृद्धिकृदेवायमारणेयोऽग्निरिति। अनदर्धुकः। ऋद्धिः वृद्धिः। ब्रह्मवर्चसादीनां वृद्धिं न करोतीत्यनदर्धुकः। तुशब्दो विशेषणार्थः। वैश्यकुलादियोन्याहृतादग्नेरारणेयो विशिष्ट इति। यतश्चात्र स्वाधीनत्वात् योनेरनुगतोऽप्यग्निः क्षिप्रमेव पुनर्निर्मथ्योत्पाद्यते। अन्यत्र पराधीनत्वाद् बहुयाजिवैश्याम्बरीषयोश्च दुर्लभत्वात्प्रायश्चित्तप्रसङ्गः पुनराधानप्रसङ्गो वा स्यात्। अनदर्धु-

वैश्यात्पशुकामोऽम्बरीषाद् धनधान्यकाम, आरणेयमुरुपुण्यकोशकामः' इति। पुनराधाने अग्न्यनुगमने च आधाने या योनिरङ्गीकृता सैव भवति। तथा च छन्दोगभाष्ये शाखान्तर-गृह्यम्—'पूर्वैवानुगतेऽग्नौ योनिः पुनराधेये च' इति। "वैश्यगृहाग्न्यभावे शाखान्तरोक्ताया योनेरग्न्याहरणम्" इति हरिहरः। अस्मत्सूत्रोपरि तु वैश्यगृहादग्न्याहरणं वाऽरण्योरिति युक्तं न तु वैश्याभावे गृह्यान्तरोक्ताया योनेराहरणं, गृह्यान्तरयोन्यपेक्षया वरं विकल्पेन स्वगृह्योक्ता योनिर्ग्राह्येति नमो हरिहरमिश्रेभ्यः। यस्मिन्पक्षे वैश्यगृहादग्न्याहरणं तस्मिन्पक्षे यावज्जीवं वैश्यसन्निधौ निवासः। शान्तेऽग्नौ वैश्यकुलादाहृत्य सर्वप्रायश्चित्तं कृत्वा तेनैव विधिना यावज्जीवं वर्त्तयेत्' इति गर्गपद्धतौ ॥ ३ ॥

'चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वमिति'। चातुष्प्राश्यपचनं यस्मिन् कर्मणि विद्यते तद्वदिहापि सर्वं भवति, कुतः ? पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः, पञ्चमहायज्ञानां श्रुतौ पाठस्तत्साधनभूतोऽय-मग्निरतस्तद्वदिहापि सर्वं भवतीति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु उत्सूत्रः—'चातुष्प्राश्यपचन-वतीतिकर्तव्यता न भवति' इति। यत्कारणम्, उपदेशातिदेशयोरन्यतरेण धर्माणां प्रवृत्तिः। नात्रोपदेशो, न चातिदेशः, तस्मान्नैव चातुष्प्राश्यपचनवतीतिकर्तव्यता प्रवर्तते। ननु तर्हि किमर्थमिदमुक्तम् ? आधानसामान्याद्वा श्रौतानां पञ्चमहायज्ञानां साधनभूत त्वाद्वा श्रौताऽऽधानधर्माः स्युरिति बुद्धिः स्यात्तां निराकर्तुमिदमुक्तमित्यदोषः। गृह्यान्तरे चानयैव भ्रान्त्या श्रौताधानेतिकर्तव्यता उक्ताऽस्ति तां निवारयितुमिह सूत्रकृता पूर्वपक्षः कृतः। अरणिलक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वसंग्रहकारिकायाम्—

अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः। तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगाऽपि वा॥
अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मय्येवोत्तरारणिः। सारवद्दारवं चात्रमोविली च प्रशस्यते॥
संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते। अलाभे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः॥
चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला। चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता॥
मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम्। अन्तरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः॥
मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी। अङ्गुष्ठमात्राण्येतानि ह्यङ्गुष्ठं वक्ष उच्यते॥
अङ्गुष्ठमात्रं हृदयमङ्गुष्ठमुदरं तथा। एकाङ्गुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ वस्तिर्द्वौ च गुह्यके॥
ऊरू जङ्घे च पादौ च चतुस्त्र्येकैर्यथाक्रमम्। अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः॥
यत्तद् गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते। तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते॥
प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नेतरेषु च। अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्याद् द्वादशाङ्गुलम्॥
ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयन्त्रकम्। गोबालैः शणसंमिश्रैस्त्रिवृद्वृत्तमनंशुकम्॥
व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात्तेन मथ्यो हुताशनः। चात्रबुध्ने प्रमन्थाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः॥

त्वाद्विशिष्टविरोध इति चेन्न। उरुपुण्यकोशवृद्धिकारित्वादनर्द्धुकस्यापि अविरोध एव। तथा चोक्तम्—

"न हि पुण्यकृतः किञ्चित् त्रिषु लोकेषु दुर्लभम्।
दुष्प्राप्यमपि येनाप्तं ब्राह्मण्यं गाधिसूनुना॥" इति।

तस्मादारणेय एव विशिष्टोऽग्निरिति।

पुण्यमेवादधीताग्निं स हि सर्वैः प्रशस्यते। अनर्द्धुकत्वं यत्तस्य काम्यैस्तत्क्षीयते शमम्॥

इति वचनात्। (सू०) यथा कामयेत तथा कुर्यात्। ये एतेऽन्त्यसमिदाधानादयः षडाधानकल्पाः सह-वोक्ता याश्चेमा वैश्यकुलाद्याः पञ्चाग्नियोनयः तत्र गुणदोषान्विविच्य यथा कामयेत तथा कुर्यादिति [गो० गृ० भाष्य १]

बहुदिने मन्थनेन प्रमन्थनाशे तत्रैवोक्तम्—

उत्तराया अभावाद्धि ग्राह्यो मन्थोऽधरारणेः। व्याख्यातं कैश्चिदेवं तन्निर्मूलत्वादुपेक्ष्यते॥

मानप्रकारो यज्ञपार्श्वे—

शिरश्चक्षुः कर्णमास्यं प्रथमेंऽशे प्रकीर्तितम्। द्वितीये कन्धरा वक्षो तृतीये ह्युदरं स्मृतम्॥
चतुर्थे चैव योनिः स्यादूरुद्वन्द्वं च पञ्चमे। षष्ठे जङ्घे तथा पादौ पूर्णा चारणिरङ्गतः॥
यदि मन्थेच्छिरस्यग्निं शिरोरोगैः प्रमीयते। यजमानस्तथा कण्ठे ह्यंसे चैव विशेषतः॥
मन्थेद्यो यजमानस्तु पत्नहीनो भवेद् ध्रुवम्। यो मन्थत्युदरे कर्ता क्षुधया म्रियते तु सः॥
देवयोन्यां तु यो मन्थेद् देवसिद्धिः प्रजायते। मन्थेदूरुद्वये यस्तु राक्षसं कर्म तस्य तत्॥
जङ्घायाँश्चयातुधानेभ्यः पादयोः स्यात्पिशाचके॥
प्रथमे मन्थने ज्ञेयं द्वितीयादौ न शोधयेत्। अष्टाऽङ्गुलः प्रमन्थः स्याद्दीर्घो द्व्यङ्गुलविस्तृतः॥
उत्सेधो द्व्यङ्गुलस्तस्य त्वैशानपूर्वं ऊर्ध्वगः। एवमष्टादश प्रोक्ताः प्रमन्था ह्युत्तरारणेः॥
पादौ तस्याः स्मृतं मूलमग्रस्तु शिर उच्यते। अध्वर्युः प्राङ्मुखो मन्थेत्प्रत्यग्दिक्चरणा हि सा॥
ओविली यजमानेन धृत्वा गाढं च मन्थयेत्। मथ्नीयात्प्रथमं पत्नी यद्वा कश्चिद् दृढो द्विजः॥
मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम्। अन्तरा देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः॥
मूलादङ्गुलमुत्सृज्य अग्रात्सार्धाङ्गुलं तथा। योनिमध्ये पुनर्वानं कृत्वा मथ्यो हुताशनः॥
नान्यवृक्षेण मथ्नीयान्न कुर्याद् योनिसंकरम्। क्लेदिता स्फाटिता चैव सुषिरा ग्रन्थिमस्तका॥
चतुर्विधाऽरणिस्त्याज्या श्रेयस्कामैर्द्विजातिभिः। क्लेदिता हरते पुत्रान् स्फाटिता शोकमावहेत्॥
ग्रन्थिमूर्ध्नी हरेत्पत्नीं सुषिरा पतिमारिणी॥'

इति श्रौतस्मार्ताधानेऽरणिलक्षणम्।

'इतरेषु च संस्कारेष्वरणिर्द्वादशाङ्गुला। मूलात्त्रिभागजननिस्तदर्धेनोत्तरारणिः॥
वक्ष्ये जातारणेः पक्षं कुमाराग्नेः प्रसिद्धये। निर्माय यन्त्रविहितं पिता संस्थाप्य यत्नतः॥
जाते कुमारे मथ्नीयादग्निं यथाविधि स्वयम्। आयुष्यहोमान् जुहुयात्तस्मिन्नग्नौ समाहितः॥
तत्रान्नप्राशनं चौलं मौञ्जीबन्धनमेव च। व्रतादेशश्च कर्तव्यस्तस्मिन्गोदानिकाः क्रियाः॥
कुर्याद्वैवाहिको होमो वह्नौ तस्मिन्समाहितः। शालाग्निकर्म तत्रैव कुर्यात्पक्तिं च नैत्यकीम्॥
नित्यहोमं पञ्चयज्ञान् कुर्यात्तस्मिन्समाहितः। स्मार्तसंस्थादिकं यच्च तत्सर्वं तत्र गद्यते'॥ इति।

जातारणिपक्षस्तु युगान्तरे भवति न कलौ। 'प्रजार्थं तु द्विजाग्र्याणां प्रजारणिपरिग्रहः।' इति कलिवर्ज्यत्वात्। 'दानवाचनान्वारम्भणवरवरणव्रतप्रमाणेषु यजमानं प्रतीयात्' (का० श्रौ० अ० १ क० १०) इति परिभाषितत्वाद् यजमानाङ्गुलादिमानं ग्राह्यम्। 'अङ्गुष्ठाङ्गुलमानं तु यत्र यत्रोपदिश्यते। तत्र तत्र बृहत्पर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्सदा॥' इति छन्दोगपरिशिष्टम्। बृहत्पर्वाणि मध्यपर्वाणि। तन्मूलग्रन्थयः। यत्राङ्गुष्ठनोदना तत्राङ्गुष्ठस्याङ्गुलिनोदनायामङ्गुलीनाम्। छन्दोगानां स्वपरिशिष्टोक्तत्वादङ्गुष्ठैररणिमानम्। वाजिनां तु यज्ञपार्श्वादङ्गुलैरिति। सूत्रोक्तपक्षस्तु यजमानेनोर्ध्ववाहुप्रपदोच्छ्रितेन समस्थितेन वेति। 'पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्वि ँशतिशताङ्गुलः पुरुषः' इति सूत्रात्तु 'पुरुषस्य पञ्चमोंऽशोऽरत्निस्तच्चतुर्विंशोऽङ्गुलम्' इति रामवाजपेयिभिराधानप्रकरणे उक्तम्।

अथात्र पात्रलक्षणमुच्यते। तत्र यज्ञपार्श्वसंग्रहकारिकायाम्—

'खादिरः स्फ्याकृतिर्वज्रोऽरत्निमात्रः प्रशस्यते। आसनं ब्रह्मणः कार्यं वारणं वा विकङ्कतम्॥
हस्तमात्रं चतुःस्रक्ति मूलदण्डसमन्वितम्। द्विषडङ्गुलसंख्याको मूलदण्डो विकङ्कतः॥
प्रस्थमात्रोदकग्राही प्रणीता चमसो भवेत्। वैकङ्कतं पाणिमात्रं प्रोक्षणीपात्रमुच्यते॥
हंसमुखप्रसेकं च त्वम्बिलं चतुरङ्गुलम्। आज्यस्थाली तु कर्तव्या तैजसद्रव्यसंभवा॥

(गदाधर०)

माहेयी वापि कर्तव्या नित्यं सर्वाग्निकर्मसु । आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तद्यथाकामं तु कारयेत् ॥
मृन्मय्यौदुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते । तिर्यगूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिबृहन्मुखी ॥
कुलालचक्रघटितमासुरं मृन्मयं स्मृतम् । तदेव हस्तघटितं स्थाल्यादि खलु दैविकम् ॥
यज्ञवास्तुनि मुष्टौ च स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेषु च ॥
अङ्गुष्ठपर्ववृत्तश्चारत्निमात्रः स्रुवो भवेत् । पुष्करार्द्धं भवेत्खातं पिण्डकार्द्धं स्रुचस्तथा ॥
(पिण्डकार्द्धं मुष्ट्यर्द्धमित्यर्थः ।)
यावताऽन्नेन भोक्तुस्तु तृप्तिः पूर्णैव जायते । तं वरार्थमतः कुर्यात्पूर्णपात्रमितिस्थितिः ॥
यवैर्वा व्रीहिभिः पूर्णं भवेत्तत्पूर्णपात्रकम् । वराऽभिलषितं द्रव्यं सारभूतं तदुच्यते ॥
अष्टमुष्टि भवेत् किंचित् किंचिदष्टौ च पुष्कलम् । पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते ॥'

इत्याधानपात्राणि । अन्यान्यप्यत्रैव लिख्यन्ते—

शूर्पं त्वरत्निमात्रं स्यादैषिकं वैणवं तु वा । लम्बं त्वरत्निमात्रं स्यादुपला च दृषत्तथा ॥
विस्तारो दृषदः प्रोक्तो द्वादशाङ्गुलसंख्यया । पालाशं जानुमात्रं स्यात्पृथुबुध्नमुलूखलम् ॥
अर्द्धखातं बृहद्वक्त्रं मध्ये रास्नासमन्वितम् । खादिरं मुसलं प्रोक्तमरत्नित्रयसंमितम् ॥
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं मेक्षणं तु विकङ्कतम् । वृत्तमङ्गुष्ठपर्वाग्रमवदानक्रियाक्षमम् ॥
ईदृश्येव भवेद्दर्वी विशेषस्तामहं ब्रुवे । वारण्यरत्निमात्रा स्यात्तुर्यांशाधिकपुष्करा ॥
हस्ताकारा च पृथ्वग्रा अग्रे सर्पफणाकृतिः । आकर्षफलकं हस्तमात्रं स्याद्धनुराकृतिः ॥
अग्रे सर्पफणाकारं खादिरं वा विकङ्कतम् । कङ्कतानि त्रिदन्तीनि वारणानि भवन्ति हि ॥
वारण्यरत्निमात्रा स्यादभ्रिः शासं दशाङ्गुलम् । द्वात्रिंशदङ्गुला शम्या वारणीत्यभिधीयते ॥
श्रैपर्णान्परिधीन् कुर्याद्बाहुमात्रानपुष्करान् । श्रीपर्ण्यां हस्तमात्रे च श्रपण्यौ शूलमेव च ॥
तच्छूलं यस्य कस्यापि यज्ञियस्य तरोर्भवेत् । लौही वा मृन्मयी वा स्यात्पशुखा च यथार्थतः ॥
लौही ताम्रमयी वापि कुर्याच्चैव यथार्थतः । पात्राणि वारणान्यत्र यानि प्रोक्तान्यसम्भवे ॥
वैकङ्कतानि कार्याणि सूत्रान्तरमतादपि । अभावे मुख्यवृक्षस्य यज्ञियस्य तरोरिह ॥
यत्किंचित्पात्रजातन्तदिति भास्करसंमतिः । अश्वत्थस्यारणी ग्राह्या नान्यस्मादेव वृक्षतः ॥
एवं सर्वेषु शास्त्रेषु दृष्टा सूत्रान्तरेष्वपि ।' ॥ ४–६ ॥

अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ ७ ॥ 'त्वन्नोऽअग्ने' 'सत्वन्नोऽअग्न' 'इमम्मे वरुण' 'तत्त्वायामि' 'ये ते शतम्' 'अयाश्चाग्न' 'उदुत्तमं' 'भवतन्न' इत्यष्टौ पुरस्तात् ॥ ८ ॥

(सरला)

व्याख्या—अग्न्याधेयदेवताभ्यः = अग्नि स्थापन के देवताओं के लिए; स्थालीपाकं = चरुरूप हविर्द्रव्य; श्रपयित्वा = पकाकर; आज्यभागौ = आघार और आज्यभाग संज्ञक मंत्रों से; इष्ट्वा = आहुति देकर; आज्याहुतीः = घृत की आहुतियाँ; जुहोति = देनी चाहिए ॥७॥ 'त्वं नो अग्ने' 'सत्वं नो अग्ने' 'इमं मे वरुण' 'तत्त्वायामि' 'ये ते शतं' अयाश्चाग्ने' 'उदुत्तमं' 'भवतं नः' इति = इन; अष्टौ = आठ मंत्रों से; पुरस्तात् = चरु होम के पहले [घी की आहुति देनी चाहिए] ॥ ८ ॥

हिन्दी—अग्न्याधेय देवताओं के लिए स्थालीपाक पकाकर, दो आज्यभागों का हवन करके, घी की आहुति देनी चाहिए ॥७॥ 'त्वं नो अग्ने' 'सत्वं नो अग्ने' 'इमं मे वरुण' 'तत्त्वा यामि' 'ये ते शतं' 'अयाश्चाग्ने' 'उदुत्तमं' 'भवतं नः' इन आठ मन्त्रों से स्थालीपाकयज्ञ के पहले हवन करना चाहिए ॥ ८ ॥

विशेष—अग्नि पवमान, अग्नि पावक, अग्नि शुचि और अदिति–ये देवता ही अग्न्याधेय देवता है। इन्हीं का कथन श्रौताधान में भी है। अतः ये ही गृह्याधान में भी होंगे।

(हरिहर०)

ततो ब्रह्मोपवेशनादि आज्यभागान्तं कर्म कृत्वा अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। त्वन्नो अग्ने सत्वन्नो अग्न इमम्मेवरुण तत्त्वायामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्यष्टौ। अग्न्याधेयस्य श्रौतस्य देवताः अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोग्निः शुचिरदितिश्च अग्न्याधेयदेवताः, ताभ्यः स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा आज्यभागौ आग्नेयसौम्यौ आघारपूर्वकौ हुत्वा आज्येन आहुतयो होतव्याः आज्याहुतयस्ता आज्याहुतीर्जुहोति। 'त्वन्नो अग्न' इत्यादिभिः 'भवतन्न' इत्यन्ताभिरष्टभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचमष्टौ।

ननु "अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति" इति वक्ष्यति, तत्किमर्थमत्राग्न्याधेयदेवताभ्य इत्युक्तम्। बह्वीनां देवतानां देवतात्वज्ञापनायेति चेत्। ननु बहुत्वमस्त्येव, कुत इयं शङ्का ? पवमानादिविशेषणविशिष्टस्याग्नेरेकत्वात्। अग्निरेकाअदितिर्द्वितीयेति द्वे एवाग्न्याधेयदेवते इति द्वयोरेव देवतात्वं माभूदिति, पुनर्ग्रहणाद् बह्वीनामेव देवतात्वं विशिष्टस्य देवतान्तरत्वमिति इन्द्रमहेन्द्राधिकरणे जैमिनीयैर्निर्णीतत्वात्। आज्यभागाविष्ट्वेति किमर्थं पुनर्वचनमाघारादीनां चतुर्दशानां क्रमेण पठिष्यमाणत्वात्?। उच्यते। आज्याहुतीनां किं स्थानमिति संशये आज्याहुतिस्थानविधानार्थम्। अष्टग्रहणं तु मन्त्रप्रतीकसंशयनिवृत्त्यर्थम् ॥ ७–८ ॥

(गदाधर०)

'अग्न्याधेयदेव''भवतन्न इत्यष्टौ'। श्रौतस्याग्न्याधेयस्य देवताः–अग्निः, पवमानोऽग्निः, पावकोऽग्निः, शुचिः, अदितिश्चेति। आभ्यः स्थालीपाकमोदनमुक्तप्रकारेण श्रपयित्वा आज्यभागौ हुत्वा 'त्वन्नो अग्ने' इत्याद्यष्टभिराज्येनाहुतयो होतव्याः। अत्र चरुर्व्रीहीणां भवति। "कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरँ स्थालीपाकँ श्रपयेत्" "न पूर्वचोदितत्वात्संदेहः" "असंभवाद्विनिवृत्तिः" (पार. गृ. कां. २ कं० १७ सू० ३, ४, ५) इति सीतायज्ञे वक्ष्यमाणन्यायात्। अयमर्थः सूत्रस्य—कामादिच्छया अन्यत्र पर्वादिषु यागं कुर्वन् व्रीहियवयोरन्यतरं चरुं श्रपयेत्। नैवात्र संदेहः। कुतः ? व्रीहीन्यवान्वा हविषीति पूर्वं चोदितत्वादुक्तत्वात्। यावस्य चरोरसम्भवात् विनिवृत्तिः पूर्वचोदितस्य व्रीहीन्यवान्वेत्यस्य। अनवस्रावितान्तरोष्मपक्व ईषदसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दप्रसिद्धेः आग्रयणेष्टौ व्रीहीणां यवानां चेति सूत्रणाच्च। व्रीहीन्यवान्वा हविषीति परिभाषणादग्रपाकस्येत्येतावत्युक्तेऽपि व्रीहीणां यवानामग्रपाकस्येति सिध्यति किमर्थं व्रीहीणां यवानामिति ग्रहणम् ? उच्यते—वैश्वदेवश्चरुर्विहितः सोऽपि यावो यथा स्यादिति यवानामित्युक्तं, व्रीहिग्रहणं तु यवानामेवेति नियमो माभूदिति। अतः सर्वत्र व्रीहीणामेव चरुः कार्य इति गम्यते। श्रपयित्वेति ग्रहणं सिद्धचरोरुपादाननिवृत्त्यर्थम्। आघारावाज्यभागावित्यनेन प्राप्तत्वात्पुनराज्यभागग्रहणमष्टाज्याहुतीनामवसरविधानार्थम्। अष्टाविति ग्रहणं मन्त्रप्रतीकसंशयनिरा-

१. द्रष्टव्य—शाङ्खा० १, ९, ७।

(गदाधर०)

करणार्थम् । यद्यष्टसङ्ख्याग्रहणं न क्रियते तर्हि 'त्वन्नो अग्ने नय' इति द्वितीया शङ्क्येत, तथा 'सत्वन्नो अग्ने सहस्राच' इति । 'त्वन्नो अग्ने' इति (१) प्रथमा, 'स त्वन्नो अग्ने' इति (२) द्वितीया, 'इमं मे वरुण' इति (३) तृतीया, 'तत्त्वा यामि' इति (४) चतुर्थी 'ये ते

---

(१) ॐ त्वन्नो अग्ने व्वरुणस्य व्विद्वान्देवस्य हेडोऽअवयासिसीष्ठाः। यजिष्ठो व्वह्नितमः शोशुचानो व्विश्वा द्वेषाᳫँसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् (य. सं. अ. २१. कं. ३) । हे अग्ने त्वं नः अस्मान् प्रति वरुणस्य देवस्य हेडः क्रोधम् अस्मिन् कर्मणि वैगुण्यजनितम् अवयासिसीष्ठाः निवर्तय । अवपूर्वस्य णिजन्तस्य 'यसु' प्रयत्ने (दि० ग० प०) इति धातोराशीर्लिङि छान्दसत्वादिडादावपि णिलोपे पत्वाभावे च रूपम् । किञ्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि अस्मत् अस्मत्तः प्रमुमुग्धि प्रमुञ्च दूरीकुरु (मुचेर्व्यत्ययेन शपः श्लुः) कीदृशस्त्वम् ? स्वाधिकारं विद्वान् जानन् । यजिष्ठः अतिशयेन यष्टा यजिष्ठः 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा. सू. ६. ४. १५४) इति तृचो लोपः । वह्नितमः वहतीति वह्निः अत्यन्तं वह्निः वह्नितमः हविषां अत्यन्तं वोढा, शोशुचानः अतिशयेन दीप्यमानः (शोचतेर्यङन्ताच्छानच्प्रत्ययः) ।

(२) ॐ स त्वन्नो ऽअग्ने ऽअवमो भवोती नेदिष्ठो ऽअस्या ऽउषसो व्युष्टौ । अवयक्ष्व नो व्वरुणᳫँ रराणो व्वीहि मृडीकᳫँ सुहवो नऽएधि (य. सं. अ. २१. कं. ४) । हे अग्ने ! स त्वम् अस्या उषसो व्युष्टौ व्युष्टिकाले प्रभातकाले अस्मिन्नहनि ऊती ऊत्या (छान्दसः पूर्वसवर्णः) अवनेन नः अस्माकम् अवमः रक्षकः नेदिष्ठः अन्तिकतमः समीपतश्च भव (अवतीत्यवमः अवतेः अमप्रत्ययः) । किञ्च रराणः हविर्ददत् सन् नः अस्माकं वरुणम् अवयक्ष्व अवयज [अवपूर्वाद् यजतेर्लोटि शपो लुक्] ततो मृडीकं सुखकरं हविः ['मृड सुखने' (तु. ग. प.) अस्मादौणादिकः कीकन् प्रत्ययः] वीहि भक्षय । किञ्च नः अस्माकं सुहवः शोभनाह्वानः एधि भव ॥

(३) इमं मे व्वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके (य. सं. अ. २१. कं. १)। हे वरुण त्वं मे मम इमं हवम् आह्वानं श्रुधी (श्रुधि) शृणु । छान्दसो दीर्घः । च पुनः अद्य दिने अस्मान् मृडय सुखय यतः अहं त्वाम् आचके कामये । कीदृशः अहम् ? अवस्युः अवनम् अवः पालनम् (अवतेरसुन्) तदिच्छति इत्यवस्युः । क्यजन्तात् 'क्याच्छन्दसि' (पा. सू. ३. २. १७०) इत्युप्रत्ययः । आत्मनो रक्षणमिच्छन् त्वामिच्छामीत्यर्थः ।

(४) ॐ तत्त्वा यामि ब्रह्मणा व्वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेडमानो व्वरुणेह बोध्युरुशᳫँस मा न आयुः प्रमोषीः । (य. सं. अ. १८. कं. ४९) । हे वरुण यजमानः हविर्भिः दत्तैः यद्धनपुत्रादिकमाशास्ते इच्छति यत्कामः तुभ्यं हविर्दत्ते तद् यजमानेष्टं त्वा त्वाम् अहं यामि याचामि तत् त्वया यजमानाय दीयताम् इत्यर्थः । अत्र एकस्तच्छब्दः यच्छब्दार्थः । यामि इति याच्ञाकर्मसु पठितः । कीदृशोऽहं ? ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन वेदेन वन्दमानः त्वां स्तुवानः किञ्च हे उरुशंस शंसनं शंसः स्तुतिः उरुः महान् शंसः स्तुतिर्यस्य स उरुशंसः तत्सम्बुद्धौ हे बहुस्तुते इह अस्मिन् स्थाने अहेडमानः हेडते क्रुध्यति हेडमानः न हेडमानः अहेडमानः अक्रुध्यन् सन् त्वं बोधि बुध्यस्व त्वं मत्प्रार्थनां जानीहीत्यर्थः "वा छन्दसि" (पा. सू. ३. ४. ८८) इति अपित्त्वनिषेधाद् गुणः श्यनो लुक् (धलोपश्च छान्दसः) किञ्च नः अस्माकम् आयुः जीवनं मा प्रमोषीः मा चोरय ('मुष' स्तेये क्र्या० ग० प० लुङ्) पूर्णमायुश्च देहीत्यर्थः ।

(गदाधर०)

शतम्' इति (१) पञ्चमी, 'अयाश्चाग्ने' इति (२) षष्ठी, 'उदुत्तमम्' इति (३) सप्तमी, 'भवतन्न' इत्य (४) ष्टमी ॥ ७—८ ॥

एवमुपरिष्टात् स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ॥९॥

(१) ॐ ये ते शतँ व्वरुणँ य्ये सहस्रँ य्यज्ञियाः पाशा व्वितता महान्तः। तेभिर्नो ऽअद्य सवितोत व्विष्णुर्व्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः (कात्या० श्रौ० सू० अ० २५ कं० १)। हे वरुण पश्चिमाशापते ते तव ये शतं पाशाः ये च सहस्रं यज्ञियाः यज्ञप्रत्यूहनिरासाय हिताः विततः महान्तः पाशाः सन्ति तेभिः तैः ['बहुलं छन्दसि' (पा. सू. ७. १. १०) इत्यैसोऽभावः] पाशैः सन्नद्धान् नः अस्मान् अद्य अस्मिन्नेव अहनि सविता उत अपि च विष्णुः विश्वेदेवाः तथा मरुतः एकोनपञ्चाशच्च एते देवाः मुञ्चन्तु मोचयन्तु। (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र मुञ्चतिः मुञ्चन्तु माशपन्थ्यादितिवत्)। किंभूता एते? स्वर्काः सुमन्त्राः स्वर्चना वा। यद्वा स्वर्का इति देवतान्तरं ज्ञेयम्। अत एव स्वर्केभ्यश्चेति प्रयोगमाहुर्याज्ञिकाः ॥

(२) ॐ अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमया ऽअसि। अया नो यज्ञँ व्वहास्यया नो धेहि भेषजम्। (कात्या० श्रौ० सू० अ० २५ कं० १)। हे अग्ने ! त्वम् अयाः न यातीत्ययाः सर्वत्र बाह्याभ्यन्तरावस्थितः असि भवसि। किंभूतः? अनभिशस्तिपाः न विद्यतेऽभिशस्तिः अभिशापो येषां ते अनभिशस्तयः तान् पाति आत्मसात्करोति शोधयतीति यावत्। कृतप्रायश्चित्तपालक इत्यर्थः। किञ्च हे अग्ने यत् त्वम् अयाः सर्वत्रान्तर्बहिरवस्थितः अनभिशस्तिपाश्च असि तत् सत्यमित् सत्यमेव। इत् एवार्थे। किञ्च यस्मात् नः अस्माकम् अयाः सुमनाः स्वाश्रयो वा भूत्वा यज्ञं वहासि वहसि। लेट् 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू. ३. ४. ९४) इत्याट् तस्मात् नः अस्मभ्यं भेषजं सुखोत्पादकमौषधम् अदृष्टलक्षणं धेहि देहि धारय वा अया इति पुनर्वचनेन भूयांसमर्थं मन्यते अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरित्यादाविव।

(३) ॐ उदुत्तमं व्वरुण पाशमस्मदवाधमँ व्वि मध्यमँ श्रथाय। अथा व्वयमादित्य व्व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम। (य० सं० अ० १२. कं. १२)। हे वरुण उत्तमम् उत्तमाङ्गे शिरसि स्थापितं त्वदीयं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् उच्छ्रथाय उच्छ्रथय उत्कृष्य विनाशय (संहितायां छान्दसो दीर्घः शायज्वा)। अधमम् अधमाङ्गे पादप्रदेशे स्थापितं त्वत्पाशम् अवश्रथय अवकृष्य अस्मत्तो विनाशय। मध्यमं मध्यप्रदेशे स्थितं पाशं विश्रथय विच्छेदय। (श्रथ् हिंसायाम् भ्वा० ग० प०) मित्त्वाण्णिचि ह्रस्वः। अथा अथ पाशत्रयविनाशानन्तरं हे आदित्य अदितिपुत्र वरुण अनागसः अनपराधाः निष्पापाः तव व्रते कर्मणि वर्तमानाः सन्तः वयम् अदितये अदीनतायै स्याम अखण्डितत्वाय योग्या भवेम। अथा इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू. ६. ३. १३६) इति संहितायां दीर्घः।

(४) भवतं न समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञँ हिँसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः (य. सं. अ० ५. कं. ३)। हे जातवेदसौ अग्नी! युवां नः अस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ अन्यतो मनः परिहृत्याऽस्मदनुग्रहाभिमुखौ सचेतसौ समानचित्तौ अस्मदनुग्रहेऽन्योन्यविप्रतिपत्तिरहितौ अरेपसौ निष्पापौ अस्माकं प्रामादिकापराधसत्त्वेऽपि क्रोपरहितौ भवतम्। तथा हि—यज्ञम् अस्मदीयं कर्म यज्ञपतिं यजमानं च मां हिंसिष्टं मा विनाशयतम्। अद्य अस्मिन् कर्मदिने नः अस्मदर्थं शिवौ शान्तौ कल्याणकारकौ भवतम्।

स्विष्टकृते च ॥ १० ॥ अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं देवागातु विद इति ॥ ११ ॥ बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति ॥ १२ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १३ ॥

इति द्वितीया कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—अग्न्याधेयदेवताभ्यः = अग्निस्थापन के देवताओं के लिए; स्थालीपाकस्य = स्थालीपाक के चरु से; हुत्वा = आहुति प्रदान करके; एवम् = इसी प्रकार; उपरिष्टात् जुहोति = फिर आठ घी की आहुतियाँ देनी चाहिए ॥ ९ ॥ च = और; स्विष्टकृते = स्विष्टकृत् अग्नि के लिए ॥ १० ॥ देवागातु विद = हे यज्ञ को जानने वाले देवताओ; अयास्यग्नेः वषट्कृतं = अग्नि संबन्धी आहुति को; 'यत्कर्मणोत्यरीरिचिम्' = जिस कर्म से करके मैं अधिक हुआ हूं; उसके प्रसाद से यह यज्ञ पूर्ण हो; इति = इस मंत्र से [घी की आहुति देनी चाहिए] ॥ ११ ॥ बर्हिः = कुशों का; हुत्वा = होम करके; [यज्ञ में बचे हुए घी को] प्राश्नाति = खाना चाहिए ॥ १२ ॥ ततः = उसके बाद; ब्राह्मण-भोजनम् = यथाशक्ति एक या अनेक ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ १३ ॥

हिन्दी—अग्न्याधेय देवताओं के लिए स्थालीपाक का होम कर लेने पर फिर हवन किया जाता है ॥ ९ ॥ और स्विष्टकृत् अग्नि के लिए [इस मंत्र से हवन होता है] 'हे यज्ञ को जानने वाले देवताओ ! अग्निसंबन्धी आहुति को जिस याज्ञिक विधि से सम्पन्न करके मैं जो कुछ अधिक हुआ हूँ उस विधि से प्रसन्न होते हुए आपके प्रसाद से यह यज्ञ अनश्वर हो' ॥ १०–११ ॥ कुशों का हवन करके यजमान भोजन करता है ॥ १२ ॥ इन सब कार्यों के अनन्तर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ १३ ॥

विशेष—उपर्युक्त सभी सूत्र मंत्रों के पतीक हैं। क्योंकि शतपथब्राह्मण में 'यत्कर्मणोऽत्यरीरिचम्' यह प्रतीक रूप से १४. ९. ४. २४ में उद्धृत है। आश्वलायन ने भी १. १०. २३ में इसका पूर्णरूप उद्धृत किया है। 'देवागातु विदः' यह वाजसनेयि ८. २१ का प्रतीक मंत्र है। अतः यह स्पष्ट है कि 'अयास्यग्नेः' और 'वषट्कृतम्' ये भी मंत्र के प्रतीक ही हैं। किन्तु इनके पूर्ण रूपका कुछ पता नहीं लगता। इसीलिए भाष्यकारों ने सभी को एक मंत्र मानकर किसी तरह अर्थ भी कर दिया है। 'बर्हिर्हुत्वा' के लिए द्रष्टव्य—कात्यायन ३. ८।

इति 'सरला' हिन्दीव्याख्यायां प्रथमकाण्डस्य द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(हरिहर०)

पुरस्तादेवमुपरिष्टात् स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति। पुरस्तात् पूर्वं, कस्य ? अग्न्याधेयदेवताहोमस्य, अष्टौ जुहोति यथा एवमुपरिष्टात्। एवं तथा 'त्वन्नोअग्ने' इत्यादिना क्रमेण उपरिष्टात् ऊर्ध्वं जुहोत्यष्टौ। किं कृत्वा ? हुत्वा। काभ्यः ? अग्न्याधेयदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः। कस्य ? स्थालीपाकस्य चरोः। स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी ॥ ९ ॥

स्विष्टकृते च। स्विष्टकृते चाग्नये। अष्टर्चहोमान्ते स्थालीपाकस्य हुत्वा चशब्दात् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं देवागातु विद इति ॥ अयास्यग्नेर्वषट्कृतमित्यनेन मन्त्रेणाज्याहुतिं जुहोति। ननु स्विष्टकृते इति किमर्थमुक्तम् ?। प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः

(हरिहर०)

स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति वक्ष्यमाणत्वात् अत्र चान्यस्य हविषः सद्भावात् प्राङ् महाव्याहृतिभ्यः प्राप्तस्य स्विष्टकृद्धोमस्य । उच्यते–अयास्यग्नेरिति आज्याहुतेर्महाव्याहृतिभ्यः पूर्वं प्राप्त्यर्थम् ॥ १०–११ ॥

बर्हिर्हुत्वा प्राशनाति । बर्हिः परिस्तरणार्थम् अग्नौ प्रक्षिप्य प्राश्नाति भक्षयति । अत्र प्राशनोपदेशसामर्थ्यात् प्राश्यमाकाङ्क्षितम् । तत्किं हुतशेषः अन्यद्वा किञ्चित् ? उच्यते–"पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमो हुत्वा शेषप्राशनम्" इति कात्यायनोक्तः स्रुवेणावत्तस्य होमद्रव्यस्य सर्वस्य होमनिषेधात्, हुतशेतस्य प्राशनविधानात्, सर्वासामाहुतीनां होमद्रव्यं स्रुवेऽवशेषितं संस्रवत्वेन प्रसिद्धं पात्रान्तरे प्रक्षिप्यते तत्प्राश्यमिति । ननु 'अकृते वैश्वदेवे तु' इत्यादिवचनाद्वैश्वदेवात् प्राक् स्थालीपाकानुष्ठानं प्राप्तं तत्र च संस्रवप्राशनं विहितं तत्कृत्वा कथं माध्याह्निके वैश्वदेवादिकर्मण्यधिकार इति चेत्। उच्यते । शेषप्राशनस्य कर्माङ्गत्वेन विधानात् अप्राशने च कर्मणो वैगुण्यात् नोत्तरकर्माधिकारनिवृत्तिः । बर्हिर्होमश्च विधानसामर्थ्यादग्न्याधान एव भवति नान्येषु कर्मसु ॥ १२ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् । ततः समाप्ते कर्मणि ब्राह्मणभोजनं दद्यात् । ब्राह्मणभोजनमित्यत्र एकस्मै द्वाभ्यां बहुभ्यो वा भोजनं ब्राह्मणभोजनमिति समासस्य तुल्यत्वात् । एकस्मिन्नपि ब्राह्मणे भोजिते अर्थस्यानुष्ठितत्वात् एकस्यैव भोजनमिति युक्तमिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

अथ आधानपद्धतिः

तत्रावसथ्याधानं करिष्यन् अथ आधानपद्धतिः उक्तकालातिक्रमाभावे अग्न्याधानार्थोपदिष्ट मासतिथिवारनक्षत्रादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः सपत्नीको गोमयोपलिप्ते शुचौ देशे स्वासने उपविश्य अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा 'आवसथ्याग्निं महमाधास्ये' इति संकल्पं विधाय मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं यथोक्तं कुर्यात् । कालातिक्रमे तु–

'यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः । तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि' ॥

इति वचनादतिक्रान्तसंवत्सर संख्यप्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दत्त्वा तदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्द्धं तदर्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजनं वा अयुतगायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयाऽन्यतमं विधाय हौम्यं सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ।

अथ वाक्यम्–आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावन्ति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये तदशक्तौ प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे । एवमन्येष्वपि वाक्यमूहनीयम् । तद्यथा–आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यं एतावतीनां गवां मूल्यमिदमेतावत्सुवर्णं ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे, तद्वत्प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेनैतावतो ब्राह्मणान् भोजयिष्ये, आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावत्प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन गायत्र्या एतावन्त्ययुतानि जपिष्ये, तद्वदेतावन्ति तिलाहुतिसहस्राणि होष्यामीति । एवं कृतप्रायश्चित्तो होमद्रव्यं दद्यात् । तद्यथा–आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्दिनसम्बन्धिसायंप्रातर्होमद्रव्यमेतावत्परिमाणं दधितण्डुलयवानामन्यतमं ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे । 'तन्मूल्यद्रव्यमेतावत्परिमाणं वा हौम्यं दद्यात्' इति वचनात् । इतरपक्षाद्यादिकर्मद्रव्यदाननिवृत्तिः छन्दर्षिस्मरणम्—इषेत्वादि खं ब्रह्मान्तम् । ततः स्वशाखाध्यायिनं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालंकारादि-

(हरिहर०)

भिरभ्यर्च्य अमुकगोत्रममुकशर्माणममुकवेदममुकशाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिर्गन्धपुष्पाक्षतवस्त्रालंकारैस्त्वामहं वृणे । वृतोऽस्मीति तेन वाच्यम् । केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणार्चयन्ति । ऋत्विक्त्वाविशेषात् । ततः पत्न्या सहाहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थण्डिलमुपलिप्य पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तं देशं वस्त्रेण पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमादाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमङ्गलगीतवाद्यादिभि- र्जनितोत्साहो वैश्यस्य बहुपशोर्गृहात् सूत्रान्तरमतेन अम्बरीषाद्बहुयाजिनो ब्राह्मणस्य गृहाद् बह्वन्नपाकाद् ब्राह्मणमहानसाद्वा स्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परि समूहनादितश्च भूसंस्कारसंस्कृते स्थण्डिले प्राङ्मुख उपविश्य आत्माभिमुखमग्निं निदध्यात् । इत्याहरणपक्षे । आरणेयपक्षे तु गृह्याग्न्याधानजातेच्छो यजमानः पुण्येऽहनि—

'अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा ॥
अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मध्ये चोत्तरारणिः । सारवद्दारवं चात्रमोविली च प्रशस्यते ॥
संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते । अभावे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः ॥
चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला । चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता ॥
मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम् । अन्तरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः ॥
मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी । अङ्गुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यङ्गुष्ठं वक्ष उच्यते ॥
अङ्गुष्ठमात्रं हृदयं त्र्यङ्गुष्ठमुदरं तथा । एकाङ्गुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ वस्तिर्द्वौ च गुह्यकम् ॥
ऊरू जङ्घे च पादौ च चतुस्त्र्येकैर्यथाक्रमम् । अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्त्तिताः ॥
यत्तद् गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते । तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते ॥
प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नोत्तरेषु च । अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ॥
ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयन्त्रकम् । गोवालैः शणसंमिश्रैस्त्रिवृद्वृत्तमनंशुकम् ॥
व्यासप्रमाणं नेत्रं स्यात् तेन मथ्यो हुताशनः । चात्रबुध्ने प्रमन्थाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः ॥

इत्युक्तलक्षणमरण्यादिकं संपाद्य उक्तकाले माघादिपञ्चमासानामन्यतमे मासे कृत्तिका- रोहिणीमृगशिरः फल्गुनीद्वयहस्तानामृक्षाणामन्यतमर्क्षान्वितायां शुभायां तिथौ चन्द्रशुद्धौ गृह्याग्निमादधीत । मुख्यकालातिक्रमे तु एतवान् विशेषः । उक्तविधिना कृतप्रायश्चित्तो दत्तहोम्यद्रव्यः स्नानादिपूर्वकं सङ्कल्पादिमातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धब्रह्मवरणाहतवासः परिधा- नादि कृत्वा शालायां यजमान उपविशति, तस्य दक्षिणाङ्गे पत्नी । अथ ब्रह्मा अरणी आदाय अधरारणिं पत्न्यै उत्तरारणिं यजमानाय दद्यात् । तौ चावसथ्याग्निसाधनभूते इमे अरणी आवाभ्यां परिगृहीते तत्रेयमधरा इयमुत्तरा । इदं चात्रमियमोविली इमानि स्रुवादीनि पात्राणि परिगृहीतानीति परिगृह्णीतः । ततोऽग्न्याधानदेशे शङ्कुं द्वादशाङ्गुलं खादिरं चतुरङ्गु- लमस्तकं निखाय तत्र रज्जुपाशं क्षिप्त्वा आमुच्य सार्द्धत्रयोदशाङ्गुलरज्ज्वन्तं शङ्कन्तरालं संवेष्ट्य प्रदक्षिणपरिभ्रामणेन परिलिख्य तत्र परिसमूहनादिपञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा आच्छाद्य मन्थनमारभेत् । तद्यथा—प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमकृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रोदगग्रामधरारणिं निधाय तत्पूर्वत उत्तरारणिं च अधरारण्यामुक्तलक्षमन्थनप्रदेशे प्रमन्थमूलं निधाय चात्राग्रे चोविली- मुदगग्रां च नेत्रेण चात्रं त्रिर्वेष्टयित्वा गाढं धृत्वा पश्चिमाभिमुखोपविष्टया पत्न्या मन्थयेद् यावदग्नेरुत्पत्तिः । पत्न्या मन्थनासामर्थ्ये अन्ये ब्राह्मणाः शुचयो मन्थयन्ति । एवं यजमाना- सामर्थ्ये अन्यो यन्त्रं धारयति । ततो जातमग्निं मृन्मये पात्रे शुष्कगोमयपिण्डचूर्णोपरि निहिततूले सपुरीषं प्रक्षिप्य संधुक्ष्य प्रज्वाल्य पूर्वसंस्कृते देशे आदध्यात् । तत्र ब्रह्मोपवे- शनादिदेवताभिधानपर्युक्षणान्तं कृत्वा स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणाऽन्वारब्धः 'प्रजापतये स्वाहा' इति मनसा ध्यायन् प्राञ्चमूर्ध्वमृजुं सन्ततमाज्येन अग्नेरुत्तरप्रदेशे पूर्वा-

(हरिहर०)

घारमाघारयति। इदं प्रजापतये' इति त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे प्रक्षिपेत्। तथैव 'इन्द्राय स्वाहा' इति अग्नेर्दक्षिणप्रदेशे उत्तराघारम् 'इदमिन्द्राय' इति त्यागं विधाय 'अग्नये स्वाहा' इति अग्नेरुत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे आग्नेयमाज्यभागं हुत्वा 'इदमग्नये' इति द्रव्यं त्यक्त्वा तथैव 'सोमाय स्वाहा' इति दक्षिणार्द्धपूर्वार्द्धे सौम्यमाज्यभागं हुत्वा 'इदं सोमाय' इति स्वत्वं त्यजेत्। समिद्धतमे वाग्निप्रदेशे आघाराद्याः सर्वाहुतीर्जुहुयात्॥

अथाष्टर्चहोमः। नान्वारम्भः। 'त्वन्नो अग्ने' 'सत्वन्नो अग्ने' 'इमम्मे वरुण' 'तत्त्वायामि' 'ये ते शतम्'. 'अयाश्चाग्न' उदुत्तम' 'भवतन्न' इत्येताभिरष्टभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचमेकैकासष्टाज्याहुतीर्हुत्वा यथादैवतं स्वत्वत्यागं च कृत्वा स्थालीपाकस्य जुहुयात्। तद्यथा—'त्वन्नो अग्न' इति वामदेवऋषिः, त्रिष्टुपछन्दः, अग्नीवरुणौ देवते, प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः। 'सत्वन्न' इति पूर्ववत्। 'इमम्मे' इति शुनःशेपऋषिः, गायत्रीछन्दः, वरुणो देवता। 'तत्त्वा यामि' इति शुनःशेपऋषिः, त्रिष्टुपछन्दः, वरुणो देवता। 'ये ते शतम्' इति शुनःशेपऋषिः, जगतीछन्दः, वरुणः सविता विष्णुर्विश्वेदेवा मरुतः स्वर्क्का देवताः प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः। 'अयाश्चाग्न' इति प्रजापतिर्ऋषिः विराट्छन्दः, अग्निर्देवता, प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः। 'उदुत्तमम्' इति शुनःशेपऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः, वरुणो देवता, विष्णुक्रमेषु पाशोन्मोचने विनियोगः। 'त्वन्नो अग्न—इत्यादि प्रमुमुग्ध्यस्मत्' स्वाहा। इदमग्नीवरुणाभ्यां न मम। 'सत्वन्नो अग्ने०—सुहवो न एधि' स्वाहा। इदमग्नीवरुणाभ्यां न मम। 'इमम्मे वरुण०—चके' स्वाहा। इदं वरुणाय। 'तत्त्वायामि०–प्रमोषीः' स्वाहा। इदं वरुणाय।' 'ये ते शतं वरुणं ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः' स्वाहा। इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः। केचिदिदं वरुणायेति। 'अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्चसत्यमित्वमया असि। अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजꣳ–स्वाहा'। इदमग्नये अयसे०। उदुत्तमं०–अदितयेस्याम' स्वाहा। इदं वरुणाय०। 'भवतन्नः०–शिवो भवतमद्य नः' स्वाहा। इदं जातवेदोभ्याम्। केचिदिदमग्निभ्यामिति।

अथ स्थालीपाकेन चतस्रोऽग्न्याधेयदेवताः। 'अग्नये पवमानाय' स्वाहा। इदमग्नये पवमानाय। 'अग्नये पावकाय' स्वाहा। इदमग्नये पावकाय०। 'अग्नये शुचये' स्वाहा। इदमग्नये शुचये०। 'आदित्यै' स्वाहा। इदमदित्यै० इत्यग्न्याधेयदेवताभ्यः। ततः पूर्ववदाज्येनाष्टर्चहोमः। ततो ब्रह्मान्वारब्धः उत्तरार्द्धात् स्रुवेण चरुमादाय 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इति अग्नेरुत्तरार्धे जुहुयात्। इदम् अग्नये स्विष्टकृते। अथानन्वारब्ध आज्येन—'अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातुविदः (१) स्वाहा'। इदं देवेभ्योगातुविद्भ्यः इति स्वत्वं त्यक्त्वा अथ ब्रह्मान्वारब्धः ॐ भूर्भुवःस्वरिति क्रमेण प्रजापतिऋषिः गायत्रीछन्दः अग्निर्देवता, प्रजापतिऋषिः उष्णिक्छन्दः वायुर्देवता, प्रजापतिऋषिः अनुष्टुप्छन्दः, सूर्यो देवता व्याहृतिहोमे विनियोगः। 'ॐ भूः स्वाहा'। इदमग्नये, इदं भूर्वा। 'ॐ भुवः स्वाहा' इदं वायवे, इदं भुव इति वा। 'ॐ स्वः स्वाहा'। इदं सूर्याय, इदं स्वः इति वा। ॐ 'त्वन्नोअग्ने' 'सत्वन्नो अग्ने' 'अयाश्चाग्ने' 'ये ते शतं' 'उदुत्तमं' पञ्च मन्त्राः प्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा बर्हिर्होमं च कृत्वा संस्रवं प्राश्याऽऽचम्य पवित्राभ्यां मुखं मार्जयित्वा पवित्रे अग्नौ प्रक्षिप्य प्रणीता अग्नेः पश्चिमतो निनीय आसादितपूर्णपात्रवरयोरन्यतरस्य ब्रह्मणे

(१) एतदग्रे 'गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पत इदं देवयज्ञꣳ स्वाहा वातेधाः' इत्यधिकः पाठो मुम्बापुरीमुद्रितपुस्तके।

(हरिहर०)

दक्षिणात्वेन दानं कृत्वा एकब्राह्मणभोजनदानम्। तथा स्मृत्यन्तरोक्तत्रयोविंशतिब्राह्मणभोजनम्। अत्र मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः बर्हिर्होमः प्रणीताविमोक इत्येते चत्वारः पदार्था भाष्यकारमते गृह्यकर्मसु न भवन्ति वचनाभावात्। आवसथ्याधाने बर्हिर्होमो वचनाद्भवति। इत्यावसथ्याधानम्। ततो मणिकाधानपञ्चमहायज्ञसायंप्रातर्होमनिमित्तं च श्राद्धचतुष्कं तद्दिने एव कार्यम्।

अथ पुनराधाननिमित्तानि लिख्यन्ते। तत्र कृतावसथ्याधानौ पत्नीयजमानौ अग्निं परित्यज्य यदि ग्रामसीमामतीत्य वसेयातामेकां रात्रिं तत्र प्रातर्गृहमागत्याग्निं मथित्वोक्तविधिना ब्रह्मोपवेशनादि ब्राह्मणभोजनान्तमाधानं कुर्यात्। तत्र होमलोपे तु एकतन्त्रेण सायंप्रातर्होमं कुर्यात्, बहुहोमलोपेऽप्येवम्। अथ यदि कृताधानो यजमानः प्रजार्थी कामार्थी चोद्वहेत्तत्र अन्ये अरणी संपाद्य प्रातर्होमं विधाय विवाहं कृत्वा आचतुर्थीकर्मणो होमं त्यक्त्वा तदन्ते अतिक्रान्तहोमद्रव्यं दत्वा पञ्चमेऽहनि पुनराधानं यथोक्तमित्येकः पक्षः। प्रातर्होमं कृत्वा दिवा विवाहं संपाद्य सद्यः चतुर्थीकर्म च कृत्वा तद्दिन एवावसथ्याधानमिति द्वितीयः पक्षः। अत्र पक्षद्वयेऽपि पूर्वारण्योः स्फोटितयोरावसथ्ये दहनमन्यारण्योराधानं पात्राणि तान्येव। यत्तु छन्दोगपरिशिष्टे—

'सदारो यः पुनर्दारान्कथञ्चित्कारणान्तरात्। यइच्छेदग्निमान्कर्तुं क्व होमोऽस्य विधीयते॥ स्वेऽग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचन। न ह्याहिताग्नेः स्वं कर्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते'।

इति पुनराधानाभावप्रतिपादनं, तच्छन्दोगविषयम्। अनेकपत्नीकस्यैकस्याः पत्न्या मरणे अरणिपात्रैः सहावसथ्येन तां दाहयित्वा शौचान्ते पुनराधानम्। एकपत्नीकस्य तु पत्नीमरणे कृतविवाहस्य चतुर्थीकर्मानन्तरं पुनराधानमग्नावुपशान्ते होमकालद्वयातिक्रमे गृहपतौ प्रोषिते प्रमादात् पत्न्या ग्रामान्तरवासे तथा गृहस्थिते यजमाने पत्न्याः प्रवासे प्रातर्होमकालादनागमने पुनराधानम्। केचित्तु ज्येष्ठायामग्निसन्निधौ तिष्ठन्त्यामन्यासां पतिसहितानां केवलानां वा कार्यवशाद् ग्रामान्तरे स्थितौ पत्यौ वा अग्निसन्निधौ तिष्ठति सर्वासां पत्नीनां ग्रामान्तरगमनेनाग्निनाश इत्याहुः। तथा पत्न्या अग्निं विना समुद्रगानव्यतिक्रमे भर्तृरहितायाश्चाग्निना सहिताया भयं विना सीमातिक्रमे कर्मार्थाहरणादन्यत्र शकटं विना शम्यापरासादूर्ध्वं त्रिरुच्छ्रूवसतः प्रत्यक्षाग्निहरणे मथ्यमानस्य दृष्टस्योग्नेर्मन्थनयन्त्रोत्थापनादूर्ध्वं नाशे संवत्सरमेकं यजमानस्य होमाकरणे प्राजापत्यब्रह्मकूर्चयोरन्यतरप्रायश्चित्ताचरणादूर्ध्वं पत्न्याश्च पादकृच्छ्राचरणात्पुनर्विवाहवदाधानम्। उदकेनाग्न्युद्वाहने प्रत्यक्षस्यारणिसमारूढस्य वाऽग्नेः एकनामधेयशतयोजनगामिनदीयोजनाधिकगामिनदीसन्तरणे वा सर्वत्र सीमातिक्रमणे आद्यन्तसीमातिक्रमणे वा पत्नीयजमानयोरन्वारम्भाभावे सूकरगर्दभकाकश्वशृगालश्वकुक्कुटमर्कटशूद्रान्त्यजमहापातकिशवसूतिकारजस्वलारेतोमूत्रपुरीषमद्योऽश्रुश्लेश्मशोणितपूयास्थिमांसमज्जासुराप्रभृतिभिरमेध्यैः प्रत्यक्षस्यारणिसमारोपितस्य वाऽग्नेः स्पर्शे त्रीन्पक्षान्निरन्तरं पक्षहोमकरणे पुनराधानं तथाग्नेरपहरणे प्रादुष्करणादूर्ध्वं पूर्वं वा शान्तेऽग्नौ मन्थने प्रारब्धेऽग्निजन्माभावे लौकिकाग्निब्राह्मणदक्षिणहस्ताजादक्षिणकर्णकुशस्तम्बजलानामन्यतमेऽग्निस्थानेऽप्रकल्पिते सूर्यास्तमये उदये वा जाते पुनराधानम्। अग्निनाशभ्रान्त्या अग्निं मन्थित्वा (१) पूर्वाग्निं दृष्ट्वा मथितमग्निं 'अयं ते योनिः' इतिमन्त्रेणारण्योः समारोप्य पूर्वेऽग्नौ होमादिकं विदध्यात्। यदा तु लौकिकाग्न्याद्यन्यतमं निधाय होमं कृत्वा मन्थने प्रारब्धे द्वितीयहोमकालात्तृतीयाद्वाऽग्नेर्जन्माभावस्तदा पुनराधा-

(१) मुद्रितपुस्तकान्तरे मन्थित्वेत्यस्य स्थाने मन्थयित्वेति पाठः।

(हरिहर०)

नम् । आरोपिताग्न्योररण्योर्नाशे एकस्या वा पुनराधानम् । असमारोपितयोस्तु एकतरविनाशे द्वितीयां छित्वा मन्थनम् । नष्टायाः प्रतिपत्तिरावसथ्ये दाहः । यदा पुनर्जन्तुभक्षणेन मन्थनेन वा मन्थनायोग्ये भवतस्तदान्ये अरणी गृहीत्वा दर्शपक्षादिकर्म निर्वर्त्य जीर्णमरणिद्वयं शकलीकृत्य तस्मिन्नग्नौ प्रज्वाल्य दक्षिणहस्तेन नूतनामुत्तरारणिं सव्यहस्तेनाधरारणिं गृहीत्वा दीप्तेऽग्नौ धारयन् 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिशस्व योनिमन्यां देवयज्यां वोढवे जातवेदः । अरण्या अरणिमनुसंक्रमस्व जीर्णां तनुमजीर्णया निर्णुदस्व' 'अयं ते योनिर्ऋत्विय' इत्येतौ मन्त्रौ जपित्वा मन्थनयन्त्रं निधायाग्निं मथित्वा भूसंस्कारपूर्वकं स्थाने निधाय पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्यानादिष्टहोमं कुर्यात् ।

अथ पक्षहोमविधिः । तत्र यजमानस्य आमयादिनिमित्ते रोगार्त्तावध्वगमने राष्ट्रभ्रंशे धनाभावे गुरुगृहवासे अन्यास्वपि भयाद्यापत्सु होमानां समासो भवति । तद्यथा—प्रतिपदि सायंकाल आहुतिपरिमाणं होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्व एकस्मिन् पात्रे कृत्वा 'अग्नये स्वाहा' इति हुत्वा पुनस्तथैव चतुर्दशकृत्वो होमद्रव्यं गृहीत्वा 'प्रजापतये स्वाहा' इति जुहुयात् । एवमेव होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्व एकस्मिन् पात्रे कृत्वा 'सूर्याय स्वाहा' इति प्रातर्हुत्वा पुनस्तथैव चतुर्दशकृत्वो होमद्रव्यं गृहीत्वा 'प्रजापतये स्वाहा' इति जुहुयात् । ततो दक्षिणेन पाणिना २ प्रागग्रामुत्तरारणिं गृहीत्वा सव्येनाधरारणिमग्नेरुपरि धारयन् 'अयं ते योनिः' इतिमन्त्रेणाग्निं समारोप्यारणी धारयेत् । अथ पौर्णमास्याममावास्यायां वा प्राप्तायां प्रातररण्योरग्निं निर्मन्थ्य कुण्डे निधायावसरप्राप्तं वैश्वदेवादिकं कर्म विधाय सायंकाले सायंहोमं प्रातःकाले प्रातर्होमं हुत्वा पक्षादिहोमं कुर्यात् । एतावताऽपि कालेन यद्यापन्न निवर्त्तते तदा उक्तविधिना पुनः पक्षहोमान् कुर्यात् । तृतीये पक्षे तु आपदनुवृत्तावपि न पक्षहोमविधिः किं तु कृच्छ्रेणापि पृथगेव सायं प्रातर्होमान् विदध्यात् । ततोऽप्यापदनुवृत्तौ पुनरुक्तविधिना पक्षे पक्षे होमसमासं कुर्यात् न तु तृतीये पक्षे । एवं यदैवापन्निमित्तं तदादि औपवसथ्याहप्रातर्होमपर्यन्तानां होमानां समासं कुर्यात्, न पक्षान्तरगतानां समासं कुर्यात् । कठश्रुतिपक्षे तु न पक्षद्वयमेकपक्षहोमनियमः । अपि तु आपदनुवृत्तौ यावदापन्निवृत्तिस्तावत्प्रतिपक्षमुक्तप्रकारेण निरन्तरं पक्षहोमान् समस्येदित्येकः प्रकारः । प्रकारान्तरं तु सायंकाले समिदाधानपर्युक्षणानन्तरं आहुतिपरिमाणं होमद्रव्यं 'अग्नये स्वाहा' इति हुत्वा पुनस्तथैव 'सूर्याय स्वाहा' इति हुत्वा आहुतिद्वयपर्याप्तं होमद्रव्यमादाय 'प्रजापतये स्वाहा' इति सकृज्जुहुयात् । इति सायंप्रातस्तनयोर्होमयोः समासं यावदापदमाचरेत् । यदा तु आपदो गुरुत्वं भवति तदा सायंहोमैरेव अनेन विधिना प्रातर्होमानां समासं कुर्यात् । एवं पक्षहोमसमासे कृते यद्यन्तराले आपन्निवृत्तिः तदा प्रत्यहं सायंप्रातर्होमान् हुतानपि जुहुयात् । नवेति कठा आमनन्ति । एते च होमसमासाः सायमुपक्रमाः प्रातरपवर्गा इत्युत्सर्गः । आपद्विशेषे तु प्रातरुपक्रमाः सायमपवर्गाः । पूर्वाह्णापराह्णादिकालानपेक्षा अपि बोद्धव्याः । यतः तत्रापत्कालपुरस्कारेणैव होमसमासोपक्रमो युज्यते । अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः ।

पिण्डपितृयज्ञपद्धतिर्लिख्यते । अमावास्यायमपराह्णे श्राद्धपाकाद्वैश्वदेवं पात्रनिर्णेजनान्तं विधाय प्राचीनावीती नीवीं बध्वा दक्षिणाभिमुखोऽग्निसन्निधावुपविश्याद्य पिण्डपितृयज्ञेनाहं यक्ष्ये । तत्राग्निं कव्यवाहनं सोमं पितृमन्तममुकगोत्रान् यजमानपितृपितामहप्रपितामहान् अमुकामुकशर्मणः व्रीहिमयैः पिण्डैर्यक्ष्ये इति प्रतिज्ञायाग्नेयादिदक्षिणान्त दक्षिणाग्रैः कुशैरग्निं परिस्तीर्य पात्राणि सादयेत् पश्चादग्नेर्दक्षिणसंस्थानि । तत्र स्रुचं, कृष्णाजिनं, चरुस्थालीम्, उलूखलं, मुसलं, शूर्पम्, उदकम्, आज्यं, मेक्षणं, स्फ्यम्, उदपात्रं, सकृदाच्छिन्नदर्भान्, सूत्राणि चेति । पञ्चाशद्वर्षाधिकवयसि यजमाने सूत्रस्थाने यजमानवक्षस्थलो-

(हरिहर०)

मानि । स्रुचोऽभावपक्षे कृष्णाजिनं चरुस्थाली उलूखलं शूर्पं मुसलम् उदकम् आज्यं मेक्षणमित्यादित्रयोदश । ततोऽग्निमपरेणापूर्णां स्रुवं व्रीहीन् गृहीत्वोत्तरतोऽग्नेः कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रोलूखलं निधाय व्रीहीनुलूखले निक्षिप्य मुसलमादाय तिष्ठन् दक्षिणामुखस्त्रिः कृत्वोऽवहन्यात् यावद्बहुव्रीहयो वितुषा भवन्ति । ततः शूर्पेण निष्पूय पुनरुलूखले निक्षिप्य सकृत्फलीकृत्य पुनः शूर्पे कृत्वा निष्पूय सोदकायां चरुस्थाल्यां तण्डुलानोप्याग्नावधिश्रित्य प्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वेषच्छृतं चरुं श्रपयेत् । श्रुतमासादितेन घृतेनाभिघार्य दक्षिणत उद्वास्य पूर्वेणाग्निमुत्तरत आनीय स्थापयेत् । ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन चरुमादाय 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा' इत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमग्नये कव्यवाहनायेति त्यागं विधाय पुनर्मेक्षणेन चरुमादाय 'सोमाय पितृमते स्वाहा' इति हुत्वा 'इदम्-सोमाय पितृमते' इति त्यागं विधाय मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणाभिमुख उपविश्य सव्यं जान्वाच्योपलिप्य स्फ्येन 'अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः' इति दक्षिणायतां लेखामुल्लिख्योदकमुपस्पृश्य 'ये रूपाणि' इत्युल्मुकं लेखाग्रे निधाय पुनरुदकमुपस्पृश्योदपात्रमादाय पितृतीर्थेन लेखायाममुकगोत्राऽस्मत्पितरमुकशर्मन् अवनेनिक्ष्वेति एवं पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वोपमूलम्–सकृदाच्छिन्नानि दक्षिणाग्राणि लेखायामास्तीर्य तत्रावनेजनक्रमेणामुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन् एतत्तेऽन्नं स्वधा नमः इति पिण्डं दत्त्वा इदं पित्रे इति त्यागं विधायैवं पितामहप्रपितामहाभ्यां प्रत्येकं पिण्डं दत्त्वा 'अत्र पितर' इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पराङावृत्य वायुं धार्यात्तमना उदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्य 'अमी मदन्त' इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनेज्य नीवीं विसृज्य 'नमो वः' इति प्रतिमन्त्रमञ्जलिं करोति 'गृहान्न' इत्याशिषं प्रार्थ्य 'एतद्वः' इति प्रतिपिण्डं सूत्राणि दत्त्वा 'ऊर्ज्जम्' इति पिण्डेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य स्थाल्यामवधायावजिघ्रति । सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धमारभेदिति पिण्डपितृयज्ञः ।

"क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधसंयुक्तो हीनमन्त्रो जुहोति यः । अप्रवृद्धे सधूमे वा सोऽन्धः स्यादन्यजन्मनि ॥
स्वल्पे रूक्षे सस्फुलिङ्गे वामावर्ते भयानके । आर्द्रकाष्ठैश्च संपूर्णे फूत्कारवति पावके ॥
कृष्णार्चिषि सदुर्गन्धे तथा लिहति मेदिनीम् । आहुतीर्जुहुयाद्यस्तु तस्य नाशो भवेद् ध्रुवम् ॥"

इदं ब्रह्मपुराणे ।

इति हरिहरभाष्ये द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'पुरस्ता······जुहोति' । अग्न्याधेयदेवताभ्य इत्यवाच्यम् । अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वेति वक्ष्यमाणत्वात् । वाच्यं वा अग्न्याधेये हि विकल्पेन द्वयोरपि देवतात्वमस्ति तयोर्देवतात्वं मा भूत्, किंतु बहुत्वविशिष्टानां देवतात्वं यथा स्यादित्यदोषः । स्थालीपाकस्येत्यवयवषष्ठी । पुरस्तात्स्थालीपाकस्य स्थालीपाकात्पूर्वमष्टर्चहोमः । अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा एवमुपरिष्टादष्टर्चहोमः ॥ १ ॥

'स्विष्टकृते च अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं देवा गातु विद इति' । उपरितनान्ते अष्टर्चहोमान्तस्थालीपाकस्य 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इति आहुतिं जुहोति । च शब्दादाज्येन 'अयास्यग्ने' इति मन्त्रेणाहुतिं जुहुयात् । स्विष्टकृद्धोमस्य प्राप्तत्वात् पुनर्ग्रहणमयास्यग्न इति होमस्यावसरविधानार्थम् । मन्त्रस्यायमर्थः—हे देवा गातुविदो यज्ञवेत्तारो देवाः अग्नेः संबन्धि यद्वषट्कृतं हुतं यत् येन कर्मणा यजनविधिना कृत्वा अहमत्य-

(गदाधर०)

रीरिचमधिकं कृतवानः स्मीति तेन कर्मणा प्रसन्नानां भवतां प्रसादात्तद्यासि अनश्वरमव्याहतमस्तु ॥ १०–११ ॥

'बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति' । परिस्तरबर्हिर्हस्तेनैव हुत्वा पात्रान्तरस्थापितहोमशेषद्रव्यं भक्षयति । प्राशनस्य प्राप्तत्वाद् बर्हिर्होमोत्तरकालविधानार्थं ग्रहणम् । शेषरक्षणं भक्षणं च श्रौतसूत्रे उक्तमस्ति—'पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः' 'हुत्वा च शेषप्राशनम्' (का० श्रौ० अ० ६ सू० २४३, २४४) इति । अस्यार्थः—पाकशब्देन च स्मार्तहोमो उच्यन्ते । तत्र होमार्थं यदवत्तं गृहीतं तस्य असर्वहोमः कर्तव्यः स्रुवादिभिर्यत् गृहीतं तद्धुत्वा किञ्चित्परिशेष्य पात्रान्तरे स्थापनमित्यर्थः । सर्वहोमान्हुत्वा पात्रान्तरस्थापितसर्वशेषाणां प्राशनम् । बर्हिर्होमश्चात्रैव वचनान्नान्यकर्मसु । बर्हिर्होमे प्रजापतिर्देवता अनिरुक्तत्वात् । तथा च लिङ्गम्—'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' इति ।

'आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते । मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरितिस्थितिः' ॥ इति । छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनोक्तेश्च ॥ १२ ॥

'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । तत इति सूत्रादेवं ज्ञायते—मध्ये मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः प्रणिताविमोको दक्षिणादानं च कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । एकद्विबहुषु समासस्य तुल्यत्वादेकस्मिन्नपि चरितार्थत्वादेकस्यैव भोजनमिति । यत्र बहूनां भोजनं तत्र स्वयमेवोपदिशन्ति, यथा—'सँस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान्भोजयेत्' (पार० गृ० कां० २ कं० १७ सू० १९) इति । तथा 'सर्वासां पयसि पायसँ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेत्' (पार० गृ० कां० ३ कं० ९ सू० ८) इति । अत्र 'स्मृत्यन्तरोक्तत्रयोविंशतिब्राह्मणभोजनम्' इति हरिहरपद्धतौ । 'चतुस्त्रिंशद्भोजनम्' इति रेणुकदीक्षिताः । यज्ञपार्श्वे विशेषः—

'गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजयेद्दश । शतं विवाहसंस्कारे पञ्चाशन्मेखलाविधौ ॥
आवसथ्ये त्रयस्त्रिंशच्छ्रौताधामे शतात्परम् । अष्टकं भोजयेद्भक्त्या तत्तत्संस्कारसिद्धये ॥
सहस्रं भोजयेत्सोमे ब्राह्मणानां शतं पशौ । चातुर्मास्ये तु चत्वारि शतानि पञ्च सुराग्रहे ॥
अयुतं वाजपेये च ह्यश्वमेधे चतुर्गुणम् । आग्रयणे प्रायश्चित्ते ब्राह्मणान् दश पञ्च च ॥' इति ।

अत्रैवं व्यवस्था-यत्र 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' इति सूत्रमस्ति तत्रैकं पूर्वं भोजयित्वा यज्ञपार्श्वोक्तं ब्राह्मणभोजनम्, यत्र विवाहादौ सूत्रं नास्ति तत्र कर्मान्ते परिशिष्टोक्तमेव भोजनम् ॥ १३ ॥

अथावसथ्याधाने पदार्थक्रमः

तच्च चतुर्थ्युत्तरकालेऽभ्रातृमतः, भ्रातृमतस्तु धनविभागकाले । गृहपतौ प्रेते एकादशेऽहनि प्रागेवैकादशश्राद्धात् द्वादशेऽहनि वा मातृपूजाऽऽभ्युदयिकरहितं ज्येष्ठः कुर्यात् । कालातिक्रमे तु प्रायश्चित्तं कृत्वा माघादिपञ्चमासेषु श्रावणे आश्विने वा कार्यम् । तत्र पूर्वं वपनं कृत्वा अतिक्रान्तसंवत्सरसंख्यया प्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरेत् । तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दद्यात् । तदभावे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्धं तदर्धं वा दद्यात् । तदभावे प्रतिप्राजापत्यं द्वादशब्राह्मणभोजनम् । अयुतगायत्रीजपं गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षया कुर्यात् । तत्रैवं संकल्पः—'आधानाकरणजनितदोषनाशार्थं वर्षसंख्याकान्कृच्छ्रानहमाचरिष्ये' । अथवा—'प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां 'ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे' । अथवा—'एतावतीनां गवां मूल्यमिदं संप्रददे' । 'ब्राह्मणान्वा भोजयिष्ये' । एवमग्रेऽपि संकल्पः । ततः सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपरिमितमतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । तन्मानं च कारिकायाम्—

(गदाधर०)

'षष्टिप्रस्थमितं धान्यं त्रिप्रस्थप्रमितं घृतम् ।' इति संवत्सरस्योक्तम् ।
'प्रसृतिद्वितयं मानं प्रस्थं मानचतुष्टयम् ।' इति च ।

तत्र संकल्पः—'होमाकरणजनितप्रत्यवायपरिहारार्थमेतावद्वर्षपिंकं दधियवतण्डुलानामन्यतमं ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे'। तन्मूल्यं वा दद्यात्। इतरपक्षाद्यादिकर्मद्रव्यदाननिवृत्तिः। 'हौम्यं दद्यादिति वचनात्' इति रामवाजपेयिनो हरिहरश्च। गङ्गाधरस्तु 'सायंप्रातर्होमपक्षादिकर्मपिण्डपितृयज्ञाद्यनुसंधानार्थं साधनभूतं होमद्रव्यम्' इति लिखितवान्। ततो यथोक्ते काले पूर्वाह्णे वैश्वदेवं कृत्वा गणपतिं पूजयित्वा पुण्याहवाचनं कुर्यात्। तद्यदत्र कर्तव्यं तदुच्यते, व्यासः—

'संपूज्य गन्धमाल्याद्यैर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्। धर्मकर्मणि माङ्गल्ये संग्रामेऽद्भुतदर्शने॥'

गृह्यपरिशिष्टे—'अथ स्वस्तिवाचनमृद्धिपूर्तेषु। ऋद्धिर्विवाहान्ता अपत्यसंस्काराः, प्रतिष्ठोद्यापने पूर्तं, तत्कर्मणश्चाद्यन्तयोः कुर्यात्' इति।

आश्वलायनस्मृतिः—'वैदिके तान्त्रिके चादौ ततः पुण्याह इष्यते।'

शौनकः—

'पुण्याहवाचनविधिं वक्ष्यामोऽथ यथाविधि। प्रयोक्तुः कर्मणामादावन्ते चोदयसिद्धये॥' इति।

तच्च कर्मप्रयोगान्तर्गतमिति केचित्। बहवस्तु प्रयोगबहिर्भूतम् इति। आद्यपक्षे कर्मप्रयोगसंकल्पं कृत्वा कार्यम्। द्वितीये तु तत्कृत्वा कर्मसंकल्पः।

अथ आवसथ्याधानप्रयोगः

हेमाद्रौ दानखण्डे बह्वृचगृह्यपरिशिष्टत्वेनोक्तः सकलसाधारणशिष्टाचारप्राप्तश्च पुण्याहवाचनप्रयोगः। कृतमङ्गलस्नानः स्वलङ्कृतः कृताचमनः प्राङ्मुखो यजमानो वस्त्राच्छादिते पीठे उपविश्य पत्नीं च स्वदक्षिणतः प्राङ्मुखीमुपवेश्य संस्कार्यं च तथैवोपवेश्य 'ॐसुमुखश्चैकदन्तश्च' इत्यादि 'शुक्लाम्बरधरं देवं०' 'अभीप्सितार्थ०' 'सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये०' 'सर्वदा सर्वकार्येषु०'। 'सर्वेषु कालेषु समस्तदेशेषु०' 'तदेव लग्नम्०' 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो०' 'सर्वेष्वारब्धकार्येषु०' इति श्लोकान् पठित्वा ॐलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः। उमामहेश्वराभ्यां नमः। शचीपुरन्दराभ्यां नमः। मातापितृभ्यां नमः। इष्टदेवताभ्यो नमः। कुलदेवताभ्यो नमः (१)। सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नमः। आचमनप्राणायामौ कृत्वा देशकालौ संकीर्त्य अमुकफलसिद्ध्यर्थं श्वोऽद्य वाऽमुककर्माहं करिष्ये। तदङ्गतयाऽऽदौ पुण्याहवाचनादि करिष्ये इति संकल्पयेत्। यदा तु प्रयोगाद्बहिर्भूतं पुण्याहवाचनाद्यङ्ग तदाऽनुकफलसिद्ध्यर्थममुककर्म कर्तुमङ्गभूतमादौ पुण्याहवाचनादि करिष्ये इति प्रत्येकं संकल्पः। प्रधानसंकल्पस्तु सर्वं कृत्वा तद्दिने श्वो वा कार्यः। ततः कर्ता स्वपुरतः 'महीद्यौः पृथिवीचन०' इति भूमिं स्पृष्ट्वा 'ओषधयः सम्' इति तण्डुलपुञ्जं कृत्वा 'आजिघ्रकलशम्' इति पुञ्जोपरि सलक्षणं धातुमयं मृन्मयं वा कलशं निधाय 'इमं मे वरुण' इति तीर्थजलेन पूरयित्वा 'गन्धद्वाराम्' इति गन्धं कलशे प्रक्षिप्य चन्दनादिना तमनुलिप्य 'या ओषधीः' इति सर्वौषधीः 'ओषधयः सम्' इति यवान् 'काण्डात्काण्डात्' इति दूर्वाः 'अश्वत्थेव' इति पञ्चपल्लवान् 'स्योनापृथिवी' इति पञ्च सप्त वा मृदः 'याः फलिनीः' इति फलं 'परि-

(१) ग्रामदेवताभ्यो नमः। स्थानदेवताभ्यो नमः। वास्तुदेवताभ्यो नमः। इत्यधिकमपेक्षते।

(गदाधर०)

वाजपतिः' इति पञ्चरत्नानि 'हिरण्यगर्भ' इति हिरण्यं 'युवासुवासा' इति वस्त्रेण रक्तसूत्रेण च वेष्टयेत्। 'पूर्णा दर्वि' इति धान्यपूर्णं फलसहितं पात्रमुपरि निदध्यात्। 'तत्त्वा-यामि' इति कलशे वरुणमावाहयेत् चन्दनादिना पूजयेच्च। ततः कलशे देवता आवाहयेत्—
कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः। मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सप्त सप्तद्वीपा वसुन्धरा। ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेद सामवेदो ह्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशं तु समाश्रिताः। अत्र गायत्री सावित्री शान्तिपुष्टिकरी तथा॥
आयान्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षयकारकाः। सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः॥
आयान्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षयकारकाः॥' इति। ततः कलशप्रार्थना—

'देवदानवसंवादे मथ्यमाने महोदधौ। उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ विधृतो विष्णुना स्वयम्॥
त्वत्तोये सर्वतीर्थानि देवाः सर्वे त्वयि स्थिताः। त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥
शिवः स्वयं त्वमेवासि विष्णुस्त्वं च प्रजापतिः। आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवाः स पैतृकाः॥
त्वयि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि यतः कामफलप्रदः। त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव॥
सान्निध्यं कुरु देवेश प्रसन्नो भव सर्वदा॥'

अवनिकृतजानुमण्डलः कमलमुकुलसदृशमञ्जलिं शिरस्याधाय दक्षिणेन पाणिना सुवर्णपूर्णकलशं धारयित्वा आशिषः प्रार्थयेत्। प्रार्थनामाह—'एताः सत्या आशिषः सन्तु दीर्घा नागा नद्यो गिरयस्त्रीणि विष्णुपदानि च। तेनायुःप्रमाणेन पुण्यं पुण्याहं दीर्घमायुरस्तु'। शिवा आपः सन्तु। सौमनस्यमस्तु। अक्षतं चारिष्टं चास्तु। गन्धाः पान्तु सुमङ्गल्यं चास्तु। अक्षताः पान्त्वायुष्यमस्तु। पुष्पाणि पान्तु सौश्रियमस्तु। ताम्बूलानि पान्त्वैश्वर्यमस्तु। दक्षिणाः पान्तु बहु देयं चास्तु। दीर्घमायुः शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिः श्रीर्यशो विद्या विनयो वित्तं बहुपुत्रं चायुष्यं चास्तु। अत्र सर्वत्र ब्राह्मणैरस्त्विति प्रत्युत्तरं देयम्। यत्कृत्वा सर्ववेदयज्ञक्रियाकर्मारम्भाः शुभाः शोभनाः प्रवर्तन्ते तमहमोङ्कारमादिं कृत्वा ऋग्यजुःसामाशीर्वचनं बहृषिसंमतं संविज्ञातं भवद्भिरनुज्ञातः पुण्यं पुण्याहं वाचयिष्ये। विप्राः—'वाच्यताम्' इति वदेयुः। एवमुत्तरत्रापि यथायोगं प्रत्युत्तरम्। ततो यजमानः 'भद्रं कर्णेभिः' ऋ० १ 'द्रविणोदाद्रविण स०' ऋ० १ 'सवितापश्चात्'० ऋ० १ 'नवो नवो भवति'० ऋक् 'उच्चादिवि'० ऋ० १ आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे। यस्त्वाहृदाकीरिणामन्यमानोमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि। जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उलोकमग्ने कृणवस्योनम्। अश्विनं सपुत्रिण वीरवन्तं गोमन्तं रयिन्नुशते स्वस्ति।' व्रतनियमतपःस्वाध्यायक्रतुशमदमदानविशिष्टानां सर्वेषां ब्राह्मणानां मनः समाधीयताम्। विप्राः—'समाहितमनसः स्मः'। यजमानः—'प्रसीदन्तु भवन्तः।' विप्राः—'प्रसन्नाः स्मः।' यज०—'शान्तिरस्तु, पुष्टिरस्तु, तुष्टिरस्तु, वृद्धिरस्तु, अविघ्नमस्तु, आयुष्यमस्तु, आरोग्यमस्तु, शिवं कर्मास्तु, कर्मसमृद्धिरस्तु, वेदसमृद्धिरस्तु, शास्त्रसमृद्धिरस्तु, पुत्रसमृद्धिरस्तु, धनधान्यसमृद्धिरस्तु, इष्टसंपदस्तु, अरिष्टनिरसनमस्तु, यत्पापं तत्प्रतिहतमस्तु, यच्छ्रेयस्तदस्तु, उत्तरे कर्मण्यविघ्नमस्तु, उत्तरोत्तरमहरहरभिवृद्धिरस्तु, उत्तरोत्तराः क्रियाः शुभाः शोभनाः संपद्यन्ताम्, तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रसंपदस्तु, तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रग्रहलग्नाधिदेवताः प्रीयन्ताम्, तिथिकरणे मुहूर्ते सनक्षत्रे सग्रहे सदैवते प्रीयेताम्, दुर्गापाञ्चाल्यौ प्रीयेताम्, अग्निपुरोगा विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्, इन्द्रपुरोगा मरुद्गणाः प्रीयन्ताम्, ब्रह्मपुरोगा सर्वे वेदाः प्रीयन्ताम्, माहेश्वरीपुरोगा उमामातरः प्रीयन्ताम्, वसिष्ठपुरोगा ऋषिगणः प्रीयन्ताम्, अरुन्धतीपुरोगा एकपत्न्यः प्रीयन्ताम्,

(गदाधर०)

ऋषयश्छन्दांस्याचार्या वेदा यज्ञाश्च प्रीयन्ताम्, ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च प्रीयन्ताम्, श्रीसरस्वत्यौ प्रीयेताम्, श्रद्धामेधे प्रीयेताम्, भगवतीकात्यायनी प्रीयताम्, भगवती वृद्धिकरी प्रीयताम्, भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्, भगवान् स्वामी महासेनः सपत्नीकः ससुतः सपार्षदः सर्वस्थानगतः प्रीय०, हरिहरहिरण्यगर्भाः प्रीयन्ताम्, सर्वाग्रामदेवताः प्रीयन्ताम्, सर्वाः कुलदेवताः प्रीयन्ताम्, (१) हताश्च ब्रह्मविद्विषः, हताः परिपन्थिनः, हताः अस्य कर्मणो विघ्नकर्तारः, शत्रवः पराभवं यान्तु, शाम्यन्तु घोराणि, शाम्यन्तु पापानि, शाम्यन्त्वीतयः, (२) शुभानि वर्द्धन्ताम्, शिवा आपः सन्तु, शिवा ऋतवः सन्तु, शिवा अग्नयः सन्तु, शिवा आहुतयः सन्तु, शिवा ओषधयः सन्तु, शिवा वनस्पतयः सन्तु, शिवा अतिथयः सन्तु, अहोरात्रे शिवे स्याताम्, 'निकामे० कल्पताम्'। शुक्राङ्गारकबुधबृहस्पतिशनैश्चरराहुकेतुसोमसहिता आदित्यपुरोगाः सर्वे ग्रहाः प्रीयन्ताम्, भगवान्नारायणः प्रीयताम्, भगवान्पर्जन्यः प्रीयताम्, भगवान्स्वामी महासेनः प्रीयताम्। पुण्याहकालान्वाचयिष्ये। ब्राह्मणाः—'वाच्यताम्'। 'उद्गाते० पुण्यमावद।' अनया पुण्याह एव कुरुते। 'ब्राह्मणाः मम गृहे अस्य कर्मणः पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु' इति स्वयं मन्दस्वरेणोक्त्वा ब्राह्मणैः—'ॐ पुण्याहम्' इति यथोक्ते पुनरेव मध्यमस्वरेणोक्त्वा तथैव तैरुक्ते पुनरेवमुच्चस्वरेणोक्ते तथैव तैरुक्ते 'स्वस्त्ये० तुनः' 'आदित्य० ममृतॅं स्वस्ति' 'ब्राह्मणा इत्यादि कर्मण' इत्यन्तं पूर्ववत् स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' इति त्रिः। 'आयुष्मते स्वस्ति' इति प्रतिवचनं त्रिः। 'ऋध्याम० काममग्राः सर्वामृद्धिं प्रतितिष्ठति। 'ब्राह्मण इत्यादि अस्य कर्मणः ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्तु' इति त्रिः। 'ॐ ऋध्यताम्' इतित्रिः। 'श्रिये जातः श्रिये० मितद्रौ। 'श्रियएवै० एवं वेद।' ब्राह्मण इत्यादि अस्य कर्मणः श्रीरस्त्विति भवन्तो ब्रुवन्तु इति त्रिर्ब्रूयात्। 'अस्तु श्रीः' इति विप्राश्चिः। ततः कर्तुर्वामतः पत्नीमुपवेश्य पात्रपातितजलेन पल्लवदूर्वादिभिरुदङ्मुखा विप्रा अभिषिञ्चेयुस्तिष्ठन्तः। तत मन्त्राः—'देवस्यत्वा इत्यादि' 'सुरास्त्वामभिषञ्चन्तु' इत्यादिपौराणान् श्लोकानपि पठन्त्यभिषेके। ततो नीराजनं कुर्यात्।

अथाभ्युदयिकश्राद्धविधिः

तच्च गर्भाधानादिषु गर्भसंस्कारेषु, जातकर्मादिष्वपत्यसंस्कारेषु, अग्न्याधानादिषु श्रौतकर्मसु, श्रवणाकर्मसु, वापीकूपतडागारामाद्युद्यापनादिषु, देवप्रतिष्ठायां, वानप्रस्थाश्रमसंन्यासस्वीकारे, तुलापुरुषादिमहादानादौ, नवगृहप्रवेशे, महानाम्न्यादिवेदव्रतेषु, राजाभिषेके, शान्तिकपौष्टिकेषु च सर्वेषु, उपाकर्मोत्सर्जनयोरप्येके, नवीनयोर्वाऽनयोरन्यत्राप्येवंविधे कार्यम्। इदमाभ्युदयिकश्राद्धं वक्ष्यमाणं च मातृपूजनमेकस्यानेकसंस्कारेष्वेककर्तृकेषु युगपदुपस्थितेषु सर्वादौ सकृदेव तन्त्रेणैव कार्यं न तु प्रतिसंस्कारमावृत्त्या। यथा—दैवादकृतजातकर्मादिकस्योपनयनकाले जातकर्माद्यनुष्ठाने, देशान्तरगतस्य मृतबुद्ध्या कृतौर्ध्वदेहिकस्यागतस्य पुनर्जातकर्मादिसंस्काराणां विहितानां युगपदनुष्ठाने, कर्मनाशाजलस्पृष्टादीनां प्रायश्चित्ततया पुनः संस्काराणां युगपदनुष्ठाने वा। तदुक्तं ब्रह्मपुराणे—

'गणेशः क्रियमाणानां मातृभ्यः पूजनं सकृत्। सकृदेव भवेच्छ्राद्धमादौ न पृथगादिषु॥'

इति।

कात्यायनः—

'कुड्यलग्ना वसोर्द्धाराः पञ्चधारा घृतेन तु। कारयेत्सप्त वा धारा नातिनीचा नचोच्छ्रिताः॥

---

(१) प्रायोगिनोत्र 'बहिरपः' इत्यधिकं पठन्ति।

(२) 'अन्तर्देशे' इत्यधिकं पठन्ति प्रायोगिनोऽत्र।

(गदाधर०)

गौरी पद्मा शचीमेधा सावित्री विजया जया। देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥ धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह॥' इति। आत्मदेवता आत्मकुलदेवता।

'आयुष्याणि च शान्त्यर्थं जपेदत्र समाहितः।'

आयुष्याणि 'आनोभद्रा' इत्यादीनि। ततो वृद्धिश्राद्धं नवदैवत्यं पार्वणत्रयात्मकम्। तत्र क्रममाह आश्वलायनाचार्यः—

'माता पितामही चैव संपूज्या प्रपितामही। पित्रादयस्त्रयश्चैव मातुः पित्रादयस्त्रयः॥ एते नवैवाऽर्चनीयाः पितरोऽभ्युदये द्विजैः॥' इति।

तत्तु वृद्धवसिष्ठः—

'नान्दीमुखे विवाहे च प्रपितामहपूर्वकम्। नाम सङ्कीर्तयेद्विद्वानन्यत्र पितृपूर्वकम्॥' इति।

स्मृत्यर्थसारश्च—

'वृद्धमुख्यास्तु पितरो वृद्धिश्राद्धेषु भुञ्जते।' इति।

तच्छाखान्तरविषयम्। कात्यायनानां तु आनुलोम्येन मात्रादिक्रमेणैव। नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहा इति प्रयोगदर्शनात्। यत्तु ब्रह्मपुराणे—

'पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः सम्प्रकीर्तिताः॥ तेभ्यः पूर्वे त्रयो ये तु ते तु नान्दीमुखाः स्मृताः॥' इति,

तत् महालयप्रकरणपठितप्रौष्ठपदपौर्णमासीनिमित्तकश्राद्धविषयं तत्प्रकरणपाठादित्येव हेमाद्यादय ऊचिरे। इह च नान्दीमुखसंज्ञकान्मात्रादीनुद्दिशेत्।

विष्णुपुराणे कन्याविवाहादीननुक्रम्य—

'नान्दीमुखान्पितॄनादौ तर्पयेत् प्रयतो गृही।'

इत्युक्तेः। ब्रह्मपुराणे च जन्माद्यनुक्रम्य—

'पितॄन्नान्दीमुखान्नाम तर्पयेद्विधिपूर्वकम्।'

इत्युक्तेः वृद्धपराशरेण तु देवानामपि नान्दीमुखविशेषणमुक्तम्—

'नान्दीमुखेभ्यो देवेभ्यः प्रदक्षिणं कुशासनम्।' इति।

वृद्धिश्राद्धे च कालः—कर्माहात्पूर्वेद्युर्मातृपार्वणं कर्माहे पितृपार्वणं कर्मोत्तराहे मातामहपार्वणमिति। अस्यासंभवे पूर्वेद्युरेव पूर्वाह्णे मातृकं मध्याह्ने पैतृकमपराह्णे मातामहानाम्। अस्याप्यसंभवे आह वृद्धमनुः—

'अलाभे श्राद्धकालानां नान्दीश्राद्धत्रयं बुधः। पूर्वेद्युरेव कुर्वीत पूर्वाह्णे मातृपूर्वकम्'॥ इति।

इदं च महत्सु कर्मसु। अल्पेषु तु कर्माह एव श्राद्धम्। पुत्रजन्मनि तु दिने वा रात्रौ वा भुक्तवतोपवासिना वा पुत्रजन्मानन्तरमेव कार्यम्। अत्र संकल्पादौ विशेषः संग्रहे—

'शुभाय प्रथमान्तेन वृद्धौ संकल्पमाचरेत्। न षष्ठ्या, यदि वा कुर्यान्महान्दोषोऽभिजायते॥ अनस्मद्वृद्धशब्दानामरूपाणामगोत्रिणाम्। अनाम्नामतिलाद्यैश्च नान्दीश्राद्धं च सव्यवत्॥'

आश्वलायनकारिकायाम्—'संबन्धनामरूपाणि वर्जयेदत्र कर्मणि।'

इदं तु शाखान्तरविषयम्। अत्र सत्यवसू विश्वेदेवौ, तत्स्थाने द्वौ विप्रौ। मात्रादीनां च प्रत्येकं द्वौ द्वौ, एवं विंशतिर्ब्राह्मणाः। यद्वा मात्रादीनां त्रयाणां द्वौ द्वौ एवमष्टौ। अत्र नापसव्यं तिलस्थाने यवा एव स्वधास्थाने स्वाहाशब्दः सव्यजानुनिपाताभावः सर्वप्राङ्-

(गदाधर०)

मुख एव कुर्यात्। प्रदक्षिणमुपचार ऋजुदर्भैः क्रियेत्यादयो विशेषा ग्रन्थान्तरतो ज्ञेयाः। पिण्डदाने कुलदेशाऽऽचारतो व्यवस्था। भविष्यपुराणे—

'पिण्डनिर्वपणं कुर्यान्न वा कुर्यान्नराधिप। वृद्धिश्राद्धे महाबाहो कुलधर्मानवेक्ष्य तु॥'

पिण्डदानपक्षे विशेषो वसिष्ठेनोक्तः—

'दधिकर्कन्धुमिश्रांश्च पिण्डान्दद्याद्यथाक्रमम्।' कर्कन्धुः बदरीफलम्। एकैकस्मै पिण्डद्वयं देयम्। 'एकस्मान्नाऽपरन्तूर्णीं दद्यात्पिण्डद्वयं बुधः॥' इति चतुर्विंशतिमतात्।

अन्ये च बहवो विशेषा ग्रन्थान्तरतो ज्ञेयाः दाक्षिणात्यानां गुर्जराणां च विस्तृतवृद्धिश्राद्धाभावान्नेहोच्यते।

अथाभ्युदयिके कर्तृनिर्णयः सायणीये—

'नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः। अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम्॥'

द्वितीयपाणिग्रहादौ वर एव कुर्यादित्यर्थः। कात्यायनः—

'स्वपितृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु। पिण्डानोद्वाहनात्तेषां तस्याभावे तु तत्क्रमात्॥'

तेषां सुतानामोद्वाहनात् प्रथमविवाहपर्यन्तं पिता स्वपितृभ्यः पिण्डान् तदुपलक्षितवृद्धिश्राद्धं कुर्यात्। तस्य पितुरभावे तु तस्य संस्कार्यस्य पितॄणां यः क्रमस्तेन क्रमेण पितृव्याचार्यमातुलादिः श्राद्धं दद्यात् न च स्वपितृभ्यः इति हेमाद्रिणा व्याख्यातम्। जीवत्पितृकस्तु पितृमात्रादिभ्यो वृद्धिश्राद्धं कुर्यात्।

'वृद्धौ तीर्थे च संन्यस्ते ताते च पतिते सति। येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः॥'

एतत्साग्निकविषयकमित्येके। विष्णुः—'पितरि जीवति यः श्राद्धं कुर्यात् स येषां पिता कुर्यात्तेभ्य एव तत्कुर्यात् पितरि पितामहे च येषां पितामहः। पितरि पितामहे प्रपितामहे च नैव दद्यात्' इति। अथाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे तु 'जीवत्पिता सुतसंस्कारेषु मातृमातामहयोः कुर्यात्। तस्यां जीवन्त्यां मातामहस्यैव कुर्यात्' इति।

अथास्य शिष्टप्रचाराचारपरिगृहीतः संकल्पविधिना प्रयोगः। उपनयनादिमहत्सु कर्मसु पूर्वेद्युर्जातकर्माद्यल्पेषु तदहरेव नान्दीश्राद्धं कुर्यात्। तत्रादौ कर्ता कृतमाङ्गलिकस्नानो धौतवासाः कृतस्वस्त्ययनो नान्दीश्राद्धपूर्वाङ्गं मातृकापूजनं कुर्यात्। पूजाप्रकारस्तु पूजोपकरणान्युपकल्प्य प्राङ्मुख उपविश्य कुशयवजलान्यादाय 'अद्येत्यादि अमुककर्माङ्गतया गणपतिगौर्यादिचतुर्दशमातृकापूजनमहं करिष्ये' इति संकल्प्य अक्षतैः 'ॐ भूर्भुवःस्वः गणपते इहागच्छ इह तिष्ठ' 'ॐ भूर्भुवः स्वः गौरि इहागच्छ इह तिष्ठ'। एवं पद्मे शचि मेधे सावित्रि विजये जये देवसेने स्वधे स्वाहे धृते तुष्टे पुष्टे आत्मकुलदेवते इति प्रत्येकमावाह्य ततो 'मनो जूति' इति प्रतिष्ठाप्य 'ॐ गणपतये नमः' इति प्रणवादिनमोऽन्तचतुर्थ्यन्तस्वस्वनाममन्त्रेण पञ्चदशापि षोडशोपचारैः पूजयेत्। मातॄणां गणदेवतात्वपक्षे तु— 'गणपतिः गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया देवसेना स्वधा स्वाहा धृतिः तुष्टिः पुष्टिरात्मकुलदेवता इहागच्छत इह तिष्ठतेति आवाह्य प्रतिष्ठाप्य 'ॐ गणपत्यादिभ्यो नमः' इति पूर्ववदुपचारैः पूजयेत्। ततः पञ्च सप्त वा नातिनीचा न चोच्छ्रिताः कुड्यादिषु वसोः पवित्रमसीति घृतधारा उत्तरसंस्थाः कुर्यात्। ततो 'वसोर्द्धारादेवताभ्यो नमः' इति पञ्चोपचारैः पूजां कुर्यात्। वसोर्द्धाराकरणञ्च कातीयानामेव नान्येषाम्। तत आयुष्यमन्त्रजपः 'आयुष्यं वर्चस्यं० दुमाम्'॥ १॥ 'न तद्रक्षाꣳसि० मायुः'॥ २॥ 'यदाबध्नन्दा० यथासम्'॥ ३॥ इत्यादि आयुष्यमन्त्रजपः।

(गदाधर०)

अथ नान्दीश्राद्धम्

तच्च त्रिविधम्—विवाहादिनित्यनैमित्तिकं, पुत्रजन्माद्यनियतनिमित्तम् , अग्न्याधानादिनिमित्तं चेति । तत्र विवाहादिनिमित्तं प्रातः कार्यम् । तदाह शातातपः—"प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्" इति । अत्र प्रातःशब्दः सार्द्धप्रहरात्मककालवचनः । तदाह गार्ग्यः—

'ललाटसंमिते भानौ प्रथमः प्रहरः स्मृतः । स एव सार्द्धसंयुक्तः प्रातरित्यभिधीयते ॥'

अग्न्याधाननिमित्तं त्वपराह्णे कार्यम् । तदाह गालवः—

'पार्वणं चापराह्णे तु वृद्धिश्राद्धं तथाग्निकम् ।' इति ।

अग्न्याधाननिमित्तं वृद्धिश्राद्धमपराह्णे कुर्यादित्यर्थः । पुत्रजन्मादौ निमित्तानन्तरमेव तत्कार्यम् । निर्णयामृतेऽप्येवम् । कर्ता उक्तकाले सुस्नातः सुप्रक्षालितकरचरणः स्वाचान्तः सुस्नातानाचान्तानष्टौ ब्राह्मणानाहूय बहिरुपक्लृप्ते गोमयोपलिप्ते मण्डले 'स्वागतं वः, सुस्वागतम्' इति प्रत्येकं प्रश्नोत्तरपूर्वकं प्रागग्रकुशोत्तरेष्वासनेषु प्राङ्मुखान् दक्षिणोपक्रमान् उदगपवर्गान् उपवेश्य स्वयमुदङ्मुख उपविश्य आद्ययोर्विप्रयोर्जानुनी स्पृशन् प्राग्वद्देशकालौ सङ्कीर्त्य 'अमुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धाख्ये कर्मणि नान्दीमुखास्मन्मात्रादित्रय—नान्दीमुखास्मत्पित्रादित्रय-नान्दीमुखास्मन्मातामहादित्रयसंबन्धि-सत्यवसुसंज्ञकविश्वेदेव-कृत्ये भवन्तौ मया निमन्त्रितौ' इति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् । 'निमन्त्रितौ स्वः' इति प्रतिवचनम् । पुनस्ताम्बूलादिकमादाय तदुत्तरयोर्जानुनी स्पृशन् 'अद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामहीनाममुकामुकदेवीनामद्येहकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रितौ' इति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् । 'निमन्त्रितौ स्वः' इति प्रतिवचनम् । पुनस्ताम्बूलादिकमादाय तदुत्तरयोर्विप्रयोर्जानुनी स्पृशन् 'अद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणामद्यकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रितौ' इति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् । 'निमन्त्रितौ स्वः' इति प्रतिवचनम् । पुनस्ताम्बूलादिकमादाय 'अद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाममुकामुकशर्मणामद्यकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रितौ' इति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् । 'निमन्त्रितौ स्वः' इति प्रतिवचनम् । 'अक्रोधनैः शौ० कारिणा' इति सर्वत्र नियमान् श्रावयेत् । ततो देवद्विजपूर्वकं चरणप्रक्षालनं विधाय 'अद्येह नान्दीमुखास्मन्मात्रादित्रय-नान्दीमुखास्मत्पित्रादित्रय-नान्दीमुखास्मन्मातामहादित्रयसम्बन्धिमसत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एतत्पादार्घ्यं वो नमः' इति गन्धाक्षतादियुक्तं पादार्घ्यं दत्त्वा 'अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्य एतत्पादार्घ्यं वो नमः' इति मातृवर्गत्रयब्राह्मणचरणयोर्दत्त्वा 'अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकशर्माण एतत्पादार्घ्यं वो नमः' इति पित्रादिवर्गब्राह्मणचरणयोर्दत्त्वा 'अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा अमुकामुकशर्माण एतत्पादार्घ्यं वो नमः' इति मातामहवर्गब्राह्मणचरणयोरर्घ्यं दद्यात् । ततो ब्राह्मणानाचामय्य स्वयमप्याचम्य श्राद्धदेशे प्रथमकल्पितेष्वासनेषु 'इदमासनमास्यताम्' इति प्रयोगेणोदगपवर्गं प्राङ्मुखान्देवपूर्वं द्विजानुपवेश्य स्वयमुदङ्मुख उपविश्य कर्मसौकर्यार्थं कर्मपात्रं जलेनापूर्य दूर्वादधियवकुशांस्तत्र निक्षिप्य प्राणायामत्रयपूर्वकं विष्णुस्मरणं कृत्वा कर्मपात्रजलेनोपकरणानि प्रोक्ष्य दूर्वाकुशयवजलानि दक्षिणकरेणादाय पूर्ववद्देशकालकीर्तनान्ते अमुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धाख्ये कर्मणि अमुक-

(गदाधर०)

गोत्राः नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकामुकदेव्योऽमुकगोत्रा नान्दीमुखा-स्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकशर्माणः अमुकगोत्रा नान्दीमुखा अस्मन्मातामहप्र-मातामहवृद्धप्रमातामहा अमुकामुकशर्माणः प्रधानदेवताः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा अङ्ग-देवताः यथोक्तलक्षणं हविः ब्राह्मण आहवनीयार्थे। अमुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातृ-पितामहीप्रपितामहीनाममुकामुकदेवीनाममुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपिता-महानाममुकामुकशर्मणाममुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा-नाममुकामुकशर्मणाममुककर्मनिमित्तं सत्यवसुसंज्ञकविश्वेदेवपूर्वकं सांकल्पिकमाभ्युदयिकं श्राद्धं भवदनुज्ञयाऽहं करिष्ये' इति सङ्कल्पः। 'कुरुष्व' इति प्रतिवचनम्। ततः सप्रणवव्या-हृतिपूर्विकाया गायत्र्यास्त्रिर्जपः, विष्णुस्मरणम्। 'मात्रादित्रयपित्रादित्रयमातामहादित्रयश्रा-द्धसम्बन्धिनः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदमासनं वो नमः' इति प्रागग्रऋजुकुशत्रयं सय-वजलं दक्षिणत आसनोपरि दत्त्वा 'अमुकगोत्राः नान्दीमुख्योऽस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्यो-ऽमुकामुकदेव्यः इदमासनं वो नमः इति मातृवर्गविप्रद्वयासनोपरि विभज्य दत्त्वा 'अमु-कगोत्राः नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकशर्माणः इदमासनं वो नमः' इति पितृवर्गब्राह्मणद्वयासनोपरि दत्त्वा पित्रादिपदस्थाने मातामहादिपदप्रक्षेपेण तदीय-ब्राह्मणद्वयासनोपर्यासनं दद्यात्। ततः प्रत्यासनं दीपस्थापनम्। ततो द्वितीयब्राह्मणहस्ते प्रथमब्राह्मणहस्तं दत्त्वा तत्र जलदानपूर्वकं गन्धादि दत्त्वा कुशयवजलान्यादाय मात्रादिपि-त्रादिमातामहादित्रयसम्बन्धिसत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इमानि गन्धपुष्पधूपदीपवासोऽलंक-रणताम्बूलानि वो नमः। अमुकगोत्राः नान्दीमुख्यः अस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुका-मुकदेव्यः इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः। अमुकगोत्राः नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्र-पितामहाः अमुकामुकशर्माणः इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः। अमुकगोत्रा नान्दी-मुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा अमुकामुकशर्माण इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः।

अन्नपरिवेषणम्। पात्रमालभ्य 'पृथिवी ते० जुहोमि स्वाहा' इति जपित्वाऽङ्गुष्ठमन्नेऽव-गाह्य 'इदमन्नमिमा आप इदमाज्यं हविः' इत्युक्त्वा 'मात्रादित्रयपित्रादित्रयमातामहादित्रय-संबन्धिनः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदमन्नं घृताद्युपस्करसहितं परिविष्टं परिवेष्यमाणं च द्विजेभ्यस्तृप्तिपर्यन्तममृतरूपं वो नमः' इत्युत्सृजेत्। एवमेव मात्रादिपात्रद्वयमालभ्यामुक-गोत्रा नान्दीमुख्योऽस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्य इदमन्नं घृताद्युपस्करसहित-ममृतरूपं वो नमः। एवमेव पित्रादिपात्रयोर्मातामहादिपात्रयोरपि संकल्पं कुर्यात्। ततो-ऽश्नत्सु पित्र्यमन्त्रवर्जं जपः। तृप्तान् ज्ञात्वाऽन्नं विकीर्य सकृत्सकृदपो दत्त्वा पूर्ववद्गायत्रीं जपित्वा मधुमतीर्मधुमध्विति च 'संपन्नम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टैः सह भुज्यताम्' इति तैरुक्ते ब्राह्मणानाचामयेत्। शिवा आपः सन्तु सौमनस्यमस्तु, अक्षतं चारिष्टं चास्तु, नान्दीमुख्यो मातरः प्रीयन्ताम्। नान्दीमुख्यः पि० न्ताम्। नान्दीमुख्यः प्र० न्ताम्। नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्। नान्दी० पितामहाः प्रीयन्ताम्। नान्दी० प्रपि० न्ताम्। नान्दी० मातामहाः प्रीयन्ताम्। नान्दी० प्रमा० प्रीयन्ताम्। नान्दी० वृद्धप्रमा० प्री० इति क्षीरयवजलानि दद्यात्। ततः प्राञ्जलिराशीः प्रार्थयेत्—'अघोराः पितरः सन्तु' 'सन्तु' इति ब्रह्मणाः 'गोत्रन्नो वर्द्धताम्। इति यजमानः, 'वर्द्धताम्' इति ते। 'दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् 'अभिवर्धन्ताम्' इति ते। 'वेदाः सन्ततिरेव च' 'अभिवर्द्धताम्' इति क्रमेणोत्तरे 'श्रद्धा च नो मा व्यगमत्।' 'मागात्।' 'बहु देयं च नोऽस्तु' 'अस्तु' इति प्रतिवचनम्। ततो मात्रादित्रयपित्रादित्रयमा-

(गदाधर०)

तामहादित्रयश्राद्धसंवन्धि-वैश्वदेविकश्राद्धप्रतिष्ठार्थममुकशर्मभ्यां भवद्भ्यामियं द्राक्षामलकार्द्रमूलकादिरूपा विष्णुदेवता दक्षिणा मया दत्ता' इति देवब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दत्त्वाऽमुकगोत्राणां नान्दीमुखीनां मातृपितामहीप्रपितामहीनाममुकामुकदेवीनां कृतैतदाभ्युदयिकश्राद्धप्रतिष्ठार्थममुकगो० दत्ता इति मात्रादिब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दत्त्वा अमुकगोत्राणां नान्दीमुखानां पितृ० नाममुकामुकशर्मणां कृतैतदाभ्युदयि० दत्ता इति पित्रादि० दत्त्वा पित्रादिपदस्थाने मातामहादिपदप्रक्षेपेण मातामहादिब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दद्यात्। ततो 'विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्' इत्युक्त्वा देवद्विजाभ्यां 'विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्' इति प्रत्युत्तरे दत्ते 'स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' इति सर्वान्प्रत्युक्त्वा 'स्वस्ति' इति तैरुक्ते ब्राह्मणान्प्रणिपत्य प्रसाद्य 'वाजेवाजेवत' इति मात्रादिवर्गत्रयद्विजपूर्वकं देवद्विजौ विसृज्य 'आमावाजस्य' इति विप्राननुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्याचामेत्। ततो मातृकादि विसर्जयेत्। जीवन्मातृकस्य न मातृपार्वणम्। जीवन्मातामहस्य न मातामहपार्वणम्। द्वारलोपात्। जीवत्पितृकस्तु 'येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्' इत्युक्तमेव। यदा तु पक्वान्नासम्भवस्तदा आमश्राद्धविधिना आमान्नेन कर्तव्यम्। आमान्नस्याप्यलाभे हिरण्येन कर्तव्यम्। ततः पत्नीयजमानयोरहतवस्त्रपरिधानम्। ततः सपत्नीकः प्राङ्मुख उपविश्याद्येत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा स्मार्ताग्निमहमाधास्ये इति संकल्पं कुर्यात्। 'आभ्युदयिकश्राद्धात्पूर्वं सङ्कल्पः' इति हरिहरः। 'श्राद्धोत्तरं' इति रेणुकः। वैकल्पिकावधारणम्। मन्थनाग्निः, उत्तरतः पात्रासादनम्। द्वे पवित्रे घृतस्थाली मृन्मयी, चरुस्थाली औदुम्बरी, पालाश्यः समिधः, प्राज्ञावाघारौ, कोण्योराज्यभागौ, दक्षिणा, पूर्णपात्रमित्यवधारणम्। हरिहरमते ब्रह्मवरणमरणिप्रदानं च। तत्रैवं—'ब्रह्मा अरणी आदायाधरारणिं पत्न्यै उत्तरारणिं यजमानाय प्रयच्छति। तौ च "आवसथ्याग्निसाधनभूते इमे अरणी आवाभ्यां परिगृहीते" इति परिगृह्णीतः'। अरणि प्रदानं स्मार्ते निर्मूलत्वादुपेक्षणीयम्। प्रदानाभावेऽपि धारणं भवत्येव 'अधरारणिं पत्नी बिभृयादुत्तरां पतिः' इति यज्ञपार्श्वपरिशिष्टात्। उक्तप्रकरेणारणिमानम्। अरणिपूजनम्। ततो यवोनचतुर्दशांगुलमानेन मेखलायुक्तवृत्तखरकरणमग्नेः 'सभ्यावसथ्ययोर्गार्हपत्यवत्कुण्डम्' इति निगमपरिशिष्टात्। यज्ञपार्श्वेऽपि वृत्तमेव कुण्डमुक्तम्। मेखला द्वादशांगुलोच्चा कार्या। ततः खरे परिसमूहनमुपलेपनमुल्लेखनमुद्धरणमभ्युक्षणमरणिपक्षेऽग्निमन्थनम्। तत्र यजमानः प्राङ्मुख ओविलीं धारयति प्रत्यङ्मुखी पत्नी मन्थनं करोति। पत्नीबहुत्वे 'सर्वाभिर्मन्थनम्' इति रेणुकः। पत्न्या मन्थनाशक्तौ ब्राह्मणेन केनचिन्मन्थनं कार्यम्। काष्ठैरग्नेः प्रज्वालनम्। खरे निधानम्। अथवा वैश्यगृहादग्निमाहृत्याग्नेः खरे स्थापनम्। ऋष्यादिस्मरणमत्र इति रेणुकगङ्गाधरहरिहराः। तद्विचारणीयम्। कर्मकाले प्रतिमन्त्रं स्मरणमुत पूर्वमेव स्मरणं कृत्वा कर्मारम्भः 'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति' इति सर्वानुक्रमण्यामुक्तत्वात्तत्तत्पदार्थज्ञानमात्रमपेक्षितं न तु कर्मकालोच्चारणं, यथार्थज्ञानम्। अस्मिन्नावसथ्याधाने त्वं ब्रह्मा भवेति ब्रह्मणो व्यपदेशः। दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्र ब्रह्मोपवेशनम्। अग्नेरुत्तरतः प्रणीताप्रणयनं, परिस्तरणं, पात्रासादनं, त्रीणि पवित्रच्छेदनानि, पवित्रे द्वे, प्रोक्षणीपात्रं वारणम्, ('वैकङ्कतम्' इति रेणुकः।) आज्यस्थाली, चरुस्थाली, संमार्गकुशाः, उपयमनकुशाः, समिधस्तिस्रः प्रादेशमात्र्यः, खादिरः स्रुवः, आज्यं, व्रीहितण्डुलाः, दक्षिणा पूर्णपात्रो वरो वा। पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीसंस्कारः, प्रत्येकं पात्रप्रोक्षणम्, प्रणीताग्न्योर्मध्ये प्रोक्षणीनिधानम्, आज्यनिर्वापः, चरुपात्रे प्रणीतोदकमासिच्य तण्डुलप्रक्षेपः। 'चर्वाज्ययोस्सहाधिश्रयणम्'

(गदाधर०)

इति पद्धतिकारः। दक्षिणत आज्यस्य। ब्रह्मण उत्तरतश्चरोः स्वस्य पर्यग्निकरणमुभयोः स्वस्यैव, स्रुवप्रतपनम्, संमार्गकुशैः संमार्जनम्, प्रणीतोदकेनाभ्युक्षणम्, पुनः प्रतपनम्, आज्योद्वासनम्, चरोरुद्वासनम्, आज्योत्पवनम्, अवेक्षणम्, अपद्रव्यनिरसनम्, प्रोक्षण्युत्पवनम्, उपयमनादानम्, तिष्ठतः समिधः प्रक्षेपः, प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणम्, प्रणीतासु पवित्रकरणम्, अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणाऽन्वारब्धः स्रुवेण होमः। मनसा पूर्वाघारः। ॐ प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये नममेति त्यागान्तेऽग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः। सर्वत्र त्यागान्ते द्रव्यप्रक्षेपः। ॐ इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय न मम। ॐ अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम। ॐ सोमाय स्वाहा इदं सो०। ततोऽष्टर्चहोमः— सर्वत्र होममन्त्रेषु अनाम्नातोऽपि स्वाहाकारः कार्यः। 'सर्वत्र मन्त्रवत्सु जुहोत्युपदेशात्' इत्युक्तत्वात्। 'ॐ त्वन्नो अग्ने० प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा' इदमग्नीवरुणाभ्याम्। 'ॐ सत्वं नो० एधि स्वाहा' इदमग्निवरुणाभ्याम्। 'ॐ इमं मे० चके०' इदं वरुणाय। 'ॐतत्वा० मोषीः स्वा०' इदं वरुणाय। 'ॐ येते शतं० स्वर्काः०' इदं वरुणाय' सवित्रे, विष्णवे, 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो, मरुद्भ्यः, स्वर्केभ्यश्चेति त्याग इति पद्धतिकाराः। वस्तुतस्तु देवेभ्य इति पदं विहायैव त्यागः। 'ॐ अयाश्चाग्ने० भेषजꣳ०, इदमग्नये न०। 'ॐ उदुत्तमं० स्याम०' इदं वरुणाय०। 'ॐ भवतन्नः० मद्यनः०' इदं जातवेदोभ्याम्, इदमग्निभ्यामिति वा त्यागः।

ततः स्थालीपाकहोमः—'ॐ अग्नये पवमानाय स्वाहा' 'ॐ अग्नये पावकाय स्वाहा' 'ॐ अग्नये शुचये स्वाहा।' 'ॐ अदित्यै स्वाहा'। सुगमास्त्यागाः। ततः पुनरष्टर्चहोमः। ततश्चरुशेषात् 'अग्नेय स्विष्टकृते स्वाहा' इदमग्नये स्विष्टकृते०। आज्येन 'अयास्यग्ने० विदः स्वाहा' इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः। 'भूः स्वाहा' इदमग्नये०। 'भुवः स्वाहा' इदं वायवे०। 'स्वः स्वाहा' इदं सूर्याय०। अथवा इदं भूः, इदं भुवः, इदं स्वः इति त्यागा इति वासुदेवभट्टाः। 'त्वन्नो अग्ने०' 'सत्वन्नो अग्ने०' 'अयाश्चाग्ने०' 'येते शतम्०' 'उदुत्तमम्०' त्यागाश्चोक्ताः। 'प्रजापतये स्वाहा' इदं प्रजापतये०। बर्हिर्होमः—स्वाहेति, इदं प्रजापतये नममेति त्यागः। ततोऽवत्तशेषप्राशनं, पवित्राभ्यां मार्जनं, पवित्रयोरग्नौ प्रक्षेपः। 'यदत्र विलिप्तं तन्नेद्बर्हिर्षाग्नेरसत्' इति लिङ्गात् पवित्रयोरुत्पवने लिप्तत्वात्। ब्रह्मणो दक्षिणादानं, प्रणीतानिनयनम्। एकब्राह्मणभोजनम्। ततः स्मृत्यन्तरोक्तब्राह्मणभोजनम्। 'अत्र मणिकावधानम्' इति हरिहररेणुकदीक्षितौ। तत्रायं क्रमः—मातृपूर्वमाभ्युदयिकमभ्र्यादानं 'देवस्य त्वा' इति, 'इदमहम्' इति अवटपरिलेखः, उत्तरपूर्वस्यां खननम्, पांसूद्वापः प्राच्याम्। अवटे कुशास्तरणम्। अक्षतारिष्टकानां चावापः, हरिद्रादीनां च। मणिकस्य मानं 'समुद्रोऽसि शम्भूः' इत्यन्तेन।

'आपो रेवतीः क्षयथाहिवस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्चस्थस्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वतीतद्गृणतेवयोधाः॥'

'आपोहिष्ठा' इति तिसृभिश्चोदकासेकः। ततो ब्राह्मणभोजनम्। आधाने पदार्थोपचारे नैमित्तिकहोमस्याभावः अग्न्यभावात्। नन्वस्ति मन्थनादूर्ध्वमग्निस्तत्र होमः स्यादिति चेन्नैवम्। आवसथ्यशब्दो हि संस्कारनिमित्तो न जातिनिमित्तो न योगनिमित्तो वा। संस्कारेषु सत्सु शब्दप्रयोगदर्शनात्। अतश्च ये पदार्था दृष्टार्था अदृष्टार्थाश्च पठितास्ते सर्वे आवसथ्याधानशब्दवाच्याः। एवं सति संस्कारैकदेशाभावेऽप्यनावसथ्यता। अतः सकलकर्मसमुदायावृत्तिरिति संप्रदायः। तथा च कारिकायाम्—

(गदाधर०)

'अग्न्याधेयस्य मध्ये च विलिष्टं किञ्चिदाप्यते। प्रायश्चित्तं विद्येत आधानावृत्तिरिष्यते ॥
तत्राग्निमन्थनादूर्ध्वं विलिष्टे मन्थनादितः। आवर्तेत इदं कर्म पूर्वं च नान्दिकं विना ॥' इति।

अत्र वदामः—'कश्चित्संस्कारोऽङ्गवान्भवति यथाऽऽज्याहुतिहोमे आज्याधिश्रयणाद्यङ्गम्' चर्वाहुतौ चरुसंस्काराः पर्यग्निकरणादयः। 'यस्यैवाङ्गिनोऽङ्गोपचारस्तस्यैवावृत्तिर्युक्तरूपा न सकलस्याधानस्य' इति। 'न तु प्रायश्चित्तम्' इति कर्कोपाध्यायाः। युक्तरूपं चैतत्।

इत्यावसथ्याधानम्।

आधानमध्ये यदा पत्नी रजस्वला तदा विशेषः कारिकायाम्—

'अर्वाक् पूर्णप्रदानाच्चेदाधाने स्त्री रजस्वला। तच्छुद्धौ पुनराधानं मातृपूजनपूर्वकम् ॥
स्यातां ते अरणी तत्र योनिः सैवोत्तरा तथा। आधानानन्तरं चेत्स्याद्रजोयुक्ता कथञ्चन ॥
मणिकादि न कर्तव्यमृषिदेवोऽब्रवीदिदम्। आधानग्रहणादूर्ध्वं न स्यात्तत्रैव सूतकम् ॥
मणिकादि न कर्तव्यं कुर्यादेकादशेऽहनि। बौधायनमतादेवं भारद्वाजमतादपि ॥"

अत्र प्रायश्चित्तं देवभाष्ये—

"पत्न्यां रजस्वलायां सूतिकायां वा प्रारब्धं कर्म क्रियत एव" इति गदाधरः। तथा त्रिकाण्डमण्डनः—

"रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा। नित्यं नैमित्तिकं कुर्यात् काम्यं कर्म न किञ्चन ॥
आधानं पुनराधानं पशुः सौत्रामणी तथा। चातुर्मास्यानि सोमश्च तथैवाग्रयणक्रिया ॥
अकाम्यत्वेऽपि नैतेषां सूतकादावनुष्ठितिः। प्रक्रान्तेष्वपि चैतेषु सूतकादिसमुद्भवे ॥
कर्तव्यान्येव ह्येतानि वारितान्यप्यशेषतः ॥" इति।

अतः प्रारब्धस्य सूतकरजोदोषादावप्यनुष्ठानमेव युक्तम्, न शुद्धिप्रतीक्षणम्। कारिकाकारमते तु आधानं न भवतीत्युक्तमेव पूर्वम्।

अथ पुनराधाननिमित्तानि लिख्यन्ते—

'अग्नावनुगते यस्य होमकालद्वयं व्रजेत्। उभयोर्विप्रवासे वा लौकिकोऽग्निर्विधीयते ॥
अनो विना समारूढमूर्ध्वं शम्या परासनात्। हुतोऽग्निर्लौकिको ज्ञेयः श्रुतौ सर्वत्र दर्शनात् ॥
कुरुक्षेत्रादितीर्थानां गमने देशविप्लवे। समारोपं विनैवाग्नीन्नोद्वहेदुर्विपश्चितः।
आरोप्याग्नीनरण्योः स्वानुदवस्येत्सहाग्निभिः ॥
दृष्टोऽग्निर्यदि नश्येत मथ्यमानो हुताशनः। ग्रामात् सीमान्तरं गच्छेत्प्रत्यक्षो हव्यवाहनः।
अहुतो वत्सरं तिष्ठेदुदकेन शमं गतः। शिक्येनोद्वाहयेदग्नीन्पुनराधानमर्हति ॥
अग्निहोत्रेण रहितः पन्थानं शतयोजनम्। आहिताग्निः प्रयायाच्चेदग्निहोत्रं विनश्यति ॥
अब्दं स्वयमजुह्वन्यो हावयेदृत्विगादिना। तस्य स्यात्पुनराधेयं पवित्रेष्टिरथापि वा ॥
विहायाग्निं सभार्यश्चेत्सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति। होमकालात्यये तस्य पुनराधानमिष्यते ॥
अरण्योः क्षयनाशाग्निदाहेष्वग्निं समाहितः। पालयेदुपशान्तेऽस्मिन्पुनराधानमिष्यते ॥
ज्येष्ठा चेद्बहुभार्यस्य ह्यतिचारेण गच्छति। पुनराधानमत्रैक इच्छन्ति न तु सूरयः ॥
दाहयित्वाऽग्निभिर्भार्यां सदृशीं पूर्वसंस्थिताम्। पात्रैश्चाथाग्निमादध्यात्कृतदारोऽविलम्बतः॥
दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः। आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥

'जीवन्त्यामपि ज्येष्ठायां द्वितीयपरिणये कृते। उत्सर्गेष्टयाऽग्नीनुत्सृज्यान्यया सह पुनरादध्यात्'—इति स्मृतिचन्द्रिकायाम्।

भार्यायां विद्यमानायां द्वितीयामुद्वहेद्यदि। तदा वैवाहिकं कर्म कुर्यादावसथ्येऽग्निमान् ॥
उपघातः क्रियालोप उपेक्षा च प्रमादतः। चतुर्विधमिदं प्रोक्तं पुनराधानकारणम् ॥

(गदाधर०)

प्रसिद्धः कर्मणां लोप उपघातोऽन्त्यजादिना। उपेक्षणं प्रवासादि प्रमादोऽग्नेरधारणम् ॥
स्पृष्टोऽग्निर्यदि चाण्डालैरुदक्यादिभिरेव वा। उपघातेषु सर्वेषु पुनस्त्वेति समिन्धनम् ॥
यजमानश्च पत्नी च उभौ प्रवसितौ यदा। आहोमान्न निवर्तेत पुनराधानमर्हति ॥
यदोभावप्यतिक्रम्य सीमां प्रत्यागतौ पुनः। होमकालमतिक्रम्य तदा नश्यन्ति वह्नयः ॥
विनाऽग्निभिर्यदापत्नी नदीमम्बुधिगामिनीम्। अतिक्रामेत्तदाग्नीनां विनाशः स्यादिति श्रुति ॥
पत्न्यन्तरेऽथवा पत्यौ हुताशनसमीपगे। तदा पत्नी यथाकाममतिक्रामेन्नदीमपि ॥
पत्नी सीमामतिक्रान्ता यजमानो गृहे यदि। आहोमाद्यदि नागच्छेत् पुनराधानमर्हति ॥
एकाकिनी यदा पत्नी वह्निमादाय गच्छति। तत्र नाशोऽपरे त्वाहुर्भयाद्याते न दुष्यति ॥
रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा। प्रवसन्नग्निमान् विप्रः पुनराधानमर्हति ॥
बह्वीनामथवैकस्यामुदक्यायां तु न व्रजेत्। एकादशे चतुर्थेऽह्नि गन्तुमिच्छेन्निमित्ततः ॥
त्रयीं मुक्त्वा तु यो लोभात् प्रवसेत्पर्वसन्धिषु। करोति पुनराधानं प्रायश्चित्तमृणाहते ॥
नाग्निकार्यस्य वेलायां प्रवसेन्न च पर्वणि। न विना च निमित्तेन क्रीडाद्यर्थं तु न व्रजेत् ॥
नदीसंतरणेऽग्नीनां सीमातिक्रमणे तथा। सर्वत्राद्यन्तसीम्नोर्वा स्वामिस्पृष्टाः स्युरग्नयः ॥
प्रत्यक्षमरणिद्वारं चान्यथाऽग्निविनाशनम्। आत्मारम्भणपक्षे तु नान्वारम्भणमिष्यते ॥
तत्र नान्वारभेदग्निं पुनराधिरुदाहृता। न क्वाप्यारम्भणं किंचिद्गौगाक्यादिनिबन्धनात् ॥
उदक्या चेद्भवेत्पत्नी प्रसूता प्रवसत्यपि। अन्वारम्भविकल्पत्वात् पुनराधिर्न तन्मतात् ॥
ज्येष्ठाऽन्वारभते वह्निं बहुनार्यस्य नेतराः। न रुच्येकाकिनी पत्नी प्रयायादग्निभिः सह ॥
राष्ट्रभ्रंशादिसंप्राप्तावुचितं यानमीदृशम्। अन्यथा प्रवसन्त्यां हि वह्नयो लौकिकाः खलु ॥
राष्ट्रभ्रंशादिगमने प्राप्ते देवे मनस्वतीम्। जुहुयाच्चतुरात्तेन स्मार्तेऽग्नौ सर्वमीरितम् ॥
सायंप्रातर्हुते सर्वमेव स्याद्गमनेऽन्वहम्। यस्त्वग्न्याधेयमात्मार्थं कृतवान् मृतभार्यकः ॥
पत्न्या विरहितो वह्नीन्यथाकामं स निर्हरेत्। होमद्वयात्यये दर्शपूर्णमासात्यये तथा ॥
पुनरेवाग्निमादध्यादिति भार्गवशासनम्। बहुधा विहृते ह्यग्निरावसथ्यात् कथंचन ॥
यावदेकोऽपि तिष्ठेत तावदन्यो न मथ्यते। वैश्वदेवात्तथा होमात् प्राग्ज्ञेयं नैव मन्थनम् ॥
एकेनान्तरितो वह्निरावसथ्यस्तु मथ्यते। आवसथ्यात्तु कर्मार्थे योऽग्निरुद्ध्रियते क्वचित् ॥
पूर्वेण योजयित्वा तं तस्मिन् होमो विधीयते ॥ ३५ ॥

चतुर्विंशतिमते—

'प्रातर्होमं तु निर्वृत्य समुद्धृत्य हुताशनात्। शेषं महानसे कृत्वा तत्र पाकं समाचरेत् ॥
ततोऽस्मिन्वैश्वदेवादिकर्म कुर्यादतन्द्रितः' ॥ ३७ ॥

बह्वृचकारिकायाम्—

'नित्यपाकाय शालाग्नेरेकदेशस्य कार्यतः। पाकार्थमुल्मुकं हृत्वा तत्र पक्त्वा महानसे ॥
वैश्वदेवोऽअन्यगारे स्यात् पाकार्थोऽग्निश्च लौकिकः। भूरिपाको भवेद्यत्र श्राद्धादावुत्सवेषु च ॥
कृते च वैश्वदेवेऽथ लौकिको नैव कार्यतः। होमेनान्तरितं केचिदाहुः सर्वत्र लौकिकम् ॥
न तत्समञ्जसं तेषामुपयद्धोमदर्शनात्। समासं चोल्मुकस्याहुरन्यगारे महानसात् ॥
पाकान्ते वैश्वदेवात्प्राक् चैतदप्युपपद्यते। आहृते ह्युल्मुके पाकः शामित्रे दृश्यते पशौ ॥
वचनादाहुतिः सा तु लौकिकस्त्वपवर्गतः। दीपको धूपकश्चैव तापार्थं यश्च नीयते ॥
सर्वे ते लौकिका ज्ञेयास्तावन्मात्रापवर्गतः। पचनाग्नौ पचेदन्नं सूतके मृतकेऽपि वा ॥
अपक्त्वा तु वसेद्रात्रिं पुनराधानमर्हति। अरण्योर्दग्धयोर्वाऽपि नष्टयोः क्षीणयोस्तथा ॥

(गदाधर०)

आहृत्यान्ये समारोप्य पुनस्तत्रैव निर्मथेत् । अरण्योरल्पमप्यङ्गं यावत्तिष्ठति पूर्वयोः ॥
न तावत् पुनराधानमन्यारण्योर्विधीयते । पूर्ववं योनिः पूर्वाकृत् पुनराधानकर्मणि ॥
एकाकिनी यदा पत्नी कदाचिद् ग्राममाव्रजेत् । होमकालेऽभिसंप्राप्ता न सा दोषेण युज्यते ॥
अथ तत्रैव निवसेद् ग्रामं गत्वा प्रमादतः । लौकिकोऽग्निः स विज्ञेय इत्येषा नैगमी श्रुतिः ॥
भार्यायां प्रोषितायां चेदुदेत्यर्कोऽस्तमेति वा । तत्र स्यात्पुनराधेयमन्ये त्वाहुरिहान्यथा ॥
पत्न्याः प्रवासविषये पुनराधिरुदाहृतः । वाक्यंमनीषिभिः प्रोक्तैरेकभार्यस्य सेष्यते ॥
बहुभार्यस्य ज्येष्ठा चेत्प्रवसेत्पुनराहितिः । ज्येष्ठा चेदग्निसंयुक्ता गच्छन्त्यन्या यथारुचि ॥
यजमानेन सहिता यद्वा ता एव केवलाः । एकस्यामप्यतिष्ठन्त्यामग्निहोत्रसमीपतः ॥
पतिस्तिष्ठति चेदग्निनाशो नेत्यपरे जगुः । यदा सीमामतिक्रम्य रात्रौ तत्रैव वत्स्यति ॥
अगृहस्य प्रयाणं यत्प्रवास उच्यते बुधैः । यत्तु नारायणेनोक्तं ग्रासाच्चाग्निसमन्वितात् ॥
गत्वा ग्रामान्तरे वासः प्रवासोऽप्ययमीदृशः । ग्रामान्तरे नगर्यां वा पल्ल्यां वाऽन्यत्र वा क्वचित् ॥
सीमामतीत्य चेद्रात्रौ वासः प्रवसनं स्मृतम् । प्रवसेद्धनसंपत्त्यै न तीर्थाय कदाचन ॥
इति कूर्मपुराणोक्तं तथा बौधायनेन च । सहाग्निर्वा सपत्नीको गच्छेत्तीर्थानि मानवः ।
पुराणवचनात्साग्नेः प्रवासोऽस्तीति केचन । न कुर्युरग्न्युपस्थानं प्रवत्स्यन्त्योऽपि योषितः ॥
त्यागाच्च प्रोषिताः कुर्युरश्नन्त्येव सधर्मकम् । आगतोपस्थितिं चापि स्त्रीणां नेच्छन्ति सूरयः ॥
सगृहस्य प्रयाणं यत्तत्पत्न्यग्निसमन्वितम् । क्लिष्टश्चेत्स तु वृत्त्यर्थमनसा सह गच्छति ॥
अनस्यारोपयेदग्नींस्तत्पात्राण्यपि तत्र च । स्वाङ्गेन वा नयेदग्निं कात्यायनमतादपि ॥
नयेद्वा ब्राह्मणस्त्वन्यो यो याज्येन समन्वितः । प्रत्यक्षेण नयन्नग्निमुच्छ्वसेच्चेद्विनश्यति ॥
यदि वाऽनुच्छ्वसन्नीत्वा निधायोच्छ्वस्य तं पुनः । हरेदनुच्छ्वसन्नेव नश्येत्त्रिर्हरणेऽनलः ॥
शकटेनापि दूरं वा हरेदेवं यथारुचि । स्वाङ्गेनैवाथ वा शम्यापरासात्प्राङ्नयेच्छ्वसन् ॥
कर्मार्थे हरणेऽग्नीनां नानुच्छ्वासादि चोद्यते । कात्यायनमतात्केचिच्छ्वसन्तोऽप्यति दूरतः ॥
प्रत्यक्षेण नयन्त्यग्नीन् शकटेन विनापि तु । आधानावसरे जाते यद्याधातुरुपद्रवः ॥
अवृद्धिर्नाम सा प्रोक्ता तत्र स्यात्पुनराहितिः । उद्धातेऽग्नौ विहाराद्वाङ्मथ्यमानेऽप्यजन्मनि ॥
लोकाग्न्यादावनिक्षिप्तेऽभ्युदयेऽस्तमयेऽपि वा । विनष्टहेतुनाऽनेन जातवेदा विनश्यति ॥
विहारोत्तरकालं वा नष्टौ पूर्वापरानलौ । शेषं पूर्वोदितं सर्वं तत्राप्यग्निर्विनश्यति ॥
कालात्ययत्वे स्वनिर्मथ्य लोकाग्न्यादौ क्षिपेद्यदि । उदयास्तमयात्पूर्वं कर्कोऽत्रानाशमिच्छति ॥
लोकाग्न्यादावलब्धेऽपि पुरार्कास्तमयोदयात् । मन्थनारम्भमात्रेण नाशो वृद्धैर्निवारितः ॥
उभयोर्नाशविज्ञानादूर्ध्वमर्कोऽस्तमेति चेत् । कर्कोऽग्निनाशमाचष्टे पश्चाज्ज्ञातेऽपि नेच्छति ॥
एकयोनित्वपक्षेऽपि सर्वा सर्वाग्न्यनुगमो यदि । उदयास्तमये तत्र नाशमेकेन तूभयोः ॥
अथ चेदुभयोर्वातेऽभ्युदयास्तमयात्पुरा । परोऽग्निरेको जातश्चेत्तावताऽपि न नश्यति ॥
तदनुत्पत्तिमात्रेण स्यादग्न्याधिर्न पूर्वयोः । मन्त्रं विना समारूढोऽरण्योरात्मनि वा यदि ॥
तत्र ज्वलनशान्तौ स्यादसमारूढशान्तिवत् । आरूढोऽपि यथाशास्त्रमवरूढो न शास्त्रतः ॥
तृतीये होमकालेऽथ संप्राप्ते पुनराहितिः । यदा तु लौकिकाग्न्यादिर्निधाय हवनं तदा ॥
हुतेऽपि लौकिकाग्न्यादौ मथ्यमानोऽप्यनन्तरम् । द्वितीयाद्वा तृतीयाद्वा होमकालात्पुरा यदि ॥
अग्निर्न जायते तत्र पुनराधेयमाचरेत् । हुतेषु पञ्चहोमेषु पक्षत्रयमनन्तरम् ॥
कर्तव्यं पुनराधेयं मथ्यमानो हुताशनः । दृष्टमात्रोऽनुगच्छेच्चेत्तत्र तस्य विनाशनम् ॥
शतशोऽनुगमे चान्ये पुनर्निर्मथ्य जप्यते । नष्टे मथितमात्रे वा समारोपयजुर्जपेत् ॥
पुनर्निर्मथ्य जप्तव्यं यजुस्तूपावरोहणम् । जलेन हेतुना वह्निरुपशान्तो यदा भवेत् ॥

(गदाधर०)

कर्तव्यं पुनराधेयं यज्ञपार्श्वे निरूपितम् । तदेव पुनराधेयमग्नावनुगते सति ॥
असमाधाय चेत्स्वामी सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति । श्वशूकररासभकाकश्वगालैः कुक्कुटमर्कटशूद्रैः ॥
अन्त्यजपातकिभिः कुणपैर्वा सूतिकयापि रजस्वलया वा ।
रेतोमूत्रपुरीषैर्वा पूयाश्रुश्लेष्मशोणितैः ॥
दुष्टास्थिमांसमज्जाभिरन्यैर्वापि जुगुप्सितैः । आरोपितारणिस्पर्शे कृतेऽग्नौ स्पर्शनेऽपि वा ॥
आत्मारूढेषु मज्जेद्वा वदेद्वा पतितादिभिः । अथवा योषितं गच्छेदनृतौ काममोहितः ॥
यदन्त्येषु निमित्तेषु केचिदग्निविनाशनम् । तत्रारणिगते वह्नौ नष्टे स्यात्पुनराहितिः ॥
इतरेषु निमित्तेष्वग्न्याधेयं परिचक्षते । यद्वा सर्वोपघातेषु पुनस्त्वेति समिन्धनम् ॥
द्रव्यस्थाग्न्युपघातेषु द्रव्यशुद्धिः समिन्धने । आरोपितारणी चोभे एका वा यदि नश्यति ॥

(समिन्धनं 'पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसव' इति मन्त्रेण समिद्धस्याप्यग्नेः पुनरिन्धनप्रक्षेपेण प्रदीप्ततरकरणम्) ।

तत्राग्न्याधेयमिच्छन्ति पुनराधेयमेव वा । इत्यनारोपितारण्योः क्षये ग्राह्ये नवे पुनः ॥
तदलाभे यदोद्वापादत्र स्यात्पुनराहितिः । शूद्रोदक्यान्त्यकाकैश्च पतितामेध्यरासभैः ॥
अनारूढारणिस्पर्शे ते विहायान्ययोर्ग्रहः । भवतत्रः समेत्यप्सु मज्जयेद् दूषितारणी ॥
एकारण्येव दुष्टा चेत्तामेवाप्सु निमज्जयेत् । तत्रान्यारणिलाभात्प्रागुद्वाते पुनराहितिः ॥
काष्ठशुद्ध्या विशोध्यैं वा त्यजेद्दोषेऽतिसन्तते । नष्टायामरणौ यावदग्निस्तिष्ठति वेश्मनि ॥
तावद्धोमादिकं कृत्वा तन्नाशे पुनराहरेत् । प्रागादित्योदयाद्धोमं संकल्प्य न जुहोति चेत् ॥
अग्न्याधिः पुनराधिर्वा नोभयं स्वाम्यसन्निधौ । नाशापहारावग्नीनां यद्वाऽऽरूढारणेर्यदा ॥
कुर्याच्च पुनराधेयमिति बौधायनोऽब्रवीत् । अत्रैतेषु निमित्तेषु नष्टानां पुनराहितिः ॥
स्थितानुत्सृज्य चान्येषु पुनराधेयमिष्यते । अग्निहोत्रं च नित्येष्टिः पितृयज्ञ इति त्रयम् ॥
कर्तव्यं प्रोषिते पत्यौ नान्यत्स्वामिक्रियान्वितम् । नैमित्तिकास्तु जातेष्टिर्गृहदाहेष्टिपूर्विकाः ॥
स्वाम्यागमनपर्यन्तमुत्कृष्टव्या ह्यशेषतः । अग्न्याधेयादिकं प्राप्तमुभयानुगमादिना ॥
स्वाम्यागमनपर्यन्तमुत्कृष्टव्यामसंशयम् । मथित्वा पावकं सर्वप्रायश्चित्तं विधाय च ॥
मित्रायेत्यादिभिर्हुत्वा द्वादशानुगमाहुतीः । अग्निहोत्रं यथाकालं नित्येष्टिं च समाचरेत् ॥
आस्वाम्यागमनात्तिष्ठेदागत्याथादधीत सः । एवं केशवसिद्धान्तात् प्रोषितस्याग्निषु क्रियाः ॥

अवश्यम्भाविनीत्वत्वाऽधुना वक्ष्ये मतान्तरम् ।
काम्याः क्रिया न कर्तव्याः स्वामिनि प्रोषिते सति ॥

नित्यनैमित्तिकीः कुर्यात् प्रवसत्यपि भर्तरि । तत्रापि नैव कर्तव्याः क्रियाः सोत्तरवेदिकाः ॥
आधानपुनराधाने न स्तः पत्यौ प्रवासिनि । उभयानुगमादौ तु प्राप्तेऽग्न्याधेयतः पुरा ॥
न किंचिदग्निहोत्रादि कर्तव्यमिति दर्शने । रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा ॥
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् काम्यं कर्म न किञ्चन । आधानं पुनराधानं पशुः सौत्रामणी तथा ॥
चातुर्मास्यानि सोमश्च तथैवाग्रयणक्रिया । अकाम्यत्वेऽपि नैतेषां सूतकादावनुष्ठितिः ॥
प्रक्रान्तेष्वपि चैतेषु सूतकादिसमुद्भवे । कर्तव्यान्येव चैतानि वारितान्यप्यशेषतः ॥
जातोऽपि वा विना भस्मस्पर्शं जातजपं विना । प्रायश्चित्तं विना काष्ठमन्थने चोदितं विना ॥
लौकिकः स्यादतो लुप्तादारभ्यावर्तयेत्पुनः । यदि नावर्तयेद्वह्नौ तादृश्येव जुहोति च ॥
हूयमानेऽपि लुप्येत होमकालाष्टकात् परम् । भस्मस्पर्शं विनाप्येके लौकिकत्वं न मन्यते ॥
होमाष्टकाधिके लुप्ते ध्रुतोऽप्यग्निर्विनश्यति । अतोऽल्पहोमलोपेऽपि यद्युद्वापो विनश्यति॥

(गदाधर०)

आधानपुनराधाने विकल्पेनात्र चोदिते । लुप्ते होमद्वये प्राह लौगाक्षिरनलाहितिम् ॥
ज्वलत्स्वग्निषु कर्तव्या तन्तुमत्येव केवला । आपद्यग्निषु दीप्यत्सु मासार्धं चेन्न हूयते ॥
सर्वहोमानतिक्रान्तान्पश्चान्ते पञ्चहोमवत् । समस्य जुहुयात्पश्चादिष्टिस्तन्तुमती भवेत् ॥
न तत्र पुनराधेयमिति कौषीतकिश्रुतेः । वत्सरं वत्सरार्द्धं वा होमलोपे मतान्तरम् ॥
आपत्काले न नश्यन्ति दीप्यन्ते चेद्धुताशनाः । पञ्च कार्याः पुरोडाशा होमे लुप्तेऽर्द्धवत्सरम् ।
पथिकृत्प्रथमो ज्ञेयः पावकः शुचिरेव च । व्रतपतिस्तन्तुमांश्चाग्नेर्देवतागुणाः क्रमात् ॥
सप्त कुर्यात्पुरोडाशान् होमे लुप्ते तु वत्सरम् । पवमानः पावकश्च शुचिः पथिकृदित्यपि ॥
वैश्वानरो व्रतपतिस्तन्तुमानिति सप्तमः । विशेषतोऽग्निरेव स्याद्देवताऽत्र यथाक्रमम् ॥
एकारम्भपरार्द्धान्तविच्छेदेप्यविशेषतः । मनस्वतीं व्रतयुतां नाधानमनले सति ॥
इयमापत्सु घोरासु मिलितासूपयोच्यते । द्वादशाहाहुतिच्छेदे कुर्युरन्ये मनस्वतीम् ॥
अरण्योः क्षयनाशाग्निदाहेष्वग्निं समाहितः । पालयेदुपशान्तेऽस्मिन्पुनराधानमिष्यते ॥
एकारण्यां विनष्टायामस्ति चेदितराऽरणिः । तां छित्वा मन्थनं प्रोक्तं भाष्ये बौधायनीयके ॥
अरणी मथनाशक्ते जन्तुभिर्मथनेन वा । स्यातां चेदरणी नूतने ग्राह्ये शास्त्रोक्तलक्षणे ॥
श्वोभूतेऽनुष्ठिते दर्शे तस्मिञ्जीर्णारणिद्वयम् । शकलीकृत्य पाश्चात्ये वह्नौ निक्षिप्य दीपयेत् ॥
ततो दक्षिणहस्तेन नूतनामुत्तरारणिम् । गृहीत्वा सव्यहस्तेन गृह्णीयादधरारणिम् ॥
ते उभे अरणी तत्र दीप्तेऽग्नौ धारयन् जपेत् । उद्बुध्यस्वाग्न इत्येतदयन्ते योनिरित्यपि ॥

('उद्बुध्यस्वाग्ने प्रविशस्व योनिमन्यां देवयज्यायै वोढवे जातवेदः । अरण्योररणिमनुसंक्रमस्व जीर्णां तनुमजीर्णया निर्णुदस्व' इति प्रथमो मन्त्रः ।)

मन्थनस्यावृतासम्यङ् मथित्वाऽग्निं विहृत्य च । विलाप्योत्पूयदर्भाभ्यां स्रुच्यादाय चतुर्घृतम् ॥
जुहोत्याहवनीयेऽग्नौ मनस्वत्या घृतं तथा । इष्टिं तन्तुमतीं कुर्याच्छरावं दक्षिणां ददेत् ॥
वृत्तं प्रादेशमात्रं तु शरावं निगमोदितम् । इत्यनारोपितारण्योः क्षये ग्राह्ये नवे पुनः ॥
तदलाभे यदोद्वापेत्तदा स्यात्पुनराहितिः । कामे निमित्तयोगे वा पुनराधेयमिष्यते ॥
निमित्तेषु यथायोगमाधानमपि वा भवेत् । तत्र येषु निमित्तेषु श्रङ्गग्राहिकया विधिः ॥
तत्रैव पुनराधेयमन्यथाऽऽधानमिष्यते । अन्यत्राप्यपरे प्राहुः पुनराधिर्विकल्पतः ॥
यद्वित्तं जीवनायालं क्षुद्रं चास्यैकवत्सरम् । तन्नाशे पुत्रमर्त्यानां ज्ञातीनामवरोधने ॥
अङ्गनाशेऽङ्गनानाशे पुनराधानमिष्यते । ज्यानिः सर्वस्वहानिः स्यात् स्पष्टं माध्यन्दिनिश्रुतेः ॥
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो विमत्सरः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेत ह कथंचन ॥
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजां पशून् । हन्त्यल्पेन धनेनैव विप्रोऽनल्पधनो यजन् ॥

इति पुनराधानपुनराधेययोर्निमित्तानि ।

अथ पुनराधाने पदार्थक्रमः

तत्र प्रमादात् त्रिरात्रमग्नित्यागे प्राणायामशतं, विंशतिरात्रे एकदिनोपवासः, मासद्वये त्रिरात्रमुपवासः अब्दे प्राजापत्यकृच्छ्रः, एवं त्यागानुसारेण प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनराधानम् । आलस्यादिना बुद्धिपूर्वकमग्नित्यागे तत्तत्कालानुसारेणैन्दवादि प्रायश्चित्तम् । 'द्वादशाहपर्यन्तं त्रिरात्रमुपवासः, मासपर्यन्तं द्वादशरात्रमुपवासः अब्दपर्यन्तं मासं पयोव्रतं, द्विवर्षपर्यन्तं चान्द्रायणं, त्र्यब्दपर्यन्तं चान्द्रायणं सोमायनं च, तदूर्ध्वमब्दकृच्छ्रं, धनिनो गोदानं च' इति प्रयोगपारिजाते । स्मृत्यर्थसारे तु—'द्वादशाहातिक्रमे त्र्यहमुपवासः, मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः, संवत्सरातिक्रमे मासमुपवासः पयोभक्षणं वा' इति

(गदाधर०)

विशेषः। एवं कालविलम्बे संकल्पपूर्वकं प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनराधानम् । यत्र तु येन केनचिन्निमित्तेनाग्निनाशः कालविलम्बश्च नास्ति, तत्र प्रायश्चित्तमकृत्वैव पुनराधानम् । नित्यक्रियां विधाय देशकालौ संकीर्त्य—'एतावन्तं कालमावसथ्याग्निविच्छेदजनितप्रत्यवायपरिहारार्थमेतावत्प्रायश्चित्तममुकप्रत्याम्नायत्वेनाहं करिष्ये' इति सङ्कल्पः। 'लुप्तानां होमानां तण्डुलादिद्रव्यं ब्राह्मणाय संप्रददे' इति हौम्यं दद्यात् । 'सायंप्रातर्होमानां तथा दर्शपूर्णमासस्थालीपाकानां संपत्तिपर्याप्तं व्रीह्यादि द्रव्यमाज्यं च दद्यात्' इति प्रयोगरत्ने। ततः शुचौ काले शुचिराचान्तः प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा 'विच्छिन्नावसथ्यस्य पुनराधानं करिष्ये' इति संकल्पः। नान्दीश्राद्धाभावः। खरे पञ्चभूसंस्कारादिब्राह्मणतर्पणान्तमाधानवत् सर्वं कार्यम्।

अथ सभार्यस्य प्रवासप्रसक्तावग्निसमारोपविधिः

प्रातर्होमानन्तरमरणिद्वयम् 'अयन्ते योनिः' इति मन्त्रेणावसथ्ये प्रतपतीत्यरणिपक्षे समारोपः। आहरणपक्षे तु—'अयन्ते योनिः' इति मन्त्रेणाश्वत्थसमिधमावसथ्ये प्रतपति। अथवा 'या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मानमवच्छावसूनि कृण्वन्नस्मेनर्यापुरूणि यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि' इति मन्त्रेण पाणी प्रतप्यात्मनि समारोपयेत्। तत्र प्रादुष्करणकाले अरणी समारोपे अरणी निर्मथ्य 'प्रत्यवरोहजातवेदः पुनस्त्वं देवेभ्यो हव्यं वह नः प्रजानन्। प्रजां पुष्टिं रयिमस्मासु धेह्यथा भव यजमानाय शंय्योः—इत्यनेन खरेऽग्निस्थापनम्। अश्वत्थसमित्समारोपणे वैश्यादिगृहादग्निमाहृत्य खरे पञ्चाग्न्यर्थान्संस्कारान्कृत्वाऽग्निं स्थापयित्वा 'प्रत्यवरोह' इति मन्त्रेण तां समिधमग्नौ निदध्यात्। आत्मसमारोपपक्षे सर्वदाऽस्पृश्यस्पर्शनं जले निमज्जनं स्नानं स्त्रीगमनं चाकुर्वन्मूत्रपुरीषोत्सर्गे शौचमकृत्वा चिरकालमतिष्ठंश्च होमकाले आत्मसमारूढमग्निमुच्छ्वासरूपेण 'प्रत्यवरोह' इति मन्त्रेण लौकिकाग्नौ निदध्यात्। एवं यथाधिकारमग्निं प्रतिष्ठाप्य होमं कुर्यात्। इदं समारोपणं द्वादशरात्रपर्यन्तमेव कुर्यात् इति प्रयोगरत्ने। 'कातीयानां त्वरणिसमारोपः श्रौते दृष्टः। तद्वत्स्मार्तेऽपि कार्यः, उक्तत्वात्' इति शिष्टाः। समित्समारोपणेऽपि 'अयं ते योनिः' इति मन्त्रेण समारोप्य 'प्रादुष्करणकाले लौकिकमग्निं संस्थाप्य तत्र तूष्णीं समिधमादध्यात्' इति वृद्धाः। वस्तुतस्तु कातीयानामपि समित्समारोपः शाखान्तरोक्त एव भवति। स्वशाखायां समित्समारोपस्यानुक्तत्वात्।

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

तृतीया कण्डिका

षडर्घ्या भवन्ति ॥ १ ॥ आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति ॥ २ ॥ प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः ॥ ३ ॥

(सरला)

प्राक्कथन—विवाह के समय गृह्य अग्नि की स्थापना होती है। यह बतला कर अब दार (स्त्री) ग्रहण किस प्रकार किया जाय-यह बतलाते हैं। उसी प्रसंग में वर के अर्घ्य-दान को कहते हुए अर्घ्य का प्रसंग आ जाने से जितने भी अर्घ्य—योग्य पुरुष हैं; उन्हें भी बतला देते हैं। चौथे सूत्र के बाद से अर्घ्य-विधि वर्णित है। दही, घी और मधु-तीनों को एक में मिलाकर रखते हैं। इसे मधुपर्क कहते हैं। अर्घ्यादिक पुरुषों की यतः इससे पूजा होती है; अतः इसे मधुपर्क-विधि भी कहते हैं। वस्तुतः कोश के अनुसार 'मूल्य और पूजाविधि' के अर्थ में अर्घ शब्द का प्रयोग होता है।

व्याख्या—आचार्यः = उपनीत शिष्य को वेद पढ़ाने वाले [आचार्य कहे जाते हैं।]; ऋत्विक् = यज्ञीय विधि का संपादन करने वाले; वैवाह्य[1]: = विवाह के समय वर; राजा = राज्याभिषेक विधि से अभिषिक्त राजा; प्रियः = मित्र; स्नातकः = समावर्तित ब्रह्मचारी; इति = ये; षट् = छः पुरुष; अर्घ्याः = मधुपर्क-विधि से पूज्य; भवन्ति = होते हैं ॥१-२॥ [इनका]; प्रति संवत्सरान् = प्रत्येक वर्षों में; अर्हयेयुः = मधुपर्क विधि से पूजन करना चाहिए ॥ ३ ॥

हिन्दी—आचार्य, ऋत्विक्, वर, राजा, मित्र और स्नातक ये छः अर्घ्य के योग्य होते हैं ॥ १-२ ॥ प्रत्येक वर्षों में आए हुए [आचार्य राजा आदि] का अर्घ्य-दान के द्वारा पूजन करना चाहिए ॥ ३ ॥

विशेष:—१. शाखायन गृह्यसूत्र २. १५. १ में नारायण ने वैवाह्य का अर्थ श्वशुर किया है।

(हरिहर०)

षडर्घ्या भवन्ति। षट् पुरुषा अर्घ्या भवन्ति अर्घार्हा भवन्तीति शेषः ॥ १ ॥

के ते ? आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति। आचार्य उपनयनपूर्वकं वेदाध्यापकः, ऋत्विक् श्रौतस्मार्त्तादिकर्मार्थं वृतो ब्रह्मादिः, वैवाह्यो वरः, राजा अभिषेकादिगुणवान् प्रजापालनेऽधिकृतः क्षत्रियः, प्रियः उत्कृष्टजातिः समानजातिर्वा सखा, स्नातकः ब्रह्मचर्यात्समावृत्तः आचार्यस्यार्घ्यो नान्यस्य। तथा च मनुः—

'तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥' मनु० स्मृ० ३।३ इति। इत्येते ॥ २ ॥

प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः। प्रतिसंवत्सरमागतानेतान् आचार्यादीन् अर्घेण पूजयेयुः, नार्वाक् ॥ ३ ॥

(गदाधर०)

आवसथ्याधानं दारकाले इत्युक्तम्। दारग्रहणं कथं क्रियते ? तदुच्यते। तत्र वरस्यार्घदानं स्मर्यते तत्प्रसङ्गेन यावन्तोऽर्घ्यास्ते कथ्यन्ते—'षडर्घ्या भवन्ति'। 'अर्ह पूजायाम्' इति धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः। न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वं ततो "दण्डादिभ्यो यत्" (पा० सू० ५-१-६६) इति यत्प्रत्ययः। अर्घमर्हन्तीत्यर्घ्याः। षट् पुरुषा अर्घार्हा भवन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

(गदाधर०)

तानाह—'आचार्य ... ... स्नातक इति' । उपनयनपूर्वकं कृत्स्नवेदाध्यापयिता आचार्यः, ऋत्विक् यो दक्षिणापरिक्रीतः कर्माणि करोति, वैवाह्यो जामाता, राजा दण्ड-पूर्वकं परिपालनकर्ता, प्रियो य इष्ट उत्कृष्टजातिः समानजातिर्वा, स्नातको ब्रह्मचर्यात्स-मावृत्तः । तस्य चार्हणमाचार्यकर्तृकं स्मृतम्—"तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः । स्रग्विणं तल्प आसीनमर्चयेत्प्रथमं गवा ॥" इति । पूर्वसूत्रे 'षड्' ग्रहणं प्रियस्नातकयोः पृथक्त्वज्ञापनार्थम् ॥ २ ॥

'प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः'—प्रतिसंवत्सरं गृहे आगतानाचार्यादीनर्घेणार्चयेयुः, न संवत्सरादर्वाक् ॥ ३ ॥

यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः ॥ ४ ॥ आसनमाहार्याह—साधु भवाना-स्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति ॥ ५ ॥ आहरन्ति विष्टरं पद्यं पादार्थ-मुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं काꣳस्ये काꣳस्येन ॥ ६ ॥ अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि ॥ ७ ॥ विष्टरं प्रतिगृह्णाति ॥ ८ ॥

(सरला)

व्याख्या—ऋत्विजः=ब्रह्मा, होता आदि ऋत्विक्; [का पूजन प्रत्येक वर्षों में तो करना ही चाहिए किन्तु] यक्ष्यमाणाः=सोम आदि यज्ञों के समय में, तु=भी [वे मधुपर्क के योग्य होते हैं ।]॥४॥ आसनम्= आसन को; अहार्य = लाकर; आह = कहते हैं कि; भवान् = आप; साधु=अच्छी तरह; आस्तां = बैठिए; भवन्तम् = आपकी; अर्चयिष्यामः = हम लोग पूजा करेंगे; इति = यह [कहते हैं] ॥ ५ ॥ विष्टरम् = कुशासन को; पद्यम् = द्वितीय कुशासन को; पादार्थं = पैर धोने के लिए;उदकम् = जल को; अर्घम् = अर्घ के पात्र को; आचमनीयं = आचमनी को; दधि = दही; मधु=शहद; घृतं= घी को; कांस्ये = कांसे के पात्र में [रखकर]; कांस्येन = कांसे के पात्र से; अपिहितं=ढंके हुए; मधुपर्कं=मधुपर्क को अर्थात् घी, दही और मधु को आहरन्ति=लाते हैं; [अर्थात् पूजन के लिए रखना चाहिए] ॥ ६ ॥ अन्यः = अर्घयिता से अन्य लोग; त्रिभिः = तीन-तीन बार; विष्टरादीनि = कुशासन, जल, मधुपर्क आदि; प्राह = कहते हैं ॥ ७ ॥ विष्टरम्= [अर्घयिता से] अर्घ को चुपचाप; प्रतिगृह्णाति = दोनों हाथों से ग्रहण करते हैं ॥ ८ ॥

हिन्दी—ब्रह्मा, होता आदि ऋत्विक् [का पूजन प्रत्येक वर्षों में तो करना ही चाहिए किन्तु] सोम आदि यज्ञों के समय में भी [वे मधुपर्क के योग्य होते हैं ।] ॥ ४ ॥ आसन को लाकर कहते हैं कि 'आप अच्छी तरह बैठिए आप की हमलोग पूजा करेंगे' ॥ ५ ॥ कुशासन को, द्वितीय कुशासन को, पैर धोने के लिए जल को, अर्घ के पात्र को, आचमनी को; दही, शहद और घी को कांसे के पात्र में [रखकर] कांसेके पात्र से ढंके हुए मधुपर्क को अर्थात् घी, दही और मधु लाते हैं । [अर्थात् पूजन के लिए रखना चाहिए] ॥ ६ ॥ अर्घयिता से अन्य लोग तीन-तीन बार कुशासन, जल, मधुपर्क पर्यन्त वस्तुओं को [प्रतिदान करने के लिए] कहते हैं ॥ ७ ॥ अर्घयिता से अर्घ विष्टर [अर्थात् कुशासन जल मधुपर्क आदि] को [चुपचाप] दोनों हाथों से ग्रहण करते हैं ॥ ८ ॥

विशेषः—१. तुलनीय—इसी कण्डिका का ३२ वाँ सूत्र और शां. गृह्य. २. १५. १० । चौथा सूत्र तीसरे सूत्र का अपवाद है । तीसरे सूत्र में प्रत्येक वर्षों में आए, हुए आचार्यादिकों के

अर्घ्य का नियम करते है। किन्तु ऋत्विक् के लिए अपवाद स्वरूप ४था सूत्र बनाते हैं कि उसी वर्ष में आदि या मध्य में जब भी यज्ञ के लिए ऋत्विक् आए तब उसका सत्कार करे। ७ वें सूत्र के लिए द्रष्टव्य—आश्व. गृ. १. २४. ७।

(हरिहर०)

यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः। यक्ष्यमाणाः यज्ञं करिष्यन्तो यजमानाः। ऋत्विजः याजकान् तु पुनः अर्हयेयुरित्यनुषङ्गः। न प्रतिसंवत्सरनियमः॥ ४॥

कथमर्हयेयुरित्यपेक्षायामाह—आसनमाहार्याह—'साधुभवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्' इति। आसनं वारणादिदारुमयं पीठादि आहार्य अनुचरैरानाय्य आह ब्रवीति अर्चकः। किमिति ? एवम्। कथं ? भवान् पूज्यः साधु सुखं यथा भवति तथा आस्तां तिष्ठतु। अर्चयिष्यामः पूजयिष्यामो भवन्तम्, अर्चनीयं यावत्। अर्चयिष्याम इति बहुवचनं भार्यापुत्रादिसर्वगृह्यापेक्षम्। तथा च श्रुतिः—'यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या इव तत्र वै चेष्टयन्ति' इति॥ ५॥

आहरन्ति विष्टरं पद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं काँस्ये काँस्येन। आहरन्ति आनयन्ति यजमानपुरुषाः विष्टरादिमधुपर्कपर्यन्ताभ्यर्हणोपकरणानि। तत्र विष्टरं पञ्चविंशतिदर्भतरुणमयं कूर्चम्।

'पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता। विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम्॥ विष्टरास्त्रिवृतो दर्भकूर्चदाः……इति। पद्यं पद्भ्यामाक्रमणीयमुक्तलक्षणं द्वितीयं विष्टरम्। पादार्थमुदकं पादप्रक्षालनार्थं ताम्रादिपात्रस्थं जलं सुखोष्णम्। अर्घं गन्धपुष्पाक्षतकुशतिलशुभ्रसर्षपदधिदूर्वान्वितं सुवर्णादिपात्रस्थमुदकम्। आचमनीयम्—आचमनार्थं कमण्डलुसंभृतं जलम्। मधुपर्कं दधिमधुघृतं कांस्यपात्रे कृतमपरेण कांस्यपात्रेणाच्छादितम्॥ ६॥

अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि। अन्यः अर्चकादपरः 'विष्टरो विष्टरो विष्टरः' इत्येवमेकैकां त्रिस्त्रिः त्रींस्त्रीन्वारान् ब्रूयात् विष्टरादीनि विष्टरप्रभृतीन् पद्यपादार्थोदकार्घाचमनीयमधुपर्कान्॥ ७॥

विष्टरं प्रतिगृह्णाति। प्रत्यङ्मुखेन यजमानेन तिष्ठता दत्तम् आसनात्पश्चिमे प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नर्घ्यः पूर्वोक्तलक्षणं विष्टरं तूष्णीं पाणिभ्यामुदगग्रमादत्ते॥ ८॥

(गदाधर०)

प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुरित्यविशेषेणोक्तत्वादृत्विजोऽपि संवत्सरान्तेऽर्हयितव्या इति प्राप्ते आह—'यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः'। ऋत्विजस्तु यक्ष्यमाणा यागकाल एव पूजनीयाः न ततोऽन्यत्र। इदं सूत्रं हरिहरेणान्यथा व्याख्यातम्—'यज्ञं करिष्यन्तो यजमानाः ऋत्विजो याजकान्' इति॥ ४॥

पूजनीया उक्ताः, कालश्च। इदानीमर्हणप्रकारमाह—'आसनमा ··· ··· भवन्तमिति'। अध्यर्यायाऽऽसनं पीठादि "आसनमाहर" इति प्रैषपूर्वकमनुचरद्वाराऽऽनाय्य साधु भवानित्यर्घयिता अर्घ्यं प्रति वदति। अर्घ्यं प्रति अध्येषणमेतत्॥ ५॥

'आहरन्ति ··· ··· ··· काँस्येन'। बहुवचनादर्घयितुः पुरुषाः विष्टरादीनि आहरन्ति। तत्र विष्टरस्त्रिवृदरत्निमात्रः कौशो रज्जुविशेष इति भर्तृयज्ञः। 'प्रादेशमात्रं त्रिवृतं कौशं वा काशनिर्मितम्' इति रेणुकः। पञ्चविंशतिदर्भतरुणमयं कूर्चमिति हरिहरः। 'पञ्चाशद्भिर्भवेद्ब्रह्मा तदर्धेन तु विष्टरः।' इति परिशिष्टात्। "पादयोरन्यम्" (पा० गृ० १. ३. १०) इति वचनादन्यत्र द्वयोराहरणमिति भर्तृयज्ञः। पद्यं पादयोरधस्तान्निधानार्थं विष्टरम्।

(गदाधर०)

भर्तृयज्ञमते तु–पादप्रक्षालनार्थमुदकं पद्यशब्देन । पादार्थमुदकं सुखोष्णम् । अर्घशब्देनोदपात्रमेवोच्यते । "तद्धैक उदपात्रमुपनिनयन्ति यथा राज्ञ आगतायोदकमाहरेदेव तत्" इति लिङ्गात् । उदकगन्धपुष्पाक्षतबदराणीति भर्तृयज्ञः । गन्धपुष्पाक्षतकुशतिलशुभ्रसर्षपदूर्वादध्यान्वितं सुवर्णादिपात्रस्थमुदकमिति हरिहरः । आचमनीयम् आचमनार्थमुदकमेव । दधिमधुघृतमेकस्मिन् कांस्यपात्रे कृतमपरेण कांस्यपात्रेणापिहितं मधुपर्कशब्देनोच्यते । मधुपर्के दध्यलाभे पयो जलं वा प्रतिनिधिः । मध्वलाभे घृतं गुडो वेत्याश्वलायनः ॥ ६ ॥

'अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि' । अर्घयितुर्व्यतिरिक्तोऽन्यो विष्टरादीनि द्रव्याणि त्रिस्त्रिर्वारत्रयं वदति विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यतामित्येवम् ॥ ७ ॥

वर्ष्मोस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः । इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति इत्येनमभ्युपविशति ॥ ९ ॥ पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय ॥ १० ॥ सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ॥११॥ ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम् ॥ १२ ॥ विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ॥ १३ ॥ अर्घं प्रतिगृह्णाति 'आपः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि' इति ॥ १४ ॥

(सरला)

व्याख्या—"वर्ष्मोऽस्मि………" इति = इस मंत्र को कहते हुए, एनम् = इस आसन पर, अभ्युपविशति = बैठता है, उद्यताम् इव = उदय होने वालों में (अर्थात् नक्षत्रगणों में) सूर्य की तरह, समानानाम् = सजातियों में मैं; वर्ष्मः = श्रेष्ठ; अस्मि = हूँ । यः कश्च (न) मा अभिदासति = जो कोई भी मुझे उपक्षीण करना चाहता है, तम् इमम् अभितिष्ठामि = उन सबको अभिभूत कर यह मैं बैठता हूं ॥ ९ ॥ विष्टरे = आसन पर; आसीनाय = बैठे हुए को; पादयोः = दोनों पैर रखने के लिए, अन्यम् = दूसरे [आसन को देता है] ॥ १० ॥ सव्यम् = [आसन पर बैठे हुए के] बाएँ, पादं = पैर को; प्रक्षाल्य = धोकर, दक्षिणं प्रक्षालयति = दाहिने को धोता है ॥ ११ ॥ चेत् ब्राह्मणः = यदि [अतिथि] ब्राह्मण हो तो, दक्षिणं प्रथमम्=दाहिने पैर को पहले [धोना चाहिए] ॥ १२ ॥ "विराजो……" इति=इस मंत्र से धोता है—हे जल ! विराजो दोहः असि = हे जल तुम अन्न के [प्राणधारणादिगुणैः सकल सौहित्येन विविधतया राजत इति विराडन्नं] रस हो । विराजो दोहम् अशीय = हे जल उस तुमको (अन्न के रस को) मैं खाऊँ, मयि पाद्यायै = मेरी पूजा के लिए; विराजो दोहः = 'विराजो दोहः' इस मंत्र से संस्कृत जल हो जाओ ॥१३॥ "आपस्थ……अवाप्नवानि" इति=इस मंत्र से; अर्घं प्रतिगृह्णाति=अर्घ ग्रहण करता है । आपः स्थ=हे जल ! तुम अभीष्ट-प्राप्ति के हेतुभूत हो; युष्माभिः=तुमसे; सर्वान् कामान्=सभी कामनाओं को; अवाप्नवानि = प्राप्त करूँ ॥ १४ ॥

हिन्दी—"वर्ष्मोऽस्मि……" इस मंत्र को कहते हुए इस आसन पर बैठता है । उदय होने वालों में [अर्थात् नक्षत्र गणों में] सूर्य की तरह सजातियों में मैं श्रेष्ठ हूँ । जो कोई भी मुझे उपक्षीण करना चाहता है; उन सब को अभिभूत कर यह मैं बैठता हूँ ॥ ९ ॥ आसन पर बैठे हुए

को दोनों पैर रखने के लिए दूसरे [आसन को देता है] ॥ १० ॥ [आसन पर बैठे हुए के] बायें पैर को धोकर दाहिने को धोता है ॥ ११ ॥ यदि [अतिथि] ब्राह्मण हो तो दाहिने पैर को पहले [धोना चाहिए] ॥ १२ ॥ "विराजो………" इस मंत्र से धोता है—हे जल तुम अन्न के रस हो। हे जल ! उस तुमको [अन्न के रस को] मैं खाऊँ और मेरी पूजा के लिए मंत्र संस्कृत जल हो जाओ ॥१३॥ "आपस्थ………अवाप्नवानि" इस मंत्र से अर्घ ग्रहण करता है—"हे जल ! तुम [समस्त पदार्थों के प्राप्तिके कारण हो, तुम से सभी कामनाओं को प्राप्त करूँ ॥ १४ ॥

विशेषः—१. वर्ष्मोस्मि…इस मंत्र का आश्व-गृ-१.२४.८ में उद्यताम् के लिए 'विद्युताम्' पाठ है। अर्थ है—चमकने वालों में सूर्य की तरह। उपमा ठीक बैठने से यही पाठ ठीक जान पड़ता है।

२. ९ वें सूत्र के मन्त्रार्थ से प्रतीत होता है कि आसन पर बैठना शत्रु-दमन का प्रतीक है। क्योंकि गदाधर ने अर्थ भी किया है कि जो शत्रु विष्टर के समान बंधा है; उसको लक्ष्य करके व नीचे दबाकर बैठता हूँ ।

३. आपस्थ…यह मंत्र गृह्यसूत्र से पहले के किसी भी वैदिक साहित्य में प्राप्त नहीं होता।

(हरिहर०)

'वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति' इत्येनमभ्युपविशति। 'वर्ष्मोऽस्मि' इति मन्त्रान्ते एनं विष्टरमुदगग्रमासने निधायाभ्युपविशति ॥ ९ ॥

पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय। विष्टरे आसीनायार्घ्यायान्यं विष्टरं यजमानः पूर्ववद्ददाति। स च तं पूर्ववत् प्रतिगृह्य प्रक्षालितयोः पादयोरधस्ताद्वर्ष्मोस्मीत्यनेन मन्त्रेण निदधाति ॥ १० ॥

सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति। ततोऽन्येन पाद्यमिति त्रिरुक्ते यजमानार्पितपाद्योदकमादाय वामं चरणं प्रक्षाल्य इतरं प्रक्षालयति, क्षत्रियादिरर्घ्यः ॥ ११ ॥

ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम्। यदि ब्राह्मणोऽर्घ्यः स्यात्तदा प्रथमं दक्षिणं प्रक्षाल्य वामं प्रक्षालयति ॥ १२ ॥

विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति। 'विराजो दोहोसि' इत्यावृत्तेन मन्त्रेण ॥ १३ ॥

अर्घं प्रतिगृह्णाति। ततः—'अर्घः' इत्येतत्त्रिरुक्ते यजमानदत्तमर्घम्।

आपः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति। 'आपः स्थ युष्माभिः' इत्यनेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति ॥ १४ ॥

(गदाधर०)

'विष्टरं (पृ. ४५, सू. ८)…पविशति'। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुः सकाशाद्विष्टरं तूष्णीमेव प्रतिगृह्य तं विष्टरमासने निधाय 'वर्ष्मोऽस्मि' इति मन्त्रेणोपविशति। ग्रहणोपवेशनयोर्मध्ये पठितोऽपि मन्त्र 'इमं तमभि' इति लिङ्गादुपवेशने विनियुज्यते। पाणिभ्यां विष्टरप्रतिग्रह इति हरिहरः। तदतीव मन्दं, प्रमाणाभावात्। मन्त्रस्यायमर्थः—अर्घ्य आत्मानं स्तौति अर्घ्यत्वाय। कुलज्ञानाचारवपुर्वयोगुणैरहं समानानां सजातीयानां मध्ये वर्ष्मः श्रेष्ठः ज्येष्ठः अस्मि भवामि उद्यतामुदयं प्रकाशं कुर्वतां ग्रहनक्षत्रादीनां मध्ये सूर्य इव। किं च इमं विष्टरं तं पुरुषमुद्दिश्य विष्टरवद् बद्धमभिलक्ष्यीकृत्य तिष्ठामि अधः कृत्वोपर्युपविशामि। यः कश्चन मा मामभिदासति उपक्षीणं कर्तुमिच्छति। दसु उपक्षये ॥ ८–९ ॥

'पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय'। विष्टरे आसीनायोपविष्टायार्घ्याय पादयोरधस्तान्निधानार्थमन्यं विष्टरं ददाति। एतच्च पादप्रक्षालनोत्तरं द्रष्टव्यम्। तथा सति दृष्टार्थता

(गदाधर०)

स्यात्। प्रक्षाल्य हि पादौ विष्टरे क्रियेत इति। तेनात्रार्थेन पाठबाधः। तदुक्तं—'विरोधेऽर्थंस्तत्परत्वात्' इति ॥ १० ॥

सव्यं पादं······दोह इति। ततः पाद्यं प्रतिगृह्य 'विराजो दोहोऽसि' इति मन्त्रेण सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति क्षत्रियादिरर्घ्यंश्चेत्, ब्राह्मणोऽर्घ्यः स्यात्तदा दक्षिणं पादं प्रथमं प्रक्षाल्य ततः सव्यं प्रक्षालयति। मन्त्रार्थः—प्राणधारणादिगुणैः सकलसौहित्येन विविधतया राजत इति विराड् अन्नं तस्य विराजो दोहः परिणामसारो रसः, स त्वमसि भवसि। हे उदक तं त्वां विराजो दोहमशीय अश्नुवै व्याप्नुयाम्। किं च मयि विषये या पाद्या पादयोः साध्वी सपर्या तस्यै तदर्थं विराजो दोहः मन्त्रसंस्कृतं जलं, भवति शेषः ॥ ११–१३ ॥

'अर्घं प्रति······वाप्नवानीति'। अर्घ्यः समर्पितमर्घं प्रतिगृह्णाति 'आपः स्थ युष्माभिः' इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—हे आपः यूयमापः स्थ आप्तिहेतवो भवथ। युष्माभिः कृत्वा सर्वान् कामानभीष्टार्थान् अवाप्नवानि लभेय ॥ १४ ॥

निनयन्नभिमन्त्रयते, समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पय इति ॥ १५ ॥ आचामत्यामागन्यशसा सᳬं सृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति ॥ १६ ॥ 'मित्रस्य त्वा' इति मधुपर्कं प्रतीक्षते ॥ १७ ॥ देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति ॥ १८ ॥ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति, नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति ॥ १९ ॥ अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति ॥ २० ॥ तस्य त्रिः प्राश्नाति, यन्मधुनो मधव्यं परमᳬं रूपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति ॥ २१ ॥ मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम् ॥ २२ ॥

(सरला)

व्याख्या—निनयन् = (अर्घ्य जल को भूमि पर) बहाता हुआ; "समुद्रं·········" इति = इस मंत्र से। अभिमंत्रयते=अभिमंत्रित करता है। वः = हे जल ! तुम्हें; समुद्रं प्रहिणोमि=मैं समुद्र में भेजता हूँ। स्वां योनिम् = अपने उत्पत्ति स्थान को; अभिगच्छत = जाओ। अस्माकं वीरा = हमारे वीर [पुरुष, भाई, पुत्र, भृत्य आदि] अरिष्टा (सन्तु) = हानि रहित होवें; पयः= [और अर्घ्यादिक मंगल] जल; मत् मा परासेचि = मुझसे दूर न होवे [अर्थात् मैं सदा अर्घ के योग्य होऊँ] ॥ १५ ॥ "आमागन्·········" इति = इस मंत्र से (वर); आचामति = आचमन करता है। यशसा आमागन्=हे जल ! तुम [इस प्रकार से] यश के साथ [मेरे पास] आओ [आङ् उपसर्ग है और अगन् क्रिया पद है]। वर्चसा संसृज=मुझे ब्रह्मवर्चस से संसृष्ट करो (मिलाओ)

तं मा (मृ) प्रजानां प्रियं कुरु=और वह तुम मुझे श्रेष्ठ जनों का प्रिय बनाओ; पशूनाम् अधिपतिं (कुरु)= पशुओं का अधिपति बनाओ; तनूनाम् अरिष्टिं=और शरीरों का (अर्थात् प्राणधारियों का) हानि न पहुँचाने वाला (अर्थात् रक्षक) बनाओ ॥१६॥ "मित्रस्य त्वा" [वाज० कण्व० २. ३. ४] इति=इस मंत्र से; मधुपर्कं प्रतीक्षते=["सूर्य की दृष्टि से अर्थात् सूर्य की कृपा से तुझे देखता हूँ" इस मंत्र से वह] मधुपर्क को देखता है ॥१७॥ "देवस्य त्वा" [यजु० १।१] इति=इस मंत्र से; प्रतिगृह्णाति =मधुपर्क को वर ग्रहण करता है ॥१८॥ सव्ये पाणौ कृत्वा = उसको बायें हाथ पर रखकर; दक्षिणस्य अनामिकया=दाहिने हाथ की अनामिका से; "नमः श्यावा......" इति=इस मंत्रसे; त्रिः प्रयौति =तीन बार [दधि, मधु, घृत को वसु, रुद्र और आदित्य के उद्देश्य से] मिलाता है। श्यावास्याय नमः=हे भूरे रंग वाले [कपिश मुख वाले] अग्नि ! आपके लिए नमस्कार है। ते अन्नशने=तुम्हारे भोज्य पदार्थ में; यत् [द्रव्यं] आविद्धम्=जो अपद्रव्य संश्लिष्ट है; तं निष्कृन्तामि=उसको मैं निकालता हूं ॥ १९ ॥ च=और पुनः; अनामिका अङ्गुष्ठेन = अनामिका तथा अंगूठे से; त्रिः=तीन बार; निरुक्षयति=बाहर छींटा देता है ॥ २० ॥ तस्य=उस मधुपर्क को; त्रिः=तीन बार 'यन्मधुनो......असानि' इति=इस मंत्र से; प्राश्नाति=खाता है। [हे देवाः !] मधुनः=हे देवता ! मकरन्द का सारभूत; यत् मधव्यं=जो यह मधु; परमं रूपं=सर्वोत्कृष्ट रस है; अन्नाद्यम्= और व्रीहि आदि अन्नों की तरह जो प्राणधारक है [अथवा अन्नरूपी जो उपादान कारण है। या अन्न आदि का रससमूह है] मधुनः=मकरन्दके; तेन मधव्येन=उस सारभूत मधु से और; परमेण रूपेण अन्नाद्येन=सर्वरूप सम्पन्न उत्तम अन्न के रस से; अहं=मैं; परमः=सबसे उत्तम [गुणाधिक]; मधव्यः=मधुपर्क के योग्य (और); अन्नादः=अच्छे अन्नों का खाने वाला; असानि=होऊँ ॥ २१ ॥ वा=अथवा 'मधुमतीभिः......आदि [यजु० अ० १३ का २७; २८; २९] प्रति ऋचं=प्रत्येक मन्त्र से [तीन बार खाना चाहिए] ॥ २२ ॥

हिन्दी—[अर्घ्य जल को] भूमि पर बहाता हुआ 'समुद्रं....' इस मंत्र से अभिमंत्रित करता है। हे जल तुम्हें मैं समुद्र में भेजता हूं। अपने जन्म-स्थान को जाओ। हमारे वीर [पुरुष भाई, पुत्र, भृत्य आदि] हानि रहित होवें और [अर्घादिक मंगल] जल मुझसे दूर न होवे [अर्थात् मैं सदा अर्घ के योग्य होऊँ] ॥ १५ ॥ 'आमागन्......' इस मंत्र से आचमन करता है। हे जल तुम [इस प्रकार से] यश के साथ [मेरे पास] आओ। मुझे ब्रह्मवर्चस से संसृष्ट करो [मिलाओ]। मुझे श्रेष्ठ जनों का प्रिय बनाओ पशुओं का अधिपति बनाओ और शरीरों का (अर्थात् प्राणधारियों का] हानि न पहुचाने वाला (अर्थात् रक्षक) बनाओ ॥ १६ ॥ 'मित्रस्य त्वा' ['सूर्य की दृष्टि से तुझे देखता हूं'] इस मंत्र से वह मधुपर्क को देखता है ॥ १७ ॥ 'देवस्य त्वा' इस मंत्र से मधुपर्क को ग्रहण करता है ॥ १८ ॥ मधुपर्क को बायें हाथ पर रख कर दाहिने हाथ की अनामिका से 'नमः श्यावा....' इस मंत्र से तीन बार [मधु, दधि, घृत को] मिलाता है। हे भूरे रंग वाले [कपिश मुख वाले] अग्नि ! आपके लिए नमस्कार है। तुम्हारे भोज्य मधुपर्क में जो अपद्रव्य संश्लिष्ट (मिला) है उसको मैं निकालता हूं ॥ १९ ॥ और पुनः अनामिका तथा अंगूठे से तीन बार बाहर छींटा देता है ॥ २० ॥ उस मधुपर्क को तीन बार 'यन्मधुनो......असानि' इस मंत्र से खाता है। हे देवता ! मकरन्द का जो यह सारभूत मधु सर्वोत्कृष्ट रूप है और व्रीहि आदि की तरह जो प्राणधारक है [अथवा अन्नरूपी जो उपादान कारण है या अन्न आदि का रससमूह है] मकरन्द के उस सारभूत मधु से और सर्वरूप सम्पन्न उत्तम अन्न के रस से मैं सबसे उत्तम [गुणाधिक] मधुपर्क के योग्य (होऊँ और) अच्छे अन्नों का खाने वाला होऊँ ॥ २१ ॥ अथवा 'मधुमतीभिः......आदि प्रत्येक मंत्र से [तीन बार खाना चाहिए] ॥ २२ ॥

विशेष—नमः श्यावास्य...और "यन्मधुनो मधव्य" ये दो मंत्र प्राक्-गृह्यसूत्र-साहित्य में अनुपलब्ध हैं।

(हरिहर०)

निनयन्नभिमन्त्रयते–'समुद्रं वः......' इति। प्रतिगृहीतमर्घं शिरसाऽभिवन्द्य निनयन् भूमौ प्रवाहयन् अभिमन्त्रयते 'समुद्रं वः' इति मन्त्रेण ॥ १५ ॥

आचामत्यामागन्......इति। ततः—'आचमनीयम्' इति त्रिरन्योक्ते यजमानेन दत्तमाचमनीयं प्रतिगृह्य 'आमागन्यशसा' इत्यनेन मन्त्रेणाचामति सकृत् प्राश्नाति जलम्। ततः स्मार्तमाचमनं करोति। एवं सर्वत्र ॥ १६ ॥

मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते। ततो 'मधुपर्कः' इति त्रिरन्येनोक्ते यजमानहस्तगतमुद्घाटितं मधुपर्कं 'मित्रस्य त्वा' इति मन्त्रेणाघ्र्यः प्रतीक्षते पश्यति ॥ १७ ॥

देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति। 'देवस्य त्वा' इति मन्त्रेण यजमानदत्तं मधुपर्कं दक्षिणहस्तेन प्रतिगृह्णाति ॥ १८ ॥

सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्येति। तं मधुपर्कं वामहस्ते निधाय दक्षिणस्य पाणेः अनामिकाङ्गुल्या त्रिवारमालोडयति—'नमः श्यावास्य' इति मन्त्रेण ॥ १९ ॥

अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति। अनामिका च अङ्गुष्ठश्च अनामिकाङ्गुष्ठौ अनयोः समाहारः अनामिकाङ्गुष्ठं तेन त्रिवारं निरुक्षयति पात्राद्बहिर्निर्गमयति चकारात्प्रतिसंयवनं निरुक्षणम् ॥ २० ॥

तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यमिति। तस्य मधुपर्कस्य एकदेशमादाय 'यन्मधुनो मधव्यम्' इत्यादिना मन्त्रेण सकृत्प्राश्य पुनरनेनैव मन्त्रेण उच्छिष्ट एव द्वितीयं प्राश्य तथैव तृतीयं प्राश्नाति ॥ २१ ॥

मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम्। 'मधुव्वाता' इति तिसृभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं प्रतिमन्त्रं वा पूर्ववत् त्रिः प्राश्नाति ॥ २२ ॥

(गदाधर०)

'निनयन्न......मत्पय इति'। तमर्घं भूमौ निनयन् प्रापयन्नभिमन्त्रयते—'समुद्रं वः' इति मन्त्रेण न तु मन्त्रान्ते। 'अर्घं शिरसाऽभिवन्द्य प्रागुदग्वा निनयनम्' इति वासुदेवः। मन्त्रार्थः—हे आपः वो युष्मान् समुद्रं प्रहिणोमि गमयामि। अतः स्वां योनिं स्वकारणभूतं समुद्रमभि लक्ष्यीकृत्य गच्छत व्रजत। किं च युष्मत्प्रसादादस्माकं वीराः पुत्रा भ्रातरः अरिष्टा अनुपहताः सन्तु। मत् मत्तः पयः अर्घादिसङ्कलं जलं मा परासेचि अपगतं मास्तु सदैवाहमर्घ्यो भवानीत्यर्थः ॥ १५ ॥

'आचाम......तनूनामिति'। ततो दत्तमाचमनीयं प्रतिगृह्य 'आमागन्' इत्याचामति सकृद् भक्षयति। ततः स्मार्ताचमनम्। मन्त्रार्थः—हे वरुण जलेश तमेवंरूपेण त्वामाश्रितं मा मां यशसा सहभावं सामीप्यं वा अगन् आगमय। आङुपसर्गः अगन्निति क्रियापदेन सम्बध्यते। तथा वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन संसृज संसृष्टं कुरु। किं च प्रजानां पुत्रपौत्रादीनां प्रियं पशूनां गवाश्वादीनामधिपतिं स्वामिनं च तथा तनूनां देहावयवानां शरीराणां वा अरिष्टमहिंसकं कुरु। हिंसाऽर्त्रः—

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च लङ्घनात् । आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥'
इत्यादिर्दर्शिता ॥ १६ ॥

'मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते'। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुर्हस्तस्थितमुद्घाटितं मधुपर्कं 'मित्रस्य त्वा' इति प्राशित्रमन्त्रेण प्रतीक्षते पश्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति' । ततो 'देवस्य त्वा' इति प्राशित्रप्रतिग्रहणमन्त्रेण मधुपर्कं प्रतिगृह्णाति ॥ १८ ॥

'सव्ये पाणौ ······ष्कृन्तामीति'। तं मधुपर्कं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणस्य हस्तस्यानामिकयाऽङ्गुल्या प्रदक्षिणं त्रिरालोडयति—'नमः श्यावास्यायान्' इति मन्त्रेण। अत्र सव्यहस्तस्थितस्यैव दक्षिणस्यानामिकया त्रिरालोडनं यथा स्यादित्येतदर्थं दक्षिणग्रहणम् । मन्त्रार्थः—हे अग्ने ते तुभ्यं नमः । किं भूताय ? श्यावास्याय कपिशमुखाय ते तव अन्नशने अन्नाशने अद्यत इत्यन्नं तस्याशने अदनीये मधुपर्के । ह्रस्वश्छान्दसः । यद् द्रव्यमाविद्धं संश्लिष्टमनदनीयं तत् निष्कृन्तामि निरस्यामि ॥ १९ ॥

'अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति' । अनामिका चाङ्गुष्ठश्चेत्यनामिकाङ्गुष्ठं तेनानामिकाङ्गुष्ठेन वारत्रयं निरुक्षयति मधुपर्कैकदेशं पात्राद्बहिः प्रक्षिपति । चशब्दात्प्रतिसंयवनं निरुक्षणम् । एवं च निरुक्षणव्यवधानात्प्रतिसंयवनं मन्त्रावृत्तिः ॥ २० ॥

तस्य त्रिः····· असानीति । तस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी । तस्य मधुपर्कस्य त्रिः प्राश्नीयाद्—'यन्मधुनो मधव्यम्' इत्यनेन मन्त्रेण । प्राशनत्रयेऽपि हविर्ग्रहणन्यायेन मन्त्रावृत्तिः । उच्छिष्टस्यैव मन्त्रोच्चारणम् । एवं हि स्मरन्ति—

'ताम्बूलेक्षुफले चैव भुक्तस्नेहानुलेपने ।
मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत् ॥' इति ।

मन्त्रार्थः—हे देवाः मधुनो मकरन्दस्य यन्मधव्यं मधुनि साधु परममुत्कृष्टं रूपयति प्रकाशयति देहसंघातमिति रूपम् अन्नाद्यं व्रीह्यादिवत्प्राणधारकमन्नोपादानकं च, तेन सर्वरूपोपपन्नेन रसेनोक्तविशेषणविशिष्टेनाहं परमः सर्वेभ्यो गुणाधिकः मधव्यो मधुपर्कार्हः अन्नादः सदन्नभोक्ता च असानि भवानि ॥ २१ ॥

'मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम्' । वा विकल्पेन 'मधुव्वाता ऋतायते' इत्येताभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं प्राश्नाति । ततश्चैवम्—मधुव्वाता इति प्रथमम् , मधुनक्तमिति द्वितीयम् , मधुमान्न इति तृतीयम् ॥ २२ ॥

पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् ॥ २३ ॥ सर्वं वा प्राश्नीयात् ॥ २४ ॥ प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत् ॥ २५ ॥

(सरला)

व्याख्या—पुत्राय=पुत्र के लिए; वा=अथवा; उत्तरतः आसीनाय अन्तेवासिने=उत्तर दिशा में बैठे हुए शिष्य के लिए; उच्छिष्टं दद्यात्=खाने से बचे हुए मधुपर्क को दे देना चाहिए ॥ २३ ॥ सर्वं वा=अथवा सम्पूर्ण मधुपर्क को; प्राश्नीयात्=[स्वयं] खा जाना चाहिए [यह विकल्प है] ॥ २४ ॥ वा = अथवा; प्राक्=पूर्व दिशा में; असञ्चरे = आवागमन से रहित (एकान्त) स्थान पर; निनयेत् = गिरा देना चाहिए [यह दूसरा विकल्प है] ॥ २५ ॥

हिन्दी—पुत्र को अथवा उत्तर दिशा में बैठे हुए शिष्य को खाने से बचे हुए मधुपर्क को दे

देना चाहिए ॥ २३ ॥ अथवा सम्पूर्ण मधुपर्क को [स्वयं] खा जाना चाहिए [यह विकल्प है] ॥ २४ ॥ अथवा पूर्व दिशा में आवागमन से रहित (एकान्त) स्थान पर गिरा देना चाहिए [यह दूसरा विकल्प है] ॥ २५ ॥

विशेष—१. आचार्य मधुपर्क के शेष को अपने शिष्य को दे। और ऋत्विक् व प्रिय अपने पुत्र को दे। वर और स्नातक मधुपर्क को खाएँ—ऐसी व्यवस्था है। किन्तु व्यवहार में इसे बगल में रख दिया जाता है जिसे नाऊ उठा लेता है।

(हरिहर०)

पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात्। सर्वं वा प्राश्नीयात्। प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत्। मधुपर्कस्य शेषप्रतिपत्तिमाह—पुत्राय सूनवे अन्तेवासिने उपनयनप्रभृति विद्यार्थित्वेन आचार्यकुलवासिने शिष्याय वा। कथंभूताय उत्तरत आसीनाय उच्छिष्टं प्राशितशेषं मधुपर्कं प्रयच्छेत्। अथ वा सर्वं भक्षयेत्। यद्वा प्राक् पूर्वस्यां दिशि असञ्चरे जनसञ्चारवर्जिते देशे त्यजेत्। अत्र पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरां प्रतिपत्तिं कुर्यात् ॥ २३–२५ ॥

(गदाधर०)

'पुत्राया' ' ' 'दद्यात्। अवशिष्टं मधुपर्कस्य उच्छिष्टं पुत्राय अन्तेवासिने शिष्याय वोत्तरत उपविष्टाय दद्यात् ॥ २३ ॥

'सर्वं वा प्राश्नीयात्'। अथवा सर्वं स्वयं प्राश्नाति ॥ २४ ॥

'प्राग्वाऽसंचरे निनयेत्'। प्राक् प्राच्यां यत्र जना न संचरन्ति तस्मिन्नसंचरे मधुपर्कशेषं प्रक्षिपेत् ॥ २५ ॥

आचम्य प्राणान्त्सम्मृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति ॥ २६ ॥ आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ॥ २७ ॥ प्रत्याह, माता रुद्राणां दुहिता वसूनाᳬ स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मानᳬहनोमीति यद्यालभेत ॥ २८ ॥

(सरला)

आचम्य = आचमन करके। 'वाङ्' ' 'मे सह' इति=इस मंत्र से; प्राणान् = इन्द्रियस्थानों का; संमृशति = स्पर्श करता है। मे = मेरे; आस्ये=मुख में; वाक् = वाणी (हो); नसोः प्राणः = मेरी नासिकाओं (रन्ध्रद्वय) में प्राणवायु (श्वास हो); अक्ष्णोः=मेरे नेत्रों में; चक्षुः=ज्योति (हो); कर्णयोः = मेरे कानों में; श्रोत्रं = श्रवण-शक्ति (हो); बाह्वोः बलं=भुजाओं में बल (हो); ऊर्वोः = मेरी जाँघों में; ओजः=तेज (वेग) हो; मे तनूः=मेरा शरीर; तन्वा अङ्गानि सह=शरीरावयव के सहित; अरिष्टानि (सन्तु)=हानि रहित होवे ॥ २६ ॥ आचान्तोदकाय = आचमन किए हुए अतिथि के लिए; शासम् आदाय=(यजमान) शस्त्र लेकर; 'गौः' इति=गाय, गाय गाय-इस प्रकार; त्रिः प्राह=तीन वार कहता है ॥ २७ ॥ प्रत्याह = उत्तर में [अतिथि गाय की स्तुति करते हुए] कहता है कि; रुद्राणां माता=हे गाय ! तुम रुद्रों की माँ हो; वसूनां दुहिता=वसु देवताओं की पुत्री हो; आदित्यानां स्वसा=आदित्यों की बहन हो; अमृतस्य नाभिः=और अमरता [अर्थात् दूध] की नाभि [अर्थात् उत्पत्ति स्थान] हो ; चिकितुषे जनाय प्रवोचम्=चेतनावान्

पुरुषों से मैं यह कहता हूं [कि आप इस]; अनागां गाम्=निरपराध गाय को, मा वधिष्ट=मत मारिए क्योंकि; अदितिम्=[दुग्ध दान के कारण] यह अदिति [रूप में माता अथवा पृथ्वी का रूप] है। यदि आलभेत = यदि गौ का आलम्भन (वध) करना हो तो; मम च अमुष्य च = मैं अपने और अमुक [यजमान] के; पाप्मानम् = पाप को; हनोमि = नष्ट करता हूँ; इति = यह [कहना चाहिए] ॥ २८ ॥

हिन्दी—आचमन करके '[1]वाङ्'''मे सह' इस मंत्र से इन्द्रियों का स्पर्श करता है। मेरे मुख में वाणी हो; मेरी नासिकाओं में प्राण वायु हो; मेरे नेत्रों में ज्योति हो; मेरे कानों में श्रवण-शक्ति हो; भुजाओं में बल हो; मेरी जाँघों में वेग हो; मेरा शरीर' शरीर के अवयवों के सहित हानिरहित होवे ॥ २७ ॥ आचमन किए हुए [अतिथि के लिए यजमान] शस्त्र लेकर 'गौः' यह शब्द तीन बार कहता है ॥ २६ ॥ उत्तर में [अतिथि] कहता है कि हे गाय[2] ! तुम रुद्रों की माता हो वसुदेवताओं की पुत्री हो; आदित्यों की बहन हो और अमृतत्व रूप दुग्ध की उत्पत्ति स्थान हो; अतः चेतनावान पुरुषों से मैं यह कहता हूँ [कि आप इस] निरपराध गाय को मत मारिए क्योंकि यह [दुग्ध देने से] अदिति है। यदि गौ का आलम्भन करना हो तो 'मै अपने और अमुक यजमान के पाप को नष्ट करता हूँ' यह [कहना चाहिए] ॥ २८ ॥

१. वाङ् म आस्ये''' यह मंत्र पाठभेद के साथ तै० सं. ५. ५. ९. २ में और अथर्व १९. ६० १, २ में विद्यमान है।

२. यह मंत्र ऋ० ८.१०१.१५ का है।

(हरिहर०)

आचम्य प्राणान् सम्मृशति वाङ् म आस्ये इत्यादिभिर्मन्त्रैः। तथथा-आचमनं सकृन्मन्त्रेण। ततस्त्रिराचम्य एवं सर्वत्र स्मार्तमाचमनं कृत्वा प्राणान् इन्द्रियाणि सम्मृशति सजलमालभते। तथथा-'वाङ् म आस्ये' इति मुखं कराग्रेण, 'नसोर्मे प्राणः' इति तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां युगपद्दक्षिणादिनासारन्ध्रे, 'अक्षणोर्मे चक्षुरस्तु' इति अनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यां युगपच्चक्षुषी, 'कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु' इति मन्त्रावृत्त्या दक्षिणोत्तरौ कर्णौ, 'बाह्वोर्मे बलमस्तु' इति कर्णवद् बाहू, 'ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु' इति युगपद्धस्तेनोरू, 'अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु इति शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि सर्वाण्यङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभते ॥ २६ ॥

आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह। आचान्तमुदकं येन स आचान्तोदकस्तस्मै अर्घ्याय शासं खड्गं गृहीत्वा यजमानः—गौर्गौर्गौः आलभ्यतामिति प्राह ब्रवीति ॥ २७ ॥

ततोऽर्घ्यः प्रत्याह माता रुद्राणां दुहिता वसूना ᳪ स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मान ᳪ हनोमीति यद्यालभेत। ततोऽर्घ्यः—माता रुद्राणामित्यादिवधिष्टेत्यन्तं मन्त्रं पठित्वा मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मानं हनोमीति पठति यदि गामालभेत् ॥ २८ ॥

(गदाधर०)

'आचम्य''''मे सहेति'। आचम्य 'वाङ्म आस्ये' इत्येतैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं प्राणायतनानि संमृशति हस्तेन स्पृशति। सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादस्त्वित्यध्याहारः। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूरित्यत्र तु सन्त्वित्यध्याहारः। मे पदस्य सर्वत्रानुषङ्गः। नन्वध्याहारानुषङ्गयोः को विशेषः ? उच्यते। अनुषङ्गः श्रुतपदानयनम्, अध्याहारः अश्रुतपदस्य लौकिकस्यानयनं वाक्यनैराकाङ्क्ष्यार्थम्। प्रयोजनं चाध्याहृतपदस्य संहितावत्प्रयोगो न भवति, सावसानं प्रयोग इत्यर्थः। अयमर्थः कर्कोपाध्यायैरपि पशुसमंजनप्रकरणे प्रदर्शितः। अत्रैवं वाङ् म आस्ये अस्त्विति मुखम्। नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति नासिकाछिद्रद्वयं युगपत्।

अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्वित्यक्षिद्वयं युगपत्। कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति दक्षिणं कर्णमभिमृश्य ततो वाममनेनैव मन्त्रेण। बाह्वोर्मे बलमस्त्विति दक्षिणं बाहुं ततो वाममनेनैव मन्त्रेण। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्त्वित्यूरुद्वयं युगपदेव। अरिष्टानि० सह सन्त्विति शिरःप्रभृति सर्वाङ्गानां युगपत्। हरिहरेण प्राणायतनस्पर्शः सजलहस्तेन कर्तव्य इत्युक्तं, तदतीव मन्दम्। न ह्यत्र सूत्रे जलग्रहणमस्ति। सर्वाङ्गालम्भे उभाभ्यां हस्ताभ्यामालम्भ उक्तः, सोऽपि न युक्तः। आचम्येति ग्रहणमाचान्तोदकायेति वक्ष्यमाणत्वादनाचान्तस्यैव प्राणायतनसंमर्शनं मा भूदित्येतदर्थम्। मन्त्रार्थः—मे मम वागिन्द्रियमास्येऽस्तु। नसोर्नासिकयोः प्राणः प्राणवायुः। अक्ष्णोर्नेत्रगोलकयोरिति यावत् चक्षुश्चक्षुरिन्द्रियम्। श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्। बलं शक्तिः। ओजस्तेजः। मे मम तनूः देहः तन्वा देहस्याङ्गानि च सह युगपत् अरिष्टानि अनुपहतानि सन्तु ॥ २६ ॥

'आचान्तो' ..... 'प्राह'। आचान्तमुदकं येनासौ आचान्तोदकः तदर्थं शासमसिमादाय गामानीय गौरित्यर्घयिता त्रिः प्राह। आलभ्यतामित्यध्याहारः। आचान्तोदकग्रहणात्पुनराचमनमिति केचित्। आचान्तोदकायेति तादर्थ्ये चतुर्थी। शासादानस्य तादर्थ्यं तु तदर्थपश्वालम्भनद्वारकम् ॥ २७ ॥

'प्रत्याह' .... 'यद्यालभेत'। अर्घ्यो यजमानं प्रत्याह—'माता' इत्यमुं मन्त्रम्। यदि गामालभेत तदा मम चामुष्य च पाप्मानँ हनोमीति तदन्ते प्रयोगः। अत्रामुष्यशब्दमुद्धृत्यार्घयितुर्नामग्रहणं कार्यम्। मन्त्रार्थः—अमृतस्य क्षीरस्य नाभिराश्रयः नु वितर्के, छन्दसि 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १-४-८२) इत्युक्तेरुपसर्गस्य वोचमित्यत्रान्वयः। प्रवोचं ब्रवीमि चिकितुषे चेतनावते जनाय यूयं इमां गां मा वधिष्ट मा हत किंतु गोपशुं विधातुं हतेति तात्पर्यार्थः। किंभूताम्? अनागाम् अनपराधाम् अदितिं देवमातरं पर्यादानात्। अहं ममामुष्यार्घयितुश्च पाप्मानं गोस्थाने हनोमि हन्मीति ॥ २८ ॥

अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ॐउत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् ॥ २९ ॥ न त्वेवामाँसोऽर्घः स्यात् ॥ ३० ॥ अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् ॥ ३१ ॥ यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः ॥ ३२ ॥

इति तृतीया कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—अथ यदि उत्सिसृक्षेत् = अथवा यदि छोड़ देना चाहे तो; 'मम च अमुष्य च = मेरा और अमुक [यजमान] का; पाप्मा हतः = पाप नष्ट हो गया' (यह कहकर) ओम् उत्सृजत = ॐ इसे छोड़ दो; तृणानि अत्तु = यह घास खाए' इति ब्रूयात् = यह कहना चाहिए ॥ २९ ॥ तु = किन्तु; अर्घः = अर्घ; अमांसः = बिना मांस का, न एव स्यात् = नहीं ही होना चाहिए ॥ ३० ॥ अधियज्ञम् अधिविवाहं = यज्ञ और विवाह के अवसर पर; कुरुत = करो; इति एव ब्रूयात् = यह ही कहना चाहिए [अर्थात् 'पाप्मा हतः' यह नहीं कहना चाहिए] ॥ ३१ ॥ यदि संवत्सरस्य = यदि वर्ष भर के भीतर ही; असकृत् = अनेक बार; सोमेन यजेत = सोम-यज्ञ करे; अपि = तो भी; कृतार्घ्या एनम् एव = वह अर्घ पाए हुए ऋत्विक् से

ही; याजयेयुः = यज्ञ करावे; 'नाकृतार्घ्याः'—क्योंकि जिनका अर्घ नहीं हुआ है वह ऋत्विक् (यज्ञ) नहीं (करा सकता); इति श्रुतेः=यह वेद का विधान है ॥ ३२ ॥

हिन्दी—और यदि छोड़ना चाहे तो यह कहे कि 'मेरा और अमुक [यजमान] का पाप नष्ट हो गया; ॐ, इसे छोड़ दो; यह घास खाए' ॥ २९ ॥ किन्तु अर्घ बिना मांस का नहीं होना चाहिए ॥ ३० ॥ यज्ञ और विवाह के समय 'करो' यह ही कहना चाहिए ॥ ३१ ॥ यदि साल भर के भीतर ही अनेक बार सोम–याग करे तो भी अर्घ पाए हुए ऋत्विक् से ही यज्ञ कराए; क्योंकि जिनका अर्घ नहीं हुआ है वह ऋत्विक् यज्ञ नहीं (करा सकता) यह वेदवचन है ॥ ३२ ॥

विशेष १.—पराशर और याज्ञवल्क्य के निषेध वचन से कलियुग में गवालम्भन वर्जित है—

यज्ञाधानं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥ पराशरे
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्नतु ॥ याज्ञवल्क्य ॥

अतः उनके स्थान पर कुश तोड़ देना चाहिए । जैसा कि वचन भी है—

विधाय वाऽपि गां कौशीं विधिं तत्र समाप्य च ।
गामुद्धृत्य च गां कौशीमैशान्यां तान् कुशान् त्यजेत् ॥ गदाधर टीका

आपस्तम्ब के अनुसार भी यज्ञ और विवाह में उत्सर्ग ही करना चाहिए—

"ऋष्युद्दिष्टं कलौ नैव पापं गोहत्यया समम् । अतो विवाहे यज्ञे च गामानीय समुत्सृजेत् ॥"

इति 'सरला' हिन्दीव्याख्यायां प्रथमकाण्डस्य तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

(हरिहर०)

अथ यद्युत्सिसृक्षेत् । अथवा अर्घ्यो यदि गामुत्स्रष्टुमिच्छेत् तदा मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मा हतः ॐउत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् । ओमित्यन्तमुपांशु पठित्वा उत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् इत्यन्तमुच्चैः पठेत् ॥ २९ ॥

न त्वेवामाꣳसोऽर्घः स्यात् । तु शब्दः पक्षव्यावृत्तौ । अर्घः अमांसः पश्वालम्भवर्जितो नैव भवेत् ॥ ३० ॥

अत्र 'यद्यालभेत' 'यद्युत्सिसृक्षेत्' इत्यनेन सूत्रेण गवालम्भस्य विकल्पं विधाय 'न त्वेवामाꣳसः' इत्यनेन गवालम्भनमर्घमात्रे नियमेन विधत्ते तथा च सति द्वयोः स्मृत्योर्विरोधे अप्रामाण्ये प्राप्ते व्यवस्थामाह—अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् । अधियज्ञं यज्ञे, अधिविवाहं विवाहे, कुरुत विदधत, गवालम्भं पाप्मानं हनोमीत्यस्यान्ते इत्येवं वदेत्, अन्यत्र 'पाप्मा हतः' इति 'पाप्मानꣳहनोमि' इति वा विकल्पो नान्यत्रेति भावः । यद्यप्येवं मधुपर्के गवालम्भ आचार्येणोक्तः तथापि अस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वाच्च कलौ न विधेयः ।

'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ॥'

इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु निषेधदर्शनात् ॥ ३१ ॥

यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः ॥ यद्यपि असकृत्संवत्सरस्य संवत्सरे असकृत्पुनः सोमेन ज्योतिष्टोमादिना यजेत तदापि एनं सोमयाजिनं कृतमर्घ्यं कृतोऽर्घो येषां ते कृतार्घ्या एवं सन्तः याजयेयुर्यज्ञं कारयेयुः, न अकृतार्घ्याः । 'याजयेयुः' इति श्रुतिवचनात् । "सोमेन यजेत" इत्यनेन सोमयागार्थमेव वृता ऋत्विजः अर्घ्या इति गम्यते न यागान्तरार्थम् ॥ ३२ ॥

इति हरिहरभाष्ये तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

(गदाधर०)

अथ यद्युत्सि'' 'ब्रूयात्'। यद्यर्घ्यो गामुत्स्रष्टुमिच्छेत्तदैवं प्रयोगः—मातारुद्राणामित्युक्त्वा मम चामुष्य च पाप्मा हतः ॐ उत्सृजत तृणान्यत्तु। अत्राप्यमुष्य स्थाने अर्घयितुर्नामग्रहणम्। ॐ उत्सृजत तृणान्यत्त्विति उच्चैर्ब्रूयात् शेषमुपांशु ॥ २९ ॥

एवं गवालम्भस्य सर्वत्र विकल्पे प्राप्ते क्वचिन्नियममाह—'नत्वेवा'''तेत्येव ब्रूयात्'। यज्ञविवाहयोरमांसोऽर्घो न भवति। यज्ञमधिकृत्य विवाहमधिकृत्य कुरुतेत्येवं प्रयोगः। अतश्चालम्भनियमो यज्ञविवाहयोः। गोरालम्भश्च कलिवर्जिते काले भवति।

'यज्ञाधानं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥' इति पराशरस्मृतेः।

अतश्च गवालम्भस्य कलौ निषिद्धत्वादुत्सर्गस्य च यज्ञविवाहयोरप्राप्तत्वाद् गौरित्युच्चारणादि यज्ञविवाहयोः कलौ न प्रवर्तते। यज्ञविवाहयोरन्यत्र तूत्सर्गपक्ष एव कलौ। कलौ गोपशोर्निषेधात्तत्स्थाने अजालम्भः पायसं वेति जयरामः ॥ ३०-३१ ॥

परिगतसंवत्सरा अर्घ्या भवन्तीत्युक्तं, तदपवादमाह—'यद्यप्यस'' इति श्रुतेः'। यद्यपि संवत्सरस्य मध्ये असकृत्पुनः पुनः सोमेन यजेत तथाप्येनं यजमानं कृतार्घ्या एव ऋत्विजो याजयेयुः नाकृतार्घ्याः। कुतः ? श्रुतेः। एतत्सूत्रादेवं ज्ञायते-सोमयागार्थमेव वृता ऋत्विजोऽर्घ्या नेतरयागार्थमिति। 'यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः' इत्यनेनैव गतार्थत्वात् सोमेन यक्ष्यमाणा एवार्घ्या इति नियमविधानार्थं पृथगारम्भः। ननु 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्येकस्मिन् संवत्सरे एक एव सोमयागः प्राप्तस्तत्कथमुच्यते—'असकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत' इति ? सत्यम्, उच्यते। यद्यपि नित्यः सोमयागः सकृदेवानुष्ठातव्यस्तथापि कामनायां चोदितायां पुनः पुनरनुष्ठानं संभवत्येव द्वादशाहादीनाम्। यद्वा नित्यो वाजपेयस्तस्यानुष्ठाने तदङ्गभूतानां परियज्ञानामनुष्ठानं भवति। तस्मात्साधूक्तमसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेतेति। वरशाखया मधुपर्कदानं गृह्यपरिशिष्टे—

'वरस्य या भवेच्छाखा, तच्छाखागृह्यचोदितः।
मधुपर्कः प्रदातव्यो नान्यशाखेऽपि दातरि ॥' इति।

अत्र ऋत्विगाद्युपलक्षणार्थं वरदातृशब्दौ। तदुक्तम्—'अर्च्यशाखया मधुपर्कः' इति। याज्ञिकास्तु 'अर्च्यस्य यच्छाखीयं कर्म तच्छाखीयो मधुपर्कः' इति वदन्ति। तथा जगन्नाथकारिकायाम्—

तत्तद्गृह्योक्तविधिना विष्टराद्यर्हणं ततः।' इति।

सर्वत्र यजमानशाखयैव मधुपर्क इति जयन्तः, तत्तु कैरपि नादृतम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

चतुर्थी कण्डिका

चत्वारः पाकयज्ञा हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ॥ १ ॥ पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति ॥ २ ॥ उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय ॥ ३ ॥ निर्मन्थ्यमेके विवाहे॥ ४ ॥ उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे ॥ ५ ॥ कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात् ॥ ६ ॥ त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु ॥ ७ ॥ स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा ॥ ८ ॥

(सरला)

प्राक्कथनः—प्रस्तुत कण्डिकामें अब अग्निसाध्य कर्म कितने होते हैं उनका निरूपण करते हैं। इस संदर्भमें पाक यज्ञोंका स्वरूप बतलाकर विवाह विधिका प्रारम्भ कपड़ा पहनने से होता है। इसके बाद समञ्जन (वर-कन्याका परस्पर देखना), कन्यादान और समीक्षण का वर्णन करते हैं—

व्याख्या—चत्वारः[1] पाकयज्ञाः = पाक यज्ञ (पाके यज्ञाः पाकयज्ञाः अर्थात् गृह्याग्निमें होनेवाले यज्ञ) चार प्रकारके होते हैं—हुत = होम; वह कर्म जिसमें सिर्फ होम ही हो जैसे सायं प्रातः होम; अहुत = वह कर्म जो हवन व बलि रहित हो जैसे स्रस्तरारोहण; प्रहुत = जिसमें हवन और बलिकर्म व भोजन हो जैसे पक्षादिकर्म; प्राशित = जिसमें सिर्फ प्राशन ही हो। न बलि हो, न हवन जैसे सभी गायके दूधका अपणानन्तर ब्राह्मण भोजन[2]; इति=इस तरह से चार प्रकार हैं॥१॥ विवाहे, चूणाकरणं, उपनयने, केशांते, सीमन्तोन्नयने = विवाह, मुण्डन, यज्ञोपवीत, केशांत; सीमन्तोन्नयन; इति पञ्चसु=इन पांच संस्कारोंमें [होमादि कर्म बहिः शालायां = [अग्निहोत्र गृहसे पृथक्] बाहर मण्डपमें होता है ॥ २ ॥ उपलिप्ते = लिपे हुए; उद्धते = मिट्टी निकाले हुए; अवोक्षिते = अभिसिंचित वेदिका में; अग्निं = अग्नि को; उपसमाधाय = स्थापित करके [विवाह करना चाहिए][3] ॥ ३ ॥ एके = कुछ ऋषिके मतसे; विवाहे = विवाह में; निर्मन्थ्यम् = मथकर निकाले हुए अग्निका [स्थापन करना चाहिए] ॥ ४ ॥ उदगयन = सूर्य जब उत्तरायण हो; आपूर्यमाणपक्षे = शुक्लपक्ष में; पुण्याहे = माङ्गलिक तिथि वार में; ॥ ५ ॥ कुमार्याः = कुमारी का; पाणिं = हाथ; गृह्णीयात् = पकड़े। ॥ ६ ॥

त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु = तीन-तीन उत्तरादि नक्षत्रोंमें [त्रिषु = उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा। त्रिषु = उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा। उत्तरादिषु = उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी इनमें से कोई एक होना चाहिए] ॥ ७ ॥ वा = अथवा; स्वातौ=स्वाती मृगशिरसि = मृगशिरा और; रोहिण्याम् = रोहिणी में [विवाह करे] ॥ ८ ॥

१—आश्वलायनके मत से तीन ही पाक यज्ञ होते हैं; १. १. २।

द्रष्टव्य—आपस्तम्ब १. २. ९।

२—पार० गृ० काण्ड ३ कण्डिका १० में यह कर्म आया है।

३—यह सूत्र प्रथमकाण्डकी पहली कण्डिका में भी आया है।

हिन्दी—पाक-यज्ञ चार होते हैं—हुत, अहुत, प्रहुत और प्राशित ॥ १ ॥ विवाह, मुंडन, यज्ञोपवीत, केशांत, सीमन्तोन्नयन इन पांच संस्कारों में हवन आदि बाहर मण्डप में करना चाहिए ॥ २ ॥ लिपे हुए, मिट्टी निकाले हुए; अभ्युक्षित वेदिका पर अग्निको स्थापित करके [विवाह कर्म करे] ॥ ३ ॥ कुछ आचार्य विवाहमें मथकर निकाली हुई अग्निका [स्थापन बताते हैं] ॥ ४ ॥ सूर्यके उत्तरायण होने पर, शुक्लपक्षमें माङ्गलिक तिथिमें ॥ ५ ॥ कुमारीका हाथ पकड़ना चाहिए ॥ ६ ॥

तीन-तीन उत्तरादि नक्षत्रोंमें [अर्थात् उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा । उत्तराषाढ़ श्रवण धनिष्ठा । उत्तर भाद्रपद, रेवती, अश्विनी इनमें से कोई एक होना चाहिए] ॥ ७ ॥ अथवा स्वाती, मृगशिरा और रोहिणी में [विवाह करे] ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

चत्वारः पाकयज्ञाः ॥ पच्यते श्रप्यते ओदनादिकमस्मिन्निति पाको गृह्याग्निः तस्मिन् पाके, नान्यत्रेति भावः । पाके यज्ञाः पाकयज्ञाः । यतः—"वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥"

इति मनुना दैनन्दिनपाको गृह्येऽग्नौ स्मर्यते । ते चत्वारः चतुर्विधा भवन्ति । कथम् ? हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ॥ तत्र हुतः होममात्रं, यथा सायंप्रातर्होमः । अहुतः होमबलिरहितं कर्म, यथा स्रस्तरारोहणम् । प्रहुतः यत्र होमो बलिकर्मभक्षणं च यथा पश्वादिकर्म । प्राशितः यत्र प्राशनमात्रं न होमो न बलिः यथा सर्वासां गवां पयसि पायसश्रपणानन्तरं ब्राह्मणभोजनम् । इत्थं चतुर्विधाः ॥ १ ॥

पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति । पंचसु संस्कारकर्मसु बहिः शालायां गृहाद्बहिः शाला बहिःशाला, मण्डप इति यावत् । तस्यां कर्म भवति । यथा—विवाहे परिणयने, चूडाकरणे चौरकर्मणि, उपनयने मेखलाबन्धे, केशान्ते गोदानकर्मणि, सीमन्तोन्नयने गर्भसंस्कारे । एतेषु पञ्चसु बहिःशालायामनुष्ठानम् । अन्यत्र गृहाभ्यन्तरे मुखशालायामेव ॥ २ ॥

उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय । उपलिप्ते गोमयोदकेन, उद्धते स्फ्येन उल्लिखितेनेति तिसृभी रेखाभिः, अवोक्षिते उदकेनाभ्युक्षिते, बहिःशालागृहयोरन्यतरस्मिन् प्रदेशे अग्निमुपसमाधायाय अग्निं लौकिकमावसथ्यं वा उपसमाधाय स्थापयित्वा । अयं च लेपनादिविधिर्नापूर्वः, अपि तु "परिसमूह्य" (पा० गृ० कां० १ कं० १ सू० २) इत्यादिपूर्वोक्तस्यैवानुवादः । ततश्चात्रानुक्तमपि परिसमूहनम् उद्धरणं च सर्वत्र भवति । "एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः" (पा० गृ० कां० १कं० १सू० ५) इति वचनात् ॥ ३ ॥

निर्मन्थ्यमेके विवाहे । एके आचार्याः विवाहे पाणिग्रहे निर्मन्थ्यम् आरणेयमग्निं वैवाहिकहोमाधिकरणमिच्छन्ति ॥ ४ ॥

अथ विवाहाख्यं कर्माह—उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे । कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात् । उदगयने मकरादिराशिषट्कस्थिते रवौ, आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे, पुण्याहे । ज्योतिःशास्त्रोक्तविष्ट्यादिदोषरहिते । कुमार्याः अनन्यपूर्विकायाः कन्यायाः । अनेन विंशतिप्रसूतायाः स्मृत्यन्तरविहितस्य पुनर्विवाहस्यानियमः । इच्छा चेत्करोति । पाणिं गृह्णीयात् पाणिं हस्तं स्वगृह्योक्तविधिना गृह्णीयात् ॥ ५–६ ॥

अस्मिन्नयनपक्षदिनानि नियम्य नक्षत्रनियममाह—त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु । स्वातौ मृगशिरसि

रोहिण्यां वा ॥ उत्तरा आदिर्येषां तान्युत्तरादीनि तेषु । कतिषु ? त्रिषुत्रिषु । तथा हि—उत्तराफाल्गुनीहस्तचित्रा इति त्रीणि, उत्तराषाढाश्रवणधनिष्ठा इति त्रीणि, तथा उत्तराभाद्रपदारेवत्यश्विन्य इति त्रीणि । स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा । एतेषां नक्षत्राणामन्यतमे इत्यर्थः ॥ ७–८ ॥

(गदाधर०)

'चत्वारः पाकयज्ञाः' । पाकयज्ञा इति कर्मणां नामधेयानि । चतुष्प्रकारा भवन्ति । के ते ? 'हुतो' ' 'शित इति' । हुतः होममात्रं, यथा सायंप्रातर्होमः । अहुतः यत्र न हूयते, यथा स्रस्तरारोहणम् । प्रहुतः यत्र हूयते बलिहरणं च, यथा पश्वादिः । प्राशितः यत्र प्राश्यत एव न होमो न बलिहरणं, यथा—'सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान् भोजयेत्' इति । ननूपदिश्यमाना एवैते चत्वारो भवन्ति, प्रकारकथनं प्रवृत्तिविशेषकत्वाभावादनर्थकमिति चेत् । नानर्थकं, प्रकारान्तरसूचनार्थत्वात् । चत्वारः प्रकारा उपदिष्टाः, अस्ति हि पञ्चमः प्रकारः, स नोपदिष्टः, तत्सूचनार्थमेवैतत्सूत्रम् । कश्चासौ ? ब्रह्मयज्ञ इति । तस्य विधेर्ब्राह्मणोपदिष्टत्वात् । एतावता तदवश्यमहरहरध्येतव्यमिति भर्तृयज्ञः ॥ १ ॥

'पञ्चसु' ' ' श्रयन इति' । विवाहादिषु पञ्चसु कर्मसु गृहाद्बहिः शालायां कर्म भवति, अन्यत्रान्तः शालायां बहिः शालायां वा भवति । विवाहे तु मण्डपो वसिष्ठेनोक्तः—

'षोडशारत्निकं कुर्यात् चतुर्द्वारोपशोभितम् । मण्डपं तोरणैर्युक्तं तत्र वेदिं प्रकल्पयेत् ॥
अष्टहस्तं तु रचयेन्मण्डपं वा द्विषट्करम् ॥'

वेदीकरणं नारदोक्तम्—

'हस्तोच्छ्रितां चतुर्हस्तैश्चतुर्हस्तां समन्ततः । स्तम्भैश्चतुर्भिः सुश्लक्ष्णां वामभागे तु सद्मनः ॥
समां तथा चतुर्दिक्षु सोपानैरतिशोभिताम् । प्रागुदक्प्रवणां रम्भास्तम्भहंसशुकादिभिः ॥
एवंविधामारुरुक्षेन्मिथुनं साग्निवेदिकाम् ॥' इति ।

सप्तर्षिमते च—

'मङ्गलेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहवामतः ।
कार्यः षोडशहस्तो वा न्यूनहस्तो दशावधिः ॥
स्तम्भैश्चतुर्भिरेवात्र वेदी मध्ये प्रतिष्ठिता ॥' इति ।

कारिकायामपि विवाहे मण्डपवेदीकरणमुक्तम् ॥ २ ॥

'उपलि' ' 'धाय' । यत्राग्नेः स्थापने तत्रोपलिप्ते उद्धृते अवोक्षिते उदकेनाभ्युक्षिते देशेऽग्निस्थापनम् । अत्रानेन पञ्चाग्निसंस्कारा लक्ष्यन्ते । ननु परिसमूहनादेरुक्तत्वात् किमर्थमुपलेपनादिकमुच्यते ? सत्यम् , उच्यते—'यत्र क्वचिद्धोमः' (पा० गृ० कां० १ कं० १सू० ५) इत्यनेनाप्राप्तिः परिसमूहनादेरग्न्यर्थत्वाद्यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते भवन्ति । तथा च लिङ्गम्–'उद्धृते वा अवोक्षितेऽग्निमादधाति' इति । 'एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः' इत्यनेन च होमार्थमग्निस्थापने स्युः, अन्यत्र गृहान्तरेऽग्निनिधाने अग्निगमने मथित्वाऽग्निस्थापने च न स्युः । किं च "एष एव" इत्यनेन यत्र स्वस्थानस्थितेऽग्नौ स्थालीपाकादिकं क्रियते तत्रापि पञ्चैते स्युः तन्मा भूदिति अनेन सूत्रेण ज्ञाप्यते । उपलिप्त उद्धृतावोक्षिते देशेऽग्निमुपसमाधाय विवाहो भवतीति भर्तृयज्ञैः सूत्रं योजितम् । परिसमूहनपरिसंख्या च तेषां मते ॥ ३ ॥

निर्मन्थ्यमेके विवाह इति कर्मणो नामधेयम् । एके विवाहकर्मणि निर्मन्थ्यमग्निमिच्छन्ति । अन्ये लौकिकमिच्छन्ति निर्मन्थ्योऽचिरनिर्मथितो ग्राह्यः । सर्व एव ह्यग्निर्म-

(गदाधर०)

न्थनाज्जायते । यथा 'नावनीतेन भुङ्क्ते' इत्युक्ते अचिरदग्धेनेति ज्ञायते । अत्र या काचिदरणिर्ग्राह्या ॥ ४ ॥

'उदग······पुण्याहे'। उदगयने उत्तरायणे आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे पुण्याहे शोभने विष्ट्यादिरहितकाले दैवानि कर्माणि कुर्यात्। एवं हि श्रूयते—"स यत्रोदङ्ङावर्तते देवेषु तर्हि भवति" इति । तस्मात्तत्र देवकर्मोचितम् । आपूर्यमाणः सोऽपि देवानामेव। तथा "य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवानाम्" इति श्रुतेः । पुण्याहोऽपि । उदगयनादीनां समुच्चयः । तेन सर्वं देवकर्मोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कार्यम् । इदं चानुक्तकालविषयं सूत्रम् । यत्र नियतः कालो यथा "सायं जुहोति" "प्रातर्जुहोति" "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत" 'अमावास्यायाममावास्यया यजेत' इत्यादौ, तत् तत्काले कार्यम् । न हि शुक्लपक्षे पुण्याहादावग्निहोत्राद्यनुष्ठानमिष्टमहरहरनुष्ठातव्यत्वात्। अत उपनयनचूडाकरणादीनि उदगयनादौ कार्याणि। अन्यानि तु येषु न समुच्चयः संभवति तानि यथासंभवमेतेषु कर्तव्यानि । यथा सर्पबलिरनाहिताग्न्याग्रयणमित्यादीनीति तन्त्ररत्ने । एवं पित्र्याणि दक्षिणायनेऽपराह्ने च॥५॥

'कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात्' । कुमार्या अक्षतयोन्याः पाणिं गृह्णीयात् वक्ष्यमाणेन विधिना विवाहं कुर्यात्। विंशतिप्रसूताव्युदासार्थं कुमारीग्रहणम् । स्मर्यते हि तस्याः पुनर्विवाहः ॥ ६ ॥

'त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु' । उत्तरा आदिर्येषां तान्युत्तरादीनि तेषु त्रिषु त्रिषु । अयमर्थः—उत्तराफाल्गुन्यां हस्ते चित्रायां च, एवमुत्तराषाढायां श्रवणे धनिष्ठायां च, एवमुत्तराप्रोष्ठपदि रेवत्यामश्विन्यां च ॥ ७ ॥

'स्वातौ···हिण्यां वा' । एतेषामन्यतमे वा नक्षत्रे विवाहो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे इत्युक्तत्वात् कालप्रसङ्गाच्च स्मृत्यन्तरोक्तसंवत्सरादिकन्याविवाहकालोऽत्र निरूप्यते । तत्र ज्योतिर्निबन्धे—

'षडब्दमध्ये नोद्वाह्या कन्या वर्षद्वयं यतः । सोमो भुङ्क्ते ततस्तद्वद्गन्धर्वश्च तथाऽनलः ॥'

(तथा यमः ।)

'सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः । कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्मगर्हितः ॥'

राजमार्तण्डे—

'अयुग्मे दुर्भगा नारी युग्मे तु विधवा भवेत् । तस्माद्गर्भान्विते युग्मे विवाहे सा पतिव्रता ॥

मासत्रयादूर्ध्वमयुग्मवर्षे युग्मेऽपि मासत्रयमेव यावत् ।
विवाहशुद्धिं प्रवदन्ति सन्तो वात्स्यादयः स्त्रीजनिजन्यमासीत् ॥'

स्मृत्यन्तरे तु—

'जन्मतो गर्भाधानाद्वा पञ्चमाब्दात्परं शुभम् । कुमारीवरणं दानं मेखलाबन्धनं तथा ॥'

इत्युक्तम् । सर्वसंग्रहवाक्यानि कारिकायाम्—

'अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥
दशमे नग्निका वा स्याद् द्वादशे वृषली स्मृता । अपरा वृषली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला ॥

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥
एतच्च प्रायिकं ज्ञेयं न रजोदर्शनं भवेत् ।
स्त्रीणां कासांचिद्वर्षेऽस्मिन्नाभाणि मनुनाऽपि तत् ॥

उद्वहेत्त्रिंशदब्दस्तु कन्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥

(गदाधर०)

एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्। वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम् ॥
त्रिंशद्वर्षो दशाब्दां च भार्यां विन्दति नग्निकाम्। तस्मादुद्वाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्॥
प्रदानं प्रागृतोस्तस्या ऊर्ध्वं कुर्वन् स दोषभाक्।
ज्येष्ठो भ्राता पिता माता दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
त्रयस्ते नरकं यान्ति स्वयमित्यब्रवीद्यमः। यस्तां विवाहयेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः ॥
असंभाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः। वृषलीसंग्रहीता यो ब्राह्मणो मदमोहितः ॥
सततं सूतकं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने। पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ॥
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता।
दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम् ॥
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम् ॥ इति।

अथ मासः

व्यासः—

माघफाल्गुनवैशाखे यदूढा मार्गशीर्षके। ज्येष्ठे चाषाढके चैव सुभगा वित्तसंयुता ॥
श्रावणेऽपि च पौषे वा कन्या भाद्रपदे तथा। चैत्राश्वयुक्कार्तिकेषु याति वैधव्यतां लघु ॥

नारदः—

'माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासाः शुभावहाः। कार्तिको मार्गशीर्षश्च मध्यमौ निन्दिताः परे ॥
पौषेऽपि कुर्यान्मकरस्थितेऽर्के चैत्रे भवेन्मेषगतो यदा स्यात्।
प्रशस्तमाषाढकृतं विवाहं वदन्ति गर्गा मिथुनस्थितेऽर्के ॥
मार्गे मासि तथा ज्येष्ठे क्षौरं परिणयं व्रतम्। ज्येष्ठपुत्रदुहित्रोस्तु यत्नेन परिवर्जयेत् ॥
कृत्तिकास्थं रविं त्यक्त्वा ज्येष्ठपुत्रस्य कारयेत्। उत्सवादिषु कार्येषु दिनानि दश वर्जयेत् ॥'

तथा रत्नकोशे—

'जन्मर्क्षे जन्मदिवसे जन्ममासे शुभं त्यजेत्। ज्येष्ठे मास्यादिगर्भस्य शुभं वर्ज्यं स्त्रिया अपि॥'

राजमार्तण्डे—

'जातं दिनं दूषयते वसिष्ठो ह्यष्टौ च गर्गो नियतं दशात्रिः।
जातस्य पक्षं किल भागुरिश्च शेषाः प्रशस्ताः खलु जन्ममासि ॥
जन्ममासे तिथौ भे च विपरीतदले सति। कार्यं मङ्गलमित्याहुर्गर्गभार्गवशौनकाः ॥
जन्ममासे निषेधेऽपि दिनानि दश वर्जयेत्। आरभ्य जन्मदिवसाच्छुभाः स्युस्तिथयोऽपरे ॥'

पराशरस्मृतौ विशेषः—

'अज्येष्ठा कन्यका यत्र ज्येष्ठपुत्रो वरो यदि। व्यत्ययो वा तयोस्तत्र ज्येष्ठो मासः शुभप्रदः ॥
ज्येष्ठस्य ज्येष्ठकन्याया विवाहो न प्रशस्यते। तयोरन्यतरे ज्येष्ठे ज्येष्ठो मासः प्रशस्यते ॥'

तथा—

'द्वौ ज्येष्ठौ मध्यमौ प्रोक्तावेकज्येष्ठं शुभावहम्। ज्येष्ठत्रयं न कुर्वीत विवाहे सर्वसंमतम् ॥'

यत्तु 'सार्वकालमेके विवाहः' इति वदन्ति तत्प्रौढायां कन्यायां वेदितव्यम्। तथा च राजमार्तण्डे—

'राहुग्रस्ते तथा युद्धे पितॄणां प्राणसंशये। अतिप्रौढा च या कन्या चन्द्रलग्नबलेन तु ॥'

यद्वा तदासुरादिविवाहविषयम्। तथा च गृह्यपरिशिष्टम्—'धर्म्येषु विवाहेषु कालपरीक्षणं, नाधर्म्येषु' इति।

(गदाधर०)

अथ गुर्वादिबलम् ।

तत्र गर्गः—

'स्त्रीणां गुरुबलं श्रेष्ठं पुरुषाणां रवेर्बलम् । तयोश्चन्द्रबलं श्रेष्ठमिति गर्गेण भाषितम् ॥'

देवलः—

'नष्टात्मजा धनवती विधवा कुशीला पुत्रान्विता हतधवा सुभगा विपुत्रा ।
स्वामिप्रिया विगतपुत्रधवा धनाढ्या वन्ध्या भवेत्सुरगुरौ क्रमशोऽभिजन्म ॥'

गर्गः—

'जन्मत्रिदशमारिस्थः पूजया शुभदो गुरुः । विवाहेऽथ चतुर्थाष्टद्वादशस्थो मृतिप्रदः ॥

अस्यापवादः—

'सर्वत्रापि शुभं दद्याद् द्वादशाब्दात्परं गुरुः । पञ्चषष्ठाब्दयोरेव शुभगोचरता मता ॥
सप्तमात्पञ्चवर्षेषु स्वोच्चस्वर्क्षगतो यदि । अशुभोऽपि शुभं दद्याच्छुभदर्क्षेषु किं पुनः ॥
रजस्वलायाः कन्याया गुरुशुद्धिं न चिन्तयेत् । अष्टमेऽपि प्रकर्तव्यो विवाहस्त्रिगुणार्चनात् ॥
अर्कगुर्वोर्बलं गौर्या रोहिण्यर्कबला स्मृता । कन्या चन्द्रबला प्रोक्ता वृषली लग्नतो बला ॥
अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥'

बृहस्पतिः—

झषचापकुलीरस्थो जीवोऽप्यशुभगोचरः । अतिशोभनतां दद्याद् विवाहोपनयादिषु ॥'

शौनकः—

'गुर्वादित्ये व्यतीपाते वक्रातीचारगे गुरौ । नष्टे शशिनि शुक्रे वा बाले वृद्धेऽथवा गुरौ ॥
पौषे चैत्रेऽथ वर्षासु शरध्यधिकमासके । केतूद्गमे निरंशेऽर्के सिंहस्थेऽमरमन्त्रिणि ॥
विवाहव्रतयात्रादि पुनर्हर्म्यगृहादिकम् । क्षौरं विद्योपविद्यां च यत्नतः परिवर्जयेत् ॥'

तथा—

'सिंहस्थं मकरस्थं च गुरुं यत्नेन वर्जयेत् ।'

लल्लः—

'अतिचारगतो जीवस्तं राशिं नैति चेत्पुनः । लुप्तसंवत्सरो ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥'

सिंहस्थगुरोरपवादो वसिष्ठेनोक्तः—

'विवाहो दक्षिणे कूले गौतम्या नेतरत्र तु । भागीरथ्युत्तरे कूले गौतम्या दक्षिणे तथा ॥
विवाहो व्रतबन्धश्च सिंहस्थे ज्ये न दुष्यति ॥'

पराशरोऽपि—

'गोदाभागीरथीमध्ये नोद्वाहः सिंहगे गुरौ । मघास्थे सर्वदेशेषु तथा मीनगते रवौ ॥'

सर्वत्र गुरुबलालाभे शौनकोक्ता शान्तिः कार्या । सा चास्माभिः प्रयोगे लेखनीया । अतिचारगे गुरौ तु वसिष्ठः—

'अतिचारगते जीवे वर्जयेत्तदनन्तरम् । विवाहादिषु कार्येषु अष्टाविंशतिवासरान् ॥'

रत्नमालायाम्—

'एकपञ्चनवयुग्मषड्दशत्रीणिसप्तचतुरष्टलाभदः ।
द्वादशाजवृषभादिराशितो घातचन्द्र इति कीर्तितो बुधैः ।'

नारदः—

'भूबाणनवहस्ताश्च रसो दिग्वह्निशैलजाः । वेदा वसुशिवादित्या घातचन्द्रा यथाक्रमम् ॥

(गदाधर०)

यात्रायां शुभकार्येषु घातचन्द्रं विवर्जयेत्। विवाहे सर्वमाङ्गल्ये चौलादौ व्रतबन्धने ॥
घातचन्द्रो नैव चिन्त्य इति पाराशरोऽब्रवीत् ॥'

ज्योतिर्निबन्धेऽप्युक्तम्—

'विवाहचौलव्रतबन्धयज्ञे महाभिषेके च तथैव राज्ञाम् ।
सीमन्तयात्रासु तथैव जाते नो चिन्तनीयः खलु घातचन्द्रः ॥'

अकालवृष्टौ नारदः—

'अकालजा भवेयुश्चेद् विद्युन्नीहारवृष्टयः । प्रत्यर्कपरिवेषेन्द्रचापाभ्रध्वनयो यदि ॥
दोषाय मङ्गले नूनमदोषायैव कालजाः ॥'

अकालवृष्टिस्वरूपं च लल्लेनोक्तम्—

'पौषादिचतुरो मासान् प्रोक्ता वृष्टिरकालजा' । इति ।

'निर्घाते क्षितिचलने ग्रहयुद्धे राहुदर्शने चैव । आपञ्चदिनात्कन्या परिणीता नाशमुपयाति ॥
उल्कापातेन्द्रचापप्रबलघनरजोधूमनिर्घातविद्युद्-
वृष्टिप्रत्यर्कदोषादिषु सकलबुधैस्त्याज्यमेवैकरात्रम् ।
दुःस्वप्ने दुर्निमित्ते ह्यशुभतरदशे दुर्मनोद्भ्रान्तबुद्धौ
चौले मौञ्जीनिबन्धे परिणयनविधौ सर्वदा त्याज्यमेव ॥'

ज्योतिःप्रकाशे—

'अर्वाक् षोडशनाड्यः संक्रान्तेः पुण्यदाः परतः। उपनयनव्रतयात्रापरिणयनादौ विवर्ज्यास्ताः॥'

गर्गः—

'दिग्दाहे दिनमेकं च गृहे सप्तदिनानि तु। भूकम्पे च समुत्पन्ने त्र्यहमेव तु वर्जयेत् ॥
उल्कापाते त्रिदिवसं धूमे पञ्च दिनानि च । वज्रपाते चैकदिनं वर्जयेत् सर्वकर्मसु ॥
दर्शनादर्शनाद्राहुकेत्वोः सप्तदिनं त्यजेत् । यावत्केतूद्गमस्तावदशुभः समयो भवेत् ॥'

अद्भुतसागरेऽस्यापवादः—

'अथ यदि दिवसत्रयमध्ये मृदु पानीयं यदा भवति। उत्पातदोषशमनं तदैव शं प्राहुराचार्याः॥'

संबन्धतत्त्वे च—

'भूकम्पादेर्न दोषोऽस्ति वृद्धिश्राद्धे कृते सति' ।

अथ प्रतिकूलादिः । मेधातिथिः—

'वधूवरार्थं घटिते सुनिश्चिते वरस्य गेहेऽप्यथ कन्यकायाः ।
मृत्युर्यदि स्यान्मनुजस्य कस्यचित् तदा न कार्यं खलु मङ्गलं बुधैः॥' मङ्गलं विवाहः ।

तथा गर्गः—

'कृते तु निश्चये पश्चान्मृत्युर्भवति कस्यचित् । तदा न मङ्गलं कुर्यात् कृते वैधव्यमाप्नुयात् ॥'

स्मृतिचन्द्रिकायाम्—

'कृते वाङ्नियमे पश्चान्मृत्युर्मर्त्यस्य गोत्रिणः । तदा न मङ्गलं कार्यं नारीवैधव्यदं ध्रुवम् ॥'

भृगुः—

'वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्यचिन्मृतिः। तदोद्वाहो नैव कार्यः स्ववंशक्षयदो यतः ॥'

शौनकः—

'वरवध्वोः पिता माता पितृव्यश्च सहोदरः। एतेषां प्रतिकूलं हि महाविघ्नप्रदं भवेत् ॥
पिता पितामहश्चैव माता चैव पितामही । पितृव्यः स्त्री सुतो भ्राता भगिनी चाविवाहिता ॥
एभिरत्र विपन्नैश्च प्रतिकूलं बुधैः स्मृतम् । अन्यैरपि विपन्नैस्तु केचिदूचुर्न तद्भवेत् ॥'

(गदाधर०)

संकटे मेधातिथिराह—

'वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्यचिन्मृतिः। तदा संवत्सरादूर्ध्वं विवाहः शुभदो भवेत्॥'

स्मृतिरत्नावल्याम्—

'पितुरब्दमशौचं स्यात्तदर्द्धं मातुरेव च। मासत्रयं तु भार्यायास्तदर्द्धं भ्रातृपुत्रयोः॥
अन्येषां तु सपिन्डानामाशौचं मासमीरितम्। तदन्ते शान्तिकं कृत्वा ततो लग्नं विधीयते॥'

ज्योतिःप्रकाशे—

'प्रतिकूलेऽपि कर्तव्यो विवाहो मासतः परः। शान्तिं विधाय गां दत्त्वा वाग्दानादि चरेत् पुनः॥

शान्तिरत्ने विनायकशान्तिः। तथा च मेधातिथिः—

'संकटे समनुप्राप्ते याज्ञवल्क्येन योगिना। शान्तिरुक्ता गणेशस्य कृत्वा तां शुभमाचरेत्॥'

स्मृत्यन्तरे—

'प्रतिकूले न कर्तव्यो गच्छेद्यावदृतुत्रयम्। प्रातिकूलेऽपि कर्तव्यमित्याहुर्बहुविप्लवे॥
प्रतिकूले सपिण्डस्य मासमेकं विवर्जयेत्॥'

ज्योतिःसागरेऽपि—

'दुर्भिक्षे राष्ट्रभङ्गे च पित्रोर्वा प्राणसंशये। प्रौढायामपि कन्यायां नानुकूल्यं प्रतीक्ष्यते॥

मेधातिथिः—

'पुरुषत्रयपर्यन्तं प्रतिकूलं स्वगोत्रिणाम्। प्रवेशनिर्गमस्तद्वत्तथा मुण्डनमण्डने॥
प्रेतकर्माण्यनिर्वर्त्य चरेन्नाभ्युदयक्रियाम्। आचतुर्थं ततः पुंसि पञ्चमे शुभदं भवेत्॥'

मासिकविषये शाट्यायनिः—

'प्रेतश्राद्धानि सर्वाणि सपिण्डीकरणं तथा। अपकृष्यापि कुर्वीत कर्तुं नान्दीमुखं द्विजः॥'

वृद्ध्यभावे अपकर्षे दोषमाहोशनाः—

'वृद्धिश्राद्धविहीनस्तु प्रेतश्राद्धानि यश्चरेत्। स श्राद्धी नरके घोरे पितृभिः सह मज्जति॥' इति।

स्मृत्यन्तरे—

'सपिण्डीकरणादर्वागपकृष्य कृतान्यपि। पुनरप्यपकृष्यन्ते वृद्ध्युत्तरनिषेधनात्॥'

विवाहदिनादारभ्य चतुर्थीपर्यन्तं मध्ये श्राद्धदिनं दर्शदिनं च नायाति तादृशः।
कालो ग्राह्यः। तदुक्तं ज्योतिर्निबन्धे—

'विवाहमारभ्य चतुर्थिमध्ये श्राद्धदिनं दर्शदिनं यदि स्यात्।
वैधव्यमाप्नोति तदाशु कन्या जीवेत्पतिश्चेदनपत्यता स्यात्॥'

तथा—

'विवाहमध्ये यदि चेत्क्षयाहस्तत्र स्वमुख्याः पितरो न यान्ति।
वृत्ते विवाहे परतस्तु कुर्याच्छ्राद्धं स्वधाभिर्न तु दूषयेत्तम्॥'
श्रुतावपि—'ये वै भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः' इति॥

तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण ॥ ९ ॥ द्वे राजन्यस्य ॥ १० ॥ एका वैश्यस्य ॥ ११ ॥ सर्वेषाᳪ शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम् ॥ १२ ॥ अथैनां वासः परिधापयति—जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति ॥ १३ ॥

(सरला)

व्याख्या—ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण की, वर्णानुपूर्व्येण = वर्ण के क्रम से; तिस्रः = तीन [स्त्रियाँ ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तीनों वर्ण की कन्या विवाह के योग्य होती हैं] ॥ ९ ॥ राजन्यस्य = क्षत्रिय की; द्वे = दो [वर्णों में-क्षत्रिय और वैश्य की कन्या विवाह के योग्य हो सकती है ॥ १० ॥ वैश्यस्य = वैश्य की; एका = एक [अर्थात् वैश्य की ही कन्या होनी चाहिए] ॥ ११ ॥ सर्वेषां शूद्रां = सभी वर्णों की स्त्री शूद्रा; अपि एके = भी [हो सकती है] ऐसा कुछ ऋषियों का मत है। मन्त्रवर्जम् = [किन्तु उसका विवाह] विना वेद मंत्र के [होना चाहिए] ॥ १२ ॥

अथ = इसके बाद; एनां = इस कन्या को 'जरां ... वासः इति = इस मंत्र से; वासः परिधापयति = [वर] वस्त्र पहनाता है। जरां गच्छ = [बहुत दिन तक जीकर] वृद्धता को प्राप्त होओ, वासः परिधत्स्व = वस्त्र पहनो; अभिशस्तिपावा भव = [घर के लोगों को] शाप से बचाने वाली होओ। अकृष्टीनां = कामादि से आकृष्ट मनुष्यों के बीच में; शरदः शतं जीव = सौ शरद ऋतुओं तक जीओ। सुवर्चाः = पातिव्रत्य के तेज से युक्त होकर; रयिं च पुत्रान् = धन और पुत्रों को; अनु संव्ययस्व = अतिविस्तीर्ण करो। हे आयुष्मति ! इदं वासः परिधत्स्व = हे आयुष्मति इस वस्त्र को पहनो ॥ १३ ॥

हिन्दी—ब्राह्मण की वर्ण के क्रम से तीन [स्त्रियां ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तीनों वर्ण की कन्या विवाह के योग्य होती हैं] ॥ ९ ॥

क्षत्रिय की दो [वर्णों में-क्षत्रिय और वैश्य की कन्या विवाह के योग्य हो सकती है] ॥ १० ॥ वैश्य की एक [अर्थात् वैश्य की ही कन्या होनी चाहिए] ॥ ११ ॥ सभी वर्णों की स्त्री शूद्रा भी [हो सकती है] ऐसा कुछ ऋषियों का मत है। [किन्तु उसका विवाह] विना वेद मंत्र के [होना चाहिए] ॥ १२ ॥

इसके बाद इस कन्या को 'जरां ...... वास' इस मंत्र से [वर] वस्त्र पहिनाता है। [बहुत दिन तक जीकर] वृद्धता को प्राप्त होओ, वस्त्र पहनो [घर के लोगों को] शाप से बचाने वाली होओ। कामादि से आकृष्ट मनुष्यों के बीच में सौ शरद ऋतुओं तक जीओ। पातिव्रत्य के तेज से युक्त हो कर धन और पुत्रों को अतिविस्तीर्ण करो। हे आयुष्मती ! इस वस्त्र को पहनो ॥ १३ ॥

विशेष—१. तुलनीय ऋ० १–७६–३।

(हरिहर०)

कुमार्यः पाणिं गृह्णीयात् इति सामान्येनोक्तं तत्र विशेषमाह—तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण। द्वे राजन्यस्य। एका वैश्यस्य—ब्राह्मणस्य द्विजाग्रयस्य वर्णानुपूर्व्येण वर्णक्रमेण तिस्रः-ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, विवाह्या भवन्ति। द्वे क्षत्रियावैश्ये राजन्यस्य विवाह्ये भवतः। एका वैश्यैव वैश्यस्य विवाह्या भवति। वर्णानुपूर्व्यग्रहणाद् व्युत्क्रमो निषिद्धः ॥ ९–११ ॥

सर्वेषाँ शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्। ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रामप्येके विवाह्यां मन्यन्ते। तत्र विशेषः—मन्त्रवर्जं मन्त्ररहितं यथा भवति तथा। अत्र द्विजातीनामपि शूद्रापरिणयने आचार्येण मन्त्रवत्क्रियानिषेधात् (अतः) शूद्रस्य शूद्रापरिणयने मन्त्रवत्क्रिया नास्ति किं तु मन्त्ररहितं क्रियामात्रमिति गम्यते। ततश्च शूद्रस्य शूद्रापरिणयने यन्मन्त्रवद्धोमादि कर्म कुर्वन्ति तदशास्त्रीयम्। एके न मन्यन्ते शूद्राविवाहम्। कुतः ? शूद्राया धर्मकार्येष्वनधिकारात्। कुतो नाधिकार इति चेत्। 'रामा रमणायोपयन्ते न धर्माय कृष्णजातीयाः'

(हरिहर०)

इति निरुक्तकारयास्काचार्यवचनात्। अतो रमणार्थं शूद्रापरिणयनपक्षः। एवं सति षण्मासदीक्षाद्यनन्तरम् 'अग्निं चित्वा प्रथमं न रामामुपेयात्' इति निषेध उपपद्यते। प्राप्तं हि प्रतिषेधस्य विषयः। यदि रामोढा न स्यात् तदा अग्निचितः कथं तत्प्रथमगमनं प्रतिषिध्येत। तस्माच्छूद्रापरिणयनं भोगार्थमिच्छया कुर्वतो न शास्त्रातिक्रमः। धर्मप्रजारत्यर्थो हि विवाहः॥ १२॥

प्रासङ्गिकमभिधाय इदानीं प्रकृतमाह—तत्र पुण्येऽहनि अथैनां वासः परिधापयति जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननु-संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति। अथ अग्निस्थापनानन्तरम् एनां कुमारीं वासः अहतं सदशं वस्त्रं परिधापयति परिहितं कारयति वरः 'जरां गच्छ'—इति मन्त्रं पठित्वा। कुमारी च स्वयं परिधत्ते॥ १३॥

(गदाधर०)

'तिस्रो……पूर्व्येण'। ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण वर्णक्रमेण ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्येति तिस्रो भार्या भवन्ति। वर्णानुपूर्व्यग्रहणात् न व्युत्क्रमेण विवाहः। प्रथमा ब्राह्मणी, तत इतरे वर्णक्रमेण॥ ९॥

'द्वे राजन्यस्य'। वर्णानुपूर्व्येण क्षत्रिया वैश्या चेति राजन्यस्य भार्ये भवतः॥ १०॥

'एका वैश्यस्य'। सवर्णा एका वैश्यस्य भार्या भवति॥ ११॥

'सर्वेषाᳪं……मन्त्रवर्जम्'। सर्वेषां ब्राह्मणादीनां शूद्रामप्येके भार्यामिच्छन्ति। तस्यास्तु मन्त्रवर्जं विवाहकर्म भवति। एके पुनः शूद्रापरिणयनं नेच्छन्ति—'न शूद्राया धर्मकार्येष्वधिकारः' इति। तथा च यास्कः—'रामा रमणाय विन्दते न धर्माय' इति। अतः शूद्रापरिणयनं नेच्छन्ति रमणार्थमेव॥ १२॥

'अथैनां………स्व वासः'। अथ वरो 'जरां गच्छ' इति मन्त्रेणैनां वधूं वासः परिधापयति। भर्तृयज्ञमते तु आचार्यकर्तृकं परिधापनम्। अत्राचारादहतं वासो ग्राह्यम्। अहतलक्षणं कश्यपेनोक्तम्—

'अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं वासः प्रोक्तं स्वयंभुवा। शस्तं तन्मङ्गले नूनं तावत्कालं न सर्वदा॥' इति मन्त्रार्थः—हे कन्ये त्वं जरां निर्दुष्टवृद्धत्वं मया सह गच्छ प्राप्नुहि, वासश्च मया सम्पादितं परिधेहि, आकृष्यन्ति कामादिभिरित्याकृष्टयो मनुष्याः, तेषां मध्ये अभिशस्तिः अभिशापः 'शसु' प्रमादे। तस्मात्पातीत्यभिशस्तिपावा भव, शतं च शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि, सुवर्चाः तेजस्विनी रयिं च धनं पुत्रांश्च अनु पश्चात् संव्ययस्व अतिसुसंवृणीष्व उत्पाद्य राशिं कुरु, हे आयुष्मति इदं वासः परिधत्स्वेत्यनुवादः। मन्त्र एवात्र कारितार्थे॥ १३॥

अथोत्तरीयम्—या अकृन्तन्नवयँय्या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति॥ १४॥ अथैनौ समञ्जयति—'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समु देष्ट्री दधातु नौ' इति॥१५॥ पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति—'यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु

पवमानो वा(१) हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसौ' इति ॥ १६ ॥

(सरला)

व्याख्या—अथ = अधोवस्त्र के पहनने के बाद; उत्तरीयम् = उत्तरीय (ओढ़ने के वस्त्र) को 'या अकृन्त…वास' इति = इस मंत्र से [ओढ़ाता है]। या देवीः = जिन देवियों ने; इदं वासः = इस वस्त्र को; अकृन्तन् = काता है; या अवयन् = जिन्होंने बुना है; या अतन्वत = जिन्होंने ताना किया है; या तन्तून् अभितः ततन्थ = और जिन्होंने दोनो ओर से तन्तुओं को खींचा है; ताः देवीः = वे देवियाँ; त्वा जरसे संव्ययस्व = तुम्हें दीर्घायु के लिए पहनाएँ। हे आयुष्मति ! (इदं वासः) परिधत्स्व = हे आयुष्मति ! इस वस्त्र को पहनो ॥ १४ ॥

अथ = इसके बाद [कन्या का पिता]; एनौ = दोनो वर और वधू को; समञ्जयति = परस्पर सम्मुख करता है। समञ्जन्तु…इति = यह मंत्र वर पढ़ता है—विश्वेदेवाः आपः = विश्वेदेव और जल (देवता वरुण); नौ हृदयानि = हम दोनों के हृदयों को; समञ्जन्तु = मिलावें; संमातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री = अच्छी तरह से मातरिश्वा (अनुकूल वायु) और अनुकूल प्रजापति तथा धर्मादि उपदेशकर्मी वाक्; नौ दधातु = हमलोगों को मिलावें ॥ १५ ॥

पित्रा = पिता के द्वारा, प्रत्ताम् = संकल्प करके दी हुई कन्या को; आदाय = प्रतिग्रहविधि से लेकर; गृहीत्वा = उसका हाथ पकड़कर 'यदैषि……' इति = इस मंत्र से; निष्क्रामति = (घर के मध्य से या मंडप से) निकलता है। यदा = हे कन्यके ! जब तुम; मनसा = मन से; पवमानो वा = वायु की तरह (चंचल मन वाली होकर); दूरं दिशः अनुएषि = दूर दिशाओं को लक्ष्य करके [पितृगृह से मुंचित होकर] जाती हो; सः=तब वह पवमान वायु; हिरण्यपर्णः वैकर्ण = सुनहले पंखों वाला विकर्ण का पुत्र गुरुत्मान्; त्वा मन्मनसां करोतु = तुम्हें मेरे में अनुराग वाली बनाएँ; इति असौ = हे अमुकी (कन्या का नाम लेना चाहिए] ॥ १६ ॥

हिन्दी—अधोवस्त्र के पहनने के बाद उत्तरीय (ओढ़ने के वस्त्र) को 'या अकृन्त…वास' इस मंत्र से [ओढ़ाता है]। जिन देवियों ने इस वस्त्र को काता है, जिन्होंने बुना है, जिन्होंने ताना किया है और जिन्होने दोनों ओर से तन्तुओं को खींचा है; वह देवी तुम्हें दीर्घायु के लिए पहनाएँ। हे आयुष्मती ! इस वस्त्र को पहनो ॥ १४ ॥ इसके बाद [कन्या का पिता] दोनों [वर और वधू] को परस्पर सम्मुख करता है। 'समञ्जन्तु……'यह मंत्र वर पढ़ता है—विश्वेदेव और जल (देवता वरुण) हम दोनों के हृदयों को मिलावें अच्छी तरह से मातरिश्वा (अनुकूल वायु) और अनुकूल प्रजापति तथा धर्मादि उपदेशकर्त्री हम लोगों को मिलावें ॥ १५ ॥

पिता से संकल्प करके दी हुई कन्या को प्रतिग्रह विधि से लेकर उसका हाथ पकड़ कर 'यदैषि…असौ' इस मंत्र से (घर के मध्य से या मंडप से) निकलता है। हे कन्यके जब तुम मन से वायु की तरह (चंचल मन वाली होकर) दूर दिशाओं को लक्ष्य करके [पितृगृह को छोड़कर] जाती हो तब वह पवमान सुनहले पंखों वाला विकर्ण का पुत्र गुरुत्मान् तुम्हें मेरे में अनुराग वाली बनाएँ हे अमुकी (कन्या का नाम लेना चाहिए, ॥ १६ ॥

विशेष—१. अथर्व १४–१–४५ में यह मन्त्र पाठ भेद के साथ आया है।

---

(१) अत्र इवार्थे वा शब्दः ।

(हरिहर०)

अथोत्तरीयं या अकृन्तन्नवयँश्या अतन्वत । याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति । अथ वस्त्रपरिधानानन्तरम् । उत्तरीयं वासः परिधापयति वरः 'या अकृन्तन्' इति मन्त्रमुक्त्वा । अत्र परिधापयतीति णिजन्तस्य कारितार्थत्वात्, 'परिधत्स्व वासः' इति मन्त्रस्यापि तदर्थत्वात् परिधापयिताऽन्य इत्यवगम्यते, स किं वरः अध्वर्युर्वा इति संशयः। तत्र 'अध्वर्युः कर्मसु वेदयोगात्' इति परिभाषाबलाद् अध्वर्युः परिधापयितेति चेत्, तन्न, स्मार्तेषु कर्मसु अध्वर्योः कर्तृत्वयोगाभावात्। समाख्यया हि अध्वर्योः कर्मसु योगः, समाख्या च वेदयोगात्। न च स्मृतिर्वेदः। स्मरणादेव स्मृतीनां प्रामाण्यात्, न पुनर्वेदमूलत्वेन। अतः समाख्याया अभावात् स्वयं कर्तृत्वं पाकयज्ञेषु। अतो वर एव परिधापयिता। ननु 'पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वा' इति पाकयज्ञेषु परिक्रयार्था दक्षिणा श्रूयते। सा च दक्षिणा परिक्रेतव्याभावे नोपपद्यते। अतस्तदन्यथानुपपत्त्या अन्यस्य कर्तृत्वं कल्प्यताम्। नैतदेवम्, अन्यस्य ब्रह्मणः परिक्रेतव्यस्य कर्तुर्विद्यमानत्वात् परिक्रयार्थदक्षिणाश्रवणस्योपपत्तेः। किं च वचनाभावे परः परस्य कर्म कर्तुं न प्रवर्तते। नात्र वचनमस्ति पाकयज्ञेषु स्वतोऽन्यकर्तृत्वविधायकम्। श्रौतवत् समाख्याऽपि नास्ति। ननु स्मृतीनां वेदमूलत्वाद् यद्वेदमूलं स्मार्तं कर्म तद्वेदसमाख्यया अन्यस्य कर्तृत्वं कल्प्यताम्। मैवम्, यतः स्मृतयोऽनिश्चितवेदमूलाः। अतो न ज्ञायते किं वेदमूलमिदं कर्म। यद्वेदसमाख्यया अन्यः कर्ता कल्प्येत। मन्त्रलिङ्गविरोधोऽपि परकर्तृत्वे। कथम्? 'सा मामनुव्रता भव' 'प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' 'अमोहमस्मि' इत्यादि, 'सा नः पूषा शिवतमा' इत्यादयो वैवाहिकमन्त्रा आत्मलिङ्गाः, ते च परकर्तृत्वे विरुध्यन्ते। तस्मात् पाकयज्ञेषु स्वयं यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति सिद्धम्। अत्र वरोऽपि वाससी परिधत्ते 'न परिधास्यै' 'यशसामा' इति मन्त्राभ्याम् ॥ १४ ॥

अथैनौ समञ्जयति—समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समु देष्ट्री दधातु नाविति। अथ वस्त्रपरिधानानन्तरं 'परस्परं समञ्जेथाम्' इतिप्रैषेण कन्यापिता एनौ वधूवरौ समञ्जयति सम्मुखौ करोति। अत्र विशेषमाह ऋष्यशृङ्गः—

'वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामहपूर्वकम्। नाम सङ्कीर्तयेद्विद्वान् कन्यायाश्चैवमेव हि ॥'

तत्र वरः 'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः' इत्यादिकं मन्त्रं कन्यासम्मुखीभूतः पठति।

अत्र कन्यादानप्रयोगो लिख्यते—

उत्तरत्र "पित्रा प्रत्ताम्" इति सूत्रस्मरणात्। तद्यथा—अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्राय, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्राय, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्राय, इति वरपक्षे। अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्रीम्, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्रीम्, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्रीम्, इति कन्यापक्षे। एवमेव पुनर्वारद्वयमुच्चार्य अमुकगोत्रायामुकप्रवरायमुकशर्मणे ब्राह्मणाय इति ब्राह्मणवरपक्षे। इतरवरपक्षे—वर्मणे, अमुक (१) गुप्ताय, अमुकदासायेति विशेषः। अमुकगोत्राम् अमुकप्रवराम् अमुकनाम्नीमिमां कन्यां प्रजापतिदैवतां यथाशक्त्यलङ्कृतां पुराणोक्तकन्यादानफलकामो भार्यात्वेन तुभ्यमहं संप्रददे इति सकुशेन जलेन कन्याहस्तं वरस्य हस्ते दद्यात्। वरश्च "द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु" इति मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयात्। ततः "कोऽदात्" इति कामस्तुतिं पठेत्। ततः कन्यापिता कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं सुवर्णं गोमिथुनं च दक्षिणां दद्यात्।

(१) 'अमुकगोत्रगुप्ताय इतिपाठः काशीमुद्रितपुस्तके।

(हरिहर०)

अत्राचारादन्यदपि यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्व ग्रामादि कन्यापिता यथासम्भवं ददाति । अन्येऽपि बान्धवादयो यथासम्भवं यौतकं प्रयच्छन्ति । केचन यौतकं होमान्ते प्रयच्छन्ति । अत्र देशाचारतो व्यवस्था ॥ १५ ॥

पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति यदैषीति । पित्रा जनकेन प्रत्तां संकल्प्य दत्ताम् आदाय प्रतिग्रहविधिना प्रतिगृह्य गृहीत्वा हस्ते धृत्वा निष्क्रामति गृहमध्यात् मण्डपाद्वा । अग्निसमीपं गन्तुं 'यदैषि मनसा' इत्यादिना मन्त्रेण 'करोत्वमुको देवि' इत्यन्तेन । अत्र पित्रेत्युपलक्षणम् ।

'पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥'

इति याज्ञवल्क्येन अन्येषामपि कन्यादाने अधिकारस्मरणात् ॥ १६ ॥

(गदाधर०)

'अथोत्त''''''वासः' 'या अकृन्तन्' इत्यनेन मन्त्रेणोत्तरीयं परिधापयति वर एव, तदप्यहतमेव । अत्रापि कारितार्थे मन्त्रः । मन्त्रार्थः—या देविः इदं वासः अकृन्तन् कर्तितवत्यः, या अवयन् वीतवत्यः, वेञ् तन्तुसन्ताने । ओतवत्य इत्यर्थः यास्तन्तून् सूत्राणि अतन्वत प्रोतवत्यः, निर्यक् तन्तून् विस्तारितवत्य इत्यर्थः । चकाराद्या ओतान् प्रोतांश्च तन्तूनभित उभयपार्श्वयोरपि ततन्थ तेनुः, तुरीवेमादिव्यापारेण ग्रथितवत्यः, ताः तत्तत्सामर्थ्यदाभ्यो देव्यः स्वकार्यरूपवदिदं वासः त्वा त्वां जरसे दीर्घकालनिर्दुष्टजीवनाय संव्ययस्व परिधापयन्तु । पुरुषादिव्यत्ययश्छान्दसः । अतो हेतोः आयुष्मति ! इदम् एतादृशं वासः परिधत्स्व उत्तरीयत्वेन वृणीष्व ॥ १४ ॥

'अथैनौ''''''धातु नौ' । कन्यापिता 'परस्परं समञ्जेथाम्' इति अध्येषणेनैनौ वधूवरौ समञ्जयति । समञ्जनं नाम सम्मुखीकरणम्, परस्परं गात्रविश्लेष इति भर्तृयज्ञः । परस्परानुलेपनमिति केचित् । सत्यपि कारितत्वे वरस्यैव मन्त्रो मन्त्रलिङ्गात् । कारयितृत्वं च संनिधानात् कन्यापितुः । संनिहितो ह्यसौ प्रदातृत्वात् । उभयोर्मन्त्रपाठ इति भर्तृयज्ञः । मन्त्रार्थः—हे कन्यके नौ आवयोः हृदयानि मनांसि तन्निष्ठव्यापारान् संकल्पविकल्पात्मकान् विश्वेदेवाः आपश्च समञ्जन्तु गुणातिशयाधानेन संस्कुर्वन्तु । तथा सम्यग्भूतो मातरिश्वा अनुकूलो वायुः, अनुकूलः प्रजापतिः, देष्ट्री धर्मोपदेष्ट्री देवता आवयोर्हृदयानि संदधातु । उ अप्यर्थे ॥ १५ ॥

'पित्रा प्रत्ता''''''''त्यसाविति ' । समञ्जनोत्तरं कन्यायाः पित्रा दत्तां कन्यामादाय वरः प्रतिग्रहविधिना प्रतिगृह्य वस्त्रान्ते गृहीत्वा " यदैषि मनसा दूरम् " इत्यनेन मन्त्रेण निष्क्रामति गृहमध्याद्बहिःशालायां स्थापितमग्निं प्रति गच्छति । असावित्यत्र संबुद्ध्यन्तं कन्यानामग्रहणम् । अत्र कर्कभाष्यम्—"आदाय गृहीत्वेति चोभयं न वक्तव्यम् । उच्यते च तत्किमर्थम् ? अप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना आदानं यथा स्यादिति ।' अयमर्थः—अप्रतिग्रहस्यापि कन्याद्रव्यस्य प्रतिग्रहविधिना आदानं प्रतिग्रहो यथा स्यादित्येतदर्थमुभयग्रहणम् । ननु 'कन्यां दद्यात्' 'कन्यां प्रतिगृह्य' इति स्मरणात् कथमप्रतिग्रहयोग्यं कन्याद्रव्यमित्युच्यते ? सत्यम् । उच्यते, स्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादन दानम् । न च कन्या कथंचिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति विवाहोत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानात् । अत्र गौणो ददातिः । यत्तु स्मृतिषु पुत्रदानं चोद्यते तत्रापि गौणो ददातिः, पितुरिव परस्यापि पिण्डदानं रिक्थभाक्त्वं च भवतीत्यर्थः । षष्ठाध्यायस्य सप्तमे पादे आद्याधिकरणे अयमर्थस्तन्त्ररत्ने ।

(गदाधर०)

यद्वा—

'अप्रतिग्रहयोग्यस्य प्रतिग्रहविधानतः । क्षत्रियादेर्यथाऽऽदानं स्यादादायेति सूत्रितम् ॥"

इति रेणुः ।

मन्त्रार्थः—हे कन्यके यत् एषि गच्छसि मनसा चित्तेन दूरं दूरदेशं दिशः ककुभः अनु लक्षीकृत्य पवमान इव वायुवत् । चित्तस्य वायुवच्चञ्चलत्वात् । ततः पवमानो वायुः हिरण्यपर्णः सुवर्णपक्षः विकर्णापत्यं गरुत्मान् त्वा त्वां मन्मनसां मद्गतचित्तां करोतु, ममायत्तां मय्यनुरागिणीं विदधातु । दातृक्रममाह याज्ञवल्क्यः—

"पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥
अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ । गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥'

इति ।

सकुल्यः प्रत्यासत्तिक्रमेणादौ पितृकुलस्थः, तदभावे मातामहकुलस्थः । सर्वाभावे जननी इति प्रयोगरत्ने । प्रकृतिस्थः उन्माददोषरहितः गम्यं गमनार्हं लावण्यादिगुणयुक्तम् । नारदोऽपि—

'पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमते पितुः । मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा ॥
माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते । तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः ॥
यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत् ।'

अत्र प्रकृतिस्थग्रहणादप्रकृतिस्थेन यत्कृतं तदकृतमेव । तथा चापरार्के नारदवचनम्—
'स्वतन्त्रो यदि तत्त्वार्थं कुर्यादप्रकृतिं गतः । तदप्यकृतमेव स्यादस्वातन्त्र्यस्य हेतुतः ॥'इति

यदि तु सप्तपदीविवाहहोमादि प्रधानं जातं तदाऽङ्गवैकल्येऽपि नावृत्तिर्विवाहस्येति दाक्षिणात्यगौडग्रन्थेषु । विवाहश्च कन्यास्वीकारोऽन्यदङ्गमिति स्मृत्यर्थसारे ॥ १६ ॥

अथैनौ समीक्षयति—अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे [१] सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः (१) [२] सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद्‌ग्नये । रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् [३] सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्त प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्या इति [४] ॥ १७ ॥

इति चतुर्थी कण्डिका

---

(१) 'जनसनखनक्रमगमो विट्' अष्टा. सू. ३. २. ६७ इत्यनेन विटि 'विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्' अष्टा. सू. ६. ४. ४१ इत्यनेनात्वम् ।

(सरला)

व्याख्या—अथ = निष्क्रमण के बाद (कन्या का पिता) एनौ = इन (वर-वधू) को समीक्षयति = परस्पर दिखलाता है। और समीक्षमाण वर यह मंत्र पढ़ता है :—अघोरचक्षुः = हे कन्ये ! तुम सौम्य दृष्टि वाली [या अपाप दृष्टि वाली]; एधि = हो जाओ; और; अपतिघ्नी (एधि) = अकार्य से पति के लिए घातक मत बनो। शिवा पशुभ्यः = पशुओं के लिए कल्याणकारी [या हितैषिणी] बनो। सुमनाः सुवर्चाः वीरसूः=सुप्रसन्नचित्त वाली, तेज युक्त तुम वीर पुत्रों को जन्म देने वाली होओ। देवकामा = अग्नि आदि देवों की कामना वाली (पूजा करने वाली) बनो। स्योना=सुखवती तुम; नः=हमारे लिए; शम्=कल्याणकारी; भव=होओ; द्विपदे चतुष्पदे शं [भव] = मानव जाति के लिए और पशुओं के लिए; कल्याणकारी; बनो। [१] सोमः प्रथमः विविदे = सबसे पहले सोम ने तुम्हें पत्नी रूप में प्राप्त किया। उत्तरः गन्धर्वः विविदे = तदनन्तर गन्धर्व ने प्राप्त किया। ते तृतीयः अग्निः पतिः=तुम्हारा तीसरा पति अग्नि था। तथा; ते तुरीयः = तुम्हारा चौथा (पति); मनुष्यजाः = मनुष्यजन्मा मैं हूँ। [२] सोमः गन्धर्वाय अददत् = सोम ने गन्धर्व को दिया; गन्धर्वः अग्नये अददत् = गन्धर्व ने अग्नि को दिया। च = और; अग्निः = अग्नि ने; अथ इमाम् अददत् = तदनन्तर इसको मुझे दिया [यही नहीं बल्कि] रयिं पुत्रान् च [अददत्] = धन और पुत्रों को भी दिया। [३] पूषा = जगच्चक्षु पूषा देव; सा शिवतमां = इसको अतीव कल्याण वाली बनाकर; नः ऐरय = हमारी ओर प्रेरित [अर्थात् मुझमें अनुरक्त] करें॥ सा नः = वह हमसे; उशती = सुख और पुत्रों की कामना से; ऊरू = अपनी जाँघों को; विहर = फैलावे; [मध्यम पुरुष छान्दस है। प्रसारयतु अर्थ होगा] यस्यां = जिस कन्या में, निविश्य्यै = अग्नि होत्रादि उपासना से अन्तः करण शुद्धि द्वारा सायुज्य मुक्ति के लिए; बहवः कामा (सन्ति)= धर्म, पुत्र, रतिसुख रूप बहुत सी इच्छाएँ भोगने को हैं, यस्यां =जिस (उस) स्त्री की योनि में; उशन्तः = पुत्र सुख की इच्छा से; शेपं = शिश्न को; प्रहराम = हम प्रवेश करते हैं [४] ॥ १७ ॥

हिन्दी—निष्क्रमण के बाद (कन्या का पिता) इन (वर-वधू) को परस्पर दिखलाता है। और वर यह मंत्र पढ़ता है—हे कन्ये ! तुम सौम्य दृष्टि वाली [या अपाप दृष्टि वाली] हो जाओ और अकार्य से पति के लिए घातक मत बनो। पशुओं के लिए कल्याणकारी [या हितैषिणी] बनो। सुप्रसन्नचित्त वाली, तेजयुक्त तुम वीर पुत्रों को जन्म देने वाली होओ। अग्नि आदि देवों की कामना [पूजा करने] वाली बनो। सुखवती तुम हमारे लिए कल्याणकारी होओ। मानवजाति के लिए और पशुओं के लिए कल्याणकारी बनो। सबसे पहले सोम ने तुम्हें पत्नी रूप में प्राप्त किया। तदनन्तर गन्धर्व ने प्राप्त किया। तुम्हारा तीसरा पति अग्नि था। तथा तुम्हारा चौथा [पति] मनुष्य जन्मा मैं हूँ। सोम ने गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को दिया और अग्नि ने तदनन्तर इसको मुझे दिया [यही नहीं बल्कि] धन और पुत्रों को भी दिया। जगच्चक्षु पूषा देव इसको अतीव कल्याण वाली बना कर हमारी ओर प्रेरित करें [अर्थात् मुझमें अनुरक्त करें] वह हमसे सुख और पुत्रों की कामना से अपनी जांघों को फैलावे। जिस कन्या में अग्निहोत्रादि उपासना से अन्तः कारण शुद्धि द्वारा सायुज्य मुक्ति के लिए धर्म पुत्र रतिसुख रूप बहुत सी इच्छाएँ भोगने को हैं जिस (उस) स्त्री की योनि में पुत्र सुख की इच्छा से शिश्न को हम प्रवेश करते हैं ॥ १७ ॥

विशेष—१. तुलनीय ऋ०-१०-८५-४४,४०,४१, ३७।.

'सरला' हिन्दीव्याख्या में प्रथमकाण्ड की चतुर्थी कण्डिका समाप्त ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथैनौ समीक्षयति (१) अघोरचक्षुरित्यादि ।

अथ निष्क्रमणानन्तरमेनौ वधूवरौ 'परस्परं समीक्षेथाम्' इतिप्रैषेण कन्या-पिता समीक्षयति समीक्षणं कारयति । तत्र समीक्षमाणो वरः 'अघोरचक्षुः' इत्यादीन् 'निविष्ट्या' इत्यन्तान् मन्त्रान् पठति ॥ १७ ॥

इति हरिहरभाष्ये प्रथम काण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'अथैनौ······निविष्ट्या इति' । अथ निष्क्रमणोत्तरं कारितोपदेशात् कन्यापिता 'परस्परं समीक्षेथाम्' इत्यध्येषणेन समीक्षणं कारयति । ततस्तौ वधूवरौ परस्परं समीक्षणं कुरुतः । लिङ्गाद्वरः समीक्षमाणां कन्यां समीक्षमाणः 'अघोरचक्षुः' इत्येतांश्चतुरो मन्त्रान् पठति । मन्त्रार्थः—हे कन्ये त्वम् अघोरचक्षुः सौम्यदृष्टिरपापदृष्टिर्वा एधि भव, तथा अपतिघ्नी अकार्यकरणेन पत्यर्थघातिनी तथा मा भव, तथा पशुभ्यः पशुवदाश्रितेभ्यः शिवा हितैषिणी च भव, सुमनाः प्रसन्नचित्ता, सुवर्चाः सुप्रभावयुक्ता, वीरसूः सत्पुत्रजननी, देवकामा देवानग्न्यादीन् कामयते, स्योना सुखवती, नोऽस्माकं शं सुखहेतुः द्विपदे मनुष्यवर्गाय चतुष्पदे पशुवर्गाय शं सुखहेतुश्च [१]

हे कन्ये ते त्वां सोमश्चन्द्रः ते तव प्रथम आद्यः पतिः विविदे जन्मदिने लब्धवान् । विद्लृ लाभे । ततः सार्द्धवर्षद्वयानन्तरं गन्धर्वः सूर्यो विविदे उत्तरः तद्वद् द्वितीयोऽयं पतिः । ततोऽग्निरपि तावता कालेन विविदे, अतोऽयं तव तृतीयः पतिः ।

यथाऽऽहुः—

'पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताश्च सोमगन्धर्ववह्निभिः ।' इति ।

तथा ते तव तुरीयश्चतुर्थः मनुष्यजाः मानुषः अहमेवेत्यर्थः [२]

किमिदानीं चतुर्णामपीयं पत्नी ? नेत्याह—सोमश्चन्द्रस्त्रिंशन्मासान् भुक्त्वा गन्धर्वः सूर्यस्तस्मै अददद् ददौ । सोऽपि तावत्कालं भुक्त्वा अग्नयेऽददत् । स चाग्निर्मह्यमिमामदात् दत्तवन् । न केवलमिमां किन्तु पुत्रान् सुतान् रयिं धनं च । चकाराद्धर्मादि च । अदादिति संबन्धः [३]

या सर्वलोकसाक्षिणी पूषा देवता, सा इमां शिवतमां कल्याणगुणशीलां कृत्वा नोऽस्मान् प्रति ऐरय ईरयतु । आटो दर्शनं विभक्तेरदर्शनं च छान्दसम् । अस्मास्वनुरक्तां करोत्वित्यर्थः । सा चास्मत्तः सुखं पुत्रांश्च कामयमाना ऊरू सक्थिनी जानुनोरूर्ध्वभागदन्डौ विहरतां विवृणोतु प्रसारयत्वित्यर्थः । मध्यमपुरुषश्छान्दसः । प्रयोजनमाह—यस्यां स्त्रीयोनौ उशन्तः सुखमिच्छन्तः शेपं शिश्नं प्रहराम प्रवेशयाम वयम्, यस्यां कन्यायाम् । उ एवार्थे । यस्यामेव बहवः कामाः धर्मपुत्ररतिसुखरूपाः सन्तु वा । किमर्थम् ? निविष्टयै अग्निहोत्राद्युपासनयाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा सायुज्यमुक्तये ॥ १७ ॥

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपति—श्रीमद्याज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(१) काशीमुद्रितपुस्तके अथैनौ समीक्षयतीति प्रतीकस्याग्रे 'अघोरचक्षुरित्यादि' नास्ति ।

पञ्चमी कण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके ॥ १ ॥ पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति ॥ २ ॥ अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यꣳ स्विष्टकृच्च ॥ ३ ॥ एतन्नित्यꣳ सर्वत्र ॥ ४ ॥

(सरला)

विवाह-होम

प्राक्कथनः—इस कण्डिका में आघारादि पदार्थों का कथन करके जयाभ्याधान होम का निर्देश है—

व्याख्या—एके = कुछ ऋषि; अग्निं = अग्नि की; प्रदक्षिणं=प्रदक्षिणा; पर्याणीय = कराकर वस्त्रपरिधानादि मानते हैं [कुछ नहीं मानते हैं अतः विकल्प है] ॥ १ ॥ [वर] अग्नेः पश्चात्=अग्नि के पश्चिम, तेजनीम् = कुशादि तृणों; वा=अथवा; कटं=चटाई पर दक्षिण पादेन= दाहिने पैर को; प्रवृत्य=रखकर; उपविशति=[पूर्वाभिमुख] बैठता है ॥ २ ॥ अन्वारब्ध = [ब्रह्मा से] स्पर्श होने के समय [निम्न आहुतियाँ दी जाती हैं] आघारौ=दो आधार नामक; आज्यभागौ=दो आज्यभाग संज्ञक; महाव्याहृतयः=['भूर्भुवस्वः' इन] महाव्याहृतियों से; सर्वप्रायश्चित्तं= सभी प्रायश्चित्त नामक मंत्रों से; प्राजापत्यं=प्रजापति के नाम की आहुति; च=एवं; स्विष्टकृत्= स्विष्टकृत् मंत्र से [घी की आहुति देनी चाहिए] ॥३॥ एतत्=ये [आघारादि–आहुतियाँ]; सर्वत्र= सभी कर्मों में; नित्यम् = आवश्यक है [जहाँ होम का अभाव हो वहाँ नहीं जैसे स्त्रस्तरारोहण या लाङ्गलयोजन] ॥ ४ ॥

हिन्दीः—कुछ ऋषि अग्नि की प्रदक्षिणा कराकर वस्त्रपरिधानादि मानते हैं ॥ १ ॥ [वर] अग्नि के पश्चिम कुशादि तृणों अथवा चटाई पर दाहिने पैर को रखकर [पूर्वाभिमुख] बैठता है ॥ २ ॥ [ब्रह्मा से] स्पर्श होने के समय [निम्न आहुतियाँ दी जाती हैं] दो आधार नामक दो आज्यभाग संज्ञक महाव्याहृतियों से सभी प्रायश्चित्त नामक मंत्रों से प्रजापति के नाम की आहुति एवं स्विष्टकृत मंत्र से [घी की आहुति देनी चाहिए] ॥ ३ ॥ ये [आघारादि आहुतियां] सभी कर्मों में आवश्यक हैं [जहां होम का अभाव हो वहां नहीं जैसे स्त्रस्तरारोहण या लाङ्गल योजन] ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके । एके आचार्याः अग्नेः प्रदक्षिणं कारयित्वा वासः परिधानं, समञ्जनं, समीक्षणं च मन्यन्ते । एके न मन्यन्ते । ततो विकल्पः ॥ १ ॥

पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति । समीक्षणानन्तरम् अग्निं प्रदक्षिणीकृत्याग्नेः पश्चिमतः प्राङ्मुख उपविशति । दक्षिणपादेन तेजनीं तृणपूलिकां कटं वा तृणमयं स्रस्तरं प्रवृत्य प्रक्रम्य उल्लङ्घ्येत्यर्थः । दक्षिणपादेनोल्लङ्घयन् चलन् चलित्वा । उभयोः संस्कार्यत्वात् सवधूकः ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अन्वारब्ध आघाराबाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यट्ँ० स्विष्टकृच्च । अत्र वैवाहिकहोमप्रसङ्गेन सर्वकर्मसाधारणीं परिभाषां करोत्याचार्यः । तद्यथा—ब्रह्मणा दक्षिणे बाहौ दक्षिणहस्तेन अन्वारब्धे कर्तरि आघारसञ्ज्ञके आज्याहुती । (यथा—मनसा प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये । मनसा त्यागमपि । इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय । आज्यभागौ आज्यभागसञ्ज्ञकौ होमौ यथा—अग्नये स्वाहा, इदमग्नये । सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय । महाव्याहृतयः भूराद्यास्तिस्रो यथा—ॐ भूः स्वाहा, इदमग्नये, इदं भूर्वा इति त्यागः । तथैव भुवः स्वाहा, इदं वायवे, इदं भुव इति वा । स्वः स्वाहा, इदं सूर्याय, इदं स्व इति वा । सर्वप्रायश्चित्तसञ्ज्ञकाः पञ्चाहुतयः । यथा-त्वन्नो अग्न इत्यादि—प्रमुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा । 'स त्वन्नो अग्ने—सुवहो न एधि स्वाहा, इदमग्नीवरुणाभ्यां द्वाभ्यां त्यागः । 'अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमयाअसि । अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजट्ँ० स्वाहा' । इदमग्नये । 'ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नोऽद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा' । इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः । 'उदुत्तममित्यादि—अदितये स्याम स्वाहा' इत्यन्तम्, इदं वरुणाय । प्राजापत्यम् प्रजापतिदेवताको होमः । यथा—प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये । स्विष्टकृच्च स्विष्टकृद्धोमः । यथा—अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते । चकारः सर्वसमुच्चयार्थः ॥ ३ ॥

एतन्नित्यट्ँ० सर्वत्र । एतदाघारादिस्विष्टकृदवसानं सर्वत्र सर्वेषु होमात्मकेषु कर्मसु नित्यम् । यत्र होमाभावस्तत्र नास्ति । यथा स्रस्तरारोहणलाङ्गलयोजनपायसब्राह्मणभोजनेषु ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'प्रदक्षिण······णीयैके' । एके आचार्या अग्नेः प्रदक्षिणं कारयित्वा कन्यायाः वासः परिधानादि कर्तव्यमिति वदन्ति । अपरे तु समीक्षणान्ते अग्नेः प्रदक्षिणकरणं वदन्ति । अतश्च विकल्पः ॥ १ ॥

'पश्चाद्······विशति' । ततो वरोऽग्नेः पश्चात्स्थापितां तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्य आक्रम्य उल्लङ्घ्याग्नेः पश्चादुपविशति । तेजनी तृणपूलिकोच्यते, कटः प्रसिद्धः । अत्र पश्चादुपवेशनं वचनात् । वचनाभावे तु "सर्वत्रोत्तरत उपचारो यज्ञे" इत्यनेन उपवेशनम् । स्मृत्यन्तराद्वरस्य दक्षिणतः कन्या उपविशति । 'तेजनीं कटम्' इति द्वितीयानिर्देशादेतयोः संस्कारः । ननूपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा द्रव्यं संस्कार्यं, न चानयोरन्यतरद् उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा भवति, ततश्च कथं संस्कारः ? सत्यम् । यद्यप्यत्र शब्देनोपयोगो नोक्तस्तथाप्यासने द्रव्याकाङ्क्षत्वादेतस्य च प्रयोजनकाङ्क्षत्वादेवं कल्प्यते—उपवेशनार्थोऽयं संस्कारः इति । तेन तेजन्युपरि कटस्योपरि वोपवेशनम् । एवं च दृष्टार्थतालाभः । आक्रमणं च तया सह कर्तव्यमिति भर्तृयज्ञहरिहरौ ॥ २ ॥

'अन्वार······ष्टकृच्च' । आघारौ आज्यभागौ च विधीयेते । आघारः पूर्व उत्तरश्च । तत्र तूष्णीं पूर्वः । हरिहरेण—'प्रजापतये स्वाहा' इति पूर्वाघारो दर्शितः, तदतीवाशुद्धम् । न ह्यत्र मन्त्रोऽस्ति । दर्शपूर्णमासयोः परिभाषातः प्राप्तः स्वाहाकारोऽपि प्रतिषिध्यते—"न स्वाहेति च नानिरुक्तट्ँ० हि मनो निरुक्तट्ँ० ह्येतद्यस्तूष्णीम्' इति । ननु आघारादिप्रकृतभावेन वेद्यादिकं कुतो नायति ? उच्यते, गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेत्युपक्रम्य एष एव विधिर्यत्र

(गदाधर०)

क्वचिद्धोम इत्यनेनैवं ज्ञायते—यावन्तोऽत्र पदार्था उक्तास्तावन्त एव भवन्ति नान्ये। उत्तराघारे प्रतिनिगद्य होमत्वं, नह्यत्र मन्त्रोऽस्ति। एवमाज्यभागयोरपि। महाव्याहृतयो महाव्याहृतिका मन्त्रास्त्रयः। "भूर्भुवःस्वस्तिस्रो महाव्याहृतयः" इत्युक्तत्वात्। सर्वप्रायश्चित्तं च "त्वन्नो अग्ने" इत्यादिमन्त्रैः पञ्चाहुतयो हूयन्ते तासां संज्ञा। प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताको होमः। स्विष्टकृत् स्विष्टकृद्धोमः। यजमानो ब्रह्मणा अन्वारब्ध आघारादिस्विष्टकृदन्तं करोति। अन्वारम्भश्च कुशेन, निगमपरिशिष्टात् ॥ ३ ॥

एतन्नित्यट्° सर्वत्र। एतदाघारादिस्विष्टकृदन्तं कर्म यत्र यत्र होमः तत्र सर्वत्र भवति। यत्र पुनर्होम एव नास्ति यथा स्रस्तरारोहणे लाङ्गलयोजने च तत्रैतन्न भवति ॥ ४ ॥

प्राङ् महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृद् अन्यच्चेदाज्याद्धविः ॥ ५ ॥ सर्वप्रायश्चित्त (१) प्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानं विवाहे ॥ ६ ॥ राष्ट्रभृत इच्छञ्जयाभ्यातानाँश्च जानन् ॥ ७ ॥ येन (२)कर्मणेर्त्सेदिति वचनात् ॥ ८ ॥

(सरला)

व्याख्या—चेत्=यदि; आज्यात् अन्यत्=आज्य से भिन्न दूसरा और भी [चरु आदि]; हविः=होमसामग्री का [हवन करना हो तो]; महाव्याहृतिभ्यः प्राक्=महाव्याहृतियों [की आहुति] से पहले; स्विष्टकृत् = स्विष्टकृत [आहुति देनी चाहिए] ॥ ५ ॥

विवाहे = विवाह में; सर्वप्रायश्चित्तं = ['त्वन्नो अग्ने' आदि ५] 'सर्वप्रायश्चित्त' नामक मंत्रों और; प्राजापत्य=प्राजापत्य आहुति के; अन्तरं=मध्य में; एतत् आवाप स्थानम्= इन [अभी तुरन्त कहे जाने वाले] ऋताषाडादि राष्ट्रभृत संज्ञक मंत्रों के अनुष्ठान का समय है [अर्थात् आवाप स्थान वह है जो अन्यत्र विहित होम, जप आदि कर्मों का कर्मान्तर में प्रक्षेप किया जाय। आवाप के आगन्तुक होने के कारण इसे अन्त में करना युक्त है किन्तु मध्य में ही करने का विधान यह सूत्र करता है] ॥ ६ ॥ राष्ट्रभृत=राष्ट्रभृत संज्ञक [ऋताषाडादि १२ मंत्रों से]; इच्छन् [आवपेत] = फल की इच्छा करता हुआ होम करे। जयाभ्यातानां च=और जया संज्ञक तथा अभ्यातान संज्ञक मंत्रों से; जानन् [आवपेत्] = फल को जानता हुआ (अर्थात् चाहता हुआ) होम करे ॥ ७ ॥ क्योंकि येन कर्मणा ईर्त्सेत्=जिस कर्म से ऋद्धि चाहे वहाँ [उपरोक्त अभ्यातान आदि] होम करें। इति वचनात्=यह वचन कहा है। [तै० सं० ३।४।६] ॥ ८ ॥

हिन्दीः—यदि आज्य से भिन्न दूसरा और भी [चरु आदि] होम सामग्री का [हवन करना हो तो] महाव्याहृतियों [की आहुति] से पहले स्विष्टकृत [आहुति देनी चाहिए] ॥ ५ ॥

विवाह में 'सर्वप्रायश्चित्त' नामक मंत्रों और प्रजापत्य आहुति के मध्य इन [अभी तुरन्त कहे जाने वाले] ऋताषाडादि राष्ट्रभृत संज्ञक मंत्रों के अनुष्ठान का समय है ॥ ६ ॥ राष्ट्रभृत संज्ञक [ऋताषाडादि १२ मंत्रों से] फल की इच्छा करता हुआ होम करे और जया संज्ञक तथा अभ्यातान संज्ञक मंत्रों से फल को जानता हुआ [अर्थात् चाहता हुआ] होम करे ॥ ७ ॥

---

(१) सर्वप्रायश्चित्तम् पा०।

(२) कर्मणेर्च्छेदिति च पाठान्तरम्।

क्योंकि जिस कर्म से ऋद्धि चाहे वहां [उपरोक्त अभ्यातान आदि] होम करें यह वचन कहा है ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

अन्ते विहितस्य स्विष्टकृद्धोमस्य कर्मविशेषे स्थानान्तरमाह—

प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः । महाव्याहृतिभ्यः प्राक् पूर्वं स्विष्टकृद्धोमो भवति, चेद्यदि आज्यात्सकाशादन्यदपि चरुप्रभृतिहविर्भवति । केवलाज्ययागे सर्वाहुतिशेषे भवति ॥ ५ ॥

सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानं विवाहे । सर्वप्रायश्चित्तं 'त्वन्नोअग्ने'—इत्यारभ्य 'उदुत्तमम्' इत्यन्तमाहुतिपञ्चकं प्राजापत्यः प्राजापत्याहुतिः सर्वप्रायश्चित्तं च प्राजापत्यश्च सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यौ तयोरन्तरं सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरम् । एतत् आवापस्थानम् । कस्मिन् कर्मणि ? विवाहे । आवापस्थानम् आवापश्च अन्यत्र विहितस्य होमस्य जयादेः कर्मणः कर्मान्तरप्रक्षेपः । आवापस्य आगन्तुकत्वेन अन्ते निवेशो युक्तः न्यायात्, तन्निवृत्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

तमेवाह—

राष्ट्रभृत इच्छन् । विवाहे वैवाहिकहोमकर्मणि । राष्ट्रभृतः राष्ट्रभृत्सञ्ज्ञकाः आहुतीः आवपेदित्यध्याहारः । जयाभ्यातानांश्च । जयाश्च अभ्यातानाश्च जयाभ्यातानाः तान् जयाभ्यातानांश्च आवपेत् । किं कुर्वन् ? इच्छन् राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानानां होमफलं कामयन् । किं प्रमाणमिति चेत्—

जानन्येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात् । येन कर्मणा अस्मिन् कर्मणि ओप्य तेन यत्फलं भवतीति जानन् विदन् । तत्कर्मफलमिच्छन् तस्मिन् कर्मणि तत्कर्म आवपेदिति वचनात् । श्रुतेरित्यर्थः । तत्र राष्ट्रभृतो यथा—"ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्व' इत्यादिका द्वादशमन्त्राः राष्ट्रभृत्सञ्ज्ञकाः ॥ ७–८ ॥

(गदाधर०)

प्राङ्महा···ज्याद्धविः । चेद्यदि आज्यद्रव्यादन्यद् द्रव्यं चर्वादिकमपि भवति, तदा महाव्याहृतिहोमात्प्राक् पूर्वं स्विष्टकृद्धोमो भवति, चर्वादिद्रव्यशेषादेव । केवलाज्यहोमे तु सर्वहोमान्ते आज्येनैव स्विष्टकृत् ॥ ५ ॥

सर्व··· विवाहे । सर्वप्रायश्चित्तं च "त्वन्नो अग्ने" इत्यादिमन्त्रैः पञ्च होमाः, प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताको होमः, एतयोरन्तरं मध्यं सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरमेतद्विवाहे विवाहकर्मणि आवापस्थानं वक्ष्यमाणानां राष्ट्रभृदादीनामनुष्ठानकाल इत्यर्थः ॥ ६ ॥

'राष्ट्रभृत इच्छन्' अस्मिन् विवाहकर्मणि इच्छन्निच्छया राष्ट्रभृत्संज्ञका होमाः स्युः । "ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः" इत्यादिभिर्मन्त्रैरग्निका द्वादश होमा राष्ट्रभृतः । 'जयाभ्या··· वचनात्' जयाश्च अभ्यातानाश्च जयाभ्यातानाः तान् जयाभ्यातानान् जानन् इच्छञ्जुहोति, अतश्च विकल्पः । चशब्दो राष्ट्रभृद्भिः सन्नियोगार्थः । इच्छाया जुहोतीति कुत इति चेत् 'येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात्' येन कर्मणा ऋद्धिमिच्छेत्तत्र जयाञ्जुहोतीति वचनं भवति । अतश्चान्यत्रापि ऋद्धिमिच्छता जयाहोमः कार्यं इति ज्ञायते । जैमिनिस्तु-जयादीनामनारभ्याधीतानां येन कर्मणेर्त्सेत्तत्र जयाञ्जुहुयादित्यादिभिर्वाक्यैरेव सामान्यतो

(गदाधर०)

लौकिकवैदिककर्माङ्गत्वे प्राप्ते जयादयस्तु वैदिकास्तेन यत्राहवनीयोऽस्ति तत्रैते स्युरिति सिद्धान्तितवान् ॥ ७–८ ॥

चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्करीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरं च । प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा इति ॥ ९ ॥ अग्निर्भूतानामधिपतिः स माऽवत्विन्द्रो ज्येष्ठानां, यमः पृथिव्या, वायुरन्तरिक्षस्य, सूर्यो दिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां, बृहस्पतिर्ब्रह्मणो, मित्रः सत्यानां, वरुणोऽपाᳪं, समुद्रः स्रोत्यानामन्नᳪं साम्राज्यानामधिपति तन्मावतु, सोम ओषधीनाᳪं, सविता प्रसवानाᳪं, रुद्रः पशूनां, त्वष्टा रूपाणां, विष्णुः पर्वतानां, मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः । इह मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳪं स्वाहेति सर्वत्रानुषजति ॥१०॥

(सरला०)

व्याख्या—जय मंत्र इस प्रकार हैं:-चित्तं च चित्तिः च=हृदय और चेतना; आकूतं च आकूतिः च=कर्मेन्द्रिय और उसका देवता; विज्ञातं च विज्ञातिः च=शिल्पादिक का ज्ञान और उसके देवता; मनश्च शक्करीश्च=मन और शक्करी शक्तियाँ; दर्शश्च पौर्णमासं च=दर्श और पौर्णमास; बृहच्च रथन्तरं च=बृहत् और रथन्तर दोनों साम [अथवा देवता] को जिस प्रकार; प्रजापतिः=परमेश्वर ने; इन्द्राय= इन्द्र को; जयान् = जय मंत्रों को [जिससे शत्रु विजय प्राप्त करते हैं] वृष्णे = अभिमत अर्थ की प्राप्ति के लिए; प्रायच्छत्=दिया था [उसी प्रकार चित्तादिक वस्तुएं हमें भी प्रदान करें] तब वह इन्द्र; पृतनाजयेषु=असुर सेना में; उग्रः = बड़ा प्रचण्ड (हो गया)। तस्मै सर्वा विशः समनमन्तः= इसीलिए [उस इन्द्र के समक्ष] सभी प्राणी नत मस्तक हैं; सः उग्रः = वह अत्यन्तशक्तिशाली; स ई = और वह (इन्द्र); हव्यः बभूव = हवन के योग्य हो गया; स्वाहा ॥ ९ ॥

अभ्यातान मंत्र इस प्रकार हैं—

अग्निः भूतानां = अग्नि प्राणियों का; अधिपतिः = स्वामी है; स मा = वह मेरी; अवतु = रक्षा करे; इन्द्रः ज्येष्ठानां = इन्द्र बड़ों का; यमः पृथिव्या = यम (अग्नि) पृथिवी का; वायुः अन्तरिक्षस्य = वायु अन्तरिक्ष का; सूर्यो दिवः = सूर्य द्यौ का; चन्द्रमा नक्षत्राणां = चन्द्रमा नक्षत्रों का बृहस्पतिः ब्रह्मणः = बृहस्पति ब्रह्म का; मित्रः सत्यानां = मित्र सत्यों का; वरुणः अपां = वरुण जलों का; समुद्रः स्रोत्यानां = समुद्र नदियों का; अन्नं सम्राज्यानां = अन्न साम्राज्यों का; अधिपति (अस्ति) = स्वामी है; तत् मा अवतु = वह मेरी रक्षा करे; सोम ओषधीनां = सोम ओषधियों का; सविता प्रसवानां = सविता प्रेरणाओं का; रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां = रुद्र पशुओं का

त्वष्टा रूपों का; विष्णुः पर्वतानां = विष्णु पर्वतों का और; मरुतः गणानां = मरुत गणों के, अधिपतिः = अधिपति है, ते मा अवन्तु = वे मेरी रक्षा करे। पितरः पितामहाः परेवरे = पिता, पितामह पूर्व वंशी और पश्चात् वंशी; तताः ततामहाः = तथा पितृ पितामह [मेरी रक्षा करें] अस्मिन् ब्रह्मणि = इस होमादि ब्रह्म कार्य में; अस्मिन् क्षत्रे = इस क्षात्र तेज में; अस्याम् अशिपि= इस [पुत्रादि सुख की] कामना में; अस्यां पुरोधायां = इस पौरोहित्य कर्म में; अस्मिन् कर्मणि = इस यज्ञ में; अस्यां देवहूत्यां = इस देवताह्वान में; इह मा अवन्तु = यहाँ मेरी रक्षा करें। 'स्वाहा' इति = 'स्वाहा' यह शब्द; सर्वत्र = उपरोक्त सभी १८ मंत्रों के अन्त में; अनुषजति = प्रत्येक बार जोड़ा जाता है ॥ १० ॥

हिन्दीः—जय मंत्र इस प्रकार हैं–हृदय और चेतना, कर्मेन्द्रिय और उसका देवता, शिल्पादिक का ज्ञान और उसका देवता, मन और शकरी शक्तियाँ, दर्श और पौर्णमास, बृहत् और रथन्तर दोनों साम [अथवा देवता] को जिस प्रकार परमेश्वर ने इन्द्र को, जय मंत्रों को [जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त करते हैं] अभिमत अर्थ की प्राप्ति के लिए दिया था [उसी प्रकार चित्तादिक वस्तुएं हमें भी प्रदान करें] तब वह इन्द्र असुर सेना में बड़ा प्रचण्ड हो [हो गया] इसीलिए [उस इन्द्र के समक्ष] सभी प्राणी नतमस्तक है वह अत्यन्त शक्तिशाली और वह (इन्द्र) हवन के योग्य हो गया—स्वाहा ॥ ९ ॥

अभ्यातान मंत्र इस प्रकार हैं—अग्नि प्राणियों का स्वामी हैं, वह मेरी रक्षा करे, इन्द्र बड़ों का, यम (अग्नि) पृथवी का, वायु अन्तरिक्ष का, सूर्य द्यौ का, चन्द्रमा नक्षत्रों का, बृहस्पति ब्रह्म का, मित्र सत्यों का, वरुण जलों का, समुद्र नदियों का, अन्न साम्राज्यों का, स्वामी है वह मेरी रक्षा करे। सोम औषधियों का, सविता प्रेरणाओं का, रुद्र पशुओं का, त्वष्टा रूपों का विष्णु पर्वतों का और मरुत गणों के अधिपति हैं वे मेरी रक्षा करें। पिता, पितामह पूर्ववंशी और पश्चात् वंशी तथा पितृ पितामह [मेरी रक्षा करें]। इस होमादि ब्रह्म कार्य में, इस क्षात्र तेज में, इस [पुत्रादि की सुख की] कामना में, इस पौरोहित्य कर्म में, इस यज्ञ में, इस देवताह्वान में यहां मेरी रक्षा करें। 'स्वाहा' यह शब्द उपरोक्त सभी १८ मंत्रों के अंत में प्रत्येक बार जोड़ा जाता है ॥ १० ॥

(हरिहर०)

चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शकरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरं च। प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः। समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा। चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यन्तानां केचिदिच्छन्ति तदसम्मतम्। कुतः? नह्येतानि देवतापदानि किन्तु मन्त्रा एवैते। मन्त्राश्च यथाम्नाता एव प्रयुज्यन्ते ॥ ९ ॥

'अग्निर्भूतानाम्' अधिपतिः समाऽवतु 'इन्द्रोज्येष्ठानां' 'यमः पृथिव्या' 'वायुरन्तरिक्षस्य' 'सूर्यो दिवः' 'चन्द्रमा नक्षत्राणां' 'बृहस्पतिर्ब्रह्मणो' 'मित्रः सत्यानां' 'वरुणोपाᳩ᳭' 'समुद्रः स्रोत्यानाम्' 'अन्नᳩ᳭ साम्राज्यानामधिपति तन्माऽवतु 'सोम ओषधीनाᳩ᳭' 'सविता प्रसवानाᳩ᳭' 'रुद्रः पशूनां' 'त्वष्टा रूपाणां' 'विष्णुः पर्वतानां' 'मरुतो गणानामधिपतयस्ते माऽवन्तु, पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः। इह माऽवन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ᳭स्वाहेति। अभ्यातानसंज्ञका ह्येते अष्टादश मन्त्राः। सर्वत्रानुषजति। अग्निर्भूताना-मित्यादिषु 'पितरः पितामहाः' इत्येतेष्वष्टादशसु मन्त्रेषु प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं यथावचनं समाचरित्यादि देवहूत्याᳩ᳭स्वाहेत्यन्तं वाक्यैकदेशं अनुषजति संयुनक्ति ॥ १० ॥

(गदाधर०)

जयाहोमानां मन्त्रानाह—'चित्तञ्च ' ' ' बभूव स्वाहेति'। मन्त्रार्थः–चित्तं चेति–प्रजापतिर्यथेन्द्राय जयान्प्रायच्छत् तथा चित्तादि च मह्यमपि प्रयच्छत्विति क्रियां विपरिणम्योत्तरत्र संबन्धः। तस्मै च सुहुतमस्तु। तत्र चित्तं ज्ञानाधारं हृदयम्, चित्तिः तत्रत्या चेतना, आकूतं चाभिमतम्, आकूतिश्चाभिमानः। यद्वा चित्तं ज्ञानेन्द्रियम्, जातावेकवचनम्, चित्तिः तद्देवता, आकूतं कर्मेन्द्रियम्, आकूतिः तद्देवता। विज्ञातं शिल्पादिज्ञानमपरोक्षं, विज्ञातिः तद्देवता, मनः प्रसिद्धम्, शक्करीः शक्वर्यस्तच्छक्तयः, दर्शपौर्णमासौ तद्देवते, बृहद्रथन्तरे सामनी, तद्देवते वा। सर्वत्र प्रथममन्त्रोक्तवाक्यार्थः संबध्यते। प्रजापतिः परमेश्वरः जयन्ति शत्रूनिति जयाः तान् जयान्मन्त्रानिन्द्राय प्रायच्छत् ददौ। किमर्थम् ? वृष्णे अभिमतार्थवर्षणाय, इन्द्रविशेषणं वा। ततः स इन्द्रः पृतनाजयेषु असुरसेनाविजयाख्यकर्मसु उग्रः प्रचण्डो बभूव। किञ्च ततस्तस्मै इन्द्राय विशः प्रजाः समनमन्त सम्यङ् नेमुः। स इः, इच्छार्थे। स चेन्द्रः हव्यः हवनीयः इज्यः बभूव स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु। तथा च तैत्तिरीया श्रुतिः–"देवासुराः संयत्ता आसन्। स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत् स तस्मा एताञ्जयान् प्रायच्छत्, तानजुहोत्, ततो देवा असुरानजयंस्तज्जयानां जयात्वम्" (तै० सं०) इति। अत्र प्रजापतिर्जयानित्येकेनापि जयालिङ्गेन छत्रिन्यायेन त्रयोदशमन्त्रा जया इत्युच्यन्ते। इमानि शाखान्तरोपदिष्टानि देवतापदानि। एषां प्रयोगकाले संप्रदानलक्षणेन संप्रयोगः 'चित्ताय स्वाहा इत्यादीति भर्तृयज्ञः। नेति कर्कादयः। न चेमानि देवतापदानि। किं तर्हि ? मन्त्राश्चैते। तेच यथाऽऽम्नाता एव प्रयोक्तव्याः ॥ ९ ॥

अभ्यातानसंज्ञकान्मन्त्रानाह–अग्निर्भू' 'हूत्याᳫं स्वाहा'। मन्त्रार्थः–अग्निः प्रजापतिः भूतानां स्थावरादीनामधिपतिः ईशः स मा मामवतु पातु, क्व ? अस्मिन् ब्रह्मकर्मणि होमादौ, पुनरस्मिन् क्षत्रे क्षत्रकर्मणि प्रजापालनादौ; पुनरस्यामाशिषि ब्राह्मणैः संपादितेष्टाशंसने, पुत्रादिसुखकामनायां वा। कुत्र ? अस्यां कन्यायाम्। किंभूतायाम् ? पुरोधायां पुरः स्थितायाम्। अस्मिन् कर्मणि विवाहे, अस्यां देवहूत्यां देवताह्वाने देवतोद्देशेन होमे वा। स्वाहा सुहुतमस्तु। अयं च वाक्यार्थ उपरिष्टादपि सप्तदशसु संबध्यते, शेषं स्पष्टम्। एतेऽष्टादश मन्त्रा अभ्यातानाः। अग्निर्भूतानामित्यादि—सुगन्नुपन्थामित्यन्ता द्वाविंशतिरभ्याताना इति कर्ककारिकाकारौ। 'इति सर्वत्रानुषजति' एतेषु मन्त्रेषु प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं यथावचनं स मावत्वित्यादि देवहूत्यां स्वाहेत्यन्तं वाक्यैकदेशमनुवक्तव्यम्। तच्चास्माभिः प्रयोगलेखने प्रदर्शयितव्यम् ॥ १० ॥

अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳫं सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयᳫं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳫं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्स्वाहा १। इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियᳫं स्वाहा २। स्वस्ति नो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रᳫं स्वाहा ३। (१) सुगन्न पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्यजरन्न

(१) सुगन्नु।

आयुः। अपैतु मृत्युरमृतन्न (१) आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा" इति ॥ ११ ॥ परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते ॥ १२ ॥

इति पञ्चमी कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—["अग्निः·····कृणोतु स्वाहा" इति = इन ४ मंत्रों से आज्याहुतियों का हवन करते हुए वर इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करता है] देवतानां = देवताओं में; प्रथमः = सर्वप्रथम; अग्निः एतु = अग्नि यहाँ आएँ; सः = वह अग्नि; अस्यै = इस कन्या के; प्रजां = भावी पुत्रादि रूप प्रजा को; मृत्युपाशात् मुञ्चतु = मृत्यु के पाश से छुड़ाएँ; तत् अयं राजा वरुणः = यह राजा वरुण इस स्त्री को; अनुमन्यतां = अनुमति दें (स्वीकार करें); यथा = जिससे; अयं स्त्री = यह स्त्री; पौत्र = पुत्र से सम्बन्धित; अघं = विपत्तियों पर; न रोदात् = न रोए [अर्थात् पुत्र प्रसव में न रोए अथवा कदाचित् पुत्र वियोग न हो] स्वाहा [१] गार्हपत्यः अग्निः = गार्हपत्य नामक अग्नि; इमाम् = इस कन्या की; त्रायताम् = रक्षा करें। अस्यै प्रजाम् = इसकी सन्तान को; दीर्घमायुः = दीर्घ आयु को; नयतु = प्राप्त कराए। अशून्योपस्थ = इसकी गोद भरी रहे (अर्थात् वन्ध्या न हो किन्तु सफल प्रसव वाली होए); जीवतान् = जीवित पुत्रों की; माता अस्तु = माता होवे; इयं = और यह कन्या; पौत्रमानन्दम् = पुत्र सम्बन्धी आनन्द को; अभिबुध्यतां = प्राप्त करके विविध प्रकार से जाने अर्थात् भोगे। स्वाहा [२] हे यजत्र अग्नि = हे यज्ञ करने वाले के रक्षक अग्नि; विश्वानि नः अयथा = उन सबको जो हमने अयथावत [प्रतिकूल] किया हैं; स्वस्ति = ठीक कर दो। अनुकूल कर दो। दिवः आपृथिव्याः = पृथ्वी से स्वर्ग तक जितनी महिमा है उसे हम में; धेहि = स्थापित करो। यत् = जो; अस्यां = इस; महिदिवि जातं प्रशस्तं चित्रं द्रविणं = पृथिवी और द्यौ में श्रेष्ठ (पवित्र) स्वर्णरत्नादिभेद से नाना रूप वाला (अद्भुत) धन हैं; तत् = उसको अस्मासु = हम में; धेहि = स्थापित करो। स्वाहा [३] हे अग्ने ! नः सुगं पन्थां प्रदिशन् = हे अग्नि ! हमें सुगम मार्ग बतलाते हुए; एहि = [हमारे घर] आओ। ज्योतिष्मत् = तेजस्वी या प्रकाशक और; अजरं = जरा रोग आदि पराभव से रहित; आयुः = आयु को; नः (धेहि) = हमें दो। मृत्युः अपैतु = [आपके प्रसाद से] मृत्यु दूर होए; अमृतं नः आगात् = और अमरत्व हमारे पास आए; वैवस्वतः = विवस्वान् का पुत्र (यम); नः अभयं कृणोतु = हमें अभय करे। स्वाहा [४] ॥ ११ ॥ 'परं मृत्यो' इति=इस मन्त्र से पाँचवी आहुति दी जानी चाहिए; च एके=परन्तु कुछ आचार्य; प्राशनान्ते = प्राशन के अन्त में [इस मन्त्र से आहुति देने को कहते हैं] ॥ १२ ॥

हिन्दी— ['अग्नि··· ··· ···कृणोतु स्वाहा' इन चार मन्त्रों से आज्याहुतियों का हवन करते हुए वर इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करता है] देवताओं में सर्वप्रथम अग्नि यहाँ आएँ। वह अग्नि इस कन्या के भावी पुत्रादि रूप प्रजा को मृत्यु के पाश से छुड़ाएँ यह राजा वरुण इस स्त्री को अनुमति दें (स्वीकार करें) जिससे यह स्त्री पुत्र से सम्बन्धित विपत्तियों पर न रोए [अर्थात् पुत्र प्रसव में न रोए अथवा कदाचित् पुत्र वियोग भी न हो] स्वाहा [१] गार्हपत्य नामक

(१) तन्न—इति पाठान्तरम्।

(सरला)

अग्नि इस कन्या की रक्षा करें इसकी सन्तान को दीर्घ आयु प्राप्त कराए। इसकी गोद भरी रहे (अर्थात् वन्ध्या न हो किन्तु सफल प्रसव वाली होए) जीवित पुत्रों की माता होवे और यह कन्या पुत्र सम्बन्धी आनन्द को प्राप्त करके विविध प्रकार से जाने अर्थात् भोगे। स्वाहा [२] हे यज्ञ करने वालों के रक्षक अग्नि। उन सब को जो हमने अयथावत [प्रतिकूल] किया है ठीक कर दो [अनुकूल कर दो] पृथ्वी से स्वर्ग तक जितनी महिमा है उसे हम में स्थापित करो। जो इस पृथिवी और द्यौ में श्रेष्ठ [पवित्र] स्वर्ण रत्नादि भेद से नाना रूप वाला (अद्भुत) धन है उसको हम में स्थापित करो। स्वाहा [३] हे अग्नि! हमें सुगम मार्ग बतलाते हुए [हमारे घर] आओ। तेजस्वी या प्रकाशक और जरा रोग आदि पराभव से रहित आयु हमें दो। [आपके प्रसाद से] मृत्यु दूर होए और अमरत्व हमारे पास आए विवस्वान के पुत्र (यम) हमें अभय करें। स्वाहा [४] ॥ ११ ॥ 'परं मृत्यो यजु० ३५. ७।' इस मन्त्र से पाँचवी आहुति दी जानी चाहिए परन्तु कुछ आचार्य प्राशन के अन्त में [इससे आहुति देने को कहते हैं। कुछ लोग वधू और अग्नि के बीच में वस्त्र का पर्दा डाल देते है अतः इसे अन्तः पटाहुति भी कहते हैं] ॥ १२ ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथमकाण्ड की पाँचवी कण्डिका समाप्त ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अग्निरैत्वित्यादि परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते ॥ 'अग्निरैतु' इत्यादिकाः 'परं मृत्यो' इत्यन्ताः पञ्च मन्त्राः। परं मृत्यविति च जुहुयात्। एके आचार्याः परं मृत्यवित्येतामाहुतिं प्राशनान्ते संस्रवप्राशनान्ते जुहुयादितीच्छन्ति। उदकस्पर्शः ॥ ११–१२ ॥

इति हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

अग्नि ··· कृणोतु स्वाहेति'। 'अग्निरैतु प्रथम' इत्यादिचतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति। 'अग्निरैतु प्रथम' इति प्रथमा, इमामग्निरिति द्वितीया, स्वस्ति न इति तृतीया, सुगन्नुपन्थामिति चतुर्थी। मन्त्रार्थः—अग्निः ऐतु आगच्छतु। किंभूतः? देवतानां यज्ञभुजां प्रथमः आद्यः प्रधानत्वात्। स चाग्निः असौ अस्याः कन्यायाः प्रजां भाविपुत्रादिरूपां मुञ्चतु मोचयतु। कुतः? मृत्युपाशात्। यद्वा मृत्युपाशात् अग्निः अस्यै कन्यायै प्रजां मुञ्चतु ददातु। तच्च प्रजामोचनं राजा वरुणोऽनुमन्यताम् अनुजानातु। यथा येनानुज्ञानेन प्रकारेण वा इयं कन्या पौत्रं पुत्रभवमघं दुःखं न रोदात् शोकं प्राप्य न रोदिष्यति, कदाचिदपि अपत्यवियोगो मा भवतु इत्यर्थः [१] इमां कन्यां गार्हपत्योऽग्निस्त्रायतां रक्षतु गार्हपत्याभिधो भाव्यग्निः पालयतु, इमां पत्नीमग्निहोत्रिणीं कृत्वा रक्षतु। अस्यै अस्याः प्रजां दीर्घमायुः निर्दुष्टबहुकालजीवनं नयतु प्रापयतु। इयं च अशून्योपस्था सफलप्रसवा अवन्ध्यतयेति यावत। यद्वा नित्यं भर्तृसंगतोत्सङ्गा अस्तु भवतु, जीवतामेव दीर्घायुषां

(गदाधर०)

माता चास्तु जीवत्पुत्रा भवत्वित्यर्थः, किञ्च पौत्रं पुत्रसंबन्धजमानन्दं सुखम् अभि अधिगम्य आभिमुख्येन सर्वभावेन वा प्राप्य विविधं बुध्यतां जानातु सर्वज्ञाऽस्त्वित्यर्थः, यद्वा, पौत्रमानन्दं विशिष्टतया बुध्यतां निद्रासुखापेक्षां त्यक्त्वा जागर्त्विति [२] हे अग्ने यजन्तं त्रायत इति यजत्रः हे यजत्र यस्मात् त्वं सर्वप्रत्यक् अतो नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि कर्माणि अयथा अन्यथा कृतानि कर्माणि स्वस्ति संपूर्णानि यथा स्यात्तथा धेहि अनुकूलानि कृत्वा स्थापय । किं च दिव आ स्वर्गं लोकमभिव्याप्य आ पृथिव्याः पृथिवीमभिव्याप्य च यत् महि महिमा तमस्मासु धेहि स्थापय । किं च अस्यां पृथिव्यां जातं यद् द्रविणं वसु चित्रं नानारूपं स्वर्णरत्नादिभेदेन प्रशस्तम् , प्रशस्यं श्रेष्ठं यच्च दिवि स्वर्गे जातं तदप्यस्मासु धेहि [३] हे अग्ने नोऽस्मान् एहि आगच्छ अस्मद्गेहानागत्य नोऽस्माकं सुगं सुखगम्यं पन्थां पन्थानमर्चिरादिमार्गं प्रदिशन् उपदिशन् संपादयन्निति यावत् । आयुर्निर्दुष्टं जीवनं धेहि देहि । किंभूतम् ? अजरं जरारोगादिपराभवरहितम् , अजरमित्यग्निविशेषणं वा विभक्तिव्यत्ययेन । पुनः किंभूतम् ? ज्योतिष्मत् प्रकाशकम् । तत्प्रतिबन्धको मृत्युरपि नोऽस्माकं भवत्प्रसादादपैतु अपगच्छतु । अमृतमानन्दं च नोऽस्मान् आगात् आगच्छतु । वैवस्वतो यमश्च नोऽस्माकम् । अभयं त्वत्संबन्धेन पापाभावाद् दुःखहेतुभयाभावं कृणोतु करोतु [४] ॥ ११ ॥

'परं मृत्यविति च'। चकारादाहुतिं जुहोति 'परं मृत्यो' इत्यनेन मन्त्रेण । मन्त्रस्य पित्र्यत्वादुदकस्पर्शः । 'एके प्राशनान्ते' एके आचार्याः संस्रवप्राशनान्ते इमामाहुतिमिच्छन्ति । तस्मिन् पक्षे 'परं मृत्यो' इति होमान्ते पुनरेतस्य संस्रवप्राशनम् ॥ १२ ॥

इति गदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

षष्ठी कण्डिका

कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति॥१॥ ताञ्जुहोति स᳭ंहतेन तिष्ठती अर्यमणं देवं कन्याऽग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा [१] इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा [२] इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्य च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियᳯं स्वाहा [३] इति ॥ २ ॥ अथास्यै दक्षिणᳯं हस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठं, गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽऽसः । भगोऽऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः । अमोऽहमस्मि सा त्वᳯं सा त्वमस्यमोऽहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि [४] विवहावहै सह

रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्द्यावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ ३ ॥

इति षष्ठी कण्डिका

(सरला)

प्राक्कथन—इस कण्डिका में लाजा-होम की विधि बतलाकर साङ्गुष्ठ पाणिग्रहण का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कुमार्या = कुमारी (कन्या) का; भ्राता = भाई; शमी पलाश मिश्रान् लाजान् = शमी के पल्लवों से मिश्रित धान के लावों को अञ्जलिना = अपनी अञ्जलि से; अञ्जलौ = (कन्या के) अञ्जलि में; आवपति = डालता है ॥ १ ॥

हिन्दी—कुमारी (कन्या) का भाई शमी के पल्लवों से मिश्रित धान के लावों को अपनी अञ्जलि से कन्या की अञ्जलि में डालता है ॥ १ ॥

व्याख्या—तान् = उन लावों को; तिष्ठती = खड़ी होकर; संहतेन = मिली हुई अञ्जलि से; "अर्यमणं.........पतेः स्वाहा" [इस मन्त्र द्वारा] जुहोति = होम करती है। कन्या अर्यमणं देवं = कन्या ने (पहले) कान्तिमान सूर्य देवता को; अग्निं = जो अग्नि स्वरूप हैं [वर लाभ के लिए]; अयक्षत = पूजन किया है। [लिङ् लकार का छन्दस् रूप 'अयक्षत' है] सः अर्यमा देवः = वह अर्यमा देव; नः = हमें; प्रेतो मुञ्चतु = इस पितृ कुल से मुक्त करें; मा पतेः = पति से नहीं (छुड़ाए)। स्वाहा [१] इयं नारी=यह वधू (रूप में); लाजान् = लावों को; आवपन्तिका = [अग्नि में] छोड़ती हुई; उपब्रूते = (पति के) समीप बोलती हैं कि; मे पतिः आयुष्मान् अस्तु = मेरे पति आयुष्मान् होवे; मम ज्ञातयः = और मेरे बन्धु बान्धव; एधन्ताम् = बढ़ें। स्वाहा [२] तव समृद्धिकरणं = हे पति। तुम्हारी समृद्धि के लिए; इमान् लाजान् = इन लावों को; अग्नौ = अग्नि में; आवपामि = मैं डालती हूँ। मम तुभ्य च संवननं = हमारे तुम्हारे जो पारस्परिक अनुराग हैं। [तुभ्यं में अनुस्वार का लोप छान्दस् है] तद् अग्निः = उसको [यह] अग्निदेव; अनुमन्यताम् = अनुमोदन करें अर्थात् दृढ़ करें; इयं च 'स्वाहा' इति = यह स्वाहा रूपी अग्नि की पत्नी भी [हम दोनों के अनुराग का अनुमोदन करें] [३] ॥ २ ॥

हिन्दी—उन लावों को खड़ी होकर मिली हुई अञ्जलि से "अर्यमण......... ... ...पतेः स्वाहा" [इस मन्त्र द्वारा] होम करती है। कन्या ने [पहले] कान्तिमान् सूर्य देवता को जो अग्नि स्वरूप है [वर लाभ के लिए] पूजन किया है। वह अर्यमा देव हमें इस पितृकुल से छुड़ाए पति से नहीं (छुड़ाए)। स्वाहा [१] यह वधू लावों को [अग्नि में] छोड़ती हुई पति के समीप बोलती है कि मेरे पति आयुष्मान् होवें और मेरे बन्धु बान्धव बढ़े। स्वाहा [२] हे पति ! तुम्हारी समृद्धि के लिए इन लावों को अग्नि में मैं डालती हूँ। हमारे तुम्हारे जो पारस्परिक अनुराग हैं

---

१. द्रष्टव्य—शांखायन गृ० सू० १।१३।१५ आश्वलायन—१।७।८

२. द्रष्टव्य—शांखायन गृ० सू०—१।१८।३ और आश्वलायन गृ० सू०—१।७।१३

(सरला)

उसको [यह] अग्नि देव अनुमोदन करें। यह स्वाहा रूपी अग्नि की पत्नी भी [हम दोनों के अनुराग का अनुमोदन करें] [१] ॥ २ ॥

व्याख्या—अथ = लाजा होम के बाद, अस्यै = इस कन्या के [षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी]; दक्षिण हस्तं = दाहिने हाथ को; साङ्गुष्ठं = अँगूठे के सहित (वर) "गृभ्णामि··· ··· ···इति = इन मन्त्रों से गृह्णाति = पकड़ता है। सौभगत्वाय = सौभाग्य के लिए या अतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए [सुभगानां समूहः सौभगं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मै तदर्थं निरतिशयानन्दावाप्तये इत्यर्थः] ते हस्तं गृभ्णामि = तुम्हारे हाथ को पकड़ता हूँ ['गृभ्णामि' में भ् छान्दस है] यथा = जिससे; मया पत्या = मुझ पति के साथ; जरदष्टिः = वृद्ध शरीर वाली; आसः = होओ। भगोऽऽर्यमा सविता देवाः = भग, अर्यमा, सविता देवताओं ने; त्वा पुरन्धि—तुम रूपवती को [द्वितीया के अर्थ में प्रथमा है पुरन्धिर्योषिति योषित्येव रूपं दधातीति]; गार्हपत्याय=गृहस्वामिनि बनाने के लिए [अथवा गार्हस्थ्य धर्म के पालन के लिए] मह्यम् अदुः = (पत्नी रूप में) मुझे दिया है। अहम् अमः=मैं विष्णु; अस्मि=हूँ; सा त्वं [असि]=तुम लक्ष्मी हो; सा त्वं=तुम लक्ष्मी हो; अहम् अमः = मैं विष्णु हूँ। सामाहमस्मि = मैं साम (स्वरूप) हूँ; त्वं ऋक् = तुम ऋक् (स्वरूप) हो; अहं द्यौ = मैं आकाश हूँ; त्वं पृथिवी = तुम पृथ्वी हो; तौ एहि = [हम दोनों] आएँ; विवहावहै= और विवाह करें; सह = साथ मिलकर; रेतः = [अपनी पुत्रोत्पत्ति रूप] शक्ति को; दधावहै = धारण करें। प्रजां प्रजनयावहै = हम लोग सन्तानोत्पादन करें; पुत्रान् बहून् विन्दावहै = बहुत पुत्र पौत्रों को हम पावें। ते जरदष्टयः सन्तु = वे वृद्ध शरीर वाले (दीर्घायु) होवें; और संप्रियौ=हम दोनों एक दूसरे को प्यार करते हुए; रोचिष्णु = चमकते हुए, और सुमनस्यमानौ= शोभन मनवाले [सुमनसो भावः सौमनस्यं सुमनस्यं वा तत्कुर्वाणावित्यर्थः] पश्येमः शरदः शतम्= हम सौ वर्ष तक देखें; जीवेम शरदः शतम् = सौ वर्ष तक जीएँ और; शृणुयामः शरदः शतम् = सौ वर्ष तक सुनें ॥ ३ ॥

हिन्दी—लाजा होम के बाद इस कन्या के दाहिने हाथ को अंगूठे के सहित (वर) "गृभ्णामि··· ···इन मन्त्रों से पकड़ता है। अतिशय आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम्हारे हाथ को

---

१. तदाह—स्त्रीपुंनपुंसकत्वेन त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः॥

स्त्री, पुरुष और नपुंसक होने के कारण मन्त्रों की तीन जातियाँ हैं। जिसके अन्त में स्वाहा (अग्नि की पत्नी) रहे वे स्त्रीलिङ्ग हैं, जिनके अन्त में नमः होवे नपुंसक लिङ्ग है और शेष सभी मंत्र पुरुष हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण प्र, अ—३७ में 'स्वाहा' का अग्नि के पति के रूप में उल्लेख है। [प्रकृति की कला से सभी शक्तियों के रूप में अग्नि की दाहिका शक्ति अपनी कामना करने वाली उत्पन्न हुई। ग्रीष्मकाल में दोपहर के सूर्य की प्रभा को भी अभिभूत कर देनेवाली वह स्वाहा-सुन्दरी अग्नि की पत्नी हुई।]

२. द्रष्टव्य—ऋग्वेद-१०।८५।३६। और शांखायन गृ० सू०—१।१३।४।

(सरला)

पकड़ता हूँ जिससे मुझ पति के साथ तुम वृद्ध शरीर वाली होओ। भग, अर्यमा और सविता देवताओं ने तुम रूपवती को गृहस्वामिनी बनाने के लिए [अथवा गार्हस्थ्य धर्म के पालन के लिए] मुझे दिया है। मैं विष्णु हूँ, तुम लक्ष्मी हो (या) तुम लक्ष्मी हो, मैं विष्णु हूँ। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो, मैं द्यौ हूँ, तुम पृथ्वी हो, आओ हम दोनों विवाह करें और साथ मिलकर [अपनी पुत्रोत्पत्ति रूप] शक्ति को धारण करें। हम लोग सन्तानोत्पादन करें एवं बहुत पुत्र पौत्रों का लाभ करें। वे वृद्ध शरीर वाले (दर्घायु) होवें और हम दोनों एक दूसरे को प्यार करते हुए, चमकते हुए और शोभन मन वाले हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीएँ और सौ वर्ष तक सुनें ॥ ३ ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथमकाण्ड की छठी कण्डिका समाप्त ॥ ६ ॥

(हरिहर०)

कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति। ताञ्जुहोति सᳬ हतेन तिष्ठति ॥ कुमार्याः कन्यायाः भ्राता शमीपलाशमिश्रान् शमीपत्रयुक्तान् लाजान् भृष्टानि धान्यानि अञ्जलिना कृत्वा बध्वा अञ्जलौ आवपति निक्षिपति, तान् जुहोति, सा च तान् अञ्जलिस्थान् लाजान् संहतेन मिलितेन अञ्जलिना जुहोति विवाहाग्नौ प्रक्षिपति तिष्ठति ऊर्ध्वा। अर्यमणं देवमित्यादि इयᳬ० स्वाहेत्यन्तम्। 'अर्यमणं देवम्' इति प्रथमम्, 'इयं नार्युपब्रूते' इति द्वितीयम्, 'इमाँल्लाजाना' इति तृतीयम् ॥ १–२ ॥

अथास्यै दक्षिणᳬ हस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठं 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' इत्यादि, 'शृणुयाम शरदः शतम्' इत्यन्तम्। अथ लाजाहोमानन्तरम् अस्यै अस्याः कुमार्याः दक्षिणं हस्तं गृह्णाति स्वदक्षिणहस्तेन आदत्ते। कीदृशं हस्तम् साङ्गुष्ठम्? अङ्गुष्ठेन सहितम्, गृभ्णामि ते सौभगत्वायेत्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तं मन्त्रं पठति वरः ॥ ३ ॥

इति हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

(गदाधर०)

'कुमार्या······वपति'। कुमार्याः कन्याया बध्वा भ्राता शमीपत्रैर्मिश्रितान् लाजानञ्जलिना कन्याया अञ्जलौ आवपति प्रक्षिपति। लाजाशब्देन भृष्टव्रीहय उच्यन्ते ॥ १ ॥

'ताञ्जुहोती······स्वाहेति'। ततः कुमारी तिष्ठती ऊर्ध्वा ताँल्लाजान् स्वाञ्जलौ स्थितान् सᳬ हतेन अविरलाङ्गुलिना 'अर्यमणम्' इत्यादि त्रिभिर्मन्त्रैर्जुहोति। 'अविच्छिन्नाञ्जलिना स्रुचेव जुहुयात्' इत्याश्वलायनः। तत्रैकैकेन मन्त्रेण प्रक्षिप्तलाजानां तृतीयांशं जुहोति। एवं च होमत्रयं भवति। अत्र कारिकाकारः—

> तिष्ठन्त्यास्तिष्ठता पत्या गृहीताञ्जलिनैव सा।
> अञ्जलिस्थांस्त्रिधा सर्वान् प्राङ्मुखी प्रतिमन्त्रतः ॥
> प्राजापत्येन तीर्थेन दैवेनैवेति बह्वृचाः।
> अन्यो भ्रातुरभावे स्याद् बान्धवो ज्ञातिरेव च ॥ इति।

'भ्राता भ्रातृस्थानो वा' इत्याश्वलायनगृह्ये।

(गदाधर०)

भ्रातृस्थाने पितृव्यस्य मातुलस्य च यः सुतः।
मातृष्वसुः सुतस्तद्वत्सुतस्तद्वत्पितृष्वसुः ॥ इति बह्वृचकारिकायाम् ।

द्रव्यत्यागे तु वरस्य कर्तृत्वं 'प्रधानर्द्स्वामी फलयोगात्' इत्युक्तत्वात्। मन्त्रार्थः— कन्याः पूर्वाः प्रथममर्यमणं सूर्यं देवं कान्तमग्निमग्निस्वरूपं वरलाभाय अयक्षत अयजन् । लि[ल]ङि छान्दसं रूपम् । स चार्यमा देवः तामिरिष्टो यतः, अतो नोऽस्मान् इदानीं परिणीयमानाः कन्याः इतः पितृकुलात् प्रमुञ्चतु प्रमोचयतु, मा पतेः पत्युः कुलात् सहचरीत्वाद्वा मा प्रमोचयतु । यद्वा, वरो ब्रूते कन्याः यमर्यमणमग्निरूपेणायजन् , सोऽर्यमा देवः पतेः पत्युर्मत्तः सकाशादिमां नो प्रमुञ्चतु मा प्रमोचयतु इतः अस्याः कन्यायाः सकाशान्मा मां नो प्रमुञ्चतु [१] अत्रेदं मण्त्रत्रयं कन्यैव वरपाठिता पठति । इयं नारी वधूः उप पत्युः समीपे ब्रूते। किं कुर्वती ? लाजान् भृष्टव्रीहीन् आवपन्तिका अग्नौ विभागशः प्रक्षिपन्ती । स्वार्थे कः । किं ब्रूते ? तदाह—मे मम पतिरायुष्मान् सकलदीर्घायुरस्तु भवतु। मम ज्ञातयः एधन्तां वर्द्धन्तामिति [२] किं च हे पते इमानग्नौ आवपामि प्रक्षिपामि किंभूतान् ? तव समृद्धिकरणं समृद्धिहेतवे, अतो मम कन्यायाः तुभ्यं च तव च भर्तुः। मलोपश्छान्दसः। संवननं वशीकरणमन्योन्यमनुरागः तदयमाग्निरर्यमा अनुमन्यतामनुमोदनं कुरुताम । इयं च स्वाहा तत्पत्नी अनुमन्यताम् [३] ॥ २ ॥

'अथास्यै······शतमिति' । अस्यै इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे, अस्याः कुमार्या दक्षिणं साङ्गुष्ठमङ्गुष्ठसहितं हस्तं गृह्णाति वरः स्वहस्तेनादत्ते 'गृभ्णामि ते' इति मन्त्रेण। 'अथ' शब्दोऽत्र स्वस्थाने तिष्ठता कर्तव्यमिति द्योतनार्थः । मन्त्रार्थः—हे कन्ये ते तव हस्तं करं गृभ्णामि गृह्णामि । 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू०) इति भत्वम् । यथा येन गृहीतहस्तेन मया पत्या भर्त्रा सह जरदष्टिः जरच्छरीरा बहुवर्षाऽऽयुष्मती आसः, भवसीत्यर्थे निपातः। ग्रहणमेव तावत्कृत्यं, तत्राह भगादयस्त्रयो देवास्त्वा त्वां मह्यमदुः दत्तवन्तः। किमर्थं गार्हपत्याय गृहस्वामिनीत्वाय भाविगार्हपत्यं सेवितुं वा । किं च सौभगत्वाय सुभगानां समूहः सौभगं, तस्य भावः सौभगत्वं, तस्मै तदर्थम्। निरतिशयानन्दावाप्तये इत्यर्थः। किंभूतां त्वां ? पुरन्धिः पुरन्धिर्द्वितीयार्थे प्रथमा श्रेष्ठां सुरूपवतीं वा। तथा च श्रुतिः– 'पुरन्धिर्योषेति[आह], योषित्येव रूपं दधाति' इति । हे कन्ये यतः अमो विष्णुरुद्रब्रह्मरूपोऽहमस्मि अमति सर्वत्र गच्छति सर्वं जानाति वेति, न मिनोति हिनस्तीति वा अमः। तथा सौति सुवति सूते वा विश्वमिति सा लक्ष्मीस्त्वमसि। किं च सा देवी त्रयीरूपा त्वमसि अमो देवत्रयरूपोऽहमस्मि । किं चाहं सामास्मि त्वम् ऋगसि, अहं द्यौरस्मि त्वं पृथिव्यसि, तावेवावां विवहावहै विवाहं करवावहै। सह संयुक्तौ भूत्वा रेतः पुत्रदेहरूपं दधावहै धारयाव । ततः प्रजां स्त्रीरूपां सन्ततिं प्रजनयावहै उत्पादयाव । पुत्रान् पुत्रपौत्रादीन् बहून् विन्द्यावहै लभावहै। ते च पुत्रा जरदष्टयः शतायुषः सन्तु। आवामपि संप्रियौ सम्यक् प्रीतौ परस्परप्रेमशालिनौ रोचिष्णू सुदीप्तौ शोभमानौ वा सुमनस्यमानौ शोभनमनोवृत्तिं कुर्वाणौ, सुमनसो भावः सौमनस्यं तत्कुर्वाणावित्यर्थः। सन्त्विति क्रियां विपरिणमय्य योज्यम् । इन्द्रियपाटवमाशास्ते–वयं च पुत्रादिसहिताः शतं शरदो वत्सरान् पश्येम रूपग्रहणसमर्थाः स्याम। तथा शतं शरदो जीवेम निरुपद्रवं प्राणान् धारय। तथैव शरदः शतं शृणुयाम निर्दुष्टं शब्दग्रहणसमर्थमस्माकं श्रवणेन्द्रियं भवत्वित्यर्थम् ॥ ३ ॥

इति गदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

सप्तमी कण्डिका

अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन—आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत इति ॥ १ ॥

अथ (१)गाथां गायति—सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश इति ॥ २ ॥ अथ परिक्रामतः—तुभ्यमग्रे पर्यवहन्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सहेति ॥ ३ ॥ एवं द्विरपरं लाजादि ॥ ४ ॥ चतुर्थꣳ शूर्पकुष्ठया सर्वांल्लाँजानावपति—भगाय स्वाहेति ॥ ५ ॥ त्रिः परिणीता प्राजापत्यꣳ हुत्वा ॥ ६ ॥

इति सप्तमी कण्डिका

(सरला)

प्राक्कथन—प्रस्तुत कण्डिका में अश्मारोहण का विधान करके गाथा गान, प्रदक्षिणा और लाजा-होम वर्णित है—

व्याख्या—अथ = पाणिग्रहण के बाद, एनां = उस वधू को, अग्नेः उत्तरतः = अग्नि [कुण्ड] से उत्तर की ओर स्थित, अश्मानम् = पत्थर पर; दक्षिण पादेन = दाहिने पैर से 'आरोह··· ··· इति = इस मन्त्र को पढ़ता हुआ वर; आरोहयति = चढ़ाता है। इमम् अश्मानम् = हे कन्ये ! इस (पुरोवर्ती) प्रस्तर पर; आरोह = आरूढ़ होओ; त्वम् अश्मेव स्थिरा भव = [आरूढ़ होने में संस्कृत होकर) तुम पत्थर की तरह दृढ़ [अङ्गों वाली या संकल्प वाली] होओ। पृतन्यतः = कलह चाहने वाले को [पृतानां संग्राममिच्छन्ति पृतन्यन्ति त एव पृतन्यतः तान् पृतन्यतः कलहकारिणः इत्यर्थः] अभितिष्ठ = दबाकर स्थित होओ; पृतनायतः अववाधस्व = शत्रुओं को दूर हटा दो ॥ १ ॥

अथ = अश्मारोहण के बाद "सरस्वती प्रेद··· ··· यश" इति = इस; गाथाम् = गाथा को; गायति = (वर) गाता है। हे सुभगे सरस्वति = हे सुन्दर वाणी (अङ्ग) वाली सरस्वती [वाक्]; वाजिनीवती = तुम अन्नशालिनी हो [या हंसी पक्षी से युक्त हो] इदं = इस युग्म कर्म को; प्राव = प्रकृष्ट रूप से रक्षा करो; यां त्वा=जिस तुमको; अग्रतः = आदि में [अर्थात् प्रथमतः];

(१) गीयते स्तूयतेऽनया, गानं तिष्ठत्यस्यामिति वा गाथा।

(सरला)

अस्य विश्वस्य भूतस्य = इस विश्व के पृथिव्यादि प्राणियों की; प्रजायाम् = उत्पन्न करने वाली [कहते हैं] यस्यां = जिसमें; भूतं समभवत् = यह जगत उत्पन्न हुआ है और; यस्यां = जिसमें; इदं विश्वः जगत् = यह सारा जगत् [लीन हो जाता है]; तां गाथां = उस । [गुण-प्रभाव की प्रकाशिका] गाथा को; अद्य गास्यामि = मैं आज गाता हूँ (या गाऊँगा) या स्त्रीणां उत्तमं यशः = जो स्त्रियों का उत्तम यश है । [अथवा जिसके सुनने से स्त्रियों को श्रेष्ठ कीर्ति मिलती है] ॥ २ ॥

हिन्दी—पाणिग्रहण के बाद उस वधू को अग्नि [कुण्ड] से ऊपर की ओर स्थित पत्थर पर दाहिने पैर से "आरोह... ... ...इस मन्त्र को पढ़ता हुआ वर चढ़ाता है[1] । हे कन्ये ! इस पुरोवर्ती प्रस्तर पर आरूढ़ होओ [आरूढ़ होने से संस्कृत होकर] तुम पाषाणवत् दृढ़ [अङ्गों वाली] होओ । कलह चाहने वाले को दबाकर स्थित होओ; और शत्रुओं को दूर हटा दो[2] ॥ १ ॥

अश्मारोहण के बाद "सरस्वति प्रेद... ... ...इस गाथा को (वर) गाता है । हे सुन्दर अंग वाली सरस्वती (वाक्) तुम अन्नशालिनी हो [या हंस से युक्त हो] इस कर्म की प्रकृष्ट रूप से रक्षा करो जिस तुमको प्रथमतः इस विश्व के पृथिव्यादि प्राणियों की उत्पन्न करने वाली [कहते हैं] जिसमें यह जगत् उत्पन्न हुआ और जिसमें यह सारा जगत् [लीन हो जाता है] उस गाथा को मैं आज गाता हूँ जो स्त्रियों का उत्तम यश है । [या जिसके सुनने से स्त्रियों को श्रेष्ठ कीर्ति मिलती है] ॥ २ ॥

व्याख्या—अथ = अब गाथा गान के बाद "तुभ्यं... ... ..." इति = इस मन्त्र से; परिक्रामतः = अग्नि की परिक्रमा (वर-वधू) करते हैं । (वर कहता है) हे अग्ने तुभ्यं = हे अग्नि ! तुम्हारे लिए ही । (सोमादि देवताओं ने) अग्रे = जन्मदिन से पहले ही; पर्यवहन् = (इस वधू को) धारण किया था; (अतः) सूर्यां = नवोद्गत कान्ति रूप इस कन्या को; ना सह वहतु = (परम पुरुषार्थ चतुष्टय हेतु) आप सन्तानादि के साथ स्वीकार करें; पुनः = और फिर विवाह करके; पतिभ्यः = (मुझ) पति के लिए; जाया प्रजया सह = (पत्नी रूप में) सन्तान के साथ; दा = दो ॥ ३ ॥ एवं=इसी प्रकार; लाजादि=लावा-होम आदि (पाणिग्रहण, अश्मारोहण, गाथा-गान एवं अग्नि परिक्रमा तक) कर्म; द्विः अपरम् = दो बार फिर करना चाहिए ॥ ४ ॥ चतुर्थं = [तीन परिक्रमा के बाद] चौथी बार [के लावा-होम में] शूर्पकुष्ठया = सूप के कोने से; सर्वान् लाजान् = सब लावों को; "भगाय स्वाहा" इति = इस मन्त्र से; आवपति = [कन्या के हाथ में] छोड़ दें ॥ ५ ॥ त्रिः = तीन; परिणीताम् = (प्रदक्षिणा कराके) परिणीत वधू को; प्राजापत्यम् = प्रजापति को; हुत्वा = आहुति प्रदान करके... ...[उत्तर की ओर सातपद चले] ॥ ६ ॥

---

१. हरिहर के अनुसार वर अपने दाएँ हाथ से कुमारी के पैर पकड़कर पत्थर पर रखता है । यह न तो सूत्र में ही है और न तो मन्त्र में ही है । क्योंकि इस "आरोहेममश्मानं" इससे—'शिला पर चढ़'—ऐसी आज्ञा देता है न कि हाथ से पैर रखता है ।

किन्तु भाष्यकार गदाधर वासुदेव का मत बतलाते हुए कहते हैं कि वर दहिना पैर पकड़कर पत्थर पर रक्खे—क्योंकि यह कारिका है—

गत्वोमावुत्तरेणाग्निं तस्याः सव्येतरं करम् ।
सव्येनादाय हस्तेन वधूपादं तु दक्षिणम् ॥
शिलामारोहयेत् प्रागायतां दक्षिणपाणिना ।

२. द्रष्टव्यः—आश्वलायन गृ० सू०–१।७।७ और शांखायन–१।१३।१२

(सरला)

हिन्दी—गाथा गान के पश्चात् वरवधू "तुभ्यं······ ···इस मन्त्र से अग्नि की परिक्रमा करते हैं। हे अग्नि! तुम्हारे लिए ही सोमादि देवताओं ने जन्म दिन से पहले ही तुम्हें धारण किया था। नवोद्‌गत कान्ति रूप इस कन्या को (परम पुरुषार्थ हेतु आप) सन्तानादि के साथ इसे अपनाइए और फिर विवाह करके पति के लिए सन्तान के साथ पत्नी रूप भी दीजिए ॥ ३ ॥ इसी प्रकार लावा होम आदि [सांगुष्ठ ग्रहण से लेकर परिक्रमा तक] कर्म दो बार फिर से करना चाहिए ॥ ४ ॥ [तीन परिक्रमा के बाद] चौथी बार [के लावा होम में] सूप के कोने से सब लावों को "भगाय स्वाहा" इस मन्त्र से [कन्या के हाथ में] छोड़ दें ॥ ५ ॥ तीन प्रदक्षिणा कराके परिणीत कन्या को प्रजापति आहुति प्रदान करके······ ···[उत्तर की ओर सात पद चले— ऐसा ८ वीं कण्डिका में कहा गया है] ॥ ६ ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथमकाण्ड की सातवीं कण्डिका समाप्त ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेनारोहेममित्यादि पृतनायत इति। अथ पाणिग्रहणानन्तरम् एनां वधूम् अश्मानं दृषदम्, उत्तरतोऽग्नेर्ध्रियमाणं दक्षिणपादेन कृत्वा आरोहयति आरोहेममित्यादि पृतनायत इति मन्त्रेण ॥ १ ॥

अथ गाथां गायति। अथ अश्मारोहणानन्तरं गाथां गायति। तां गाथामाह—'सरस्वति प्रेदमव' इत्यादिकाम् 'उत्तमं यशः' इत्यन्ताम् इमं मन्त्रं पठति गाथागाने ॥ २ ॥

अथ परिक्रामतस्तुभ्यमग्र···इति। अथ गाथायां समाप्तायामग्निं प्रादक्षिण्येन परिक्रामतो वधूवरौ। तत्र मन्त्रः—'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्' इत्यादिकस्य 'प्रजया सह' इत्यन्तस्य मन्त्रस्य वरपठितस्यान्ते। अत्र हस्तग्रहणादिपरिक्रमणान्तेषु कर्मसु वर एव मन्त्रान् पठति ॥ ३ ॥

एवं द्विरपरं लाजादि। एवमुक्तप्रकारेण द्विः वारद्वयम् अपरं पुनरपि लाजादि कुमार्या भ्रातेत्यारभ्य परिक्रमणान्तं कर्म भवति ॥ ४ ॥

चतुर्थं शूर्पकुष्ठया सर्वाँल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति। ततः तृतीयपरिक्रमणानन्तरं कुमार्या भ्राता शूर्पकुष्ठया शूर्पस्य कोणेन सर्वान् यावच्छूर्पेऽवशिष्टान् लाजान् कुमार्या अञ्जलौ आवपति निक्षिपति तान् लाजान् तिष्ठती कुमारी 'भगाय स्वाहा' इति मन्त्रेण चतुर्थं जुहोति। ततः समाचारात् तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं वधूवरौ कुरुतः। नेतरथावृत्तिम् इतरथावृत्तेः कारणस्य व्यवायस्याभावात्। ब्रह्माग्न्योरन्तरागमनं हि इतरथावृत्तिकारणम्। कुत इति चेत्? "हविः पात्रस्वाम्यत्विजां पूर्वपूर्वमन्तरमृत्विजां च यथापूर्वम्" इति परिभाषासूत्रात्। तेन परिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेताम् ॥ ५ ॥

त्रिः परिणीतां प्राजापत्यं हुत्वा। पूर्ववदुपविश्य 'प्रजापतये स्वाहा' इति ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा 'इदं प्रजापतये' इति त्यागं विधाय ॥ ६ ॥

इति श्रीहरिहरकृते पारस्करगृह्यसूत्रभाष्ये सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

१. द्रष्टव्य—कण्डिका ६ का पहला सूत्र।

२. शांखा० १—३।
गोभिल० २. २।
आश्व० १. ७. १४।

(गदाधर०)

अथैना......नायत इति। अथ घृतकर एव वर एनां वधूमुत्तरतोऽग्नेः स्थापितमश्मानं पाषाणं दक्षिणपादेन कृत्वा आरोहयति 'आरोहेममश्मानम्' इत्यनेन मन्त्रेण। मन्त्र एव कारितार्थे। वासुदेवेन कुमार्या दक्षिणपादं हस्तेन गृहीत्वा अश्मानमुपरि वरः करोतीत्युक्तं कारिकायाम्—

गत्वोभावुत्तरेणाग्निं तस्याः सव्येतरं करम्।
सव्येनादाय हस्तेन वधूपादं तु दक्षिणम्॥
शिलामारोहयेत्प्रागायतां दक्षिणपाणिना। इति।

मन्त्रपाठश्च वरस्य न कुमार्याः। मन्त्रार्थः—हे कन्ये इमे पुरोवर्तिनमश्मानं प्रस्तरमारोह आक्राम अधितिष्ठेति यावत्। आरोहणेन संस्कृता त्वमश्मेव पाषाणवत् स्थिरा दृढा भव। किञ्च अभि अधिकृत्य तिष्ठ आक्रम। कान्? पृतनां संग्राममिच्छन्ति पृतन्यन्ति, त एव पृतन्यतः, तान् पृतन्यतः कलहकारिण इत्यर्थः। ततश्च पृतनाभिः सेनाभिर्यन्तन्त इति पृतनायतः, तान् पृतनायतः अव अवाचीनान् कृत्वा बाधस्व भग्नोद्यमान् कुरु॥ १॥

'अथ गाथां......यश इति'। अथ कन्याया दक्षिणपादे अश्मनि निहिते एव वरः 'सरस्वति प्रेदमव' इति इमां गाथां गायति। मन्त्रार्थः—हे सरस्वति वाग्देवते सुभगे कल्याणि वाजिनीवती वाजः अन्नं तदस्ति अस्यामिति वाजिनीवती अन्नवती, यद्वा, वाजाः पक्षाः सन्त्यस्या, इति वाजिनी हंसी तद्वतीदं युग्मं कर्म च प्राव प्रकृष्टतया अव रक्ष। त्वा त्वामस्य विश्वस्य भूतस्य जातस्य पृथिव्यादेर्वा प्रजायां प्रकृष्टां जनित्रीमाहुः, किंभूताम्? अग्रतः प्रथमाम्। तदेव प्रपञ्चयति—यस्यां प्रकृतिरूपायां त्वयि इदं सर्वं विश्वं तथा भूतं पृथिव्यादि सर्वं जगदस्तं गच्छत् आस प्रलये लीनमित्यर्थः पुनः सृष्ट्यादौ च यस्याः सकाशात् समभवत् जातं, तस्याः सरस्वत्याः संबन्धिनीं तां गाथां गुणप्रभावस्तुतिप्रकाशिकामद्य गास्यामि या श्रुता सती स्त्रीणामुत्तमं श्रेष्ठं यशः कीर्तिं ददाति॥ २॥

'अथ परिका......सहेति'। अथ घृतकरावेव वरवध्वौ अग्नेः परिक्रमणं कुरुतः—'तुभ्यमग्रे' इत्यनेन मन्त्रेण। मन्त्रश्च लिङ्गाद्वरस्यैव। मन्त्रार्थः—हे अग्ने तुभ्यं त्वदर्थमेव सोमादयः अग्रे पूर्वं जन्मदिनादारभ्य पर्यवाहन् परिगृहीतवन्तः, ततः (१) सूर्यां सूर्यसंबन्धिनीं भार्यामिमां भवान् वहतु। किंभूतः? ना पुरुषः परमपुरुषार्थहेतुरित्यर्थः। तां जायां जायात्वेन पुनः पश्चात्स्वभोगानन्तरं प्रजया पुत्रैः सह मह्यं दाः देहि संधिरार्षः॥ ३॥

'एवम्' अनेन प्रकारेण 'द्विरपरं लाजादि'। 'कुमार्या भ्राता' (पा० गृ० कां १ कं० ६ सू० १) इत्याद्यारभ्य परिक्रमणान्तं यावत्कर्मोक्तं, तावद् द्विः वारद्वयमपरं पुनर्भवति॥ ४॥

'चतुर्थं ०...स्वाहेति' तृतीयप्रक्रमे समाप्ते चतुर्थलाजाहोमं जुहुयात्। तत्रायं विशेषः—कुमार्या भ्राता शूर्पकुष्ठेन शूर्पकोणेन शूर्पे अवशिष्टान् सर्वांल्लाजान् कुमार्या अञ्जलावावपति, तान्कुमारी 'भगाय स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण जुहोति अत्र हरिहरमिश्रैरबुध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति, तत्र तेषां ग्रन्थः—"ततः समाचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं वधूवरौ कुरुतः नेतरथावृत्तिम् इतरथावृत्तेः कारणस्य व्यवायस्याभावात्। ब्रह्माग्न्योरन्तरागमनं हीतर-

---

(१) सूर्यसदृशां नवोद्गतकान्तितया प्रकाशमानामित्यर्थो द्रष्टव्यः।

(गदाधर०)

थावृत्तिकारणम् । कुत इति चेत् ? हविष्पात्रस्वाम्यृत्विजां पूर्वं पूर्वमन्तरमृत्विजां च यथापूर्वमिति परिभाषासूत्रात् । तेन परिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेताम्" इति । सर्वोऽप्ययं ग्रन्थस्तावदशुद्धः । न हीतरथावृत्तिकारणं व्यवायः । किं तर्हि ? वचनादप्रदक्षिणावर्तनं कृत्वा प्रदक्षिणावर्तनं वा कृत्वा इतरथावृत्तिः कार्या । तथा च परिभाषासूत्रम्—'विवृत्यावृत्यवेतरथावृत्तिः' इति । अयमर्थः—विवृत्य अप्रदक्षिणमावर्तनं कृत्वा आवृत्य प्रदक्षिणमावर्तनं कृत्वा इतरथावृत्तिः प्रत्यावृत्तिः कर्तव्या । यत्र शास्त्रतः प्रदक्षिणावृत्तिः कृता, तत्र तदानीमेवाप्रदक्षिणावृत्तिरविहिताऽपि सर्वत्र कर्तव्या ; यत्र चाप्रदक्षिणावृत्तिः कृता, तत्र प्रदक्षिणावृत्तिः इति । ब्रह्माग्न्योर्मध्ये वधूवरौ न गच्छेतामित्येतस्य हेतूपन्यासार्थं हविष्पात्रेति सूत्रं दर्शितं, तदपि विपरीतम् । न ह्येतत्सूत्राद् ब्रह्माग्न्योर्मध्ये वधूवरौ न गच्छत इत्यायाति, किन्त्वेतस्मादेव सूत्रात्तन्मध्ये गमनम् । हविष्पात्रेत्यस्यार्थः—हविर्व्रीह्यादि, पात्राणि शूर्पादीनि, स्वामी कर्मजन्यफलभोक्ता यजमानः पत्नी च, ऋत्विजो ब्रह्माद्याः, एतेषामेकत्रसमावेशे सति पूर्वं पूर्वमस्मिन्सूत्रे प्रथमं प्रथममुपदिष्टमन्तरमग्निसन्निकृष्टं भवति अर्थात्पश्चात्पश्चादुपदिष्टं तदपेक्षया वहिर्भवति हविरादीनामितस्ततो नयने ऋत्विग्यजमानानां चेतस्ततो गमनागमने कर्मार्थमुपवेशने च सर्वत्राप्ययमन्तर्वहिर्भावो ज्ञेय इत्यर्थः । ऋत्विजां ब्रह्मादीनामेकत्र समावेशने चान्तर्वहिर्भावः । ततश्च वधूवरावग्नेः प्रदक्षिणं कुर्वन्तौ अन्तरङ्गत्वात्तन्मध्य एव गच्छेतामिति । तथा च कारिकायाम्—

दम्पत्योर्गच्छतोस्तत्र ब्रह्माग्नी अन्तरा गतिः । इति ॥ ५ ॥

त्रिःपरि''''''हुत्वा' । त्रिःपरिणीतां सतीं कुमारीं प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताकहोमं कृत्वा । त्रिर्ग्रहणमितरथावृत्तिव्युदासार्थम् । उक्तं हि परिभाषायाम्—'विवृत्यावृत्य वेतरथावृत्तिः' इति । अत्राचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं कुरुत इति वासुदेवगङ्गाधरहरिहररेणुदीक्षिताः ॥ ६ ॥

इति गदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

अष्टमी कण्डिका

अथैनामुदीचीᳪ सप्त पदानि प्रक्रामयति'एकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव ॥१॥ विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति ॥ २ ॥ निष्क्रमणप्रभृत्युदकुम्भट्' स्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः । स्थितो भवति ॥ ३ ॥ उत्तरत एकेषाम् ॥ ४ ॥ तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति—आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजमिति ॥ ५ ॥ आपोहिष्ठेति च तिसृभिः ॥ ६ ॥

अथैनाᳫँ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ ७ ॥ अथास्यै दक्षिणाᳫँसमधि हृदयमालभते–मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' इति ॥ ८ ॥ अथैनामभिमन्त्रयते–सुमङ्गलीरियं वधूरिमाᳫँ समेत पश्यत सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथाऽस्तं विपरेतनेति ॥ ९ ॥

(सरला)

प्राक्कथन—इस कण्डिका में सप्तपदी की विधि बतलाकर अभिषेक, सूर्यावेक्षण सिन्दूरदान और ध्रुवावेक्षण वर्णित है। अन्त में दाम्पत्य जन्य नियमों का निर्देश करते हैं:—

व्याख्या—अथ = प्राजापत्य होम के बाद; एनाम् = इस कन्या को; उदीचीम् = उत्तर दिशा की ओर; सप्त पदानि = सात पग; "एक मिषे··· ··· ···आदि सात मंत्रों से वर; प्रक्रामयति = चलाता है। एकमिषे द्वे ऊर्जे = पहला पद अन्न के लिए; दूसरा बल के लिए; त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय = तीसरा धन की वृद्धि के लिए; चौथा सुख की प्राप्ति के लिए; (मयोभवस्य भावो मायोभावं तस्मै मायोभवाय। 'मय' सुख का नाम है।) पञ्चपशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः = पांचवाँ पशुओं के लिए; छठवाँ ऋतु जन्य भोग के लिए; सखे सप्तपदा भव सा माम् अनुव्रता भव = हे सखे! (कान्ते) तुम भूरादि सप्तलोक में प्रख्यात होओ और मेरी अनुवर्तिनी होओ ॥ १ ॥ "विष्णुस्त्वानयतु" = विष्णु तुम्हें चलावे; इति = यह; सर्वत्र = सब जगह [प्रत्येक मन्त्रों के साथ] अनुषजति = लगा लिया जाता है। ॥ २ ॥

हिन्दी—परिणय के बाद इस कन्या को उत्तर दिशा की ओर सात पग "एकमिषे··· ··· आदि सात मन्त्रों से वर चलाता है। पहला पद अन्न के लिए; दूसरा बल के लिए; तीसरा धन की वृद्धि के लिए; चौथा सुख की प्राप्ति के लिए; पांचवाँ पशुओं के लिए; छठवाँ ऋतुओं के लिए; हे सखे! तुम भूरादि सप्तलोकों में प्रख्यात (प्रसिद्ध) होओ और मेरी अनुवर्तिनी होओ ॥ १ ॥ 'विष्णु तुम्हें चलावे' यह सब जगह [प्रत्येक मन्त्रों के साथ] लगा लिया जाता है ॥२॥

व्याख्या—निष्क्रमणप्रभृति = (वर के कन्या दान लेकर घर से बाहर) निकलने के काल से लेकर एक पुरुष; उदकुम्भं स्कन्धे कृत्वा = जलपूर्ण कलश कन्धे पर रखकर; अग्नेः दक्षिणतः = अग्नि (कुण्ड) के दक्षिण की ओर; वाग्यतः स्थितः भवति = मौन होकर खड़ा हो जाए ॥ ३ ॥ एकेषाम् = कुछ ऋषियों के मत से; उत्तरतः = उत्तर की ओर [खड़ा होना चाहिए] ॥ ४ ॥ तत = उस [कलश के जल] से; एनां = इस कन्या को; मूर्द्धनि = सिर पर; 'आपः··· ···भेषज" इति = इस मन्त्र से; अभिषिञ्चति = अभिषेक करता है [जल छिड़कता है]। आपः = जो जल, शिवा = कल्याण का हेतु है और; शिवतमाः = जो अतिशय अभ्युदयकारी है; शान्ताः = सुख-

---

१. "सख्यं सप्तपदीनं स्यान्मैत्री सप्तपदीति च" स्मृति।

२. "अनुव्रता" अर्श आदिभ्योऽच (पा. ५. २. १२७) सूत्र से अच् प्रत्यय होकर बना है।

३. अर्थात् "एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु" यह वाक्य बना कर पहला पग चलावे। और इसी तरह ६ मन्त्रों में भी लगाकर वाक्य बनाना चाहिए। सातवें में नहीं लगाना चाहिए। सातवाँ पद "सखे सप्तपदा ही से रखे यह कर्काचार्य का मत है।

कारी है; शान्ततमाः = परमानन्ददायक है; ताः = वह जल; ते भेषजं कृण्वन्तु = तुम्हें (वधू को) आरोग्य करें ॥५॥ "आपो हि ष्ठा" इति = इन; तिसृभिः = तीन मन्त्रों द्वारा; च = भी [अभिषेक करना चाहिए] ॥ ६ ॥ अथ = अभिषेकानन्तर; एनाम् = इस कन्या को "तच्चक्षुः··· ··· ···" [यजु० ३६. २०.] इति = इस मन्त्र से; सूर्यम् = सूर्य को; उदीक्षयति = दिखलाता है ॥ ७ ॥

हिन्दी—[पिता के कन्या दान के बाद] निकलने के काल से लेकर एक पुरुष जलपूर्ण कलश कन्धे पर रखकर अग्नि की दक्षिण तरफ चुपचाप खड़ा रहता है ॥ ३ ॥ कुछ आचार्य के मतानुसार उत्तर की ओर [खड़ा रहना चाहिए] ॥ ४ ॥ उस घड़े के जल से इस कन्या को सिर पर "आपः··· ··· ···भेषज" इस मन्त्र से अभिसिंचन करता है। जो जल कल्याण का हेतु है और जो अतिशय अभ्युदयकारी है; जो सुखकारी है; परमानन्ददायक है; वह जल तुम्हें आरोग्य करे ॥ ५ ॥ "आपो हि ष्ठा" आदि तीन मन्त्रों से भी [अभिषेक करना चाहिए] ॥ ६ ॥ अभिसेचन के बाद इस कन्या को "तच्चक्षु··· ··· ···" [यजु. ३६. २९.] इस मन्त्र से सूर्य को दिखलाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—अथ = सूर्य दर्शन के बाद; अस्यै=इस वधू के [षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी है]; दक्षिणां=दाहिने; अंसम्=कन्धे के; अधि=ऊपर से (हाथ ले जाकर) 'मम व्रते······मह्यम्' इति=इस मंत्र से; हृदयम् आलभते=हृदय को छूता है। ते हृदयं=हे कन्ये ! तुम्हारे हृदय को; मम व्रते दधामि=मैं अपने शास्त्र विहित नियम में स्थापित करता हूँ । ते चित्तम् = तुम्हारा मन; मम अनुचित्तम् अस्तु=मेरे चित्त के अनुकूल होवे; मम वाचं=मेरी वाणी को; एकमना जुषस्व= अव्यभिचरित मनोवृत्ति से सुनो; प्रजापतिः = प्रजापति ने; त्वा=तुमको; मह्यं नियुनक्तु = मेरे लिए नियुक्त किया है ॥ ८ ॥ अथ=अब; एनां=इस वधू को 'सुमङ्गलीरियं···विपरेतनेति' इति= इस मंत्र से; अभिमंत्रयते=अभिमंत्रित करता है। इयं वधू सुमङ्गलीः=हे विवाह के देवता ! यह वधू मङ्गलरूपा है; (सुमङ्गलीः में विसर्ग छान्दस है] अतः; इमां=इस कन्या को; समेत=मङ्गल दृष्टि से; पश्यत = देखो; अस्यै सौभाग्यं दत्वा=इस कन्या के लिए सौभाग्य देकर; अस्तं याथ = अपने-अपने घर को जाओ; न विपरेत=पुत्रादि मङ्गल आशा से फिर से आने के लिए जाओ [न विशिष्टसुखतया परावृत्त अपगच्छत] ॥ ९ ॥

हिन्दी—सूर्य दर्शन के बाद इस वधू के दाहिने कंधे के ऊपर से (हाथ ले जाकर) 'मम व्रते······मह्यम्' इस मंत्र से हृदय को छूता है। हे कन्ये ! तुम्हारे हृदय को मैं अपने शास्त्र विहित नियम में स्थापित करता हूँ । तुम्हारा मन मेरे चित्त के अनुकूल होवे । मेरी वाणी को अव्यभिचरित मनोवृत्ति से सुनो । प्रजापति ने तुमको मेरे लिए नियुक्त किया है ॥ ८ ॥ अब इस वधू को 'सुमङ्गलीरियं······विपरेतनेति[2]' इस मंत्र से अभिमंत्रित[3] करता है। हे विवाह के देवता ! यह वधू मंगलरूपा है। अतः इस कन्या को मङ्गल दृष्टि से देखो। इस कन्या के लिए सौभाग्य देकर अपने-अपने घर जाओ। पुत्रादि मङ्गल आशा से फिर से आने के लिए जाओ ॥ ९ ॥

---

१. "सूर्य का अवलोकन दिन में ही हो सकता है" अतः भाष्यकार हरिहर कहते हैं कि यह विधि विवाह के पक्ष में दिन में होती है। किन्तु भाष्यकार गदाधर का मत है कि जहाँ 'सूर्य का दिखाना' कहा है वहीं पर आगे 'अस्मिते ध्रुवं दर्शयति अर्थात् जब अस्त हो तब ध्रुव को दिखाए' अतः 'अस्तमित' के ग्रहण होने से इस गृह्यानुयायियों को दिन में ही विवाह करना चाहिए।

२. ऋग्वेद १०।८५।३३

३. पद्धतिकार के अनुसार इस मंत्र के द्वारा कन्या के मांग में वर सिन्दूर डालता है।

(हरिहर०)

अथैनामुदीचीᳫँ सप्त पदानि प्रक्रामयत्येकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षडृतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव, विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति । अथ प्राजापत्यहोमानन्तरमेनां वधूम् उदीचीम् उदङ्मुखीं सप्तपदानि प्रक्रामयति । सप्त प्रक्रमान् दक्षिणपादेन कारयति उत्तरोत्तरं वरः । कथंभूताम् ? त्रिः परिणीताम् । त्रीन् वारान् अग्नेः प्रादक्षिण्येनानीतामिति व्यवहितेन सम्बन्धः । कुतः ? 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इति न्यायात् ।

'एकमिषे' इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः । तद्यथा एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मन्त्रे वधूरेकं पदमुदग्ददाति । तथा द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयत्विति मन्त्रान्ते द्वितीयम् । त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते तृतीयम् । चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते चतुर्थम् । पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु इत्युक्ते पञ्चमम् । षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु इत्युक्ते षष्ठम् । सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते सप्तमम् । विष्णुस्त्वा नयत्वित्येतावन्मन्त्रभागं सर्वत्र एकमिष इत्यादिषु सर्वेषु मन्त्रेषु अनुषजति संबध्नाति ॥ १-२ ॥

निष्क्रमणप्रभृत्युदकुम्भᳫँ स्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवत्युत्तरत एकेषाम् । निष्क्रमणप्रभृति 'पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति' इत्यादित आरभ्य कश्चित्पुरुषो जलपूर्णं कलशं स्कन्धे निधाय वधूवरयोः पृष्ठत आगत्य अग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि मौनी स्थित आस्ते, केषांचित्पक्षे उत्तरतः ॥ ३-४ ॥

तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चतीत्यादि आपोहिष्ठेति च तिसृभिः इत्येतावत्सूत्रम् । ततस्तस्मात् स्कन्धस्थितादुदकुम्भात् आचारादाम्रादिपल्लवसहितेन हस्तेन जलमादाय एनां वधूं मूर्द्धनि शिरस्यभिषिञ्चति वरः 'आपः शिवाः' इत्यादिना 'भेषजम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण । पुनस्तथैवोदकमादाय 'आपोहिष्ठा' इत्यादि 'आपो जनयथा च नः' इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः । अभिषिञ्चतीति चकारादनुषज्यते ॥ ५-६ ॥

अथैनाᳫँ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति । अथ अभिषेकादुपरि सूर्यमुदीक्षस्वेति प्रैषेण सूर्यम् एनां वधूं वर उदीक्षयति सूर्यस्य निरीक्षणं कारयतीत्यर्थः । सा च वरप्रेषिता सती तच्चक्षुरिति मन्त्रेण स्वयंपठितेन सूर्यं निरीक्षते दिवा विवाहपक्षे ॥ ७ ॥

यथास्यै दक्षिणाᳫँ समधि हृदयमालभते । अथ सूर्योदीक्षणानन्तरम् अस्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अस्या वध्वाः दक्षिणांसमधि दक्षिणस्य स्कन्धस्योपरि हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते वरः स्पृशति । मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् । इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ८ ॥

अथैनामभिमन्त्रयते सुमङ्गलीरित्यादि निपरेतनेत्यन्तं सूत्रम् । अथ हृदयालम्भनानन्तरम् एनां वधूं वरोऽभिमन्त्रयते—सुमङ्गलीरित्यादिना मन्त्रेण । अत्र शिष्टसमाचारात्, 'उत्तरत आयतना हि स्त्री' इतिश्रुतिलिङ्गाच्च वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयति ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

'अथैना······जति' । अथ वर एनां कुमारीमग्नेरुत्तरत उदीचीमुदङ्मुखीम्, 'एकमिषे' इत्येतैः सप्तमन्त्रैः सप्त पदानि प्रक्रामयति प्रक्रमणं कारयति । कारितत्वात् सप्त पदानि

(गदाधर०)

'प्रक्रमस्व' इत्यध्येषणा इति। कुमार्या दक्षिणपादं गृहीत्वा अग्रे अग्रे स्थापयतीत्यन्ये। 'विष्णुस्त्वा नयतु' इति सर्वत्र षट्सु मन्त्रेषु अनुषङ्गः, न तु सप्तमे मन्त्रे तुल्ययोगित्वात् साकाङ्क्षत्वाच्च पूर्वमन्त्राणामिति कर्काचार्यः। अन्येषां भाष्यकाराणां पद्धतिकाराणां च मते सर्वमन्त्रेष्वनुषङ्गः। मन्त्रपाठो वरस्य। अत्रैवं प्रयोगः—एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु। द्वे ऊर्ज्जे विष्णुस्त्वा नयतु। त्रीणि रायस्पोषाय वि०। चत्वारि मायोभवाय वि०। पञ्च पशुभ्यो वि०। षडृतुभ्यो वि०। सप्तमे प्रक्रमे—'सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव' इति। प्रक्रमेषु सव्यपादस्य नातिक्रमणमिति रेणुदीक्षिताः। मन्त्रार्थः—इषे अन्नाय, ऊर्ज्जे बलाय, रायस्पोषाय धनपुष्ट्यै, मायः सुखं तस्य भव उत्पत्तिः, पश्चादिभ्यस्तत्तत्सुखाय, सखे इहामुत्र मित्र सा त्वं सप्तपदा भूरादिसप्तलोकप्रख्याता भव मामनुव्रतिनी च भव ॥ १–२ ॥

'निष्क्रम······भवति'। निष्क्रमणं पित्रा प्रत्तमादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्येतावदुच्यते। तदारभ्य कश्चित्पुरुषः उदकपूर्णं कुम्भं स्कन्धे गृहीत्वा विवाहाग्नेदक्षिणतो वाग्यतस्तूष्णीं तिष्ठेत् ॥ ३ ॥

'उत्त······षाम्'। एकेषामाचार्याणां मते अग्नेरुत्तरतस्तिष्ठति। ततश्च विकल्पः ॥ ४ ॥

'तत एनां······भेषजमिति'। ततस्तस्मादुदकुम्भाद्धस्तेन जलमादाय एनां वधूं मूर्ध्नि शिरसि वर एव 'आपः शिवाः' इत्यनेन मन्त्रेणाभिषिञ्चति। मन्त्रार्थः—या आपः शिवाः कल्याणहेतवः शिवतमाः अतिशयाभ्युदयकारिण्यः शान्ताः सुखकर्त्र्यः शान्ततमाः परमानन्ददात्र्यः ता आपस्ते तव भेषजमारोग्यं कृण्वन्तु कुर्वन्तु ॥ ५ ॥

'आपोहिष्ठेति च तिसृभिः।' चशब्दात्तस्मादुदकात् 'आपो हि ष्ठा' इति त्रिभिर्मन्त्रैरभिषेकः कार्यः ॥ ६ ॥

'अथैनाᳬं······चक्षुरिति'। अथैनां वधूं वरः सूर्यमुदीक्षयति सूर्यावेक्षणं कारयति उदीक्षयतीतिकारितत्वात् अध्येषणा सूर्यमुदीक्षस्वेति। सा च वरेण प्रेरिता सूर्यं पश्यति 'तच्चक्षु' इत्यनेन मन्त्रेण। दिवाविवाहपक्षे एतदिति रेणुदीक्षितहरिहरौ। अस्माभिस्तु सूर्यावेक्षणान्यथाऽनुपपत्त्या 'अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति' इत्यत्रास्तमितग्रहणाच्च एतद्गृह्यानुसारिणां दिवैव विवाह इत्युच्यते ॥ ७ ॥

'अथास्यै···मन्नमिति।' अस्यै इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। अस्याः वध्वाः दक्षिणांसमधि दक्षिणस्य अंसस्य स्कन्धस्य अधि उपरि हस्तं नीत्वा "मम व्रते ते" इत्यनेन मन्त्रेण तस्या हृदयमालभते वरः। कन्ये इत्यध्याहारः। मम व्रते शास्त्रविहितनियमादौ ते तव हृदयं मनः दधामि स्थापयामि। किञ्च मम चित्तमनु मम चित्तानुकूलं ते तव चित्तमस्तु। त्वं च मम वाचं वचनम् एकमना अव्यभिचारिमनोवृत्तिर्जुषस्व हृष्टचित्ताऽऽदरेण कुरुष्व। त्वा त्वां स च एव प्रजापतिर्मह्यं मदर्थं मां प्रसादयितुमित्यर्थः, नियुनक्तु नियोजयतु ॥ ८ ॥

'अथैना······रेतनेति'। वर एनां वधूं "सुमङ्गलीः" इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। अत्राचाराच्चतस्रः स्त्रियो मङ्गलं कुर्वन्ति। तथा च कारिकायाम्—

(गदाधर०)

पतिपुत्रान्विता भव्याश्चतस्रः सुभगा अपि ।
सौभाग्यमस्यै दद्युस्ता मङ्गलाचारपूर्वकम् ॥ इति ।

मन्त्रार्थः—हे विवाहदेवताः इयं वधूः सुमङ्गलीः शोभनमङ्गलरूपा । विसर्गश्छान्दसः । अत इमां कन्यां समत संगच्छत । संगत्य च इमां पश्यत दृष्ट्वा विलोकयत । किञ्च अस्यै कन्यायै सौभाग्यं दत्त्वा अस्तं गृहं याथ यात इत्यर्थः । न विपरेत नाविमुखतया परा-इत अपगच्छत । पुनरपि पुत्रादिमङ्गलमाशास्य पुनरागमनाय व्रजत इत्यर्थः । यद्वा यद्यस्तं याथ तर्हि न विपरेतेति "अस्तं गृहाः" इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः । इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदतु इति ॥ १० ॥ ग्रामवचनं च कुर्युः ॥ ११ ॥ विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादितिवचनात् ॥१२॥ तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः ॥ १३ ॥

(सरला)

व्याख्या—तां = उस (वधू) को; दृढ़ पुरुषः=जितेन्द्रिय पुरुष (वर); उन्मथ्य=उठाकर; प्राक् वा=पूर्व या; उदक्=उत्तर दिशा में; अनुगुप्त आगारे=वस्त्रादि से आच्छादित [किसी सुरक्षित] गृह में; आनडुहे = बैल के; रोहिते=लाल रङ्ग के; चर्मणि=चर्म पर 'इह गावो'''इति=इस मंत्र से; उपवेशयति=बैठाता है । इह गावो निषीदन्तु=यहाँ पर गायें बैठें; इह अश्वाः, इह पुरुषाः = यहाँ पर घोड़े और यहाँ पर पुरुष (बैठें)। इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ=यहाँ पर ही सहस्रों दक्षिणा दिए जाने वाले यज्ञ सम्पन्न हों; इह पूषा निषीदन्तु=यहाँ पर पूषा देवता बैठें ॥ १० ॥ ग्राम वचनं च कुर्युः=[विवाह के सम्बन्ध में] वृद्ध स्त्रियों की मन्त्रणा का (अर्थात् उपदेश का) पालन करना चाहिए ॥ ११ ॥ क्योंकि :—विवाहश्मशानयोः=विवाह और मरने के सम्बन्ध में जानने के लिए; ग्रामं = (कुल की) वृद्ध स्त्रियों से; प्राविशतात्=शास्त्रातिरिक्त कर्तव्य और आचार पूछना चाहिए; इति वचनात्=ऐसा स्मृति का वचन होने से [प्रमाण है] ॥ १२ ॥ [केवल स्मृति ही नहीं किन्तु श्रुति में भी कहा है कि :—] तस्मात् = इसलिए; तयोः=[विवाह और मरण] इन दोनों के सम्बन्ध में; ग्रामः=स्वकुल की वृद्ध स्त्रियों का उपदेश ही; प्रमाणम्=प्रमाण है । इति श्रुतेः=ऐसा श्रुति का वचन है ॥ १३ ॥

हिन्दी—उस (वधू) को जितेन्द्रिय[1] पुरुष (वर) उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में वस्त्रादि से आच्छादित [किसी सुरक्षित] गृह में बैल के लाल रंग के चर्म पर 'इह गावो''''''''इस मन्त्र से बैठाता है । यहाँ पर गायें बैठें, यहाँ पर घोड़े और यहाँ पर पुरुष (बैठें)। यहाँ पर ही

---

१. दृढ़ पुरुष का अर्थ भाष्यकार हरिहर 'कोई बलवान् पुरुष' करते हैं । मर्तृयज्ञ 'जितेन्द्रिय' अर्थ करते हैं । रेणुकदीक्षित और गङ्गाधर के मत से जामाता ही दृढ़पुरुष है । गदाधर के मत से जितेन्द्रिय होने से वर ही दृढ़पुरुष है । नहीं तो वधू को कोई अन्य पुरुष यदि एकान्त कमरे में ले जाए तो मन में उन्माद होने से उस वधू में आज भी भार्यात्व की उपपत्ति नहीं हो पायगी ।

सहस्रों दक्षिणा दिए जाने वाले यज्ञ सम्पन्न हों और यहां पर पूषा देवता बैठें[1] ॥१०॥ [विवाह के सम्बन्ध में] ग्राम वृद्धों की मन्त्रणा को भी करें ॥ ११ ॥ क्योंकि 'विवाह और मरने के सम्बन्ध में जानने के लिए वृद्ध स्त्रियों से शास्त्रातिरिक्त कर्तव्य और आचार पूछना चाहिए' ऐसा स्मृति का वचन होने से [प्रमाण है] ॥ १२ ॥ इसलिए [विवाह और मरण] इन दोनों के सम्बन्ध में स्वकुल की वृद्ध स्त्रियों का उपदेश ही प्रमाण है—ऐसा श्रुति का वचन है ॥ १३ ॥

(हरिहर०)

तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गाव इति । ततः तां वधूं दृढपुरुषः बलवान् कश्चित् पुमान् उन्मथ्य उत्थाप्य प्राक् पूर्वस्यां दिशि उदक् उदीच्यां वा दिशि पूर्वकल्पिते अनुगुप्ते सर्वतः परिवृते आगारे गृहे तत्र च पूर्वमास्तीर्णे आनडुहे आर्षभे रोहिते लोहितवर्णे चर्मणि अजिने प्राग्ग्रीवे उत्तरलोम्नि उपवेशयति इह गाव इत्यादिना निषीदन्त्विति अस्य मन्त्रस्य पाठान्ते। केचन जामातैव दृढपुरुष इत्याहुः, तत्पक्षे जामातैव वधूमुत्क्षिप्य मन्त्रमुक्त्वा चर्मण्युपवेशयति। तत आगत्य यथास्थानमुपविश्य ब्रह्मान्वारब्धः स्विष्टकृद्धोमं विधाय संस्रवं प्राश्य ब्रह्मणः पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दक्षिणात्वेन दत्त्वा स्वकीयाचार्याय ब्राह्मणः परिणेता गां वरं ददाति। क्षत्रियश्चेद्वरस्तदा ग्रामं ददाति। वैश्यश्चेदश्वम्।

अधिरथं शतं दुहितृमते ॥

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

इति मनुवचनाद् अभ्रातृमतीपरिणयनं प्रतिषिद्धम्। तदतिक्रम्य यदि कश्चित्तामुद्वहेत्, तदा तस्याः पुत्रिकात्वदोषपरिहाराय च एकेन रथेन अधिकं गवां शतं तत्पित्रे दत्त्वा उद्वहेत् ॥ १० ॥

ग्रामवचनं च कुर्युः। अत्र विवाहे ग्रामशब्दवाच्यानां स्वकुलवृद्धानां स्त्रीणां श्मशाने च वाक्यं कुर्युः। अङ्कुरार्पणहरिद्राक्षतचन्दनादिधर्मप्रतिपादकम् ॥ ११ ॥

कस्मात्?

विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात्। तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः। विवाहे च श्मशाने च ग्रामं स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः प्राविशतात् शास्त्रातिरिक्तं कर्त्तव्यमाचारं पृच्छेदिति वचनात् इति स्मृतेः। न केवलं स्मृतेः, श्रुतेश्चापि। का सा श्रुतिः? तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति। यतः स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः पूर्वपुरुषानुष्ठीयमानं सदाचारं स्मरन्ति, तस्मात्तयोः विवाहश्मशानयोः ग्रामः प्रमाणं सदाचारबोधकमित्यर्थः ॥ १२–१३ ॥

(गदाधर०)

'तां दृढ.......दत्त्विति'। ततो वरस्तां वधूमुन्मथ्य उत्क्षिप्य उत्थाप्य प्राक् प्राच्यामुदगुदीच्यां वा अनुगुप्ते आगारे परिवृते गृहे रोहिते रक्तवर्णे आनडुहे चर्मणि उपवेशयति "इह गावः" इत्यनेन मन्त्रेण। चर्म च प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्णं भवति 'चर्माण्युत्तरलोमानि प्राग्ग्रीवाणि' इति परिभाषितत्वात्। दृढपुरुषः कश्चिद्बलवान् पुरुष इति हरिहरः। दृढपुरुषो जितेन्द्रिय इति भर्तृयज्ञः। जामातैव दृढपुरुष इति रेणुकदीक्षितगङ्गाधरौ। अस्माकमपि मते वर एव। तस्य च दृढत्वं जितेन्द्रियत्वेन। अन्यथा वध्वा अनुगुप्तागारनयने

१. इसी तरह का मन्त्र अथर्ववेद के २०।१२७।१२ में भी प्राप्त होता है।

(गदाधर०)

मनसि उन्मादोत्पत्तेः न ह्यद्यापि भार्यात्वमुत्पन्नमिति । मन्त्रार्थः—इह कन्यानिवेशने गावः अश्वाः पुरुषाश्च निषीदन्तु वसन्तु । इह पदावृत्तिः कर्तृभेदापेक्षया । किञ्च उ एवार्थे । इहैव सहस्रं गावो दक्षिणा यस्य स यज्ञः पूषा पुष्टिकरो निषीदतु "पूषा वै सहस्रदीक्षण आस" इति श्रुतेः ॥ १० ॥

'ग्रामवचनं'''शानयोः' । विवाहे श्मशाने च वृद्धानां स्त्रीणां वचनं वाक्य कुर्युः । सूत्रे अनुपनिबद्धमपि वधूवरयोर्मङ्गलसूत्रं गले मालाधारणमुभयोर्वस्त्रान्ते ग्रन्थिकरणं करग्रहणं न्यग्रोधपुटिकाधारणं वरागमने नासिकाधारणं वरहृदये दध्यादिलापनादि ताश्च यत्स्मरन्ति तदपि कर्तव्यमित्यर्थः । चशब्दाद्देशाचारोऽपि । ग्रामशब्देन स्वकुलवृद्धाः स्त्रियोऽभिधीयन्ते । ता हि पूर्वपुरुषैरनुष्ठीयमानं सदाचारं स्मरन्ति । ग्रामवचनं लोकवचनमिति भर्तृयज्ञः । वृद्धानां स्त्रीणां वचनं कार्यमिति । कुत इत्यत आह—'ग्राम''''''मिति श्रुतेः' । ग्रामं वृद्धानां स्त्रीणामाचारं प्राविशतादिति स्मृतिवचनात् । ननु ग्रामं प्रविशतादिति स्मृतिवचनाद्धरिद्रालापनादौ अस्तु प्रामाण्यं, यत्र तु अथैनामश्मानमारोहयतीत्येतदनन्तरं तूष्णीं वरस्य पाषाणावरोहणं कारयित्वा कुमार्या भ्राता वराङ्गुष्ठोपरि उपलं निधाय वराद्रूप्यादि गृह्णाति [इति] ताः स्मरन्ति 'तदप्रमाणं, लोभमूलत्वेन वंसर्जनीयवस्त्रवदित्यत आह—तयोर्विवाहश्मशानयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतिवचनात्ताभिर्यत्स्मर्यते रूप्यग्रहणादि, तदपि प्रमाणमिति प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वात् ॥ ११–१३ ॥

आचार्याय वरं ददाति ॥ १४ ॥ गौर्ब्राह्मणस्य वरः ॥ १५ ॥ ग्रामो राजन्यस्य ॥ १६ ॥ अश्वो वैश्यस्य ॥ १७ ॥ अधिरथꣳ शतं दुहितृमते ॥ १८ ॥ अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति—ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वाऽदाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम् इति ॥ १९ ॥ सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात् ॥ २० ॥ त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयाताꣳ संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रꣳ षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ॥ २१ ॥

(सरला)

व्याख्या—आचार्याय वरं ददाति=आचार्य के लिए दक्षिणा देता है ॥ १४ ॥ गौः ब्राह्मणस्य वरः=ब्राह्मण की गौ दक्षिणा है ॥ १५ ॥ राजन्यस्य ग्रामः=क्षत्रिय की ग्राम ही दक्षिणा है ॥ १६ ॥ वैश्यस्य=वैश्य की; अश्वः=घोड़ा ही दक्षिणा है ॥ १७ ॥ दुहितृमते=[जिसके] कन्या ही अकेली हो उसे; शतम्=सौ गायें और; अधिरथम्=ऊपर से एक रथ भी [देना चाहिए] ॥ १८ ॥ अस्तमिते=सूर्यास्त हो जाने पर [वर वधू को]; ध्रुवं=ध्रुव नक्षत्र को; 'ध्रुवमसि''''''शतम्' इति=इस मन्त्र से; दर्शयति=दिखलाता है । ध्रुवमसि=हे वधू ! तुम ध्रुव [अर्थात् शाश्वत] हो; ध्रुवं त्वा पश्यामि=अतः तुम्हें ध्रुव [नक्षत्र] दिखाता हूँ । अतः तुम; मयि ध्रुवा-पोष्या=मुझ में शाश्वत पोषणीय होकर [या मेरी प्रजा की पालन-कर्त्री होकर] एधि=बढ़ो ।

इसीलिए; बृहस्पति=बृहस्पति (ब्रह्मा) ने; त्वा मह्यम् अदात्=तुम्हें मुझको दिया है। मयापत्या= मुझ पति के साथ; प्रजावती=सन्तानवती होकर तुम; संजीव शरदः शतम्=सौ शरदऋतुओं तक जीओ ॥ १९ ॥ सा यदि न पश्येत्=वह [कन्या] यदि [ध्रुव नक्षत्र] न देखे तो भी; 'पश्यामि'= 'देखती हूँ' इति एव = यही ब्रूयात् = कहे ॥ २० ॥ त्रिरात्रम्=[विवाह के दिन से] तीन दिन तक; अक्षारालवणाशिनौ स्याताम् = [वर वधू] क्षार और नमक न खाएं; अधः शयीयाताम् = नीचे (भूमि पर ही) सोएँ [खाट पर नहीं]; संवत्सरं मिथुनं न उपेयाताम्=एक वर्ष तक अभिगमन न करें; [अथवा यदि दोनों ही के युवा होने से शक्ति साध्य न हो तो] द्वादशरात्रं= बारह रात तक; षड्रात्रं=या छः रात तक; अन्ततः त्रिरात्रम्=अन्ततोगत्वा तीन रात के बाद ही (चतुर्थी कर्म के बाद पाँचवें दिन अभिगमन करना चाहिये) ॥ २१ ॥

हिन्दी—आचार्य के लिए दक्षिणा देता है ॥ १४ ॥ ब्राह्मण की गौ दक्षिणा है ॥ १५ ॥ क्षत्रिय की दक्षिणा ग्राम ही है ॥ १६ ॥ वैश्य की दक्षिणा घोड़ा ही है[1] ॥ १७ ॥ [जिसके] कन्या ही अकेली हो उसे सौ गाएँ और ऊपर से एक रथ भी [देना चाहिए] ॥ १८ ॥ सूर्यास्त हो जाने पर [वर वधू को] ध्रुव नक्षत्र को 'ध्रुवमसि······शतम्' इस मन्त्र से दिखलाता है। हे वधू ! तुम ध्रुव (अर्थात् शाश्वत) हो अतः तुम्हें ध्रुव [नक्षत्र] दिखाता हूँ इसलिए तुम मुझमें शाश्वत पोषणीय होकर [या मेरी प्रजा की पालन-कर्त्री] होकर बढ़ो। इसीलिए बृहस्पति (ब्रह्मा) ने तुमको मुझे दिया है। मुझ पति के साथ सन्तानवती होकर तुम सौ शरद ऋतुओं तक जीओ ॥ १९ ॥ वह [कन्या] यदि [ध्रुव नक्षत्र] न देखे तो भी 'देखती हूँ' यही कहे ॥ २० ॥ [विवाह के दिन से] तीन दिन तक [वर वधू] क्षार और नमक न खाएँ, नीचे [भूमि पर ही सोएँ खाट पर नहीं] एक वर्ष तक अभिगमन न करें अथवा बारह रात तक या छः रात तक अन्ततः तीन रात तक [अभिगमन नहीं ही करे[2]] ॥ २१ ॥

(हरिहर०)

आचार्याय वरं ददाति। वरः स्वकीयाचार्याय वरं ददाति ॥ १४ ॥

वरशब्दार्थमाह—गौर्ब्राह्मणस्य वरो ग्रामो राजन्य अश्वाश्चो वैश्यस्य ॥ १५–१७ ॥

अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति। दिवा विवाहश्चेत् तदा अस्तमिते सूर्ये अमुकि ध्रुवमीक्षस्व इति प्रैषेण वधूं ध्रुवं तारकाविशेषं दर्शयति। रात्रौ चेद्विवाहस्तदा वरदानानन्तरमेव। तद्यथा, ध्रुवमसीत्यादि सञ्जीव शरदः शतमित्यन्तं वरेण पठितेन मन्त्रेण वधूर्ध्रुवमीक्षते ॥ १९ ॥

सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येवं ब्रूयात्। सा वधूः यदि ध्रुवं नेक्षेत तथापि पश्यामि इत्येवं वदेत्, न विपरीतम् ॥ २० ॥

त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयाताम्। विवाहदिनमारभ्य त्रिरात्रं त्रीणि अहोरात्राणि अक्षारालवणाशिनौ अक्षारं चालवणं च अक्षारालवणं तत् अश्नीत इत्येवंशीलौ अक्षारालवणाशिनौ स्यातां भवेताम्। अधः आस्तृतभूमौ, न खट्वायां शयीयातां स्वपेताम् ॥

संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः। संवत्सरं वर्षं यावत् मिथुनम् अभिगमनं नोपेयाताम् नोपगच्छेयाताम्। अथवा द्वादशरात्रम्। अथवा

---

1. द्रष्टव्य—शांखायन १।१४।१३ में भी १५ से १७ तक के सूत्र ऐसे ही हैं।

2. द्रष्टव्य—शाङ्खायन १. १७. ५–६।

आश्व० १. १८. १०–११।

(हरिहर०)

षड्रात्रम् । यद्वा त्रिरात्रमन्ततः, संवत्सरादिपक्षाणामन्ते त्रिरात्रमित्यर्थः । संवत्सरादिविकल्पास्तु शक्त्यपेक्षया व्यवस्थिता ज्ञेयाः । संवत्सरादिपक्षाशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेऽपि चतुर्थीकर्मानन्तरं पञ्चम्यादिरात्रावभिगमनम् । चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव न संवृत्तं विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः ॥ २१ ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ पद्धतिः

अथ प्रकृतं विवाहकर्माह—तत्र पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकं वरस्य पिता स्वपितृभ्यः पुत्रविवाहनिमित्तं नान्दीमुखं श्राद्धं विधाय वैवाह्यं पुत्रं मङ्गलतूर्यवेदघोषेण कन्यापितृगृहमानयति । कन्यापिता च मातृपूजापूर्वकं कन्याविवाहनिमित्तकं स्वपितृभ्यो नान्दीमुखं श्राद्धं विधाय मण्डपद्वारमागतं वरमभ्युत्थानादिभिः प्रतीक्ष्य मधुपर्केणार्चयेत् । तद्यथा–अर्चयिता आसनमानाय्य तस्यासनस्य पश्चात्तिष्ठन्तम् अर्घ्यं प्रति 'साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्' इति ब्रवीति । तत आचार्यस्तत्संबन्धिनः पुरुषाः विष्टरं, पाद्यं, पादार्थमुदकम् , अर्घम् , आचमनीयं, मधुपर्कं तत्समीपमानयन्ति । अथार्चयिता एकं विष्टरमादाय तिष्ठति, अन्यः कश्चिद्ब्राह्मणो विष्टरो विष्टरो विष्टर इति श्रावयति । 'प्रतिगृह्यताम्' इत्यर्घ्यस्य हस्तयोर्ददाति । अर्घ्यश्च 'वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः । इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति' इत्यनेन मन्त्रेण विष्टरमासने निधाय तदुपर्युपविशति । ततोऽन्येन पाद्यं पाद्यं पाद्यमिति श्राविते पादार्थमुदकमर्चयिता अर्घ्याय 'प्रतिगृह्यताम्' इत्युक्त्वा समर्पयति । अथार्घ्यस्तत्पात्रं भूमौ निधायाञ्जलिना जलमादाय 'विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः' इति मन्त्रेण ब्राह्मणो दक्षिणं पादं प्रक्षाल्य तथैव वामं प्रक्षालयति । क्षत्रियादयस्त्वन्ये सव्यं पादं प्रक्षाल्य अनेनैव विधिना दक्षिणं प्रक्षालयन्ति । ततः पुनःविष्टरो विष्टरो विष्टर इत्यन्येन श्राविते 'प्रतिगृह्यताम्' इति यजमानदत्तं विष्टरं प्रतिगृह्य 'वर्ष्मोऽस्मि' इति मन्त्रेण पादयोरधस्तान्निदधाति । ततोऽर्घोऽर्घोऽर्घ इत्यन्येन श्राविते ऽर्चयिता 'प्रतिगृह्यताम्' इत्युक्त्वा अर्घ्यायार्घ्यम् 'आपस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि' इति मन्त्रं पठितवते प्रयच्छति । अर्घ्यश्चार्घ्यं प्रतिगृह्य मूर्द्धपर्यन्तमानीय 'समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टास्माकं वीरा मा परीसेचि मत्पयः' इत्यनेन मन्त्रेण निनयन्नभिमन्त्रयते । अथाचमनीयमाचमनीयमाचमनीयमित्यनेन श्राविते अर्चयिताऽर्घ्याय 'प्रतिगृह्यताम्' इति उक्त्वा आचमनीयं प्रयच्छति । अर्घ्यश्च प्रतिगृह्य 'आमागन्यशसा सꣳ सृज वर्चसा तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम्' इति मन्त्रेण सकृदाचम्य स्मार्त्तमाचमनं करोति । अथ मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्क इत्यन्येनोक्ते 'प्रतिगृह्यताम्' इति यजमानेनोक्ते यजमानहस्तस्थितमुद्घाटितं मधुपर्कं 'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे' इति मन्त्रेण प्रतीक्ष्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि' इति मन्त्रेण अञ्जलिना प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ निधाय दक्षिणस्य पाणेरुपकनिष्ठिकयाऽङ्गुल्या 'नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि' इति मन्त्रेण सकृदालोड्य पुनर्मन्त्रेणैव द्विरालोडयति । अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाय बहिर्निक्षिप्य पुनरेवं द्विर्वारमालोडनं निरुक्षणञ्च करोति । ततो 'यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि' इति मन्त्रेण अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाय त्रिः प्राश्नाति, मधुवाता ऋतायत इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं त्रिः प्राश्नाति वा, प्राशितशेषं पुत्राय शिष्याय

(हरिहर०)

वा दद्यात्, तत्सर्वं वा भक्षयेत्, पूर्वस्यां दिशि असङ्करे प्रदेशे वा क्षिपेत्। ततः स्मार्तेन विधिनाऽऽचम्य 'वाङ् म आस्येऽस्तु' इति करोग्रेण मुखं स्पृशति, 'नसोर्मे प्राणोऽस्तु' इति दक्षिणवामे नासारन्ध्रे, 'अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु' इति दक्षिणोत्तरे चक्षुषी, कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु' इति दक्षिणं श्रोत्रं संस्पृश्य पुनः 'कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु' इति वामम्, एवं बाह्वोर्मे बालमस्तु' इति दक्षिणोत्तरौ बाहू, 'ऊर्वोर्मे ओजोस्तु' इति युगपदूरू, 'अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु' इति शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि सर्वाण्यङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभेत।

एवमाचान्तोदकाय खड्गहस्तो यजमानः 'गौर्गौर्गौरालभ्यताम्' इति ब्रूयात्। ततोऽर्ध्यः—'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाᳯ स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम च अमुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मानᳯ हनोमिति गवालम्भपक्षे प्रतिब्रूयात्। उत्सर्गपक्षे तु माता रुद्राणामित्यादि पाप्मा हत ओमित्युपांशूक्त्वा उत्सृजत तृणान्यत्त्वित्युच्चैः प्रतिब्रूयात्। ततो वरो बहिः शालायामीशान्यान्दिशि चतुर्हस्तायां सिकताच्छन्नायां वेदिकायां लौकिकं निर्मथ्यं वाग्निं स्थापयित्वा पश्चादग्नेः तृणपुलकं, कटं वा स्थापयेत्। अथ कन्यापिता वस्त्रचतुष्टयं वराय प्रयच्छति। वरश्च तेषु मध्ये 'जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः' इत्यनेन मन्त्रेण एकं कुमारीं परिधापयति, द्वितीयं 'या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः' इति मन्त्रेण। स्वयं च 'परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये' इति मन्त्रेण एकं परिधत्ते, 'यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्रा बृहस्पती। यशो भगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्' इति द्वितीयम्। अथ कुमार्याः पिता पुनौ परिहिताहतसदशवस्त्रौ कन्यावरौ समञ्जयति परस्परं समञ्जेथामिति प्रैषेण। ततो वरः कन्यासंमुखीभूतः—'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ' इत्यादिकं मन्त्रं पठति। अथ कन्यादानं करोति पित्रादिः कन्यादानाधिकारी। तत्र वाक्यम्—अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः प्रपौत्राय, अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पौत्राय, अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पुत्राय, इति वरपक्षे। अमुकगोत्रस्य अमुकशर्मणः प्रपौत्रीम्, अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पौत्रीम्, अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पुत्रीम्, इति कन्यापक्षे। एवमेव पुनर्वारद्वयमभिहिते। अथ कन्यापिता कुशजलाक्षतपाणिः उदङ्मुखोपविष्टः प्राङ्मुखोपविष्टाय वराय प्रत्यङ्मुखोपविष्टां कन्याम् अमुकगोत्राय अमुकप्रवराय अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय इति ब्राह्मणवरपक्षे, इतरवरपक्षे तु अमुकवर्मणे, अमुकगुप्ताय, अमुकदासायेति विशेषः। अमुकगोत्राम् अमुकप्रवराम् अमुकनाम्नीम् इमां कन्यां सालङ्कारां प्रजापतिदेवतां पुराणोक्तशतगुणीकृतज्योतिष्टोमातिरात्रसमफलप्राप्तिकामः कन्यादानफलप्राप्तिकामो वा भार्यात्वेन तुभ्यमहं सम्प्रददे इत्युक्त्वा सकुशाक्षतजलं कन्यादक्षिणहस्तं वरदक्षिणहस्ते दद्यात्। वरश्च 'द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु' इत्यनेन मन्त्रेण तां प्रतिगृह्णीयात्। अथ कोऽदादितिकामस्तुतिं पठेत्। ततः कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं स्वर्णं गोमिथुनञ्च दक्षिणां दद्यात्।

(हरिहर०)

अत्र आचाराद् अन्यदपि *यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्वग्रामादि कन्यापिता यथासम्भवं ददाति। अन्येऽपि बान्धवादयो यथासम्भवं यौतकं प्रयच्छन्ति। केचन यौतकं होमान्ते प्रयच्छन्ति अत्र देशाचारतो व्यवस्था।

एवं पित्रा दत्तां गृहीत्वा प्रतिग्रहस्थानान्निष्क्रामति—'यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वमुकि' इत्यन्तेन मन्त्रेण। अथ निष्क्रमणप्रभृत्येको जलपूर्णं कलशं स्कन्धे निधाय दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यत ऊर्ध्वस्तिष्ठति, उत्तरतो वा अभिषेकपर्यन्तम्। अथैनौ वधूवरौ अग्निसमीपमागतौ कन्यायाः पिता परस्परं समीक्षेथामिति प्रैषेण समीक्षयति। ततः प्रेषितो वरः समीक्षमाणां कन्यां समीक्षमाणः 'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ सा नः पूषा शिवतमा मे रयसा नऊरू ऊशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामुकामा बहवोनिविष्टयै' इत्यादिकान् चतुरो मन्त्रान् पठति। ततः प्रदक्षिणमग्निं परीत्य पश्चादग्नेः पूर्वस्थापिततेजनीकटयोरन्यतरं दक्षिणं पादमग्रे कृत्वोपविशति वरः, तस्य दक्षिणतो वधूः। ततो ब्रह्मोपवेशनादि चरुवर्जं पर्युक्षणान्तं कुर्यात्। इत्यांस्तु विशेषः— शमीपलाशमिश्राः लाजा अश्माअखण्डलोहितमानडुहं चर्म कुमार्या भ्राता शूर्पं दृढपुरुषः आचार्याय वरद्रव्यम् इत्येतावन्ति वस्तूनि उपकल्पयेत्, न प्रोक्षेत्। ततः स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानाग्निरैत्वित्यादिकान्परं मृत्यवित्यन्तान् अनन्वारब्धो जुहुयात्। प्राशनान्ते वा परं मृत्यविति। तद्यथा—

ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये। इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय। अग्नये स्वाहा, इदमग्नये। सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय। ॐभूः स्वाहा, इदमग्नये। ॐभुवः स्वाहा, इदं वायवे। ॐस्वः स्वाहा, इदं सूर्याय। त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः। यजिष्ठोव्वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वेषाᳬंसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा, इदमग्नीवरुणाभ्याम्। सत्वन्नो अग्ने वमोभवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ। अवयक्ष्व नो वरुणᳬ रराणो वीहिमृडीकᳬ सुहवो न एधि स्वाहा, इदमग्नीवरुणाभ्याम्। अयाश्चाग्ने स्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि। अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजᳬ स्वाहा, इदमग्नये अयसे। ये ते शतं वरुणं ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोऽत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा, इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यश्च। उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमᳬ श्रथाय। अथावयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा, इदं वरुणाय। ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा ततो राष्ट्रभृतो यथा—ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहाव्वाट्, इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय न०। ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यो न मम।

---

* कन्यादानमारभ्य चतुर्थीकर्मपर्यन्तं विवाहशब्देनोच्यते तन्मध्ये कन्यया स्वपित्रादिभ्यो यद्धनं प्राप्तं तद्यौतकम्।

(हरिहर०)

सहँ. हितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं सहँ. हिताय विश्वसाम्ने सूर्याय, गन्धर्वाय० । सहँ. हितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यो० । सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय० । सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यो० । इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय० । इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्ग्भ्यो० । भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय० ? भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा, इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यस्तावाभ्यो० । प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय० । प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदमृक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यो० । केचिदन्यथा मन्त्रप्रयोगं कुर्वन्ति, तत्प्रदर्श्यते—ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् इति प्रथमः । तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहेति द्वितीयः । एवं सर्वेषु मन्त्रेषु । अस्मिन्नपि पक्षे त्यागास्तु त एव ।

अथ जयाहोमः

चित्तं च स्वाहा, इदं चित्ताय १ ॥ चित्तिश्च स्वाहा, इदं चित्त्यै २ ॥ आकूतं च स्वाहा, इदमाकूताय ३ ॥ आकूतिश्च स्वाहा, इदमाकूत्यै ४ ॥ विज्ञातं च स्वाहा, इदं विज्ञाताय ५ ॥ विज्ञातिश्च स्वाहा, इदं विज्ञात्यै ६ ॥ मानश्च स्वाहा, इदं मनसे ७ ॥ शक्करीश्च स्वाहा, इदं शक्करीभ्यः ८ ॥ दर्शश्च स्वाहा, इदं दर्शाय ९ ॥ पौर्णमासं च स्वाहा, इदं पौर्णमासाय १० ॥ बृहच्च स्वाहा, इदं बृहते ११ ॥ रथन्तरं च स्वाहा, इदं रथन्तराय १२ ॥ चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यन्तानां प्रयोगं केचिदिच्छन्ति, तदसांप्रतम् कुतः ? नह्येतानि देवतापदानि, किन्तु मन्त्रा एते । मन्त्राश्च यथाम्नाता एव प्रयुज्यन्ते ।

प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा, इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय० ।

अथाभ्यातानाः

अग्निर्भूतानामधिपतिः स माऽवत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहुत्याँ स्वाहा, इदमग्नये भूतानामधिपतये० । इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावतु इत्येवमादि स्वाहाकारान्तो मन्त्रः, इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये । एवं समावत्वस्मिन्नित्यादि वक्ष्यमाणेषु सर्वमन्त्रेष्वनुषङ्गः । यमः पृथिव्या अधिपतिः, इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये । वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः, इदं वायवेऽन्तरिक्षस्याधिपतये । सूर्यो दिवोऽधिपतिः, इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये । चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः, इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये । बृहस्पतिर्ब्रह्मणोधिपतिः, इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये । मित्रः सत्यानामधिपतिः, इदं मित्राय सत्यानाधिपतये ।

(हरिहर०)

वरुणोऽपामधिपतिः, इदं वरुणायापामधिपतये। समुद्रः स्रोत्यानामाधिपातिः, इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतयो। अन्नट्ं साम्राज्यानामधिपतिस्तन्माऽवत्वस्मिन् इत्यादि, इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये। सोम ओषधीनामधिपतिः, इदं सोमायौषधीनामधिपतये। सविता प्रसवानामधिपतिः, इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये। रुद्रः पशूनामाधिपतिः, इदं रुद्राय पशूनामधिपतये उदकेस्पर्शनम्। त्वष्टा रूपाणामधिपतिः, इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये। विष्णुः पर्वतानामधिपतिः, इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये। मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन्, इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः। पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तता-महाः। इह माऽवन्त्वस्मिन् ब्रह्मणीत्यादि समानम्, इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरे-भ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यो०। उदकस्पर्शनम्। एते अष्टादश मन्त्रा अभ्यातानसञ्ज्ञकाः।

अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳪंसोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयट्ं राजा वरुणोऽनु-मन्यतां यथेयट्ं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्स्वाहा, इदमग्नये १॥ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यता-मियट्ं स्वाहा, इदमग्नये २॥ स्वस्तिनोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्य यथा यजत्र। यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रट्ं स्वाहा, इदमग्नये ३॥ सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद्वैव-स्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा, इदं वैवस्वताय ४॥ परं मृत्यो अनुपरेहि पन्था यस्ते अन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मानः प्रजाट्ं रीरिषो मोत वीरान्स्वाहा, इदं मृत्यवे ५॥ एके संस्रवप्राशानान्ते जुहुयादितीच्छन्ति। उदकस्पर्शः। कुमार्या भ्राता उपकल्पितान् शमीपलाशमिश्रान् लाजान् शूर्पे कृतान् स्वेनाञ्जलिना गृहीत्वा कुमार्या अञ्जलावावपति। तौँल्लाजान् प्राङ्मुखी तिष्ठन्ती कुमारी सव्यहस्तसहितेन दक्षिणहस्तेन अञ्जलिना विवाहाग्नौ जुहोति। 'अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मापतेः स्वाहा।' इत्यनेन मन्त्रेण हस्तस्थितलाजानां तृतीयांशं जुहोति, इदमर्यम्णे। 'इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण अञ्जलिस्थितानां लाजानामर्द्धं जुहोति, इदमग्नये। 'इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियट्ं स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण सर्वांल्लाँजान् जुहोति, इदमग्नये। मन्त्रत्रयं कन्यैव पठति।

अथ कुमार्याः साङ्गुष्ठं दक्षिणं हस्तं वरो गृह्णाति—गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। अमोऽहमस्मि सा सा त्वट्ं सा त्वमस्यमो अहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजा प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः। संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतट्ं शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रसन्दर्भेण। अथ कुमार्या दक्षिणं पादं स्वदक्षिणहस्तेन गृहीत्वा 'आरोहेममश्मानमश्मेव त्वट्ं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृत-नायतः' इत्यनेन मन्त्रेण अग्नेरुत्तरतो व्यवस्थितस्याश्मन उपरि वरः करोति। अथाश्म-न्यारूढायां कुमार्यां वरो गाथां गायति—'सरस्वति प्रेदमिव सुभगे वाजिनीवति। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतट्ं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः' इत्यन्ताम्। अथ वधूवरौ प्रदक्षिणमग्निं परि-क्रामतः—तुभ्यमग्ने पर्यवहन् सूर्या वहतु नासह। पुनः पतिभ्यो जायान्दाग्नेप्रजया सह'

(हरिहर०)

इत्यन्तस्य मन्त्रस्य वरपठितस्यान्ते। एवं पुनर्वारद्वयं लाजावपनादि परिक्रमणान्तं कर्म निर्विशेषं भवति। ततस्तृतीयपरिक्रमणानन्तरं कुमार्या भ्राता शूर्पकोणप्रदेशेन सर्वाल्लाँजान् कुमार्यञ्जलावावपति तान् तिष्ठन्ती कुमारी 'भगाय स्वाहा' इत्यनेन जुहोति, इदं भगाय। ततः सदाचारात् तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं कुरुतः नेतरथावृत्तिम्। अथ 'प्रजापतये स्वाहा' इति ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा, इदं प्रजापतये' इति त्यागं विधाय एनां वधूम् उदीचीं सप्त पदानि प्रक्रामयति। तद्यथा—

एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मन्त्रे वधूरेकं पदमुदग् ददाति, द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयत्विति द्वितीयम्, त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते तृतीयम्, चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्विति चतुर्थम्, पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति पञ्चमम्, षडृतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति षष्ठम्, सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा-नयत्विति सप्तमम्। एवं वर एकैकं मन्त्रं समुच्चार्योच्चार्य सप्त पदानि दापयत्युत्तरोत्तरं दक्षिणपादेन। अथ वरः स्कन्धकृतादुदकुम्भादुदकमादाय वधूमूर्धन्यभिषिञ्चति—'आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' इत्यनेन मन्त्रेण। पुनस्तथैवोदकमादाय 'आपोहिष्ठा' इति प्रत्यृचं पठित्वा तथैव मूर्धन्यभिषिञ्चति। अथ वरः 'सूर्यमुदीक्षस्व' इति वधूं प्रेषयति। सा च प्रेषिता सती सूर्यमुदीक्षते तच्चक्षुरित्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तं मन्त्रं स्वयं पठित्वा। अथ वरो वध्वा दक्षिणांसस्योपरि हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते—'मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' इत्यनेन मन्त्रेण। अथ हृदयालम्भनानन्तरं वरो वधूमभिमन्त्रयते—'सुमङ्गलीरियं वधूरिमाँ्ँसमेत पश्यत सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं विपरेत न' इत्यनेन मन्त्रेण। अथात्र शिष्टसमाचारात् वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयन्ति, तस्या सीमन्ते वरेण सिन्दूरं दापयन्ति।

अथाग्नेः प्रागुदग्वा पूर्वकल्पितेऽनुगुप्त आगारे उत्तरलोम्नि प्राग्ग्रीवे आनडुहे चर्मणि तां वधूं दृढपुरुष उत्थाप्योपवेशयति इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदतु' इति मन्त्रेण। यद्वा, जामाता दृढपुरुषस्तस्मिन् पक्षे वर उपवेशयति वधूम्। तत आगत्य पूर्ववद्यस्थानमुपविश्य ब्रह्मान्वारब्धो वरः—अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते इति स्विष्टकृद्धोमं विधाय संस्रवान् प्राश्य ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दत्वा स्वकीयाचार्याय वरं ददाति—ब्राह्मणश्चेद् गां, क्षत्रियश्चेद् ग्रामं, वैश्यश्चेदश्वम्। अन्यच्च सुवर्णादिद्रव्यं यथाश्रद्धं यथाशक्ति ब्राह्मणेभ्यो दातुं संकल्पयेत्। 'ग्रामवचनं च कुर्युः' इत्यनेन शिष्टाचारप्राप्तं तिलककरणाक्षतचन्दनमन्त्रविप्राशीर्वचनप्रतिष्ठामन्त्रपाठादिकं यथाकुलं यथादेशसमाचारं तत्र तत्र क्रियमाणमनुमन्येरन्। दिवा चेद्विवाहस्तदाऽस्तमिते ध्रुवं दर्शयति वरो वध्वाः, रात्रौ चेद्वरदानानन्तरमेव। तद्यथा ध्रुवमीक्षस्वेति प्रेषिता वधूः 'ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्यं त्वाऽदाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्' इत्यन्ते मन्त्रे वरेणोक्ते ध्रुवमीक्षते। सा वधूर्यदि ध्रुवं न पश्येत् तथापि पश्यामीत्येव वदेत्। विवाहादारभ्य त्रिरात्रम् अक्षारालवणाशिनौ स्यातां जायापती। अधः खट्वारहिते भूभागे आस्तृते शयीयातां त्रिरात्रमेव। संवत्सरं समग्रं मिथुनं नोपेयाताम्, द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं चेति। एते विकल्पामिथुनकरणशक्त्यपेक्षया। अत्र त्रिरात्रपक्षाश्रयणं चतुर्थ्युत्तरकालम्, हेतुस्तु व्याख्याने विहितः॥

॥ इति विवाहकर्मपद्धतिः॥

(गदाधर०)

'आचार्याय वरं ददाति'। ततो वरः आचार्याय स्वकीयाय वरं ददाति ॥ १४ ॥

'गौर्ब्राह्म······वैश्यस्य'। वरशब्दार्थव्याख्यानं करोति ब्राह्मणश्चेत्परिणेता तदा गां वरं ददाति, क्षत्रियश्चेद्वरस्तदा ग्रामं वरं ददाति, वैश्यश्चेद्वरस्तदाऽश्वं वरं ददाति। एते वरा विवाहे एव, प्रकरणात्। सर्वासु वरचोदनासु गवादयो वरशब्दवाच्या इति भर्तृयज्ञः ॥ १५–१७ ॥

'अधिरथꣳ शतं दुहितृमते'। ददातीत्यनुवर्तते। दुहितृमाँश्च यस्य दुहितर एव, न पुत्राः; तस्मै दुहितृमते रथेन अधिकं गोशतं दत्त्वा तस्य कन्यामुद्वहेत्। प्रतिषेधस्य (१) मूं मनुः—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता ना विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ इति।

तस्याः परिक्रयाय रथाधिकं गवां शतं ददाति ॥ १८ ॥

'अस्तमिते······शतमिति'। अस्तमिते सूर्ये वधूं ध्रुवसंज्ञं नक्षत्रं दर्शयति 'ध्रुवमसि' इत्यनेन मन्त्रेण। नात्रध्रुवमीक्षस्वेत्यध्येषणा। अयमेव मन्त्रः कारितार्थे। अत्र कर्कभाष्यम्–अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति ध्रुवमसीत्यनेन मन्त्रेण। कारितार्थे चायमेव मन्त्रः। पश्यामीत्यन्तर्भूतण्यर्थः। यदुक्तं भवति दर्शयामीति, तदुक्तं भवति पश्यामीति। मन्त्रोऽपि चैवं व्यवस्थितः। ध्रुवैधिपोष्ये मयि मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति। कुमार्यैवोच्यत इति वध्वा मन्त्रपाठ इति भ्रान्तिमान् गङ्गाधरः। ध्रुवमीक्षस्वेतिप्रैष इति हरिहरगङ्गाधरौ। मन्त्रार्थः—हे वधु त्वं ध्रुवमसि ध्रुवा शाश्वती असि भवसि। यतः त्वा त्वां ध्रुवं तारकाविशेषं पश्यामि दर्शयामि। अत्रान्तर्भूतो णिज्ज्ञेयः। अतस्त्वमपि ध्रुवा शाश्वती पोष्या पोषणीया मत्प्रजापोष्ट्री वा एधि भव वर्द्धयेति वा। एतदर्थमेव बृहस्पतिर्ब्रह्मा त्वा त्वां मह्यमदात् दत्तवान्। अतो मया पत्या भर्त्रा सह प्रजावती पुत्रपौत्रादियुक्ता शतं शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि ॥ १९ ॥

'सा यदि······ब्रूयात्'। सा कन्या यदि ध्रुवसंज्ञकं सूक्ष्मं नक्षत्रं न पश्येत्तदा पश्यामीत्येव वक्तव्यं तया, न पश्यामीति वचनं न ब्रूयात् ॥ २० ॥

'त्रिरात्र······स्याताम्'। लग्नदिनमारभ्य त्रिरात्रं यावत् वरवध्वौ अक्षारमलवणं चाश्नीतः इत्येवं शीलौ स्याताम्। 'अधः शयीयाताम्'। अधो भूमौ स्वपेताम्। खट्वाद्युदासार्थोऽधःशब्दः, नास्तरणव्युदासार्थः। सँवत्सरं······मन्ततः'। विवाहदिनमारभ्य सँवत्सरं यावत् न मिथुनमुपेयातां ब्रह्मचारिणौ स्यातां, द्वादशरात्रं वा, षड्रात्रं वा, त्रिरात्रं वा ॥ २१ ॥ (इति सूत्रार्थः)

अथ विवाहे पदार्थक्रमः

तत्र तावदुपयोगितया किञ्चित्संक्षेपेणोच्यते—

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः।
आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्ती भवेद्धि सः ॥

---

(१) 'असौ' इति पाठान्तरम्।

(गदाधर०)

इति दक्षस्मृतेः,

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् ॥

इति च याज्ञवल्क्योक्तेः अविप्लुतब्रह्मचर्यो बाह्याभ्यन्तरलक्षणयुक्तां स्त्रियमुद्वहेत्। अत्र 'कुलमग्रे परीक्षेत' इति गृह्यान्तरवचनादादौ सदाचारादिगुणवत्तया हीनक्रियत्वादिदोषहीनतया च परीक्ष्य कुलं तज्जोद्वाह्या। तदनु लक्षणाद्यपि परीक्ष्यम्। लक्षणानि च शुभाशुभसूचकानि तनुलोमकेशदशनत्वगादीनि प्रत्यक्षगम्यानि बाह्यानि। तथा च मनुः—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ इति ।

यान्यान्तराणि तान्युक्तान्याश्वलायनगृह्ये—"दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वा 'ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्। यदिदं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्सत्यं तद् दृश्यताम्' इति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं गृहाणेति। क्षेत्राच्चेदुभयतः सस्याद् गृह्णीयादन्नवत्यस्यः प्रजा भविष्यतीति विद्यात्, गोष्ठात्पशुमती, वेदिपुरीषाद् ब्रह्मवर्चस्विनी, अविदासिनो ह्रदात्सर्वसंपन्ना, देवनात्कितवी, चतुष्पथाद् विप्रव्राजिनी, ईरिणादधन्या, श्मशानात्पतिघ्नी" इति। अस्यार्थः—दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्येवं परीक्षेत क्षेत्रादिभ्यो मृदमादय आहृत्य अष्टौ पिण्डान् कृत्वा 'ऋतमग्रे' इत्यनेन मन्त्रेण मृत्पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयात्—एषां पिण्डानां मध्ये एकं पिण्डं गृहाणेति। यदेकस्मिन्वत्सरे द्विः फलति तदुभयतः सस्यं क्षेत्रं, तस्मात्क्षेत्रादाहृतपिण्डं गृह्णीयाच्चेदन्नवती अस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। अपवृक्ते कर्मणि या वेदिः सा वेदिपुरीषम् अ(१)विदासी नाम अशोष्यो ह्रदः, देवनं द्यूतस्थानम्, ईरिणमूषरं विप्रव्राजिनी विविधं प्रव्रजनशीला स्वैरिणीति यावत्, पतिं हन्तीति पतिघ्नी। अत्रैवं क्रमः—क्षेत्रादिभ्यो मृदाहरणं पिण्डाष्टककरणमन्यस्य 'ऋतमग्रे' इति पिण्डाभिमन्त्रणम् एषामेकं गृहाणेति प्रैषः क्षेत्रपिण्डग्रहणे अस्याः प्रजा अन्नवती भविष्यतीति ज्ञातव्यम्, गोष्ठपिण्डाऽऽदान पशुमती, वेदीपिण्डाऽऽदाने ब्रह्मवर्चस्विनी, ह्रदपिण्डादाने सर्वसंपन्ना, द्यूतस्थानपिण्डाऽऽदाने द्यूतिनी, चतुष्पथपिण्डाऽऽदाने स्वैरिणी, ऊषरपिण्डाऽऽदाने धनहीना, श्मशानभूमिपिण्डादाने पतिघ्नी। अत्र प्रजास्तुतिनिन्दाद्वारेण सैव वस्तुतो निन्दिताऽनिन्दिता चेति मन्तव्यम्। उत्तरैस्तुत्रिभिर्वाक्यैः सैव निद्यन्ते। अनन्यपूर्विकेत्यनेन वाग्दत्ता, मनोदत्ता, अग्निं परिगता सप्तपदीं नीता, भुक्ता, गृहीतगर्भा, प्रसूता चेति सप्त पुनर्भ्वो व्यावर्त्यन्ते। कान्तां वोढुर्मनोनयनयोराह्लादकरीम्। असपिण्डेति सापिण्ड्यवर्जनम्। तच्चैकशरीरावयवान्वयेन भवति। एकस्य हि पितुर्मातुर्वा शरीरावयवाः पुत्रपौत्रादिषु साक्षात्परम्परया वा शुक्रशोणितादिरूपेणानुस्यूताः। यद्यपि पत्न्याः पत्या सह भ्रातृपत्नीनां च परस्परं नैतत्संभवति, तथाप्याधारत्वेनैकशरीरावयवान्वयोऽस्त्येव। एकस्य हि पितृशरीरस्यावयवा पुत्रद्वारा तास्वाहिता इति मिताक्षराकारमदनपारिजातादय आहुः। कथञ्चिदेकपिण्डक्रिया-

(१) 'अविदासी नदो नाम्' पाठान्तरम् ।

(गदाधर०)

प्रवेशेन निर्वाप्य सापिण्ड्यं चन्द्रिकापरार्कमेधातिथिमाधवादयो वदन्ति। नन्वेवं विधातृशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यातिप्रसङ्गेन एकपिण्डदानक्रियान्वयित्वेन वा गुरुशिष्यादेरपि श्राद्धदेवतात्वात् सापिण्ड्यमिति न काप्यसपिण्डेत्यत आह याज्ञवल्क्यः—

पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा। इति।

मातृपक्षे पञ्चमात्पितृपक्षे सप्तमादूर्ध्वं सापिण्ड्यं निवर्तते इति शेषः। कूटस्थमारभ्यात्र गणना कार्या। तदुक्तम्—

वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद्यदि सप्तमः।
पञ्चमीं चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्तते॥ इति।

कूटस्थो मूलपुरुषो यतः संतानभेदः। यवीयसीं स्वापेक्षया वयसा वपुषा च न्यूनाम्। अरोगिणीमचिकित्स्यराजयक्ष्मादिरोगरहिताम्। भ्रातृमतीमिति पुत्रिकाकरणशङ्कानिवृत्त्यर्थम्। यत्र तु पुत्रिकाकरणाभावनिश्चयस्तामभ्रातृकामप्युद्वहेत्। असमानार्षगोत्रजाम् ऋषेरिदमार्षं, गोत्रप्रवर्तकस्य मुनेर्व्यावर्तकः प्रवर इत्यर्थः। गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धम्। स्वसमाने आर्षगोत्रे यस्य तस्माज्जाता या न भवति ताम्। यास्कवाधूलमौनमूकानां भिन्नगोत्राणामपि भार्गववैतहव्यसावेतसेति प्रवरैक्यमस्ति, तत्र विवाहो मा भूदिति असमानार्षजामित्युक्तम्। आङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्वेति, मान्धात्रम्बरीषयौवनाश्वेति, आङ्गिरसमान्धातृप्रवरभेदेऽपि यौवनाश्वगोत्रैक्यं, तादृशविवाहवारणायासमानगोत्रजामिति उक्तम्। तथा च गोत्रप्रवरौ पृथक् पर्युदासे निमित्तभूतौ। प्रवरैक्य विशेषमाह बौधायनः—

पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः।
भृग्वङ्गिरोगणेष्वेव शेषेष्वेकोऽपि वारयेत्॥ इति।

विवाहमिति शेषः। इति संक्षिप्तगोत्रप्रवरनिर्णयः। अथ समानार्षगोत्रजाविवाहे प्रायश्चित्तम्—

परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा। त्यागं कुर्याद् द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत्॥
त्यागश्चोपभोगस्यैव न तु तस्याः।
समानप्रवरां कन्यामेकगोत्रामथापि वा। विवाहयति यो मूढस्तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम्॥
उत्सृज्य तां ततो भार्यां मातृवत्परिपालयेत्।
इति शातातपस्मृतेः। समानप्रवरस्वरूपं च बौधायनेनोक्तम्—

एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते। तावत्समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात्॥ इति।

समानगोत्रत्वं समानप्रवरत्वमित्यर्थः। अथ सापत्नविषये सापिण्ड्यम्—सपत्नमातामहकुलेऽप्यातिदेशिकात् सापिण्ड्यादविवाहः। तथा च सुमन्तुः—'पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तद्भगिन्यो मातृष्वसारस्तद्दुहितरश्च भगिन्यस्तदपत्यानि भागिनेयानि, अन्यथा संकरकारिण्यः स्युः' इति। अत्र 'यावद्वचनं वाचनिकम्' इतिन्यायेन परिगणितेष्वेवातिदेशिकं सापिण्ड्यं न तु पञ्चमसप्तमपर्यन्तं, क्वचित्तु वचनादेव विवाहनिषेधः। तथा च बह्वृचगृह्यपरिशिष्टे—'अविरुद्धसंबन्धामुपयच्छेत्' इत्युक्त्वा स्वयमेव विरुद्धं संबन्धं दर्शयति—'यथा भार्यास्वसुर्दुहिता पितृव्यपत्नीस्वसा च' इति। तथा नारदः—

प्रत्युद्वाहो नैव कार्यो नैकस्मै दुहितृद्वयम्। नैवैकजन्ययोः पुंसोरेकजन्ये च कन्यके॥

(गदाधर०)

नैवं कदाचिदुद्वाहो नैकदा मुण्डनद्वयम् ।

अन्यच्चापि—

एकजन्ये च कन्ये द्वे पुत्रयोर्नैकजन्मनोः । न पुत्रीद्वयमेकस्मै प्रदद्याद्वै कदाचन ॥ इति ॥

अथ वरगुणाः—

तत्र "बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्" इति बह्वृचगृह्यम् । यमः—

कुलं च शीलं च वयश्च रूपं विद्यां च वित्तं च सनाथतां च ।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥

याज्ञवल्क्यः—

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः । यत्नात्परीक्षितः स(१)म्यक् युवा धीमाञ्जनप्रियः ॥

एतैः कन्यागुणैरनन्यपूर्वकत्वयवीयस्त्वभ्रातृमत्त्वव्यतिरिक्तैर्युक्तः ।

कात्यायनः—

उन्मत्तः पतितः कुष्ठी षण्ढश्चैव स्वगोत्रजः । चक्षुःश्रोत्रविहीनश्च तथाऽपस्मारदूषितः ॥
वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः ॥

नारदः—

परीक्ष्य पुरुषः पुंस्त्वे निजैरेवाङ्गलक्षणैः । पुमाँश्चेदविकल्पेन स कन्यां लब्धुमर्हति ॥
सुबद्धजत्रुजान्वस्थि सुबद्धांसशिरोधरः ।

यस्याविप्लवते रेतो ह्रादि मूत्रं च फेनिलम् ॥ पुमान्स्याल्लक्षणैरेभिर्विपरीतस्तु षण्ढकः ।
अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः, स्त्री क्षेत्रं, बीजिनो नराः ॥ क्षेत्रं बीजवते देयं, नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥

अथ कन्यावरयोर्बृहस्पत्यानुकूल्याभावे तदानुकूल्याय बृहस्पतिशान्तिस्तत्र शौनकः—

कन्योद्वाहस्य काले तु आनुकूल्यं न विद्यते । ब्राह्मणस्योपनयने गुरोर्विधिरुदाहृतः ॥
सुवर्णेन गुरुं कृत्वा पीतवस्त्रेण वेष्टयेत् । ईशान्यां धवलं कुम्भं धान्योपरि निधाय च ॥
दमनं मधु पुष्पं च पालाशं चैव सर्षपान् । मांसी गुडुच्यपामार्गविडङ्गीशङ्खिनी वचा ॥
सहदेवी हरिक्रान्ता सर्वौषधिशतावरी । बला च सहदेवी च निशाद्वितयमेव च ॥
कृत्वाऽऽज्यभागपर्यन्तं स्वशाखोक्तविधानतः । यथोक्तमण्डलेऽभ्यर्च्य पीतपुष्पाक्षतादिभिः ॥
देवपूजोत्तरे काले ततः कुम्भानुमन्त्रणम् । अश्वत्थसमिधश्चाज्यं पायसं सर्पिषा युतम् ॥
यवव्रीहितिलाः साज्या मन्त्रेणैव बृहस्पतेः । अष्टोत्तरशतं सर्वं होमशेषं समापयेत् ॥
पुत्रदारसमेतस्य अभिषेकं समाचरेत् । कुम्भाभिमन्त्रणोक्तैश्च समुद्रज्येष्ठमन्त्रतः ॥
प्रतिमां कुम्भवस्त्रं च आचार्याय निवेदयेत् । ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चाच्छुभं स्यान्नात्र संशयः ॥

अथापरिहार्यकन्यावैधव्ययोगे तूच्यते । तत्र मार्कण्डेयपुराणे—

बालवैधव्ययोगे तु कुम्भेषु प्रतिमादिभिः । कृत्वा लग्नं ततः पश्चात्कन्योद्वाह्येति चापरे ॥

तत्र पुनर्भूदोषाभाव उक्तो विधानखण्डे—

स्वर्णाम्बुपिप्पलानां च प्रतिमा विष्णुरूपिणी । तया सह विवाहे तु पुनर्भूत्वं न जायते ॥

सूर्यारुणसंवादे—

विवाहात्पूर्वकाले च चन्द्रताराबलान्विते । विवाहोक्ते च मन्थन्या कुम्भेन सह चोद्वहेत् ॥
सूत्रेण वेष्टयेत्पश्चाद्दशतन्तुविधानतः । कुङ्कुमालङ्कृतं देहं तयोरेकान्तमन्दिरे ॥

---

(१) 'पुंस्त्वे' इति पाठान्तरम् ।

(गदाधर०)

ततः कुम्भं च निस्सार्य प्रभज्य सलिलाशये। ततोऽभिषेचनं कुर्यात्पञ्चपल्लववारिभिः॥

कुम्भप्रार्थनाऽपि तत्रैवोक्ता—

वरुणाङ्गस्वरूपाय जीवनानां समाश्रय। पतिं जीवय कन्यायाश्चिरं पुत्रसुखं कुरु॥
देहि विष्णो वरं देव कन्यां पालय दुःखतः। ततोऽलङ्कारवस्त्रादि वराय प्रतिपादयेत्॥

इति कुम्भविवाहः।

तत्रैव मूर्तिदानमप्युक्तम्—

ब्राह्मणं साधुमामन्त्र्य सम्पूज्य विविधार्हणैः। तस्मै दद्याद्विधानेन विष्णोर्मूर्तिं चतुर्भुजाम्॥
शुद्धवर्णसुवर्णेन वित्तशक्त्याऽथवा पुनः। निर्मितां रुचिरां शङ्खगदाचक्राब्जसंयुताम्॥
दधानां वाससी पीते कुमुदोत्पलमालिनीम्। सदक्षिणां च तां दद्यान्मन्त्रमेनमुदीरयेत्॥
यन्मया प्राचि जनुषि त्यक्त्वा पतिसमागमम्। विषोपविषशस्त्राद्यैर्हतो वाऽतिविरक्तया॥
आप्यमानं महाघोरं यशःसौख्यधनापहम्। वैधव्याद्यतिदुःखौघनाशाय सुखलब्धये॥
बहुसौभाग्यलब्धौ च महाविष्णोरिमां तनुम्। सौवर्णीं निर्मितां शक्त्या तुभ्यं सम्प्रददे द्विज॥
अनघाद्याहमस्मीति त्रिवारं प्रजपेदिति। एवमस्त्विति तस्योक्तं गृहीत्वा स्वगृहं विशेत्॥
ततो वैवाहिकं कुर्याद्विधिं दाता मृगीदृशः।

अन्येऽप्यश्वत्थवृक्षविवाहवृक्षसेचनादयस्तत्रैव ज्ञेयाः, ग्रन्थगौरवभयान्नेहोच्यन्ते। अथ विवाहकाले कन्या ऋतुमती चेत्तत्र यज्ञपार्श्वे—

विवाहे वितते तन्त्रे होमकाले उपस्थिते। कन्यामृतुमतीं दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः॥
स्नापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि। युञ्जानामाहुतिं हुत्वा ततः कर्मणि योजयेत्॥

"युञ्जानः प्रथमम्" इत्यनेन मन्त्रेणाहुतिं हुत्वेत्यर्थः। यद्वा—

विवाहहोमे प्रक्रान्ते यदि कन्या रजस्वला। त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ॥
चतुर्थेऽहनि सुस्नातौ तस्मिन्नग्नौ यथाविधि। इति। जुहुयातामिति शेषः।

अथ विवाहे आशौचनिर्णयः। विधिवत्कृते कन्यावरणे त्रिरात्रादिव्रतसमाप्तिपर्यन्तमध्ये आशौचप्राप्तौ तदपोह्य सद्यःशौचं चन्द्रिकाकार आह। तत्र याज्ञवल्क्यः—

दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे। आपद्यपि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते॥ इति।

धातुर्वरस्य कन्यायाश्च सद्यः शौचं बृहस्पतिः—

विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके। पूर्वसंकल्पितार्थेषु न दोषः परिकीर्तितः॥

षट्त्रिंशन्मते—

विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके। परैरन्नं प्रदातव्यं भोक्तव्यं च द्विजोत्तमैः॥
व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे। प्रारब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम्॥

प्रारम्भश्च तेनैवोक्तः—

प्रारम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः। नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया॥ इति।

वरणमिति मधुपर्कपरम्। तथा च तथा च ब्राह्मे—

गृहीतमधुपर्कस्य यजमानाच्च ऋत्विजः। पश्चादशौचे पतिते न भवेदिति निश्चयः॥

मधुपर्कात्पूर्वं तु भवत्येव आशौचमिति रामाण्डारभाष्ये। शुद्धिविवेकेऽप्येवमेव। नान्दीमुखविधिश्चावश्यकत्वे अधिक उक्तः।

एकविंशत्यहर्यज्ञे विवाहे दश वासराः। त्रिषट् चौलोपनयने नन्दीश्राद्धं विधीयते॥ इति।

तेन एकविंशत्याद्यहरन्तःपाति यदि यज्ञादिर्भवति तदा आवश्यके यज्ञादौ पूर्वं श्राद्धं कुर्यादित्यर्थः। प्रारम्भाभावेऽपि कन्याया अधार्यत्वे विवाह इत्यर्थः। सन्निहितलग्नान्तराभावे च होमादिपूर्वकं विष्णुरनुज्ञामाह—

अनारब्धविशुद्ध्यर्थं कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम्। गां दद्यात्पञ्चगव्याशी ततः शुध्यति सूतकी॥

उपकल्पितबहुसम्भारस्यापि तत्संनिहितलग्नान्तराभावेन संभारधारणाशक्तौ आशौचाभावमाह विष्णुः 'न देवप्रतिष्ठाविवाहयोः पूर्वसंभृतयोः' इति।

अथ रजोदोषे निर्णयः—

वधूवरान्यतरयोर्जननी चेद्रजस्वला। तस्याः शुद्धेः परं कार्यं माङ्गल्यं मनुरब्रवीत्॥

माधवीये—

प्रारम्भात्प्राग्विवाहस्य माता यदि रजस्वला। निवृत्तिस्तस्य कर्तव्या सद्व्वश्रुतिचोदनात्॥

प्रारम्भात्प्रागिति नान्दीश्राद्धात्प्रागिति ज्ञेयं,'नान्दीश्राद्धं विवाहादौ' इत्यादिना तस्यैव प्रारम्भोक्तेः। वृद्धमनुः—

विवाहव्रतचूडासु माता यदि रजस्वला। तदा न मङ्गलं कार्यं शुद्धौ कार्यं शुभेप्सुभिः॥ इति।

मेधातिथिः—

चौले च व्रतबन्धे च विवाहे यज्ञकर्मणि। भार्या रजस्वला यस्य प्रायस्तस्त न शोभनम्॥

गर्गः—

यस्योद्वाहादिमाङ्गल्ये माता यदि रजस्वला। तदा न तत्प्रकर्तव्यमायुःक्षयकरं यतः॥

बृहस्पतिः—

वैधव्यं च विवाहे स्याजडत्वं व्रतबन्धने। चूडायां च शिशोर्मृत्युर्विघ्नं यात्राप्रवेशयोः॥

आभ्युदयिकश्राद्धोत्तरं तु कपर्दिकारिकासु विशेषः—

सूतिकोदक्ययोः शुद्ध्यै गां दद्याद्धोमपूर्वकम्। प्राप्ते कर्मणि शुद्धिः स्यादितरस्मिन्न शुद्ध्यति॥

अलाभे सुमुहूर्तस्य रजोदोषे च सङ्कटे। श्रियं संपूज्य तत्कुर्यात्पाणिग्रहणमङ्गलम्॥

हैमीं माषमितां पद्मां श्रीसूक्तविधिनाऽर्चयेत्।
प्रत्यृचं पायसं हुत्वा अभिषेकं समाचरेत्॥ इति।

अथ विवाहभेदाः। मनुः—

ब्राह्मो दैवस्तथा चार्षः। प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचस्त्वष्टमो मतः॥

चत्वारो ब्राह्मणस्याद्या, राज्ञां गान्धर्वराक्षसौ। राक्षसश्चासुरो वैश्ये, शूद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः॥

अन्त्यः पैशाचः। याज्ञवल्क्यः—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता। तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम्॥

यज्ञस्थस्यर्त्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम्। चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट्॥

इत्युक्त्वाचरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने। स कायः पावयेत्तज्जः षट् षट् वंश्यान्सहात्मना॥

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः।
राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाच्छलात्॥ इति।

गान्धर्वादिष्वपि पतिभावाय पश्चाद्धोमादि सप्तपदीपर्यन्तं कार्यम्,

गान्धर्वासुरपैशाचा विवाहो राक्षसश्च यः। पूर्वं परिग्रहस्तेषु पश्चाद्धोमो विधीयते॥

इति परिशिष्टात्। होमाद्यभावे वरान्तराय देया, सति तु नेति बौधायन आह—

बलादपहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥ इति।

(गदाधर०)

बलादिति छलादेरुपलक्षणम् । अथ वाग्दानोत्तरं वरमरणे विशेषः—
अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि । न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥
देशान्तरगमने तु कात्यायनः—
वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रवसेत्पुरुषो यदा । ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेत्पतिम् ॥
याज्ञवल्क्यः—

दत्तामपि हरेत्पूर्वांच्छ्रेयाँश्चेद्वर आव्रजेत् । १.६५

वसिष्ठः—
कुलशीलविहीनस्य षण्ढादिपतितस्य च । अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम् ॥
दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च ।
अथ धर्मार्थविवाहकरणे फलम् । तत्र महाभरते—
ज्ञात्वा स्ववित्तसामर्थ्यादेकं चोद्वाहयेद् द्विजम् ।
तेनाप्याप्नोति तत्स्थानं शिवभक्तेन यद् ध्रुवम् ॥
मातृपितृविहीनं तु संस्कारोद्वाहनादिभिः । यः स्थापयति तस्येह पुण्यसंख्या न विद्यते ॥
भविष्ये—
विवाहादिक्रियाकाले तत्क्रियासिद्धिकारणम् । यः प्रयच्छति धर्मज्ञः सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

अथ वाग्दानविधिः

ज्योतिःशास्त्रोक्ते शुभे काले द्वौ चत्वारोऽष्टौ वा प्रशस्तवेषा वरपित्रादिना सहिताः शकुनदर्शनपूर्वकं कन्यागृहमेत्य कन्यापितुः प्रार्थना कार्या मत्पुत्रार्थं कन्यां प्रयच्छेति । अथ दाता भार्याद्यनुमतिं कृत्वा दास्यामीति चोच्चैर्ब्रूयात् । ततः कन्यादाता प्राङ्मुख उपविश्याऽऽचम्य देशकालौ स्मृत्वा करिष्यमाणविवाहाङ्गभूतं वाग्दानमहं करिष्ये, तदङ्गं गणपतिपूजनं च करिष्ये इति संकल्प्य गन्धादिदक्षिणान्तैर्गणपतिं पूजयित्वा स्वस्थाने वरपितरं प्राङ्मुखमुपवेश्य स्वयं च तत्प्राच्यां प्रत्यङ्मुख उपविश्य तं गन्धताम्बूलादिभिः पूजयित्वा हरिद्राखण्डपञ्चकं दृढपूगीफलानि च गन्धाक्षतालंकृतानि गृहीत्वाऽमुकगोत्रोत्पन्नाममुकपुत्रीममुकनाम्नीमिमां कन्यां ज्योतिर्विदादिष्टे मुहूर्ते दास्ये इति वाचा संप्रददे ।
इति चोक्त्वा—
अव्यङ्गे पतिते क्लीव दशदोषविवर्जिते । इमां कन्यां प्रदास्यामि देवाग्निद्विजसंनिधौ ॥
इति पठेत् । ततो मन्त्रान्तरं पठेत्—
वाचा दत्ता मया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया । कन्यावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखीभव ॥
वरपिता च ब्रूयात्—
वाचा दत्ता त्वया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता मया । वरावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखीभव ॥
भ्रात्रादौ स्वीकर्तरि भ्रातृमित्रार्थमित्याद्यूहः कार्यः । ततो वरपित्रादिर्गन्धाक्षतशुभ्रवस्त्रादियुग्मभूषणताम्बूलपुष्पादिभिः कन्यां यथाचारं पूजयेत् । ततो ब्राह्मणा आशीर्मन्त्रान् पठेयुः । इति वाग्दानम् ॥

अथ मृदाहरणम्

ज्योतिर्निबन्धे—
कर्तव्यं मङ्गलेष्वादौ मङ्गलायाङ्कुरार्पणम् । नवमे सप्तमे वाऽपि पञ्चमे दिवसेऽपि वा ॥
तृतीये बीजनक्षत्रे शुभवारे शुभोदये । सम्यग्गृहाण्यलङ्कृत्य वितानध्वजतोरणैः ॥

(गदाधर०)

सहवादित्रनृत्याद्यैर्गत्वा प्रागुत्तरां दिशम् । तत्र मृत्सिकतां श्लक्ष्णां गृहीत्वा पुनरागतः ॥
मृन्मयेष्वथवा वैणवेषु पात्रेषु योजयेत् । अनेकबीजसंयुक्तां तोयपुष्पोपशोभिताम् ॥

शौनकः—

आधानगर्भसंस्कारं जातकर्म च नाम च । हित्वाऽन्यत्र विधातव्यं मङ्गलेऽङ्कुरवापनम् ॥

बृहस्पतिः—

आत्यन्तिकेषु कार्येषु कार्यं सद्योऽङ्कुरार्पणम् ।

ततो वैवाहिके शुभे मुहूर्ते वधूवरयोस्तैलहरिद्रालापनादि यथाऽऽचारं कार्यम् ।

अथ विवाहदिनात्पूर्वदिनकृत्यम्—तत्र, पूर्वं गणपतिपूजनं, ततः पूर्वोक्तलक्षणं मण्डपं कृत्वा तत्प्रतिष्ठां कुर्यात् । तत्र पूर्वाह्णे सपत्नीकः कृताभ्यङ्गो धृतमाङ्गलिकवेषः शुभासन उपविश्याऽऽचम्य प्राणानायम्येष्टदेवतागुर्वादिनमस्कारं कृत्वा देशकालौ संकीर्त्यास्या अमुकनाम्न्याः श्वःकरिष्यमाणविवाहाङ्गभूतं स्वस्तिवाचनं मण्डपप्रतिष्ठां मातृपूजनं वसोर्धारापूजनमायुष्यजपं नान्दीश्राद्धं चाहं करिष्ये इति संकल्पं कुर्यात् । ततो ब्राह्मणानुपवेश्य स्वस्तिवाचनं कुर्यात् ।

मण्डपप्रतिष्ठा चैवम्—दूर्वाशमीपल्लववकुलवृक्षपल्लवानाम्रादिप्रशस्तवृक्षपत्रवेष्टितान् सूत्रेण पञ्चधा वेष्टयेत् । आग्नेयकोणस्थमण्डपस्तम्भोपरि नन्दिनीनामकं वेष्टितं 'मनोजूतिः'० इति स्थापयित्वा तत्र नन्दिनीं पूजयेत् । तच्चेत्थम्—'आपोहिष्ठा'० इति प्रोक्ष्य 'गन्धद्वाराम्'० इति गन्धाक्षतं, 'दधिक्राव्ण० इति दधि, 'काण्डात्काण्डात्'० इति दूर्वाः पुष्पाणि समर्पयेत् । ततो नैर्ऋत्यवायव्येशानस्तम्भेषु मण्डपमध्योपरिभागे काष्ठे च क्रमेण नलिनीमैत्रोमापशुवर्द्धनीनामकवेष्टितानि पूर्ववत्स्थापयित्वा पूजयेत् । ततो मातृपूजनं वसोर्द्धारापूजनम् । "अयुष्यं वर्चस्यम्" इत्यायुष्यजपं च कुर्यात् । एषामनुष्ठानप्रकारः पूर्वोक्तो द्रष्टव्यः ।

नान्दीश्राद्धम् । इदं चोद्वाहे पिता कुर्यात् । द्वितीयादौ वर एव । तथा च स्मृतौ—
नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः । अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम् ॥

मण्डनः—

पित्रोस्तु जीवतोः कुर्यात्पुनः पाणिग्रहं यदा । पितुर्नान्दीमुखं श्राद्धं नोक्तं तस्य मनीषिभिः ॥

इति ।

पितुरभावे—

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥ इति ।

यः कर्तृक्रमस्तेन क्रमेण ज्येष्ठभ्रात्रादिर्दद्यादिति चन्द्रिकादय आहुः । हेमाद्रिस्तु तस्य पितुरभावे यः पितृव्यमातुलादिः संस्कुर्यात्सतत्क्रमात्संस्कार्यपितृभ्यो दद्यान्नतुस्वपितृभ्य इति व्याचख्यौ । अत्र बहु वक्तव्यं विस्तरभिया नोच्यते । रेणुकारिकायाम्—
उक्ते काले विवाहाङ्गं कुर्यान्नान्दीमुखं पिता । देशान्तरे विवाहश्चेत्तत्र गत्वा भवेदिदम् ॥

अत्र पदार्थक्रमोऽस्मत्कृते श्राद्धप्रयोगे आलोचनीयः । एवं वरपिता स्वगृहेऽपि सर्वं कुर्यात् । इदं च वधूपित्रा कृते नान्दीश्राद्धे कार्यम् । तदुक्तं कारिकायाम्—
इत्थं वधूपिता कृत्वोद्वाहारम्भनिमित्तकम् । नान्दीश्राद्धं त्रयं कुर्यात्तस्मिन्नहनि संयतः ॥
न मण्डपादिकं कर्म वरस्य श्राद्धमन्तरा ॥ इति ।

आचारोऽप्येवम् । ततो वरगृहे गत्वा वरवरणं कार्यम् । तत्र गणपतिं स्मृत्वा देशकालौ

(गदाधर०)

संकीर्त्य करिष्यमाणविवाहाङ्गवरणं करिष्य इति सङ्कल्प उपवीतादिद्रव्यैस्त्वां वृणे इति। तानि द्रव्याणि वराय दत्त्वा पादौ प्रक्षाल्य चन्दनादिभिः पूजां कुर्यात्। वरणे देयानि द्रव्याण्याह चन्द्रेश्वरः—

उपवीतं फलं पुष्पं वासांसि विविधानि च।
देयं वराय वरणे कन्याभ्रात्रा द्विजेन च॥ इति।

इति पूर्वदिनकृत्यम्। अगतौ सर्वमेतद्विवाहदिन एव पूर्वं सर्वं कुर्यात्।

अथ विवाहदिनकृत्यम्। तत्र पूर्वं घटीस्थापनं कार्यम्। नारदः—

षडङ्गुलमितोत्सेधं द्वादशाङ्गुलमायतम्। कुर्यात्कपालवत्ताम्रपात्रं तद्दशभिः पलैः॥
ताम्रपात्रे जलैः पूर्णे मृत्पात्रे वाऽथवा शुभे। मण्डलार्धोदयं वीक्ष्य रवेस्तत्र विनिःक्षिपेत्॥

तत्र मन्त्रः—

मुख्यं त्वमसि यन्त्राणां ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।
भावाभावाय दम्पत्योः कालसाधनकारणम्॥ इति।

ततो वरः कृतनित्यक्रिय इष्टदेवतां पित्रादींश्च नमस्कृत्य तैरनुमोदितो यथाविभवमश्वादियानमारुह्य वधूगृहं गत्वा तद्द्वारदेशे प्राङ्मुखः स्थितो नीराजनपूर्णकुम्भयुक्तैः पुरन्ध्रीजनैः प्रत्युद्यातो नीराजितोऽन्तर्गृहं प्रविश्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत्। ततः कन्यापिता मधुपर्केण समर्चयेत्।

अथ मधुपर्कः

तत्र वरस्य वैकल्पिकावधारणम्, 'यन्मधुन' इति मधुपर्काशनं, शेषस्य प्रागसंचरे निनयनम्, एतौ विकल्पौ स्मरेत्। ततः साधु भवानिति अर्चयिता अर्घ्यं प्रति वदति। 'अर्चय' इत्यर्घ्यस्य प्रतिवचनमिति वासुदेवभट्टादयः। विष्टरादीनामाहरणम्, अर्घयितुर्विष्टरादानम्, अर्घयितुर्व्यतिरिक्तः अन्यः अर्घ्यं सम्बोधयति 'विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्' इत्यनेन। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुः सकाशात्तूर्ष्णीं विष्टरमादायासने निधाय 'वर्ष्मोऽस्मि समानानाम्' इत्युपाविशति। ततः पाद्योदकदानमर्घयितुः। ततोऽर्घ्यमन्यः सम्बोधयति 'पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्' इति। ततोऽर्घयितुः सकाशात्पाद्यं प्रतिगृह्य दक्षिणं पादं प्रक्षालयति 'विराजो दोहोऽसि०' इति। ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामपादप्रक्षालनम्। राजन्यवैश्ययोस्तु पूर्वं वामपादप्रक्षालनम्। अर्घयितुर्विष्टरादानम्। अन्यः प्राह—'विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्' इति। ततोऽर्घ्यो द्वितीयं विष्टरं तूर्ष्णीं प्रतिगृह्य भूमौ निधाय 'वर्ष्मोऽस्मि०' इत्यनेन तस्योपरि पादौ निदधाति। अर्घयितुरर्घादानम्। अन्यः प्राह-'अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्' इति। ततोऽर्घ्यः 'आपः स्थ युष्माभिः' इत्यर्घं प्रतिगृह्णाति। अर्घ्यस्तमर्घं निनयन्नभिमन्त्रयते 'समुद्रं वः' इति। ततोऽर्घयितुराचमनीयादानम्। ततोऽन्यः प्राह—'आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम्' इति। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुराचमनीयं प्रतिगृह्य 'आमागन्यशसा' इति सकृदाचामति। ततः स्मार्ताचमनम्। अर्घयितुर्मधुपर्कादानम्। अन्य आह-'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्' इति। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुर्हस्तस्थितं मधुपर्कं 'मित्रस्य त्वा' इत्यनेनेक्षते। ततो मधुपर्कं 'देवस्य त्वा० भ्यां' प्रतिगृह्णामीति प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकयाऽऽलोडयति—'नमः श्यावास्याया'० इति। ततो मधुपर्कैकदेशस्य अनामिकाङ्गुष्ठेन बहिः प्रक्षेपः। एवञ्च त्रिरालोडनं त्रिर्निरुक्षणमनामिकाङ्गुष्ठेन भवति।

(गदाधर०)

ततोऽर्घ्यः मधुपर्कैकदेशं 'यन्मधुनो मघव्यम्' इति प्राश्नाति 'पुनरनेनैव मन्त्रेण वारद्वयमुच्छिष्ट एव प्राश्नाति। उच्छिष्टदोषाभावो मनूक्तो द्रष्टव्यः। मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचं प्राशनम्। ततोऽर्घ्यो मधुपर्कशेषं पुत्राय शिष्याय वा उत्तरत उपविष्टाय ददाति, अथवा स्वयमेव सर्वं प्राश्नाति, प्रागसंचरे वा निनयनम्। ततोऽर्घ्यः आचम्य प्राणान्संमृशेत्। तत्रैवम्—'वाङ्म आस्ये अस्तु' इति मुखमालभते, 'नसोर्मे प्राणः अस्तु' इति नासिकाच्छिद्रद्वयं युगपत्, 'अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु' इति अक्षिद्वयं युगपत्, कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु' इति दक्षिणं कर्णमभिमृश्य ततो वाममनेनैव मन्त्रेण, 'बाह्वोर्मे बलमस्तु' इति दक्षिणं बाहुं ततो वाममनेनैव मन्त्रेण, 'ऊर्वोर्मे ओजः अस्तु' इति ऊरुद्वयं युगपदेव, 'अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु' इति शिरःप्रभृतिसर्वाङ्गानां युगपत्। ततो गामानीयार्चयिता शासमादाय 'गौर्गौर्गौः आलभ्यताम् इत्यर्घ्यं प्रति वदति। ततोऽर्घ्यः प्रत्याह 'माता रुद्राणाम्' इत्यादि वधिष्टेत्यन्तमुक्त्वा 'मम चामुष्य च पाप्मानर्ट, हनोमि' इति ब्रूयात्। यद्युत्सिसृक्षेत् 'मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्तु' इति ब्रूयात्। विवाहयज्ञयोस्तु नियमेनालम्भः। स च कलौ न भवति स्मृत्यन्तरात्। आलम्भाभावे तु गौरित्युच्चारणादिकमपि न भवति। सर्वत्रालम्भाभावेऽप्युत्सर्ग एवेति कारिकायाम्।

गोरालम्भनिषेधात्स्यात्सर्वत्रोत्सर्जनं कलौ ॥ इति। इति मधुपर्कः ॥

ततो दाता गन्धमाल्यवस्त्रयुगोपवीतयुगाभरणादिभिर्वरं यथाविभवं पूजयेत्। अथ कन्या स्नाता परिहिताहतवस्त्रा गृहान्तः सौभाग्यादिकामनया गौरीं पूजयित्वा तत्रैव गौरीं ध्यात्वा तिष्ठेत्। ततो वरो बहिः शालायां पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निस्थापनं करोति। निर्मन्थ्याग्नेर्वा स्थापनम्। ततो वैकल्पिकावधारणं वरस्य। अग्नेः पश्चात्तेजन्या निधानम्, अग्नेरुत्तरतः कुम्भधृक्, उत्तरतः पात्रासादनम्, द्वे पवित्रे, मृन्मयी आज्यस्थाली, पालाश्यः समिधः, प्राञ्चावाघारौ, समिद्धतमे आज्यभागौ, वरो दक्षिणा, राष्ट्रभृद्धोमः, जयाहोमः, अभ्यातानहोमः, 'सुगन्नुपन्थाम्' इत्याहुत्यन्ते 'परं मृत्यो' इत्येकाऽऽहुतिः। बध्वा आनडुहचर्मोपवेशनं प्राच्याम्। त्रिरात्रमधःशयनाद्युभयोः इति वैकल्पिकानामवधारणम्। ततो मातुलादिः कन्यानयनं करोति, सा चागत्य प्रत्यङ्मुखी उपविशति। अत्र वधूवरयोर्मध्ये वस्त्रेणान्तर्द्धानम्। ततो वरो वधूं 'जरां गच्छ' इतिमन्त्रेण वासः परिधापयति। वर एवोत्तरीयं 'या अकृन्तन्' इत्यनेन परिधापयति। ततः कन्यापितुरध्येषणं 'परस्परं' 'समञ्जेथाम्' इति, अन्तः पटस्यापसारणम्, वधूवरयोः समञ्जनम्, ततः सम्मुखीकरणं 'समञ्जन्तु' इति मन्त्रेण। अत्र वधूवरयोर्गोत्रप्रवरपूर्वकं प्रपितामहपितामहपितॄणां त्रिर्नामग्रहणं कार्यमिति वासुदेवहरिहरौ। सकृदिति गङ्गाधरः।

अथ कन्यादानम्

तत्रायं क्रमः—दाता वरदक्षिणतः स्वदक्षिणदेशस्थपत्नीसहित उदङ्मुख उपविश्य बद्धशिखः शुचिराचम्य कुशपाणिः प्राणानायम्य देशकालावनुकीर्त्य मम समस्तपितॄणां निरतिशयानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये अनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसन्तत्या द्वादशावरान् द्वादशापरान् पुरुषाँश्च पवित्रीकर्तुमात्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्यादानमहं करिष्ये इति कुशाक्षतयुतजलेन संकल्प्य सपत्नीकः—

कन्यां कनकसंपन्नां कनकाभरणैर्युताम्। दास्यामि विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मलोकजिगीषया ॥

(गदाधर०)

विश्वम्भरः सर्वभूताः साक्षिण्यः सर्वदेवताः । इमां कन्यां प्रदास्यामि पितॄणां तारणाय च ॥

इति मन्त्रौ पठित्वा स्वदक्षिणस्थभार्यादत्तपूर्वकल्पितजलधारां कन्यादक्षिणहस्तगृहीतवरदक्षिणकरे क्षिपेत्। अमुकगोत्रोऽमुकोऽहं मम समस्तेत्यादि प्रीतये इत्यन्तं पूर्ववदुच्चार्यामुकामुकप्रवरोपेतायामुकगोत्रायामुकप्रपौत्रायामुकपौत्रायामुकपुत्रायामुकस्मै श्रीधररूपिणे वरायामुकप्रवरोपेताममुकगोत्राममुकप्रपौत्रीममुकपौत्रीममुकस्य मम पुत्रीममुकनाम्नीं कन्यां श्रीरूपिणीं प्रजापतिदेवत्यां प्रजोत्पादनार्थं तुभ्यं संप्रददे इतिवरहस्ते सकुशाक्षतजलं क्षिपेत् । प्रजापतिः प्रीयतामिति मनसा स्मरेत् । न मम वाच्यमिति प्रयोगरत्ने । नेत्यपरे । वरः 'ॐ स्वस्ति' इत्युक्त्वा' इति प्रतिग्रहं करोति । ततो दाता—

गौरीं कन्यामिमां विप्र यथाशक्ति विभूषिताम् । गोत्राय शर्मणे तुभ्यं दत्तां विप्र समाश्रय ॥

कन्ये ममाग्रतो भूयाः कन्ये मे देवि पार्श्वयोः ।
कन्ये मे पृष्ठतो भूयास्त्वद्दानान्मोक्षमाप्नुयाम् ॥

मम वंशकुले जाता पालिता वत्सराष्टकम् । तुभ्यं विप्र मया दत्ता पुत्रपौत्रप्रवर्धिनी ॥

न्यूनवयस्कायां पालिता वर्षसप्तकमित्याद्यूहः कार्यः । धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयम् । नातिचरामीति वरः । दाता देशकालौ स्मृत्वा कृतस्य कन्यादानस्य प्रतिष्ठासिद्ध्यर्थमिमां दक्षिणां तुभ्यमहं संप्रददे इति सजलं यथाशक्ति सुवर्णं दानदक्षिणात्वेन वरहस्ते दत्त्वा न मम इति वदेत्। 'ॐ स्वस्ति' इति वरः ततो दाता जलभाजनभोजनभाजनगोमहिष्यश्वगजदासीभूवाहनालंकारादि यथाविभवं संकल्पपूर्वकं वराय दद्यात् । अत्र 'कोऽदात्' इति कामस्तुतिपाठ इति हरिहरगङ्गाधरौ । वरो वधूं गृहीत्वा निष्क्रामति 'यदैषिमनसा' इति।असौ स्थाने वधूनामादेशः । निष्क्रमणप्रभृति कश्चनपुरुषो दक्षिणस्कन्धे वारिपूर्णं कलशं गृहीत्वाऽग्नेरुत्तरतो दक्षिणतो वा वाग्यतस्तिष्ठेत् । ततः परस्परं समीक्षेथामित्याह । अन्योन्य समीक्षणम् 'अघोरचक्षु' इति वरकर्तृके समीक्षणे मन्त्रपाठः । दम्पत्योरग्नेः प्रदक्षिणकरणम् । अत्र वा वासःपरिधानादिकर्म । ततः पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्योपविशति वरः । वरदक्षिणतो वध्वा उपवेशनम् । ततो ब्रह्मोपवेशनादिचरुवर्जमाज्यभागान्ते विशेषः पवित्रच्छेदनकुशादिवरान्तानामासादनम् । उपकल्पनीयानि शूर्पं शमीपलाशमिश्रा लाजाः दृषत् लोहितमानडुहं चर्म कुमार्या भ्राता आचार्याय वरद्रव्यम् । आज्यभागान्ते आज्येनैव भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा । त्वन्नो० । स त्वन्नो० । अयाश्चाग्ने० । येते शतं० । उदुत्तमम्० । एतत्सर्वप्रायश्चित्तं हुत्वा राष्ट्रभृद्धोमः, तत्र नान्वारम्भः । ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय न मम ॥ १ ॥ ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदोनाम ताभ्यः स्वाहा, इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्य मुद्भ्यो न मम ॥ २ ॥ सᳫँहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं सᳫँहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय न मम ॥ ३ ॥ सᳫँहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा । इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यो न मम ॥ ४ ॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमार्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय न० ॥ ५ ॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो न मम ॥ ६ ॥ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदमिषि-

(गदाधर०)

राय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय न मम ॥ ७ ॥ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्भ्यो न० ॥ ८ ॥ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्, इदं भुज्यवे सुपर्णा यज्ञाय गन्धर्वाय न मम ॥ ९ ॥ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यस्तावाभ्यो न मम ॥ १० ॥ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वा० ॥ ११ ॥ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनोगन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा, इदमृक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यो न मम ॥ १२ ॥ इति राष्ट्रभृद्धोमः।

अथ जयाहोमः

चित्तं च स्वाहा, इदं चित्ताय न मम । न ममेति सर्वत्र वाच्यम् । चित्तिश्च स्वाहा, इदं चित्यै० । आकूतं च स्वाहा, इदमाकूताय० । आकूतिश्च स्वाहा, इदमाकूत्यै० । विज्ञातं च स्वाहा, इदं विज्ञाताय० । विज्ञातिश्च स्वा० इदं विज्ञात्यै० । मनश्च स्वाहा इदं मनसे । शक्करीश्च स्वाहा, इदं शक्करीभ्यः० । दर्शश्च स्वाहा, इदं दर्शाय० । पौर्णमासं च स्वाहा, इदं पौर्णमासाय० । बृहच्च स्वाहा, इदं बृहते० । रथन्तरं च स्वाहा, इदं रथन्तराय न मम । प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा, इदं प्रजापतये० । ॐ कारस्तु सर्वत्र योज्यः । इति जयाहोमः ।

अथाभ्यातानहोमः

अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳪं स्वाहा, इदमग्नये भूतानामधिपतये न मम ॥ १ ॥ इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मा० त्याᳪं स्वाहा, इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये० ॥ २ ॥ वक्ष्यमाणेषु सर्वमन्त्रेषु समावत्वित्यादि मन्त्रशेषस्यानुषङ्गः । यमः पृथिव्या अधिपतिः स० हूत्याᳪं स्वाहा, इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये० ॥ ३ ॥ अत्रोदकालम्भ इति वासुदेवः । वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० इदं वायवेऽन्तरिक्षस्याधिपतये० ॥ ४ ॥ सूर्यो दिवोऽधिपतिः स० इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये० ॥ ५ ॥ चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये० ॥ ६ ॥ बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स० इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये० ॥ ७ ॥ मित्रः सत्यानाधिपतिः स० इदं मित्राय सत्यानामधिपतये० ॥ ८ ॥ वरुणोऽपामधिपतिः स० इदं वरुणायापामधिपतये० ॥ ९ ॥ समुद्रः स्रोत्याना मधिपतिः स० इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये० ॥ १० ॥ अन्नᳪं साम्राज्यानामधिपति तन्मावत्वस्मिन्ब्रह्मण्य० इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये० ॥ ११ ॥ सोम ओषधीनामधिपतिः स० इदं सोमायौषधीनामधिपतये० ॥ १२ ॥ सविता प्रसवानामधिपतिः स० इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये० ॥ १३ ॥ रुद्रः पशूनामधिपतिः स० इदं रुद्राय पशूनामधिपतये० ॥ १४ ॥ उदकस्पर्शनम् । त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स० इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये० ॥ १५ ॥ विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स० इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये० ॥ १६ ॥ मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्नित्यादि, इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यो० ॥ १७ ॥ पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहाः इह मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मणीत्यादि, इदं

(गदाधर०)

पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च० ॥ १८ ॥ उदकोपस्पर्शः । इत्यभ्यातानहोमः ॥

अग्निरैतु प्रथमो देवतानां० रोदात्स्वाहा, इदमग्नये० ॥ १ ॥ इमामग्निस्त्रायतां इदमग्नये० ॥ २ ॥ स्वस्तिनो अग्ने० त्रर्द् स्वाहा, इदमग्नये० ॥ ३ ॥ सुगन्नुपन्था० कृणोतु स्वाहा, इदं वैवस्वताय० ॥ ॥ ४ ॥ परं मृत्यो अनु० वीरान्स्वाहा, इदं मृत्यवे० । उदकोपस्पर्शः । संस्रवप्राशनान्ते वा अयं होमः । ततः कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति, तान्कुमारी त्रिःकृत्वो जुहोति । 'अर्यमणम्०' इति प्रथमाम् , इदमग्नये न ममेति वरस्य त्यागः । 'इयं नार्युपब्रूते०' इति द्वितीयाम् , इदमग्नये० । इमाँल्लाजानावपामि०, इति तृतीयाम् , इदमग्नये० । कन्यैव मन्त्रत्रयं पठति । ततो वरो 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' इत्याद्यारभ्य 'शरदः शतम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण कन्याया अङ्गुष्ठसहितं दक्षिणं हस्तं गृह्णाति । अथैनामश्मानमारोहयति दक्षिणपादेनोत्तरतः स्थापितम्' 'आरोहेममश्मानम्' इति मन्त्रेण । वरस्य मन्त्रपाठः । ततो वरः—'सरस्वती प्रेदमव०' इतीमां गाथां पठति । अथ वधूवरौ अग्नेः प्रदक्षिणं परिक्रामतः तुभ्यमग्रे पर्यवहन्' इति वरपठितमन्त्रेण । ततो लाजावपनादि परिक्रमणान्तं पुनर्वारद्वयं कुर्यात् । ततस्तृतीयपरिक्रमणान्ते शूर्पकोणेन सर्वलाजानामञ्जलौ प्रक्षेप ततः कुमारी तान् जुहोति 'भगाय स्वाहा' इति, 'इदं भगाय न मम' इति वरः । अत्राचारात्तूर्णीं चतुर्थं परिक्रमं कुरुत इति रेणुदीक्षितादयः । ततो वर आज्येन प्रजापतये स्वाहेति, इदं प्रजापतये० । अथैनामुदीचीँ सप्तपदानि प्रक्रामयति तत्र वरः'सप्तपदानि प्रक्रमस्व' इति ब्रूयात् । 'एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु' इति मन्त्रं पठित्वा प्रथमम् । 'द्वे ऊर्जे विष्णु०' द्वितीयम् । 'त्रीणि रायस्पोषाय वि०' तृतीयम् । 'चत्वारि मायोभवाय वि०' चतुर्थम् । 'पञ्च पशुभ्यो वि०' पञ्चमम् । 'षडृतुभ्यो वि०' षष्ठम् । 'सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव' इति सप्तमम् । ततो वरः पूर्वधृतादुदकुम्भादुदकमादाय 'आपः शिवा०' इति मन्त्रेण वधूमूर्द्धन्यभिषिञ्चति ततो वरः 'सूर्यमुदीक्षस्व' इति वधूं प्रेरयति । सा च 'तच्चक्षुः' इत्यादि 'शृणुयाम शरदः शतम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते । ततो वरो वध्वा दक्षिणस्कन्धोपरि हस्तं नीत्वा 'मम व्रते' इति मन्त्रेण तस्या हृदयमालभते । ततो वरो वधूमभिमन्त्रयते 'सुमङ्गलीः०' इति । अत्राचारात्स्त्रियः सिन्दूरदानादि कुर्वन्ति । ततो वरस्तामुत्थाप्य प्राच्यामुदीच्यां वा परिवृते रोहितानडुहे उपवेशयति 'इह गावः' इति । ततो वर आगत्य पश्चादग्नेरुपविश्य 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इति जुहोति, इदमग्नये स्विष्टकृते० । संस्रवप्राशनं, मार्जनं, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोकः, ब्रह्मणे दक्षिणादानम् ततः स्वकीयायाचार्याय गां ददाति ब्राह्मणश्चेत् । ततोऽस्तमिते वरो ध्रुवं दर्शयति 'ध्रुवमसि' इति मन्त्रेण । सा च तूर्ष्णीं ध्रुवं पश्यति । सा यदि ध्रुवं न पश्येत् तदा पश्यामीत्येव ब्रूयात् । ततो दम्पत्योरक्षारादिनियमाः । इति विवाहे पदार्थक्रमः ॥

अथ देवकोत्थापनमण्डपोद्वासनविधिः

तत्र कालः—

समे च दिवसे कुर्याद्देवकोत्थापनं बुधः । षष्ठं च विषमं नेष्टं मुक्त्वा पञ्चमसप्तमौ ॥

समेषु षष्ठ विषमेषु पञ्चमसप्तमातिरिक्तं दिनं नात्रेष्टमित्यर्थः । संकल्पपूर्वकं सर्वा देवताः प्रत्येकं पूजयित्वा 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते' इति विसर्जयेत् । मण्डपोद्वासनं यथाकुलाचारं कृत्वा द्विजाशिषो मन्त्रोक्ता गृह्णीयात् ।

(गदाधर०)

अथ वध्वाः प्रथमगृहप्रवेशः—

वधूप्रवेशः प्रथमे तृतीये शुभप्रदः पञ्चमकेऽथवाऽह्नि ।
द्वितीयके वाऽथ चतुर्थके वा षष्ठे वियोगामयदुःखदः स्यात् ॥

लल्लः—

स्वभवनपुरप्रवेशे देशानां विप्लवे तथोद्वाहे । नववध्वां गृहागमने प्रतिशुक्रविचारणा नास्ति॥
नित्ययाने गृहे जीर्णे प्राशनान्तेषु सप्तसु । वधूप्रवेशमाङ्गल्ये न मौढ्यं गुरुशुक्रयोः ॥

ज्योतिःप्रकाशे—

वामे शुक्रे नवोढायाः सुखहानिश्च दक्षिणे । धनं धान्यं च पृष्ठस्थे सर्वनाशः पुरःस्थिते ॥
नवोढायास्तु वैधव्यं यदुक्तं संमुखे भृगौ । तदेव विबुधैर्ज्ञेयं केवलं तद्द्विरागमे ॥
पूर्वतोऽभ्युदिते शुक्रे प्रयायाद्दक्षिणापरे । पश्चादभ्युदिते चैव यायात्पूर्वापरे दिशौ ॥

तथा भाद्रपदमासमारभ्य पूर्वादिमुख्यदिक्षु प्रतिदिशं मासत्रयं कपाटं ज्ञेयम् । चैत्रमारभ्य पूर्वाद्यष्टदिक्षु मुख्यदिशि मासद्वयं विदिक्ष्वेकमासं क्रमेण कण्टकं जानीयात् । इदं द्वयं ग्रामान्तरे नववधूगमने वर्ज्यम् । नियतकालेऽपि कदाचिन्निषेधमाह गर्गः—
व्यतीपाते च संक्रान्तौ ग्रहणे वैधृतावपि । श्राद्धं विना शुभं नैव प्राप्तकालेऽपि मानवः ॥

तथा—

अमासंक्रान्तिविष्ट्यादौ प्राप्तकालेऽपि नाचरेत् । इति ।
विवाहात्प्रथमे पौषे आषाढे चाधिमासके । भर्तृगृहे वसेन्न स्त्री चैत्रे तातगृहे तथा ॥

इति वधूगृहगमनविधिः ।

अथ गर्गमते पदार्थक्रमे विशेषः—

अग्निस्थापनादि ब्राह्मणतर्पणान्तं विवाहकर्म । प्रथममाचार्यकर्तृकमग्निस्थापनम् । ततो मधुपर्कादि । अर्चयेति वरः । विष्टरो विष्टरो विष्टराविषयन्यः । प्रतिगृह्यतामिति दाता । प्रतिगृह्णामीति वरः । एवमग्रे सर्वत्र पाद्यादौ ज्ञेयम् । एकस्मिन्विष्टरे आसनम् । तदैव तेनैव मन्त्रेण पादयोरधस्तान्निधानं द्वितीयविष्टरस्य । प्राणसंमर्शनेनास्त्वित्यध्याहारः सर्वत्र । गोरालम्भान्ते लौढशान्तिवाचनं पुण्याहवाचनस्थाने । ततो मधुपर्कार्चनसमापनम् । ततः सदक्षिणं कन्यादानम् । ततः कौतुकागारं प्रविशति । युवतीनां मङ्गलाचारयुक्तानां प्रतिकूलभावेन प्रविशति अन्यत्राभक्ष्यपातकेभ्यः । तत आचार्यो वासः परिधापयति 'जरां गच्छ' इति, उत्तरीयं च । ततः समञ्जनम् । अध्येपणमाचार्यस्य । कङ्कणबन्धनं परस्परम् । दक्षिणहस्तेन पाणिं गृहीत्वा निष्क्रामति 'यदैषि०' इति । कन्यानामग्रहणे आचार्यः । परस्परं समीक्षणम् । उदकुम्भं स्कन्धे कृत्वाऽवस्थेयम् । ततः प्रदक्षिणमग्निं परीत्य पश्चादग्नेस्तेजन्यां कटे दक्षिणपादं दत्त्वोपवेशनम्। ब्रह्मोपवेशनादिसर्वप्रायश्चित्तान्ते विशेषः । आसादने चरोरभावः । शूर्पे शमीपलाशमिश्रा लाजाः । दृषदुपले च । आनडुहम् । भ्राता । वरश्च । पर्युक्षणान्ते आघारादि सर्वप्रायश्चित्तान्तम् । राष्ट्रभृदादीनामिच्छया होमः । राष्ट्रभृद्धोमे 'ऋताषा०-स न इदं०' इति प्रथमः । 'तस्यौषधयः' इति द्वितीयः । एवमग्रेऽपि । ततो जयाहोमः । तत्र चित्ताय स्वाहेति चतुर्थ्यन्तेन प्रयोग इति श्रीअनन्तो दाक्षायणयज्ञे "स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्" इति सूत्रे । नेति गर्गः । ततोऽभ्यातानहोमः । ततः 'अग्निरैतु०' इत्याहुतिचतुष्टयम् । 'परं मृत्योः' इति चात्र । ततः कुमार्या हस्तयोरुपस्तरणं भ्रातुः । माता कुमारीहस्तलेपनं

(गदाधर०)

ददाति । लाजानामावपनमञ्जलौ । प्रत्यभिघारणम् । सव्यसंहतेन दक्षिणेन होमः । 'इदमर्यम्णे०' इति प्रथमस्य त्यागः । द्वितीयतृतीययोः 'अग्नये०' । 'अर्यमणम्०' इति त्रयाणां मन्त्राणां पाठो वरस्य । पाणिग्रहणम् । 'अश्मानमारोहस्व'इति प्रैषपूर्वकमारोहणम् । परिक्रमणम् । एवं वारद्वयं लाजादिपरिक्रमणान्तम् । 'भगाय स्वाहा' इत्यनेन विग्राहं वारत्रयं होमः, तूष्णीं परिक्रमणम् । प्रजापतये होमः । सप्तपदानि । अभिषेकः । ततस्तिसृभिश्च प्रैषपूर्वकं सूर्यावेक्षणम् । हृदयालम्भः । अभिमन्त्रणम् । शकटे चर्मास्तीर्णे वरः कन्यामुपवेशयति । स्विष्टकृद्धोमः । संस्रवभक्षः । 'परं मृत्यो'इत्यत्र वा होमः । मार्जनम् । पवित्रप्रतिपत्तिः ब्रह्मणे दक्षिणादानम् । आचार्याय गोदानम् । अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति प्रैषपूर्वकम् । 'ध्रुवमसि' इति वध्वाः पाठः । बर्हिर्होमः । प्रणीताविमोकः । कर्मापवर्गे समिदाधानम् । उत्सर्जनम् । ब्रह्मण उपयमनकुशानामग्नौ प्रक्षेपः । ब्राह्मण भोजनम् । इति गर्गमते विशेषः ।

अथ पुनर्विवाहः

कृते विवाहे पञ्चाङ्गशुद्धिराहित्यादिदोषश्चेत् ज्ञातः तदा ज्योतिःशास्त्रोक्तकालविशेषे पुनर्विवाहः कार्यः । तदाह नृसिंह श्रीधरीये—

पुनर्विवाहं वक्ष्यामि दम्पत्योशुभवृद्धिदम् । लग्नेन्दुलग्नयोर्दोषे ग्रहतारादिसम्भवे ॥
अन्येष्वशुभकालेषु दुष्टयोगादिसम्भवे । विवाहे चापि दम्पत्योराशौचादिसमुद्भवे ॥
तस्य दोषस्य शान्त्यर्थं पुनर्वैवाह्यमिष्यते । अयन चोत्तर श्रेष्ठं वर्द्धयेत्तु विशेषतः ॥
आषाढमार्गशीर्षौ द्वौ वर्ज्यौ शेषाः शुभावहाः । विवाहोक्तर्क्षतिथ्यन्ता राशिवारादिवर्गजाः ॥
करणा योगसंज्ञा वै ग्रहगोचरयोगकाः । तस्मिन्विवाहसमये शुभदाश्च तथैव हि ॥
पूर्वास्ते पूर्वरात्रे च विवाहः शुभदो भवेत् ॥

अथ द्वितीयादिविवाहविधिः । तत्राधिवेदनीया आह याज्ञवल्क्यः—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्याऽर्थघ्न्यप्रियंवदा । स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ॥
अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।

अधिवेत्तव्या तदुपरि स्त्र्यन्तरं कर्तव्यमित्यर्थः । आपस्तम्बः'धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत' इति । अधिवेदने प्रतीक्षाकालं । मनुराह—

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेत्तव्या दशमे तु मृतप्रजा । एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥
रत्यर्थे तु विवाहान्तरे विशेषः ।

एकामुत्क्रम्य कामार्थमन्यां लब्धुं य इच्छति । समर्थस्तोषयित्वाऽर्थैः पूर्वोढामपरां वहेत् ॥

याज्ञवल्क्यस्तु—

आज्ञासम्पादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम् । त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः ॥

सधनो धनतृतीयांशमधनोऽशनाच्छादनात्मकं भरणं दाप्य इत्यर्थः । या त्वेतावताऽपरितुष्टा गृहान्निर्गच्छेत्तां प्रत्याह मनुः—

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रोषिता गृहात् ।

सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ ॥ इति । बहुभार्यो ज्येष्ठयैव सह धर्मे सपत्नीकसाध्यं कुर्यादिति हेमाद्रौ कात्यायनः ।

(गदाधर०)

अग्निशिष्टादिशुश्रूषां बहुभार्यः सवर्णया।
कारयेत्तद्बहुत्वं चेज्ज्येष्ठया गर्हिता न चेत् ॥ इति।

शिष्टशुश्रूषा आतिथ्यादिपूजा। सा च पत्नीसम्पाद्यधर्ममात्रोपलक्षणार्था। गर्हिता धर्मायोग्यत्वापादकपातित्यादिदोषवती न चेदित्यर्थः। तादृशी चेन्न तया, किंत्वनेवंविधया कनिष्ठयाऽपि कारयेत्। याज्ञवल्क्यः—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत। सवर्णासु विधौ धर्मे ज्येष्ठया न विनेतरा ॥

अन्यामसवर्णाम्। इदं चाधाने सहाधिकृतानेकभार्याविषयम्। अनधिकृतायास्तु प्रसक्त्यभाव एव। तत्रापि केवलकर्त्त्वर्थमाज्यावेक्षणादि यजमानौदुम्बरीसमानवदेकयैव सवर्णया ज्येष्ठया कारयेत्। पत्नीसंनहनादि तु कर्तृसंस्कारकं सहाधिकृताभिः सवर्णाभिरित्यादि मीमांसामांसलमनसां सुज्ञानम्। द्वितीयादिविवाहेऽग्निनियममाहहोमाय कात्यायनः—

सदारोऽन्यान्पुनर्दारानुद्वोढुं कारणान्तरात्। यदीच्छेदग्निमान्कुर्वन्क्व होमोऽस्य विधीयते ॥
स्वाग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचन ॥ इति।

अयं च नियमः सम्भवे। ग्रामान्तरादावसम्भवे तु लौकिकाग्नौ। अत्र द्वितीयादिविवाहे जीवत्पितृकोऽपि स्वयमेव नान्दीश्राद्धं कुर्यात्।

नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः। अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम् ॥

इति स्मृतेः। तत्र पितृवर्गं विहाय मातृमातामहवर्गयोः कुर्यात्। मातरि जीवत्यां मातामहवर्गस्यैव। तस्मिन्नपि जीवति द्वारलोपाद् वृद्धिश्राद्धलोप एव। सोऽपि साग्निकश्चेद्येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यः स्वयमपि दद्यात्।

येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः।

इति वचनात्। अन्ये तु असाग्निकोऽपि पितृदेवताभ्यो दद्यान्नतु लोपः।

वृद्धौ तीर्थे च संन्यस्ते ताते च पतिते सति। येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः ॥

इति मैत्रायणीयपरिशिष्टादित्याहुः। द्वितीयादिविवाहे कालविशेषः संग्रहे—

प्रमदामृतिवासरादितः पुनरुद्वाहविधिर्वरस्य च।
विषमे परिवत्सरे शुभो युगले चापि मृतिप्रदो भवेत् ॥
जीवन्त्यां पूर्वपत्न्यां द्वितीयादिविवाहे नायं कालनियमः

अथ तृतीयमानुषीविवाहस्य निषिद्धत्वात्तस्मिन्कर्तव्येऽर्कविवाहविधिः। तृतीयादिनिषेधमाह काश्यपः—

तृतीयां मानुषीं नैव चतुर्थीं यः समुद्वहेत्। पुत्रपौत्रादिसंपन्नः कुटुम्बी साग्निको वरः ॥
उद्वहेद्रतिसिद्ध्यर्थं तृतीयां न कदाचन। मोहादज्ञानतो वाऽपि यदि यच्छेत्तु मानुषीम् ॥
नश्यत्येव न संदेहो गर्गस्य वचनं यथा ॥

अन्यत्रापि—

तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्।

सङ्ग्रहे—

तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्। चतुर्थादिविवाहार्थं तृतीयार्कं समुद्वहेत् ॥
आदित्यदिवसे वाऽपि हस्तर्क्षे वा शनैश्चरे। शुभे दिने वा पूर्वाह्णे कुर्यादर्कविवाहकम् ॥
देशादि ब्रह्मपुराणे दर्शितम्।

(गदाधर०)

ग्रामात्प्राच्यामुदीच्यां वा सपुष्पफलसंयुतम् ।
परीक्ष्यार्कं ततोऽधस्तात्स्थण्डिलादि यथाविधि ॥

व्यासः—

स्नात्वाऽलङ्कृतवासास्तु रक्तगन्धादिभूषितम् । सपुष्पफलशाखैकमर्कगुल्मं समाश्रयेत् ॥
सल्लक्षणेन संयुक्तमर्कं संस्थाप्य यत्नतः । अर्ककन्याप्रदानार्थमाचार्यं कल्पयेत्पुरा ॥
अर्कसंनिधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत् । नान्दीश्राद्धे हिरण्येन अष्टवर्गान्प्रपूजयेत् ॥
पूजयेन्मधुपर्केण वरं विप्रस्य हस्ततः । यज्ञोपवीतं वस्त्रं च हस्तकर्णादिभूषणम् ॥
उष्णीषगन्धमाल्यादि वरायास्मै प्रदापयेत् । स्वशाखोक्तप्रकारेण मधुपर्कं समाचरेत् ॥

ब्रह्मपुराणे—यथाविधीत्यस्यानन्तरं

कृत्वाऽर्कं पुरतस्तिष्ठन्प्रार्थयेत द्विजोत्तमः । त्रिलोकवासिन् सप्ताश्वच्छायया सहितो रवे ॥
तृतीयोद्वाहजं दोषं निवारय सुखं कुरु । तत्राध्यारोप्य देवेशं छायया सहितं रविम् ॥
वस्त्रैर्माल्यैस्तथा गन्धैस्तन्मन्त्रेणैव पूजयेत् ।

तन्मन्त्रेण 'आकृष्णेन' इत्यादिना । अन्यत्रापि—

श्वेतवस्त्रेण संवेष्ट्य तथा कार्पासतन्तुभिः । गन्धपुष्पैः समभ्यर्च्याप्यविलङ्गैरभिषिच्य च ॥
गुडौदनं तु नैवेद्यं ताम्बूलं च समर्पयेत् । अर्कं प्रदक्षिणं कुर्वन् जपेन्मन्त्रमिमं बुधः ॥
मम प्रीतिकरा येयं मया सृष्टा पुरातनी । अर्कजा ब्रह्मणा सृष्टा अस्माकं परिरक्षतु ॥
पुनः प्रदक्षिणां कुर्यान्मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् । नमस्ते मङ्गले देवि नमः सवितुरात्मजे ॥
त्राहि मां कृपया देवि पत्नीत्वं मे इहागता । अर्क त्वं ब्रह्मणा सृष्टः सर्वप्राणिहिताय च ॥
वृक्षाणामादिभूतस्त्वं देवानां प्रीतिवर्द्धनः । तृतीयोद्वाहजं पापं मृत्युं चाशु विनाशय ॥
ततश्च कन्यावरणं त्रिपुरुषं कुलमुच्चरेत् । आदित्यः सविता सूर्यः पुत्री पौत्री च नप्त्रिका ॥
गोत्रं काश्यप इत्युक्तं लोके लौकिकमाचरेत् । सुमुहूर्तेऽर्कं निरीक्षेत स्वस्तिसूक्तमुदीरयन् ॥
आशीर्भिः सहितः कुर्यादाचार्यप्रमुखैर्द्विजैः । अथाचार्यं समाहूय विधिना तन्मुखाच्च ताम् ॥
प्रतिगृह्य ततो होमं गृह्योक्तविधिनाऽऽचरेत् ।

आचार्यस्य दानमन्त्रमाह—व्यासः—

अर्ककन्यामिमां विप्र यथाशक्ति विभूषिताम् । गोत्राय शर्मणे तुभ्यं दत्तां विप्र समाश्रय ॥
अश्वत्थक्षतकर्माणि कृत्वा कङ्कणपूर्वकम् । यावत्पञ्चावृतं सूत्रं तावदर्कं प्रदर्शयेत् ॥
स्वशाखोक्तेन मन्त्रेण गायत्र्या वाऽथवा जपेत् । पञ्चीकृत्य पुनः सूत्रं स्कन्धे बध्नाति मन्त्रतः॥
बृहत्सामेति मन्त्रेण सूत्ररक्षां प्रकल्पयेत् । अर्कस्य पुरतः पश्चाद्दक्षिणोत्तरतस्तथा ॥
कुम्भांश्च निक्षिपेत्पश्चादाग्नेयादिचतुष्टये । सवस्त्रं प्रतिकुम्भं च त्रिः सूत्रेणैव वेष्टयेत् ॥
हरिद्रागन्धसंयुक्तं पूरयेच्छीतलं जलम् । प्रतिकुम्भं महाविष्णुं संपूज्य परमेश्वरम् ॥
अत्र होमप्रकारः शौनकेन प्रदर्शितः ।

तृतीये स्त्रीविवाहे तु संप्राप्ते पुरुषस्य तु । अर्कविवाहं वक्ष्यामि शौनकोऽहं विधानतः ॥
अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत् । नान्दीश्राद्धं प्रकुर्वीत स्थण्डिलं च प्रकल्पयेत् ॥
अर्कमभ्यर्च्य सौर्या च गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
(सौर्या सूर्यदेवत्यया आकृष्णेनेत्यादिऋचा ।)
स्वयं चालंकृतस्तद्वद्वस्त्रमाल्यादिभिः शुभैः ॥
अर्कस्योत्तरदेशे तु समन्वारब्ध एतया । (एतया कन्यया)

(गदाधर०)

उल्लेखनादिकं कुर्यादाघारान्तमतः परम् ॥
आज्याहुतिं च जुहुयात्सङ्गोभिरनयैकया । यस्मै त्वा कामकामायेत्येतयर्चा ततः परम् ॥
व्यस्ताभिश्च समस्ताभिस्ततश्च स्विष्टकृद्भवेत् । परिषेचनपर्यन्तमथाश्रेत्यादिकं क्रमात् ॥

प्रार्थनामन्त्रादिविशेषमाह व्यासः—
पुनः प्रदक्षिणं कृत्वा मन्त्रमेतमुदीरयेत् । मया कृतमिदं कर्म स्थावरेषु जरायुणा ॥
अर्कापत्यानि नो देहि तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि ।
इत्युक्त्वा शान्तिसूक्तानि जप्त्वा तं विसृजेत्पुनः ॥
गायुग्मं दक्षिणां दद्यादाचार्याय च भक्तितः ।
इतरेभ्योऽपि विप्रेभ्यो दक्षिणां चाभिशक्तितः ॥
तत्सर्वं गुरवे दद्यादन्ते पुण्याहमाचरेत् ॥

अत्र पञ्चमदिने कर्तव्यमुक्तं ब्रह्मपुराणे—
चतुर्थे दिवसेऽतीते पूर्ववत्तां प्रपूज्य च । विसृज्य होममग्निं च विधिना मानुषीं परम् ॥
उद्वहेदन्यथा नैव पुत्रपौत्रादिवृद्धिमान् । न पशून्न च मित्राणि मङ्गलं नैव गच्छति ॥
एवमेव द्विजश्रेष्ठ विधिना सम्यगुद्वहेत् । धनधान्यसमृद्धिश्च इच्छाशक्तिः परत्र च ॥ इति ।

अत्रैवं संक्षेपतः प्रयोगः—उक्ते आदित्यवारादौ उक्ते देशे यथोक्तार्कसमीपे गत्वाऽऽचम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य मम तृतीयमानुषीविवाहजदोषाभावार्थमर्कविवाहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य आचार्यवरणस्वस्तिवाचनाद्युक्तक्रमेण कुर्यात् । अत्र होमे विशेषः—देशादि संकीर्त्यार्कविवाहाङ्गभूतं होमं करिष्ये । ततोऽग्निस्थापनाद्याघारान्तं कृत्वा आज्येन षडाहुतीर्जुहुयात् । सङ्गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय । जनेमित्रानदम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूरिवाजौ स्वाहा, इदं बृहस्पतये न मम । यस्मै त्वा कामकामाय वयं सम्राड्यजामहे । तमस्मभ्यं कामं दत्त्वाऽथेदं त्वं घृतं पिब स्वाहा, इदमग्नये न मम । भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा, त्यागा उक्ताः । ततः स्विष्टकृन्नवाहुत्यादिशेषं समापयेत् । ततः प्रदक्षिणप्रार्थनादिकमंशेषसमापनम् । इत्यर्कविवाहः ॥

अथैकक्रियानिर्णयः । तत्र वृद्धमनुः—
एकमातृजयोरेकवत्सरे पुरुषस्त्रियोः । न समानक्रियां कुर्यान्मातृभेदे विधीयते ॥
अत एकस्य पुंसो विवाहद्वयमेकवत्सरे निषिद्धं मातृभेदाभावात् ।

नारदः—
पुत्रोद्वाहात्परं पुत्रीविवाहो न ऋतुत्रये । न तयोर्व्रतमुद्वाहान्मण्डनादपि मुण्डनम् ॥

वराहः—
विवाहस्त्वेकजातानां षण्मासाभ्यन्तरे यदि । असंशयं त्रिभिर्वर्षैस्तत्रैका विधवा भवेत् ॥

वसिष्ठः—
न पुंविवाहोर्ध्वमृतुत्रयेऽपि विवाहकार्यं दुहितुः प्रकुर्यात् ।
न मण्डनाच्चापि हि मुण्डनं च गोत्रैकतायां यदि नाब्दभेदः ॥
एकोदरभ्रातृविवाहकृत्यं स्वसुर्न पाणिग्रहणं विधेयम् ।
षण्मासमध्ये मुनयः समूचुर्न मुण्डनं मण्डनतोऽपि कार्यम् ॥

एतदपवादोऽप्यत्रैव—
ऋतुत्रयस्य मध्ये चेदन्याब्दस्य प्रवेशनम् । तदा ह्येकोदरस्यापि विवाहस्तु प्रशस्यते ॥

(गदाधर०)

सारावल्याम्—

फाल्गुने चैत्रमासे तु पुत्रोद्वाहोपनायने । भेदादब्दस्य कुर्वीत नर्तुत्रयविलम्बनम् ॥

संहिताप्रदीपे—

ऊर्ध्वं विवाहात्तनयस्य नैव कार्यो विवाहो दुहितुः समार्द्धम् ।
अप्राप्य कन्यां श्वशुरालयं च वधूं प्रवेश्यात्स्वगृहं न चादौ ॥

वसिष्ठः—

द्विशोयनं त्वेकगृहेऽपि नेष्टं शुभं तु पश्चान्नवभिर्दिनैस्तु ।
आवश्यकं शोभनमुत्सवो वा द्वारेऽथ वाऽऽचार्यविभेदतो वा ॥

एकोदरप्रसूतानां नाग्निकार्यं भवेत् । भिन्नोदरप्रसूतानां नेति शातातपोऽब्रवीत् ॥

ज्योतिर्निबन्धे कात्यानः—

कुले ऋतुत्रयादर्वाङ् मण्डनान्न तु मुन्डनम् । प्रवेशान्निर्गमो नेष्टो न कुर्यान्कन्नलत्रयम् ॥
कुर्वन्ति मुनयः केचिदन्यस्मिन्वत्सरे लघु । लघु वा गुरु वा कार्यं प्राप्तं नैमित्तिकं तु यत् ॥
पुत्रोद्वाहः प्रवेशाख्यः कन्योद्वाहस्तु निर्गमः । मुण्डनं चौलमित्युक्तं व्रतोद्वाहौ तु मङ्गलम् ॥
चौलं मुण्डनमेवोक्तं वर्जयेन्मण्डनात्परम् । मौञ्जी चोभयतः कार्या यतो मौञ्जी न मुण्डनम् ॥
अभिन्ने वत्सरेऽपि स्यात्तदहस्तं न भेदयेत् । अभेदे तु विनाशः स्यान्न कुर्यादेकमण्डपे ॥

संकटे तु कपर्दिकारिकासु—

उद्वाह्य पुत्रीं न पिता विदध्यात्पुम्यन्तरस्योद्वहनं कदाऽपि ।
यावच्चतुर्थं दिनमत्र पूर्वं समाप्य चान्योद्वहनं विदध्यात् ॥

काश्यपः—

मौञ्जीबन्धस्तथोद्वाहः षण्मासाभ्यन्तरेपि वः । पुत्र्युद्वाहं न कुर्वीत विभक्तानां न दोषकृत् ॥

गार्ग्यः—

भ्रातृयुगे स्वसृयुगे भ्रातृस्वसृयुगे तथा । न कुर्यान्मङ्गलं किञ्चिदेकस्मिन्मण्डपेऽहनि ॥

ज्योतिर्विवरणे—

एकोदरयोर्द्वयोरेकं दिजोद्वहने भवेन्नाशः । नद्यन्तरे त्वेकतिनं केऽप्याहुः संकटे च शुभम ॥

ऊर्ध्वं विवाहाच्छुभदो नरस्य नारीविवाहो न ऋतुत्रये स्यात ।
नारीविवाहात्तदहेऽपि शस्तं नरस्य पाणिग्रहमाहुरार्याः ॥

भिन्नमातृजयोस्तु एकवासरे विवाहमाह मेधातिथिः—

पृथङ्मातृजयोः कार्यो विवाहस्त्वेकवासरे । एकस्मिन्मण्डपे कार्यः पृथग्वेदिकयोस्तथा ।
पुष्पपट्टिकयोः कार्यं दर्शनं न शिरस्थयोः । भगिनीभ्यामुभाभ्यां च यावत्सप्तपदी भवेत् ॥

यमलयोस्तु विशेषः गार्ग्यः—

एकस्मिन्वासरे प्राप्ते कुर्याद्यमलजातयोः । क्षौरं चैव विवाहं च मौञ्जीबन्धनमेव च ॥

तथा भट्टकारिकायाम्—

एकस्मिन्वत्सरे चैवं वासरे मण्डपे तथा । कर्तव्यं मङ्गलं स्वस्त्रोर्भ्रात्रोर्यमलजातयोः ॥ इति ॥

अथ कन्यागृहे भोजननिषेधः मदनरत्ने भविष्ये—

अप्रजायां तु कन्यायां न भुञ्जीत कदाचन । दौहित्रस्य मुखं दृष्ट्वा किमर्थमनुशोचति ॥

(गदाधर०)

अपरार्के आदित्यपुराणे—

विष्णुं जामातरं मन्ये तस्य कोपं न कारयेत्। अप्रजायां तु कन्यायां नाश्नीयात्तस्य वै गृहे॥

यदि भुञ्जीत मोहाद्वा पूयाशी नरकं व्रजेत् ॥ इति ।

अथ नान्दीश्राद्धानन्तरं धर्माः निर्णयदीपे गार्ग्यः—

नान्दीश्राद्धे कृते पश्चाद्यावन्मातृविसर्जनम्। दर्शश्राद्धं स्नानं शीतोदकेन च ॥

अपसव्यं स्वधाकारं (१)नित्यश्राद्धं तथैव च। ब्रह्मयज्ञं चाध्ययनं नदीसीमातिलङ्घनम् ॥

उपवासव्रतं चैव श्राद्धभोजनमेव च। नैव कुर्युः सपिण्डाश्च मण्डपोद्वासनावधि ॥

ज्यौतिषे—

स्नानं सचैलं तिलमिश्रकर्म प्रेतानुयानं कलशप्रदानम् ।
अपूर्वतीर्थामरदर्शनं च विवर्जयेन्मङ्गलतोऽब्दमेकम् ॥
पितॄणामुद्देशेन कलशदानमित्यर्थः ।

मासषट्कं विवाहादौ व्रतप्रारम्भणं न च। जीर्णभाण्डादि न त्याज्यं गृहसंमार्जनं तथा ॥

ऊर्ध्वं विवाहात्पुत्रस्य तथा च व्रतबन्धनात्। आत्मनो मुण्डनं नैव वर्षं वर्षार्द्धमेव च ॥

अभ्यङ्गे सूतके चैव विवाहे पुत्रजन्मनि। माङ्गल्येषु च सर्वेषु न धार्यं गोपिचन्दनम् ॥

बृहस्पतिः—

तीर्थे विवाहे यात्रायां सङ्ग्रामे देशविप्लवे। नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥

योगियाज्ञवल्क्यः—

न स्नायादुत्सवेऽतीते मङ्गलं विनिवर्त्य च। अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्चयित्वेष्टदेवताम् ॥

ज्योतिर्निबन्धे—

उद्वाहात्प्रथमे शुचौ यदि वसेद्भर्तुर्गृहे कन्यका
हन्यात्तज्जननीं क्षये निजतनुं ज्येष्ठे पतिज्येष्ठकम् ।
पौषे च श्वशुरं पतिं च मलिने चैत्रे स्वपित्रालये
तिष्ठन्ती पितरं निहन्ति न भयं तेषामभावे भवेत् ॥

निबन्धे—

विवाहात्प्रथमे पौषे आषाढे चाधिमासके। न सा भर्तृगृहे तिष्ठेच्चैत्रे पितृगृहे तथा ॥

हेमाद्रौ स्मृत्यन्तरे—

विवाहव्रतचूडासु वर्षमर्द्धं तदर्द्धकम्। पिण्डदानं मृदास्नानं न कुर्यात्तिलतर्पणम् ॥

स्मृतौ—

महालये गयाश्राद्धे मातापित्रोः क्षयेऽहनि। कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिण्डनिर्वपणं सुतः ॥

इति विवाहप्रयोगः समाप्तः ॥ ८ ॥

---

(१) अत्र नित्यश्राद्धनिषेधेन तत्कार्यविहितपितृयज्ञनिषेधे सिद्धे स्वधाकारग्रहणं तत्सहचरितवैश्वदेवनिषेधार्थमाचारसंवादलाभाच्चेति बहवः ।

नवमी कण्डिका

उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम् ॥ १ ॥ अस्तमितानुदितयोः ॥ २ ॥ दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा ॥ ३ ॥ अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् ॥ ४ ॥ सूर्याय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहेति प्रातः ॥ ५ ॥ पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳसं वर्ततां मयि पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा ॥ ६ ॥

इति नवमी कण्डिका ।

(सरला)

'औपासन होम' [गृह्याग्नि का सेवन]

प्राक्कथन—स्मार्ताग्निमान् मनुष्यों को सायं प्रातः (आजीवन) होम करना कर्तव्य है। आश्वलायन के मत से यहां विवाहाग्नि ही औपासन नामक अग्नि है।

व्याख्या—औपासनस्य=आवसथ्याग्नि के; परिचरणम्=होम का अब वर्णन करते हैं। उपयमन=उपयमन संज्ञक कुशों के निर्माण के बाद समिधाओं को अग्नि में छोड़कर चारों तरफ ('पर्युक्ष्य जुहुयात्' तक की पहली कण्डिका की विधि से) जल; प्रभृति=आदि (छिड़क कर आहुति देनी चाहिए ॥१॥ अस्तमित=सूर्यास्त और; अनुदितयोः=उदय से पहले इन दो समयों में॥२॥ दध्ना=दही; तण्डुलैः=चावलों से; वा=अथवा; अक्षतैः=यव से [होम करना चाहिए] ॥ ३ ॥ 'अग्नये स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' इति=अग्नि के लिए स्वाहा, प्रजापति के लिए स्वाहा—इन दो मन्त्रों से; सायम्=सायंकाल ॥ ४ ॥ और; 'सूर्याय स्वाहा' प्रजापतये स्वाहा' इति=सूर्य के लिए स्वाहा; प्रजापति के लिए स्वाहा—इन दो मन्त्रों से प्रातःकाल (होम करना चाहिए) ॥ ५ ॥

गर्भकामा = गर्भ चाहने वाली स्त्री; पूर्वाम्=पूर्वोक्त दोनों (अग्नये सूर्याय आदि) मन्त्रों से पहले; 'पुमांसौ.........स्वाहा' इति = इस मन्त्र से [एक आहुति प्रदान करे]। पुमांसौ मित्रावरुणौ=मित्र और वरुण दोनों ही पुमान् [नर] हैं; पुमांसावश्विनावुभौ=दोनों अश्विन् पुमान् हैं; पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च=इन्द्र और सूर्य पुमान् हैं। मयि पुनः पुमांसं वर्तताम्=मुझमें निश्चय ही एक पुमान् [नर बालक] उत्पन्न हो ॥ ६ ॥

हिन्दी—आवसथ्याग्नि के होम का अब वर्णन करते हैं। उपयमन संज्ञक[३] कुशों के निर्माण के

---

१. शांखायन गृह्यसूत्र के २।१७।९ में कुछ भिन्नता के साथ ऐसा ही प्राप्त होता है।

२. मंत्र में 'पुनः स्वाहा' कुछ अशुद्ध लगता है। अतः यहाँ 'पुंस स्वाहा' होना चाहिए ऐसी बात कुछ विद्वान उठाते हैं। यह ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ 'पुनः' शब्द का प्रयोग 'निश्चय' के अर्थ में हुआ है। 'स्युरेवं तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः' इत्यमरः।

३. 'उपयमन प्रभृति' का यहां टीकाकारों ने अर्थ लिया है कि पहली कण्डिका में कही गई 'उपयमनान् कुशानादाय' 'उपयमन कुशाओं को लेकर' समिधा डालकर पर्युक्षण करके होम

(सरला)

बाद समिधाओं को अग्नि में छोड़कर चारों तरफ जल आदि [छिड़क कर आहुति देनी चाहिए] ॥ १ ॥ [4]सूर्यास्त और [5]उदय से पूर्व [प्रातःकाल] इन दोनों समयों में॥२॥ दही, चावलों से अथवा यवों से होम करना चाहिए ॥ ३ ॥ 'अग्नये स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' इन दो मन्त्रों से सायंकाल [होम करना चाहिए] ॥ ४ ॥ और 'सूर्याय स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' इन दो मन्त्रों से प्रातःकाल होम करना चाहिए ॥ ५ ॥

गर्भ चाहने वाली स्त्री पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों से पहले 'पुमांसौ··················स्वाहा' इस मन्त्र से [एक आहुति प्रदान करे]। मित्र और वरुण दोनों ही पुमान् [नर] हैं, दोनों ही अश्विन् पुमान् हैं, इन्द्र और सूर्य पुमान् हैं । मुझमें निश्चय एक पुमान् [नर बालक] उत्पन्न हो ॥ ६ ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथमकाण्डकी नौवीं कण्डिका समाप्त ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम् । अथौपासनस्य आवसथ्यस्याग्नेः परिचरणं व्याख्यास्यते । कथम् ? उपयमनप्रभृति उपयमनकुशादानमारभ्य । कोऽर्थः ? उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयादिति यावत् ॥ १ ॥

तस्य कालनियममाह—

अस्तमितानुदितयोः । अस्तमितश्च अनुदितश्च अस्तमितानुदितौ, तयोस्तथा सूर्ययोः सूर्यस्यास्तमयानुदिताभ्यामुपलक्षितयोः कालयोरित्यर्थः । तत्रास्तमितलक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—

यावत्सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः । न च लोहितिमापैति तावत्सायं तु हूयते ॥

अनुदितस्य द्वैविध्यम्—अनुदितः, समयाध्युषितश्च । तत्रानुदितः स्पष्टतारकोपलक्षितः, ततः परमुदयात्प्राक् समयाध्युषितः । तथा च मनुः—

करे इतनी ही विधि की जाती है । इससे पूर्व की विधि क्योंकि नहीं की जाती अतः यहाँ हाथ से आहुति देते हैं स्रुव से नहीं । किन्तु यहाँ 'उपयमन' शब्द विवाह के अर्थ में प्रयुक्त है । क्योंकि दूसरी कण्डिका के पहले सूत्र में गृह्याग्नि का आधान विवाह-काल में कहा है । इस सन्दर्भ में आश्वलायन १. ९. १ में और मनु० ३. ६७ में स्पष्टतः यही बतलाया गया है । इसीलिए तो विवाह का कृत्य कहकर उसके बाद नित्याग्नि होम का विधान करते हैं ।

४. अस्तमित का लक्षण कात्यायन ने इस प्रकार किया है :—

यावत् सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः ।
लोहितत्वं च नापैति तावत् सायं तु हूयते ॥

५. अनुदित दो प्रकार का कहा है :—

उदितेऽनुदिते चैव समयाऽध्युषिते तथा—मनु०

स्पष्ट तारों के होने पर अनुदित होता है । सम्पूर्ण आदित्य-मण्डल के दिखाई देने के पहले और तारों के डूब जाने पर बीच का समय समयाऽध्युषित कहा गया है ।

(हरिहर०)

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्तते यज्ञ इत्यर्था वैदिकी श्रुतिः ॥ इति ।

संपूर्णादित्यमण्डलदर्शनोपलक्षित उदितः । तत्र वाजसनेयिनां नियमेन अनुदितहोमः "सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्" इत्यारभ्य "तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहे" इत्यन्तेन श्रुतिसमाम्नायेन उदितहोमनिन्दापूर्वकमनुदितहोमस्य समर्थितत्वात् । छन्दोगानामुदितानुदितयोर्विकल्पः "उदितेऽनुदिते वा" इति गोभिलवचनात् । आश्वलायनानां पुनरुदितहोमनियमः, तथा च तैत्तिरीयब्राह्मणम्—"प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्" इति अनुदितहोमनिन्दार्थवादपुरःसरं "तस्मादुदिते होतव्यम्" इति उदिते होमविधानात् ॥ २ ॥

होमद्रव्यनियममाह—

दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा । जुहुयात् दध्ना गव्येन, तण्डुलैर्व्रीहिमयैः, अक्षतैः सत्वचकैर्यवैः वा विकल्पेन एतेषामन्यतमेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् । सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः । तत्र सायम् अग्नये स्वाहेति पूर्वाहुतिं प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां जुहुयात् । सर्वत्र प्रजापतियागे उपांशु स्वाहाकारः आज्यस्यागश्च । आघारे तु स्वाहान्तोपि मानसः । तथा सूर्याय स्वाहेति पूर्वां प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां प्रातः । त्यागास्तु प्रयोगे वक्ष्यन्ते । ते च यजमानेन कार्याः । कुतः ? प्रधानत्वात्प्रधानस्य, स्वामी फलयोगादिति कात्यायनवचनात् । प्रधानं हि द्रव्यस्वत्वपरित्यागः । ततश्च प्रवसता यजमानेन यथाकालं यथादैवतं शुचिना आचान्तेन प्राङ्मुखोपविष्टेन सर्वकर्मसु कर्त्तव्याः । तत्र, "सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते" इतिवचनात् सायं होमद्रव्येणैव प्रातर्होमः कर्त्तव्यः । तथा येन होत्रा सायं हुतं तेनैव प्रातर्होतव्यम् "येनारम्भस्तेनैव समाप्तिः" इति न्यायाच्च । तथा दधितण्डुलयवानामलाभे श्यामाकनीवारवेणुयवकन्दमूलफलजलसहानां पूर्वपूर्वालाभे परं परं नित्यहोमाय ग्राह्यम् । कन्दं सूरणादि । फलम् आम्रादि ॥ ४–५ ॥

अस्यैव कर्मणः कामसंयोगमाह—'पुमाँसौ मित्रावरुणौ' इत्यादिना 'पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा' । 'पुमांसौ मित्रावरुणौ' इत्यादिना मन्त्रेण गर्भकामा पत्नी पूर्वामाहुतिं जुहुयात् । अत्र पूर्वां गर्भकामेत्यस्य कोऽर्थः ? किं नित्ययोर्द्वयोराहुत्योः प्रथमा पूर्वशब्देन विवक्षिता उत ताभ्यां पूर्वा पूर्वं होतव्या अन्यैव? किं तावत्प्राप्तम् ? अन्यैवेति मन्त्रान्तरेण देवतान्तरहोमविधानात् । मन्त्रस्य देवतायाश्च गुणत्वेन कर्मभेदकत्वात् । किञ्च द्वयोः प्रथमायाः पूर्वत्वे विवक्षिते नित्याग्नेयस्य सौर्यस्य च होमस्य बाधः प्रसज्येत । अत्रोच्यते सत्यं मन्त्रदेवतयोः कर्मभेदकत्वं, पूर्वां गर्भकामेतीदं काम्यं कर्म । प्रकृतं तु नित्यं, काम्यं नित्यस्य बाधकं 'पुरुषार्थसमासक्तं काम्यं नित्यस्य बाधकम्' इति न्यायात् । तस्मात् 'अग्नये स्वाहा, सूर्याय स्वाहा' इति नित्ये आहुती बाधित्वा 'पुमाँसौ मित्रावरुणौ' इत्यादिमन्त्रविहिता पत्नीकर्तृका कर्मान्तररूपा हि काम्या आहुतिः प्रवर्त्तते, यथा 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इत्यत्र काम्यं गोदोहनप्रणयनं नित्यं चमसं बाधित्वा प्रवर्त्तते । अत्र कथं बाध्यबाधकभावः ? उच्यते—नित्यं तावदफलम् अकरणे प्रत्यवायजनकं, काम्यं तु फलवत् । तत्र फलवत् बलवत् अफलं दुर्बलं बाधते । अत्र यदि केचित् प्रत्यवतिष्ठेरन् आधानानुविधानानन्तरं सायंप्रातर्होमानुविधानं कर्त्तव्यमाचार्येण केन हेतुनाऽत्र कृतम् ? को दोष इति

(हरिहर०)

चेत् ? परप्रकरणाम्नातं कथम् ? षडर्घ्या भवन्तीत्यारभ्य तामुदुह्येत्यन्तं विवाहप्रकरणं यतः। तत्र समाधीयते—सूत्रकारस्य शैलीयं विवाहात्प्राक् आवसथ्याधानकथनं यथा न चेच्छङ्कनीयम् , विवाहाग्निरेवावसथ्याग्निरिति पक्षश्चाचार्यस्याभिमतस्तेनात्र होमानुविधानं कृतमिति। विवाहाग्नेरौपासनत्वं कुतोऽवगतमिति चेत् ?

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत स्मार्त्तं कर्म यथाविधि। पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं द्विजः ॥

इति मनुवचनात्—

कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनात् कृतविवाहस्य सभार्यस्यावसथ्याधानाधिकारः, आश्वलायनगोभिलादिगृह्यकारवचनाच्च। तस्माद् बहुसम्मतत्वात् विवाहसमनन्तरमेव होमविधानाच्चाचार्यस्य विवाहहोमसाधनाग्निरेवौपासनः सम्मत इति। तत्रोच्यते, आश्वलायनगृह्यमतं मन्वादिवचनं तु यथागृह्यमाहितौपासनाग्निपरं स्वस्वशाखाधर्मप्रतिपादनपरं वाजसनेयिनां पञ्चदशशाखाश्रयिणां माध्यन्दिनकाण्वप्रभृतीनां च पारस्कराचार्यस्य तु आवसथ्याधानप्रयोगं विवाहप्रयोगात्पृथगनुविदधतो नैष पक्षः सम्मत इति गम्यते। यदि विवाहाग्निरेवौपासनाग्निरिति सम्मतः स्यात्तदावसथ्याधानं दारकाल इत्यादिना पृथक् प्रयोगमनुविदध्यात् विवाहहोमेनैव आवसथ्याग्नौ सिद्धे पृथक् प्रयोगारम्भस्य वैयर्थ्यात्। तस्मादन्यस्थानपाठो न दोषः। इदं च औपासनपरिचरणं सर्वदा, न सकृत्; यतः 'ततोऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्यापत्रात् सक्तून् सर्वेभ्यो बलिं हरेत्' इति बलिहरणविधिपरे वाक्ये परिचरणस्य नित्यत्वं ज्ञापयति—

छिन्नं लूनं च पिष्टं च सान्नाय्यं मृन्मयं तथा। लोकसिद्धं गृहीतं चेन्मन्त्रा जप्याः कठाशयात्॥
छिन्नादि लोकसिद्धं चेदाद्रियेत क्रतुं प्रति। तत्तन्मन्त्रजपं प्राह भारद्वाजः कृताकृतम् ॥
छिन्ने चावहने लूने पिष्टे दुग्धे च मृन्मये। खातेऽथ लौकिके प्राप्ते जपो नास्त्येव वाजिनाम्॥

अत्र च न मन्त्रान्ते स्वाहाकारहोमौ, किन्तु आदावेव। नवोंकारः प्रतिमन्त्रम् , किन्तु आद्य एव। यदाह—

स्वाहा कुर्यान्न मन्त्रान्ते न चैव जुहुयाद्धविः। स्वाहाकारेण हुत्वाऽग्नौ पश्चान्मन्त्रं समापयेत्॥

सामगानामयम्

नों कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित्। अन्येषां चाविकृष्टानां कालेनाचमनादिना ॥

अविकृष्टानाम् अनन्तरितानां कालेन, आचमनादिना वा ॥ ६ ॥

अथ प्रयोगः

आवसथ्याधानोत्तरकालं तद्दिवस एव सायंप्रातर्होमनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा सन्ध्यावन्दनानन्तरम् अग्निसमीपं गत्वा पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य उपयमनकुशान् समिधस्तिस्रः मणिकवारिदध्यादीनामन्यतमं होमद्रव्यम् अग्नेरुत्तरतः प्राञ्च्यासाद्य उपयमनकुशानादाय तिष्ठन् समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य द्वादशपर्वपूरकेण दधितण्डुलयवानामेकतमेन द्रव्येण हस्तेनैव स्वाङ्गारिणि स्वार्चिषि वह्नौ मध्यप्रदेशे देवतां ध्यायन् जुहुयात् 'अग्नये स्वाहा' 'इदमग्नये'। तदुत्तरतो मनसा 'प्रजापतये स्वाहा' 'इदं प्रजापतये' इति सायं, तथैव 'सूर्याय स्वाहा' 'इदं सूर्याय'

(हरिहर०)

प्रजापतये स्वाहा' इति प्रातः। पत्नी चेद्गर्भकामा भवति तदा 'पुमाँसौ मित्रावरुणौ पुमाँसावश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाँसंवर्त्ततां मयि पुनः स्वाहा' इति पूर्वामाहुतिं पत्नी जुहोति, उत्तरां यजमानः। इदं मित्रावरुणाभ्याम् अश्विभ्यामिन्द्राय सूर्याय च।

इति नित्यहोमविधिः।

(गदाधर०)

आवसथ्येऽग्नौ होममाह—

'उपय · · · चरणम्'। उपयमनकुशादानादि औपासनस्यावसथ्यस्याग्नेः परिचरणम्। व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। प्रभृतिग्रहणेन 'उपयमानान् कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात्' एतावल्लभ्यते। होमश्चात्रोपदिष्टः होमेऽपि च सति परिचरणग्रहणादितिकर्तव्यता न भवति। हस्तेनैवात्र होमः, इतिकर्तव्यताव्युदासात्। कथमितिकर्तव्यताव्युदास इति चेत्? उपयमनप्रभृतीत्युक्तत्वात्। पर्युक्षणं च मणिकोदकेन ॥ १ ॥

होमकालनियममाह—'अस्तमितानुदितयोः'। अस्तमितश्चानुदितश्चास्तमितानुदितौ तयोः तत्कर्म, कर्तव्यमिति शेषः। आवसथ्याधानानन्तरमस्तमिते च सूर्ये अनुदिते च सर्वदा होमः कार्यः, न सकृत्, येनैवं सूत्रकार आह—'ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य द्रव्योपघातठँः सक्तून् सर्पेभ्यो बलिं हरेत्' इति। बलिहरणविधिपरे वाक्ये होमस्य नित्यत्वं ज्ञापयति। अस्तमितलक्षणं कात्यायनेनोक्तम्—

यावत्सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः। लोहितत्वं च नापैति तावत्सायं तु हूयते ॥

अनुदितस्तु द्विविधः—अनुदितः समयाध्युषितश्च। तथा च मनुः—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। इति।

तत्रानुदितः स्पष्टतारकोपलक्षितः, ततः परमुदयात्प्राक् समयाध्युषितः, संपूर्णादित्यमण्डलदर्शनोपलक्षित उदितः। तत्रास्माकं सूत्रेऽनुदित एव परिचरणमुक्तम्। मनुवचने उदितग्रहणं शाखान्तरगृह्याभिप्रायेण। मुख्यकाले यदा होमो न भवति तदा गौणकालेऽपि कार्यः। तथा च मण्डनः—

मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्तुं न शक्यते।
गौणकालेऽपि कर्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशो भवेत् ॥

गौणकालपरिमाणमपि तेनैवोक्तम्—

आसायमाहुतेः कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः।
प्रातराहुतिकालात्प्राक् कालः स्यात्सायमाहुतेः ॥ इति।

मुख्यकालातिक्रमे प्रायश्चित्तपूर्वकं गौणकालेऽनुष्ठानं गौणकालातिक्रमे तु लोप एव प्रायश्चित्तद्वयमात्रम्। एकमविज्ञातम्।

सन्ध्योपासनहानौ च नित्यस्नानं विलोप्य च।
होमं च नैत्यिकं शुद्ध्येत् सावित्र्यष्टसहस्रकृत् ॥

(गदाधर०)

इति प्रजापत्युक्तं द्वितीयम् । होमे कर्तारः स्वयं, स्वस्यासम्भवे पत्न्यादयः । प्रयोगरत्ने स्मृतौ—

पत्नी कुमारी पुत्रो वा शिष्यो वाऽपि यथाक्रमम् । पूर्वपूर्वस्य चाभावे विदध्यादुत्तरोत्तरः ॥

स्मृत्यर्थसारेऽपि—

यजमानः प्रधानं स्यात्पत्नी पुत्रश्च कन्यका । ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः ॥
एतैरेव हुतं यच्च तद्धुतं स्वयमेव तु । पत्नी कन्या च जुहुयाद्विना पर्युक्षणक्रियाम् ॥ इति ।

अत्र वचनात् पत्न्यादीनां मन्त्रपाठेऽधिकारः, केवलं पर्युक्षणेऽनधिकारः । अग्निहोत्रे तु—

न वा कन्या न युवती नाल्पविद्यो न बालिशः । होमे स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥

इति वचनात्पत्न्यादीनामनधिकारः । त्यागे विशेषः—

सन्निधौ यजमानः स्यादुद्देशत्यागकारकः । असन्निधौ तु पत्नी स्यादुद्देशत्यागकारिका ॥
असन्निधौ तु पत्न्याः स्यादध्वर्युस्तदनुज्ञया । उन्मादे प्रसवे चार्तौ कुर्वीतानुज्ञया विना ॥

मण्डनः—

त्यागं तु सर्वथा कुर्यात्तत्राप्यन्यतरस्तयोः । उभावप्यसमर्थौ चेन्नियुक्तः कश्चन त्यजेत् ॥ २ ॥

'दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा' । गव्येन दध्ना वा व्रीहितण्डुलैर्वा अक्षतैर्यवैर्वा जुहुयादित्यर्थः । तेषामभावे शाखान्तरगृह्यपरिशिष्टोक्तानि द्रव्याणि ग्राह्याणि । तत्र प्रयोगरत्ने—'पयो दधि सर्पिर्यवागूरोदनं तण्डुलाः सोमस्तैलमापो व्रीहयो यवास्तिलाः' इति होम्यानि । तण्डुला नीवारश्यामाकयावनालानां, व्रीहिशालियवगोधूमप्रियङ्गवः स्वरूपेणापि होम्याः, तिलाः स्वरूपेणैव । शतं चतुःषष्टिर्वाऽऽहुतिर्व्रीहितुल्यानां, तदर्द्धं तिलानां, तदर्द्धं सर्पिस्तैलयोः । तैलं च तिलजतिलातसीकुसुम्भानाम्, येन प्रथमां देवतां जुहुयात्तेनैव द्वितीयां जुहुयाद्येन च सायं जुहुयात्तेनैव प्रातरिति । अत्र तेनैव प्रातरिति प्रतिनिधिवर्जम् । बृहस्पतिस्त्वाहुतिपरिमाणमाह—

प्रस्थधान्यं चतुःषष्टेराहुतेः परिकीर्तितम् । तिलानां च तदर्द्धं तु तण्डुला व्रीहिभिः समाः ॥

प्रस्थश्च—

प्रसृतिद्वितयं मानं प्रस्थं मानचतुष्टयम् ॥ इति ।

बौधायनस्तु—व्रीहीणां यवानां वा शतमाहुतिरिष्यते ।
अगस्त्यः—द्रवद्रव्यस्य मानं स्याद्धारा गोकर्णदीर्घिका ।

सिद्धान्तशेखरे—

अन्नं ग्राससमं प्रोक्तं लाजा मुष्टिमिता मताः ॥ इति ।

दधिपक्षे तण्डुलपक्षे च शेषप्राशनम्, अक्षतपक्षे त्वभावः, अनदनीयत्वादिति भर्तृयज्ञः ॥ ३ ॥

'अग्नये' 'प्रातः' । यत्र सायंकाले 'अग्नये स्वाहा' इति पूर्वामाहुतिं जुहोति । 'प्रजापतये स्वाहा' इत्युत्तरां च जुहोति । प्रातःकाले 'सूर्याय स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वामाहुतिं हुत्वा 'प्रजापतये स्वाहा' इत्युत्तरां च जुहुयात् ॥ ४–५ ॥

'पुमाँ्सँ' ''''गर्भकामा ।' यदि गर्भकामा पत्नी भवति तदा सायंप्रातः पूर्वामाहुतिं

(गदाधर०)

पत्न्येव 'पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ' इत्यनेन मन्त्रेण जुहोति, उत्तरामाहुतिं तु यजमान एव जुहोति। सर्वत्र होमे प्रतिमन्त्रं नोङ्कारः।

नोङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित्। अन्येषां चाविकृष्टानां कालेनाचमनादिना॥

इति वचनात्। अविकृष्टानामनन्तरितानां कालेनाचमनादिना वेति हरिहरः। मन्त्रार्थः—एतेषां देवानामेतौ युग्मौ मम आहुत्या मद्दत्तया परितुष्टौ सन्तौ मयि विषये पुमांसं पुंल्लक्षणं गर्भं संवर्ततांम् उत्पादयेतामिति॥ ६॥

इति गदाधरभाष्ये नवमी कण्डिका॥ ९॥

अथ पदार्थक्रमः

तत्रावसथ्याधानोत्तरकालं तस्मिन्नेवाहनि भोजनात्प्राक् यजमानो होमारम्भनिमित्तं मातृपूजनपूर्वकं नान्दीश्राद्धं कुर्यात्। ततः कृतसंध्यावन्दनोऽग्नेरुत्तरत उपविश्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्याग्निरूपपरमेश्वरप्रीत्यर्थम् औपासनहोमं करिष्य इति संकल्प्य वैकल्पिकं द्रव्यमवधार्योपयमनकुशानादाय सव्यं कृत्वा दक्षिणेन हस्तेन तिस्रः समिधोऽभ्याधाय मणिकोदकेन पर्युक्ष्य प्रदीप्तेऽग्नौ शतसंख्यान् प्रस्थस्य चतुःषष्टितमभागमितान्वा तण्डुलानादायाङ्गुल्युत्तरपार्श्वेन समिन्मूलतो द्व्यङ्गुलप्रदेशे अग्नये स्वाहेति जुहोति। इदमग्नये न ममेति त्यागं विधाय प्रक्षिपेत्। संस्रवरक्षणम्। पुनस्तण्डुलानादाय प्रजापतये स्वाहेत्युपांशूक्त्वा ॐप्रजापतये न ममेति त्यागं विधाय प्रक्षिपेत्। संस्रवरक्षणम्। पत्नी 'पुमाꣳसौ' इत्यनेन मन्त्रेण गर्भकामा चेत्पूर्वामाहुतिं जुहोति। इदं मित्रावरुणाभ्यामश्विभ्यामिन्द्राय सूर्याय न ममेति त्यागो यजमानस्य। संस्रवप्राशनम्। पत्नीकर्तृकहोमशेषस्य पत्न्येव प्राशनं करोति। अत्र 'समास्त्वा' इत्युपस्थानमिति जयरामभाष्ये।

इति सायंहोमः।

अथ प्रातर्होमे विशेषः

उदयात्पूर्वं सायंद्रव्येणैव सूर्याय स्वाहेति पूर्वाहुतिः, प्रजापतये स्वाहेत्युत्तराहुतिः। यथादैवतं त्यागौ। गर्भकामा चेदत्रापि 'पुमाꣳसौ' इति होमः। अत्र 'विभ्राड्०' इत्यनुवाकेनोपस्थानमिति जयरामभाष्ये। इति प्रातर्होमे विशेषः। अन्यत्सर्वं सायंहोमवत्। एवमुपयमनकुशादानादि प्रत्यहमौपासनस्य परिचरणम्। अथापत्काले कर्तव्यो होमद्वयसमासप्रयोगः—तत्र पूर्ववत्सायंकालीनाहुतिद्वयं हुत्वा किञ्चित्कालं निमीक्ष्य पुनः कुशादानादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा श्वःकर्तव्यप्रातराहुतिद्वयमपकृष्य जुहुयादिति प्रयोगरत्ने। हरिहरमिश्रैस्तु तन्त्रेण होमो लिखितः। स चैवं—पर्युक्षणान्तं कृत्वाऽग्नये स्वाहेति हुत्वा तथैव सूर्याय स्वाहेति हुत्वा आहुतिद्वयपर्याप्तं होमद्रव्यमादाय प्रजापतये स्वाहा इति सकृत् जुहुयात्।

अथ गुर्वादिपक्षहोमः—तत्र प्रतिपदि सायंकाले उपयमनादानादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा आहुतिप्रमाणेन तण्डुलान्पात्रद्वये प्रतिपात्रं चतुर्दशवारं गृहीत्वा होमकाले प्रथमपात्रस्थानग्नये स्वाहेति जुहुयात्। ततो द्वितीयपात्रस्थान्प्रजापतये स्वाहेति जुहोति। एवं

(गदाधर०)

द्वितीयायां प्रातः पर्युक्षणान्तं कृत्वा पूर्ववत्पात्रद्वये तण्डुलान्कृत्वा सूर्याय स्वाहेति प्रथमपात्रस्थान् हुत्वा प्रजापतये स्वाहेति द्वितीयपात्रस्थांस्तण्डुलान् जुहुयात्। पक्षमध्ये वा आपत्तावागामिचतुर्दशीसायंकालीनहोमान्तान् शेषहोमान् सायं समस्येत् । पर्वप्रातर्होमान्तौंश्च प्रातः शेषहोमान् समस्येत् । सर्वथा पर्वसायंहोमः प्रतिपत्प्रातर्होमश्च पृथगेव होतव्यौ। तत्र पूर्ववदग्निमभिरक्षेत् । अन्तरापन्निवृत्तौ तु तदारभ्य पूर्ववत्सायंप्रातर्होमान् यथाकालं कुर्यादिति प्रयोगरत्ने। अनापदि पक्षहोमे प्रायश्चित्तमुक्तं देवयाज्ञिकपद्धतौ—

अनातुरोऽप्रवासी च निश्चिन्तो निरुपद्रवः। पक्षहोमं तु यः कुर्यात्स चरेत्पतितव्रतम् ॥

इति होमविधिः ॥

दशमी कण्डिका

राज्ञोऽक्षभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यᳬ संस्कृत्येहरतिरिति जुहोति नानामन्त्राभ्याम् ॥ १ ॥ अन्यद्यानमुपकल्प्य तत्रोपवेशयेद्राजानᳬ स्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाहार्षमिति चैतया ॥ २ ॥ धुर्यौ दक्षिणा प्रायश्चित्तिः ॥ ३ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ४ ॥

इति दशमी कण्डिका

(सरला)

[वधू के पतिगृह में प्रथम गमन का कर्म]

'प्रायश्चित्त'

प्राक्कथन :—प्रस्तुत कण्डिका में प्रायश्चित्त का वर्णन है। यह नैमित्तिक कर्म है। जब राजा चढ़ाई पर जाए अथवा वर वधू को विवाह करके अपने घर ले जा रहा हो, उस समय मार्ग में रथ का टूट जाना आदि कोई भी दुर्घटना हो जाए तो राजा सेनाग्नि का और वर वैवाहिक अग्नि का निम्नविधि से आधान करें।

व्याख्या :—राज्ञः अक्षः = राजा के रथ का पहिया; भेदे = टूट जाने पर, नद्धविमोक्षे = रस्सी के अकस्मात टूट जाने पर; यानविपर्यासे = रथ के उलट जाने पर; वा = अथवा; अन्यस्यां व्यापत्तौ = दूसरी किसी विपत्ति में [अशुभ सूचक कार्य के होने पर]; च = और-यदि [नैमित्तिकैकत्वसूचनार्थश्चकारः] स्त्रियाः = वधू को; उद्वहने = पहली बार घर ले जाते हुए भी [यदि कोई विपत्ति आए]; तम् एव अग्निम् = तो उसी अग्नि को, उपसमाधाय = समीप में स्थापित

(सरला)

करके; आज्यम् = घृत को; संस्कृत्य = शुद्ध करके (संस्कार करके), "इहरतिः" इति = इन; नाना = अनेक; मंत्राभ्याम् = मंत्रों से जुहोति = आहुति देता है ॥ १ ॥

अन्यद् यानम् = दूसरे रथ को; उपकल्प्य = समीप में लाकर [संयोजित करके] तत्र = उस पर ; राजानम् = राजा को; वा = अथवा, स्त्रियं = वधू को 'प्रतिक्षत्रे'[1] इति = इस मंत्र से [यजु २०।१०।] यज्ञान्तेन = 'यज्ञ' पद पर्यन्त [अर्थात् यजुर्वेद का २० का १० सम्पूर्ण मंत्र से] उपवेशयेत् = बैठाना चाहिए। च = और [या—उपवेशयेदिति समुच्चयाश्चकारः] 'आत्वाहार्षम्'[2] इति एतया = इस ऋचा से [भी बैठाना चाहिए] ॥ २ ॥ धुर्यौं = [उस होम में ब्रह्मा को] दो बैल जो गाड़ी को खींचने वाले हों; दक्षिणा [में देना चाहिए] [इस कर्म को विशेष कर विघ्ननाशार्थ किया जाता है; अतः इसको] प्रायश्चित्तिः=प्रायश्चित्त कहते हैं ॥३॥ ततो ब्राह्मणभोजनम्=दक्षिणा देने के बाद ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ ४ ॥

हिन्दीः—राजा के रथ का पहिया टूट जाने पर, रस्सी के अकस्मात् टूट जाने पर, रथ के उलट जाने पर अथवा दूसरी किसी विपत्ति में [अशुभ सूचक कार्य के होने पर] यदि वधू को पहली बार घर ले जाते हुए भी [यदि कोई विपत्ति आए] तो उसी अग्नि को समीप में स्थापित करके घृत को शुद्ध करके (संस्कार करके) "इहरतिः" इन अनेक मंत्रों से आहुति देता है ॥ १ ॥

दूसरे रथ को समीप में लाकर [संयोजित करते] उस पर राजा को अथवा वधू को 'प्रतिक्षत्रे' इस मंत्र से 'यज्ञ' पद पर्यन्त [अर्थात् यजुर्वेद का० २० का १० सम्पूर्ण मंत्र से] बैठाना चाहिये। और 'आत्वाहार्षम्' इस ऋचा से [भी बैठाना चाहिए] ॥ २ ॥ [उस होम में ब्रह्मा को] दो बैल जो गाड़ी को खींचने वाले हों दक्षिणा [में देना चाहिये] इस कर्म को विशेष कर विघ्ननाशार्थ किया जाता है, अतः इसको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ३ ॥ दक्षिणा देने के बाद ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ ४ ॥

द्र०—१. यजु० ८. ५१ ।

द्र०—२. यजु० २०.१० अर्थात् यजुर्वेद के १० अध्याय के सम्पूर्ण मन्त्र से ।

द्र०—३. यजु १२.११ ।

सरला हिन्दी व्याख्या में प्रथम काण्ड की दसवीं कण्डिका समाप्त ॥ १० ॥

(हरिहर०)

अथ नैमित्तिकमुच्यते—

राज्ञोऽक्षभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने। राज्ञः प्रजापालनाधिकृतस्य यात्रादिप्रस्थितस्य अक्षभेदे रथावयवभङ्गे नद्धविमोक्षे नद्धस्य रथस्य विमोक्षे रज्जुबन्धनच्छेदे वा यानविपर्यासे यानस्य विपर्यासे अधोमुखादिभावे वा अन्यस्यां वा व्यापत्तौ अन्यस्मिन् वा अशुभसूचके निमित्ते। स्त्रियाश्चोद्वहने उद्वाहितायाः पूर्वं पतिगृहनयने चशब्दात् रथाक्षभेदादिकनिमित्ते संजाते नैमित्तिकं प्रायश्चित्तरूपं कर्मोच्यते "कर्मोपपाते प्रायश्चित्तं तत्कालम्" इति वचनात्। निमित्तसमनन्तरमेव नैमित्तिकं कुर्यात्। तद्यथा—

(हरिहर०)

तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यꣳ संस्कृत्येहरतिरिति जुहोति नानामन्त्राभ्याम् ॥ तमेवेति, यदि राज्ञो निमित्तं तदा प्रास्थानिकं सेनाग्निं, यदि स्त्रियाः (१) वैदिकमग्निं पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा उपसमाधाय स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तां कुशकण्डिकां विधाय "एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः" इत्यनेनैवाज्यसंस्कारे प्राप्ते पुनराज्यꣳ संस्कृत्येति वचनमाघारहोमात्प्रागेव 'इहरतिः०' इत्याज्याहुतिद्वयप्राप्त्यर्थम्, ततश्च पर्युक्षणान्ते 'इहरतिः' इति-नानामन्त्राभ्यां द्वाभ्यां जुहोत्याहुतिद्वयं, तत आघारादिस्विष्टकृदन्ते ॥ १ ॥

अन्यद्यानमुपकल्प्य तत्रोपवेशयेद्राजानꣳ स्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाहार्षमिति चैतया। अन्यद्रथादिकं यानं वाहनम् उपकल्प्य संयोज्य तत्र तस्मिन् याने राजानं नृपं स्त्रियं चोद्वाहितां वधूमुपवेशयेत् आरोहयेत्। कथं ? 'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि' इत्यादिना 'प्रतितिष्ठामि यज्ञे' इत्यन्तेन मन्त्रेण 'आत्वाहार्षम्' इत्येतयर्चा ॥ २ ॥

धुर्यौ दक्षिणा प्रायश्चित्तिः। धुर्यौ धुरि साधू अनड्वाहौ दक्षिणा ब्राह्मणेभ्यो देया। दक्षिणाशब्दः परिक्रयार्थे द्रव्ये वर्त्तते। येन ऋत्विजामानतिर्भवति। इदं कर्म प्रायश्चित्तिः दुर्निमित्तसूचितदुरितापहारिणी। अतः सति निमित्ते भवति ॥ ३ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम्। ततः कर्मसमाप्त्यनन्तरं ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यम् ॥ ४ ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः

अक्षादिनिमित्तानामेकतमे निमित्ते संजाते शुचौ देशे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा राज्ञः पुरोहितः सेनाग्निमुपसमाधाय वध्वा वरो वैवाहिकमग्निं, ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्ते 'इहरतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा' इति प्रथमामाहुतिं जुहुयात्। इदमग्नये, इत्याहुतिद्वयं हुत्वा 'उपसृजन् धरुणंमात्रे धरुणोमातरन्धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा' इति द्वितीयाम्। 'इदमग्नये' इत्याहुतिद्वयं हुत्वा तत आघारादिस्विष्टकृदन्तं चतुर्दशाहुतिकं होमं विधाय संस्रवं प्राश्याचम्य धुर्यावनड्वाहौ ब्रह्मणे अस्य कर्मणः प्रतिष्ठार्थमेतावनड्वाहौ तुभ्यं ब्रह्मणे मया दत्ताविति प्रयोगेण दक्षिणां दत्वा अन्यद्यानमानीय तत्पुरोहितो राजानं वरो वधूम् उपवेशयत् 'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे' 'आत्वाहार्षम्' इतिमन्त्राभ्याम्। ततो ब्राह्मणभोजनम्।

इति हरिहरभाष्ये दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

(गदाधर०)

'राज्ञोऽक्ष'''मन्त्राभ्याम्'। राज्ञः प्रजापालनकर्तुर्देशान्तरे प्रस्थितस्य युद्धे वा अक्षस्य रथावयवस्य भेदे भङ्गे नद्धस्य रथस्य विमोचे आकस्मिकबन्धविच्छेदे वा यानविपर्यासे हयरथादिके वा अधोभावापत्तौ, अन्यस्यां वा कस्यांचिद्व्यापत्तौ अशुभसूचकोत्पाते स्त्रियाश्चोद्वहने स्त्रियाः वध्वाः पितृगृहाद्भर्तृगृहं प्रति प्रथमगमने चकाराद्रथाक्षभेदादिनिमित्ते नैमित्तिकमिदमुच्यते—'तमेवाग्निमुपसमाधाय' इति। राज्ञश्चेन्निमित्तं तदा सेनाग्निं स्त्रियाश्चेत्तदा वैवाहिकमग्निमुपसमाधाय स्थापयित्वा आज्यं संस्कृत्य आज्यसंस्कारान् 'निरुप्या-

(१) 'निमित्तं तदा वैवाहिकम्' इति पाठान्तरम्।

(गदाधर०)

ज्यम्' इत्यादिना कृत्वा 'इहरतिः०' इति नानामन्त्राभ्यां जुहोति । 'एष एव विधिः' इत्यनेनैवाज्यसंस्कारस्य प्राप्तत्वादत्राज्यं संस्कृत्येति ग्रहणम् इहरतिस्याहुत्योराघारादिभ्योऽपि पूर्वकालत्वज्ञापनार्थम् । नानाग्रहणाच्च द्वे आहुती इहरतिरित्येका, उपसृजन्निति द्वितीया, तत आघारादि ॥ १ ॥

'अन्यथा''''''चैतया ।' ततस्तद्यानं त्यक्त्वाऽन्ययानं वाहनं रथादिकमुपकल्प्य तत्र तस्मिन्याने वाहने राजानं स्त्रियं वा वधूमुपवेशयेत् । एवं च मन्त्राभ्यामुपवेशनम् । अत्रोपवेशयेति ण्यन्तत्वादध्येषणं 'याने उपविशस्व' इति । तच्च राज्ञो ब्रह्मकर्तृकं, वध्वा वरकर्तृकम् । अत्र परादिना पूर्वान्त इतिन्यायाभावात्तेषां वाक्यमित्यनेन च प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामीत्येतदन्तमन्त्रप्राप्तौ यज्ञान्तग्रहणं वाक्यसमुच्चयविधानार्थम्, 'आत्वाहार्षम्' (य. सं. अ. १२ क. ११) इति ऋक्त्वात्संपूर्णायाः पाठः । तेषां वाक्यमित्यत्र तच्छब्देन यजुषां परामर्शात् । ततश्च यत्र ऋक्प्रतीकग्रहणं तत्र संपूर्णायाः पाठः—"त्वन्नो अग्ने" (य. सं. अ. २१ कं. ३) इत्यादौ ॥ २ ॥

'धुर्यौ दक्षिणा प्रायश्चित्तिः' । अत्र धुर्यावनड्वाहौ दक्षिणा, भवतीति शेषः । दक्षिणान्तरस्य निवृत्तिः दृष्टार्थत्वात् । प्रायश्चित्तिरिति चास्य कर्मणः संज्ञा ॥ ३ ॥

'ततो ब्राह्मणभोजनम् ।' ततः कर्मान्ते ब्राह्मणस्यैकस्य भोजनं कार्यं कारयितव्यम्॥४॥

अथात्र पदार्थक्रमः

तत्र निमित्ते जाते पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्नेः स्थापनं, राजा सेनाग्नेः स्थापनं कुर्याद्वरश्च वैवाहिकाग्नेः स्थापनं कुर्यात् । ततो ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा 'इहरतिः' (य. सं. अ. ८ कं. ५१) इति प्रथमामाहुतिं जुहोति, 'उपसृजन् धरुणम्' इत्यादि 'वीधरस्स्वाहा' इत्यन्तेन मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं जुहोति । इदमग्नये न ममेति द्वयोस्त्यागौ । तत आघारादिप्रणीताविमोकान्तं कृत्वा धुर्यावनड्वाहौ दत्त्वा अन्ययानमानीय तत्र राजानं 'प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि' 'आत्वाहार्षम्' (य. सं. अ. १२ कं. ११) इतिमन्त्राभ्याम् 'उपविशस्व' इत्यध्येषणपूर्वकमुपवेशयेत् । वधूम् एताभ्यामेव मन्त्राभ्यामुपवेशयेत् । ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति पदार्थक्रमः ॥१०॥ ॐ

इति दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

एकादशी कण्डिका

चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति॥ १ ॥ अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै

नाशय स्वाहा [१] वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपाधावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा [२] सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा [३] चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा [४] गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति [५] ॥ २ ॥

(सरला)

चतुर्थी-कर्म

प्राक्कथन—चतुर्थी—कर्म विवाह का अन्तिम कर्म है। विवाह के दिन से चौथे दिन यह कर्म होता है अतः इसे चतुर्थी कर्म कहते हैं।

व्याख्या :—चतुर्थ्यामपररात्रे = [विवाह के बाद] चौथी रात के चौथे पहर में; अभ्यन्तरतः = (अग्नि के) दक्षिण में; ब्राह्मणम् = ब्रह्मा को; उपवेश्य = बैठाकर; उत्तरतः = उत्तर की ओर; उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य = जलपात्र रखकर स्थालीपाकं श्रपयित्वा = चरुरूप हविद्रव्य को पकाकर; आज्यभागौ इष्ट्वा = दो आज्य भाग आहुति देकर आज्य = घृत की; आहुतीः = आहुतियों को जुहोति = हवन करता है ॥ १ ॥ ["अग्ने प्रायश्चित्ते…"इति = इन ५ मंत्रों से घी की आहुति देनी चाहिए] हे अग्ने ! हे प्रायश्चित्ते ! = हे अग्नि। हे सभी दोषों को दूर करने वाली जो तुम हो; त्वं देवानां = तुम देवताओं के (अर्थात् इन्द्रादि देवताओं के मध्य); प्रायश्चित्तिः असि = पापों के शोधक हो; ब्राह्मणः = मैं ब्राह्मण या वैदिक होकर; नाथकामः = रक्षा (या ऐश्वर्य) चाहता हुआ; त्वा उपधावामि = तुम्हारी पूजा करता हूँ। [आराधना का प्रयोजन है कि] अस्यै = इस वधू के; या पतिघ्नीतनूः = जो पतिनाशक अंग लक्षण हैं [तनू=शब्दोऽत्रावयववाचको ज्ञेयः] अस्यै = इसके उपकार के लिए; ताम् = उनको; नाशय = नाश करो; स्वाहा [१] हे वायो हे प्रायश्चित्ते = हे सभी दोषों को दूर करने वाले वायु; त्वं देवानां प्रायश्चित्तिः असि = तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाशक हो; ब्राह्मणः = मैं ब्राह्मण या वैदिक होकर; नाथकाम त्वा उपधावामि = रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी पूजा करता हूँ। अस्यै = इस वधू का; प्रजाघ्नी तनूः=जो सन्तति के लिए हानिकर अंग हैं; अस्यै = इसके उपकार के लिए, ताम् नाशय = उनका नाश करो; स्वाहा [२] हे सूर्य प्रायश्चित्ते=हे सभी दोषों को दूर करने वाले सूर्य ! त्वं देवानां प्रायश्चित्तिः असि = तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाशक हो; ब्राह्मणः = मैं नाथकाम त्वा उपधावामि = रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी आराधना करता हूँ। अस्यै या पशुघ्नी तनूः = इस वधू का जो पशुओं के लिए हानिकारक अंग है; अस्यै = इसके उपकार के लिए, तां नाशय = उनका नाश करो; स्वाहा [३] हे चन्द्र प्रायश्चित्ते = हे सभी दोषों को दूर करने वाले चन्द्र; त्वं देवानां

(सरला)

प्रायश्चित्तिः असि = तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाश करने वाले हो; ब्राह्मण नाथकाम त्वा उपधावामि=मैं ब्राह्मण रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी आराधना करता हूँ। अस्यै या गृहघ्नी तनूः=इस वधू के जो घर के विनाश के लिए अंग हैं, अस्यै=इसके उपकार के लिए; नाशय उनका नाश करो; स्वाहा [४] हे गन्धर्व प्रायश्चित्ते = हे सभी दोषों को नष्ट करने वाले गन्धर्व; त्वं देवानां प्रायश्चित्तिः असि=तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पाप नाशक हो; ब्राह्मणः नाथकामस्त्वा उपधावामि = मैं ब्राह्मण रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी अराधना करता हूँ। अस्यै या यशोघ्नी तनूः = इस वधू के जो यश के घातक अंग हैं; अस्यै = इसके उपकार के लिए; तां नाशय = उनका नाश करो स्वाहा [५] ॥ २ ॥

हिन्दी :—[विवाह के बाद] चौथी रात के चौथे पहर में, घर के भीतर अग्नि स्थापन करके दक्षिण में ब्रह्मा को बैठाकर उत्तर की ओर जलपात्र रखकर चरु रूप हवि द्रव्य को पकाकर दो आज्य भाग आहुति देकर घृत की आहुतियों को हवन करता है[1] ॥ १ ॥ ["अग्ने प्रायश्चित्ते..." इन ५ मंत्रों से घी की आहुति देनी चाहिए] हे अग्नि ! हे सभी दोषों को दूर करने वाली जो तुम हो, तुम देवताओं को [इन्द्र आदि देवताओं के मध्य] पापों के शोधक हो, मैं ब्राह्मण या वैदिक होकर रक्षा [या ऐश्वर्य] चाहता हुआ तुम्हारी पूजा करता हूँ। [आराधना का प्रयोजन है कि] इस वधू के जो पतिनाशक अंग लक्षण हैं इसके उपकार के लिये उनको नाश करो; स्वाहा [१] हे सभी दोषों को दूर करने वाले वायु तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाशक हो, मैं ब्राह्मण या वैदिक होकर रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी पूजा करता हूँ। इस वधू का जो सन्तति के लिये हानिकर अंग है, इसके उपकार के लिये उनका नाश करो स्वाहा [२] हे सभी दोषों को दूर करने वाले सूर्य तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाशक हो, मैं ब्राह्मण रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी आराधना करता हूँ। इस वधू का जो पशुओं के लिये हानिकारक अंग हैं, इसके उपकार के लिये उनका नाश करो स्वाहा [३] हे सभी दोषों को दूर करने वाले चन्द्र तुम (इन्द्रादि) देवताओं के (मध्य) पापों के नाश करने वाले हो, मैं ब्राह्मण रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी आराधना करता हूँ। इस वधू के जो घर के विनाश के लिये अंग हैं इसके उपकार के लिये उनका नाश करो स्वाहा [४] हे सभी दोषों को नष्ट करने वाले गन्धर्व तुम (इन्द्रादि) देवताओं, के (मध्य) पाप नाशक हो, मैं ब्राह्मण रक्षा चाहता हुआ तुम्हारी आराधना करता हूँ। इस वधू के जो यश के घातक अंग हैं इसके उपकार के लिये उनका नाश करो स्वाहा [५] ॥ २ ॥

विशेष :—१—शाखा. गृ. सू. के १।१८।३ में भी प्राप्त होता है।

(हरिहर०)

चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। चतुर्थ्यां तिथौ विवाहतिथिमारभ्य अपररात्रे रात्रेः पश्चिमे यामे अभ्यन्तरतः गृहस्य मध्ये अग्निं वैवाहिकमुपसमाधाय पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्र पूर्ववद् ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीतास्थानाद् उत्तरतो जलपूर्णं ताम्रादिपात्रं स्थापयित्वा-

(हरिहर०)

(अत्र 'ब्रह्माणमुपवेश्य' इति पुनर्वचनमुदपात्रप्रतिष्ठापनावसरज्ञापनार्थम्)। स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा पर्युक्षणान्ते आघारानन्तरमाज्यभागाविष्टाऽऽज्याहुतीर्जुहोति आज्येन पञ्चाहुतीर्वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहोति–अग्ने प्रायश्चित्त इति आदिभिः ॥ १–२ ॥

(गदाधर०)

'चतुर्थ्यामपर······नाशय स्वाहेति।' विवाहाद्या चतुर्थी तिथिस्तस्यामपररात्रे अन्तिमप्रहरे अभ्यन्तरतः गृहस्य मध्ये अग्निमुपसमाधाय वैवाहिकमग्निं स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्याग्नेर्दक्षिणतो ब्रह्मण उपवेशनार्थं कुशानास्तीर्य तत्र ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य अग्नेरुत्तरतः प्रणीतास्थलं त्यक्त्वोदकयुक्तं पात्रं स्थापयित्वा स्थालीपाकं श्रपयित्वा स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्टाऽऽज्याहुतीर्जुहोति आज्येन "अग्ने प्रायश्चित्ते" इत्येतैः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाहुतीर्जुहोति। अत्रापररात्रग्रहणं पूर्वाह्णव्युदासार्थम्। चतुर्थीकर्मणो विवाहाङ्गत्वाद्बहिः शालायां माभूदित्यभ्यन्तरग्रहणम्। अग्निमुपसमाधायेति ग्रहणमभ्यन्तरगुणविधानार्थम्। ब्रह्माणमुपवेश्येति च उदपात्रस्थापनावसरविधानायोक्तम्। चरोर्भूतोपादानं माभूदिति श्रपयित्वेत्युच्यते। आज्यभागाविष्टेतिग्रहणमाज्याहुतिकालविधानार्थम्। मन्त्रार्थः—हे अग्ने हे प्रायश्चित्ते सर्वदोषापाकरणे यतस्त्वं देवानामिन्द्रादीनां मध्ये प्रायश्चित्तिः दोषापाकर्ताऽसि, अहं च ब्राह्मणः ब्रह्मण्यः वैदिको वा भूत्वोपधावामि; आराधयामि किम्भूतोऽहम्? नाथ उपयाच्ञायाम्। आशीष्कामः ऐश्वर्यकामो वा प्रार्थयानो वा। उपधावनप्रयोजनमाह–या अस्यै (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) अस्या वध्वाः पतिघ्नी तनूस्तन्वा अवयवस्ताम् अस्यै इमामुपकर्तुं नाशय अपनय तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु। समुदायवाचकोऽपि तनूशब्दोऽत्रावयववाचको ज्ञेयः। तेन यदस्याः पतिनाशकमङ्गलक्षणं हस्तरेखादि सामुद्रिकलक्षणोक्तं तदपाकृत्य शोभनमङ्गं विधेहीति वाक्यार्थः। एवमुपर्यपि व्याख्येयम्। तनूविशेषणं देवता च भिद्यते। तद्यथा–हे वायो पवन, प्रजाघ्नी अपत्यनाशिनी, एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ १–२ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति प्रजापतये स्वाहेति ॥ ३ ॥ हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सꣳस्रवान्त्समवनीय तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति–या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासाविति ॥ ४ ॥ अथैनाꣳ स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधाम्यस्थिभिरस्थीनि माꣳसैर्माꣳसानि त्वचा त्वचमिति ॥ ५ ॥

(सरला)

व्याख्या—स्थालीपाकस्य=चरु रूप हविर्द्रव्य की; प्रजापतये स्वाहा=प्रजापति के लिए स्वाहा; इति=इस मंत्र से; जुहोति=आहुति देता है ॥३॥ एतासाम् आहुतीनाम्=[उपरोक्त] इन छः आहुतियों को; हुत्वा हुत्वा = प्रदान करते हुए; संस्रवान् = स्रुवा में बची हवि को; उदपात्रं समवनीय = जल

(सरला)

पात्र में (डालते जाना चाहिए या) छोड़कर; ततः = उस (पात्र) से; एनां = इस वधू को; मूर्द्धनि = मूर्धा पर; अभिषिञ्चति = अभिषेक "याते पतिघ्नी...सहासा" इति = इस मंत्र से करता है। हे असौ = हे कन्ये ! याते पति प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूः = जो तुम्हारे पति के लिए घातक, सन्तान के लिए हानिकारक, पशुओं के लिये घातक, घर के लिये विनाशकारी, यश के लिये हानिकारक एवं निन्दित अंग हैं, तत एनां = उसको इस अभिषेक कर्मसे जारघ्नीं करोमि = उपपति आदि दोप का घातक बनाता हूँ। सा त्वं मया सह=वह तुम मेरे (पति के) साथ; जीर्य = बुढ़ापे को प्राप्त हो ॥ ४ ॥ अथ = इसके बाद, प्राणैस्ते त्वचम्" इति = इस मंत्र से; एनां = इस वधू को; स्थालीपाकं = शेष हवि को वर; प्राशयति = खिलाता है। प्राणैः ते प्राणान् संदधामि = हे कन्ये ! तुम्हारे प्राणों के साथ मैं अपने प्राणों को मिलाता हूँ। अस्थिभिः अस्थीनि = तुम्हारी अस्थियों के साथ अस्थियों को; मांसैः मांसानि, त्वचा त्वचम् = मांसों के साथ मांसों को एवं त्वचा के साथ त्वचा को [मिलाता हूँ] ॥ ५ ॥

हिन्दी :—चरु रूप हविर्द्रव्य की प्रजापति के लिये स्वाहा, इस मंत्र से आहुति देता है ॥ ३ ॥ [उपर्युक्त] इन छः आहुतियों को प्रदान करते हुए स्रुवा में बची हवि को जलपात्र में (डालते जाना चाहिये या) छोड़कर उस (पात्र) से इस वधू को मूर्धा पर अभिषेक "याते पतिघ्नी''' '''''सहासा" इस मंत्र से करता है। हे कन्ये ! जो तुम्हारे पति के लिये घातक, संन्तान के लिये हानिकर, पशुओं के लिये घातक, घर के लिये विनाशकारी, यश के लिये हनिकारक एवं निन्दित अंग हैं उसको इस अभिषेक कर्म से उपपति आदि दोष का घातक बनाता हूँ। वह तुम मेरे (पति के) साथ बुढ़ापे को प्राप्त हो ॥ ४ ॥ इसके बाद "प्राणैस्ते''''''त्वचम्" इस मंत्र से वधू को शेष हवि को वर खिलाता है।

हे कन्ये ! तुम्हारे प्राणों के साथ मैं अपने प्राणों को मिलाता हूँ। तुम्हारी अस्थियों के साथ अस्थियों को, मांसों के साथ मांसों को एवं त्वचा के साथ त्वचा को [मिलाता हूँ] ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

स्थालीपाकस्य जुहोति । स्थालीपाकस्य चरोः 'प्रजापतये स्वाहा' इति एकामाहुतिं जुहोति ॥ ३ ॥

हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सꣳस्रवान्त्समवनीय । 'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्यादिना प्रजापत्यन्तानां षण्णामाहुतीनां प्रत्येकं हुत्वा संस्रवान् हुतशेषान् उदपात्रे समवनीय प्रक्षिप्य केषांचिन्मते स्विष्टकृदाहुतेरपि । तत एनां मूर्धन्यभिषिञ्चति । ततः तस्मादुदपात्रादुदकमादाय एनां वधूं वरो मूर्धन्यभिषिञ्चति—'या ते पतिघ्नी' इत्यादिना 'सा जीर्य त्वं मया सह देवि' इत्यन्तेन ॥ ४ ॥

अथैनाꣳ स्थालीपाकं प्राशयति । अथ अभिषेकानन्तरम् एनां वधूं स्थालीपाकं चरुशेषम् 'प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि' इत्यादिना 'त्वचा त्वचम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण वरः प्राशयति ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

'स्थाली''''''स्वाहेति ।' आज्याहुत्यनन्तरं स्थालीपाकस्य चरोः 'प्रजापतये स्वाहा' इति मन्त्रेणोपांशुपठितेनैकामाहुतिं जुहोति । स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी ॥ ३ ॥

(गदाधर०)

'हुत्वा हुत्वै'''सहासाविति' । एतासां षण्णामाहुतीनामेकैकामाहुतिं हुत्वा उत्तरतः प्रतिष्ठापिते उदपात्रे संस्रवान् समवनीय स्रुवलग्नाज्यचर्वंवयवान् प्रक्षिप्य ततस्तस्मात्संस्रवमिश्रमुदकं गृहीत्वा एनां वधूं मूर्द्धनि मस्तके अभिषिञ्चति "या ते पतिघ्नी" इति मन्त्रेण । षण्णामाहुतीनामत्र संस्रवभक्षणलोपः । इतरासां तु भवत्येव । हुत्वा हुत्वेति ग्रहणं सर्वाहुत्यन्ते संस्रवनिनयनं माभूदित्येतदर्थम् । मूर्द्धाभिषेकश्चागन्तुकत्वाद्दक्षिणादानान्ते भवति । असौ स्थाने आमन्त्रणविभक्तियुक्तं वध्वा नामग्रहणं कार्यम् । मन्त्रार्थः—हे असौ कन्ये या ते तवापत्यादिघातिनी पञ्चधा दुष्टा तनूः अत एव निन्दिता ततोऽनेनाभिषेचनेन एनां तनूं जारघ्नीम् उपपत्यादिदोषघातिनीं करोमि, सा त्वं मया पत्या भर्त्रा सह जीर्यं निर्दुष्टवृद्धत्वं गच्छ ॥ ४ ॥

'अथैनाᳫं''''''त्वचमिति ।' अथाभिषेकानन्तरमेनां वधूं स्थालीपाकं चरुं वरः प्राशयेत्—'प्राणैस्ते प्राणान्' इति मन्त्रेण । वधूसंस्कारोऽयं न तु द्रव्यप्रतिपत्तिः । अतो द्रव्यस्य नाशदोषादावन्यद्रव्येण प्राशनं कार्यम् । तदुक्तं कारिकायाम्—

वधूसंस्कार एवायं प्रतिपत्तिरियं न तु । अतो द्रव्यविनाशादौ द्रव्येणान्येन तद्भवेत् ॥
शेषद्रव्यविनाशादौ लुप्यन्ते प्रतिपत्तयः ॥

अत्र स्त्रिया सह वरोऽपि समाचाराद्भोजनं करोति । स्त्रिया सह भोजनेऽपि न दोष इत्याह हेमाद्रौ प्रायश्चित्तकाण्डे गालवः—

एकयानसमारोह एकपात्रे च भोजनम् । विवाहे पथि यात्रायां कृत्वा विप्रो न दोषभाक् ॥
अन्यथा दोषमाप्नोति पश्चाच्चान्द्रायणं चरेत् ॥

मिताक्षरायामप्येवम् । मन्त्रार्थः—हे कन्ये मम प्राणादिभिस्ते तव प्राणादीन्संदधामि संयोजयामि ॥ ५ ॥

तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ ६ ॥ तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम् ॥ ७ ॥ यथाकामी वा काममाविजनितोः संभवामेति वचनात् ॥ ८ ॥

(सरला)

व्याख्या—तस्मात्=[क्योंकि इस हवि के खाने से पति के साथ स्त्री की एकता हो गई है] इसलिए; एवंविद्=ऐसा जानकर [पति को]; श्रोत्रियस्य दारेण=वेदज्ञ की स्त्री के साथ; उपहासं न इच्छेत्=भोग की कामना नहीं करनी चाहिए। उत हि एवंविद् = यदि पति ऐसा जानकर भी [दूसरी स्त्री से भोग करता है तो यह] परः भवति = पराभव को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ ताम् उदुह्य = उस (वधू) को घर ले जाकर यथर्तु = ऋतु ऋतु में [जब ऋतुदर्शन हो तब]; प्रवेशनम् = अभिगमन [सम्भोग] करना चाहिए ॥ ७ ॥ वा = अथवा; यथाकामी = जब (स्त्री की) कामना हो तब; कामम् = (क्यों कि) स्वेच्छया हम; आविजनितोः = सन्तानोत्पत्ति पर्यन्त, संभवाम = पति के साथ संबन्ध को प्राप्त होवें; इति वचनात् = स्त्रियों को इन्द्र से यह वर प्राप्त हुआ है ॥ ८ ॥

(सरला)

हिन्दी :—[क्योंकि इस हवि के खाने से पति के साथ स्त्री की एकता हो गई है] इसलिये ऐसा जानकर [पति को] वेदज्ञ की स्त्री के साथ भोग की कामना नहीं करनी चाहिए। यदि पति ऐसा जानकर [दूसरी स्त्री से भोग करता है तो वह] पराभव को प्राप्त होता है[1] ॥ ६ ॥ उस [वधू] को घर ले जाकर ऋतु ऋतु में [जब ऋतु दर्शन हो तब] तब अभिगमन [सम्भोग] करना चाहिये ॥ ७ ॥ अथवा जब कामना हो तब 'स्वेच्छया' हम प्रसव होने तक पति के साथ संगत को प्राप्त होवें, क्योंकि (स्त्रियों का इन्द्रादि से वर प्रार्थना) वचन होने से[2] ॥ ८ ॥

१—विशेष :—शतपथ ब्राह्मण १।६।१।१८; १४ अध्याय का ९।४।११।
बृहदारण्यक ६।४।१२।
२—द्र०—तैत्तिरीय संहिता २।५।१।५।

(हरिहर०)

तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित् परो भवति। यतोऽनेन चरुशेषप्राशनकर्मणा भर्त्रा सहैक्यं प्राप्ता दाराः, तस्मादेवंवित्पुरुषः श्रोत्रियस्य विदुषः दारेण भार्यया सह उपहासं मैथुनं नेच्छेत् न कामयेत्; हि यस्मात् एवंविदपि श्रोत्रियः परः शत्रुर्भवति॥ ६ ॥

तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्। एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण तां वधूं विवाहयित्वा विवाहकर्मणा भार्यात्वं संपाद्य यथर्तुप्रवेशनम् ऋतुकालमृतुकालं प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादिति शेषः॥ ७ ॥

यथाकामी वा। स्त्रियाः काममनतिक्रम्य यथाकामं, तदस्यास्तीति यथाकामी वा भवेत् न ऋतुकालाभिगमननियमः कुतः ? काममाविजनितोः संभवामेति वचनात्। कामं स्वेच्छया आविजनितोः आप्रसवात् संभवाम भर्त्रा सह संभवामेति स्त्रीणामिन्द्राद्वरप्रार्थनावचनात्। प्रजापतेरिति केचित्। अत्र यद्यपि यथर्तुप्रवेशनमिति सामान्येनोक्तम्, तथापि स्मृत्यन्तरोक्तपर्वादिनिषेधपालनं कुर्यात्। यथाह मनुः—

अमावास्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

याज्ञवल्क्योऽपि—

षोडशर्त्तुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्॥

इत्यादिनिषेधो यथाकामपक्षेऽपि समान एव। यतः प्राप्तेऽभिगमने निषेधः प्रवर्त्तते। गर्भिण्यभिगमने निषेधस्तु 'काममाविजनितोः संभवाम' इतिवचनाद्बाध्यते। ऋतावनभिगमने दोषमाह मनुः—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥

तथा—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥

तथा—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः। यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिताः॥

इत्यादिभिः स्मृतिभिः स्त्रीरक्षाया विहितत्वात् तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशङ्कासंभवाद्रक्षार्थं याथाकाम्यम्। तस्माद्याथाकाम्ये तु न नियमः। यथाकामी वेती विकल्पाभिधानात् अनभिगमने तु प्रत्यवायस्मरणाभावाच्च। अतो लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिश्च ॥ ८ ॥

(गदाधर०)

'तस्मादे······परो भवति ।' हि यस्मादस्या एतेन प्राशनाख्यसंस्कारेण भर्त्रा सहैक्यं वृत्तं, तस्माच्छ्रोत्रियस्य दारेण उपहासमभिगमनं नेच्छेत् । स चैवंविदेवंकुर्वन्परो भवति पराभवं गच्छति यद्वा एवंविच्छ्रोत्रियस्य परः शत्रुर्भवति । उत अप्यर्थे । निन्दार्थवादोऽयम् । परदाराभिगमनमतो न कार्यम् ॥ ६ ॥

समाप्तं चतुर्थीकर्म ।

स्वभार्याऽभिगमनमाह—'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्' । तां वधूं पूर्वोक्तविधिना उदुह्य विवाहयित्वा यथर्तु ऋतावृतौ प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादित्यर्थः । याज्ञवल्क्यः—
षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत् । ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् ॥

स्त्रीणां षोडश निशा ऋतुः गर्भाधानयोग्यः कालः, तत्रोक्तविधिना गच्छन् ब्रह्मचार्येव ।
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा । चत्वार्येतानि पर्वाणि रविसंक्रान्तिरेव च ॥

मनुः—
अमावास्याऽष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

तथा—
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा । त्रयोदशी च शेषाः स्यु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥

ऋतोरेकादशीत्रयोदश्यौ, न पक्षस्य । हारीतस्तु—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति ॥ इति ।

ततश्चतुर्थ्यां स्त्रीगमनस्य विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः । स च व्यवस्थितः रजोनिवृत्तौ चतुर्थ्यां विधिः, तदनिवृत्तौ प्रतिषेधः ।

मनुः—

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ इति ।

साध्वी गर्भाधानादिविहितकर्मयोग्येत्यर्थः । [ज्योतिःशास्त्रे—'पित्र्यं पौष्णं नैर्ऋतं चापि धिष्ण्यं त्यक्त्वा' इति । पित्र्यं मघा, पौष्णं रेवती, नैर्ऋतं मूलम् । अत्र समासु पुत्रो विषमासु कन्या इति ज्ञेयम् । हेमाद्रौ शङ्खः—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तत्राप्युत्तरोत्तराः प्रशस्ताः । तदाहापस्तम्भः—'तत्राप्युत्तरोत्तराः प्रशस्ताः' इति । व्यासः—
रात्रौ चतुर्थ्यां पुत्रः स्यादल्पायुर्धनवर्जितः । पञ्चम्यां पुत्रिणी नारी षष्ठ्यां पुत्रस्तु मध्यमः ॥
सप्तम्यामप्रजा योषिदष्टम्यामीश्वरः पुमान् । नवम्यां सुभगा नारी दशम्यां प्रवरः सुतः ॥
एकादश्यामधर्मा स्त्री द्वादश्यां पुरुषोत्तमः । त्रयोदश्यां सुता पापा वर्णसंकरकारिणी ॥
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च आत्मवेदी दृढव्रतः । प्रजायते चतुर्दश्यां पञ्चदश्यां पतिव्रता ॥
आश्रयः सर्वभूतानां षोडश्यां जायते पुमान् ।

तच्चैकस्यां रात्रौ सकृदेव कार्यम् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥

इति याज्ञवल्क्योक्तेः । इदं चर्तौ गमनमन्यकाले प्रतिबन्धादिनाऽसम्भवे श्राद्धैकादश्यादावपि कार्यम्,

(गदाधर०)

ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् ।

इति याज्ञवल्क्योक्तेः । व्याख्यातं चेदं मिताक्षरायाम्—यत्र श्राद्धादौ ब्रह्मचर्यं विहितं तत्राप्यृतौ गच्छतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोष इति । स्त्रीणां बहुत्वे ऋतौ यौगपद्ये च गमनक्रममाह देवलः—

यौगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादिक्रमशो व्रजेत् ।
रक्षणार्थमपुत्राणां ग्रहणक्रमशोऽपि वा ॥ इति ।

तीर्थम्=ऋतुः । विप्रादिक्रमः=वर्णक्रमः । ग्रहणक्रमो विवाहक्रमः । अगमने दोषमाह पराशरः—

ऋतौ स्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ इति ।

अस्यापवादमाह मदनरत्ने—

ऋतुकालेऽपि नारीणां भ्रूणहत्या प्रमुच्यते । वृद्धां वन्ध्यामसद्वृत्तां मृतापत्यामपुष्पिणीम् ॥
कन्यां च बहुपुत्रां च वर्जयन्मुच्यते भयात् ॥

ऋतौ स्नानमाहापस्तम्बः—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् । अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥

स्त्रीणां तु न स्नानम् ,

उभावप्यशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ । शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान् ॥

इति वृद्धशातातपवचनात् ।

अत्र प्रसङ्गाद्रजस्वलोपयोगि किञ्चिन्निरूप्यते । तत्र स्मृत्यर्थसारे–दिवा रजःस्रावे तद्दिनमशुचित्वं स्यात् । रात्रौ रजःस्रावे सति अर्द्धरात्रादर्वाक्चेत्पूर्वदिनमित्येकः पक्षः । रात्रिं त्रिधा विभज्य पूर्वभागद्वये चेत्पूर्वदिनमित्यन्यः पक्षः । उदयात् पूर्वंचेत्पूर्वदिनमित्यपरः पक्षः । एषां पक्षाणां देशाचारतो व्यवस्था । अविज्ञाते रजःस्रावे तु दिनेषु जातेषु रजःस्रावादिकमशुचित्वं स्यात् । ज्ञानात्पूर्वं च रजस्वलास्पृष्टं दुष्टमेव । रजस्वला त्रिरात्रमशुचिः स्यात्, चतुर्थेऽहनि स्नाता शुद्धा भवति भर्तुः स्पृश्या, रजोनिवृत्तौ शुचिः दैवे पित्र्ये च कार्ये । रजस्वला चतुर्थेऽहनि मृत्तिकादिभिः शौचं कृत्वा क्षत्रियादिस्त्री च पादपादन्यूनमृत्तिकाभिर्विधवा द्विगुणमृत्तिकाभिः शौचं कृत्वा दन्तधावनपूर्वकं सङ्गमे सचैलं स्नायात् । रजस्वलायाः स्नातायाः पुनरपि रजोदृष्टौ अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं नास्ति । अष्टादशे दिने रजोदृष्टावेकरात्रमशुचित्वम्, नवदशदिने द्विरात्रम्, विंशतिदिने त्रिरात्रमेव । प्रायो विंशतिदिनादूर्ध्वं रजःस्राविणीनामेवं भवति । विंशतिदिनादर्वाक् प्रायशो रजोदर्शनवतीनामष्टादशदिनेऽपि त्रिरात्रमशुचित्वम् । त्रयोदशदिनादूर्ध्वं प्रायो रजःस्राविणीनामेकादशदिनादर्वागशुचित्वं नास्ति । एकादशदिने रजोदृष्टौ एकदिनमशुचित्वम्, द्वादशदिने द्विरात्रम्, त्रयोदशदिने त्रिरात्रमेव । प्रयोगपारिजातेऽप्येवम् । रोगजे तु तत्रैवोक्तम्—

रोगेण यद्रजः स्त्रीणामन्वहं हि प्रवर्तते । नाशुचिस्तु भवेत्तेन यस्माद्वैकारिकं मतम् ॥ इति ।

तत्रापि स्वकाले अशुचिरेव । तदुक्तम्—

रोगजे वर्तमानेऽपि काले निर्याति कालजम् । तस्मादप्यप्रमत्ता स्यादन्यथा संकरो भवेत् ॥

रजस्वलाया रजस्वलास्पर्शे अकामतः स्नानम्, कामत उपवासः पञ्चगव्याशनं च । असवर्णासु तु ब्राह्मण्याः क्षत्रियादिस्पर्शे क्रमेण कृच्छ्रार्द्धपादोनकृच्छ्रकृच्छ्राः । क्षत्रियादीनां

(गदाधर०)

तु कृच्छ्रपाद एव । क्षत्रियादीनां हीनवर्णस्पर्शे त्रिरात्रमुपवासः, एतच्च कामतः । अकामतस्तु प्राक् शुद्धेरनशनम् । अकामतश्चाण्डालादिस्पर्शेऽप्यनशनमेव प्राक् शुद्धेः । कामतस्तु प्रथमेऽह्नि त्र्यहः, द्वितीये द्व्यहः, तृतीये एकाहः । श्वस्पर्शे तु द्व्यह एकाहो वा । भुञ्जानायाश्चाण्डालादिस्पर्शे षड्रात्रम् । उच्छिष्टयोः स्पर्शे तु कृच्छ्र इत्यादि मिताक्षरायां ज्ञेयम् । स्मृत्यर्थसारे तु—सर्वत्र बालापत्यास्पर्शे स्नाने कृते भुक्तिः पश्चादनशनप्रत्याम्नाय इति ।

स्नानविधिं चाह पराशरः—

स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला । पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥
सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन । न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत् ॥

व्रतान्याह मदनपारिजाते वसिष्ठः—सा नाञ्ज्यान्नाभ्यञ्ज्यान्नाप्सु स्नायादधः शयीत न दिवा सुप्यान्न रज्जुं सृजेत् न मांसमश्नीयान्न ग्रहान्निरीक्षेत न हस्तेन किंचिदाचरेद् खर्वेण पात्रेण पिबेदञ्जलिना वा पात्रेण लोहितायसेन वेति । खर्वो वामहस्तः ॥ ७ ॥

'यथाकामीवचनात् ।' स्त्रियाः काममनतिक्रम्य यथाकामं तदस्यास्तीति यथाकामी वा भवेत् । न नियम ऋतावेवेति । कुत एतत् ? काममाविजनितोः संभवामेति वचनात्, कामं स्वेच्छया आविजनितोः आप्रसवात् संभवाम भर्त्रा सह संगता भवामेत्यर्थः । तथा तैत्तिरीयश्रुतौ—"स इन्द्रः स्त्रीषंससादमुपासीदत् अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृह्णीतेति ता अब्रुवन्वरं वृणामहै ऋत्वियात्प्रजा विन्दामहै काममाविजनितोः संभवामेति तस्मादृत्वियात्स्त्रियः प्रजा विन्दत" इति । अस्यार्थः— स इन्द्रः स्त्रीणां षंससादं समूहम् उपासीदत् उपसाद (षत्वं छान्दसम्) अस्यै अस्याः ब्रह्महत्यायास्तृतीयांशं प्रतिगृह्णीतेति ता अब्रुवन् वरं वृणामहै ऋतुसंबन्धिगमनम् ऋत्वियं तस्मात् आविजनम् आविजनितुः तस्मात् आविजनितोः आगर्भप्रसवकालात् संभवाम पुरुषेण संयुक्ता भवाम । एवं च सति विकल्पोऽयम् । तथा च स्मृतिः—'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जमिति' ॥ ८ ॥

अथास्यै दक्षिणाᳪंसमधि हृदयमालभते—यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳫं शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ ९ ॥ एवमत ऊर्ध्वम् ॥ १० ॥

इति एकादशी कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—अथ=मैथुन के बाद "यत्ते सुसीम'''शतम्" इति=इस मंत्र को पढ़ता हुआ; अस्यै दक्षिणांसम् अधि=स्त्री के दहिने कन्धे के ऊपर से हाथ ले जाकर; हृदयमालभते=हृदय का स्पर्श करता है। हे सुसीमे=हे अच्छी सीमन्त वाली [शोभना सीमा मूर्ध्नि केशमध्ये पद्धतिः यस्या सा तस्याः संबोधनं] यद् ते हृदयं दिवि चन्द्रमसि [च] श्रितम्=जो तुम्हारा हृदय द्यौ और चन्द्रमा में स्थित है; तद् अहं वेद=उसको मैं जानूँ, तद् मां विद्यात् = वह मुझे जाने [अर्थात् मैं उसके अनुकूल होऊँ, वह मेरे अनुकूल होवे और इस प्रकार एक दूसरे के अनुकूल हृदय होकर] पश्येम शरदः शतम्=हम सौ शरद ऋतुओं को देखें; जीवेम शरद शतम् = सौ शरद ऋतुओं तक

(सरला)

जीएँ, और; शृणुयाम शरदः शतम् = सौ शरदः ऋतुओं तक सुनें ॥ ९ ॥ एवम् = इसी प्रकार; अतः = इसके; ऊर्ध्वम्=पश्चात् भी [जब जब सम्भोग करे तब तब इसी मंत्र से हृदय स्पर्श करना चाहिए] ॥ १० ॥

हिन्दीः—मैथुन के बाद "यत्ते सुसीम.........शतम्" इस मंत्र को पढ़ता हुआ स्त्री के दाहिने कन्धे के ऊपर से हाथ ले जाकर हृदय का स्पर्श करता है। हे अच्छी सीमन्त वाली! जो तुम्हारा हृदय स्वर्ग और चन्द्रमा में स्थित है उसको मैं जानूँ, वह मुझे जाने [अर्थात् मैं उसके अनुकूल होऊँ, वह मेरे अनुकूल होवे और इस प्रकार एक दूसरे के अनुकूल हृदय होकर] हम सौ शरद ऋतुओं को देखें, सौ शरद ऋतुओं तक जीएँ और सौ शरद ऋतुओं तक सुनें ॥ ९ ॥ इसी प्रकार इसके पश्चात् भी [जब जब सम्भोग करे तब तब इसी मंत्र से हृदय स्पर्श करना चाहिये] ॥ १० ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथमकाण्ड की ग्यारहवीं कण्डिका समाप्त ॥ ११ ॥

(हरिहर०)

अथास्यै दक्षिणाऽंसमधिहृदयमालभते—यत्ते सुसीम इति। अथ अभिगमनानन्तरम् अस्यै अस्या भार्यायाः दक्षिणांसं दक्षिणस्कंधमधि उपरि दक्षिणं हस्तं नीत्वा हृदयमालभते हृदय वक्षः आलभते स्पृशति 'यत्ते सुसीमे' इत्यादिना 'शृणुयाम शरदः शतम्' इति अनेन मन्त्रेण ॥ ९ ॥ एवमत ऊर्ध्वम्। एवमनेनैव प्रकारेण अतोऽनन्तरम् ऋतावृतौ प्रवेशनं यथाकामं वा। इति सूत्रार्थव्याख्या ॥ १० ॥

अथ चतुर्थीकर्मप्रयोगः

तत्र विवाहाच्चतुर्थ्यामपररात्रे गृहाभ्यन्तरतः पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा विवाहाग्नेः स्थापनम्, दक्षिणतो ब्रह्मोपवेशनम्, प्रणीतास्थानादुत्तरत उदपात्रस्थापनं,प्रणीताप्रणयनादि आज्यभागान्तमावसथ्याधानवत् कुर्यात्। आज्यभागानन्तरम् 'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाज्याहुतीर्हुत्वा। तद्यथा—'अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा' इदमग्नये। 'वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा" इदं वायवे। "सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा" इदं सूर्याय। "चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा" इदं चन्द्रमसे। "गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा" इदं गन्धर्वाय। ततः स्थालीपाकेन "प्रजापतये स्वाहा" इदं प्रजापतये इति प्राजापत्यान्तं हुत्वा "अग्ने प्रायश्चित्ते" इत्यादिप्राजापत्यान्तानां षडाहुतीनां संस्रवमुदपात्रे प्रक्षिपेत्। केषांचिन्मते स्विष्टकृतोऽपि संस्रवं प्रक्षिपेत्। अन्यासामाहुतीनां पात्रान्तरे संस्रवान्प्रक्षिपेत्। ततः अग्नये स्विष्टकृते हुत्वाऽऽज्येन महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्वा जुहोति। ततः पात्रान्तरस्थान् संस्रवान् प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा उदपात्रादुदकमादाय वधूं मूर्धन्यभिषिञ्चति—"या ते पतिघ्नी पशुघ्नी

(हरिहर०)

गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्यं त्वं मया सहासौ" इत्यनेन मन्त्रेण। अथ वरो वधूं स्थालीपाकं हुतशेषं सकृत् प्राशयति—"प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि अस्थिभिरस्थीनि माᳬसैर्माᳬसानि त्वचा त्वचम्" इति अनेन मन्त्रेण। सा च भर्त्रा मन्त्रे पठिते प्राश्नाति।

अथ ऋतुकाले रजोदर्शने सञ्जाते पुण्याहे गर्भाधाननिमित्तं मातृपूजापूर्वकं स्वयम् आभ्युदयिकं कृत्वा रात्रावभिगमनं कुर्यात्। अभिगमनानन्तरं वध्वा दक्षिण-स्कंधस्योपरि दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं स्पृशति "यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬ शृणुयाम शरदः शतम्" इत्यनेन मन्त्रेण। एवं श्राद्धवर्जं प्रत्यृतुकालमभिगमनं कुर्यात्, यथाकामी वा भवेत्, ऋतुकालाभिगमनं कुर्वन् ब्रह्मचर्यात् न स्खलति,

ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्॥

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्। अनभिगमने तु दोषस्य श्रवणात्,
ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥

इत्यादिप्रत्यवायस्मरणाच्च ऋतुकालाभिगमने नियमः। याथाकाम्ये तु न नियमः, यथाकामी वेति विकल्पविधानात्। अतः—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः॥

इत्यादिभिः स्मृतिभिः स्त्रीरक्षाया विहितत्वात् तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशङ्का-संभवात् तद्रक्षार्थं याथाकाम्यम्। इति चतुर्थीकर्मपद्धति॥

विष्णुपुराणे—

ऋतावभिगमः शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते।
पुन्नामर्क्षे शुभे काले श्रेष्ठे युग्मासु रात्रिषु॥
नास्नातां तां स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम्।
नाप्रशस्तां न कुपितां नानिष्टां न च गुर्विणीम्॥
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम्।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः॥
स्नातः स्रग्गन्धधृक् प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽपि वा।
सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत्॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याऽथ पूर्णिमा।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च॥
तैलस्त्रीमांससंभोगी पर्वस्वेतेषु वै पुमान्।
विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः॥

॥ इति चतुर्थीकर्मपद्धतिः॥

(गदाधर०)

'अथास्यै······शतमिति'। अथ मैथुनोत्तरं अस्या भार्याया दक्षिणांसं दक्षिणस्कन्धमधि उपरि स्वहस्तं नीत्वा तेनैव हस्तेन हृदयमालभते स्पृशति 'यत्ते सुसीम' इति मन्त्रेण। अत्र कर्कभाष्यम् हृदयालम्भश्चाभिगमनोत्तरकालीनः। प्राक्कालीनः इत्यपरे, अप्रयतत्वादिति। नैतदिति जयरामः, यतो गर्भसंभावनायां तदुपयुज्यते। प्रयतत्वं च शौचादिनाऽपि स्यादेव। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।
अनृतौ तु सदा गच्छञ्छौचं मूत्रपुरीषवत्॥ इति॥

अभिगमनानन्तरमनाचान्त एव दक्षिणांसमधिहृदयमालभत इति भर्तृयज्ञः। मन्त्रार्थः—शोभना सीमा मूर्ध्नि केशमध्ये पद्धतिर्यस्याः सा तस्याः संबोधनं हे सुसीमे शोभनसीमन्तिनि यत्ते तव हृदयं मनः दिवि स्वर्गे वर्तमाने चन्द्रमसि श्रितं तदधीनतया स्थितम्, तदहं वेद जानीयाम्, तच्च मां विद्यात् जानातु एवं परस्परानुगुणितहृदयाऽपत्यादिसहिता वयं शरदः शतमित्याद्युक्तार्थम्॥ ९॥

'एवमत ऊर्ध्वम्'। प्रथमर्तौ यथा हृदयालम्भः कृतः एवमनेन प्रकारेण अतोऽनन्तरमूर्ध्वम् ऋतावृतौ हृदयालम्भः कार्यः। हरिहरव्याख्या चैवम्-एवमनेन प्रकारेणातोऽनन्तरम् ऋतावृतौ प्रवेशनं यथाकामं वेति॥ १०॥

॥ इति एकादशीकण्डिका॥ ११॥

अथ पदार्थक्रमः

तत्र चतुर्थ्यामपररात्रे स्नानपूर्वकं गृहाभ्यन्तरतः कर्म कार्यम्। देशकालौ स्मृत्वा विवाहाङ्गं चतुर्थीकर्म करिष्ये इति सङ्कल्पः। ततो वैवाहिकमग्निं स्थापयेत्। ब्रह्मोपवेशनम्। अग्नेरुत्तरत उदपात्रनिधानम्। ततः प्रणीताप्रणयनाद्याज्यभागान्तमाधानवत्। आज्यभागान्ते स्थाल्याज्येन पञ्चाहुतयो होतव्याः-अग्ने प्रायश्चित्त इति प्रथमा, इदमग्नये न मम। वायो प्रायश्चित्त इति द्वितीया, इदं वायवे न०। सूर्य प्रायश्चित्त इति तृतीया, इदं सूर्याय न०। चन्द्र इति चतुर्थी, इदं चन्द्राय०। गन्धर्व इति पञ्चमी, इदं गन्धर्वाय न०। ततश्चरुं स्रुवेणादाय प्रजापतये स्वाहेति होमः, इदं प्रजापतये न०। अत्र इत्यादिषण्णामाहुतीनां संस्रवाणामुदपात्रे प्रक्षेपो हुत्वा हुत्वैव अन्यासामन्यत्र। ततः स्विष्टकृदादिदक्षिणादानान्तम्। तत उदपात्रजलेन वधूमूर्ध्नि "या ते पतिघ्नी" इत्यभिषेकः। 'असौ स्थाने नामग्रहणं हे प्रिये इति। ततो वरः 'प्राणैस्ते' इति चरुशेषं वधूं प्राशयति सकृत्। अत्र समाचाराद्वरोऽपि कन्याहस्तेन भोजनं करोति। इति पदार्थक्रमः॥

अथ गर्गमते विशेषः—ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं पूर्ववत्। प्रत्यक्षब्रह्माण उपवेशनम्। ग्रहणे प्रजापतये जुष्टं गृह्णामि। आज्यभागान्ते पञ्चाहुतयस्ततः स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति मूर्द्धन्यभिषेकः। ततः स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते इति चतुर्भिः प्रतिमन्त्रं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्तम्। आज्येन स्विष्टकृदिति गर्गपद्धतौ। प्राशनादिपूर्णपात्रदानान्तम् इतिगर्गमते क्रमः॥

(गदाधर०)

अथ गर्भाधाने पदार्थक्रमः

प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धम् । सङ्कल्पः—देशकालौ स्मृत्वा अस्या मम भार्यायाः प्रतिगर्भं संस्कारातिशयद्वाराऽस्यां जनिष्यमाणसर्वगर्भाणां बीजगर्भसमुद्भवैनोनिवर्हणद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं गर्भाधानाख्यं कर्माहं करिष्ये इति । ततो रात्रावभिगमनं ब्रह्मसूत्रं मूत्रपुरीषवद्धार्यम् । स्नानम् । ततो दक्षिणांसमधि हृदयमालभते—'यत्ते सुसीम' इति । न कश्चिदत्र विशेषो गर्गमते ॥ इति गर्भाधाने क्रमः ॥

अथ प्रथमे रजोदर्शने विशेषः—

तत्र प्रथमे रजोदर्शने मासादौ दुष्टे सति गर्भाधानस्य शान्तिपूर्वकं कर्तव्यत्वाच्छान्तिकं वक्तुं दुष्टमासाद्युच्यते—प्रथमे रजसि चैत्रज्येष्ठाषाढभाद्रपदकार्तिकपौषा अशुभाः। आश्विनो मध्यमः। शेषाः शुभाः। क्वचिद्वैशाखफाल्गुनपूर्वार्द्धयोरधमत्वमुक्तम् । तिथिषु प्रतिपच्चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीद्वादशीचतुर्दशीपौर्णमास्यमावास्या अशुभाः, शेषः शुभाः। क्वचित्सप्तम्येकादश्यावशुभे, अष्टमीद्वादश्यौ शुभे इत्युक्तम् । वारेषु रविभौममन्दवारा अशुभाः, अन्ये तु शुभाः। कैश्चित्सोमोऽप्यशुभ उक्तः। नक्षत्रेषु भरण्यार्द्रापुष्याश्लेषापूर्वाज्येष्ठामूलपूर्वाषाढापूर्वाभाद्रपदारेवत्योऽशुभाः, चित्राविशाखाश्रवणाश्विनीमघास्वातयो मध्यमाः, अन्यानि शुभानि । कैश्चित्तु कृत्तिकापुनर्वस्वनुराधारेवत्योऽप्यशुभा उक्ताः। एवं च तासां मध्यमत्वम्, एवमन्यत्रापि । योगेषु व्याघातस्याद्या नव नाड्यो, गण्डातिगण्डयोः षट् षट् शूलस्य पञ्चदश, परिघपूर्वार्द्धं, वैधृतिव्यतीपाताश्चेत्यशुभाः, वज्रं मध्यमम्, अन्ये शुभाः। करणानि विष्टिं विना सर्वाणि शुभानि । अह्नि त्रेधाविभक्ते आद्यो भागः शुभः, द्वितीयो मध्यमः, तृतीयो दुष्टः। एवं रात्रौ । सूर्योदयास्तमयावप्यशुभौ । रविसंक्रमादधो नाडीचतुष्टयमूर्ध्वं चान्त्यं शुभम् । सङ्क्रान्त्यादिदग्धदिनेष्वशुभम् । रविचन्द्रोपरागयोरप्यशुभम् । सन्ध्योपप्लवशावाशौचेषु भर्तुरात्मनश्च चतुर्थाष्टमद्वादशस्थे चन्द्रे जीर्णरक्तनीलमलिनकृष्णवस्त्रेषु परिहितेषु न शुभम् । संमार्जनीकाष्ठतृणाग्निशूर्पतुषशुष्काम्बलोहपाषाणशस्त्रादि धारिण्या एतैर्युक्ते देशे चाशुभम् । देहलीद्वाररथ्यादिपितृमातृगृहेष्वशुभम् । ऊर्ध्वं स्थिताया निद्रितायाश्चाशुभम् । शय्यादौ शुभम् । पित्रादिसखिस्वभर्तृभिर्दृष्टमशुभम्; शय्यादौ शुभमित्यादि ज्ञेयम् । दुष्टमासादौ प्रथमरजोदर्शने ताम्बूलभक्षणादि मङ्गलाचारान्न कुर्यात् । द्वितीये तु शुभे तत्र कुर्यादिति । प्रथमे दुष्टरजोदर्शने द्वितीयं प्रतीक्ष्य तस्मिन्नप्यशुभे वक्ष्यमाणां विस्तरेण शान्तिं कुर्यादिति केचित् । प्रथम एव यथाशक्ति शान्तिं चरेदित्यपरे । अत्रैकस्मिन्नप्यशुभे वक्ष्यमाणा शान्तिः कार्या ॥ द्वित्राद्यशुभसन्निपाते तु तत्सूचितबह्वशुभनिरासार्थं वक्ष्यमाणाहुतिसंख्यादिविवृद्ध्या कार्या । यथाशक्तीत्यादि ज्ञेयम् ॥ इति शुभाशुभविचारः ॥

अथ शान्तिरुच्यते—

प्रयोगपारिजाते शौनकः—

पञ्चमेऽह्नि चतुर्थे वा ग्रहातिथ्यपुरःसरम् । द्रोणप्रमाणधान्येन व्रीहिराशित्रयं भवेत् ॥
कुम्भत्रयं न्यसेद्राशौ तन्तुवस्त्रादिवेष्टितम् । सूक्तेनाथ नवर्चेन प्रसुवआप इत्यथ ॥

आचार्यः प्रवरस्तद्वद्गायत्र्या च ततः क्रमात् ।
मध्यकुम्भे क्षिपेद्धान्यमौषधानि च हेम च ॥
उदुम्बरः कुशा दूर्वा राजीवं चम्पबिल्वकाः ।
विष्णुक्रान्ताऽथ तुलसी बर्हिषः शङ्खपुष्पिका ॥

(गदाधर०)

शतावर्यश्वगन्धा च निर्गुण्डी सर्षपद्वयम् । अपामार्गः पलाशश्च पनसो जीवकस्तथा ॥
प्रियङ्गवश्च गोधूमा व्रीहयोऽश्वत्थ एव च । क्षीरं दधि च सर्पिश्च पद्मपत्रं तथोत्पलम् ॥
कुरण्टकत्रयं गुञ्जा वचाभद्रकमुस्तकाः । द्वात्रिंशदौषधानीह यथासम्भवमाहरेत् ॥
मृत्तिकाश्चौषधादीनि तन्मन्त्रेण क्षिपेत्क्रमात् । कुम्भोपरि न्यसेत्पात्रं कांस्यमृद्वेणुताम्रजम् ॥
भुवनेश्वरीं न्यसेत्तत्र इन्द्राणीं च पुरन्दरम् । जपेद्गायत्रीं मध्यमे श्रीसूक्तं च जपेत्ततः ॥
स्पृशन्वै दक्षिणं कुम्भमृत्विगेको जपेदथ । चत्वारि रुद्रसूक्तानि चतुर्मन्त्रोत्तराणि च ॥
संस्पृशन्नुत्तरं कुम्भं श्रीरुद्रं रुद्रसङ्ख्यया । शन्नइन्द्राग्निसूक्तं च तत्रैव संस्पृशन् जपेत् ॥
कुम्भस्य पश्चिमे देशे शान्तिहोमं समाचरेत् । दूर्वाभिस्तिलगोधूमैः पायसेन घृतेन च ॥
तिसृभिश्चैव दूर्वाभिरेका वाऽऽघाहुतिर्भवेत् । अष्टोत्तरसहस्रं वा शतमष्टोत्तरं तु वा ॥
गायत्र्यैव तु होतव्यं हविरत्र चतुष्टयम् । ततः स्विष्टकृतं हुत्वा समुद्रादूर्मिसूक्ततः ॥
संततामाज्यधारां तां पूर्णाहुतिमथाचरेत् । अथाभिषेकं कुर्वीत प्रतिकुम्भस्थितोदकैः ॥
आपोहिष्ठेतिनवभिः सूक्तेन च ततः परम् । 'इन्द्रो अङ्ग' तृचेनैव पावमानैः क्रमेण तु ॥
उभयं शृणवच्चन स्वस्तिदाविश एकया । त्र्यम्बकेन मन्त्रेण जातवेदस एकया ॥
समुद्रज्येष्ठा इत्यादि त्रायन्तां च त्रिभिः क्रमात् ।
इमा आपस्तृचेनैव देवस्यत्वेति मन्त्रतः ॥
मन्त्रेणाथ तमीशानं त्वमग्ने रुद्र इत्यथ । तमुष्टुहीतिमन्त्रेण भुवनस्य पितरं यथा ॥
याते रुद्रेति मन्त्रेण शिवसङ्कल्पमन्त्रतः । इन्द्रस्वावृषभं पञ्चमन्त्रैश्चैवाभिषेचयेत् ॥
धेनुं पयस्विनीं दद्यादाचार्याय च भूषणैः । सदक्षिणमनड्वाहं प्रदद्याद्रुद्रजापिने ॥
महाशान्तिं प्रजप्याथ ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः ।

नारदः—

तत्र शान्तिं प्रकुर्वीत घृतदूर्वातिलाक्षतैः । प्रत्येकाष्टशतं चैव गायत्र्या जुहुयात्ततः ॥
स्वर्णगोभूतिलान् दद्यात् सर्वदोषापनुत्तये ॥

अथ प्रयोगस्तत्रैवं—"विनायकं संप्रपूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः। कर्मणां फलमाप्नोति" इति याज्ञवल्क्येन कर्मफलसिद्धावविघ्नार्थत्वेन ग्रहयज्ञस्यावश्यकत्वोक्तेः इह च शौनकेन

'आर्तवानां तु नारीणां शान्तिं वक्ष्यामि शौनकः ।'

इत्युपक्रम्य 'ग्रहातिथ्यपुरःसरम्' इतिप्रकारेणोक्तेरावश्यकत्वादेकदेशकालकर्तृकाणां च विशेषवचनाभावे तन्त्रेण कर्तव्यत्वाद् ग्रहमखपूर्वकस्तन्त्रेण शान्तिप्रयोग उच्यते । रजोदर्शनानन्तरं पञ्चमादिदिने चन्द्रताराद्यानुकूल्ये शुचिदेशे सुस्नातया पत्न्या युतः पतिः प्राङ्मुख उपविश्य प्राणानायम्य देशकालौ संकीर्त्य मम पत्न्याः प्रथमरजोदर्शनेऽमुकदुष्टमासादिसूचितसकलारिष्टनिरासद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं सग्रहमखां शौनकोक्तां शान्तिं करिष्ये इति सङ्कल्प्य गणेशपूजनपुण्याहवाचनगौर्यादिषोडशमातृकापूजनब्राह्म्यादिसप्तमातृकापूजननान्दीश्राद्धानि कृत्वा शान्तं दान्तं कुटुम्बिनं मन्त्रतन्त्रज्ञमाचार्यं ब्रह्माणं च जपहोमार्थमष्टौ षट् चतुरो वा ऋत्विजोऽपि वृत्वा गन्धादिना पूजयेत् । तत आचार्यो गृहेशानदेशे शुचौ 'मही द्यौः' इति भूमिं स्पृष्ट्वा तद्दक्षिणोत्तरतश्च तथैव मन्त्रावृत्त्या भूमिं स्पृष्ट्वा 'ओषधयः समवदन्त' इति द्रोणप्रमाणव्रीहिभिर्मध्ये तद्दक्षिणोत्तरतश्च पृष्ठदेशे मन्त्रावृत्त्या राशित्रयं कृत्वा तेनैव क्रमेण राशित्रये नवमकालकमभग्नं कुम्भत्रयम् 'आजिघ्र कलशम्' (य० सं० अ० ८ क० ४२) इति मन्त्रावृत्त्या स्थापयेत् ।

(गदाधर०)

एवं सर्वत्र मन्त्रावृत्तिः। ततः 'प्रसुव आप' इति नवर्चेन कलशेषूदकपूरणम्। 'गन्धद्वाराम्' इति त्रिष्वपि गन्धं प्रक्षिप्य 'या ओषधी' इति सर्वौषधीः, 'ओषधयः सम' इति यवान् क्षिपेत्। ततो मध्यकुम्भे यवव्रीहितिलमाषकङ्गुश्यामाकमुद्गान् क्षिप्त्वा गायत्र्यौदुम्बरकुशदूर्वारक्तोत्पलचम्पकबिल्वविष्णुक्रान्तातुलसीबर्हिपशङ्खपुष्पीः शतावर्यश्वगन्धानिर्गुण्डीरक्तपीतसर्षपापामार्गपलाशपनसजीवकप्रियङ्गुगोधूमव्रीह्यश्वत्थदधिदुग्धघृतपद्मपत्रनीलोत्पलसितरक्तपीतकुरण्टकगुञ्जावचाभद्रकाख्यानि द्वात्रिंशदौषधानि सर्वाणि यथासम्भवं वा क्षिपेत्। ततस्त्रिषु कलशेषु 'काण्डात्काण्डात्' इति दूर्वाः, 'अश्वत्थेव' इति पञ्चपल्लवान्, गजाश्वस्थानरथ्यावल्मीकसङ्गमह्रदगोष्ठस्थानमृदः 'स्योनापृथिवी' इति क्षिप्त्वा 'याः फलिनीः' इति पूगीफलानि, 'स हि रत्नानि' इति कनककुलिशनीलपद्मरागमौक्तिकानि पञ्चरत्नानि, 'हिरण्यरूप' इति हिरण्यं च क्षिपेत्। 'युवासुवासाः' इति सूत्रेण वाससा च कलशकण्ठान् वेष्टयित्वा गन्धाक्षतपुष्पमालादिभिः कलशान् भूषयेत्। ततः कलशत्रयोपरि तेनैव क्रमेण सौवर्णं राजतं कांस्यमयं ताम्रमयं वैणवं मृन्मयं वा यवादिपूरितं पात्रत्रयं 'पूर्णा दर्वी' इति निधाय, तदुपरि श्वेतं वस्त्रत्रयं न्यस्य तत्र चन्दनादिनाऽष्टदलानि कुर्यात्। तत्र मध्ये गायत्र्या भुवनेश्वरीमावाहयामीति यथाशक्तिसुवर्णनिर्मितां भुवनेश्वरीप्रतिमामग्न्युत्तारणपूर्वकं स्थापयेत्। तद्दक्षिणकुम्भोपरि वस्त्रे 'इन्द्राणीमासु' इति इन्द्राणीमावाहयामीति तथैव सौवर्णीमिन्द्राणीप्रतिमां स्थाप्योत्तरकलशोपरि 'इन्द्र त्वा' इति इन्द्रमावाहयामीति सौवर्णीमिन्द्रप्रतिमां स्थापयेत्। तत उक्तमन्त्रैरुक्तक्रमेण देवत्रयस्य काण्डानुसमयेन षोडशोपचारपूजां कुर्यात्। ततो मध्यमकुम्भे आचार्योऽष्टसहस्रमष्टशतं वा गायत्रीं जप्त्वा श्रीसूक्तं जपेत्, हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्चं श्रीसूक्तम्। तत एको ऋत्विक् दक्षिणकुम्भे रुद्रसूक्तानि जपेत्, 'कद्रुद्राय' इति नवर्चम्, 'इमा रुद्राय' इत्येकादशर्चम्, 'आते पितः' इति पञ्चदशर्चम्, इमा रुद्राय स्थिरधन्वन' इति चतस्रः, आवोराजानं तमुष्टुहि १, भुवनस्य पितरं १, त्र्यम्बकं १। अथान्य ऋत्विगुत्तरकुम्भे एकादशावृत्तिभी रुद्रं जपेत्। रुद्रं जप्त्वा 'शस इन्द्राग्नी' इति सूक्तं पञ्चदशर्चं जपेत्। ततः कुम्भपश्चिमदेशे स्थण्डिलेऽग्निं प्रणीय तदीशान्यां वेद्यादौ नवग्रहादींस्तत्तन्मन्त्रैरावाह्य षोडशोपचारैः सम्पूज्य तदीशान्यां प्राग्वत् कुम्भं संस्थाप्य तत्र वरुणमावाह्याग्निसमीपमेत्य ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः—प्रणीताप्रणयने पयसः प्रणयनम्। आसादने आज्यानन्तरं ग्रहसमिधः तिलाः, दूर्वाः, तिलमिश्रगोधूमाः, तण्डुलाः। चरोः पयसि श्रपणम्। आज्यभागान्ते यजमानो दक्षिणतः उपविश्य,

"होमार्थं च जपार्थं च वरयेदृत्विजो बहून्। आचार्यो द्विजैः सह"

इति चोक्तेराचार्यर्त्विजां होमावगमात्तेषां चास्वत्वेन त्यागायोगात्तैश्च क्रियमाणे होमे यजमानेन प्रत्याहुतित्यागस्याशक्यत्वात्तदानीमेवाङ्गप्रधानहोमदेवता उद्दिश्य एताभ्य इदं न ममेति त्यजत्। तत आचार्यः सऋत्विक् नवग्रहेभ्योऽष्टशताष्टाविंशत्यष्टान्यतमसंख्याका घृताक्ता अर्कादिसमिधस्तिलाज्याहुतीश्च हुत्वाऽधिदेवताप्रत्यधिदेवताविनायकादिपञ्चलोकपालेभ्यस्तन्न्यूनसंख्यया जुहुयात्। एभ्यस्तु पालाश्यः समिधः। ग्रहाणां यदाऽष्टौ तदाऽन्येभ्यश्चतस्र इति संप्रदायः। ततो भुवनेश्वर्यै गायत्र्या दधिमधुघृताक्ताभिस्त्रिपर्वभिर्दूर्वाभिरेकाहुतिरित्येवमष्टसहस्रमष्टशतं वा दूर्वाहुतीर्घृताक्ततिलमिश्रगोधूमाहुतीः पायसाहुतीर्घृताहुतीश्च जुहुयात्। एवमिन्द्राणीन्द्रयोः प्रागुक्तम-

(गदाधर०)

न्त्राभ्यां क्रमेण हविश्चतुष्टयं प्रत्येकमष्टशतसङ्ख्यं, भुवनेश्वर्या अष्टसहस्रपक्षे जुहुयात्। तस्या अष्टशतपक्षे तु तयोरष्टाविंशतिरिति संप्रदायः। अन्ये तु 'गायत्र्यैव तु होतव्यं हविरत्र चतुष्टयम्। ततः स्विष्टकृतं हुत्वा" इति शौनकेनेन्द्राणीन्द्रयोर्होमानभिधानात्तयोर्होमो नास्तीत्याहुः। ततः स्विष्टकृदादिप्रणीताविमोकान्तं कृत्वा इन्द्रादिदिक्पालेभ्यो नवग्रहेभ्यो भुवनेश्वरीन्द्राणीन्द्रेभ्यः क्षेत्रपालाय च सदीपान्माषभक्तबलींस्तत्तन्मन्त्रैर्दत्वा पूर्णाहुतिं 'समुद्रादूर्मिः' इति तृचेन जुहुयात्। ततो भुवनेश्वर्यादिकलशोदकं ग्रहकलशोदकं च पात्रान्तरे गृहीत्वा तेन तत्स्थपञ्चपल्लवैः सकुशदूर्वैर्धृतनववस्त्रं यजमानं धृतनववस्त्रकञ्चुकीं च तद्वामस्थामृतुमतीं सऋत्विगुदङ्मुख आचार्योऽभिषिञ्चेदेतैर्मन्त्रैः। ते च—'आपोहिष्ठा' इति नवभिः, 'यएकइद्विदयत' इत्येकया, 'त्रिभिष्ट्वं देव' इति सप्तर्चेन, 'उभयं शृणवच्चन' इत्येकया, 'स्वस्तिदाविश' इति च, 'त्र्यम्बकम्' इति, 'जातवेदस' इत्येकया, 'समुद्रज्येष्ठा इति चतसृभिः, 'त्रायन्ताम्' इति तिसृभिः, 'इमा आप' इति तिसृभिः, 'देवस्य त्वा' इति त्रिभिः 'तमीशानं जगत' इत्येकया 'त्वमग्ने रुद्र' इत्यापस्तम्बशाखागतेनैकेन , 'तमुष्टहि' इति मन्त्रेण, 'भुवनस्य पितरम्' इति च, 'या ते रुद्र' इति 'यज्जाग्रत' इति षण्मन्त्रैः, 'इन्द्र त्वा वृषभं वयम्' इति पञ्चमन्त्रैः, ततः 'सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु' इति नवभिः पौराणैर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत्। ततः कलशोदकेनान्येन चोदकेन सुस्नातौ दम्पती शुक्लवासोगन्धमाल्यादिधृत्वोपविशेताम्, तत्र पत्नी दक्षिणतः। ततो यजमानोऽग्निं संपूज्य विभूतिं धृत्वाऽऽचार्यादीन् गन्धपुष्पवस्त्रालङ्कारादिभिर्यथाशक्ति पूजयित्वा ऽऽचार्याय धेनुं दक्षिणां दद्यात्। दक्षिणात्वेन चास्या न दक्षिणान्तरम् अनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो ब्रह्मणे यथाशक्ति दक्षिणां दत्वा रुद्रजापिने सदक्षिणमनड्वाहं दक्षिणां दद्यात्। अथ धेनुन्यायेनादक्षिणत्वे प्राप्ते

सदक्षिणमनड्वाहं प्रदद्याद्रुद्रजापिने।

इति प्रतिप्रसवकरणात् सदक्षिणत्वम्। ततोऽन्येभ्यो ऋत्विग्भ्योऽन्येभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यो भूयसीं दक्षिणां दद्यात्। ततो ग्रहपीठदेवतानां भुवनेश्वर्यादीनां चोत्तरपूजां पञ्चोपचारैः कृत्वा समाप्य, 'यान्तु देवगणा' इति विसृज्याचार्यहस्ते प्रतिपाद्य अग्निं संपूज्य 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ' इति विसर्जयेत्। ततो ब्राह्मणा महाशान्तिं पठेयुः। तद्यथा—'आनोभद्रा' इति दश, स्वस्ति नो मिमीताम्' इति पञ्च, 'शम इन्द्राग्नी' इति पञ्चदश, 'स्यमूषु' इति तिस्रः, 'तच्छंयोः' इत्येका। ततो यजमानो नवग्रहप्रीत्यर्थं त्रीन् भुवनेश्वरीन्द्राणीन्द्रप्रीतये च प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा सङ्कल्प्य वा विप्राशिषो गृहीत्वा सुहृद्युतो भुञ्जीत। एवं कृते सर्वारिष्टशान्तिर्भवति। ततः शुभे काले गर्भाधानं कुर्यात्। इति दुष्टरजोदर्शनशान्तिः॥

अथ चन्द्रसूर्योपरागकाले प्रथमरजोदर्शने शान्तिविशेष उच्यते—

शौनकः—

ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते। व्याधिपीडा तदा स्त्रीणामादौ तु ऋतुदर्शनात्॥
इत्थं सञ्जायते यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः।

शान्तिस्तु—

तद्ग्रहाधिपते रूपं सुवर्णेन प्रकल्पयेत्। सूर्यग्रहे सूर्यरूपं हैमं, चन्द्रं तु राजतम्॥
राहुरूपं प्रकुर्वीत नागेनैव विचक्षणः।

(नागः सीसम्)

(गदाधर०)

त्रयाणां चैव रूपाणां स्थापनं तत्र कारयेत् ॥

'आकृष्णेन' 'आप्यायस्व' 'स्वर्भानोः' इति पूजामन्त्रा उक्ताः। नक्षत्रदेवतायास्तन्मन्त्रेण नाममन्त्रेण वा।

संपूज्य तु यजेत्सूर्यं समिद्भिश्चार्कसम्भवैः। चन्द्रग्रहे तु पालाशैर्दुर्वाभी राहुमेव च ॥
समिद्भिर्ब्रह्मवृक्षस्य भेशाय जुहुयाद् बुधः। आज्येन चरुणा चैव तिलैश्च जुहुयात्ततः ॥
पञ्चगव्यैः पञ्चरत्नैः पञ्चत्वक्पञ्चपल्लवैः। जलैरोषधिकल्कैश्च अभिषेकं समाचरेत् ॥
मन्त्रैर्वारुणसंभूतैरापोहिष्ठादिभिस्त्रिभिः । इमं मे गङ्गे परतस्तत्त्वायामीति मन्त्रकैः ॥
यजमानस्ततो दद्याद्भक्त्या प्रतिकृतीस्त्रयीम्।

अथ प्रयोगः

उपरागस्य पौर्णमास्यमावास्याभ्यामविनाभावात्तदतिरिक्तवारादौ दुष्टे प्रागुक्तशान्त्या समुच्चीयन्ते निमित्तभेदात् अदृष्टार्थत्वाच्च। प्रत्यक्षविषयभावे तत्कार्यकारित्वानवगमेनामनहोमैर्नारिष्टहोमानामिवानया तन्निवृत्त्ययोगात्। ग्रहणमात्रे त्वियमेव। अत्र च पुनः श्रवणाभावान्नवग्रहमखः कृताकृत इति विवेकः।

तत्र केवलायाः प्रयोग—पूर्वोक्तकाले सस्त्रीकः शुचिः प्राङ्मुख उपविश्य प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा मम पत्न्याश्चन्द्रोपरागे प्रथमरजोदर्शनसूचितारिष्टनिरासद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं शान्तिं करिष्य इति संकल्प्य प्राग्वदृत्विक्पूजां कुर्यात्। नवग्रहपक्षे सनवग्रहमखमिति। सूर्योपरागे तु सूर्योपरागे प्रथमेत्यादि पूर्ववत्। तत आचार्यः शुचिदेशे गोमयेनोपलिप्य तत्र पञ्चवर्णरजोभिरष्टदलं पद्मं कृत्वा तदुपरि नवं श्वेतं वस्त्रमुदग्दशं संस्थाप्य यथाशक्ति रजतनिर्मितां चन्द्रप्रतिमाम् 'आप्यायस्व'इति मन्त्रेण चन्द्रमावाहयामीति स्थापयेत्। सूर्यग्रहे तु यथाशक्ति सुवर्णनिर्मिताम् 'आकृष्णेनेति सूर्यमावाह०। ततो यथाशक्ति सीसनिर्मितां राहुप्रतिमां 'स्वर्भानोः' इति राहुमावा० तदुत्तरतः स्था०। ततो यस्मिन्नक्षत्रे ग्रहणं तन्नक्षत्रदेवताप्रतिमां यथाशक्ति सुवर्णनिर्मितां तत्तन्मन्त्रैर्नाममन्त्रैर्वा ॐ अश्विनावावाहयामि नम इति प्रणवादिनमोऽन्तैः स्था० मन्त्रास्त्वापस्तम्बानामष्टौ वाक्यानीति प्रसिद्धाः। नामानि तु 'अश्विनौ, यमः, अग्निः, प्रजापतिः, सोमः, रुद्रः, अदितिः, बृहस्पतिः, सर्पाः, पितरः, भगः, अर्यमा, सविता, त्वष्टा, वायुः, इन्द्राग्नी, मित्रः, इन्द्रः, निर्ऋतिः, आपः, विश्वेदेवाः, विष्णुः, वसवः, वरुणः, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्यः, पूषा' इति। एवं देवतात्रयमावाह्यैभिरेव मन्त्रैः काण्डानुसमयेन षोडशोपचारैः पूजयेत्। तत्र चन्द्रग्रहे चन्द्राय श्वेतानि वस्त्रगन्धाक्षतमाल्यानि देयानि। सूर्यग्रहे तु सूर्याय रक्तवस्त्ररक्तचन्दनरक्ताक्षतकरवीरपुष्पाणि देयानि। राहवे कृष्णानि। नक्षत्रदेवताभ्यः श्वेतानि। ततः पश्चिमतोऽग्निं प्रतिष्ठाप्य पक्षे नवग्रहानप्यावाहनपूर्वं संपूज्य ब्रह्मोपवेशनादि चरुं श्रपयित्वाऽऽज्यभागान्तम्। ततः पक्षे नवग्रहहोमः। ततश्चन्द्रमुद्दिश्योक्तसंख्यया पालाशसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः, राहुमुद्दिश्योक्तसंख्यया दूर्वाज्यचरुतिलैर्होमः, नक्षत्रदेवतामुद्दिश्योक्तसंख्यया पालाशसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः। सूर्यग्रहे तु चन्द्रस्थाने सूर्यमुद्दिश्योक्तसंख्ययाऽर्कसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः। तिसृणां दूर्वाणामेकैकाहुतिः। समिधश्च त्रिमध्वक्ताः कार्याः। ततः स्विष्टकृदादिपूर्णाहुत्यन्तं प्राग्वत्। तत आचार्य एकस्मिन् कलशे जलपूर्णे पञ्चगव्यानि पञ्चरत्नानि वटाश्वत्थोदुम्बराम्रबिल्वानां त्वचः पञ्चपल्लवान्सर्वौषधिकल्कं दूर्वाः कुशांश्च निक्षिप्य सऋत्विक् दम्पती पूर्ववदभिषिञ्चे-

(गदाधर०)

देतैर्मन्त्रैः—'आपोहिष्ठा' इति, 'इमं मे गङ्गे' इति, 'तत्त्वायामी' इति। अन्येऽपि 'समुद्रज्येष्ठा' इत्यादयः, 'सुरास्त्वाम्' इत्यादयः पौराणाश्च। ततः स्नानदक्षिणादानप्रतिमाप्रतिपादनादि पूर्ववत्। यदा तु पूर्वशान्तिसमुच्चयस्तदा कालैक्यात्कर्त्रैक्यादाग्नेयादिवत्तन्त्रप्रयोगः। तत्र यजमानो देशकालौ स्मृत्वा मम पत्न्याः प्रथमरजोदर्शनेऽमुकदुष्टमासतिथ्याद्यमुकग्रहणसूचितेत्यादि सङ्कल्प्यर्त्विक्पूजान्तं विदध्यात्। तत आचार्यो भुवनेश्वर्यादिपूजातः प्राक् पश्चाद्वा तत उदीच्यां चन्द्रादीन् संपूज्य यथोपक्रमं होमाभिषेकौ कुर्यादिति विशेषः। अन्यत्समानम्। इति ग्रहणे रजोदर्शने शान्तिः।

॥ इति गदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

द्वादशी कण्डिका

पक्षादिषु स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति ॥१॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्य आकाशाय च ॥ २ ॥ [1]वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोत्यग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति ॥ ३ ॥

(सरला)

प्राक्कथन—पक्षों (Fortnight) के आदि में होने वाले कर्म का विधान करते हैं। 'पक्ष' शब्द में बहुवचन के प्रयोग होने से सभी पक्षों में इसे किया जायगा—यह समझना चाहिए।

व्याख्या—पक्ष = प्रत्येक पक्ष के [पखवारे के], आदिषु = प्रथम दिनों में [शुरु में]; स्थालीपाकं श्रपयित्वा = चरुरूप हविर्द्रव्य को पकाकर; दर्श = अमावस्या और; पूर्णमास = पूर्णिमा के; देवताभ्यो = देवताओं के लिए; हुत्वा = होम करके [फिर इन देवताओं के लिए]; जुहोति = आहुति देता है; ब्रह्मणे = ब्रह्मा के लिए; प्रजापतये = प्रजापति के लिए; विश्वेभ्यो देवेभ्यो = विश्वे देवों के लिए; द्यावापृथिवीभ्याम् = द्यावापृथिवी के लिए ॥ १ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो = विश्वेदेवों के लिए; भूतगृह्येभ्यः = गृह्यदेवों के लिए; आकाशाय च बलिहरणम् = और आकाश के लिए बलि दी जाती है ॥ २ ॥ वैश्वदेवस्य = वैश्वदेव अन्न में से, अग्नौ = अग्नि में; अग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा—इति = इन चार मंत्रों से; जुहोति = होम करता है ॥ ३ ॥

---

१. स्विष्टकृन्नग्रहणञ्च कर्तव्यम्। कुतः? प्राङ्महाव्याहृतिभ्य इति स्विष्टकृत इत्युक्तत्वात् स्विष्टकृद्धोमस्तु स्थालीपाकादेव। कुतः? यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्त इति श्रुतेः। वैश्वदेवस्य तु स्थालीपाकाभावात् ततः स्विष्टकृन्न भविष्यति तन्मा भूदिति स्विष्टकृद्ग्रहणम्, चिन्तायाः प्रयोजनम् द्रव्यदेवतागुणसामान्ये उक्तत्वात् उभयोः सहैव स्विष्टकृद्भवति।

(सरला)

हिन्दी—प्रत्येक पक्ष के [पखवारे के] प्रथम दिनों में चरुरूप हविर्द्रव्य को पकाकर अमावस्या और पूर्णिमा को देवताओं के लिए होम करके [फिर इन देवताओं के लिये] आहुति देता है, ब्रह्मा के लिए, प्रजापति के लिए, विश्वेदेवों के लिए, द्यावापृथिवी के लिए ॥ १ ॥ विश्वेदेवों के लिए, गृह्यदेवों के लिए और आकाश के लिए बलि दी जाती है ॥ २ ॥ वैश्वदेव अन्न में से, अग्नि में "अग्नि के लिए स्वाहा, प्रजापति के लिए स्वाहा, विश्वेदेवों के लिए स्वाहा, स्विष्टकृत अग्नि के लिए स्वाहा" इन चार मंत्रों से होम करता है ॥ ३ ॥

विशेष—यहाँ पर यद्यपि 'पक्षादिषु' यह सामान्यतया उक्त है तथापि—

पूर्वाह्ने वाऽथ मध्याह्ने यदि पर्व समाप्यते।
उपोष्य तत्र पूर्वेद्युस्तदहर्याग इष्यते॥

इस वचन के अनुसार मध्याह्न से पूर्व पूर्णमासी समाप्त होने से पहले चतुर्दशी को उपवास करके पूर्णिमा में पक्षादि कर्म करना चाहिए।

अग्नि के आधानानन्तर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को स्थालीपाक का आरम्भ होता है। अतः शुक्लपक्ष मे अग्नि को आधान करे और कृष्ण प्रतिपद को स्थालीपाक का आरम्भ करे—यह नही करना चाहिए। क्योंकि—

"सायमादि-प्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते।
पौर्णमासादि-दर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः॥" इत्यादि वचन है।

(हरिहर०)

'पक्षादिषु स्थालीपाकᳩ श्रपयित्वा'''द्यावापृथिवीभ्याम् इति ॥

पक्षाणामादयः पक्षादयस्तासु पक्षादिषु प्रतिपत्सु। अत्र यद्यपि पक्षादिष्वित्युक्तं तथापि 'संधिमभितो यजेत' इति वचनात्

पर्वणो यश्चतुर्थांश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः। यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः॥

इति पर्वचतुर्थांशोऽपि यागकालत्वेनाभिमतः, तथा—

पूर्वाह्णे वाथ मध्याह्ने यदि पर्व समाप्यते। स एव यागकालः स्यात्परतश्चेत्परेऽहनि॥

तत्रापि—

सन्धिर्यद्यपराह्णे स्याद्यागं प्रातः परेऽहनि।
कुर्वाणः प्रतिपद्भागे चतुर्थेऽपि न दुष्यति॥ इति।

इत्यादिभिर्वचनैर्यागकालं निर्णीय पर्वदिवसे कृतौपवसथिकाशनः सपत्नीकः शालायां जघनेनाग्निं रात्रौ जाग्रन् मिथ इतिहासमिश्रो वा पृथक् शयित्वा प्रातः कृतस्नानसंध्यावन्दनप्रातर्होमः स्वाचान्तोऽग्नेः पश्चात् प्राङ्मुख उपविश्य पूर्वोक्तविधिना चरुं श्रपयित्वाऽऽज्यभागान्ते दर्शे दर्शदेवताभ्यः पौर्णमासे पौर्णमासदेवताभ्यः प्रयोगे वक्ष्यमाणाभ्यश्चरुं हुत्वा ब्रह्मप्रजापतिविश्वेदेवद्यावापृथिवीभ्यश्चरुं जुहोति ॥ १ ॥

'विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं '' आकाशाय च' ॥

बलिहरणं बलिदानम्, स्थालीपाकदेवताभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यो भूतगृह्येभ्यः आकाशाय च ॥ २ ॥

'वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोति अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इति।

(हरिहर०)

वैश्वदेवस्य विश्वेदेवा देवपितृमनुष्या देवता अस्येति वैश्वदेवः पाकः पञ्चमहायज्ञार्थं साधितपाक इत्यर्थः। ननु वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोतीति विश्वेदेवसम्बद्धस्य चरोस्तन्त्रोपात्तस्य वा अग्नौ जुहोतीति कथन्नोच्यते। यथा वृषोत्सर्गे पौष्णस्य जुहोतीति पूषसंबद्धः पृथगेव पिष्टमयः पूर्वसिद्धश्चरुर्गृह्यते, किमिति पञ्चमहायज्ञार्थः? उच्यते,—स्थालीपाकं श्रपयित्वेत्यत्र स्थालीपाकस्यैकवचनान्तत्वाद् द्वितीयस्य वैश्वदेवस्य चरोरभावोऽवगम्यते पौष्णवद्। वैश्वदेवस्य सिद्धोपात्तस्य पृथगुपादानं तु पञ्चमहायज्ञार्थवैश्वदेवपाकस्य सद्भावान्निवर्त्तते। पञ्चमहाज्ञार्थस्य वैश्वदेवत्वं कुत इति चेत्? वैश्वदेवादन्नात् पर्युक्ष्येति सूत्रात्। अग्नौ जुहोतीति अग्निग्रहणं बलिकर्मता मा भूदिति। अग्नये स्वाहेत्यादिप्रयोगदर्शनार्थम्। सर्वत्र तस्यैकदेशस्योद्धृत्यासादितप्रोक्षितस्य अग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो हुत्वा स्थालीपाकाद् वैश्वदेवाच्च अग्नये स्विष्टकृते जुहोति ॥ ३ ॥

(गदाधर०)

'पक्षादिषु···पृथिवीभ्यामिति'। पक्षाणामादायः पक्षादयस्तासु पक्षादिषु प्रतिपत्सु बहुवचनोपदेशात् सर्वपक्षादिष्वेतत्कर्म भवति। उक्तेन विधिना स्थालीपाकं श्रपयित्वा तेनैव स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो विभागेन होमः पौर्णमासे पक्षादौ पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा दर्शकालपक्षादौ दर्शदेवताभ्यो हुत्वा 'ब्रह्मणे' इत्येवमादिभ्यश्चतुर्भ्यो जुहोति स्थालीपाकेनैव। दर्शपौर्णमासे च विधिः समान इति कृत्वा ग्रन्थगौरवभयदाचार्येण समस्तोपदेशः कृतः। अतो यादृशस्ताभ्यो होमो विभागेन सिद्धस्तादृश एवेहापीति। एवञ्च स्मृत्यन्तरैः सहानुगतार्थो भवति। केचित्तु समस्तोपदेशात् सर्वाभ्यो होमम् इच्छन्ति। सिद्धचरोरुपादानं माभूदिति श्रपयित्वेत्युच्यते। यद्यप्यत्र पक्षादिष्विति सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तरोक्तो यागकालो ग्राह्यः।

वृद्धशातातपः—

पर्वणो यश्चतुर्थांश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः। यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः ॥

कारिकायाम्—

आवर्तनेऽथवा तत्प्राग्यदि पर्व समाप्यते। तत्र पूर्वाह्ण एव स्यात्सन्धेरूर्ध्वं द्विजाशनम् ॥
आहिताग्नेर्न नियम इष्टेरूर्ध्वं विधानतः। ऊर्ध्वमावर्तनाच्चेत्स्याच्छ्वोभूते प्रातरेव हि ॥

प्रतिपदि वृद्धिगामिन्यां क्षीणायां वा संधिज्ञानोपायमाह लौगाक्षिः—

तिथेः परस्या घटिकाश्च याः स्युर्न्यूनास्तथैवाभ्यधिकाश्च तासाम्।
अर्द्धं वियोज्यं च तथा प्रयोज्यं ह्रासे च वृद्धौ प्रथमे दिने स्यात् ॥ इति।

प्रतिपद्वृद्धिनाडिका द्विधा विभज्यार्द्धं पर्वणि संयोज्य संधिः कल्पनीयः। तथैव प्रतिपत्क्षयनाडिकाश्च द्वेधा विभज्यार्द्धं पर्वणि वियोज्य संधिः कल्पनीयः। आधानानन्तरं शुक्ला कृष्णा वा प्रतिपद्भवति तस्यामारम्भः कार्यः। तदुक्तं कारिकायाम्—

आधानानन्तरं शुक्ला कृष्णा वा प्रतिपद्भवेत्।
तस्यां पक्षादिकर्मैतत्कार्यं पूर्वाह्ण एव तत् ॥ इति।

हरिहरभाष्ये तु—

सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते। पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः ॥

इतिवचनात् कृष्णपक्षे यद्याधानं, तदा दर्शमनिष्ट्वैव पौर्णमास्यां पक्षादिकर्मारम्भः।

यत्तु छन्दोगपरिशिष्टवचनम्—

(गदाधर०)

ऊर्ध्वं पूर्णाहुतेर्दर्शः पूर्णमासोऽपि चाग्रिमः । य आयाति स होतव्यः स एवादिरितिश्रुतेः ॥

इत्येतत्पुनराधानविषयं तच्छाखिविषयमित्युक्तम् ।

अत्रैके वदन्ति—आधानस्य शुक्लपक्षे विहितत्वात्तदुत्तरं पौर्णमासस्थालीपाककालस्य विद्यमानत्वात् पौर्णमासस्थालीपाकारम्भो युक्तः । तच्चिन्त्यम् । अस्माकं सूत्रे दारकाले दायाद्यकाले वेत्यावसथ्याधानस्य काल उक्तः । तत्र यदा दायाद्यकाल आधानं कृतं तदुत्तरं या प्रतिपद्भवति तस्यामारम्भो युक्तः । ननूदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याह इत्युक्तत्वाद् विभागोऽपि शुक्लपक्षे स्यात्तदा कृष्णायां प्रतिपद्यारम्भः सिध्येदेव । सत्यम्, विभागस्तावद्रागतः प्राप्तस्तत्र कालापेक्षाभावादापूर्यमाणादिनियमो न स्यादतो यदैव विभागस्तदैवाधानं ततः प्रतिपद्यारम्भ इति युक्तम् । नन्वस्तु कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे वा विभागः, आधानं तु शुक्लपक्षे एव कार्यम् । नैवम्, कालविलम्बे प्रमाणाभावाद्विभागोत्तरं कार्यमेव ततो या प्रतिपदायाति तस्यामारम्भ इति । अत्र बहु वक्तव्यमस्ति, ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते । यद्यारम्भकाले सूतकमलमासपौषमासगुरुशुक्रास्तबाल्यवार्धकग्रहणादि भवति तदाऽपि प्रारम्भः कार्यः । यानि तु तत्रारम्भनिषेधकानि—

उपरागोऽधिमासश्च यदि प्रथमपर्वणि । तथा मलिम्लुचे पौषे नान्वारम्भणमिष्यते ॥
गुरुभार्गवयोर्मौढ्ये चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ।

इत्यादीनि संग्रहकारादिवचनानि, तानि आलस्यादिना स्वकालानुपक्रान्तस्थालीपाकादिप्रारम्भविषयकाणीति प्रयोगपारिजातकारः प्रयोगरत्नकारश्च । तथाचापरार्कस्थं गर्गवचनमुदाजहार—

नामकर्म च दर्शेष्टिं यथाकालं समाचरेत् ।
अतिपाते सति तयोः प्रशस्ते मासि पुण्यभे ॥ इति ।

देवयाज्ञिकैस्तु—'दर्शपूर्णमासानोजान' इतिसूत्रव्याख्याने सूतकशुक्रास्तादिनिमित्तवशाद्दर्शपूर्णमासारम्भोत्कर्षे सति आग्रयणकाले आगते तदतिक्रमशङ्कायामयं प्रकार इत्युक्तम् । अतो याज्ञिकानामनभीष्टः शुक्रास्तादावारम्भ इत्याभाति । तथा च त्रिकाण्डमण्डनः—

आधानानन्तरं पौर्णमासी चेन्मलमासगा । तस्यामारम्भणीयादीन्न कुर्वीत कदाचन ॥ इति ।

आचारोऽप्येवम् ॥ १ ॥

'विश्वेभ्यो'''काशाय च' । द्रव्यान्तरानुपदेशात् स्थालीपाकादेव विश्वेदेवादिभ्यो बलित्रयमग्नेरुदक्प्राक्संस्थं कुर्यात् । बलिहरणवाक्ये च नमःशब्दोऽन्ते कार्यः । उक्तं चैतत् कर्कोपाध्यायैर्बलिहरणे च नमस्कार इति, पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणत इति सूत्रव्याख्यानावसरे च नमस्कारश्चात्र प्रदर्शित आचार्येण स सर्वबलिहरणेषु प्रत्येतव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

'वैश्वदेव'''कृते स्वाहेति' । वैश्वदेवस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी । विश्वेदेवा देवता देवपितृमनुष्यादयोऽस्येति वैश्वदेवः सर्वार्थः प्रत्यहं क्रियमाणः पाकस्तस्य वैश्वदेवस्य 'अग्नये स्वाहा' इत्यादिभिर्मन्त्रैर्जुहोति । वैश्वदेवस्येति सिद्धवदुपदेशाद् द्वितीयः स्थालीपाको वैश्वदेवः समानतन्त्रः पक्षादिषु भवतीति भर्तृयज्ञभाष्ये । कर्कोपाध्यायैस्तु वैश्वदेवं केचित्पृथक्चरुं कुर्वन्ति यथा पौष्णस्य जुहोतीति पौष्णम् । तत्पुनरयुक्तम् । वैश्वदेवशब्देन विश्वेदेवा देवता अस्येति सर्वार्थः पाकोऽभिधीयते ततो जुहोतीत्युक्तं भवति । यत्तु पौष्णवदिति,

(गदाधर)

नहि पौष्णशब्दवाच्योऽन्यः कश्चिच्चरुर्भवति। तेनास्य पृथक्क्रिया। वैश्वदेवस्तु पुनः पाको विद्यत एवेति। तथा च वक्ष्यति 'वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात्' इत्युक्तम्। अग्नौ होमः प्राप्त एव पुनरग्नौ जुहोतीति अग्निग्रहणं बलिकर्माग्नौ माभूदिति। 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इति प्रयोगोपदर्शनार्थम्। प्राजापत्यर्ट्ँस्विष्टकृच्चेति प्रदेशान्तरे उक्तम्। इह प्रयोग उपदर्श्यते। अपि च स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमासदेवतादीनां होमविधानस्यावसरविधिस्सयैतत्। तत्कथम्? प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति प्रदेशान्तरे उक्तम्, तेन प्राङ्महाव्याहृतिहोमादाज्यभागोत्तरकालं चावसरोऽवगम्यत इति। स्विष्टकृद्धोमश्च शेषादेव भवति। स्विष्टकृद्ग्रहणं वक्ष्यमाणस्य बलिहरणस्य प्राधान्यद्योतनार्थमिति भर्तृयज्ञः। परिभाषातः प्राप्तस्वास्स्वाहाकारग्रहणं बलिनिवृत्त्यर्थम्। प्रदानार्थोऽपि स्वाहाकारो न बलिहरणेषु भवति ॥ ३ ॥

बाह्यतः स्त्री बलिर्ट्ँ हरति नमः स्त्रियै नमः पुर्ट्ँसे वयसेऽवयसे नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये नमः। ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यो नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददत्विति ॥ ४ ॥ शेषमद्भिः प्रप्लाव्य ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ५ ॥

इति द्वादशी कण्डिका

(सरला)

व्याख्या—बाह्यतः = [घर के] बाहर [आँगन में] स्त्री आदि के लिए बलि देता है [इस मंत्र से] स्त्रियै नमः = स्त्रियों के लिए नमस्कार है; नमः पुंसे = पुरुषों के लिए नमस्कार है [कैसे पुरुष को जो] वयसे अवयसे च=बाल और वृद्ध हैं; शुक्लाय = जो श्वेतवर्ण वाले है; कृष्णदन्ताय= अतिमलिन मन वाले, पापीनां [छान्दस दीर्घ है] पतये = श्रेष्ठ के लिए; नमः = नमस्कार है। ये ग्रामे उत वा अरण्ये वसन्तः = जो ग्राम में या वन में रहते हुए; मे प्रजाम् उपलोभयन्ति = मेरी सन्तान को मोहित करते हैं। तेभ्य नमः अस्तु = उनके लिए नमस्कार है। एभ्यः बलिं हरामि = उनके लिए बलि देती हूँ; स्वस्ति मे अस्तु = मुझे कल्याण हो; प्रजा में ददतु = वह मुझे सन्तान दें ॥ ४ ॥ शेषम् = शेष बची हुई हवि को; अद्भि = जल से; प्रप्लाव्य = धोकर; ततः = बाद में; ब्राह्मण भोजनम् = ब्राह्मण को भोजन करना चाहिए ॥ ५ ॥

हिन्दी—[घर के] बाहर [आँगन में] स्त्री आदि के लिए बलि देता है [इस मंत्र से] स्त्रियों के लिए नमस्कार है। बालक और वृद्ध श्वेत वर्ण वाले और अति मलिन मन वाले तथा पापियों की रक्षा करने के लिए नमस्कार है। जो ग्राम में या वन में रहते हुए मेरी सन्तान को मोहित करते हैं; उनके लिए नमस्कार है। उनके लिए बलि देता हूँ। मेरा कल्याण हो। वह मुझे सन्तान दें ॥ ४ ॥ शेष बची हुई हवि को जल से धोकर बाद में ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये ॥ ५ ॥

सरला हिन्दी व्याख्या में प्रथम काण्ड की बारहवीं कण्डिका समाप्त ॥ १२ ॥

(हरिहर०)

ततः शेषः समाप्तिं विधाय—

बाह्यतः स्त्रीबलिर्ं हरति 'नमः स्त्रियै नमः पुंसे वयसेऽवयसे नमः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः ॥ बाह्यतः शालायाः प्राङ्गणे स्त्रीबलिं स्त्र्यादिभ्यो बलिः स्त्रीबलिस्तं स्त्रीबलिं हरति ददाति ॥ ४ ॥ 'शेषमद्भिः प्रप्लाव्य'। स्थालीस्थितमवशिष्टं चरुमद्भिर्जलेन प्रप्लाव्य मज्जयित्वा। अत्रापः प्राणीताः तासां सर्वकर्मार्थत्वेन प्रणीतत्वात्। 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' व्याख्यातः सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

अथ प्रयोगः ।

अथ पश्वादिकर्मोच्यते। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अमाषममांसमक्षारालवणं हविष्यं घृताशनं विधाय रात्रावग्निसमीपे भूमौ दम्पती पृथक् शयीयाताम्। प्रातः स्नात्वा सन्ध्यावन्दनानन्तरं प्रातर्होमं च निर्वर्त्य उदिते सूर्ये पौर्णमासं स्थालीपाकमारभेत। तत्रात्मनः ब्रह्मणः प्रणीतानां चासनचतुष्टयं कुशैर्दत्त्वा पश्वादिकर्मणाऽहं यक्ष्ये। तत्र मे त्वं ब्रह्मा भव, भवामीति तेनोक्ते आसने उपवेश्य अत्रासादने वैश्वदेवान्नासादनं विशेषः, तत्प्रोक्षणं च, आज्यभागान्तं यथोक्तं कर्म निर्वर्त्य, स्थालीपाकमभिघार्य स्रुवेण चरुमादाय अग्नये स्वाहा इदमग्नये० अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां०। उपांशु। पुनरग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां० उच्चैः। ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे०। प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये०। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो०। द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा इदं द्यावापृथिवीभ्यां०। हुतशेषात्स्रुवेण अग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थं— विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो०, भूतगृह्येभ्यो नमः इदं भूतगृह्येभ्यो०, आकाशाय नमः इदमाकाशाय० चेति स्रुवेण बलित्रयं दत्त्वा। अभिघारितवैश्वदेवान्नात्स्रुवेणादाय अग्नये स्वाहा इदमग्नये० प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० इत्याहुतित्रयमग्नौ हुत्वा स्थालीपाकोत्तरार्द्धाद्वैश्वदेवोत्तरार्द्धाच्च अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते० इति हुत्वा, भूरित्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्जुहुयात्। संस्रवप्राशनं, मार्जनं, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोकः, ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कृत्वा चरुशेषमादाय शालाया बहिरुपलिप्तायां भूमौ प्राङ्मुख उपविश्य स्रुवेण नमः स्त्रियै इदं स्त्रियै०। नमः पुंसे वयसेऽवयसे इदं पुंसे वयसेऽवयसे०। नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये इदं शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये०। नमो ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदं ये मे इत्यादि। नमोऽस्तु बलिसेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददतु। इदं स्त्रियै पुंसे वयसेऽवयसे शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदमेभ्य इति वा त्यागः। शेषं प्रणीताऽद्भिः प्रप्लाव्याचम्याग्निसमीपमागत्य एकस्मै ब्राह्मणाय भोजनं ददामीति सङ्कल्पयेत् ॥ इति पश्वादिकर्मविधिः ॥

दर्शे पुनरियान्विशेषः—स्थालीपाकेनाग्नये विष्णवे इन्द्राग्निभ्यामिति दर्शदेवताभ्यो होमः। अनुदिते चारम्भः। शेषं समानम्।

'सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते। पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः ॥'

इतिवचनात् कृष्णपक्षे यथाधानं तदा दर्शमकृत्वैव पौर्णमास्यां पश्वादिकर्मारम्भः। यत्तु छन्दोगपरिशिष्टे वचनम्—

(हरिहर०)

ऊर्ध्वं पूर्णाहुतेर्दर्शः पौर्णमासोऽपि चाग्रिमः। य आयाति स होतव्यः स एवादिरिति श्रुतेः॥

तत्पुनराधानविषयं तच्छाखिविषयं वा। ॥ इति पक्षादिप्रयोगः ॥

(गदाधर०)

'बाह्यतः'''ददत्विति'। ततो बाह्यतः शालाया बहिःप्रदेशे 'नमःस्त्रियै' इत्यादिमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं स्थालीपाकात् स्त्रीबलिं स्त्र्यादिभ्यो बलिः स्त्रीबलिः तं हरति स्रुवेण मन्त्रान्ते भूमौ प्रक्षिपति। एतच्चागन्तुकत्वात्सर्वान्ते भवति। मन्त्रार्थः—स्त्रियै संतानसुखविघातिन्यै नमः नमस्कारोऽस्तु, अतः संतानसुखेच्छवोऽत्र बाह्यबल्यधिकारिण इति जयरामः। तथा पुंसे उक्तस्वरूपायैव। किंभूताय वयसे अवयसे च वृद्धाय बालाय च, शुक्लाय बहिः कृष्णदन्ताय असितान्तरङ्गावयवाय अतिमलिनमनसे इत्यर्थः। अत एव पापीनां पतये श्रेष्ठाय। दीर्घश्छान्दसः। अत्र बलित्रये पुमानेव विशिष्यते। ये च मे मम प्रजां सन्तानमुपलोभयन्ति मोहयन्ति ग्रामे वसन्तः उत अपि वा समुच्चये अरण्ये वा वने वाऽपि नमः नमस्कारोऽस्तु। एभ्यो बलिं पूजां हरामि समर्पयामि मम नमस्कारबलिभ्यां यूयं संतुष्टः भवत ततो भवतां प्रसादान्मम स्वस्ति कल्याणमस्तु। भवन्तश्च मे मह्यं प्रजां पुत्रादिसुखजातं ददतु प्रयच्छन्तु ॥ ४ ॥

'शेषमद्भिः'''भोजनम्'। बलिहरणानन्तरं शेषं स्थालीपाकस्थितमवशिष्टं चरुमद्भिर्लौकिकोदकेन प्लाव्य मज्जयित्वा ब्राह्मणभोजनं कुर्यात्। प्रणीतोदकेन प्लावनमिति वासुदेवादयः। नेति कारिकायाम् ॥ ५-६ ॥

॥ इति द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

अथ पदार्थक्रमः

आधानान्तरं प्रथमप्रतिपदि प्रातः स्नात्वा कृतनित्यक्रियो निर्णेजनान्तं वैश्वदेवं कृत्वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कुर्यात्। ततः संकल्पः—देशकालौ स्मृत्वा ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं स्थालीपाककर्माहं करिष्ये। अत्रात्मनो ब्रह्मणः प्रणीतानां चासनचतुष्टयं कुशैः कुर्यादिति हरिहरः। तत्र प्रणीतार्थं द्वयम्। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं चरुसहितं कुर्यात्। तत्र विशेषस्तण्डुलानन्तरं वैश्वदेवान्नस्यासादनप्रोक्षणे। तत आज्यभागान्ते स्थालीपाकमभिघार्य स्रुवेण चरोर्होमः अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम उपांशु अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां०, पुनरुच्चैः अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां०, ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्र०, प्रजापतये स्वाहा इदं प्र०, विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा इदं वि०, द्यावापृथिवीभ्याँ स्वाहा इदं द्यावा०। ततस्तेनैव चरुणाऽग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थं बलित्रयं कुर्यात्–विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम, भूतगृह्येभ्यो नमः इदं भू०, आकाशाय नमः इदमा०। त्रयाणां बलिकर्मणां संस्रवप्रक्षेपणं न कार्यमिति गङ्गाधरः। ततो वैश्वदेवान्नमभिघार्य तेन होमः अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम, प्रजापतये स्वाहा इदं प्र०, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं वि० चरोर्वैश्वदेवान्नस्य च होमः अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते न मम। तत आज्येन भूराद्या नवाहुतयः, प्राशनं, मार्जनं, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोकः, दक्षिणादानम्। ततः स्थालीपाकेन शुद्धायां भूमौ बहिः स्रुवेण बलिहरणम् ॐनमः स्त्रियै इदं स्त्रियै नमः। नमः पुंऽ. से० वयसेऽवयसे इदं पुंऽ. से० नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये इदं शु०। नमो ये

(गदाधर०)

ये प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उतवाऽरण्ये तेभ्यः ये मे प्र० । नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददतु इदमेभ्य इति त्याग इति हरिहरः । इदं स्त्रियै पुंसे वयसेऽवयसे शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यश्च न ममेति गङ्गाधरकारिकाकारौ। शेषमद्भिः प्लाव्यैकब्राह्मणभोजनं कारयेत्। इति पौर्णमासस्थालीपाकः ।

अथ दर्शे विशेषः—तत्राधानानन्तरं याऽमावास्या आयाति तस्या त्रेधाविभक्तदिन-तृतीयांसे परमक्षये पिण्डपितृयज्ञः कार्यः 'तस्मिन् क्षीणे ददाति' इति श्रुतेः । चन्द्रक्षयश्च यद्यपि कृष्णपक्षे प्रत्यहं भवति तथापि परमक्षयोऽत्र विवक्षितः । सचामान्ते शास्त्रोक्त इति दिनद्वयेऽप्यपराह्णैकदेशव्याप्तौ सत्यां परदिनेऽर्धघटिकामात्रपरिमितामालाभेऽपि तत्रैव पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानमुचितम् । एकस्मिन्नेव दिनेऽपराह्णव्याप्तौ तु यस्मिन्नेव दिनेऽपराह्ण-व्याप्तिस्तत्रैव तदनुष्ठानम् । एवं च पिण्डपितृयज्ञकालस्य वाजसनेयिशाखायामुपदेशाद्याग-कालस्यानुपदेशात्पिण्डपितृयज्ञदिनात्परदिने यागः कार्यः, "पूर्वेद्युः पितृभ्यो निष्रीय प्रातर्देवेभ्यः प्रतनुत" इतीकर्कोदाहृतशाखान्तरीयश्रुतेः "पूर्वो वाऽङ्गःवात्पिण्डपितृयज्ञः" इति सूत्राच्च । यद्यपि चन्द्रदर्शने यागनिषेधः स्मर्यते—

द्वितीया त्रिमुहूर्ता चेत्प्रतिपद्यापराह्णिकी ।
अन्वाधानं चतुर्दश्यां परतः सोमदर्शनात् ॥

इत्यादिना, तथाऽप्युक्तन्यायेन वाजसनेयिनां पिण्डपितृयज्ञः परदिन एव चन्द्रदर्शन-सत्यपि यागानुष्ठानस्योचितत्वाद्वाजसनेयिव्यतिरिक्तविषयत्वेन पूर्वाह्णमध्याह्नसंधिविषय-त्वेन वा निषेधो नेतव्यः। न चास्य दर्शाङ्गत्वादनाहिताग्नेरेष न भवतीति वाच्यम्, अनाहिताग्नेरप्येष इत्युक्तत्वात् । अयं च मृतपितृकस्यैव भवति । अत्र मातृकापूजनपूर्वक-माभ्युदयिकं कार्यमित्युक्तं गङ्गाधरेण । अत्र सर्वकर्मापसव्येन दक्षिणामुखेन कार्यम् । अत्रैवं पदार्थक्रमः—प्राचीनावीतिकरणं, नीविबन्धनम् । तच्च कुशतिलसंयुक्तानां वस्त्र-दशानां सव्यभागे परिहितवस्त्रेण संवेष्ट्यावगूहनमिति देवयाज्ञिकाः । नीविं परिहितमध्ये-ऽवगूहितवस्त्रप्रान्तं विस्रंस्येति नीविं विस्रंस्येति सूत्रव्याख्याने श्रीअनन्तयाज्ञिकाः । 'न नीविं कुरुते' इत्येतद् व्याख्याने नीविपरिधानदार्ढ्यार्थं प्रदेशान्तरे प्रदेशान्तरावगूहन-मित्युक्तं श्रीअनन्तैः । 'नीविं कुरुते सोमस्य नीविः' इत्यत्र च नीविरपवर्तिकेति कर्का-दयः । सर्वसूत्रव्याख्यावलोकने प्रदेशान्तरे प्रदेशान्तरावगूहनमेवायाति ।

नीविवासोदशान्तेन स्वरक्षार्थं प्रबन्धयेत् ।

इत्याश्वलायनः । वेदिश्रोणिसन्नहनावच्छादनवाक्यशेषो दक्षिणत इव हीयं नीविरिति । दक्षिणे कटिदेशे तु तिलैः सह कुशत्रयमिति वृद्धयाज्ञवल्क्यः ।

नीवी कार्या दशागुप्तिर्वासकृत्तौ कुशैः सह ।

इति यत्कात्यायनवचनं तद्वृद्धिश्राद्धे.

पितॄणां दक्षिणे पार्श्वे विपरीता तु दैविके ।

इति स्मृत्यन्तरात् । वामे दक्षिणे वेत्याचाराद् व्यवस्थैति प्रयोगपारिजाते । ततोऽग्ने-र्दक्षिणसंस्थमपसव्यं परिस्तरणमग्नेः पश्चादुत्तरतो वा दक्षिणसंस्थं, दक्षिणाग्राणां पात्राणामेकश आसादनम्, न द्विशः । स्रुक्, उलूखलं, मुसलं, शूर्पं, चरुस्थाली, उदकं, आज्यम्, मेक्षणं, वज्रम्, उदपात्रं, सकृदाच्छिन्नानि व्रीहयः, सूत्राणि च ऊर्णा वा वस्त्रदशा वा । स्थाल्यां

(गदाधर०)

ग्रहणपक्षे पूर्वं तस्या आसादनं न स्रुचः। अपरेणाग्निं चरुमपूर्णं स्रुचं वा गृह्णाति। ततोऽग्नेरुत्तरत उलूखले व्रीहीनोप्य तिष्ठतोऽवहननं शूर्पे न्युप्य निष्पवनं, सकृत्फलीकरणमपूर्णस्य चरोः सारतण्डुलस्य श्रपणम्, अभिघारणं, दक्षिणेनोद्वासनम्; अपसव्येनाहरणं, ततो दक्षिणामुख एवाहुतिद्वयं जुहोति—ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा इदमग्नये क० सोमाय पितृमते स्वाहा इदं सोमाय पि० अग्नौ मेक्षणप्राशनम्। अग्निमपरेण दक्षिणेन वा 'अपहता' इति स्फ्येन दक्षिणसंस्थां लेखां कुर्यात्। ये रूपाणीति परस्तादुल्मुककरणं, लेखायां पितृप्रभृतिभ्योऽवनेजनं–पितः अमुक अवनेनिक्ष्वेति रेखामूले, पितामह अवनेनिक्ष्वेति रेखामध्ये; अमुक प्रपितामह अवनेनिक्ष्वेति रेखान्ते। सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथाऽवनिक्तं पिण्डदानं 'पितरमुक एतत्ते अन्नम्' इति मन्त्रेण रेखामूले पिण्डदानम्, पितामह अमुक एतत्ते अन्नमिति रेखामध्ये, प्रपितामह अमुक एतत्ते अन्नमिति रेखान्ते। अत्र पितर इति जपः। अपसव्येनोदङ्ङावर्तनम् आतमनात्तिष्ठेत्। पुनस्तेनैव 'अमीमदन्त' इति जपः। पूर्ववदवनेजनं पिण्डानामुपरि नीविविस्रंसनं, 'नमो वः' इत्यञ्जलिकरणं' षड्भिः प्रतिमन्त्रं गृहान्न इति जपः। सूत्रादीनामन्यतमस्य प्रदानम् 'एतद्व' इति प्रतिपिण्डम्। 'ऊर्जम्' इति पिण्डानामुपरि उदकनिषेकः। उखायां पिण्डावधानमवघ्राणं सकृदाच्छिन्नावधानमग्नौ उल्मुकस्य च। पुत्रकामाया ऋतुमत्याः पत्न्या मध्यमपिण्डस्य प्राशनम्। तस्मिन् पक्षे अनवघ्राणं यजमानस्य, उदकोपस्पर्शनं, ततः पार्वणश्राद्धमिति पदार्थक्रमः। ततः श्वः प्रतिपदि ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कृत्वा स्थालीपाकेनाग्नये स्वाहा, विष्णवे स्वाहा, इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा इति दर्शदेवताभ्यो हुत्वा 'ब्रह्मणे स्वाहा' इति ब्राह्मणतर्पणान्तं पूर्ववत्कुर्यात्। सर्वत्र पूर्वं स्थालीपाकः पश्चाद्वैश्वदेवः।

तदुक्तं कारिकायाम्—

अकृते वैश्वदेवे तु स्थालीपाकाः प्रकीर्तिताः।
अन्यत्र पितृयज्ञात्तु सोऽपराह्णे विधीयते॥

प्रथमायां प्रतिपदि तु आभ्युदयिकात् पूर्वं कार्यं इति तत्रैवोक्तम्। गर्गमते तु पिण्डपितृयज्ञे चरोरुद्वासनान्ते तिसृणां समिधामग्नौ प्रक्षेपः यज्ञोपवीती भूत्वाऽग्नौ होमः। एतत्ते अन्नमिति नाध्याहार इति विशेषः।

अथ गर्गमते स्थालीपाके विशेषः—प्रथमप्रयोगे पौर्णमास्यां मातृपूजाश्राद्धपूर्विकाऽन्वारम्भणीया ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्तं पूर्ववत्। ग्रहणे 'अग्नाविष्णुभ्यां सरस्वत्यै सरस्वते जुष्टं गृह्णामि' इति ग्रहणम्। प्रोक्षणे त्वाधिकः। आज्यभागान्ते चरुहोमः। अग्नाविष्णुभ्यां स्वाहा सरस्वत्यै स्वा० सरस्वते स्वा० अग्नये स्विष्टकृते स्वा०। महाव्याहृत्यादिब्राह्मणभोजनान्तम्। ततो वैश्वदेवः। ततः श्वोभूते ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः—चरुस्थालीद्वयं ग्रहणे अग्नये अग्नीषोमाभ्यामग्नीषोमाभ्यां ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यां जुष्टम्। 'अग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टम्' इति द्वितीयचरुग्रहणम्। प्रोक्षणे त्वाधिकः। आज्यभागान्ते पूर्वचरुणा हुत्वा तेनैव बलिहरणम्। ततो वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोतीत्यादिवैश्वदेवचरुणा उभयोः स्विष्टकृद्धोमः। ततो बाह्यतः स्त्रीबलिहरणं पञ्चमन्त्रैः द्वितीयचरुशेषेण बलिहरणम्। शेषमद्भिः प्लाव्य महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्तं, संस्रवप्राशनं, ब्राह्मणभोजनान्तम्। तदनन्तरं चरुशेषेणैव वैश्वदेवः। अमावास्यापक्षादिषु कर्मविशेषः—तत्र ग्रहणे प्रोक्षणे होमे चाग्नेरनन्तरं विष्णुः इन्द्राग्नी च; शेषं

(गदाधर०)

पौर्णमासवत् । कृतसोमस्य यजमानस्याग्नेरनन्तरमग्नीषोमौ इन्द्रश्च भवति इति गर्गमते विशेषः ।

स्वकाले स्थालीपाकपिण्डपितृयज्ञयोरकरणे विशेष उच्यते—

पक्षादिः पिण्डयज्ञादि प्रमादादकृतं यदि ।
प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा कर्तव्यं तद्दिनान्तरे ॥

पिण्डपितृयज्ञस्तु अमादिन एव भवति न दिनान्तरे । आमायामननुष्ठाने प्रायश्चित्तत्वेन वैश्वानरश्चरुरेव न पिण्डपितृयज्ञः ।

तथा च कात्यायनः—

परेणाग्नौ हुते स्वार्थं परस्याग्नौ हुते स्वयम् ।
पितृयज्ञात्यये चैव वैश्वदेवद्वयस्य च ॥
अनिष्ट्वा नवयज्ञेन नवान्नप्राशने तथा ।
भोजने पतितान्नस्य चरुर्वैश्वानरो भवेत् ॥

अनाहिताग्नेश्चरुः, आहिताग्नेस्तु इष्टिरेव । कारिकायाम्—

मुख्यकाले यदा न स्यात्पौर्णमासः कथञ्चन ।
कृत्वाऽनादिष्टमादर्शात्कर्तव्यो यत्र कुत्रचित् ॥
दर्शात्प्राक्तु नवा चेत्स्याद्दर्शेन सह तत्क्रिया ।
यदि दर्शोऽप्यतिक्रान्तस्तदा पथिकृती भवेत् ॥

अत्रापि चरुरेवानाहिताग्नेः । 'य एवाहिताग्नेः पुरोडाशास्ते एवानाहिताग्नेश्चरवः' इत्युक्तत्वात् ।

एवं दर्शोऽतिपन्नः प्राक् पौर्णमासान्न चेत्कृतः ।
पितृयज्ञं विना सोऽपि कर्तव्यो यत्र कुत्रचित् ॥
न पौर्णमासतन्त्रे स्याद्दर्शो भिन्ने प्रयोगतः ।
पौर्णमासेऽप्यतिक्रान्तेऽतिपत्तिः पथिकृत्तदा ॥ १२ ॥

त्रयोदशी कण्डिका

सा यदि गर्भं न दधीत सिꣳह्याः श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थेऽहनि स्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति—'इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती । अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभमिति ॥ १ ॥

॥ इति त्रयोदशी कण्डिका ॥

(सरला)

[गर्भ-धारण का उपाय]

प्राक्कथन—यदि गर्भ का आधान न हो तो उसका उपचार बताते हैं।

व्याख्या—सा यदि = यदि स्त्री; गर्भं न दधीत = गर्भ न धारण करे तो; श्वेत पुष्प्या = सफेद फूलवाली सिंह्याः = भटकटैया के मूलं = जड़ को; उपोष्य = उपवास करके; पुष्येण = पुष्य नक्षत्र में; उत्थाप्य = उखाड़ लाकर; चतुर्थे अहनि = [ऋतुकाल के] चौथे दिन; स्नातायां = स्नान की हुई [शुद्ध स्त्री के]; दक्षिणस्यां नासिकायां = दाहिने नाक में; निशायां = रात्रि के समय; उदपेषं = जल के साथ; पिष्ट्वा = पीसकर; "इयमौषधी"......"जाग्रभम्" इति = इस मंत्र से; आसिञ्चति = छोड़ दे [या नासिका से खिंचवाना चाहिये] इयमौषधी त्रायमाणा = यह औषधि रक्षा करनेवाली; सहमाना = रोग के वेग को सहती हुई अर्थात् नाश करती हुई; सरस्वती = समुद्र से सम्बद्ध अतः, अस्या = इस; अहं बृहत्या पुत्रः = बड़ी माता का पुत्र मैं; पितुरिव नाम जग्रभम्[1] = पिता की तरह नाम पाऊँ [अर्थात् पुत्र वाला कहलाऊँ]॥ १॥

हिन्दी—यदि स्त्री गर्भ न धारण करे तो सफेद फूल वाली भटकटैया के जड़ को उपवास करके पुष्य नक्षत्र में उखाड़ लाकर [ऋतुकाल के] चौथे दिन स्नान की हुई [शुद्ध स्त्री के] दाहिने नाक में रात्रि के समय जल के साथ पीसकर "इयमोषधी"......"जाग्रभम्" इस मंत्र से छोड़ दे (या नासिका से खिचवाना चाहिए) यह औषधि रक्षा करने वाली, रोग के वेग को सहती हुई अर्थात् नाश करती हुई समुद्र से सम्बद्ध अतः इस बड़ी माता का पुत्र मैं पिता की तरह नाम पाऊँ [अर्थात् पुत्र वाला कहलाऊँ]॥१॥

(हरिहर०)

सा यदि गर्भं न दधीत। सा भार्या यदि चेत् गर्भं न धारयेत्। सिंह्याः श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थेऽहनि स्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकाया-मासिञ्चति। गर्भधारणोपायमाह—सिंह्याः कण्टकारिकायाः कथंभूतायाः श्वेतपुष्प्याः श्वेतानि पुष्पाणि यस्याः सा श्वेतपुष्पी तस्यां उपोष्य उपवासं कृत्वा पुष्येण चन्द्रमसा युक्तेन पुष्यनक्षत्रेण मूलं शिफामुत्थाप्य उद्धृत्य रजोदर्शनाच्चतुर्थेऽहनि स्नातायां भार्यायां

---

१. यह मंत्र पाठ-भेद से अथर्ववेद ८।२।६ में आया है। वहाँ 'सहस्वती' पाठ है। किन्तु यहाँ 'सरस्वती' पाठ ही उपयुक्त है क्योंकि यह गृह्यसूत्र अथर्ववेद का नहीं है अतः 'सरस्वती' पाठ रखना अनुपयुक्त ही है।

कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्र में गर्भाधान के लिए एक और विधि बतलाई है। "मध्यम पिण्डं प्राश्नाति पुत्रकामा" पिण्डपितृ-यज्ञ में ऐसा कहा है। वस्तुतः पार्वणश्राद्ध में तीन पिण्ड दिए जाते हैं। जिसमें से मध्यमवाला पुत्र चाहनेवाली पत्नी खा ले—ऐसा विधान है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दोनों ही विधि की जाय? नहीं। 'स्वर्गकामो यजेत' में व्रीहि और यव की तरह यहाँ विकल्प साध्य नहीं है; क्योंकि सवन दो प्रकार के होते है। पहला वह जो कार्य होने की सफलता में अवरोध को हटाए और दूसरा वह है जो स्वयं ही फल दे। जैसे कारीरी इष्टि वर्षा के लिए की जाती है। इससे वस्तुतः मानसून नहीं बनता। किन्तु मानसून के वहाँ पर आने के अवरोध को हटाता है। उसी प्रकार इस कण्डिका में वर्णित यह विधि मात्र अवरोध को हटाती है। स्वयं फल नहीं देती। अतः इससे भी गर्भ धारण न हो तो और भी विधि की जा सकती है जैसे हरिवंश श्रवण आदि।

(हरिहर०)

रात्रौ उदपेषं यथा भवति तथा पिष्ट्वा तन्मूलमुदकेन पिष्ट्वा द्रवीभावमापाद्येत्यर्थः दक्षिण-स्यां नासिकायां दक्षिणे नासारन्ध्रे सिञ्चति प्रक्षिपति भर्ता—इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती । अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्" इत्यनेन मन्त्रेण ॥ १ ॥

(गदाधर०)

'सा यदि'''जग्रभमिति । सा व्यूढा स्त्री गर्भकामा यदि गर्भं न दधीत न धारयति तदा भर्ता सिंह्याः श्वेतपुष्प्याः सिंहीति रिङ्गणी कण्टकारिकापरपर्याया श्वेतानि पुष्पाणि यस्याः सा श्वेतपुष्पी तस्याः उपोष्य पुष्यनक्षत्रदिनात् पूर्वदिने स्वयमुपवासं कृत्वा पुष्येण मूलमुत्थाप्य पुष्यनक्षत्रदिने पूर्वोक्तायाः कण्टकारिकायाः मूलमुत्पाट्य यत्नेन स्थापयित्वा ऋतुयुक्ता यदा भार्या भवति तदा चतुर्थेऽहनि स्नातायां रात्रौ तन्मूलमुदकेन पिष्ट्वा पेषयित्वा दक्षिणनासिकापुटे आसिञ्चति 'इयमोषधी त्रायमाणा' इत्यनेन मन्त्रेण भर्तैव । ततो भर्त्रा भोजनं कार्यमिति गर्गपद्धतौ । मन्त्रार्थः-ओषति दहति दोषान् धत्ते गुणानित्योषधी इयं त्रायमाणा यथोक्तप्रयुक्ता रक्षन्ती सहमाना दोषवेगान् सोढ्वाऽपि नाशयन्तीत्यर्थः । सरति कारणतयाऽनुगच्छति इति सरः समुद्रस्तद्वती तत्संबद्धा अतः अस्या बृहत्याः महत्याः बृंहयति पुत्रादिदानेन वा तस्याः प्रभावाच्चाहं पुत्रः पितुरयमित्यहं नाम जग्रभम् गृह्णीयां लभेयं प्राप्नुयाम् । पुत्रस्य पितेति लोकाः कथयन्ति । सुगमत्वादत्र पदक्रमो नोच्यते ।

॥ इति त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

चतुर्दशी कण्डिका

अथ पुंसवनम् ॥ १ ॥ पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ २ ॥ यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत तदहरुपवास्या-प्लाव्याहते वाससी परिधाप्य न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा [1]पूर्ववदासेचनं हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृत इत्येताभ्याम् ॥ ३ ॥ [2]कुशकण्टकं सोमांशुं चैके ॥ ४ ॥ कूर्मपित्तं चोपस्थे कृत्वा स यदि कामयेत वीर्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैनमभिमन्त्रयते सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्दशी कण्डिका ॥

---

१. पूर्ववत् से तात्पर्य है १३वीं कण्डिका के पहले सूत्र के कथानुसार ।

२. शांखायन गृह्यसूत्र के १।२०।३ में भी इसी प्रकार है ।

(सरला)

पुंसवन-संस्कार

प्राक्कथन—गर्भाधान के बाद 'पुंसवन' नामक संस्कार होता है। 'पुंसवन' अर्थात् वह संस्कार जिससे पुमान् (male) बच्चे का ही जन्म हो। अतः यह कर्म लड़के की उत्पत्ति के लिए करते हैं। इस प्रकार वस्तुतः यह गर्भ का संस्कार है।

व्याख्या—अथ = गर्भाधान के बाद; पुंसवनं = 'पुंसवन' नामक संस्कार होता है ॥ १ ॥ पुरा स्पन्दत = [गर्भ में बच्चे के हिलने या] चलने से पहले; इति = अतः; मासे द्वितीये तृतीये वा = [गर्भ से] दूसरे या तीसरे महीने में [इस संस्कार को करना चाहिए] ॥ २ ॥ यद् अहः = जिस दिन; चन्द्रमा पुंसां नक्षत्रेण युज्येत = चन्द्रमा (पुष्यादि) पुरुष नक्षत्र से युक्त हो; तद् अहः = उस दिन; उपवास्य = [पत्नी को दिनभर] उपवास कराकर; आप्लाव्य = स्नान कराकर; अहते = नवीन; वाससी = वस्त्र; परिधाप्य = पहिनाकर न्यग्रोधावरोहान् = बड़ की बरोहों को (उन जड़ें जो लटकी रहती हैं) च = और; शुङ्गान् = अङ्कुरों (कोपलों) को निशायां = रात्रि के समय; उदपेषं = जल में पिष्ट्वा = पीसकर; पूर्ववत् = पहले की तरह [दाहिने नासिका में] "हिरण्यगर्भ······" [वा. स. २१।२७] और "अद्भ्यः सम्भृतः" (वा. स. ३१४) इति = इन; एताभ्याम् = दोनों मंत्रों से; आसेचनम् = नासिका में छोड़ देना चाहिए ॥ ३ ॥ एके = कुछ ऋषियों के अनुसार; कुश कण्टकम् = कुश की जड़; च = और; सोमांशु = सोमलता के टुकड़े [भी बड़ की जड़ के साथ ही पीसकर सेचन करना चाहिए ॥ ४ ॥ सः = वह पति; यदि कामयेत = यदि चाहे कि; इति वीर्यवान् स्यात् = यह (होने वाला बालक) बलवान् हो तो; कूर्मपित्तम् = जलपूर्ण (या शराब से भरी) थाल को [भाष्यकार विश्वनाथ कूर्मपृष्ठ से निर्मित पात्र को कूर्मपित्त कहते। उपस्थे कृत्वा=योनि में स्पर्श करके "सुपर्णोऽसि······" [वा. स. १२।४] इति = इस; विकुर्स्य = विकृति छन्द वाली ऋचा से; एनम् = गर्भ को; अभिमंत्रयते = अभिमंत्रित करता है। विष्णुक्रमेभ्यः प्राक् = "विष्णुक्रम" (वा. स. १२।५) मन्त्रों के पूर्व [में विकृति छंद वाली ऋचा है]।

हिन्दी—गर्भाधान के बाद 'पुंसवन' नामक संस्कार होता है ॥ १ ॥ [गर्भ में बच्चे के हिलने या] चलने से पहले अतः [गर्भ से] दूसरे या तीसरे महीनें में [इस संस्कार को करना चाहिए] ॥ २ ॥ जिस दिन चन्द्रमा (पुष्यादि) पुरुष नक्षत्र से युक्त हो उस दिन [पत्नी को दिनभर] उपवास कराकर, स्नान कराकर, नवीन वस्त्र पहिनाकर बड़ की बरोहों को (उन जड़ें जो लटकी रहती हैं) और अङ्कुरों को रात्रि के समय जल में पीसकर पहले की तरह [दाहिने नासिका में] हिरण्यगर्भ······और अद्भ्यः सम्भृतः······इन दोनों मंत्रों से नासिका में छोड़ देना चाहिए ॥ ३ ॥ कुछ ऋषियों के अनुसार कुश की जड़ और सोमलता के टुकड़े [भी बड़ की जड़ के साथ ही पीसकर सेचन करना चाहिए] ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथ पुंसवनम्। अथ अवसरप्राप्तं पुंसवनाख्यं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते ॥ १ ॥

पुरा स्पन्दत इति। पुरा अग्रे स्पन्दते चलिष्यति। "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" (अष्टा० सू० ३-३-४) इति पुरा योगे भविष्यदर्थे वर्त्तमानप्रयोग इति हेतोः। मासे द्वितीये तृतीये वा। गर्भधारणकालात् द्वितीये तृतीये वा मासे ॥ २ ॥

यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत, यस्मिन्नहनि पुंसो पुरुषनाम्ना पुष्यादिनक्षत्रेण उडुना शशी युक्तो भवेत्। तदहरुपवास्याप्लाव्याहते वाससी परिधाप्य। तस्मिन्नहनि

(हरिहर०)

उपवास्य अभोजनं कारयित्वा भार्याम् आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सदशे सकृत्प्रक्षालिते वाससी अन्तरीयोत्तरीये द्वे परिधाप्य परिधानं कारयित्वा; न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनम्। न्यग्रोधस्य वटस्य अवरोहान् अवाचीनम् अधः रोहन्ति जायन्ते इत्यवरोहास्तान् शुङ्गान् तदग्रपल्लवान् मुकुलाकारान् साक्षिध्याच्चकारोऽवरोहसमुच्चयार्थः। ततश्चोभयं रात्रौ पूर्ववत् गर्भधारणार्थोक्तवद् पिष्ट्वा पूर्ववदेव आसेचनं भर्तुः। दक्षिणनासारन्ध्रे। मन्त्रविशेषमाह—हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत इत्येताभ्यामृग्भ्याम् ॥ ३ ॥

कुशकण्टकं सोमांशुश्चैके। एके आचार्याः न्यग्रोधावरोहशुङ्गेषु पिष्यमाणेषु कुशस्य कण्टकं मूलं सोमांशुं सोमलताखण्डं च प्रक्षिपन्ति। तत्पक्षे द्रव्यचतुष्टयपेषणम् ॥ ४ ॥

कूर्मपित्तं चोपस्थे कृत्वा स यदि कामयेत वीर्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैनमभिमन्त्रयते सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः। अत्र काम्यमाह—स भर्ता यदि कामयेत अयं गर्भः वीर्यवान् शक्तिमान् स्यादितीच्छेत् तदा अस्या भार्यायाः उपस्थे कूर्मपित्तं जलपूर्णशरावं निधाय विकृत्या विकृतिच्छन्दस्कया "सुपर्णोऽसि" (अ० १७ कं० ७२) इत्यनया ऋचा 'स्वःपते' इत्यन्तया एनं गर्भमभिमन्त्रयते हस्तेन गर्भाशयं स्पृष्ट्वा मन्त्रं जपतीत्यर्थः। विष्णुक्रमेभ्यो विष्णुक्रममन्त्रेभ्यः प्राक् पूर्वं यावद्विकृतेः परिमाणमिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

अथ प्रयोगः

तत्र गर्भाधानप्रभृति द्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन्दिने पुष्यनक्षत्रयुक्तश्चन्द्रः, तत्र तस्मिन्नहनि गर्भिणीमुपवासं कारयित्वा मातृपूजाभ्युदयिकं विधाय तां स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य रात्रौ न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च उदकेन पिष्ट्वा पक्षे कुशकण्टकं सोमांशुं च तन्नासिकाया दक्षिणपुटे आसिञ्चति भर्ता हिरण्यगर्भोद्भ्यः संभृत इति ऋग्भ्याम्। स यदीच्छेत् वीर्यवान् स्यादयं गर्भस्तदा तस्या स्त्रियाः उदकपूर्णं शरावं उपस्थे कृत्वा सुपर्णोऽसीत्यनया विष्णोः क्रमोऽसीत्येतस्मात् प्राक् पठितया विकृत्या ऋचाऽन्तर्गर्भमभिमन्त्रयते पिता। इति प्रयोगः।

(गदाधर०)

'अथ पुंसं.......तीयो वा'। पुंसवनमिति गर्भसंस्कारकर्मणो नामधेयम्। तच्च स्पन्दते पुरा स्पन्दिष्यते चलिष्यति "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" (अष्टा० सू० ३-३-४) इति च भविष्यदर्थे वर्तमानवत्प्रयोगः। पुरा गर्भस्पन्दनात् भवतीति हेतोः शुद्धे द्वितीये वा मासे तृतीये वा मासे गर्भाधानाद्भवति, प्रथमे मासे वा पूर्णे भवति, द्वितीये वा तृतीये वेति भर्तृयज्ञः। तथा हेमाद्रौ यमः—"प्रथमे मासि द्वितीये वा तृतीये वा यदा पुष्यनक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्" इति। गर्भसंस्कारत्वात्प्रतिगर्भमावर्तनीयमेतत्।

तथा कारिकायाम्—

गर्भसंस्कार एवायमिति कर्कस्य संमतिः।
अतस्तद्गर्भसंस्काराद्गर्भे गर्भे प्रयुज्यते ॥ इति ॥

बह्वृचकारिकायामप्येवम्। कालातिक्रमे स्पन्दितेऽपि कार्यमेव। तदुक्तं कारिकायाम्—

एतदेव पुरा गर्भचलनादकृतं यदि।
सीमान्ताद् प्राग्विधातव्यं स्पन्दितेऽपि बृहस्पतिः ॥ इति ॥ २ ॥

'यदह "इत्येताभ्याम्'। मासे द्वितीये तृतीये वा यस्मिन्नहनि पुंसा पुन्नामनक्षत्रेण

(गदाधर०)

पुष्यादिना नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तो भवति तदहस्तस्मिन् दिने गर्भिणीमुपवास्य अनाशयित्वा आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते वाससी परिधाप्य च न्यग्रोधो वटस्तस्यावरोहान् अव अधः रोहन्तीति तथा तान्, शुङ्गान् ऊर्ध्वाङ्कुरान्सन्निधानाद्वटस्यैव, चकारः समुच्चये। (१) "हिरण्यगर्भः [अ० १३ कं० ४] (२) "अद्भ्यः संभृतः" [अ० ३१ कं० १७] इत्येताभ्यामृग्भ्याम्। हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत इत्येताभ्यामासिच्यमाने समुच्चिताभ्यामासेचनं प्राप्नोति तन्मा भूदिति यतः क्रियते एताभ्यां पृथग्भूताभ्यां प्रत्यृचमासेचनमिति भर्तृयज्ञः। पुन्नक्षत्राणि च रत्नकोशे दर्शितानि—

हस्तो मूलं श्रवणः पुनर्वसुर्मृगशिरः पुष्यम्। इति।

अनुराधाऽपि पुन्नक्षत्रम्। 'अनुराधान्हविषा वर्द्धयन्तः' इति श्रुतेः। ज्योतिःशास्त्रेऽप्येवम् ॥ ३ ॥

'कुशकण्टकठ्ँ सोमाठ्ँशुं चैके'। कुशकण्टकं कुशमूलं सोमांशुं सोमलताखण्डं च पिष्यमाणेषु न्यग्रोधावरोहशुङ्गेषु प्रपिन्ष्यैके आचार्याः। अस्मिन् पक्षे द्रव्यचतुष्टयस्य पेषणम्, एकग्रहणाद्विकल्पः ॥ ४ ॥

काम्यमाह—'कूर्मेपि……क्रमेभ्यः'। स भर्ता यदि कामयेत अयं गर्भो वीर्यवान् शक्तिमान् भवतु तदा अस्याः स्त्रिया उपस्थे उत्सङ्गे अङ्के उदपूर्णं शरावं निधाय मुक्त्वा विकृत्या विकृतिच्छन्दस्कया ऋचा एनं गर्भमभिसंत्रयते गर्भिण्या उदरं विकृत्या अनामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयित्वा वा मन्त्रं पठतीत्यर्थः। तदुक्तं कात्यायनेन—

स्पृशँस्त्वनामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि।
अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सदैवमनुमन्त्रयेत् ॥ इति ॥

अभिमन्त्रणानुमन्त्रणयोर्नकश्चिद्विशेषः। विकृतेरप्रसिद्धत्वादाह-सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः। "सुपर्णोऽसि गरुत्मान्" [अ० १७ कं० ७२] इत्यारभ्य विष्णुक्रममन्त्रेभ्यः प्राक् पूर्वं यावद्विकृतेः परिमाणमित्यर्थः ॥ ५ ॥ इति चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

---

(१) "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"

मन्त्रार्थः—हिरण्ये हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः भूतस्य प्राणिजातस्य अग्रे समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी बभूव। स च जातः उत्पन्नमात्र एक एवोत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः पतिरीश्वर आसीत्। स एव पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकमुतापि च इमां भूमिं लोकत्रयं दाधार धारयति। कस्मै काय प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः।

(२) "अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥"

मन्त्रार्थः—अद्भ्यः जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपंचकोपलक्षकम् भूतपंचकात् यो रसः सम्भृतः पुष्टः तथा विश्वं कर्म यस्य सः विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेः यो रसः अग्रे प्रथमं समवर्त्तत सम्भवत्। तस्य रसस्य रूपं विदधत् धारयन् ब्रह्मा आदित्यः एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिनः आजानं देवत्वं मुख्यं सूर्यरूपेण।

(गदाधर०)

अथ पदार्थक्रमः

गर्भमासप्रभृति द्वितीये तृतीये वा मासि अरिक्तादितिथौ पुष्यादिपुन्नक्षत्रे शुक्रसोमबुधगुरुवासरेषु विष्ट्यादिदोषरहिते दैवज्ञोक्ते काले पुंसवनं कुर्यात्। अत्र नियतकालत्वात् गुरुशुक्रास्तबाल्यवार्द्धकमलमासादिष्वपि न दोषो दोषरहितकालालाभे। तद्रहितकाललाभे शुक्रास्तादौ न कार्यम्। कालातिक्रमे तु सीमन्तदिने कार्यम्। उक्ते दिवसे स्वस्तिवाचन ग्रहयज्ञाभ्युदयिकानि कृत्वा देशकालौ स्मृत्वाऽस्यां भार्यायामुत्पत्स्यमानगर्भस्य बैजिकगार्भिकदोषपरिहारसुरूपताज्ञानोदयप्रतिरोधिपरिहारद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं पुंसवनं करिष्ये इति संकल्पः। ततस्तस्मिन्नहनि गर्भिणीमुपवासं कारयित्वा तां स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य रात्रौ न्यग्रोधावरोहशुङ्गानामुदकेन सह पेषणम्। ततो गर्भिणीमुपवेश्य तदुदकं वस्त्रपावितं दक्षिणस्यां नासायामासिञ्चति "हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे" "अद्भ्यः संभृतः" इति ऋग्भ्याम्। स यदि कामयेत वीर्यवान् स्यादयं गर्भस्तदाऽस्या उत्सङ्गे उदरे शरावं निधाय "सुपर्णोऽसीत्यनेन दिवं गच्छ स्वःपत" इत्यन्तेन तं गर्भमभिमन्त्रयते। इति पदार्थक्रमः। गर्गमते नात्र विशेषः ॥ १४ ॥ ॥ ॐ ॥

॥ इति चतुर्दशी कण्डिका ॥

पञ्चदशी कण्डिका

अथ सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥ पुंसवनवत् ॥ २ ॥ प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥ ३ ॥ तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टाया युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिञ्जूलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण च सीमन्तमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवः स्वरिति ॥ ४ ॥ प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा ॥ ५ ॥

(सरला)

सीमन्तोन्नयन संस्कार

प्राक्कथन—गर्भिणी पत्नी के बालों को सँवार कर बीच में सीमा बनाने को सीमन्तोन्नयन कहते हैं। यह संस्कार प्रथम गर्भ में ही होता है क्योंकि यह स्त्री का संस्कार है [गर्भ का नहीं] जो सभी गर्भों में संस्कृत हो चुकी होती है इसीलिए दुबारा यह संस्कार नहीं होता।

व्याख्या—अत्र = पुंसवनसंस्कार के बाद अब; सीमन्तोन्नयन संस्कार का वर्णन करते हैं ॥ १ ॥ पुंसवनवत् = यह संस्कार पुंसवन के सदृश [नक्षत्र में उपवास स्नानादि कराकर करना चाहिए] ॥ २ ॥ प्रथमे गर्भे = [यह] प्रथम गर्भ में; षष्ठे = छठवें; वा = या; अष्टमे मासे = आठवें महीने

१. पुंसवनवत् से तात्पर्य है पुरुष नक्षत्र में गर्भिणी स्त्री को उपवास कराकर, स्नान और नवीन वस्त्र पहनाकर। द्रष्टव्य कण्डिका १४ का तीसरा सूत्र।

२. शाङ्खायन गृह्यसूत्र के १।२२।८ में और आश्वलायन के १।१४.४ में भी इसी प्रकार है।

(सरला)

में [होता है] ॥ ३ ॥ तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा = तिल और मूँग मिले हुए हविर्द्रव्य को पकाकर; प्रजापतेर्हुत्वा = प्रजापति को आहुति देकर; अग्नेः पश्चात् = अग्नि के पश्चिम ओर भद्रपीठ = कोमल पीढ़े पर; उपविष्टाया = बैठी हुई स्त्री के; सीमन्तं = माँग को; युग्मेन = दो; सटालुग्रप्सेन = कच्चे मिले हुए; औदुम्बरेण = गूलर के फल से; त्रिभिः दर्भ = तीन कुश की; [1]पिंजूलैः = रस्सियों से; त्र्येण्या = तीन जगह पर सफेद धब्बे वाले; शलल्या = साही के काँटे से; वीरतर = पीपल के; शङ्कुना = खूँटी से (कील से); च = और; पूर्णचात्रेण = सूत से भरे हुए टेंकुए से "भूर्भुवः स्वः" इति = इस मंत्र से; सीमन्तं = स्त्री की माँग को (पति); ऊर्ध्वं विनयति = [ललाट के मध्य से] ऊपर की ओर विभक्त करता है ॥ ४ ॥ वा = अथवा; प्रतिमहाव्याहृतिभिः = प्रत्येक महाव्याहृतियों से [झाड़ना चाहिए] ॥ ५ ॥

हिन्दी—पुंसवन संस्कार के बाद अब सीमन्तोन्नयन संस्कार का वर्णन होगा ॥ १ ॥ यह संस्कार पुंसवन के सदृश [नक्षत्र में उपवास स्नानादि कराकर करना चाहिए] ॥ २ ॥ [यह] प्रथम गर्भ में छठवें या आठवें महीने में [होता है] ॥ ३ ॥ तिल और मूँग मिले हुए हविर्द्रव्य को पकाकर प्रजापति को आहुति देकर अग्नि के पश्चिम ओर कोमल पीढ़े पर बैठी हुई स्त्री के माँग को दो कच्चे मिले हुए गूलर के फल से तीन कुश की रस्सियों से तीन जगह पर सफेद धब्बे वाले साही के काँटे से पीपल के खूँटी (कील से) और सूत से भरे हुए टेंकुए से "भूर्भुवः स्वः" इस मंत्र के द्वारा स्त्री की माँग को [ललाट के मध्य से पति] विभक्त करता है ॥ ४ ॥ अथवा प्रत्येक महाव्याहृतियों से [झाड़ना चाहिये] ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अथ सीमन्तोन्नयनं पुंसवनवत्। अथ पुंसवनानन्तरं क्रमप्राप्तं सीमन्तोन्नयनं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते। तच्च पुंसवनवत् पुंनक्षत्रे भवति ॥ १–२ ॥

प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा। आद्यगर्भे गर्भाधानप्रभृति षष्ठेऽष्टमे वा मासे। नियमेन कुर्यात् गर्भान्तरेष्वनियम इति कर्कोपाध्यायः। अन्ये तु प्रथमगर्भ एवेति तथा चाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे "प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयन संस्कारो गर्भमात्रसंस्कारः" इति।

सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत् ॥

इति हारीतः देवलश्च—

सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता।
उपवासाप्लवनाहतवासोयुगपरिधापनानि यतिना गृह्यन्ते ॥ ३ ॥

तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा। तत्र विशेषमाह। तिलैर्मुद्गैर्मिश्रस्तिलमुद्गमिश्रस्तं स्थालीपाकमोदनं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागान्ते प्रजापतये स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा स्विष्टकृदादि प्राशनान्तं विदध्यात्। पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायाम्। अग्नेः पश्चिमतः भर्त्तुर्दक्षिणतः मृद्वासने आसीनायां गर्भिण्यां सत्याम्। युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिञ्जूलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण च सीमन्तमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवःस्वरिति। ततो भर्त्ता औदुम्बरेण उदुम्बरवृक्षोद्भवेन युग्मेन द्व्यादियुग्मफलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफलैकस्तबकनिबद्धेन त्रिभिश्च दर्भपिञ्जूलैस्त्रिभिर्दर्भपवित्रैश्च त्र्येण्या त्रिषु स्थानेषु श्वेता श्येणी तया त्र्येण्या शलल्या शल्यकाख्यपशुकण्टकेन वीरतरशङ्कुना

---

१. दर्भपिञ्जूल शब्द से कुश सङ्घात को लेते हैं द्र० ऐ. ब्रा. १–२।

(हरिहर०)

शरेषीकया आश्वत्थेन वा शङ्कुना पूर्णचात्रेण च सूत्रेण पूर्णं चात्रं सूत्रकर्त्तनसाधनं, तर्कुरिति यावत्। तेन लोहकीलकेन च। चकारः सर्वसमुच्चयार्थः। अतश्चौदुम्बरयुग्मादिभिः सर्वैः पुञ्जीकृतैः सीमन्तं स्त्रिया ऊर्ध्वं विनयति पृथक्करोति ललाटान्तरमारभ्य केशान् द्विधा करोति "भूर्भुवः स्वर्विनयामि" इत्येतावता मन्त्रेण सकृदेव ॥ ४ ॥

पक्षान्तरमाह—प्रतिमहाव्याहृति वा। अथवा प्रतिमहाव्याहृति महाव्याहृतिं महाव्याहृतिं प्रति विनयति। ततश्च 'भूर्विनयामि' 'भुवर्विनयामि' 'स्वर्विनयामि' इत्येवं त्रिर्विनयनं भवति। अत्र व्याहृतिमन्त्रपदानामाख्यातपदं विना वाक्यस्यासंपूर्णत्वात् आख्यातपदाध्याहारः कर्त्तव्यः। तत्र "विधियुक्तस्य मन्त्रभावः स्यात्" इति न्यायात् विनयतीति विधिपदं विपरिणम्य विनयामीत्यध्याह्रियते ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

'अथ सीमन्तोन्नयम्' व्याख्यास्यते इति सूत्रशेषः। अथ सीमन्तोन्नयनमिति वक्ष्यमाणसंस्कारकर्मणो नामधेयम्। गर्भसद्भावे क्रियमाणत्वात् तदभावे चाभावाद् गर्भसंस्कारोऽयमिति कर्कोपाध्यायाः। अतश्च तेषां मते प्रतिगर्भं क्रिया। तथाच हेमाद्रौ कारिकायां च विष्णुवचनम्—

सीमान्तोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते।
केचित्तु गर्भसंस्कारद्गर्भे गर्भे प्रयुज्यते ॥ इति ॥

स्त्रीसंस्कार एवायमित्यन्ये। तथाच देवलः—

सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता। इति।

हारीतोऽपि—

सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत् ॥ इति ॥ १ ॥

'पुंसवनवत्'। अनेन यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमसो योगस्तदहरुपवास्याप्लाव्याहते वाससी परिधाप्येति लभ्यते न तु सर्वमिति कर्कः। पुंसवनवदिति यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत तदहरित्यर्थ इति भर्तृयज्ञः ॥ २ ॥

'प्रथमगर्भे'। एतत्सीमन्तोन्नयनं प्रथमगर्भे आद्यगर्भे भवति। आपस्तम्बः—"सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि" इति। शाङ्खायनगृह्ये—"सप्तमे मासि प्रथमगर्भे सीमन्तोन्नयनम्" इति। आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे—"प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयनसंस्कारो गर्भमात्रसंस्कारः" इति। कर्कोपाध्यायैस्तु प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वेति सूत्रं योजयित्वा द्वितीयादिष्वनियम इत्युक्तम्। ननु प्रथमगर्भ एव सीमन्तोन्नयनसंस्कारे क्रियमाणे द्वितीयादिगर्भाणां तत्संस्कारलोपः स्यादिति चेत्? नैवम्।

यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्।

इति हारीतवचनाद्यगर्भे संस्कारे कृते सर्वगर्भाणां संस्कार इति न संस्कारलोपः। अकृतसीमन्ताया प्रसवे सत्यव्रतोक्तो विशेषः—

स्त्री यदाऽकृतसीमन्ता प्रसवेत्तु कथञ्चन।
गृहीतपुत्रा विधिवत्पुनः संस्कारमर्हति ॥ इति ॥ ३ ॥

'मासे षष्ठेऽष्टमे वा'। सीमन्तोन्नयनं गर्भधारणात् षष्ठे मासि अष्टमे वा भवति।

(गदाधर०)

'तिलमुद्ग'''स्वरिति'। तिलमुद्गानां स्थालीपाके मिश्रणमात्रं, न तत्प्राधान्यं, मिश्रणोपदेशात्। प्रयोजनं चान्तराये उपैवैव। त्यागोऽपि तद्व्यतिरिक्तस्यैव। तिलैर्मुद्गैर्मिश्रस्तिलमुद्गमिश्रस्तं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागानन्तरं प्रजापतये स्थालीपाकेनैकामाहुतिं हुत्वा स्थालीपाकेनैव स्विष्टकृदाहुतिं हुत्वा दक्षिणादानान्तं कृत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायामग्नेः पश्चिमतः भर्तुर्दक्षिणतः मृदुपीठे आसीनायां गर्भिण्यां सत्यां युग्मेनौदुम्बरवृक्षोद्भवेन द्व्यादियुग्मफलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफलस्तबकनिबद्धेन सटालुमिति अपक्वफलानामाख्या, ग्रप्सः स्तबकसंघातः, युग्मानि एकस्तबकबद्धानि औदुम्बरफलानि [यस्मिन्] तेन त्रिभिर्दर्भपविस्त्रैश्च श्येण्या शलल्या त्रिषु स्थानेषु श्वेता श्येणी तया श्येण्या शलल्या शलल्याख्यपक्षकण्टकेन वीरतरशङ्कुना आश्वत्थेन शङ्कुना पूर्णचात्रेण च सूत्रकर्तनसाधनभूतो लोहकीलस्तकुरपरपर्यायश्चात्रं, तेन सूत्रपूर्णेन च। चकार औदुम्बरफलस्तबकादिद्रव्यपञ्चकसमुच्चयार्थः। अतो द्रव्यपञ्चकेन स्त्रियाः सीमन्तमूर्ध्वं विनयति केशललाटयोः संधिमारभ्य ऊर्ध्वं केशान् पृथक्करोति द्विधा करोति—'भूर्भुवस्स्वः' इति मन्त्रेण। सीमन्तशब्दो व्याख्यातोऽभिधानग्रन्थे—

सीमान्तः कथ्यते स्त्रीणां केशमध्ये तु पद्धतिः। इति।

साकाङ्क्षत्वाद्विनयामीत्यध्याहारः। पश्चादग्नेर्भद्रपीठ इत्येवमादि कर्मान्ते भवति, आगन्तुकत्वात्। भद्रपीठशब्दो गोमयपीठे चतुरस्रे प्रसिद्ध इति भर्तृयज्ञः। वीरतरशङ्कुः शरः इति जयरामः। अश्वत्थशङ्कुः शरेषीका वेति हरिहरकारिकाकारौ। अश्वत्थशङ्कुः इति कर्कः। खादिरः शङ्कुरित्यपरे इति गर्गपद्धतौ ॥ ४ ॥

'प्रतिमहाव्याहृति वा'। विनयनं सीमन्तस्य कार्यमित्यर्थः। वाशब्दो विकल्पार्थः। अत्रापि चाध्याहारः। तच्चैवम्—'भूः विनयामि' 'भुवः विनयामि' 'स्वः विनयामि' ॥ ५ ॥

त्रिवृतमाबध्नाति—अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भवेति ॥ ६ ॥ अथाह—[1]वीणागाथिनौ राजानट्ठ सङ्गायेतां यो वाऽप्यन्यो वीरतर इति ॥ ७ ॥ नियुक्तामप्येके गाथामुपोदाहरन्ति। सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्तचक्र असीरंस्तीरे तुभ्यमसाविति ॥ ८ ॥ यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति ॥ ९ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १० ॥

॥ इति पञ्चदशी कण्डिका ॥

(सरला)

व्याख्या—त्रिवृत = त्रिगुण (त्रिवेणी) चोटी में "अयमूर्जा'''भव" इति = इस मंत्र से; आवध्नाति = [गूलर के फल आदि पुंज को] बाँध देता है। अयमूर्जावत वृक्षः = हे सीमन्तिनी

---

१. शांखा गृ. सू. १-२२-१० में भी प्राप्त है।

२. शांखा गृ. सू. १।२।१२-११ में और आश्व० के १।१।८ में भी प्राप्त होता है।

(सरला)

क्योंकि यह ऊर्जवान् वृक्ष है अतः इस ऊर्जस्वी वृक्ष के समान ही; उर्जीव = फलवाली शाखा की तरह [तुम]; फलिनी भव = फलवाली होओ ॥ ६ ॥ अथ = चोटी बाँधने के बाद [पति] वीणागायिनौ = दो वीणा बजाते और वीणागान करने वाले पुरुषों को; आह = कहता है कि; राजानं = राजाओं [के सच्चरित्रों] को; सङ्गायेताम् = सम्यक प्रकार से गान करो; वा = अथवा यः अन्य अपि वीरतरः = यदि कोई उससे भी अधिक जो शूरवीर हो तो ! [उसका भी चरित्र गान करो] इति = इस प्रकार कहना चाहिए ॥ ७ ॥ एके = कुछ आचार्यों ने "सोम'''असौ इति = इस निगमोक्त; नियुक्तां गाथाम् अपि = वेद विहित (या गान में नियुत) गाथा को भी; उपोदाहरन्ति = समीप में गाने का उदाहरण देते हैं। यां नदी उप आवसिता भवति = जिस नदी के समीप में निवास हो; तस्या नाम = उस नदी का [प्रथमान्त जैसे गङ्गा यमुना] नाम; गृह्णाति = ले। सोम एव नः राजा = सोम ही हमारा राजा है; इमाः मानुषीः प्रजाः = ये मानवीय प्रजाएँ; तुभ्यं तीरे आसीरन् = तुम्हारे किनारे पर रहें [हे नदी !] अविमुक्तचक्रः = जिस [तीर] का अनुलङ्घित शासन है; असौ = हे अमुक [नदी उस तीर पर हम रहें] ॥ ८ ॥ ततो = सभी कर्मों के बाद; ब्राह्मण भोजनम् = ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ ९ ॥

हिन्दी—त्रिगुण (त्रिवेणी) चोटी में "अयमूर्जा'''भव" इस मंत्र से [गूलर के फल आदि पुञ्ज को] बाँध देता है हे सीमन्तिनी क्योंकि यह ऊर्जवान् वृक्ष है अतः इस उर्जस्वी वृक्ष के समान ही फलवाली शाखा की तरह [तुम] फलवाली होओ ॥ ६ ॥ चोटी बाँधने के बाद [पति] दो वीणा बजाने वाले और वीणागान करने वाले पुरुषों को कहता है कि राजाओं [के सच्चरित्रों] को सम्यक् प्रकार से गान करो अथवा अन्य यदि कोई उससे भी अधिक जो शूरवीर हो तो [उसका भी चरित्रगान करो] इस प्रकार कहना चाहिए ॥ ७ ॥ कुछ आचार्य "सोम ''असौ" इस वेद विहित (या गान में नियत) गाथा को भी समीप में गाने का उदाहरण देते हैं। जिस नदी के समीप में निवास हो उस नदी का [जैसे गंगा यमुना] नाम ले। हे नदी सोम ही हमारा प्रभु है। ये मानवीय प्रजाएँ तुम्हारे अनुलङ्घित शासन वाले तट पर रहें ॥ ८ ॥ सभी कर्मों के बाद ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

त्रिवृतमाबध्नाति । त्रिवृतं वेणीं प्रति आबध्नाति पुञ्जीकृतमौदुम्बरादिपञ्चकं वेण्यां विनियुनक्तीत्यर्थः । अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भव । इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ६ ॥

अथाह वीणागाथिनौ राजानꣳ सङ्गायेतां यो वाऽप्यन्यो वीरतर इति । अथौदुम्बरादिपञ्चकस्य वेणीबन्धनानन्तरम् आह ब्रवीति । किं ? हे वीणागाथिनौ राजानं भूपतिं सङ्गायेतां राजवर्णनसंबद्धं ध्रुवादिरूपकं सम्यग्गायेतां युवाम् । अथवा योऽन्योऽपि राजव्यतिरिक्तो वीरतरः प्रकृष्टो वीरः शूरस्तम्, सङ्गायेतामित्यनुषङ्गः, इत्याह ब्रवीति ॥ ७ ॥

नियुक्तामप्येके गाथामुपोदाहरन्ति । एके आचार्याः नियुक्तां गाने विहितां गाथां मन्त्रमुपोदाहरन्ति पठन्ति । अपिः समुच्चयार्थः । तत्पक्षे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं च समुच्चितं भवति । पक्षान्तरे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं वा । तां गाथामाह— 'सोम एव नो राजा' इत्यादि 'तुभ्यम्' इत्यन्ताम् । पद्धतिकारपक्षे राजवीरतरगाथानामेकतमस्यैव गानं, तत्पक्षे नियुक्तामपीत्यपिशब्दो विवक्षितार्थः स्यात् ॥ ८ ॥

असाविति यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति । ततो गर्भिणी यां नदीं उप

(हरिहर०)

समीपे आवसिता स्थिता भवति तस्या नद्या असाविति गङ्गा यमुना इत्येवं प्रथमान्तं नाम गृह्णाति ॥ ९ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् । उक्तार्थम् ॥ १० ॥ इति सूत्रव्याख्या ॥ १५ ॥

अथ पद्धतिः

तत्र प्रथमे गर्भे षष्ठेऽष्टमे वा मासि पुंसवने मातृपूजां वृद्धिश्राद्धं च कृत्वा बहिः शालायां पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं विदध्यात्। तत्र विशेषः—पात्रासादने-आज्यभागानन्तरं तण्डुलतिलमुद्गानां क्रमेण पृथगासादनम्, उपकल्पनीयानि मृदुपीठं युग्मान्यौदुम्बरफलानि एकस्तबकनिबद्धानि, त्रयो दर्भपिञ्जुलाः, श्येणी शलली, वीरतरशङ्कुः शरेषिकाः, आम्रवथो वा शङ्कुः, पूर्णचात्रं, वीणागाथिनौ चेति। आज्यमधिश्रित्य चरुस्थाल्यां मुद्गान् प्रक्षिप्याधिश्रित्यईषच्छृतेषु मुद्गेषु तिलतण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा पर्यग्निकरणं कुर्यात्। तत आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति हुत्वा इदं प्रजापतय इति त्यागं विधाय स्थालीपाकेनोत्तरार्द्धात्स्विष्टकृदाहुतिं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठं स्थापयित्वा गर्भिण्यां योषिति स्नातायां परिहिताहतवासोयुग्मायां भद्रपीठ उपविष्टायां युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिञ्जुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण चेति सर्वैः पुञ्जीकृतैः स्त्रियाः सीमन्तं भूर्भुवस्स्वर्विनयामीति ऊर्ध्वं विनयति मन्त्रेण सकृत्। यद्वा भूर्विनयामि भुवर्विनयामि स्वर्विनयामि इति त्रिर्विनयति। ततो विनयनसाधनमौदुम्बरादिपञ्चकं स्त्रिया वेण्यां बध्नाति—अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भवेति मन्त्रेण। अथ वीणागाथिनौ राजानं सङ्गायेतामिति प्रैषं ददाति अथवा अमुकं वीरतरं सङ्गायेतामिति ततस्तौ यद्गानाय प्रेषितौ तं गायतः अथवा वीणागाथिनौ सोमं राजानं सङ्गायेतामिति प्रेषितौ सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् इत्यन्तां गाथां वीणागाथिनौ गायतः इति विकल्पः पक्षः। समुच्चयपक्षे राजानमन्यं वीरतरं वा सोमं राजानं च सङ्गायेतामिति प्रेषितौ उभयं गायतः असौस्थाने समीपावस्थितायाः गङ्गाप्रमुखाया नद्याः सम्बुध्यन्तं गङ्गेत्यादि नाम गृह्णाति गर्भिण्येव। ततो ब्राह्मणभोजनं ददाति। अत्र प्रथमगर्भे इति वचनात्, स्त्रीसंस्कारकर्मत्वाच्च न प्रतिगर्भं सीमन्तोन्नयनं, यतः—

> सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
> यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्॥

इति स्मरणात् न प्रतिगर्भं सीमन्तोन्नयनं पुंसवनं तु दृष्टार्थत्वान्नाप्यकारमते प्रतिगर्भं भवति।

॥ इति सीमन्तोन्नयनप्रयोगः ॥

(गदाधर०)

'त्रिवृत······नी भवेति'। त्रिभिर्वर्त्यते[1] ग्रथ्यते इति त्रिवृत् वेणी, तां प्रति तत्रैव औदुम्बरादिपुञ्जमाबध्नाति भर्ता-'अयमूर्जावतः' इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—हे सीमन्तिनि

---

१. पयन्तात् कर्मणि यक्।

(गदाधर०)

यतोऽयमूर्जावान्, 'वृक्ष' इति शेषः; अस्य चोर्जावतो वृक्षस्योर्जीव सफलशाखेव फलिनी भव ॥ ६ ॥

'अथाह''''''रतर इति'। अथ वेण्यां बन्धनानन्तरं वीणां गृहीत्वा गाथागाथिनौ प्रति कर्ता 'वीणागाथिनौ राजानꣳसंगायेताम्' इति प्रैषमाह। ततश्च तौ ब्राह्मणावेव वीणागाथिनौ राजसम्बन्धि सोत्साहौ गायतः। अन्यो वा यः कश्चिद्वीरतरः अतिशूरो नलादिस्तं सम्यग्गायेतामिति। आत्मनेपदमार्षम्। एवं च गेये विकल्पः ॥ ७ ॥

'नियुक्ताम'''विति'। एके अचार्या नियुक्तां गाने विहितां गाथां मन्त्रं 'सोम एव नो राजा' इति उपोदाहरन्ति समीपे गायन्ति, एके नेति, अतश्च विकल्पः। अपिः समुच्चयार्थः। ततो गाथागानपक्षे राजसंबन्धि वीरतरसंबन्धि वा गानं गाथागानं च द्वयं भवति। केषांचिन्मते राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं वा। पद्धतिकारमते राजवीरतरगाथानामन्यतमस्य गानम्। असावित्यत्र नामादेशः। गाथागानमपि वीणागाथिनौ कुरुतः। मन्त्रार्थः—सोमश्चन्द्रः नोऽस्माकं प्रजानां राजा प्रभुः, अत इमाः प्रजाः मानुषीर्मानुष्यः सौम्याः हे गङ्गादिनदि तुभ्यं तव सोमरूपायास्तीरे आसीरन् त्वामाश्रित्य स्थिताः। किम्भूते तीरे ? अविमुक्तचक्रे अनुल्लङ्घितशक्ते। अतो भवन्त्यां पातव्या इत्यर्थः ॥ ८ ॥

'यां नदी''''''गृह्णाति'। असावित्यत्र च सीमन्तिनी यां नदीमुप समीपे आवसिता स्थिता भवति, तस्या नद्याः गाथागानकर्ता गङ्गे यमुने इत्येवं नाम गृह्णाति ॥ ९ ॥

'ततो ब्राह्मणभोजनम्'। व्याख्यातं चैतत्। अत्र भोजने प्रायश्चित्तमुक्तं पराशरमाधवीये धौम्येन—

ब्रह्मोदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा।
जातकर्मनवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इदं च कर्माङ्गब्राह्मणभोजनविषयं नत्विष्टकुटुम्बादिभोजनविषयमिति मुरारिमिश्राः॥१०॥

इति पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

सीमन्तोन्नयने पदार्थक्रमः

तत्र गर्भमासापेक्षया षष्ठेऽष्टमे वा मासि असंभवे यावत्प्रसवं शुक्लपक्षे पुनर्वसुपुष्याभिजिद्धस्तप्रोष्ठपदानुराधाऽश्विनीमूलश्रवणरेवतीरोहिणीमृगशिरः संज्ञकानां पुन्नक्षत्राणां चतुर्द्धा विभक्तानां मध्यमपादद्वये. पञ्चषष्ठमीद्वादशीचतुर्थीनवमीचतुर्दश्यमावास्याव्यतिरिक्ततिथौ सोमबुधबृहस्पतिशुक्रवारेषु चन्द्रानुकूल्ये विष्ट्यादिदोषाभावे शुभलग्नादौ कार्यम्। अत्राप्यधिकमासगुरुशुक्रास्तादीनां न दोषः, कालान्तरासंभवे पूर्ववन्नियतकालत्वात्। पुण्याहवाचनग्रहयज्ञाभ्युदयिकानि कृत्वा मङ्गलस्नातां परिहितप्रावृताहतवासोयुगलामलङ्कृतां पत्नीं स्वदक्षिणत उपवेश्य देशकालौ स्मृत्वा तनुरुधिरप्रियाऽलक्ष्मीभूतराक्षसीगणदूरनिरसनक्षमसकलसौभाग्यनिदानभूतमहालक्ष्मीसमावेशनद्वारा प्रतिगर्भं बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणजनकातिशयद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं स्त्रीसंस्काररूपं सीमन्तोन्नयनाख्यं कर्म करिष्ये इति सङ्कल्पं कुर्यात्। ततो बहिःशलायां पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वाऽग्नेः स्थापनम्, वैकल्पिकावधारणम्, प्रतिमहाव्याहृतिभिर्विनयनम्, वीरतरस्य गानम्। ततो ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। उपकल्पनीयानी—तिलाः, मुद्गाः, मृदुपीठे, युग्मान्यौदुम्बरफलान्येकस्तबकनिबद्धानि, त्रीणि कुशपिञ्जुलानि, त्र्येणी शलली, वीरतरशङ्कुः, पूर्णचात्रम्, वीणागाथिनौ त्रैवर्णिकौ चेति। ब्राह्मणौ वीणागाथिनाविति

(गदाधर)

प्रयोगरत्ने। नियुक्तगाथागानस्य विहितत्वाच्छूद्रस्य च तत्रानधिकारात् त्रैवर्णिकाविति वयम्। अधिश्रयणकाले स्थाल्यां मुद्गान् प्रक्षिप्याधिश्रित्य ईषच्छृतेषु मुद्गेषु तिलतण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा पर्यग्निकरणादि कार्यम्। आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन–'प्रजापतये स्वाहा' इति होमः, इदं प्रजाप०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृद्धोमः। ततो भूराद्या नवाहुतयः। ततः प्राशनादिदक्षिणान्तम्। ततोऽग्नेः पश्चान्मद्रपीठ उपविष्टाया गर्भिण्या औदुम्बरादिभिः पूर्णचात्रान्तैः फलीकृतैः सीमन्तमूर्ध्वं विनयति–'भूर्भुवःस्वर्विनयामि'। प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा विनयनम्–'भूः विनयामि' 'भुवः विनयामि' 'स्वः विनयामि'। ततो भर्ता–'अयमूर्जावत' इति औदुम्बरादिपञ्चकं तस्याः वेण्यां बध्नाति। 'वीणागाथिनौ राजानं सङ्गायेताम्'-इति प्रैषः। ततस्त्रैवर्णिकौ वीणागाथिनौ राजवर्णनसम्बन्धि गानं कुरुतः। अथवाऽन्यो नलादिस्तस्य गानम्। तस्मिन् पक्षे 'नलादिकं सङ्गायेताम्' इति प्रैष इति गर्गपद्धतौ। नियुक्तगाथागानं वा। तत्र सामगानापरिज्ञाने मन्त्रमात्रं पठेतामिति प्रयोगरत्ने। तस्मिन् पक्षे प्रैषाभाव इति गर्गपद्धतौ। नियुक्तगाथागानेऽपि प्रैषः 'सोमं राजानम् सङ्गायेताम्' इति हरिहरः। नद्या नामग्रहणं गर्भिणीकर्तृकमिति तत्पद्धतौ। ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति पदार्थक्रमः॥ १५॥

अथ गर्गमते विशेषः–मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकम्। अग्नेः स्थापनम्। ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। आसादने–तण्डुलानन्तरं तिलाः, मुद्गाः, मद्रपीठम्, औदुम्बरादिपञ्चकम्, वीणागाथिनौ चेति। ग्रहणात् प्राक् तण्डुलानां तिलमुद्गाभ्यां मिश्रणम्। ग्रहणे 'प्रजापतये जुष्टं गृह्णामि'। प्रोक्षणे 'त्वा' अधिकः। आज्यभागान्ते 'प्रजापतये स्वाहा' इति स्थालीपाकस्य होमः। ततोऽग्नेः पश्चान्मद्रपीठनिधानम्। ततस्तां गर्भवतीं स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य मद्रपीठ उपवेशयेत्। तत औदुम्बरादिपञ्चद्रव्यैर्गर्भिण्याः सीमन्तविनयनम्। विनयामीत्यध्याहारः। ततः पादाङ्गुष्ठेन सूत्रमाक्रम्य मस्तकं यावत्सूत्रं नीत्वा तत्त्रिगुणं कृत्वा तस्मिन् सूत्रे औदुम्बरादिपञ्चकं बद्ध्वा तस्यास्तु नाभेरुपरि यथा भवति तथा कण्ठे प्रतिमुञ्चते 'अयमूर्जावतो वृक्षः' इत्यनेन मन्त्रेण। गानप्रैषः, राज्ञो गानम्, नलादेर्वा गानम्। नलादिकं सङ्गायेतामिति प्रैषः। नियुक्तगाथागानं वा, नास्मिन् पक्षे प्रैषः। असावित्यत्र 'गङ्गे' इत्येवं नाम गृह्णाति स्त्र्येव। ततः स्विष्टकृदादिब्राह्मणभोजनान्तम्। दक्षिणादानान्ते मद्रपीठ उपवेशनादि कार्यमिति वासुदेवः। एतदुभयं समूलम्। अतो यथारुच्यनुष्ठेयमिति गर्गपद्धतौ। इति गर्गमते विशेषः॥

अथ गर्भिणीधर्माः। कारिकायाम्—

> अङ्गारभस्मास्थिकपालचुल्लीशूर्पादिकेषूपविशेन्न नारी।
> सोलूखलाद्ये दृषदादिके वा यन्त्रे तुषाद्ये न तथोपविष्टा॥
> नो मार्जनीगोमयपिण्डकादौ मूत्रं पुरीषं शयनं च कुर्यात्।
> नो मुक्तकेशी विवशाऽथवा स्याद् भुङ्क्ते न सन्ध्यावसरे न शेते॥
> नामङ्गलं वाक्यमुदीरयेत् सा शून्यालयं वृक्षतलं न यायात्।

प्रयोगपारिजाते—

गर्भिणी कुञ्जराश्वादिशैलहर्म्यादिरोहणम्। व्यायामं शीघ्रगमनं शकटारोहणं त्यजेत्॥
शोकं रक्तविमोक्षं च साध्वसं कुक्कुटासनम्। व्यवसायं दिवा स्वापं रात्रौ जागरणं त्यजेत्॥

वराहः—

सामिषमशनं यत्नात् प्रमदा परिवर्जयेत् अतः प्रभृति।

(गदाधर०)

याज्ञवल्क्यः—

दौर्हृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् । वैरूप्यं मरणं वाऽपि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियः ॥

दौर्हृदं गर्भिणीप्रियम् । मदनरत्ने—

हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा । कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम् ॥
केशसंस्कारकबरीकण्ठकर्णविभूषणम् । भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेद्गर्भिणी न हि ॥

बृहस्पतिः—

चतुर्थे मासि षष्ठेवाऽप्यष्टमे गर्भिणी यदा । यात्रा नित्यं विवर्ज्या स्यादाषाढे तु विशेषतः ॥

अथ गर्भिणीपतिधर्माः । आश्वलायनः—

वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद्गर्भिणीपतिः । श्राद्धं च सप्तमान्मासादूर्ध्वं चान्यत्र वेदवित् ॥

श्राद्धं तद्भोजनमिति प्रयोगपारिजाते । रत्नसंग्रहे—

दहनं वपनं चैव चौलं वै गिरिरोहणम् । नाव आरोहणं चैव वर्जयेद्गर्भिणीपतिः ॥
अव्यक्तगर्भपतिरब्धियानं सृतस्य वाहं क्षुरकर्मसङ्गम् ।
इति तत्रैवोक्तम् । न कुर्यादित्युत्तरार्द्धेनान्वयः । मुहूर्तदीपिकायाम्—
क्षौरं तथानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धादिवास्तुकरणं त्वतिदूरयानम् । इति ॥
नो भवेदिति शेषः । इति गर्भिणीपतिधर्माः ।

इति सीमन्तोन्नयनपदार्थक्रमः ॥ ® ॥

॥ इति पञ्चदशी कण्डिका ॥

षोडशी कण्डिका

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति—एजतु दशमास्य इति प्राग्यस्यै त इति ॥ १ ॥ अथावरावपतनम् । अवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे । नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमवजरायुपद्यतामिति ॥ २ ॥ जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति ॥ ३ ॥ अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा 'भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥ ४ ॥

(सरला)

मेधाजनन और आयुष्य कर्म

प्राक्कथन—इस कण्डिका में प्रसव से लेकर बालक के उपद्रवों की शान्ति तक का कर्म वर्णित है । यह दो भाग में प्रस्तुत है । पहला मेधाजनन दूसरा आयुष्य कर्म । ये दोनों ही अलग-अलग कर्म हैं किन्तु एक ही कण्डिका में सन्निहित है ।

व्याख्या—सोष्यन्तीं = प्रसव की पीड़ा से विकल स्त्री को; अद्भिः = जल से "एजतु दश-

(सरला)

मास्य"[1] ''' इति = इस मंत्र से अभ्युक्षति = [पति] सींचता है। [इस मंत्र से आगे जो] "यस्यै ते"[2] इति = यह मन्त्र है; प्राक् = उससे पूर्व [अर्थात् "एजतु'''से जरायुणा सह" तक] ही पढ़ना चाहिए ॥ १ ॥

अथ = जल सिंचन के बाद; अवर = जरायु [झिल्लीयुक्त गर्भ] के; अव = नीचे; पतनं = गिरने के लिए; "अवैतु'''पद्यताम्"[3] इति = इस मंत्र को [पढ़ना चाहिए] हे प्रसविनि !; शेवलं = चिकना और; पृश्नेन = अग्निरूप से नाना प्रकार का; शुने अत्तवे = कुत्ते के भक्षण के लिए [या कुत्ते के उपकार के लिए]; जरायु = तुम्हारा गर्भ; अव = नीचे; पतु = गिरे। हे पीवरी = हे पुष्ट अंगों वाली; जरायु = वह गर्भ; नैव मांसेन = न तो व्यथा देने वाले अवयव से; आयतं = सम्बद्ध या विस्तृत; न कस्मिंश्च = और न किसी गर्भोपघात के; अव = नीचे; पद्यताम् = गिरे ॥ २ ॥

जातस्य = उत्पन्न हुए; कुमारस्य = बालक का; आच्छिन्नायां नाड्यां = नाल छेदने से पहले; मेधाजनन = 'मेधाजनन' नामक संस्कार अर्थात् मेधा (बुद्धि) की उत्पत्ति और; आयुष्य = [दीर्घायु की प्राप्ति के लिए] आयुष्य कर्म को [पिता] करोति = करता है ॥ ३ ॥ सुवर्णं अन्तर्हितया = सोने से ढँके हुए अनामिकया = अनामिका अंगुलि से; मधु घृते घृतं वा = मधु घृत मिला हुआ अथवा [मधु के न मिलने पर] केवल घृत ही; "भूस्त्वयि''' '''दधामि" [शत० ब्रा० १४. ९. ४. २५] इति = इन मंत्रों को [पढ़ते हुए]; प्राशयति = खिलाता है [अर्थात् चटाना चाहिए]। भूः त्वयि दधामि = "भूः" को तुम्हारे में स्थापित करता हूँ; भुवस्त्वयि = दधामि = "भुवः" को तुम्हारे में स्थापित करता हूँ। स्वस्त्वयिदधामि = 'स्वः' को तुझमें स्थापित करता हूँ। भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि[4] = भूः, भुवः, स्वः सभी तुझ में स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

हिन्दी—प्रसव की पीड़ा से विकल स्त्री को जल से "एजतु" इस मंत्र से [पति] अभ्युक्षण करता है। [इस (एजतु) मंत्र से आगे जो] "यस्यै ते" मंत्र है उससे पूर्व तक ही पढ़ना चाहिए ॥ १ ॥

जल सिंचन के बाद जरायु [झिल्ली युक्त गर्भ] के नीचे गिरने के लिये "अवैतु''' पद्यताम्" इस मंत्र को [पढ़ना चाहिये] हे प्रसविनी ! चिकना और अग्नि रूप से नाना प्रकार का कुत्ते के भक्षण के लिये [या कुत्ते के उपकार के लिए] तुम्हारा गर्भ नीचे गिरे। हे पुष्ट अंगों वाली ! तुम्हारा गर्भ न तो व्यथा देने वाले अवयव से सम्बद्ध या विस्तृत होकर और न किसी गर्भोपघात के नीचे गिरे ॥ २ ॥

उत्पन्न हुए बालक का नाल छेदने से पहले 'मेधाजनन' नामक संस्कार अर्थात् मेधा [बुद्धि की] उत्पत्ति और [दीर्घायु की प्राप्ति के लिये] आयुष्य कर्म को [पिता] करता है ॥ ३ ॥ सोने से ढँके हुए अनामिका अंगुलि से मधु घृत मिला हुआ अथवा [मधु के न मिलने पर] केवल घृत ही "भूस्त्वयि''' '''दधामि" इन मंत्रों को [पढ़ते हुए] खिलाता है "भूः" को तुम्हारे में स्थापित करता हूँ, "भुवः" को तुम्हारे में स्थापित करता हूँ, "स्वः" को तुझ में स्थापित करता हूँ। भूः, भुवः, स्वः सभी तुझमें स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

विशेष—महाव्याहृतियाँ वेद त्रय का उपलक्षण है; और सभी से तात्पर्य अथर्ववेद से है या तीनों लोकों को तुम्हारे में रखता हूँ-यह भी हो सकता है।

---

१. यजु० ८।२८। २. यजु० ८।२९।
३. अथर्ववेद १।११।४। ४. शतपथ ब्राह्मण १४।९।४।२२।

(हरिहर०)

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षत्येजतु दशमास्य इति प्राग्यस्यै त इति । सोष्यन्तीं प्रसवशूलवतीं स्त्रियं भर्ता अद्भिर्जलेनाभ्युक्षति प्रसिञ्चति एजतु दशमास्य इत्येतया प्राग्यस्यै त इति प्राक् पठितया ऋचा ध्यवसानया विराड्जगत्या ॥ १ ॥

अथावरावपतनम् । अथाभ्युक्षणानन्तरमवरावपतनम् । अवरमुल्वं जरायुवेष्टितं गर्भवेष्टनम् अवाचीनमधः पतत्यनेन जप्तेनेत्येवरावपतनो मन्त्रः तं स्त्रीसमीपे उपविश्य भर्ता जपति, यथा—अवैतु पृश्निशेवलमित्यादि अवरजरायुपद्यतामित्यन्तम् । अवरापतनमन्त्रो भर्त्रा जाप्यः ॥ २ ॥

जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति । ततो जातस्य उत्पन्नस्य कुमारस्य पुत्रस्य अच्छिन्नायां नाड्यामखण्डिते नाले सति मेधाजननायुष्ये मेधाजननं च आयुष्यं च मेधाजननायुष्ये ते करोति पिता ॥ ३ ॥ मेधाजननं तावदाह—अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वन्त्वयि दधामीति । अनामिकयाऽऽङ्गुल्या सुवर्णेनाच्छादितया मधु च घृतं च मधुघृते द्वन्द्वसमाससामर्थ्यादेकीकृते घृतं वा केवलं कुमारं सकृत् प्राशयति कुमारस्य जिह्वायां निर्मार्ष्टि भूस्त्वयीत्यादि सर्वन्त्वयि दधामीत्यन्तेन मन्त्रवाक्यसमुदायेन । ननु 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति जैमिनीसूत्रात् ।

तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता ।

इत्यमरसिंहोक्तेश्चैकार्थमेकं वाक्यम् । एकस्य वाक्यस्य च तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षं मिथः सम्बद्धमिति कात्यायनवचनेनैकमंत्रत्वमिति प्रतिपादनात्, कथं मन्त्रवाक्यसमुदायस्यैकमन्त्रत्वम् । अत्रोच्यते—सत्यं यदि इतिकारादिकं मन्त्रावसानज्ञापकं किंचिन्न स्यात् तदैतच्छक्यम् । अत्र पुनरितिकारो मन्त्रावसानज्ञापको जागर्ति तेन नायं दोषः । यथा स वै भूर्भुव इत्येतावतैव गार्हपत्यमादधाति तैः सर्वैः पंचभिराहवनीयमादधाति । भूर्भुवः स्वरिति च श्रुतौ वाक्यसमुदायस्य इतिकारेण मन्त्रावसानं ज्ञायते । कातीयसूत्रेऽपि दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति आहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति । अत्र यद्यपि एकैकस्याः व्याहृतेर्मन्त्रत्वं युक्तम्, समस्तानां व्याहृतीनां च तथापि इतिकारेण द्वयोरपि व्याहृत्योर्मन्त्रत्वं व्यवस्थाप्यते । एवमन्यत्रापि बहूनां मन्त्रवाक्यानामितिकारादिविनियोजकेन मन्त्रैक्यम् । तत्र तत्रायमेव न्यायोऽनुसर्तव्यः ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षत्येजतु दशमास्य इति प्राग् यस्यै त इति । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । गर्भं विमुञ्चन्तीं विजनयन्तीं प्रसवकाले शूलादिप्रसववेदनान्वितां स्त्रियं भर्ता 'एजतु दशमास्य' इति मन्त्रेणासजरायुणा सहेत्यन्तेनाद्भिरभ्युक्षति उदकेन प्रसिञ्चति जरायुणा सहेत्यत्र परिसमाप्तत्वाद्वाक्यस्य प्राग् यस्यैत इत्युच्यते । नह्यत्र परादिना पूर्वान्तन्यायः प्रकरणान्तरे पाठात् । अत्र श्रुतौ विशेषः । सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वातपुष्करणीं समीं गमयति सर्वत इत्यादि ॥ १ ॥

अथावरावपतनमवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिꣳश्च नायतनमवजरायुपद्यतामिति । अथाभ्युक्षणानन्तरमवरावपतनसंज्ञकं मन्त्रं जपतीत्यध्याहारः । अवरो जरायुविशेषः तस्य अव अधः पतनं पतनहेतुं अवैत्विति मन्त्रं जपति पिता । मन्त्रार्थः—हे सोष्यन्ती तव जरायु अव अधः एतु आयातु पतत्वित्यर्थः । किं भूतं पृश्नि

(गदाधर०)

नानारूपं शेवलं पित्तुलं जातोपचितं वा । किमर्थं शुने श्वानमुपकर्तुम्, यद्वा शुने इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । शुनः अत्तवे भक्षणाय । हे पीवरी पुत्रादिगर्भधारणेन सुपुष्टगात्रि । तच्च जरायुमांसेन गर्भव्यथकावयवेन सह आयतं सम्बद्धं विस्तृतं वा अधः नैव पद्यतां पततु । न च कस्मिंश्च न गर्भो विपद्यतां निमित्ते सत्यपीति ॥ २ ॥

जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति । जातस्य उत्पन्नस्य कुमारस्य बालस्याच्छिन्नायां नाड्यां अच्छिन्ने नाभिनाले पिता मेधाजननायुष्ये मेधाजननं च आयुष्यं च मेधाजनायुष्ये ते करोति । कुमारग्रहणाच्च स्त्रिया अतः प्रभृति न क्रियत इति भाष्ये । अत्र वशिष्ठः—

श्रुत्वा जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नानमाचरेत् ।

हेमाद्रौ—

जन्मनोऽनन्तरं कार्यं जातकर्म यथाविधि । दैवादतीतकालं चेदतीते सूतके भवेत् ॥
अत्रजातकर्मनामकर्मादावुक्तकालातिक्रमे नक्षत्रादिकं ज्ञेयम् ।

तथा बृहस्पतिः—

मुख्याला भे विधिज्ञेन विधिश्चिन्त्यः प्रमाणतः । नक्षत्रतिथिलग्नानां विचार्यैवं पुनः पुनः ॥

कार्ष्णाजिनिः—

प्रादुर्भावे पुत्रपुत्र्योर्ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । स्नात्वाऽनन्तरमात्मीयान्पितॄन्श्राद्धेन तर्पयेत् ॥
श्राद्धे चात्राभ्युदयिकमेव न स्वतन्त्रम् । अत्र श्राद्धमामेन हेम्ना वा कार्यमित्युक्तम् ।

पृथ्वीचन्द्रोदये—

जातश्राद्धेन दद्यात्तु पक्वान्नं ब्राह्मणेष्वपि । इति ।

हेमाद्रौ तु—

पुत्रजन्मनि कुर्वीत श्राद्धं हेम्नैव बुद्धिमान् । न पक्वेन न चामेन कल्याणान्यभिकामयन् ॥
इति संवर्तोक्तेर्हेम्नैवेत्युक्तम् । संवर्तः—

जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधियते । इति ।
एतच्च स्नानं रात्रावपि भवति, नैमित्तिकत्वात् । यदाह व्यासः—

रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः । नैमित्तिकं तु कुर्वीत स्नानं दानं च रात्रिषु ॥इति नैमित्तिकदानान्यपि स एवाह—

ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रादौ प्रसवेषु च । दानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि न दुष्यति ॥ इति ।

जैमिनिः—

यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधियते ॥

हेमाद्रौ दानखण्डे—

यावत्कालं सुते जाते न नाडी छिद्यते नृप । चन्द्रसूर्योपरागेण तमाहुस्समयं समम् ॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

अच्छिन्ननाड्यां यद्दत्तं पुत्रे जाते द्विजोत्तमाः । संस्कारेषु च पुत्रस्य तदक्षय्यं प्रकीर्तितम् ॥

प्रतिग्रहश्च नाभिवर्धनात् पूर्वं तदहर्वेति मदनपारिजाते, तथा च शङ्खः—'कुमारप्रसवे नाड्यामच्छिन्नायां गुडतिलहिरण्यवस्त्रगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहस्त्वेके कुर्वते' इति । एतच्च जननाशौचे मरणाशौचे च कार्यमित्याह प्रजापतिः ।

आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥

(गदाधर०)

मदनपारिजातेऽप्येवम् । केचित्तु—

मृताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत् । आशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि ॥

इति स्मृतिसंग्रहोक्तेराशौचान्ते कार्यमित्याहुः । स्मृत्यर्थसारेऽपि विकल्प उक्तः । कारिकायाम्—

जाते पुत्रे सचैलं स्यात् स्नानं नैमित्तिकं पितुः । तच्च शीतेन रात्रावप्येवं जाबालिरब्रवीत् ॥
दिवाहृतेन तोयेन स्वर्णयुक्तेन स्नापयेत् । इति साङ्ख्यायनः प्राह रात्रावनलसन्निधौ ॥
अच्छिन्ननाड्यां कर्तव्यं श्राद्धं स्नानादनन्तरम् । आमद्रव्येण तत्कार्यं वचनात्तु प्रजापतेः ॥
हिरण्येन भवेच्छ्राद्धमामद्रव्यं गृहे न चेत् । इति व्यासवचः प्रोक्तं पक्वान्नं स निषेधति ॥
अन्नामं द्विगुणं भोज्यं हिरण्यं तु चतुर्गुणम् ॥ इति ।

व्यासः—पुत्रजन्मनि यात्रायां शर्वर्यां दत्तमक्षयम् । इति ॥ ३ ॥

मेधाजननमाह—

'अनामिकया ....दधामीति' । सुवर्णेनान्तर्हितया सुवर्णेनाच्छादितया अनामिकयाऽङ्गुल्या च मधु च घृतं च मधुघृते एकीकृते कुमारं प्राशयति घृतं वा केवलं अत्र भूस्त्वयि दधामीत्यादि सर्वं त्वयि दधामीत्यन्तेन मन्त्रेण । प्रतिवाक्यं प्राशयतीति केचित् । माध्यन्दिनश्रुतौ विशेषः "जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यमानीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोति" इत्युपक्रम्य 'अथास्यायुष्यं करोति दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथास्य नामधेयं करोति वेदोऽसीति तदस्यैतद्गुह्यमेव नाम स्यादथ दधिमधुघृतꣳ सꣳसृज्यानन्तर्हितं तेन जातरूपेण प्राशयति' इत्युक्तेः । जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकमिति वासुदेवप्रकाशिकायाम् । यदि च मेधाजननं स्वकाले दैवान्मानुषापराधाद्वा न जातं तदा कालान्तरे न भवति, नियतकालत्वात् । तथा च श्रूयते—'तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाऽग्रे प्रतिलेहयन्ति । स्तनं वाऽनुधापयन्ति' इति । अयमर्थः श्रुतेः—तस्मात् कुमारं बालं जातं घृतं चैव त्रैवर्णिका जातकर्माणि जातरूपसहितं प्रतिलेहयन्ति प्राशयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्ति पश्चात्पाययन्तीति । अपीतस्तनस्यैतदिति गम्यते ॥ ४ ॥

अथास्यायुष्यं करोति ॥ ५ ॥ नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे जपति अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । ब्रह्मायुष्मत्तद् ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमि । समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वा ऽऽयुषा ऽऽयुष्मन्तं करोमीति त्रिः ॥ ६ ॥ त्र्यायुषमिति च ॥ ७ ॥

स यदि कामयेत् सर्वमायुरियादिति, वात्सप्रेणैनमभिमृशेत् ॥ ८॥
दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि ॥ ९ ॥

(सरला)

व्याख्या—अथ = मेधाजनन के बाद; अस्य = इस बालक का; आयुष्यं = आयुष्यकर्म (दीर्घायु के लिए कर्म); करोति = [पिता] करता है ॥ ५ ॥ "अग्निरायुष्मान्\`\`\`\`\`\`करोमि" [इन ८ आयुष्य मंत्रों को] नाभ्यां = नाभि के समीप; वा = अथवा; दक्षिणे कर्णे = दाहिने कान में; जपति = जपता है। अग्निरायुष्मान् = अग्नि आयु वाला है; सः = वह; वनस्पतिभिः = समिधाओं से; आयुष्मान् = आयु वाला है। तेन आयुषा = उस आयु से; त्वा आयुष्मन्तं करोमि = तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [१] सोमः आयुष्मान् = सोम आयुवाला है; सः = वह; ओषधीभिरायुष्मान् = ओषधियों से आयु वाला है; तेन आयुषा = उस आयु से; त्वा आयुष्मन्तं करोमि = तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [२] ब्रह्म = वेद; आयुष्मत् = आयु वाला है; तद् ब्राह्मणैः आयुष्मत् = वह ब्राह्मणों से (ब्राह्मण ग्रन्थों से) आयु वाला है। तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [३] देवा आयुष्मन्तः = देवता आयु वाले हैं; ते अमृतेन आयुष्मन्तः = वे अमृत से आयु वाले हैं। तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [४] ऋषयः आयुष्मन्तः = ऋषि आयु वाले हैं। ते व्रतैः आयुष्मन्तः = वे व्रतों से आयु वाले हैं; तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [५] पितरः आयुष्मन्तः = पितृगण आयु वाले हैं; ते स्वधाभिः आयुष्मन्तः = वे स्वधाओं से (पितरों को देय वस्तु से) आयु वाले हैं। तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [६] यज्ञः आयुष्मान् = यज्ञ आयु वाला है। सः दक्षिणाभिः आयुष्मान् = वह दक्षिणाओं से आयु वाला है। तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [७] समुद्रः आयुष्मान् = समुद्र आयुवाला है। सः स्रवन्तिभिः आयुष्मान् = वह नदियों से आयु वाला है। तेन आयुषा त्वा आयुष्मन्तं करोमि = उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [८] ["अग्निरायुष्मा\`\`\` \`\`\`करोमि"] इति = इन मंत्रों को त्रिः त्रिः = तीन तीन वार जपना चाहिए; च = और; त्र्यायुषं जमदग्ने[1]\`\`\`\`\`\`इति = इस मंत्र को भी तीन वार जपना चाहिए ॥ ७ ॥

सः = वालक का पिता; यदि कामयेत् = यदि चाहे कि; सर्वम् आयुः = सम्पूर्ण आयु को (या दीर्घायु) इयात् = प्राप्त हो तो; इति = इस इच्छा से; वात्सप्रेण = 'वात्सप्र'[2] अनुवाक से; एनम् = इस वालक को; अभिमृशेत् = स्पर्श करना चाहिए ॥ ८ ॥ [अब 'वात्सप्र' नाम किन मंत्रों का है ?] दिवस्परि[3]\`\`\`आदि; इति एतस्य = इन १२ मंत्रों के; अनुवाकस्य = अनुवाक का; उत्तमां = आखिरी ( अर्थात् बारहवीं ) "अस्ताव्यग्निः[4]\`\`\`"] ऋचं = ऋचा को परिशिनष्टि = छोड़कर [बाकी ११ मंत्रों का समूह १८ से २८ तक 'वात्सप्र' संज्ञक है।] ॥ ९ ॥

हिन्दी—मेधाजनन के बाद इस बालक का आयुष्य कर्म (दीर्घायु के लिए कर्म) [पिता] करता है ॥ ५ ॥ "अग्निरायुष्मान्\`\`\`करोमि" [इन ८ आयुष्य मन्त्रों को] नाभि के समीप अथवा दाहिने कान में जपता है। अग्नि आयु वाला है। वह समिधाओं से आयु वाला है। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [१] सोम आयु वाला है। वह ओषधियों से आयु वाला है, उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [२] वेद आयु वाला है वह ब्राह्मणों से (ब्राह्मण ग्रन्थों

१. यजु० ३. ६२। २. यजु० १२. १८-२९। ३. यजु० १२. १८। ४. यजु० १२. २९।

(सरला)

से) आयु वाला है। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [३] देवता आयु वाले हैं, वे अमृत से आयु वाले हैं। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [४] ऋषि आयु वाले हैं। वे व्रतों से आयु वाले हैं। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [५] पितृगण आयु वाले हैं। वे स्वधाओं से (पितरों को देय वस्तु से) आयु वाले हैं। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [६] यज्ञ आयु वाला है। वह दक्षिणाओं से आयु वाला है। उस आयु से तुम्हें मैं आयु वाला बनाता हूँ [७] समुद्र आयु वाला है। वह नदियों से आयु वाला है। उस आयु से तुम्हे मैं आयु वाला बनाता हूँ [८] ["अग्निरायुष्मान्'''करोमि" इन मंत्रों को] तीन-तीन बार जपना चाहिए और "त्र्यायुषं जमदग्नेः......" इस मंत्र को भी तीन बार जपना चाहिये ॥ ७ ॥

बालक का पिता यदि चाहे कि सम्पूर्ण आयु को [या दीर्घायु को] प्राप्त हो तो इस इच्छा से "वात्सप्र" अनुवाक से इस बालक को स्पर्श करना चाहिये ॥ ८ ॥ दिवस्परि'''आदि इन १२ मंत्रों के अनुवाक की आखिरी ऋचा को छोड़कर [बाकी 'वात्सप्र' संज्ञक मन्त्र हैं] ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

अथास्यायुष्यं करोति नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे जपति। अथ मेधाजननानंतरम् अस्य कुमारस्यायुष्यमायुषे हितं जीवनवर्द्धनं कर्म करोति। तद्यथा नाभिदेशे दक्षिणे वा श्रवणे नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे इति समीपाधिकरणात् सप्तमी गङ्गायां घोष इतिवत् तेन नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा जपति। अग्निरायुष्मानित्यादिकान् मन्त्रान्त्रिर्जपति त्रीन्वारान् उपांशु पठति। अग्निसोमब्रह्मदेवऋषिपितृयज्ञसमुद्र इत्यन्तान् ॥ ६ ॥

त्र्यायुषमिति च। ततः त्र्यायुषं जमदग्नेरित्यादि तन्नो अस्तु त्र्यायुषमित्यन्तं च मन्त्रं तथैव त्रिर्जपति। इदं चायुष्यकरणं कालातिक्रमेऽपि क्रियते। मेधाजननं तु मुख्यकालातिक्रमान्निवर्तते तस्मात् कुमारं जातं कृतं वै वाऽग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्तीति जातमात्रस्य कुमारस्य श्रुत्या मेधाजननोपदेशात् ॥ ७ ॥

स यदि कामयेत् सर्वमायुरियादिति, वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्। स पिता यदीच्छेत् अयं कुमारः सर्वं सम्पूर्णं आयुः जीवितं इयात् प्राप्नुयात् इत्येवं तदा वात्सप्रेण वात्सप्रिणा आलन्दनेनदृष्टेनानुवाकेन दिवस्परीत्यादि द्वादशर्चेन एनं कुमारं अभि समंततः सर्वं शरीरं आलभेत् ॥ ८ ॥

तत्र विशेषमाह—

दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचम् परिशिनष्टि। दिवस्परीत्यादिकं द्वादशर्चोऽनुवाको वात्सप्रः एतस्य उत्तमामन्त्याम् द्वादशीं अस्ताव्यग्निरित्येतामृचं परिशिनष्टि उद्धरति तां परित्यज्य एकादशभिर्ऋग्भिरभिमृशेदित्यर्थः ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

आयुष्यकरणमाह–'अथास्यायुष्यं'''करोमीति त्रिः'। अथ मेधाजननोत्तरं अस्य शिशोरायुष्यनामककर्म आयुषे हितं आयुष्यं कर्म करोति। नाभ्यामिति। अधिकरणसप्तम्यभावात् समीपसप्तमीयम्। यथा गंगायां घोषः तेन पिता बालकनाभेः कर्णस्य वा समीपे स्थित्वा अग्निरायुष्मानित्यष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपति। मन्त्रार्थः–अग्निः कारणात्मना आयुष्मानस्ति। स च वनस्पतीभिरिध्मसमिद्भिरिष्ट आयुष्मत्वहेतुर्भवति। वनस्पतीभिः कृत्वा वा। तेन अग्न्यायुषा त्वा त्वां आयुष्मन्तं निर्दुष्टदीर्घायुषं करोमीति वाक्यार्थं उत्तरत्रापि सम्बध्यते। एवं सोमोऽपि व्याख्येयः। स च ओषधीभिः सन्धिरार्षः २। ब्रह्म वेदः ब्राह्मणैरध्येतृभिः

(गदाधर०)

३। देवा अमृतेन सुधया ४। ऋषयो व्रतैः कृच्छ्रादिभिः ५। पितरः स्वधाभिः, पितृदेयं स्वधोच्यते ६। यज्ञो दक्षिणाभिः परिक्रयद्रव्यैः ७। समुद्रः स्रवन्तीभिर्नदीभिरित्येतावाञ्चिषेधः ८ ॥ ६ ॥

'त्र्यायुषमिति च'। त्र्यायुषं जमदग्नेरिति मन्त्रं चकारात्त्रिर्जपेत्। नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे। यदि दैवान्मानुषाद्वाऽपचारान्मेधाजननं स्वकाले न कृतं तथाप्यायुष्यकरणं कालान्तरे भवत्येव ॥ ७ ॥

स यदि'............मभिमृशेत्'। संस्कारकर्ता यदि कामयेत अयं सर्वं संपूर्णं शतवर्षमायुर्जीवितमियात् प्राप्नुयात् तदा वात्सप्रेणैनं कुमारमभिमृशेत्। वात्सप्रभेदात् संशयः। किं दिवस्परीत्येतेन वात्सप्रेण किमुपप्रयन्तो अध्वरमित्येतेनेति संशयनिवृत्त्यर्थमाह–दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे– इत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं अस्ताव्यग्निरित्येतां परिशेषयित्वा वर्जयित्वाऽवशिष्टं वात्सप्रमुच्यते। यत एकादशसु ऋक्षु वात्सप्रशब्दः प्रसिद्धः अथ वात्सप्रेणोपतिष्ठत इति प्रकृत्य भवति वाक्यशेषोऽथ यरित्रष्टुप् यदेकादश तेनेति वा। वात्सप्रद्वयसद्भावेऽपि अग्निप्रकरणस्थवात्सप्रग्रहणं, वाक्यशेषात्। तस्माद्यं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेदिति ॥ ९ ॥

प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयादिममनुप्राणितेति ॥ १० ॥ पूर्वो ब्रूयात् प्राणेति, व्यानेति दक्षिणः, अपानेत्यपरः, उदानेत्युत्तरः, समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात् ॥ ११ ॥ स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्राममविद्यमानेषु ॥ १२ ॥ स यस्मिन् देशे जातो भवति, तमभिमन्त्रयते–वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ १३ ॥ अथैनमभिमृशति-अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमिति ॥ १४ ॥ अथास्य मातरमभिमन्त्रयते। इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति ॥ १५ ॥ अथास्यै दक्षिणꣳ स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमꣳ स्तनमिति ॥ १६ ॥ यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम् ॥ १७ ॥

(सरला)

व्याख्या—प्रतिदिशं = प्रत्येक दिशा में; पंचब्राह्मणान् = पाँच ब्राह्मणों को; अवस्थाप्य = नियुक्त करके; इममनुप्राणित = इस बालक को प्राणों वाला बनाओ; इति = इस वाक्य को; ब्रूयात् = कहना चाहिए ॥ १० ॥ पूर्वः = पूर्व दिशा के ब्राह्मण को; 'प्राण'; इति = इस शब्द को; ब्रूयात् = कहना चाहिए। "व्यान"; इति = यह; दक्षिणः = दक्षिण का, 'अपान' इति =

(सरला)

यह; अपरः = पश्चिम का, 'उदान' इति = यह; उत्तरः = उत्तर का, 'समान' इति = यह; पञ्चमः = पाँचवाँ ब्राह्मण; उपरिष्टात् अवेक्षमाणः = ऊपर को देखता हुआ; ब्रूयात् = कहे ॥ ११ ॥ वा = अथवा; अविद्यमानेषु = यदि ब्राह्मण न हो तो; स्वयं = पिता स्वयं ही इन सभी वाक्यों को; अनुपरिक्रामं = सब दिशाओं में जाकर; कुर्यात् = उच्चरित करे ॥ १२ ॥ सः = वह बालक; यस्मिन् देशे जातः = जिस जगह पर उत्पन्न; भवति = हुआ है; तम् = उस भूमि को "वेद ते···शतम्" इति = इस मंत्र से; अभिमंत्रयते = अभिमंत्रित करना चाहिए। हे भूमि! ते हृदयं = हे भूमि मैं तुम्हारे हृदय को; दिवि चन्द्रमसि श्रितम् = जो द्युलोक में और चन्द्रमा में स्थित है; वेद = जानता हूँ। तत् अहं वेद = उसको मैं जानता हूँ; तत् मां विद्यात् = वह मुझे जाने; [और जानते हुए] पश्येम शरदः शतम् = सौ शरद ऋतुओं तक देखूँ; जीवेम शरदः शतम् = सौ शरद ऋतुओं तक जीऊँ; शृणुयाम शरदः शतम् = सौ शरद ऋतुओं तक सुनूँ ॥ १३ ॥

हिन्दी—प्रत्येक दिशा में पाँच ब्राह्मणों को नियुक्त करके इस बालक को प्राणों वाला बनाओ इस वाक्य को कहना चाहिए। पूर्व दिशा के ब्राह्मण को "प्राण" इस शब्द को कहना चाहिए। "व्यान" यह दक्षिण का, 'अपान' यह पश्चिम का, 'उदान' यह उत्तर का, 'समान' यह पाँचवाँ ब्राह्मण ऊपर को देखता हुआ कहे ॥ ११ ॥ अथवा यदि ब्राह्मण न हों तो पिता स्वयं ही इन सभी वाक्यों को सब दिशाओं में जाकर उच्चरित करे ॥ १२ ॥ वह बालक जिस जगह पर उत्पन्न हुआ है उस भूमि को "वेद ते···शतम्" इस मंत्र से अभिमंत्रित करना चाहिए। हे भूमि! मैं तुम्हारे हृदय को जो द्युलोक में और चन्द्रमा में स्थित है जानता हूँ, उसको मैं जानता हूँ वह मुझे जाने [और जानते हुए] सौ शरद ऋतुओं तक देखूँ सौ शरद ऋतुओं तक जीऊँ और सौ शरद ऋतुओं तक सुनूँ ॥ १३ ॥

इसके [भूमि-अभिमन्त्रण के] बाद इस बालक को "अश्मा भव···" इस मंत्र से स्पर्श करता है। "हे कुमार! तुम पाषाण [की तरह दृढ़ और स्थिर] हो जाओ, वज्र [की तरह विपत्ति नाशक] हो जाओ, शुद्ध सुवर्ण [के समान तेजयुक्त और रोगादिरहित] हो जाओ जो तुम पुत्र रूप में हमारी ही आत्मा हो अतः वह तुम निश्चय ही सौ शरद ऋतुओं तक जीओ ॥ १४ ॥ अब इस [बालक] की माता को 'इडासि···' इस मंत्र से अभिमंत्रित करता है। "हे, वीर-पुत्रवती तुम ईडा [मानवी यज्ञ पात्री] हो। मित्र और वरुण के अंश से उत्पन्न. तुमने वीर बच्चे को जन्म दिया है। [अर्थात् जिस प्रकार ईडा ने पुरुरवा को उत्पन्न किया था। और यज्ञपात्र के द्रव्य से जिस प्रकार पुरोडाश होता है उसी प्रकार तुम भी स्वर्गादि-साधन-रूप पुत्र को उत्पन्न करो] जिस तुमने हमें वीर पुत्रों वाला बनाया है वह तुम जीवित पति व पुत्रादिकों वाली हो जाओ ॥ १५ ॥

इसके बाद इस [बालक की माता] का दाहिना स्तन धोकर, "इमं स्तनं···" इस मंत्र से बालक को पीने के लिए देता है ॥ १६ ॥ "यस्ते स्तनं···" यह मंत्र बाएँ स्तन को [पिलाने का] है। [इस प्रकार उपरोक्त दोनों मंत्रों को पढ़ता हुआ बालक को दूध पान कराना चाहिए] ॥ १७ ॥

विशेष—११ से १३ तक के सूत्र का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि पाँच प्राणों से युक्त हुआ बालक दीर्घ आयु वाला है।

(हरिहर०)

प्रतिदिशं पंच ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयादिममनुप्राणितेति। पूर्वो ब्रूयात् प्राणेति व्यानेति दक्षिणोऽपानेत्यपर उदानेत्युत्तर समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात्स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्रामममविद्यमानेषु। कुमारस्य प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति चतसृषु दिक्षु प्राच्यादिषु मध्ये च

(हरिहर०)

यथाक्रमं पञ्च ब्राह्मणान् अवस्थाप्य सन्निवेश्य कुमाराभिमुखान् तान् प्रति ब्रूयात्। किम् ? इममनुप्राणितेति। इमं कुमारं अनुप्राणितानुलक्षीकृत्य प्राणेत्यादि ब्रूत इति प्रैषः। ततः प्रेषिता ब्राह्मणाः पूर्वादिक्रमेण प्राण इति कुमारं लक्षीकृत्य पूर्वो ब्रूयात्, व्यानेति दक्षिणो ब्राह्मणः, अपानेति पश्चिमः, उदानेत्युत्तरः, समानेति पञ्चम उपरिष्टादूर्ध्वमवेक्षमाणः। अविद्यमानेषु असत्सु ब्राह्मणेषु स्वयं वा स्वयमेव अनुप्राणनं कुर्यात्। कथम् ? अनुपरिक्रामं परिक्रम्य परिक्रम्य पूर्वादिकां दिशं प्राणेत्यादि अनुपरिक्रामेति णमुलन्तम् अस्मिन् पक्षे प्रैषाभावः ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

स यस्मिन् देशे जातो भवति तमभिमन्त्रयते। स कुमारः यस्मिन् देशे भूभागे उत्पन्नः पतति, तं देशम् अभिमन्त्रयते हस्तेन स्पृशति—'वेद ते भूमिः' इत्यादि 'शरदः शतम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १३ ॥

अथैनमभिमृशत्यश्माभवेति। अथ जन्मदेशाभिमन्त्रणानन्तरम् एनं कुमारं पिताऽभिमृशति समन्ततः सर्वशरीरे स्पृशति। 'अश्मा भव' इत्यादिना 'सजीव शरदः शतम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण। वात्सप्राभिमर्शनादि एतदभिमर्शनान्तं कालव्यतिक्रमेऽपि क्रियते, संस्कारकर्मत्वात् ॥ १४ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इडासीति। अथ कुमाराभिमर्शनानन्तरम् अस्य कुमारस्य जननीमभिमन्त्रयते अभिलक्षीकृत्य। इडासीत्यादिना वीरवतोऽकरदित्यन्तेन ॥ १५ ॥

अथास्यै दक्षिणꣳ स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमꣳ स्तनमिति यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम्। अथाभिमन्त्रणं कृत्वा अस्यै अस्याः मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य धावयित्वा कुमाराय ददाति "इमꣳ स्तनम्" इत्येतयर्चा। तत उत्तरं वामं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति। "यस्ते स्तन" "इमꣳ स्तनम्" इत्येताभ्यामृग्भ्याम् ॥ १६-१७ ॥

(गदाधर०)

'प्रतिदिशं··················ब्रूयात्'। ततः संस्कारकर्ता कुमारस्य प्रतिदिशं प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु मध्ये च एवं पंच ब्राह्मणानवस्थाप्य स्थापयित्वा तान् प्रति इममनुप्राणितेति प्रैषं ब्रूयात्। व्यानेति दक्षिणः। अपानेति पश्चिमः। उदानेत्युत्तरः। समानेति पंचम उपरिष्टाद्बालकमवेक्षमाणो ब्रूयात्। तस्मात्पुत्रे जातमकृत्तनाभिं पंच ब्राह्मणान् ब्रूयादित्येनमनुप्राणितेति श्रुतत्वात्। मन्त्रार्थः—इमं कुमारमनुलक्षीकृत्य भो ब्राह्मणा अनुप्राणित यूयं सर्वे प्राणादि पंच वायुयुक्तं कृत्वा दीर्घायुष्ट्वेनायुष्मन्तं कुरुत। कोष्ठस्थितो वायुर्मुखनासिकाभ्यां निःसरन् प्राणः पुनस्तेनैव मार्गेणान्तः प्रविशन्नपानः। प्राणो रेचकः। अपानः पूरकः। तयोर्वा अधः सन्धिः सन्धानं व्यानः कुम्भकरूपः। उत्क्रमणादिरूर्ध्वगतिरुदानः। देहस्थितस्याशितपीतस्यान्नरसस्य सर्वाङ्गेषु समनयनात् समानः ॥ ११ ॥

'स्वयं·····मानेषु'। अविद्यमानेषु ब्राह्मणेषु स्वयमेव पिताऽनुप्राणनं कुर्यादनुपरिक्रामं पूर्वादिकान्दिशं परिक्रम्य परिक्रम्य, यद्युताञ्च विंदेदपि स्वयमेवानुपरिक्राममनुप्राण्यादिति श्रुतत्वात्। अस्मिन् पक्षे इममनुप्राणितेति प्रैषनिवृत्तिः, स्वात्मनि स्वकर्तृकप्रेरणासम्भवात् ॥ ११ ॥

'स यस्मिन् देशे·····शतमिति'। सः बालः यस्मिन् प्रदेशे भूभागे जातो भवति उत्पन्नो भवति। तं देशमभिमंत्रयते वेद ते भूमिहृदयमिति मंत्रेण हस्तेन स्पृशति। मन्त्रार्थः—हे भूमे कुमारजन्मप्रदेश ते तव हृदयमन्तःकरणं भूमिर्वेद यत्र विद्यते गुह्यम्। विसर्गा-

(गदाधर०)

भावश्छान्दसः। किम्भूतं दिवि द्युलोके वर्तमाने चन्द्रमसि श्रितम्। कृष्णाभावेन देवयज्ञरूपस्थानं असुरजयार्थं गोपितम्। तत्र देशोपलक्षितम्। तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णमिति श्रुतेः। तत्कर्मभूतमहं वेद जानामि। तत्कर्तृभूतं एवं पुनरुपकर्तुं मां विद्याज्ञानात्। अतस्त्वद्दत्तपुत्रेण सह वयं पश्येमेत्याद्युक्तार्थम् ॥ १३ ॥

'अथैनम''''''शतमिति'। अथ एनं कुमारं पिता अभिमृशति हस्तेन स्पृशत्यश्मा भवेति मन्त्रेण। 'हृदि स्पृशतीति' जयरामः। 'मस्तके' इति कारिकायाम्। 'सर्वशरीरे' इति हरिहरः। श्रुतिः—'अथैनमभिमृशत्यश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्रुतं भवेति'। वात्सप्राद्येतदभिमर्शनान्तं कालातिक्रमेऽपि कर्म भवति, संस्कारत्वात्। मन्त्रार्थः—हे कुमार त्वं अश्मा पाषाण इव दृढः स्थिरश्च। परशुरिव वज्र इवापकर्तृनाशको भव। किं च। अस्रुतमनभिभूतं अप्रच्युतस्वरूपमिति यावत्। हिरण्यं हिरण्यवत्तेजोयुक्तश्च ग्रहणीयश्च भव। यथा धात्वन्तरामिश्रितं सुवर्णं शुद्धं भवति, तथा त्वमपि रोगाद्युपद्रवेण हीनो भवेत्यर्थः। यतस्त्वं पुत्रनामा आत्माऽसि देहः सन् वै निश्चये पुत्रेति संज्ञामात्रेण भिन्नोऽसि न तु स्वरूपेण स त्वं शतं शरदो जीव ॥ १४ ॥

'अथास्य''''''करदिति'। अथास्य कुमारस्य मातरं जननीमभिमुखो भूत्वा मन्त्रयते। मन्त्रश्रावणेन संस्करोति इडासीति मन्त्रेण। अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इडासि मैत्रावरुणीति श्रुतेः। मंत्रार्थः—हे वीरे वीरवति पुत्रवतीति यावत्। त्वं इडा मानवी यज्ञपात्री तद्गतद्रव्यं वाऽसि। मैत्रावरुणी मैत्रावरुणयोरंशोत्पन्ना। यथेडायां पुरूरवा उत्पन्नः यथा च यज्ञपात्र्यां तद्गतद्रव्ये वा पुरोडाशो भवति तथा त्वय्यपि तादृशाः स्वर्गादिसाधनपराः पुत्राः सन्त्वित्यभिप्रायः। यतस्त्वं वीरं पुत्रमजीजनथाः अलौषीः। अतः सा त्वं वीरवती पतिपुत्रवती भव। या त्वमस्मान् वीरवतः पुत्रवतः पुत्रयुक्तान् अकरत् अकरोः कृतवत्यसि ॥ १५ ॥

'अथास्यै''''''स्तनमिति'। अथास्यै अस्या मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य उदकेन क्षालयित्वा पिता कुमाराय पानाय प्रयच्छति ददाति, इमꣳ स्तनमिति मन्त्रेण। अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छतीति श्रवणात्। स्तनसमर्पणं चापीतस्तनस्य भवति ॥ १६ ॥

'यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम्।' ततः पिता उत्तरं वामं स्तनं इमꣳ स्तनं यस्ते स्तन इत्येताभ्यां ऋग्भ्यां प्रयच्छति, कुमारायेत्यर्थः। अत्र द्विवचनोपदेशात् 'इमꣳस्तनम्' इत्येव द्वितीया ॥ १७ ॥

उदपात्रꣳ शिरस्तो निदधात्यापो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ॥ एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथेति ॥ १८ ॥ द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधायोत्थानात् संधिवेलयोः फलीकरणमिश्रान् सर्षपानग्नावावपति—शण्डा मर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः। मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा। आलिखन्ननिमिषः किम्वदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहेति ॥ १९ ॥ यदि कुमार

उपद्रवेज्जालेन प्रच्छाद्योत्तरीयेण वा पिताऽङ्क आधाय जपति कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर [१] तत्सत्यं यत्ते देवा वरमददुः स त्वं कुमारमेव वा वृणीथाः। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर [२] तत्सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरेति ॥ २० ॥ अभिमृशति—न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसीति ॥ २१ ॥

॥ इति षोडशी कण्डिका ॥

(सरला)

पानी से भरा हुआ घड़ा "आपो देवेषु····" इस मंत्र से सिरहाने रखता है। "हे जीवन के हेतुभूत जल तुम देवताओं में जागते हो [अर्थात् देवकार्य निमित्त निगरानी करते हो]। जिस तरह देवताओं के निमित्त जागते हो उसी तरह इस पुत्र के सहित सूतिका के हित के लिए जागो अर्थात् निगरानी करो ॥ १८ ॥

द्वार पर सूतिका अग्नि [जनन संबन्धी आहुति प्रदानार्थ अग्नि] को विधिपूर्वक स्थापित करके सूतकान्त पर्यन्त, सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों समय फलीकरण मिश्रित [चावल की खुद्दी से मिले हुए] सरसों से उस अग्नि में "शण्डा···स्वाहा" इस मंत्र से आहुति देता है। "शण्ड ग्रह, [नष्ट करने वाला बाल ग्रह] मर्का [मारक] ग्रह उपवीर नामक घात करने में समर्थ, शौण्डिकेय [विघ्न कुशल], उलूखल [आश्रित होकर घात करने वाला जैसे ओखली], मलिम्लुच [अति मलिन हृदय वाला ग्रह], द्रोणासः [वृक्ष के कोटर की तरह नाक वाला भयानक], च्यवन, [अंगों को दुख देने वाला]—ये सभी अहित ग्रह यहाँ से नष्ट हो जाएँ। स्वाहा ॥ [सर्वतः भक्षण करने वाला] आलिख नामक ग्रह, पराजित करने में निस्पन्द दृष्टिवाला अनिमिष ग्रह, किंवदन्त [सुनकर अपकार करने वाला जनश्रुति] नामक ग्रह, [समीप में सुनकर घात करने वाला] उपश्रुति ग्रह, [पीले नेत्रों वाला] हर्यक्ष ग्रह, [शीलता को हटाने वाला] कुम्भी ग्रह, सुला देने वाला शत्रु ग्रह, खोपड़ी हाथ में लिए हुए भयानक पात्रपाणि ग्रह, मनुष्यों को मारने वाला नृमणि नामक ग्रह, हिंसक हन्त्रीमुख नामक ग्रह, [सरसों के समान अरुण अर्थात् धूसर रंग का उग्र रूप वर्ण वाला] सर्षपा नामक ग्रह, प्रकृति नाशक च्यवन ग्रह यहाँ से नष्ट हो जाएँ। स्वाहा ॥ १९ ॥ अब नैमेत्तिक बताते हैं :—

यदि कुमार [रोग या ग्रहों के कारण] उपद्रव करे तो पिता बालक को जाली से या अपने उत्तरीय से ढक कर गोद में लेकर 'कूर्कुरः······पह्वर' यह मंत्र जपता है "कर्कश [बोलने वाला] और अतिकर्कश [अत्यन्त बोलने वाला] कूर्कुर नामक बालग्रह बालकों को बाँधने वाला है। छु छु'

विशेष—१. 'चेत् चेत्' शब्द हिन्दी में 'तू तू' की तरह है। यह कुत्तों को बुलाने के लिए प्रयुक्त वर्ण मात्र है। इसका शाब्दिक अर्थ कुछ नहीं है।

(सरला)

शब्द करते हुए हे शुनक [हे कुत्ते] इसको छोड़ दो। तुम्हें नमस्कार है। हे सीसर [अंगों में फैलने वाले], हे लपेत् [रुलाने वाले], हे अपह्वर[1] ! [टेढ़ा करने वाले] यह सत्य है कि तुम्हें देवताओं ने वर दिया है; तो क्या [हे हिंसा में विहार करने वाले] तुम्हें कुमार को ही चुनना था। छु छु शब्द करते हुए हे शुनक [हे कुत्ते]! इसको छोड़ दो। तुम्हें नमस्कार है। हे अङ्गसारक, हे रुलाने वाले लपेत् ! हे टेढ़ा करने वाले अपह्वर ! यह सत्य है कि सरमा (कुतिया She dog) तुम्हारी माता है और सीसर (देवताओं का कुत्ता) पिता हैं; श्याम (काला) और शबल (चितकबरा) भाई है। छु छु शब्द करते हुए हे शुनक इसे छोड़ दे। हे सीसर ! हे लपेत ! हे अपह्वर ! तुम्हें नमस्कार है ॥ २० ॥ (पिता बच्चे के सभी अङ्गों को) स्पर्श करता है इस मंत्र से-"जहाँ हम (यह मंत्र) बोलते हैं और जहाँ इसे स्पर्श करते हैं वहाँ वह न अंगों को शिथिल करे, न रोए, न उसके रोंगटे खड़े होवें और न खिन्न मन वाला हो" ॥ २१ ॥

(हरिहर०)

उदपात्रꣳ शिरस्तो निदधात्यापोदेवेषु जाग्रथेति। उदपात्रं जलपूर्णपात्रं शिरस्तः शिरःप्रदेशे कुमारस्य निदधाति स्थापयति आपोदेवेष्वित्यादिना जाग्रथेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १८ ॥

द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधायोत्थानात्संधिवेलयोः फलीकरणमिश्रान् सर्षपानआवापति शंडामर्का इत्यादि। ततः पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं द्वारदेशे सूतिकागृहस्य सूतिकाग्निं स्थापयित्वा उत्थानात् उत्थानं यावत् संधिवेलयोः सायं प्रातः फलीकरणमिश्रान् फलीकरणैः तण्डुलकणैः मिश्रान् युक्तान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ आवपति जुहोति द्वे आहुती "शण्डा मर्का" इति, "आलिखन्ननिमिष" इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्। आवपनोपदेशात् होमेतिकर्त्तव्यतानिवृत्तिः ॥ १९ ॥

नैमित्तिकमाह—यदि कुमार उपद्रवेज्जालेन प्रच्छाद्योत्तरीयेण वा पिताऽङ्क आधायजपति कूर्कुर इत्यादि। यदि चेत्कुमारो बालग्रहः तं बालमुपद्रवेद् अभिभवेत्, तदा तं बालं जालेन मत्स्यग्रहणसाधनेन तदलाभे उत्तरीयेण वा वाससा प्रच्छाद्य छादयित्वा अङ्के उत्सङ्गे निधाय धृत्वा कूर्कुरः इत्यादिकम् अपह्वरेत्यन्तं मन्त्रं जपति ॥ २० ॥

अभिमृशति न नामयतीति। जपान्ते कुमारस्य सर्वाङ्गमभिमृशति न नामयतीत्यादि यत्र चाभिमृशामसीत्यन्तेन मन्त्रेणेति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

अथ प्रयोगः—सोष्यन्तीं स्त्रियम् "एजतु दशमास्य" इत्यनयर्चा "अवजरायुणा" सहेत्यन्तया अद्भिरभ्युक्षति पतिः ततः स्त्रीसमीपे "अवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे।

---

१. अपह्वर को भाष्यकारों ने टेढ़ा करने वाला कहा है। शायद यह 'धनुषटङ्कार' रोग से तात्पर्य रखता हो।

१८ सूत्र :—द्रष्टव्य शतपथ १४. ९. ४. २६, आश्व० गृ० १. १५. ३।

१९ सूत्र :—द्रष्टव्य बृहदारण्यक उप० ६. ४. २८।

२१ सूत्र :—द्रष्टव्य बृहदारण्यक उप० ६. ४. २७।

२२ सूत्र :—द्रष्टव्य शाङ्खायन गृ० १. २५. ४

विशेष—शन्डमर्क आदि से सम्भवतः (१) वह हानिकर जन्तु अभिप्रेत है जो नवजात बालक और प्रसूतिका के लिए हानिकर है। यह सर्षप होम उनके नाश का उपचार है। अथवा, (२) यह एक टोना सा जान पड़ता है जैसा कि मंत्र की शब्दावली से इङ्गित है।

(हरिहर०)

नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमवजरायुपद्यताम्" इत्यन्तमवरावपतनं मन्त्रं जपति। तत्र यदि कुमार उत्पद्यते तदा [1]मातृपूजाभ्युदयिके विधाय अच्छिन्ने नाले मेधाजननायुष्ये करोति। तत्र मेधाजननं यथा अनामिकयाङ्गुल्यां सुवर्णेनान्तर्हितया मधुघृते मेलयित्वा केवलं घृतं कुमारं 'भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' इत्यनेन मन्त्रेण सकृत्प्राशयति। अथायुष्यं करोति। तद्यथा, कुमारस्य नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा "अग्निरायुष्मान्" इत्यादिकान् "समुद्र आयुष्मान्" इत्यन्तानष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपति। अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान् स ओषधिभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मायुष्मत्तद् ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्माꣳस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिरायुष्माꣳस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। इति। ततः "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्" इति मन्त्रं त्रिर्जपति। स पिता यदि कामयेत 'अयं कुमारः सर्वमायुरियादिति' तदा तं कुमारं दिवस्परीत्यारभ्य उशिजो वह्निरित्यन्तेन वात्सप्रसंज्ञकेनानुवाकेनाभिमृशेत्। अथ कुमारस्य पूर्वादिचतसृषु दिक्षु चतुरो ब्राह्मणान् एकं मध्ये च अवस्थाप्य इममनुप्राणितेति तान् ब्रूयात्। ततः पूर्वदिक्स्थितो ब्राह्मणः कुमारं लक्षीकृत्य प्राण इति, दक्षिणो व्यान इति, पश्चिमः अपान इति, उत्तर उदान इति, पञ्चमः समान इति उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात्। अविद्यमानेषु तु ब्राह्मणेषु स्वयमेव तस्यां तस्यां दिशि कुमाराभिमुखं स्थित्वा प्राणेत्यादि पूर्वोक्तं ब्रूयात्। अस्मिन् पक्षे न प्रैषः। ततो यस्मिन् देशे कुमारो जातो भवति तं देशं "वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्" इत्यन्तेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। अथ पुनः कुमारम् "अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" इत्यन्तेन मन्त्रेणाभिमृशति। अथ अस्य कुमारस्य मातरमभिमन्त्रयते—"इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरत्" इत्यनेन मन्त्रेण। अथ अस्य कुमारस्य मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति—"इमꣳ स्तनम्" इत्यनयर्चा। तत उत्तरं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति—'यस्ते स्तन' "इमꣳ स्तनम्" इत्येताभ्यामृग्भ्याम्। ततः कुमारस्य शिरःप्रदेशे जलपूर्णं पात्रं निदधाति स्थापयति—"आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथ" इत्यनेन। तदुदपात्रं प्रागुत्थानात् स्थापितमेव तिष्ठति। ततः सूतिकागृहस्य द्वारदेशे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा सूतिकाग्निं स्थापयित्वा सायं प्रातःसंध्याद्वये फलीकरणमिश्रान् तण्डुलकणयुतान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ हस्तेन जुहोति यावत्सूतिकोत्था-

---

(१) "देशकालौ स्मृत्वा ममास्य कुमारस्य गर्भाम्बुपानजनितसकलदोषनिर्हणायुर्मेधाभिवृद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थं जातकर्माहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य तदङ्गत्वेन।" इति शेषः।

(हरिहर०)

नम् । कथम् ? "शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेणैकामाहुतिम्, "आलिखन्ननिमिषः किम्वदन्त उपश्रुतिः । हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा" इत्यनेन द्वितीयाम् । इदमग्नये इत्युभयत्र त्यागः । यदि कुमारग्रहो बालमुपद्रवेदत्तदा तं बालं जालेन उत्तरीयेण वा वस्त्रेण प्रच्छाद्य अङ्के गृहीत्वा पिता जपति—"कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः । चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर ॥ १ ॥ तत्सत्यं यत्ते देवा वरमददुः स त्वं कुमारमेव वा वृणीथाः । चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर ॥ २ ॥ तत्सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ । चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर ॥ ३ ॥ इत्यन्तं मन्त्रम् । "न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसि" इत्यनेन मन्त्रेण पिता कुमारमभिमृशति ॥ १६ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

(गदाधर०)

'उदपात्रं······जाग्रथेति' तत उदपात्रं सजलं शरावं शिरस्तः सूतिकायाः शिरःप्रदेशे खट्वाधस्तान्निदधाति, 'आपोदेवेषु' इति मन्त्रेण । तच्चोत्थानपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठति । मन्त्रार्थः—हे आपः जीवनहेतवः यूयं देवेषु देवकार्यनिमित्तं जाग्रथ तत्साधनत्वेन तिष्ठथ । अतो यथा देवेषु जाग्रथ, एवं तथाऽस्यां सूतिकायां सूतिकाया हिते जाग्रथ जाग्रतेत्यर्थः । पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः । किम्भूतायां ? पुत्रादिसहितायाम् ॥ १८ ॥

'द्वारदेशे······दितःस्वाहेति' । सूतिकागृहस्य द्वारदेशे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तत्र सूतिकाऽग्निमुपसमाधाय स्थापयित्वा ओत्थानात् उत्थानं यावत् संधिवेलयोः सायं प्रातः फलीकरणैः तण्डुलकणैर्मिश्रान् मुक्तान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ आवपति प्रक्षिपति "शण्डामर्का" इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । सूतिकाग्नेर्ग्रहणम् आवसथ्याग्निनिवृत्त्यर्थमिति अर्कयज्ञः । अत्र आवपनोपदेशाद्धोमेतिकर्तव्यता न भवति । अत्राग्नेर्देवतात्वं जयरामाचार्या वदन्ति । तथा कारिकायाम्—

अन्ययोर्देवताग्निः स्यान्मन्त्रोक्ताः कैश्चिदीरिताः । इति ।

एतच्च स्वकाले एव भवति, नियतकालत्वात् । मन्त्रार्थः—शण्डाः शण्डः मर्काः मर्कः । तत्र शृणोतीति शण्डो बालग्रहः [इतः] स्वस्थानात् नश्यतात् अपगच्छतु । अयं च वाक्यार्थ उत्तरत्रापि योज्यः । मारयतीति मर्कः, उपघाते वीरः समर्थ उपवीरः, विघ्नकुशलः शौण्डिकेयः, आश्रितपातक उलूखलः, अप्रतिकार्यो मलिम्लुचः, अतिमलिनाशय इत्यर्थः । दीर्घनासो द्रोणासः, च्यावयत्यङ्गानीति च्यवनः, एते सर्वे मत्कृतावपनोपद्रुताः भीताश्चाप-सर्पन्त्वित्यर्थः । एवमासमन्ततो भावेन लिखन् अचयन् आस्ते स आलिखन्, पराभवितु-मध्यवच्छिन्नदृष्टिरनिमिषः, उप समीपे श्रुत्वा अपकर्ता उपश्रुतिः, हर्यक्षः पिङ्गलनयनः, कुम्भयति स्तम्भयतीत्येवंशीलः कुम्भी, शातयतीति शत्रुः, पात्रहस्तः पात्रपाणिः, नॄन्मिनोति हिनस्तीति नृमणिः, हन्त्री हिंसा हननं मुखे यस्यासौ हन्त्रीमुखः, सर्षपवदरुण उग्रो धूसरो वा सर्षपारुणः, च्यवत्यनेनेति च्यवनः । येनोपद्रुतश्च्यवति प्रकृतेः परिभ्रश्यतीत्यर्थः । इतः स्थानान्नश्यतादिति सर्वपदानामेवमेवान्वयः । गणमभिप्रेत्याह—किंवदन्त इति । एते सर्वे किंवदन्तः किंवदद्गणोऽयमित्यर्थः ॥ १९ ॥

(गदाधर०)

'यदि कुमार······मृशामसीति'। कुमारशब्देन बालग्रहोऽभिधीयते। स यदि एनं बालमुपद्रवेद्विमृयेत् तदा एनं बालकं पिता जालेन प्रच्छाद्याच्छादयित्वा स्वोत्तरीयेण वा प्रच्छाद्याङ्के उत्सङ्गे निधाय 'कूर्कुर' इति मन्त्रत्रयं जपति। जपान्ते एनं पिताऽभिमृशति "न नामयति" इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—कूर्कुरो भषणाख्यो बालग्रहः। तथा सुकूर्कुरश्चातिभषणः। बालान्बध्नातीति बालबन्धनः। कूर्कुराख्यो बालग्रहः। सीसरोऽङ्गसारकः। हे शुनक तद्गणमुख्य लपेत लापनरोधकेति यावत्। अपह्वर गात्रापहारक। ह्व कौटिल्ये। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। ततस्तुष्टश्चैनं कुमारं सृज मुञ्च। किं कुर्वन्? चेचेच्छुदुःशब्दं कुर्वन् ॥ १ ॥ हे शुनक तत्सत्यं, यत्ते तुभ्यं देवदूताय देवा वरमददुः दत्तवन्तः। स च त्वं हिंसाविहारः कुमारमेव वा वृणीथाः वृतवानसीति। शेषमुक्तार्थम् ॥ २ ॥ हे शुनक तत्सत्यं यत्ते तव सरमा देवशुनी माता सीसरो देवश्वा पिता। श्यामशबलौ च तव भ्रातरावति। शेषमुक्तार्थम् ॥ ३ ॥ न नामयतीत्यस्यार्थः। यत्रास्मिन् कुमारे वयं वदामो भ्रमः साकाङ्क्षत्वान्मन्त्रस्य। यत्र च अभिमृशामसि अभितः स्पर्शनं कुर्मः स कुमारो न नामयत्यङ्गानि शेषं स्पष्टम् ॥ २०-२१ ॥

इति षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

अथ पदार्थक्रमः। सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षत्येजतु दशमास्य इति। ततोऽवरावपतनमन्त्रजपः अवैतु पृश्निरिति। ततो जातमात्रे पुत्रे पिता तस्य मुखं निरीक्ष्य नद्यादावुदङ्मुखः स्नात्वा, असंभवे दिवाहृताभिः शीताभिरद्भिः सुवर्णयुताभिर्गृह एव स्नात्वाऽऽचम्य सितचन्दनमाल्यादिभिरलंकृतो नालच्छेदात्पूर्वं सूतिकादिव्यतिरिक्तैरस्पृष्टमकृतस्तनपानं प्रक्षालितमलं कुमारं मातुरुत्सङ्गे प्राङ्मुखमवस्थाप्य ब्राह्मणैः सह पुण्याहवाचनं कृत्वा देशकालौ स्मृत्वा ममास्य कुमारस्य गर्भाम्बुपानजनितसकलदोषनिबर्हणायुर्मेधाभिवृद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं जातकर्म करिष्ये इति संकल्प्याभ्युदयिकश्राद्धं हिरण्येन कार्यम्। तत एकस्मिन् पात्रे मधुघृते मिश्रयित्वाऽनामिकया सुवर्णान्तर्हितया प्राशयति कुमारम् "भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि" इति मन्त्रेण। अथवा केवलं घृतं प्राशयति। इदं मेधाजननम्।

अथायुष्यकरणम्—तत्र बालकस्य नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा 'अग्निरायुष्मान्' इत्याद्यष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपेत्। अग्निरायुष्मान्० करोमि १, सोम आयुष्मान्० २, ब्रह्म आयुष्मत् ३, देवा आयुष्मन्तः ४, ऋषय आयुष्मन्तः ५, पितर आयुष्मन्तः ६, यज्ञ आयुष्मान् ७, समुद्र आयुष्मान् ८। ततः—'त्र्यायुषम्' इति च त्रिर्जपेत्। इत्यायुष्यकरणम्।

पिता यदि कामयेदयं कुमारः सर्वमायुरियादित्येनं [1]दिवस्परीत्येकादशभिरभिमृशेत्। ततो बालकस्य पूर्वादिदिक्षु चतसृषु चतुरो ब्राह्मणानेकं मध्ये चावस्थाप्य 'इममनुप्राणिता' इति प्रैषः। ततः पूर्वदिक्स्थितः प्राणेति ब्रूयात्, व्यानेति दक्षिणः, अपानेत्यपरः, उदानेत्युत्तरः, समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात्। अविद्यमानेषु विप्रेषु स्वयमेवानुपरिक्रम्य परिक्रम्य प्राणेत्यादि ब्रूयात्। नात्र प्रैषः। ततो जन्मभूमेरभिमन्त्रणं 'वेद ते भूमिः' इति। ततो बालाभिमर्शनमश्मा भवेति। ततः कुमारमातुरभिमन्त्रणमिडासि मैत्रावरुणीति। ततो मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य कुमाराय प्रयच्छतीमं स्तनमिति। ततो

---

१. एते मन्त्रा १८३ पृष्ठे निर्दिष्टा इति तत एव बोध्याः।

(गदाधर०)

'यस्ते स्तन' 'इमठं स्तनम्' इति मन्त्राभ्यां सव्यं स्तनं प्रयच्छति। कालातिक्रमे स्तनप्रदानाभावः। अत्र कारिकायां विशेषः—

अत्र दद्यात्सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं रथम्।
छत्रं छागं वस्त्रमाल्यं शयनं चासनं गृहम्॥
धान्यं गुडतिलान्सर्पिरन्यद्वाऽस्ति गृहे वसु।
आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति॥
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि।
अष्टाङ्गुलं परित्यज्य नालं छिन्द्यात्क्षुरादिना॥ इति।

ततः सूतिकायाः खट्वाऽधस्ताच्छिरःप्रदेशे उदकपूर्णपात्रनिधानमापो देवेष्विति। ततः सूतिकागृहद्वारे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम्। तस्मिन्नग्नौ सायं प्रातः संध्याद्वये प्रत्यहं यावत्सूतिका स्नानं न करोति तावद्धस्तेन तण्डुलकणमिश्रान् सर्षपान् जुहोति। तत्रैवं 'शण्डामर्का' इति प्रथमाम्। 'आलिखन्ननिमिषः' इति द्वितीयाम्। इदमग्नये न ममेत्युभयोस्त्यागः। यदि बालं क्रूरग्रह उपद्रवति तदा तं जालेन उत्तरीयेण वाऽऽच्छाद्य पिता स्वोत्सङ्गे स्थापयित्वा 'कूर्कुरः' इति जपति। ततः कुमाराभिमर्शनं 'ननामयति' इति।

अत्र सूतिकासंबन्धि सर्वं लौकिकाग्नौ भवति। तदुक्तं कारिकायाम्—

सूतीसंबन्धि पक्त्यादिकर्म तल्लौकिकानले।
पर्वण्यपि च तत्पक्वमश्नीयान्नैव दोषभाक्॥ इति।

इति जातकर्मणि पदार्थक्रमः॥

अथ गर्गमते विशेषः—अत्र सोष्यन्तीत्यारभ्य ननामयतीत्यभिमर्शनान्ते विशेषः। हिरण्यश्राद्धान्ते वागिति त्रिरुक्त्वा वेदोऽसीति गुह्यनाम कृत्वा मेधाजननं करोति। भूस्त्वयि दधामीत्येवमादिभिः प्रतिमन्त्रं प्राशनम्। कुमारस्य शिरःप्रदेशे उदपात्रनिधानम्।[1] सर्वान्ते बालं जनन्यै प्रदाय पिता स्नानं करोतीति विशेषः। अन्यत्समानम्। कुमार्याश्चैतज्जातकर्मामन्त्रकं कार्यमिति प्रयोगरत्ने। रात्रौ संध्यायां ग्रहणे जाताशौचान्तरेऽपीदं कार्यं मृताशौचान्तरेऽपीदं कार्यम्। मृताशौचमध्ये जातश्चेत्सद्यैवाशौचान्ते वा तत्कार्यम्। पितरि ग्रामान्तरं गते पितृव्यादिर्गोत्रजो ज्येष्ठक्रमेणेदं कुर्यात्।

इति जातकर्म॥

अथ षष्ठीपूजा—पञ्चमे षष्ठे च दिवसे षष्ठे एव वा पूर्वरात्रौ पित्रादिराचम्य प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोरायुरारोग्यसकलारिष्टशान्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं विघ्नेशस्य जन्मदानां षष्ठीदेव्या जीवन्तिकायाश्च यथामिलितोपचारैः पूजनं करिष्ये-इति संकल्प्य षोडशोपचारैस्तन्त्रेण पूजयेत्। पृथग्वा संकल्प्य पृथगेव पूजा कार्या। एतत्प्रतिमाश्च लेपनादिना कुड्ये लेखनीयाः। पीठादौ वाऽक्षतपुञ्जरूपेण निवेश्याः। पुरुषाः शस्त्रहस्ताः स्त्रियश्च नृत्यगीतकारिण्योऽस्यां रात्रौ जागरणं कुर्युः। सूतिकागृहं च सधूमाग्निदीपशस्त्रमुसलाम्बुविभूतियुतं कार्यम्, सर्षपांश्च सर्वतोऽवकिरेत्। अन्यदपि यथाचारं सर्वं कार्यम्। जन्मदाभ्योऽन्नादिना बलिर्देयः। विप्रेभ्यश्च ताम्बूलखाद्यदक्षिणादि दद्यात्।

---

1. हरिहरोऽपीदमेव मन्यते।

(गदाधर०)

जननाशौचमध्ये प्रथमषष्ठदशमदिनेषु दाने प्रतिग्रहे च न दोषः। अन्नं तु निषिद्धम्।
षष्ठीप्रार्थना—
'गौरीपुत्रो यथा स्कन्दः शिशुत्वे रक्षितः पुरा। तथा ममाप्ययं बालः षष्ठिके रक्ष्यतां नमः'॥

॥ इति षष्ठीपूजा ॥

मिताक्षरायां मार्कण्डेयः—
रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः। रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः॥
पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः। रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके॥
व्यासः—
सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः। तासां यागनिमित्तं तु शुद्धिर्जन्मनि कीर्तिता॥
प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा। त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि॥
अपरार्के—
कन्याश्चतस्रो राकाद्या वातघ्नी चैव पञ्चमी। क्रीडनार्थां च बालानां षष्ठी च शिशुरक्षिणी॥
खड्गे तु पूजनीया वै ब्राह्मणैश्च द्विजातिभिः॥
राकाऽनुमतिः सिनीवाली कुहूरिति चतस्रः कन्याः॥
अथ यमयोर्ज्येष्ठकनिष्ठभावः संस्कारार्थं लिख्यते। तत्र मनुः—
जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्। यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता॥
देवलः—
यस्य जातस्य यमयोःपश्यन्ति प्रथमं मुखम्। संतानः पितरश्चैव तस्मिन् ज्येष्ठ्यं प्रतिष्ठितम्॥

क्वचित्पश्चादुत्पन्नस्य ज्यैष्ठ्यमुक्तम्। तत्र देशाचारतो व्यवस्था ज्ञेया।

अथ यमलजननशान्तिः

तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—'अथातो यमलजनने प्रायश्चित्तं व्याख्यास्यामो यस्य भार्या गौर्दासी महिषी वडवा वा विकृतं प्रसवेत्प्रायश्चित्ती भवेत्संपूर्णे दशाहे चतुर्णां क्षीरवृक्षाणां काषायमुपसंहरेत् प्लक्षवटौदुम्बराश्वत्थशमीदेवदारुगौरसर्षपास्तेषामपो हिरण्यदूर्वाङ्कुराम्र-पल्लवैः प्रकल्प्य तैरष्टौ कलशान् प्रपूर्य सर्वौषधीभिर्दम्पती स्नापयेत् 'आपो हिष्ठा' इति तिसृभिः, 'कया नश्चित्र' इति द्वाभ्यां, पञ्चेन्द्रेण, पञ्चवारुणेनेदमापो अद्येति द्वाभ्यां स्नात्वाऽलंकृत्य तौ दर्भोपर्युपवेश्य तत्र मारुतं स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। पूर्वोक्तैः स्नपनमन्त्रैः स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, पवमानाय स्वाहा, पावकाय स्वाहा, मरुताय स्वाहा, मारुताय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इति। एतदेव ग्रहोत्पातनिमित्तेपूलूकः कङ्कः कपोतो गृध्रः श्येनो वा गृहं प्रविशेत् स्तम्भं प्ररोहेद्वल्मीकं मधुजालं वा भवेदुदकुम्भप्रज्वलनासनशयनयानभङ्गेषु गृहगोधिकाकृकलास-शरीरसर्पणे छत्रध्वजविनाशे सार्पे नैर्ऋते गण्डयोगेष्वन्येष्वप्युत्पातेषु भूकम्पोल्कापातकाक-सर्पसङ्गमप्रेक्षणादिष्वेतदेव प्रायश्चित्तं ग्रहशान्त्युक्तेन विधिना कृत्वाऽऽचार्याय वरं दत्त्वा ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वस्तिवाच्याशिषः प्रतिगृह्य शान्तिर्भवति शान्तिर्भवतीति।
अथ स्मृत्युक्ता शान्तिः। विधानमालायां काशीखण्डे—
त्रिविधा यमलोत्पत्तिर्जायते योषितामिह। सुतौ च सुतकन्ये च कन्ये एव तथा पुनः॥
एकलिङ्गौ विनाशाय द्विलिङ्गौ मध्यमौ स्मृतौ। पित्रोर्विघ्नकरौ ज्ञेयौ तत्र शान्तिर्विधीयते॥

(गदाधर०)

हेममूर्ती विधातव्ये दस्रयोश्च द्विजोत्तम । पलेन वा तदर्धेन तदर्धार्धेन वा पुनः ॥
ब्रह्मवृत्तस्य पट्टे च स्थापयेद्रक्तवाससी । स्वस्तिके तण्डुलानां च न्यस्ते पीठे द्विजोत्तम ॥
पूजयेद्रक्तपुष्पैश्च चन्दनेनानुलेपयेत् । दशाङ्गेनैव धूपेन धूपयेत् प्रयतः पुमान् ॥
दीपैर्नीराजयेच्चैव नैवेद्यं परिकल्पयेत् । 'यस्मै त्वं सुकृते जातवेद' इति मन्त्रेणाक्षतैरर्चयेत् ।
अनेनैव तु मन्त्रेण होमं कुर्यादतन्द्रितः ॥
अष्टोत्तरसहस्रं च पायसेन ससर्पिषा । शान्तिपाठं जपेद्विद्वान्सूर्यसूक्तं जपेत्ततः ॥
विष्णुसूक्तं तथा गाथां वैश्वदेवीं जपेद्बुधः । अश्वदानं ततो दद्यादाचार्याय कुटुम्बिने ।
तयोर्मूर्ती प्रदातव्ये यजमानेन धीमता ॥

तत्र दानमन्त्रः—

"अश्वरूपौ महाबाहू अश्विनौ दिव्यचक्षुषौ । अनेन वाजिदानेन प्रीयेतां मे यशस्विनौ ॥"

अथ मूर्तिदानमन्त्रः—

"आचार्यः प्रथमो वेधा विष्णुस्तु सविता भगः । दस्रमूर्तिप्रदानेन प्रीयतामश्विनौ भगः ॥"

ततोऽभिषेचनं कार्यं दम्पत्योर्विधिवद् बुधैः । ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चाद् दक्षिणाभिश्च तोषयेत्॥
सालंकारैश्च वस्त्रैश्च प्रार्थयेद् वचनैः शुभैः । एवं कृते विधाने तु यमलोत्पत्तिशान्तिकम् ॥
जायते नात्र संदेहः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।

अथ जन्मनि दुष्टकालाः

तत्र मूलफलम् । लल्लः—

अभुक्तमूलसंभवं परित्यजेत्तु बालकम् । समाऽष्टकं पिताऽथवा न तन्मुखं विलोकयेत् ॥
तदाद्यपादके पिता विपद्यते जनन्यथ । तृतीयके धनक्षयश्चतुर्थके शुभावहम् ॥
प्रतीपमन्त्यपादतः फलं तदेव सार्पभे ॥

अभुक्तमूलं त्वाह बृहद्वसिष्ठः—

ज्येष्ठाऽन्ते घटिका चैका मूलादौ घटिकाद्वयम् । अभुक्तमूलमित्याहुर्जातं तत्र विवर्जयेत् ॥

केचिज्ज्येष्ठान्त्यं मूलाद्यं च पादमभुक्तमूलमित्याहुः । कश्यपेन त्वन्यथोक्तम्—

मूलाद्यपादजो हन्ति पितरं तु, द्वितीयजः । मातरं स्वां तृतीयाऽर्थान् , सुहृदं तु तुरीयजः ॥
फलं तदेव सार्पर्क्षे प्रतीपं त्वन्त्यपादतः ॥

अथ मूलवृक्षफलं जयार्णवे—

मूलं स्तम्भस्त्वचा शाखा पत्रं फलं शिखा । वेदा ४ श्च मुनयश्चैव ७ दिश १० श्च वसव ८ स्तथा ॥
नन्दा९ बाण५ रसा६ रुद्रा११ मूलभेदाः प्रकीर्तिताः । मूलं मूलविनाशाय स्तम्भे हानिर्धनक्षयः॥
त्वचि भ्रातृविनाशाय, शाखा मातुर्विनाशकृत । पत्रे सपरिवारः स्यात् पुष्पेषु नृपवल्लभः॥
फलेषु लभते राज्यं, शिखायामल्पजीवितम् ।

अन्यत्र त्वन्यथोक्तम्—

मूले सप्तघटीषु मूलहननं, स्तम्भेऽष्टसु स्वक्षयम्,
त्वग्दिग्बन्धुविनाशनं च, विटपे रुद्रैर्हतो मातुलः ।
पत्रेऽर्कैः सुकृति तु, बाणकुसुमे मन्त्री, फले सागरैः,
राजा, वह्निशिखाल्पमायुरिति संमूलाङ्घ्रिपे स्यात्फलम् ॥

भूपालवल्लभः—वृषालिसिंहेषु घटे च मूलं दिवि स्थितं, युग्मतुलाङ्गनान्त्ये ।
पातालगं, मेषधनुः कुलीरनक्रेषु मर्त्येष्विति संस्मरन्ति ॥

(गदाधर०)

स्वर्गे मूलं भवेद्राज्यं, पाताले च धनागमम् । मृत्युलोके यदा भूतं तदा शून्यं समादिशेत् ॥
प्रयोगपारिजाते—
मूलजा श्वशुरं हन्ति, व्यालजा च तदङ्गनाम् । माहेन्द्रजाऽग्रजं हन्ति, देवरं तु द्विदैवजा ॥
नृसिंहप्रसादे—

धवाग्रजां हन्ति सुरेन्द्रजाता तथैव पत्न्या भगिनीं पुमांश्च ।
द्विदैवजा देवरमाशु हन्याद्भार्यानुजामाशु हि हन्ति सूनुः ॥

पत्न्यग्रजामग्रजं वा हन्ति ज्येष्ठर्क्षजः पुमान् ।
तथा भार्यास्वसारं वा शालकं वा द्विदैवजः ॥
कन्यका देवरं हन्ति विशाखाऽन्त्यसमुद्भवा ।
आद्यपादत्रये नैव आद्यमे तु पुमान् भवेत् ॥
न हन्याद्देवरं कन्या तुलामिश्रद्विदैवजा ।
तद्वदान्त्योद्भवा वर्ज्या दुष्टा वृश्चिकपुच्छवत् ॥

चित्राद्यार्धे पुष्यमध्ये द्विपादे पूर्वाषाढाधिष्ण्यपादे तृतीये ।
जातः पुत्रश्चोत्तराऽऽद्ये विधत्ते मातापित्रोर्भ्रातरं बालनाशम् ॥

द्विमासं चोत्तरादोषः पुष्ये चैव त्रिमासिकः ।
पूर्वाषाढाष्टमे मासि चित्रा षाण्मासिकं फलम् ॥
नवमासं तथाऽऽश्लेषा मूले चाष्टकवर्षकम् ।
ज्येष्ठा पञ्चदशे मासि पुत्रदर्शनवर्जिता ॥

वसिष्ठः—
व्यतीपातेऽङ्गहानिः स्यात् परिघे मृत्युमादिशेत् । वैधृतौ पितृहानिः स्यान्नष्टेन्दावन्धतां व्रजेत् ॥
मूले समूलनाशः स्यात् कुलनाशो यतो भवेत् । विकृताङ्गे च हीने च संध्ययोरुभयोरपि ॥
पर्वण्यपि प्रसूतौ च सर्वारिष्टभयप्रदा । तद्वत्सदन्तजातश्च पादजातस्तथैव च ॥
तस्माच्छान्तिं प्रकुर्वीत ग्रहाणां क्रूरचेतसाम् ॥
गर्गः—
कृष्णां चतुर्दशीं षोढा कुर्यादादौ शुभं स्मृतम् । द्वितीये पितरं हन्ति तृतीये हन्ति मातरम् ॥
चतुर्थे मातुलं हन्ति पञ्चमे वंशनाशनम् । षष्ठे तु धननाशः स्यादात्मनो वंशनाशनम् ॥
देवकीर्तिः—

यद्येकस्मिन् धिष्ण्ये जायन्ते दुहितरोऽथ वा पुत्राः ।
पितुरन्तकरा ह्येते यद्यपरे प्रीतिरतुला स्यात् ॥

गर्गः—
एकस्मिन्नेव नक्षत्रे भ्रात्रोर्वा पितृपुत्रयोः । प्रसूतिश्च तयोर्मृत्युर्भवेदेकस्य निश्चितम् ॥
शौनकः—
ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते । व्याधिपीडा तदा स्त्रीणामादौ तु ऋतुदर्शनात् ॥
इत्थं संजायते यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः ॥

अथ गण्डान्तः । ज्योतिर्निबन्धे—
पूर्णानन्दाख्ययोस्तिथ्योः सन्धिर्नाडीद्वयं तथा । गण्डान्तं मृत्युदं जन्मयात्रोद्वाहव्रतादिषु ॥
कुलीरसिंहयोः कीटचापयोर्मीनमेषयोः । गण्डान्तमन्तरं कालं घटिकार्धं मृतिप्रदम् ॥
(कुलीरः कर्कटः, कीटो वृश्चिकः, चापं धनुः ।)

(गदाधर०)

सार्पैन्द्रपौष्णभेष्वन्त्यषोडशांशेन सन्धयः । तदग्रभेष्वाद्यपादा भानां गण्डान्तसंज्ञकाः ॥
(सार्पमाश्लेषा, ऐन्द्रं ज्येष्ठा, पौष्णं रेवती ।)

पौष्णाश्विन्योः सार्पपित्र्यर्क्षयोश्च यच्च ज्येष्ठामूलयोरन्तरालम् ।
तद्गण्डान्तं स्याच्चतुर्नाडिकं हि यात्राजन्मोद्वाहकालेष्वनिष्टम् ॥

रत्नसंग्रहे—

सर्वेषां गण्डजातानां परित्यागो विधीयते । वर्जयेद्दर्शनं श्राद्धं तच्च षाण्मासिकं भवेत् ॥

तिथ्यर्क्षगण्डे पितृमातृनाशो लग्ने तु संधौ तनयस्य नाशः ।
सर्वेषु नो जीवति हन्ति बधून् जीवन्पुनः स्याद् बहुवारणश्च ॥

अथैषां दानम्—

तिथिगण्डे त्वनड्वाहं नक्षत्रे धेनुरुच्यते । काञ्चनं लग्नगण्डे तु गण्डदोषो विनश्यति ॥
उत्तरे तिलपात्रं स्यात्पुष्ये गोदानमुच्यते । अजाप्रदानं त्वाष्ट्रे स्यात् पूर्वाषाढे च काञ्चनम् ॥
उत्तरातिष्यचित्रासु पूर्वाषाढोद्भवस्य च । कुर्याच्छान्तिं प्रयत्नेन नक्षत्राकरजां बुधः ॥

अथ आश्लेषाफलम्—

मूर्द्धास्यनेत्रगलकांसयुगं च बाहु—हृज्जानुगुह्यपदमित्यहिदेहभागाः ।
बाणा५द्रि७नेत्र २हुतभुक्३ श्रुति४नाग८ रुद्र११ षण्६नन्द९पञ्च५शिरसः क्रमशस्तु नाड्यः ॥

राज्यं च पितृनाशः स्यात्तथा कामक्रिया रतिः ।
पितृभक्तो बली स्वघ्नस्त्यागी भोगी धनी क्रमात् ॥

ज्येष्ठाफलमुक्तं ब्रह्मयामले—

ज्येष्ठाद्यौ जननीमाता द्वितीये जननीपिता । तृतीये जननीभ्राता स्वयंमाता चतुर्थके ॥
आत्मानं पञ्चमे हन्ति षष्ठे गोत्रक्षयो भवेत् । सप्तमे चोभयकुलं ज्येष्ठभ्रातरमष्टमे ॥
नवमे श्वशुरं हन्ति सर्वं हन्ति दशांशके ॥ इति ।

अथ मूलशान्तिः

तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथातो मूलविधिं व्याख्यास्यामो मूलांशे प्रथमे पितुर्नष्टो द्वितीये मातुस्तृतीये धनधान्ययोश्चतुर्थे कुलशोकावहः स्वयं पुण्यभागी स्यान्मूलनक्षत्रे मूलविधानं कुर्यात् सर्वौषध्या सर्वगन्धैश्च संयुक्तं तत्रोदकुम्भं कृत्वा वस्त्रगन्धपुष्परत्नसहितं श्वेतसिद्धार्थकुसुमयुक्तं कुर्यात्। तस्मिन् रुद्रान् जपित्वाऽप्रतिरथं रक्षोघ्नं च सूक्तं, द्वितीयोदकुम्भं कृत्वा चतुः प्रस्रवणसंयुक्तं, तस्मिन्नुपरिष्टान्मूलानि धारयेद्वंशपात्रे कृत्वा वस्त्रे बद्ध्वा तस्मिन् प्रधानानि मूलानि वक्ष्यामि हिरण्यमूलं सप्तधान्यानि प्रथमा काश्मर्या सहदेव्यपराजिता बालापाठाऽधोपुष्पी शङ्खपुष्पी मधुयष्टिका चक्राङ्किता मयूरशिखा काकजङ्घा कुमारीद्वयं जीवन्त्यपामार्गा भृङ्गराजकलक्ष्मणा जाती व्याघ्रपत्रश्चक्रमर्दकः सिद्धेश्वरोश्वत्थौदुम्बरपलाशप्लक्षवटार्कदूर्वारोहितकशमीशतावरीत्येवमादिमूलशतं पूरयित्वा तस्मिंस्त्रिषिद्धानि मूलानि वक्ष्यामि वैल्वधवनिम्बकदम्बराजवृक्षोक्षशालाप्रयालुदधिकपित्थकोविदारश्लेष्मातकविभीतकशाल्मलीररलुसर्वकण्टकिवर्जम् । तत्राभिषेकं कुर्यात् पितुः शिशोर्जनन्या "देवस्यत्वा" इति । औदुम्बर्यासन्दीमुदगग्रामास्तृणाति । तत्रासीनान् संपातेनैकेनाभिषिञ्चति शिरसोऽध्यनुलोमठं 'शिरो मे श्रीर्यशः' इति, यथालिङ्गमङ्गानि संस्पृशति । स्नानादूर्ध्वं नैर्ऋतं पायसठं श्रपयित्वा काश्मर्यमयठं स्रुक्स्रुवं प्रतप्य संमृज्यान्वारब्ध आघारावाज्यभागौ हुत्वा 'असुन्वन्तम्' इति चतस्रः स्थालीपाकेन

(गदाधर०)

जुहुयात पञ्चदशाज्याहुतीर्जुहोति 'कृणुष्वपाज' इति पञ्च, 'मानस्तोके' इति द्वे, 'या ते रुद्र शिवा तनूः' इति षट्, 'अग्निरक्षा१७सि धति शुक्रशोचिरमर्त्यः। शुचिः पावक ईड्यः' इति, 'त्वन्नःसोमविश्वतोरक्षाराजन्नघायतोनरिष्येत्त्वावतः सखा' इति स्विष्टकृदादि। प्राशनान्ते कृष्णा गौः कृष्णाश्चतिलाः हिरण्मयमूलपठंसप्तधान्यसंयुक्तमाचार्याय दद्यात् कृष्णोऽनड्वान्ब्रह्मणे दद्याच्छत्रसूचकेभ्यो वा दद्यादन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः सुवर्णं दद्यात् कृसरपायसेन ब्राह्मणान्भोजयेत्। सार्पदैवते, गण्डजाते एष एव विधिः कात्यायनेनोक्तः। स्मृत्यन्तरोक्ता शान्तिस्तु रजस्वलाशान्तावुक्ता। मात्स्ये विशेषः—

अकालप्रसवा नार्यः कालातीतप्रजास्तथा। विकृतप्रसवाश्चैव युग्मप्रसवकास्तथा।
अमानुषा अमुण्डाश्च अजातव्यञ्जनास्तथा। हीनाङ्गा अधिकाङ्गाश्च जायन्ते यदि वा स्त्रियः॥
पशवः पक्षिणश्चैव तथैव च सरीसृपाः। विनाशं तस्य देशस्य कुलस्य च विनिर्दिशेत्॥
निर्वासयेत्तां नगरात्ततः शान्तिं समाचरेत्॥

पाद्मे—

उपरि प्रथमं यस्य जायन्ते च शिशोर्द्विजाः। दन्तैर्वा सह यस्य स्याज्जन्म भार्गवसत्तम॥
द्वितीये च तृतीये च चतुर्थे पञ्चमे तथा। यदा दन्ताश्च जायन्ते मासे चैव महद्भयम्॥
मातरं पितरं चास्य खादेदात्मानमेव च॥

अथोर्ध्वदन्तजननशान्तिः—

गजपृष्ठगतं बालं नौस्थ वा स्थापयेत् द्विज। तदभावे तु धर्मज्ञ काञ्चने तु वरासने॥
सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्बीजैः पुष्पैः फलैस्तथा। पञ्चगव्येन रत्नैश्च मृत्तिकाभिश्च भार्गव॥
(स्नापयेदित्यन्वयः।)

स्थालीपाकेन धातारं पूजयेत्तदनन्तरम्। सप्ताहं चात्र कर्तव्यं तथा ब्राह्मणभोजनम्॥
अष्टमेऽहनि विप्राणां तथा देयाऽत्र दक्षिणा। काञ्चनं रजतं गाश्च भुवं वा धनमेव च॥
दन्तानामष्टमे मासि षष्ठे मासि ततः पुनः। दन्ता यस्य च जायन्ते माता वा म्रियते पिता॥
बालको म्रियते तत्र स्वयमेव न संशयः। दधिक्षौद्रघृताक्तानामश्वत्थसमिधां ततः॥
जुहुयादष्टशतं तत्र समन्त्रेण तु मन्त्रवित्। धेनुं च दद्याद् गुरवे ततः सम्पद्यते शुभम्॥

ज्योतिर्निबन्धे तु अष्टमादिषु दन्तोत्थानं शुभावहमित्युक्तम्। रुद्रयामले—

प्रथमं दन्तनिर्मुक्तिरूर्ध्वं बालस्य चेद्भवेत्। क्लेशाय मातुलस्येह तदा प्रोक्ता महर्षिभिः॥
सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं कांस्यमयं तु वा। दध्योदनेन संपूर्तं पात्रं दद्याच्छिशोः करे॥
समन्त्रं भाजनं दत्वा स पश्येन्मातुलः शिशुम्। सालंकारं सवस्त्रं च शिशुमालिङ्ग्य सादरः॥

तत्र मन्त्रः—

"रक्ष मां भागिनेय त्वं रक्ष मे सकलं कुलम्। गृहीत्वा भाजनं सान्नं प्रसन्नो भव मे सदा॥
निर्विघ्नं कुरु कल्याणं निर्विघ्नां च स्वमातरम्।
मय्यात्मानमधिष्ठाप्य चिरं जीव मया सह॥" इति॥

ततोऽभिनन्दयेद्विद्वान् भगिनीं भगिनीपतिम्। होमं कृत्वा तिलाज्येन ब्राह्मणानपि पूजयेत्॥
एवं कृते विधाने तु विघ्नः कोऽपि न जायते॥

अथ त्रिकशान्तिः। गर्गसंहितायाम्—

सुतत्रये सुता चेत्स्यात्तत्रये वा सुतो यदि। मातापित्रोः कुलस्यापि तदानिष्टं महद्भवेत्॥
ज्येष्ठनाशो धने हानिर्दुःखं चैषु महद्भवेत्। तत्र शान्तिं प्रकुर्वीत वित्तशाठ्यविवर्जितः॥

(गदाधर०)

जातस्यैकादशाहे वा द्वादशाहे शुभे दिने। आचार्यमृत्विजो वृत्वा ग्रहयज्ञपुरःसरम् ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रप्रतिमाः स्वर्णतः कृताः। पूजयेद्धान्यराशिस्थकलशोपरि शक्तितः ॥
पञ्चमे कलशे रुद्रं पूजयेद्रुद्रसंख्यया। रुद्रसूक्तानि चत्वारि शान्तिसूक्तानि सर्वशः ॥
आचार्यो जुहुयात्तत्र समिदाज्यतिलांश्चरुम्। अष्टोत्तरसहस्रं तु षट्शतं त्रिशतं तु वा ॥
देवताभ्यश्चतुर्वक्त्रादिभ्यो ग्रहपुरःसरम्। ब्रह्मादिमन्त्रैरिन्द्रस्य यत इन्द्र भजामहे ॥
ततः स्विष्टकृतं हुत्वा बलिं पूर्णाहुतिं ततः। अभिषेकं कुटुम्बस्य कृत्वाऽऽचार्यं प्रपूजयेत् ॥
हिरण्यं धेनुरेका च ऋत्विजां दक्षिणा ततः। आज्यस्य वीक्षणं कृत्वा शान्तिपाठं तु कारयेत् ॥

ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या दीनानाथांश्च तर्पयेत्।
कृत्वैवं विधिना शान्तिं सर्वारिष्टाद्विमुच्यते ॥

अथ दत्तकपुत्रपरिग्रहविधिः। पारिजाते शौनकः—

अपुत्रो मृतपुत्रो वा पुत्रार्थं समुपोष्य च। वाससी कुण्डले दत्त्वा उष्णीषं चाङ्गुलीयकम् ॥
बन्धूनन्नेन सम्भोज्य ब्राह्मणांश्च विशेषतः। अन्वाधानादि यत्तन्त्रं कृत्वाऽऽज्योत्पवनान्तकम् ॥
दातुः समक्षं गत्वा तु पुत्रं देहीति याचयेत्। दाने समर्थो दातास्मै ये यज्ञेनेति पञ्चभिः ॥
देवस्यत्वेति मन्त्रेण हस्ताभ्यां परिगृह्य च। अङ्गादङ्गेत्यृचं जप्त्वा आघ्राय शिशुमूर्द्धनि ॥
गृहमध्ये तमाधाय चरुं हुत्वा विधानतः। यस्त्वाहृदेत्यृचा चैव तुभ्यमग्रऋचैकया ॥
सोमोददद्दित्येताभिः प्रत्यृचं पञ्चभिस्तथा। स्विष्टकृदादिहोमं च कृत्वा शेषं समापयेत् ॥
ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्तव्यः पुत्रसंग्रहः। तदभावेऽसपिण्डो वा अन्यत्र तु न कारयेत् ॥

मिताक्षरादौ तु व्याहृतिभिराज्येन होम उक्तः। तत्रैव वशिष्ठः—'न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा, न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः' इति। यत्तु समन्त्रकहोमस्य पुत्रप्रतिग्रहाङ्गत्वात् व्याहृत्यादिमन्त्रपाठे च स्त्रीशूद्रयोरनधिकारात्तयोर्दत्तकः पुत्रो न भवेत्येवेति शुद्धिविवेके, तन्नेत्यन्ये; भर्तुरनुज्ञया स्त्रिया अपि प्रतिग्रहोक्तेः। यद्यपि मेधातिथिना भार्यात्ववददृष्टरूपं दत्तकत्वं होमसाध्यमुक्तं, स्त्रियाश्च होमासंभवः, तथापि व्रतादिवद्विप्रद्वारा होमादि कारयेदिति हरिनाथादयः। संबन्धतत्त्वेऽप्येवम्। शूद्रस्यापि चैवम्, 'स्त्रीशूद्राश्च सधर्माणः' इति स्मृतेः। अत एव पराशरेण शूद्रकर्तृको होमो विप्रद्वारैवोक्तः। दत्तके विशेषः कालिकापुराणे—

पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते। आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः ॥
चूडोपायनसंस्कारा निजगोत्रेण वै कृताः। दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते ॥
उर्ध्वं तु पञ्चमाद्वर्षान्न दत्ताद्याः सुता नृप। गृहीत्वा पञ्चवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत् ॥ इति ॥

अथ सूतिकास्नानम्। ज्योतिषे—

करेन्द्रभाग्यानिलवासवान्त्यमैत्रैन्दवाश्विध्रुवभेऽह्नि पुंसाम्।
तिथावरिक्ते शुभमामनन्ति प्रसूतिकास्नानविधिं मुनीन्द्राः ॥

हस्तज्येष्ठापूर्वाफल्गुनीस्वातीधनिष्ठारेवत्यनुराधामृगशीर्षाश्विनीरोहिणीषु त्रिपूत्तरासु च सूतिकास्नानमित्यर्थः। पुंसामह्नि रविभौमगुरुवारेषु।

इति जातकर्मविधिः ॥ १६ ॥ ॐ ॥

इति गदाधरकृते गृह्यभाष्ये प्रथमकाण्डे षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

सप्तदशी कण्डिका

दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति ॥ १ ॥ द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ॥ २ ॥ अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम् ॥ शर्म ब्राह्मणस्य, वर्म क्षत्रियस्य, गुप्तेति वैश्यस्य ॥ ४ ॥ चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका ॥ ५ ॥ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ ६ ॥

॥ इति सप्तदशी कण्डिका ॥

(सरला)

नामकरण संस्कार

प्राक्कथन—बच्चे को बुलाने के लिए नाम रखना नामकरण संस्कार कहलाता है। जिसकी विधि इस कण्डिका का विषय है। कुमार को घर से प्रथमतः बाहर निकालने को निष्क्रमण संस्कार कहते हैं। इस कर्म के पहले बालक को कहीं भी बाहर नहीं ले जाया जाता।

व्याख्या—दशम्यां[1] = [बालक के जन्म के] दशवें दिन; उत्थाप्य=[सूतिकागृह से स्त्री को] उठाकर; पिता = पिता; ब्राह्मणान् भोजयित्वा = ब्राह्मणों को खिलाकर; नाम करोति = नाम रखते हैं ॥ १ ॥ द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा = दो अथवा चार वर्णों का [नाम रखना चाहिए]; घोषवत् आदि = नाम के आदि में कोई घोष वर्ण [ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द होना चाहिए] अन्तः अन्तस्थम् = [नाम के] बीच में कोई एक अन्तस्थ वर्ण [य व र ल होना चाहिए] दीर्घाभिनिष्ठानम् = अन्त में दीर्घ या विसर्ग हो; कृतं कुर्यात् न तद्धितम् = कृत् [प्रत्यय से बना हुआ नाम] होना चाहिए; तद्धित [प्रत्यय से बना हुआ] नहीं ॥ २ ॥

हिन्दी—[बालक के जन्म के] दशवें दिन [सूतिका गृह से स्त्री को] उठाकर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर पिता [शिशु का] नाम रखता है ॥ १ ॥ [उस बालक का नाम] दो या चार अक्षर का [होना चाहिए]; [नाम के] आदि में कोई घोष वर्ण हो; बीच में कोई अन्तस्थ वर्ण हो; अन्त में दीर्घ या विसर्ग हो; कृत् [प्रत्यय से बना हुआ नाम] रखना चाहिए, तद्धित [प्रत्यय से बना हुआ] नहीं ॥ २ ॥

व्याख्या—स्त्रियै = लड़की के नाम में; अयुजाक्षरं[2] = विषम अक्षर [३, ५, ७ वर्ण वाले हों] आकारान्तम् = अन्त में आकार [हो और] तद्धितम् = तद्धित [प्रत्ययान्त होना चाहिए] ॥ ३ ॥ शर्म ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा; वर्म क्षत्रियस्य = क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्मा; वैश्यस्य गुप्त इति[3] = और वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त होना चाहिए ॥ ४ ॥ चतुर्थे मासि = जन्म के चौथे महीने में; निष्क्रमणिका = निष्क्रमण नामक संस्कार [अर्थात् सूर्य को

---

१. यह सूतकान्त का उपलक्षण है।
गोभिल गृ. सू. के २।८।१४ में और आश्वलायन के १।१५।४ में भी इसी प्रकार प्राप्त है।

२. अयुज—जो नाम युग्म (जूस) वर्ण वाले न हों; जैसे १, ३, ५, ७।

३. 'शर्मा' यह शब्द मङ्गल का प्रतीक है। 'वर्मा' यह शब्द शूरता का प्रतीक है। 'गुप्त' यह शब्द ऐश्वर्य का प्रतीक है।

(सरला)

दिखाना या घर से बाहर निकलना] करना चाहिए ॥ ५ ॥ इस संस्कार में पिता "तच्चक्षुः⋯" [वाजसनेयिसंहिता ३६ अध्याय २४ मंत्र] इति = इस मंत्र से; सूर्यम् उदीक्षयति = सूर्य को दिखाते हैं ॥ ६ ॥

हिन्दी—बालिका के नाम अयुग्म (अर्थात् ३–५–७ अक्षरवाले) होने चाहिए । उस नाम के अन्त में आकार हो और तद्धित प्रत्ययान्त हो ॥ ३ ॥ ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा; (जैसे विष्णुशर्मा) क्षत्रिय के वर्मा [जैसे लक्ष्मी वर्मा]; वैश्य के गुप्त (जैसे चित्रगुप्त) होना चाहिए ॥ ४ ॥ जन्म से चौथे महीने में निष्क्रमण [नामक संस्कार] होना चाहिए ॥ ५ ॥ इस संस्कार में "तच्चक्षुः⋯" इस मंत्र को पढ़ते हुए पिता सूर्य का दर्शन कराता है ॥ ६ ॥

॥ 'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथम काण्ड की सत्रहवीं कण्डिका की हिन्दी पूर्ण हुई ॥

(हरिहर०)

दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति ॥ प्रसवदिनमारभ्य दशम्यां तिथौ सूतिकां सूतिकागृहादुत्थाप्य नामकरणाङ्गतया ब्राह्मणान् त्रीन् भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा पिता अपत्यस्य नामधेयं करोति । अत्र दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणम् । ततश्च यस्य यावन्ति दिनानि सूतकं तदन्तदिने सूतिकोत्थापनमित्यर्थः, अपरदिने च नामकरणम् । तथा च गोभिलसूत्रम् "दशरात्रे व्युष्टे नामकरणम्" इति । याज्ञवल्क्य-वचनञ्च "अहन्येकादशे नाम" इति ॥ १ ॥

नामकरोतीत्युक्तं, तत्कीदृशमित्यपेक्षयामाह—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितमयुजाक्षरमाकारान्तꣳस्त्रियै तद्धितम् ॥ द्वे अक्षरे यस्य तद् द्व्यक्षरं चत्वार्यक्षराणि यस्य तच्चतुरक्षरम्, अनयोर्विकल्पः । किञ्च घोषवदादि घोषवदक्षरम् आदौ यस्य नाम्नः तद् घोषवदादि । घोषवन्ति चाक्षराणि गघङ जझञ डढण दधन बभम ह इत्येतानि । अन्तरन्तस्थम् अन्तर्मध्ये अन्तस्था यस्य तदन्तरन्तस्थम् अन्तस्था यरलवाः । दीर्घाभिनिष्ठानं दीर्घमप्यहस्वम् अभिनिष्ठानमवसानं यस्य तत् दीर्घाभिनिष्ठानं । कृतं कृत्प्रत्ययान्तं कुमारस्य नामधेयं कुर्यात् । पक्षान्तरे कृतं पितामहादिनाम तत्कुर्यात् । न तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं न कुर्यात् ।

स्त्रियानाम्नि विशेषमाह अयुजाक्षरम् अयुजानि विषमाणि त्र्यादीन्यक्षराणि यस्मिन्नाम्नि तदयुजाक्षरम् आकारान्तम् आकारः अन्ते यस्य तदाकारान्तं तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं स्त्रियै स्त्रिया नाम कुर्यादित्यनुषङ्गः ॥ २ ॥ ३ ॥

अपि च—शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥ ब्राह्मणस्य विप्रस्य पूर्वोक्तलक्षण-नामान्ते शर्मेति, क्षत्रियस्य पूर्वोक्तलक्षणनामान्ते वर्मेति, वैश्यस्य पूर्वोक्त नामान्ते गुप्तेति पदं कुर्यात् । अथवा ब्राह्मणस्य नाम शर्म मङ्गलप्रतिपादकं कुर्यात्, क्षत्रियस्य वर्म शौर्यरक्षावत्ताप्रतिपादकं, वैश्यस्य गुप्ततिधनवत्तापतिपादकं, शूद्रस्य प्रेष्यत्वप्रतिपादक-मिति बोद्धव्यम् ॥ ४ ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ नामकरण प्रयोगः ॥ सूतकान्तद्वितीयदिने नामकरणनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्यु-दयिकं श्राद्धं विधाय अन्यब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा पिता कुमारस्य द्व्यक्षरमित्यादिनोक्त-लक्षणं नाम करोति यथा शिष्टाचारं 'देवराजशर्मा' इत्यादि ॥

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका । कुमारस्य जन्मचतुर्थे मासि निष्क्रमणिका गृहाद्बहिर्निष्क्र-मणं करोति पिता ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति। अथ "तच्चक्षुर्देवहितम्" इत्यादिना "भूयश्च शरदः शतात्" इत्यन्तेन मन्त्रेण श्रीसूर्यं भगवन्तं रश्मिमालिनमुदीक्षयति कुमारं प्रदर्शयति पिता ॥ ६ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ निष्क्रमणप्रयोगः ॥ जन्मदिने जन्मनक्षत्रे वा प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य कुमारस्य गृहान्निष्क्रमणं करिष्ये इति सङ्कल्प्य तदङ्गत्वेन चतुर्थे मासि शुभे दिने मातृपूजाभ्युदयिके विधाय मात्रा अङ्के कृतं कुमारं गृहाद् बहिरानीय 'तच्चक्षुर्देवहितम्' इति मन्त्रेण शिशोः सूर्यस्योदीक्षणं पिता कारयति ॥ १७ ॥

(गदाधर०)

'दशम्या······करोति'। प्रसवाद्दशम्यां रात्र्यामतीतायामेकादशेऽहनि सूतिकागृहात् सूतिकामुत्थाप्य श्राद्धव्यतिरेकेण त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता कुमारस्य नाम संज्ञां संव्यवहारार्थं करोति। अन्यस्मिन्नपि संस्कारे पितुरेवोत्सर्गात्कर्तृत्वम्। इह पितुर्ग्रहणादन्यत्रापि नियमोऽवगम्यते। अत्र दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणम्। तथा च मदनरत्ने नारदीये—

सूतकान्ते नामकर्म विधेयं स्वकुलोचितम्। इति।

ततश्च यस्य यावन्ति दिनानि सूतकं तदन्तदिने कार्यमिति हरिहरः। सूत्रकारवचनादेकादशेऽहन्येवेत्यन्ये। गोभिलसूत्रे—'दशरात्रे व्युष्टे नामकरणम्' इति। याज्ञवल्क्यः— 'अहन्येकादशे नाम' इति। मदनरत्ने विशेषः—

द्वादशे दशमे वाऽपि जन्मतोऽपि त्रयोदशे। षोडशे विंशतौ चैव द्वाविंशे वर्णतः क्रमात् ॥

कारिकायाम्—

एकादशे द्वादशे वा मासे पूर्णेऽथवा परे।
अष्टादशेऽहनि तथा वदन्त्यन्ये मनीषिणः ॥
शतरात्रे व्यतीते वा पूर्णे संवत्सरेऽथवा ॥

ज्योतिर्निबन्धे गर्गः—

अमासंक्रान्तिविष्ट्यादौ प्राप्तकालेऽपि नाचरेत्।

एकादशेऽहनि नामकरणाशक्तौ स्मृत्यन्तरोक्तद्वादशादिकालो ग्राह्यः। तदुक्तं कारिकायाम्—

मुख्यकाले यदा नामधेयं कर्तुं न शक्यते। उक्तानामन्यतमस्मिन्दिने स्यात्तु गुणान्विते ॥१॥

कीदृशं नाम कार्यमित्यत आह—'द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा'। नाम कुर्यादिति शेषः। द्वे अक्षरे यस्य तद् द्व्यक्षरं, चत्वार्यक्षराणि यस्य तच्चतुरक्षरम्, अनयोर्विकल्पः। घोषव'''न तद्धितम्'। घोषवदादि घोषवदक्षरमादौ यस्य तत् घोषवन्तो वर्गान्तास्त्रयो वर्णा यरलवा हश्चोच्यन्ते। ते च—गघङ जझञ डढण दधन बभम यरलव ह इति। अन्तरन्तस्थमन्तर्मध्ये अन्तस्थाः यस्य तत्। अन्तस्था यरलवा उच्यन्ते, एते नाम्नो मध्ये कर्तव्या इत्यर्थः। दीर्घाभिनिष्ठानमभिनिष्ठानं समाप्तिरवसानं दीर्घं यस्य तत्। दीर्घो गुरुरुच्यते। कृतं कुर्यादिति। कृदिति प्रत्ययसंज्ञा, तदन्तं कुर्यात्। अपरे पितामहादिकृतं वर्णयन्ति। न तद्धितम्=तद्धितप्रत्ययान्तं कुमारस्य नाम न कुर्यात्। ततश्चेदृक् नाम कार्यम्— 'भद्रकारि' इति ॥ २ ॥

(गदाधर०)

स्त्रिया नाम्नि विशेषमाह-अयुजा...तद्धितम्। अयुजानि विषमाणि त्र्यादीन्यक्षराणि यस्मिन्नाम्नि तत्, आकारान्तम् आकारोऽन्ते यस्य तत्, तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं च स्त्र्यै स्त्रिया नाम कुर्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥

'शर्म ब्राह्मणस्य'। शर्मशब्दः सुखनीयवचनः सुखनीयं ब्राह्मणस्य नाम कर्तव्यम्, यथा शुभङ्करः प्रियङ्कर इति कर्कः। ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मेत्यनुषङ्गो भवतीति भर्तृयज्ञ-हरिहरौ। 'वर्म क्षत्रियस्य'। वर्मशब्दः शौर्यवचनः, शौर्ययुक्तं क्षत्रियस्य नाम कार्यमिति कर्कः। क्षत्रियनाम्नि वर्मेत्यनुषङ्ग इत्यन्ये। 'गुप्तेति वैश्यकस्य'। गुप्तशब्द आढ्यत्वाभि-धायी वैश्यस्य नाम भवतीति कर्कः। गुप्तेति नाम्नि अनुषङ्ग इत्यन्ये। मनुः—

शर्मान्तं ब्राह्मणस्य स्याद्वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥४॥

'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका'। कुमारस्य जननाच्चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका गृहाद्बहि-र्नयनं कर्तव्यम्। ज्योतिर्निबन्धे—

तृतीये वा चतुर्थे वा मासि निष्क्रमणं भवेत्।
ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यकस्य दर्शनम् ॥
चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम् ॥

अत्र—

सूर्येन्द्वोः कर्मणी ये च तयो श्राद्धं न विद्यते।

इति छन्दोगपरिशिष्टात् छन्दोगानां निष्क्रमणे वृद्धिश्राद्धं नास्तीति कल्पतरुः। व्यासः—

मैत्रे पुष्यपुनर्वसुप्रथमभे पौष्णेऽनुकूले विधौ
हस्ते चैव सुरेश्वरे च मृगभे तारासु शस्तासु च।
कुर्यान्निष्क्रमणं शिशोर्बुधगुरौ शुक्रेऽप्यरिक्तातिथौ
कन्याकुम्भतुलामृगारिभवने सौम्यग्रहालोकिते ॥

मदनरत्ने—

अन्नप्राशनकाले वा कुर्यान्निष्क्रमणक्रियाम् ॥ ५ ॥

'सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति'। गृहाद्बहिर्नयनानन्तरं पिता कुमारं सूर्यं दर्शयति 'तच्चक्षुः' इति मन्त्रेण। 'सूर्यमुदीक्षस्व' इति प्रैष इति गर्गपद्धतौ, तन्मृग्यम् ॥ ६ ॥

इति सप्तदशी कण्डिका ॥ १७ ॥

अथ पदार्थक्रमः—जन्मत एकादशे द्वादशे वा यथाचारं नियतदिने वा नामकरणं कार्यम्। नियतकालेऽपि विष्टिवैधृतिव्यतीपातग्रहणसंक्रान्त्यमावास्याश्राद्धदिनेषु न कार्यम्। नियतकाले क्रियमाणेषु गुरुशुक्रास्तबाल्यवार्धकवक्रातिचारमलमासादिनिषेधो नास्ति। नियतकालातिक्रमे तु ज्योतिशास्त्रोक्ते शुभे काले कार्यम्। सर्वथाऽत्र पूर्वाह्णः प्रशस्तः। प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोर्बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणायुरभिवृ-द्धिव्यवहारसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं नामकरणं करिष्य इति सङ्कल्प्य मातृपूजापूर्व-कमाभ्युदयिकं कृत्वा ब्राह्मणत्रयभोजनं कार्यम्। ततः स्वकुलदेवताभक्त इति नाम कृत्वा जन्मकालीनमासनाम कुर्यात्। तच्च—

(गदाधर०)

कृष्णोऽनन्तोऽच्युतश्चक्री वैकुण्ठोऽथ जनार्दनः ।
उपेन्द्रो यज्ञपुरुषो वासुदेवस्तथा हरिः ॥
योगीशः पुण्डरीकाक्षो मासनामान्यनुक्रमात् ॥

तत्र यथाचारं चैत्रादिर्मार्गशीर्षादिर्वा क्रमः । ततोऽवकहडाख्यज्योतिःशास्त्रोक्तचक्रानुसारेण जन्मनक्षत्रपादप्रयुक्ताक्षरादि नाम, ततो व्यावहारिकं स्वेष्टं नामेति । अत्रायं दाक्षिणात्यशिष्टाचारः—तण्डुलान् कांस्यादिपात्रे प्रसार्य तदुपरि सुवर्णशलाकया कुलदेवताप्रयुक्तममुकभक्त इत्यादि नामचतुष्टयं लेख्यम् । ततो 'नामदेवताभ्यो नमः' इति संपूज्यामुनाम्ना त्वममुकोऽसीति स्वदक्षिणस्थमातुरुत्सङ्गस्थशिशोर्दक्षिणे कर्णे कथयित्वा "मनोजूतिः" इत्यादिमन्त्रपाठान्ते विप्रैर्नाम सुप्रतिष्ठितमस्त्वित्युक्तेऽमुकनाम्नाऽमुकनामाऽयं भवतोऽभिवादयते इत्युक्त्वा नामकर्ता प्रतिनाम विप्रानभिवादयेत् । ते च—'आयुष्मान् भवत्वमुकः' इति वदेयुरिति । ततः कर्ता देवताभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च नत्वा दशसंख्याकान् विप्रान् भोजयेद्दक्षिणां च दद्यात् । विप्राशिषश्च ग्राह्याः । कुमार्या अपि नामकरणममन्त्रकं कार्यम् । इति नामकरणे पदार्थक्रमः । नात्र गर्गमते विशेषः ।

अथ खट्वारोहः । पारिजाते—

खट्वारोहस्तु कर्तव्यो दशमे द्वादशेऽपि वा । षोडशे दिवसे वाऽपि द्वाविंशे दिवसेऽपि वा ॥

ज्योतिर्निबन्धे—

करत्रये वैष्णवरेवतीषु दितिद्वये चाश्विनकध्रुवेषु ।
कुर्याच्छिशूनां नृपतेश्च तद्वदान्दोलनं वै सुखिनो भवन्ति ॥

तत्रैवम्—

आन्दोलाशयने पुंसो द्वादशो दिवसः शुभः ।
त्रयोदशस्तु कन्याया न नक्षत्रविचारणा ॥
अन्यस्मिन्दिवसे चेत्स्यात्तिर्यगास्ये प्रशस्यते ॥

तत्र नामकरणदिने षोडशे द्वात्रिंशेऽन्यस्मिन्वा ज्योतिर्विदादिष्टे शुभे काले यथाचारं कुलदेवतादिपूजां विधायालंकृतं शिशुं हरिद्राद्यलंकृते पर्यङ्के मात्राद्याः सौभाग्ययुक्ताः स्त्रियो योगशायिनं हरिं स्मरन्त्यो गीतवाद्यादिसमकालं प्राक्शिरसं न्यसेयुः । स्वस्वाचारप्राप्तं चान्यदपि कार्यम् ।

अथ दुग्धपानम् । नृसिंहः—

एकत्रिंशद्दिने चैव पयः शङ्खेनपाययेत् । अन्नप्राशननक्षत्रे दिवसोदयराशिषु ॥

अथ ताम्बूलभक्षणम् । चण्डेश्वर—

सार्द्धमासद्वये दद्यात्ताम्बूलं प्रथमं शिशोः । कर्पूरादिकसंयुक्तं विलासाय हिताय च ॥
मूलार्कचित्राकरतिष्यहरीन्द्रभेषु पौष्णे तथा मृगशिरोऽदितिवासरेषु ।
अर्केन्दुजीवभृगुबोधतवासरेषु ताम्बूलभक्षणविधिर्मुनिभिः प्रदिष्टः ॥
कुमारस्यास्मिन्नेव मासे शुभदिने रात्रौ चन्द्रदर्शनं कारयेत् ।
चन्द्रार्कयोर्दिगीशानां दिशां च वरुणस्य च । निक्षेपार्थमिमं दद्मि ते त्वां रक्षन्तु सर्वदा ॥
अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवारात्रमथापि वा । रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः ॥
एवं शिशुरक्षणार्थं देवान् प्रार्थयेत् ॥

अथोपवेशनविधिः । प्रयोगपारिजाते—

पञ्चमे च तथा मासि भूमौ तमुपवेशयेत् । तत्र सर्वे ग्रहाः शस्ता भौमोऽप्यत्र विशेषतः ॥

(गदाधर०)

उत्तरात्रितयं सौम्यं पुष्यर्क्षं शक्रदैवतम् । प्राजापत्यं च हस्तश्च शस्तमाश्विनमित्रभम् ॥

पञ्चममासे शुक्लपक्षे शुभतिथ्यादौ पूर्वाह्णे स्वस्तिवाचनं कृत्वा तत्र शङ्खतूर्यादिमाङ्गलिकध्वनौ क्रियमाणे शिशुमुपवेशयेदित्येतैर्मन्त्रैः ।

रक्षैनं वसुधे देवि सदा सर्वगतं शुभे ।
आयुःप्रमाणं निखिलं निक्षिपस्व हरिप्रिये ॥
अचिरादायुषस्त्वस्य ये केचित्परिपन्थिनः ।
जीवितारोग्यवित्तेषु निर्दहस्वाचिरेण तान् ॥
धारिण्यशेषभूतानां मातस्त्वमधिका ह्यसि ।
कुमारं पाहि मातस्त्वं ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥ इति ।

ततो ब्राह्मणान् पूजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा नीराजनाद्युत्सवं कुर्यात् । एवं कुमार्या अपि ॥

अथ कर्णवेधः

तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथ कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा पुष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु पूर्वाह्णे कुमारस्य मधुरं दत्त्वा प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय दक्षिणं कर्णमभिमन्त्रयते 'भद्रं कर्णेभिः' इति सव्यं 'वक्ष्यन्तीवेद' इति च, अथ भिन्द्यात् । ततो ब्राह्मणभोजनम् ।

मदनरत्ने—

प्रथमे सप्तमे मासि अष्टमे दशमे तथा । द्वादशे च तथा कुर्यात्कर्णवेधं शुभावहम् ॥

हेमाद्रौ व्यासवचनम्—

कार्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा । कर्णवेधं प्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥

कारिकायाम्—

सुनक्षत्रे शुभे चन्द्रे स्वस्थे शीर्षोदये तथा । दिनच्छिद्रव्यतीपातविष्टिवैधृतिवर्जिते ॥

चित्राऽनुराधामृगरेवतीषु पुनर्वसौ पुष्यकराश्विनीषु ।
श्रुतौ धनिष्ठातिषुत्तरासु लग्ने गुरौ लाभनृगे शुभे तत् ॥

मदनरत्ने—

द्वितीया दशमी षष्ठ सप्तमी च त्रयोदशी । द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥
सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः । शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका ॥

हेमाद्रौ देवलः—

कर्णरन्ध्रे रविच्छाया न विशेदग्रजन्मनः । तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुनः पुनः ॥

शङ्खः—

अङ्गुष्ठमात्रसुषिरौ कर्णौ न भवतो यदि । तस्मै श्राद्धं न दातव्यं दत्तं चेदासुरं भवेत् ॥

ततो यथोक्तकाले देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोः कर्णवेधं करिष्ये इति सङ्कल्प्य कुमारं स्नापयित्वा तस्मै शर्करादि मधुरं दत्त्वा 'भद्रं कर्णेभिः' इति दक्षिणकर्णमभिमन्त्र्य 'वक्ष्यन्तीवेद' इति मन्त्रेण सव्यकर्णस्याभिमन्त्रं कुर्यात् । ततः सूच्या दक्षिणकर्णस्य वेधः, ततः सव्यस्य । ततो ब्राह्मणभोजनम् । अत्राभ्युदयिकं केषांचिन्मते नास्ति ॥

॥ इति कर्णवेधपदार्थक्रमः ॥

अष्टादशी कण्डिका

प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत् ॥ १ ॥ पुत्रं दृष्ट्वा जपति—अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि सजीव शरदः शतमिति ॥ २ ॥ अथास्य मूर्द्धानमवजिघ्रति—प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतमिति ॥ ३ ॥ गवां त्वा हिङ्कारेणेति च त्रिः ॥ ४ ॥ दक्षिणेऽस्य कर्णे जपति-अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्ररायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतꣳशरदो जीवसेऽधा अस्मे व्वीरांच्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्निति ॥ ५ ॥ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ॥ पोषꣳ रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳस्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नामिति सव्ये ॥ ६ ॥ स्त्रियै तु मूर्द्धानमेवावजिघ्रति तूष्णीम् ॥ ७ ॥

॥ इति अष्टादशी कण्डिका ॥

(सरला)

प्रवास से आगमन पर कर्म

प्राक्कथन—साग्निक गृहस्थ के प्रवास से आने पर सर्वप्रथम गृह में स्थित स्त्री पुत्रादि के समीप जाने की विधि प्रस्तुत कण्डिका का विषय है ।

व्याख्या—प्रोष्य = परदेश से जाकर [और वहाँ से]; एत्य = आकर; गृहान् = गृह में स्थित स्त्री, पुत्रादि को; पूर्ववत्[1] = पहले की तरह ही [श्रौतसूत्रानुसार "गृहा मा बिभीत···" आदि मंत्रों से] उपतिष्ठते = उपस्थान [स्तुति, प्रार्थना कर्म] करना चाहिए ॥ २ ॥ पुत्रं दृष्ट्वा = पुत्र को देखकर जपति = जपता है "अङ्गादङ्गात्संभवसि = तुम अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न हुए हो; हृदयादधि जायसे = हृदय से उत्पन्न हुए हो; आत्मा वै पुत्र नामाऽसि = तुम आत्मरूप कहे जाने वाले पुत्र हो; स जीव शरदः शतम् = वह तुम सौ शरद ऋतुओं तक जीओ । इति = यह मंत्र है ॥ २ ॥ अथ = इसके बाद, अस्य मूर्धानं = इसके (पुत्र के) सिर को "प्रजापतेष्ट्वा······" इति = इस [मंत्र को पढ़ते हुए]; अवजिघ्रति = सूँघता है । प्रजापतेः = प्रजापति के हिंकारेण त्वा

---

१. पूर्ववत् से तात्पर्य है जैसा श्रौत में कहा गया है । द्रष्टव्य कात्यायन श्रौत ४।२१।३ से २९५ अर्थात् "गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । उर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः" हे गृह मत डरो; मत काँपो; रस (अन्नादि) को धारण करते घरों को हम प्राप्त होते हैं, मैं भी रस को धारण करता हुआ अच्छे मन वाला अच्छी मेधा वाला होकर मन से प्रसन्न होता हुआ तुम घरों को प्राप्त होता हूँ ॥ (यजु ३।४१) ॥ इस मन्त्र से घर को प्राप्त होता है, और "क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳशंयोः शंयोः = क्षेम के लिए, शान्ति के लिए मैं तुम्हें प्राप्त होता हूँ । मुझे कल्याण हो, सुख हो । कल्याण चाहने वाले को सुख चाहने वाले को (यजु० ३।४३) इस मन्त्र से घर में प्रवेश करता है ।

(सरला)

अवजिघ्रामि = हिंकार (स्नेह से आर्द्र 'हिं' शब्द से अथवा सामवेद के रहस्यमय अवयव से) से तुम्हें सूँघता हूँ। सहस्रायुषाऽसौ = हजार गुने जीवन के इस स्थान पर; जीव शरदः शतम् = सौ शरद ऋतुओं तक जीओ ॥ ३ ॥

हिन्दी—परदेश से आकर गृह में स्थित स्त्री, पुत्रादि के समीप पहले की तरह ही उपस्थान [स्तुति, प्रार्थना, कर्म] करना चाहिए ॥ १ ॥ पुत्र को देखकर जपता है 'तुम अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न हुए हो, हृदय से उत्पन्न हुए हो, तुम आत्मरूप कहे जाने वाले पुत्र हो, वह तुम सौ शरद ऋतुओं तक जीओ। ॥ २ ॥ इसके बाद इसके (पुत्र के) सिर को "प्रजापतेष्ट्वा......" इस [मंत्र को पढ़ते हुए] सूँघता है। प्रजापति के हिंकार (स्नेह से आर्द्र 'हिं' शब्द से अथवा सामवेद के रहस्यमय अवयव से) से तुम्हें सूँघता हूँ। हजार गुने जीवन के साथ इस स्थान पर सौ शरद ऋतुओं तक जीओ ॥ ३ ॥

व्याख्या—च = और; त्रिः = तीन बार; "गवां त्वा हिङ्कारेण..." "गायों के हिङ्कार के द्वारा तुम्हें..." इति = इस मंत्र से [चूमना चाहिए] ॥ ४ ॥ अस्य दक्षिण कर्णे = इसके (पुत्र के) दाहिने कान में; अस्मे प्रयन्धि...शिप्रिन् [ऋ० ३।३६।१०] इति जपति = यह मंत्र जपता है। हे मघवन् ऋजीषिन् इन्द्र = हे धनवान् स्निग्ध चित्त इन्द्र ! विश्ववारस्य = सबके द्वारा चाहने योग्य; भूरेः = बहुत (द्वितीयार्थे षष्ठी) रायः = धन; अस्मे प्रयन्धि = हमारे कुमार के लिए दें। जिससे अस्मे जीवसे = हमें जीने के लिए; शरदः शतं धा = सौ शरद ऋतुएँ प्रदान करो। शिप्रिन् इन्द्र = शोभित जबड़ों वाले इन्द्र ! अस्मे शश्वत, वीरान् = हमें बहुत [या दीर्घायु] पुत्रों को देवें ॥५॥ "इन्द्रश्रेष्ठानि......अह्नाम्" [ऋ० २।२१।६] इति = इस मन्त्र को; सव्ये = दक्षिण [कान] में [जपना चाहिए] इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि = हे इन्द्र हमें श्रेष्ठ (मङ्गलकारक) धन दो; चित्तिम् = हमें ज्ञान [या ख्याति दो] अस्मे दक्षस्य सुभगत्वं [धेहि] = हमें प्रजापति की तरह सौभाग्य या सर्वप्रमुखता दो। रयीणां पोषम् = [तुम्हारे दिए हुए] धनों की समृद्धि दो, अरिष्टिं तनूनाम् = शरीरों की (या पुत्रों की) आरोग्यता दो; स्वात्मानं वाचः = वाणी का माधुर्य दो; अह्नाम् = और दिन; सुदिनम् = हमारे लिए सुदिन हों ॥ ६ ॥ स्त्रियै तु = कन्या का तो; तूष्णीम् एव = मौन होकर ही [बिना मंत्र के]; मूर्धानम् अवजिघ्रति = सिर को सूँघता है ॥ ७ ॥

हिन्दी—और तीन बार "गायों हिङ्कार के द्वारा तुम्हें..." इस मंत्र से [चूमना चाहिए] ॥ ४ ॥ इसके [पुत्र के] दाहिने कान में "अस्मे प्रयन्धि......शिप्रिन्" यह मंत्र जपता है। हे धनवान् स्निग्ध चित्त इन्द्र ! सबके द्वारा चाहने योग्य बहुत धन हमारे कुमार के लिए दें। जिससे हमें जीने के लिये सौ शरद ऋतुएँ प्रदान करो। शोभित जबड़ों वाले इन्द्र ! हमें बहुत या दीर्घायु पुत्रों को देवें ॥ ५ ॥ 'इन्द्रश्रेष्ठानि......अह्नाम्" इस मंत्र को दक्षिण [कान] में [जपना चाहिये] हे इन्द्र हमें श्रेष्ठ (मङ्गलकारक) धन दो, हमें ज्ञान [या ख्याति दो] हमें प्रजापति की तरह सौभाग्य या सर्व प्रभुत्व दो। तुम्हारे दिए हुए धनों की समृद्धि दो, शरीरों की [या पुत्रों की] आरोग्यता दो, वाणी का माधुर्य दो, और दिन हमारे लिये सुदिन हों ॥ ६ ॥ कन्या का सिर तो मौन होकर ही [बिना मंत्र के] सूँघता है ॥ ७ ॥

'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथम काण्ड के अट्ठारहवीं कण्डिका की हिन्दी पूर्ण हुई ॥

(हरिहर०)

प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत्। प्रोष्य प्रवासादेत्य गृहान् गृहस्थितान् भार्यापुत्रादीन् उपतिष्ठते प्रार्थयते, कथम् ? पूर्ववत् आहिताग्निप्रवासप्रकरणोक्तवत्। तद्यथा 'गृहा मा बिभीत'

(हरिहर०)

इत्यारभ्य 'उपहूतो गृहेषु न' इत्येतैस्त्रिभिर्मन्त्रैः गृहानुपस्थाय 'क्षेमाय व' इत्यादिना 'शंयोः' इत्यन्तेन मन्त्रेण गृहं प्रविशेत्। केचित्तु सूत्रकारेण गृहोपस्थानमात्रविधानात् मन्त्रवत् प्रवेशं नेच्छन्ति ॥ १ ॥

पुत्रं दृष्ट्वा जपत्यङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतमिति। पुत्रम् आत्मजं दृष्ट्वा विलोक्य "अङ्गादङ्गात्" इत्यादिकं मन्त्रं जपति ॥ २ ॥

अथास्य मूर्धानमवजिघ्रति प्रजापतेष्ट्वेति। अथ जपानन्तरम् अस्य पुत्रस्य मूर्धानं शिरः अवजिघ्रति अवाचीनं जिघ्रति। केन मन्त्रेण? "प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतम्" इत्यन्तेन मन्त्रेण। असावित्यस्य स्थाने अमुकशर्मन्निति पुत्रनामग्रहणम् ॥ ३ ॥

गवां त्वा हिङ्कारेणेति च त्रिः। प्रजापतेष्ट्वेति सकृज्जिघ्रणानन्तरं पुनः "गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतम्" इति मन्त्रेण सकृन्मूर्धानमवघ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति ॥ ४ ॥

दक्षिणेऽस्य कर्णे जपति अस्मे प्रयन्धीति। अस्य पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे श्रवणे "अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्ररायो विश्ववारस्य भूरेः। अस्मे शतꣳ शरदो जीवसेऽधा अस्मे वीरांच्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्" इति मन्त्रं जपति। अथ सव्ये वामकर्णे "इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषꣳ रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳस्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्" इति मन्त्रं जपति ॥ ५-६ ॥

स्त्रियै तु मूर्धानमेवावजिघ्रति तूष्णीम्। स्त्रियाः पुत्रिकायाः मूर्द्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीं विना मन्त्रेण एवकारेण दर्शनजपकर्णजपयोर्निवृत्तिः ॥ ७ ॥ १८ ॥

(गदाधर)

'प्रोष्येत्य'''पूर्ववत्' साग्निकः प्रवासं कृत्वा एत्य गृहान् गृहस्थितान् भार्यापुत्रादीनुपतिष्ठते तत्समीपे स्थित्वा मन्त्रं पठति पूर्ववत् श्रौतवत्। 'गृहा मा बिभीत' इति त्रिभिर्मन्त्रैरित्यर्थः। उपस्थानानन्तरं 'क्षेमाय व' इति प्रवेशनमिति भर्तृयज्ञहरिहरौ। प्रवासश्च साग्निकेन द्रव्यार्जनादिदृष्टकार्यार्थमेव केवलेन पुरुषेण कार्यः, न तु तीर्थयात्राद्यदृष्टकार्यार्थमिति प्रयोगरत्ने ॥ १ ॥

'पुत्रं'''शतमिति'। पुत्रमात्मजं दृष्ट्वा विलोक्य 'अङ्गादङ्गात्' इति मन्त्रं पठति। मन्त्रार्थः—हे पुत्र यतस्त्वमङ्गात्प्रत्यङ्गात्संभवसि उत्पत्स्यसे हृदयादन्तरङ्गादपि अधिकतया जायसे। अतस्त्वं वै निश्चितं पुत्रनामा आत्माऽभिन्नरूपोऽसि। स त्वं शतं शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि ॥ २ ॥

'अथा'''शतमिति'। जपोत्तरमस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं शिरः अवजिघ्रति अवाचीनं जिघ्रति 'प्रजापतेष्ट्वा' इति मन्त्रेण। असाविति तस्यैव नामग्रहणम्। मन्त्रार्थः—हे पुत्र प्रजापतेर्ब्रह्मणः हिङ्कारेण स्नेहार्द्रकृतध्वनिविशेषेण -सामवेदावयवेन वा त्वा त्वामवजिघ्रामि शिरसि चुम्बामि। अतोऽवघ्राणात् हे असौ अमुकशर्मन् सहस्रायुषा सुबहुजीवनेन, शरदः शतमिति उक्तार्थम् ॥ ३ ॥

'गवां'''त्रिः'। गवां त्वेति च मन्त्रेण त्रिरवजिघ्रति। सहस्रायुषेत्यादेरत्राप्यनुषङ्गः। तेन प्रजापतिस्थाने गवां त्वेति पदं मन्त्रे पठेदित्यर्थः। ततश्च गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतमिति मन्त्रेण सकृन्मूर्द्धानमवघ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'दक्षिणे'''शिम्रिन्निति'। अस्य पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे 'अस्मे प्रयन्धि मघवन्' इति मन्त्रं जपति। मन्त्रार्थः—हे मघवन् इन्द्र ऋजीषिन् स्निग्धचित्त हे इन्द्र लोकेश शिम्रिन् सुखद लघुहस्तेति वा। अस्मे अस्मै कुमाराय इन्द्ररायः ऐश्वर्याणि धनानि च प्रयन्धि प्रयच्छ। विश्ववारस्य सर्ववरणीयस्य वराणां समूहो वारं सर्वेषां वाराणां समूहः सर्ववारं तस्येति वा। भूरेः बहुतरस्य। उभयत्र कर्मणि षष्ठी। प्रचुरसर्ववारं रायं प्रयच्छ इत्यर्थः। प्रयोजनमाह—अस्मे अस्य शतं शरदो जीवसे जीवनायेति। किञ्च, अस्मे अस्मिन् वीरान् पुत्रान् शश्वत शाश्वतान् दीर्घायुषः अधाः निधेहि, अस्मै देहीत्यर्थः॥ ५॥

'इन्द्र'''यामिति सव्ये'। सव्यकर्णे इन्द्र श्रेष्ठानीति मन्त्रं जपति। मन्त्रार्थः—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त अस्मे अस्मिन् श्रेष्ठानि सुमङ्गलानि। धेहि स्थापय। चित्तिं ज्ञानं दक्षस्य दक्षप्रजापतेरिव सुभगत्वं सौभाग्यं सर्वप्रभुत्वं च धेहि। तथा रयीणां धनानां पोषं पुष्टिं, तनूनामवयवानामरिष्टिं नीरोगत्वं वाचः वाण्याः स्वात्मानं स्वादुत्वं, (माधुर्यमिति यावत्) अह्नां दिनानां सुदिनत्वं साफल्यं च धेहि॥ ६॥

'स्त्रियै'''तूष्णीम्'। स्त्रियै स्त्रियाः दुहितुः पुत्रिकायाः मूर्द्धानमेव तूष्णीं जिघ्रति न त्वन्यत्। एवकारेण दर्शनजपकर्णजपयोर्निवृत्तिरिति हरिहरः। एवकारकरणं कर्णजपप्रतिषेधार्थकमिति भर्तृयज्ञः॥ ७॥

इति अष्टादशी कण्डिका॥ १८॥

एकोनविंशी कण्डिका

षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्॥ १॥ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति-'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु' स्वाहेति, 'वाजो नो अद्येति' च द्वितीयाम्॥ २॥ स्थालीपाकस्य जुहोति-प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, अपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहेति॥ ३॥ प्राशनान्ते सर्वान् रसान्त्सर्वमन्नमेकतोद्धृत्याथैनं प्राशयेत् तूष्णीꣳहन्तेति वा हन्तकारं मनुष्या इति श्रुतेः॥ ४॥

(सरला)

अन्नप्राशन संस्कार

प्राक्कथन—इस संस्कार में बच्चे को सबसे पहले अन्न खिलाया जाता है। इसी अन्न (भोज्य पदार्थ) प्राशन (अर्थात् खिलाना) की विधि का इसमें वर्णन है। इस संस्कार को किए बिना अन्न नहीं खिलाना चाहिए।

(सरला)

व्याख्या—षष्ठे मासे = [जन्म से] छठवें महीने में; अन्नप्राशनं = अन्नप्राशन [या पहला भोजन) नामक संस्कार करना चाहिए ।] ॥ १ ॥ स्थालीपाकं = चरु रूप हवि को; श्रपयित्वा = पकाकर; आज्यभागौ इष्ट्वा = आधार और आज्यभाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके; "देवीं वाचं···स्वाहा" इति = इस मंत्र से; आज्य = घृत की; आहुतिः = आहुति को; जुहोति = प्रदान करता है। देवाः = प्राणादि वायु देवताओं ने; देवीं वाचम् = दिव्य वाणी को; अजनयन्त = उत्पन्न किया; तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति = उस वाणी को अनेक प्रकार के सञ्चरणशील प्राणी बोलते हैं। सा = वह; मन्द्रा = माधुर्यपूर्ण [हर्षकरी]; सुष्टुता [सुस्तुता] = शोभन मंत्रों द्वारा स्तुति की हुई; इषम् , ऊर्जं = रस और अन्नादिक रूप; दुहाना = दूध देती हुई; धेनु वाक् अस्मान् उपैतु = वाणी रूपी गाय हमें प्राप्त हो। स्वाहा [ऋ० ८।१००।११] ॥ च = और "वाजो नो अद्य···" [यजु० १८।३३] इति = इस मंत्र से; द्वितीयां = दूसरी घृत की आहुति देनी चाहिए ॥ २ ॥

स्थालीपाकस्य = पके हुए चरु रूप हविर्द्रव्य का "प्राणेना···" इति = इन चार मंत्रों से जुहोति = आहुति देता है। प्राणेन अन्नम् अशीय = प्राण वायु से अन्न का मैं भोग करूँ। स्वाहा। अपानेन गन्धानशीय = अपान वायु के द्वारा गन्धों को प्राप्त करूँ। स्वाहा। चक्षुषा रूपाणि अशीय = आँखों से दृश्यमान वस्तुओं का आनन्द प्राप्त करूँ। स्वाहा। श्रोत्रेण यशोऽशीय = कानों से यश का आनन्द प्राप्त करूँ। स्वाहा ॥ ३ ॥ प्राशनान्ते = संस्रव प्राशन के अन्त में (स्वयं खा लेने के बाद); सर्वान् रसान् = सभी मधुर, लवण, तिक्तादिक रसों को और; सर्वम् अन्नम् = सभी प्रकार के अन्नों को; एकतः = एकही थाली में; उद्धृत्य = रखकर; अथ एनं = इस बालक को; प्राशयेत् = खिलाना (या चटाना) चाहिए ॥ तूष्णीं = [बालक को बिना मंत्र के अन्न] चुपचाप; वा = या; 'हन्त' इति = "हन्त" इस शब्द से [खिलाना चाहिए। क्योंकि] इति श्रुतेः = यह श्रुति वचन है कि; "हन्तकारं मनुष्याः···[स्वाहा' अर्थात् 'वषट्' शब्द के द्वारा देवता; 'स्वधा' से पितृगण और] 'हन्त' शब्द के द्वारा मनुष्य भाग पाकर आनन्दित होता है [बृह० उ० ५।८] ॥ ४ ॥

हिन्दी—[जन्म से] छठवें महीने में अन्नप्राशन [(या पहला भोजन) नामक संस्कार करना चाहिये।] ॥ १ ॥ चरुरूप हवि को पकाकर आधार और आज्यभाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके "देवीं वाचं···स्वाहा" इस मंत्र से घृत की आहुति प्रदान करता है। प्राणादि वायु देवताओं ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उस वाणी को अनेक प्रकार के सञ्चरण शील प्राणी बोलते हैं। वह माधुर्य पूर्ण (हर्षकारी) शोभन मंत्रों द्वारा स्तुति की हुई, रस और अन्नादिक रूप दूध देती हुई वाणी रूपी गाय हमें प्राप्त हो। स्वाहा ॥ और "वाजो नो अद्य···" इस मंत्र से दूसरी घृत की [आहुति देनी चाहिये] ॥ २ ॥

पके हुए चरुरूप हविर्द्रव्य का "प्राणेना···" इन चार मंत्रों से आहुति देता है। प्राण वायु से अन्न का भोग मैं करूँ। स्वाहा। अपान वायु के द्वारा गन्धों को प्राप्त करूँ। स्वाहा। आँखों से दृश्यमान वस्तुओं का आनन्द प्राप्त करूँ। स्वाहा। कानों से यश का आनन्द प्राप्त करूँ। स्वाहा ॥ ३ ॥ संस्रव प्राशन के अन्त में (स्वयं खा लेने के बाद) सभी मधुर, लवण, तिक्तादिक रसों को और सभी प्रकार के अन्नों को एक ही थाली में रखकर इस बालक को खिलाना (या चटाना) चाहिए ॥ [बालक को बिना मंत्र के अन्न] चुपचाप या "हन्त" इस शब्द से [खिलाना चाहिये। क्योंकि] यह श्रुति वचन है कि "हन्त" शब्द के द्वारा मनुष्य भाग पाकर आनन्दित होता है ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् । जन्मतः षष्ठे मासे कुमारस्य अन्नप्राशनं कर्म कुर्यात् ॥ १ ॥

स्थालीपाकठं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति । अन्नप्राशनस्येतिकर्त्तव्यताविशेषमाह—स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा आघारावाज्यभागौ हुत्वा द्वे आहुती जुहोति ॥

देवीं वाचमित्यादि वाजो नो अद्येति च द्वितीयाम् इत्यन्तं सूत्रम् । आज्येन 'देवीं वाचम्' इत्यादिकया ऋचा एकामाहुतिं जुहुयात्, 'इदं वाचे' इति त्यागं विधाय चकारात् पुनर्देवीं वाचमित्येतस्यान्ते वाजो नः । यथा, देवीं वाचमिति वाजो नो अद्येति च द्वाभ्यामृग्भ्यां द्वितीयामाज्याहुतिं हुत्वा 'इदं वाचे वाजाय च' इति त्यागं कुर्यात् ॥ २ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति । स्थालीपाकस्य चरोः प्राणेनान्नमशीयेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्रश्चाहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

ततः स्विष्टकृदादिप्राशनान्तं विधाय–सर्वान् रसान् सर्वमन्नमेकतोदधृत्याथैनं प्राशयेत्तूष्णीठं हन्तेति वा हन्तकारं मनुष्या इति श्रुतेः । सर्वान् मधुरादीन् रसान् सर्वमन्नं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादि । एकतोद्धृत्येत्यत्र विसर्जनीयलोपेऽपि पुनः सन्धिरार्षः पृथगुकारोच्चारणं वा । एकतः एकस्मिन् पात्रे उद्धृत्य कृत्वा, अथ अनन्तरम् एनं कुमारं प्राशयेत् तूष्णीं मन्त्ररहितम् । 'हन्त' इति वा मन्त्रेण । कुतः ! 'हन्तकारं मनुष्याः' इति श्रुतेः । हन्तकारं मनुष्या उपजीवन्ति इति श्रवणात् ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्' । जन्मतः षष्ठे मासे कुमारस्यान्नप्राशनाख्यं कर्म कुर्यात् । नारदः—

जन्मतो मासि षष्ठे स्यात् सौरेणान्नाशनं परम् । तदभावेऽष्टमे मासि नवमे दशमेऽपि वा ॥
द्वादशे वाऽपि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम् । संवत्सरे वा संपूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ॥
षष्ठे वाऽप्यष्टमे मासि पुंसां, स्त्रीणां तु पञ्चमे । सप्तमे मासि वा कार्यं नवान्नप्राशनं शुभम् ॥
रिक्तां दिनक्षयं नन्दां द्वादशीमष्टमीममाम् । त्यक्त्वाऽन्यतिथयः प्रोक्ताः सितजीवज्ञवासराः ॥
चन्द्रवारं प्रशंसन्ति कृष्णे चान्त्यत्रिकं विना ।

श्रीधरः—आदित्यतिष्यवसुसौम्यकरानिलाश्विचित्राजविष्णुवरुणोत्तरपौष्णमित्राः ।
बालान्नभोजनविधौ दशमे विशुद्धे छिद्रां विहाय नवमीं तिथयः शुभाः स्युः ॥

वसिष्ठः—बालान्नभुक्तौ व्रतबन्धने च राजाभिषेके खलु जन्मधिष्ण्यम् ।
शुभं त्वनिष्टं सततं विवाहे सीमन्तयात्रादिषु मङ्गलेषु ॥ १ ॥

'स्थालीपा''' जुहोति' । स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वाऽऽज्यभागौ हुत्वा द्वे आज्याहुती वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहोति ।

'देवीं वाच''' द्वितीयाम्' । द्वे आहुतीर्जुहोतीत्युक्तं, तत्र 'देवीं वाचमजनयन्त' इति मन्त्रेणैकामाहुतिं जुहोति, 'वाजो नो अद्य'[1] इति च द्वितीयाम् । चशब्दात् पूर्वया ऋचा सह

---

(१) "वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयठं स्वाहा" इति मन्त्रः ।

मन्त्रार्थः—अद्य अस्मिन् दिने वाजः अन्नमन्नाधिष्ठात्री देवता नः अस्मान् प्रसुवाति प्रेरयतु अनुजानातु । वाजः ऋतुभिः कालैः सह देवान् कल्पयाति यथास्थानं कल्पयतु । हि चकारार्थो वाजश्च मा मां सर्ववीरं सर्वे वीराः पुत्रपौत्रादयः यस्य सः सर्ववीरस्तादृशं जजान जनयतु । ततो वाजपतिः समृद्धान्नः सन्नहं विश्वा आशा सर्वा दिशो जयेयम् ।

(गदाधर०)

वाजो नो अद्येत्यनया द्वितीयामाहुतिं जुहोति। ततश्च 'देवीं वाचम्' इति 'वाजो नो अद्य' इति च द्वाभ्यामृग्भ्यां द्वितीयामाहुतिं जुहोतीत्यर्थः। मन्त्रार्थः—देवीं देवसम्बन्धिनीं वाचं वाणीं देवाः प्राणादिवायवः अजनयन्त उत्पादितवन्तः। ततस्तां देवीं वाचं विश्वरूपाः नानारूपाः ऋषिमुनिब्राह्मणादयः पशवः संसरणत्वाद् वदन्ति, 'पशुरेवं स देवानाम्' इति श्रुतेः। सा नो अस्मान् उपैतु संनिहिताऽस्तु। किम्भूता? मन्द्रा हर्षकरी, इषं रसम् ऊर्जं अन्नादि च दुहाना, सुष्टुता शोभनैर्मन्त्रैः तद्द्रष्टृभिर्वा स्तुता। तत्र दृष्टान्तः—वत्सान् धेनुरिवेति ॥ २ ॥

'स्थालीपा'''स्वाहेति'। स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी। स्थालीपाकस्य चरोः 'प्राणेनान्नमशीय स्वाहा' इति, प्रतिमन्त्रं चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति। ततः स्विष्टकृदादिप्राशनान्तम्। मन्त्रार्थः—प्राणेन वायुनाऽन्नमशीय अहं प्राप्नुयाम् लभेयम्। अपानेन वायुना गन्धान् परिमलान् लभेयम्। एवमग्रेऽपि योज्यम् ॥ ३ ॥

'प्राशनान्ते'''श्रुतेः। प्राशनान्ते कर्मणि सर्वान् रसान् कटुमधुरतिक्तकषायादीन् सर्वमन्नं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं पेयं चैकतां एकस्मिन् सुवर्णादिपात्रे उद्धृत्यार्थेनं कुमारं तस्मादन्नं गृहीत्वा तूष्णीं प्राशयेत्। हन्तेति मन्त्रेण वा प्राशयेत्, "तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च, हन्तकारं मनुष्याः, स्वधाकारं पितरः" इति श्रवणात्। श्रुतिरपि च लिङ्गभूता स्मरणस्य द्योतिका भवति। नन्वग्रमुद्धृत्य ब्राह्मणाय दीयते तत्र कृतार्थमेतद्दर्शनमिति चेत्, मैवम् उभयोर्द्योतिका भविष्यति। एकतोद्धृत्येत्यत्र छान्दसः सन्धिः।

मार्कण्डेयः—देवतापुरतस्तस्य धात्र्युत्सङ्गगतस्य च।
अलंकृतस्य दातव्यमन्नं पात्रे सकाञ्चनम् ॥
मध्वाज्यदधिसंयुक्तं प्राशयेत् पायसं तु वा इति ॥ ४ ॥

भारद्वाज्यामाᳬंसेन वाक्प्रसारकामस्य ॥ ५ ॥ कपिञ्जलमाᳬंसेन्नाद्यकामस्य ॥ ६ ॥ मत्स्यैर्जवनकामस्य ॥ ७ ॥ कृकषायाआयुष्कामस्य ॥ ८ ॥ आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य ॥ ९ ॥ सर्वैः सर्वकामस्य ॥ १० ॥ अन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनमन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ११ ॥

॥ इत्येकोनविंशी कण्डिका ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीपारस्करविरचिते गृह्यसूत्रे प्रथमः काण्डः समाप्तः ॥

(सरला)

व्याख्या—वाक् प्रसार कामस्य = [यदि पिता पुत्र में] वाणी के प्रसार (Fluency) की कामना करता है तो वह, भारद्वाज्या मांसेन = भारद्वाजी पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ५ ॥ अन्नाद्यकामस्य = बालक शीघ्र भोजन करने लगे इस इच्छा वाले पिता को; कपिञ्जलमांसेन = कपिञ्जल [तीतर, चातक या मयूर] के मांस के साथ [अन्न खिलाना चाहिए

(सरला)

॥ ६ ॥ जवनकामस्य = [यदि पिता बालक के] शीघ्र चलने की इच्छा करता है तो वह, मत्स्यैः = मछली के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ७ ॥ आयुष्कामस्य = [यदि पिता] आयु की वृद्धि चाहता है तो वह; कृकषाया = हारिल पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ८ ॥ ब्रह्मवर्चसकामस्य = ब्रह्मवर्चस [विद्या में तेजस्वी होने] की कामना हो तो; आट्या = आटी [जल] पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ९ ॥ सर्वकामस्य = पूर्वोक्त सभी गुण की इच्छा हो तो वह; सर्वैं = पूर्वोक्त सभी मांसादि से अन्नप्राशन संस्कार करे ॥ १० ॥ अन्नपर्याय वा = या प्रत्येक [प्रकार के] अन्न को एक साथ मिलाकर [खिलाना] चाहिए। ततो ब्राह्मण भोजनम् = सभी कर्मों के बाद ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए। अन्न पर्याय वा ततो ब्राह्मण भोजनम् = सभी अन्न को मिलाकर खिलाना चाहिए फिर ब्राह्मण भोजन करना चाहिए ॥ ११ ॥ [यहाँ काण्ड की समाप्ती के कारण द्विरुक्ति है]

हिन्दी—[यदि पिता पुत्र में] वाणी के प्रसार की कामना करता है तो वह भारद्वाजी पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ५ ॥ बालक शीघ्र भोजन करने लगे इस इच्छा वाले पिता को कपिञ्जल [तीतर, चातक या मयूर] के मांस के साथ [अन्न खिलाना चाहिये] ॥ ६ ॥ [यदि पिता बालक के] शीघ्र चलने की इच्छा करता है तो वह मछली के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ७ ॥ [यदि पिता] आयु की वृद्धि चाहता है तो वह हारिल पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ८ ॥ ब्रह्मवर्चस [विद्या में तेजस्वी होने] की कामना हो तो आटी [जल] पक्षी के मांस के साथ [अन्न खिलाए] ॥ ९ ॥ पूर्वोक्त सभी गुण की इच्छा हो तो वह पूर्वोक्त सभी मांसादि से अन्नप्राशन संस्कार करें ॥ १० ॥ या प्रत्येक [प्रकार के] अन्न को एकसाथ मिलाकर [खिलाना चाहिए]। सभी कर्मों के बाद ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए। सभी अन्न को मिलाकर खिलाना चाहिए और ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए ॥ ११ ॥

॥ इस प्रकार 'सरला' हिन्दी व्याख्या में प्रथम काण्ड की उन्नीसवीं काण्डिका की हिन्दी पूर्ण हुई ॥

इस प्रकार पारस्कर विरचित गृह्यसूत्र के प्रथम काण्ड की कवितार्किक ब्रह्मश्री पं. रामकुबेर मालवीय (भूतपूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय) के आत्मज डा. सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

(हरिहर०)

भारद्वाज्यामांसेन वाक्प्रसारकामस्य, कपिञ्जलमांसेनान्नाद्यकामस्य, मत्स्यैर्जवनकामस्य, कृकषाया आयुष्कामस्याट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य सर्वैः सर्वकामस्य। अत्र गुणफलमाह—भारद्वाज्याः पक्षिण्याः मांसेन कुमारस्य प्राशनं कारयितव्यं यदीयं कामना भवति। कस्य ? पितुः। कथम्भूतस्य ? वाक्प्रसारकामस्य वाचः प्रसारो बहुत्वं तत्कुमारस्य कामयते इति वाक्प्रसारकामः तस्य, कर्त्तरि षष्ठी कृत्यप्रत्ययान्तत्वात्। एवमन्नाद्यकामस्य कपिञ्जलमांसेन, एवमुत्तरत्रापि। अयमर्थः—यदि कुमारः अयं वाग्मी स्यादिति कामयेत् तदा भारद्वाज्या मांसं प्राशयेत्, यदि कुमारोऽन्नादः स्यादिति कामयेत् तदा कपिञ्जलमांसं प्राशयेत्, कपिञ्जलः कारण्डवो भैरिर्वा मयूरो वा केचित्तित्तिरो वेति। यदि कुमारोऽयं जवनः शीघ्रगामी

(हरिहर०)

स्यात्तदा यथासम्भवं मत्स्यान् प्राशयेत्, स यदि कुमारः दीर्घायुः स्यादिति कामयेत् तदा कृकषाया मांसं प्राशयेत्, यदि कुमारो ब्रह्मवर्चस्वी स्यादिति कामयेत् तदा आट्या मांसं प्राशयेत्; यदि वाक्प्रसारादीनि ब्रह्मवर्चसान्तानि सर्वाणि कुमारस्य भवन्त्विति कामयेत् तदा भारद्वाज्यादीनामाट्यन्तानां सर्वाणि मांसानि क्रमेण प्राशयेत् ॥ ५-१० ॥

अन्नपर्याय वा । अन्नपरिपाट्या वा अन्नवदेकीकृत्य प्राशयेदित्यर्थः । अन्नपर्यायेति अविभक्तिकमार्षं पदम् । ततो ब्राह्मणभोजनम् । ततः कर्मसमाप्तौ एकस्य ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यम् । अत्र काण्डपरिसमाप्तौ द्विरुक्तिः । यथा कात्यायनसूत्रे अध्यायपरिसमाप्तौ 'उपस्पृशेदप उपस्पृशेदप' इति ॥ ११ ॥

इति सूत्रार्थः ।

अथ अन्नप्राशनप्रयोगः—कुमारस्य षष्ठे मासे चन्द्रताराद्यनुकूले शुभे दिने मातृपूजापूर्वकं नान्दीमुखश्राद्धं विधाय पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं विदध्यात् । तत्र आज्येन देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहेति प्रथमाम् । इदं वाचे इति त्यागं विधाय पुनर्देवीं वाचमित्येतस्यान्ते वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयᳪं स्वाहेति द्वितीयाम् । इदं वाचे वाजाय इति च त्यागं कुर्यात् । अथ स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति । तद्यथा, प्राणेनान्नमशीय स्वाहा । इदं प्राणाय० । अपानेन गन्धानशीय स्वाहा । इदमपानाय० । चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा । इदं चक्षुषे० । श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा । इदं श्रोत्राय० । ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीराज्येन हुत्वा संस्रवप्राशनं दक्षिणादानान्तं कृत्वा सर्वान् रसान् सर्वं चान्नमेकस्मिन् पात्रे समुद्धृत्य सकृदेव कुमारं तूष्णीं प्राशयेत्, 'हन्त' इति वा मन्त्रेण । स यदि कुमारस्य वाग्मित्वमिच्छेत्तदा भारद्वाज्या मांसं प्राशयेत्, यद्यन्नाद्यत्वं कामयेत् तदा कपिञ्जलमांसं, यदि जवनत्वं तदा मत्स्यमांसं, यदि दीर्घायुष्ट्वं तदा कृकषायाः मांसं, यदि ब्रह्मवर्चसं तदा आट्या मांसं, यदि सर्वकामस्तदा सर्वमांसानि क्रमेण प्राशयेत्, एकीकृत्य वा । अस्य कर्मणः समृद्ध्यर्थं ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये इति संकल्प्य ब्राह्मणं भोजयेत् ।

॥ इत्यन्नप्राशनम् ॥

॥ इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ प्रथमकाण्डः समाप्तः ॥ १ ॥

(गदाधर०)

गुणफलमाह—'भारद्वाज्या'''कामस्य' । भारद्वाजी पक्षिणीविशेषः 'चिठीका' इति प्रसिद्धा । तस्याः मांसेन वाक्प्रसारः अयं कुमारो वाग्मी स्यादित्येवं कामो यस्मिन् कुमारे तस्य प्राशनं कुर्यात् ॥ ५ ॥

'कपिञ्ज'''कामस्य' । कपिञ्जलः पक्षिविशेषः प्रसिद्धः । यद्ययं कुमारोऽन्नादः स्यादिति कामयेत्तदा कपिञ्जलमांसेन प्राशनं कुर्यात् । एवमग्रेऽपि योज्यम् ॥ ६ ॥

'मत्स्यै'''मस्य' । जवनः शीघ्रगामी स्यादिति कामयेत्, तदा मत्स्यानां मांसेन प्राशनं कुर्यात् ॥ ७ ॥

'कृकषा'''मस्य'। कृकषां कङ्कणहारिका तन्मांसेन दीर्घायुष्कामस्य प्राशनम् ॥ ८ ॥

'आत्या'''मस्य'। आटिर्जलचरः पक्षी, तन्मांसेन ब्रह्मवर्चसकामस्य प्राशनं कुर्यात् ॥९॥

'सर्वैः सर्वकामस्य'। यो वाक्प्रसारादिसर्वान् कामान् कामयते, तस्य भारद्वाज्यादिसर्वैर्मांसैः क्रमेण प्राशनं कुर्यात्। मिश्रैः प्राशनमिति भर्तृयज्ञः ॥ १० ॥

'अन्नपर्या'''भोजनम्'। अन्नपरिपाट्या वाऽन्नवत् सर्वमांसान्येकीकृत्य प्राशयेदित्यर्थः। अन्नपरिपाट्या वा क्रमेण प्राशयेन्नैकत उद्धृत्येति भर्तृयज्ञः। अन्नपर्यायेत्यविभक्तिकं छान्दसं पदम्। तत इत्युक्तार्थम्। द्विरुक्तिः काण्डसमाप्तिसूचनार्था ॥ ११ ॥

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे एकोनविंशी कण्डिका ॥ १९ ॥

अथ पदार्थक्रमः—

जन्मतः षष्ठे मासे रेवत्यश्विनीरोहिणीमृगशिरःपुनर्वसुपुष्यहस्तचित्राश्रवणधनिष्ठोत्तरात्रयेषु बुधजीवभानुवारेषु शुभे चन्द्रे पूर्वाह्णे पित्रादिः शिशोरन्नप्राशनं कारयेत् षष्ठे च क्रियते तदा गुरुशुक्रभौमादिदोषोऽधिकमासादिदोषश्च नास्ति। पित्रादिः सभार्यः शिशोर्मङ्गलस्नानं कारयित्वा देशकालौ स्मृत्वा ममास्य शिशोर्मातृगर्भमलप्राशनशुद्ध्यन्नाद्यब्रह्मवर्चसतेजइन्द्रियायुर्लक्षणफलसिद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थमस्य कुमारस्यान्नप्राशनाख्यं कर्माहं करिष्ये। ततः स्वस्तिवाचनाभ्युदयिके कृत्वा पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम्। वैकल्पिकावधारणे हन्तेति प्राशनमिति विशेषः। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं तत आज्येन 'देवीं वाचम्' इति प्रथमाहुतिः। इदं वाचे न मम। पुनः 'देवीं वाचं' 'वाजो नो अद्य' इति मन्त्राभ्यां आज्येन द्वितीयाहुतिः। इदं वाचे वाजाय न मम। ततः स्थालीपाकेन चतस्र आहुतयः—प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, इदं प्राणाय न०। अपानेन गन्धानशीय स्वाहा, इदमपानाय०। चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, इदं चक्षुषे न०। श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा, इदं श्रोत्राय न०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृद्धोमः। ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतयः। ततः संस्रवप्राशनम्। पवित्राभ्यां मार्जनम्। पवित्रप्रतिपत्तिः। ब्रह्मणे पूर्णपात्रदानम्। प्रणीताविमोकः। ततः सर्वान् रसान् सर्वमन्नं चैकस्मिन् पात्रे उद्धृत्य सकृदेव 'हन्त' इति मन्त्रेण कुमारं प्राशयेत्। काम्यं यथोक्तम्। एकब्राह्मणभोजनम्। ततो दशब्राह्मणभोजनम्। बालं भूमावुपवेश्य तदग्रे पुस्तकवस्त्रशस्त्रादिशिल्पानि विन्यस्य जीविकापरीक्षां कुर्यात्। शिशुः स्वेच्छया यत्प्रथमं स्पृशेत् साऽस्य जीविकेति विद्यात्। तदुक्तं कारिकायाम्—

कृतप्राशनमुत्सङ्गाद्धात्री बालं समुत्सृजेत्। कार्यं तस्य परिज्ञानं जीविकाया अनन्तरम् ॥
देवताग्रेऽथ विन्यस्य शिल्पभाण्डानि सर्वशः। शास्त्राणि चैव शस्त्राणि ततः पश्येत्तु लक्षणम् ॥
प्रथमं यत्स्पृशेद् बालस्ततो भाण्डं स्वयं तदा। जीविका तस्य बालस्य तेनैवेति भविष्यति ॥
गर्भाधानादिका अन्नप्राशनान्ता मलिम्लुचे। आकर्णवेधाः स्युः क्रिया नान्या इत्याह भास्करः॥

कुमार्या अप्येतदमन्त्रकं कार्यम्। इत्यन्नप्राशने पदार्थक्रमः।

शर्गमते प्राणापानाय चक्षुषे श्रोत्राय जुष्टं गृह्णामीति चरुग्रहणम्। प्रोक्षणे स्वाधिकः। अन्यत् समानम् ॥

(गदाधर०)

अथ वर्द्धापनविधिः । आदित्यपुराणे—

सर्वैश्च जन्मदिवसे स्नातैर्मङ्गलवारिभिः । गुरुदेवाग्निविप्राश्च पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ इति ॥
स्वनक्षत्रं च पितरस्तथा देवः प्रजापतिः । प्रतिसंवत्सरं यत्नात् कर्तव्यश्च महोत्सवः ॥

स्वनक्षत्रं स्वनक्षत्रदेवता । स्वनक्षत्रं वित्तपश्चेति क्वचित्पाठः । तदा वित्तपः कुबेरः ।

अथ प्रयोगः—तत्र वर्षपर्यन्तं प्रतिमासं ततः प्रतिवर्षं तिलतैलेनैव स्नात्वा शुक्लवस्त्रयुगं परिधायाचान्तो गृहाभ्यन्तरत उपविश्य कुशयवजलान्यादाय ॐ अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्यकामो मार्कण्डेयादीनां पूजनमहं करिष्य इति सङ्कल्प्य तत्र निर्विघ्नार्थं गणपतिपूजनमहं करिष्ये । ॐ गणपतये नमः इति गन्धादीनि दत्त्वा प्रणम्य गणपते क्षमस्वेति विसर्जयेत् । एवम् गौरीं, पद्मां, शचीं, मेधां, सावित्रीं, विजयां, जयां, देवसेनां, स्वधां, स्वाहां, मातॄः, लोकमातॄः, धृतिं, पुष्टिं, तुष्टिं, आत्मनः कुलदेवतां पूजयेत् । ततो घृतेन वसोर्द्धारां कुर्यात् । ततः ॐ गणपतये नमः, दुर्गायै नमः, कुलदेवतायै नमः, गुरुभ्यो नमः, देवताभ्यो नमः, अग्नये नमः, विप्रेभ्यो नमः, मातृभ्यो नमः, पितृभ्यो नमः, सूर्याय नमः, चन्द्राय नमः, मङ्गलाय नमः, बुधाय नमः, बृहस्पतये नमः, शुक्राय नमः, शनैश्चराय नमः, राहवे नमः, केतवे नमः, पञ्चभूतेभ्यो नमः, कालाय नमः, युगाय नमः, संवत्सराय नमः, मासाय नमः, पक्षाय नमः, अस्मज्जन्मतिथये नमः, अस्मज्जन्मनक्षत्राय नमः, अस्मज्जन्मराशये नमः, शिवायै नमः, सम्भूत्यै नमः, प्रीत्यै नमः, संतत्यै नमः, अनुसूयायै नमः, क्षमायै नमः, विष्णवे नमः, भद्रायै नमः, इन्द्राय नमः, अग्नये न०, यमाय न०, निर्ऋतये न०, वरुणाय न०, वायवे न०, धनदाय न०, ईशानाय न०, अनन्ताय न०, ब्रह्मणे नमः इति सम्पूज्य 'षष्ठिके इहागच्छेह तिष्ठ' इत्यावाह्य पाद्यादिकं दत्त्वा ।

'ॐ जगन्मातर्जगद्धात्रि जगदानन्दकारिणि । प्रसीद मम कल्याणि नमोऽस्तु षष्ठिदेवते ॥'

इति मन्त्रेण पुष्पाञ्जलित्रयेण सम्पूज्य गन्धादिकं दत्त्वा वरं प्रार्थयेत्—

रूपं देहि यशो देहि भद्रं भगवति देहि मे । पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वान् कामांश्च देहि मे ॥

इति वरं प्रार्थ्य प्रणम्य विसर्जयेत् । ततश्चन्दनेनाष्टदलं कृत्वा अक्षतानादाय ॐ भगवन्मार्कण्डेय इहागच्छेह तिष्ठेत्यावाह्य स्थापयित्वा पाद्यादीनि दत्त्वा इदमनुलेपनम् ॐ मार्कण्डेयाय नमः इति चन्दनं दत्त्वा—

ॐ आयुःप्रद महाभाग सोमवंशसमुद्भव । महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते ॥

इति पुष्पाञ्जलित्रयेण सम्पूज्य गन्धादीनि दत्त्वा वरं प्रार्थयेत्—

'ॐ मार्कण्डेयाय मुनये नमस्ते महदायुषे । चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने ॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन । आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव ॥
नराणामायुरारोग्यैश्वर्यसौख्यैः सुखप्रदः । सौम्यमूर्ते नमस्तुभ्यं भृगुवंशवराय च ॥
महातपो मुनिश्रेष्ठ सप्तकल्पान्तजीवन । मार्कण्डेय नमस्तुभ्यं दीर्घायुष्यं प्रयच्छ मे ॥
मार्कण्डेय महाभाग प्रार्थये त्वां कृताञ्जलिः । चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्येऽहं तथा मुने ॥'

इति वरं प्रार्थ्य प्रणम्य अश्वत्थाम्ने नमः, बलये नमः, व्यासाय नमः, हनूमते नमः विभीषणाय नमः, कृपाय नमः, परशुरामाय०, कार्तिकेयाय०, जन्मदेवतायै०, स्थान-

(गदाधर०)

देवतायै०, प्रत्यधिदेवतायै०, वासुदेवाय०, क्षेत्रपालाय०, पृथिव्यै०, अद्भ्यो नमः, तेजसे०, वायवे०, आकाशाय० इत्यष्टदिग्भागे संपूज्य ।

प्रीयन्तां देवताः सर्वाः पूजां गृह्णन्तु ता मम । प्रयच्छन्त्वायुरारोग्यं यशः सौख्यं च सम्पदः ॥
मन्त्रहीनं भक्तिहीनं क्रियाहीनं महामुने । यदर्चितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥

इति पठित्वा तिलवपनम् । ब्राह्मणाय तिलदानम् । देयद्रव्याणि सम्पूज्य कुशत्रयतिलजलान्यादाय अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्ट्वकाम एतांस्तिलान् सोमदैवतान् यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे इति दद्यात् । ततो घृताक्ततिलैर्व्याहृतिभिर्होमः । ततः पयसा 'सर्वभूतेभ्यो नमः' इति बलिं दद्यात् । 'तण्डुलेभ्यो नमः' इति सम्पूज्य जलेन सिक्त्वा कुशत्रयतिलजलान्यादाय अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्ट्वकाम एतान् सोपकरणान् तण्डुलान् यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे । 'घृताय नमः' इति घृतं सम्पूज्य जलेन सिक्त्वा अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्ट्वकाम इदं घृतं प्रजापतिदैवतं यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे । ततस्तिलगुडसहितदुग्धपानम् ।

तत्र मन्त्रः—
'सतिलं गुडसंमिश्रं अञ्जल्यर्द्धमितं पयः'

'अञ्जल्यर्द्धमितं क्षीरं सतिलं गुडमिश्रितम् । मार्कण्डेयवरं लब्ध्वा पिबाम्यायुष्यहेतवे ॥'

इति तिलगुडसहितं दुग्धं पीत्वाऽऽचम्य मार्कण्डेयाय नमः, गोभ्यो नमः, ब्राह्मणेभ्यो नमः, इति प्रणम्य मार्कण्डेय क्षमस्वेति विसर्जयेत् ।

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः । कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥
सप्तैतांश्च स्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् । जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः ॥

इति वचनादश्वत्थामादिमार्कण्डेयान्तानष्टौ स्मरेत् । इदं च वर्द्धापनं यदि जन्ममासोऽसङ्क्रान्तस्तदा शुद्धमास एव कार्यं न त्वधिके । इदं वर्द्धापनं यावद्बाल्यं पित्रादिभिः कार्यम् । पश्चात्तु प्रतिवर्षं स्वयमेवेति । ग्रन्थान्तरे तु माङ्गल्यस्नानं कृत्वा कुमुदादिदेवताः सम्पूज्य यथाशक्ति ब्राह्मणभोजनं दक्षिणां च दत्त्वा सुवासिनीभिर्नीराजितो धृतनूतनवस्त्रो ब्राह्मणीभ्यः शिशुस्पर्शापूपपूरिकाः साज्याः कुमुदादिप्रीतये आयुर्वृद्धये च वायनादि दद्यात् । जन्मर्क्षदेवताप्रीत्यै च दद्यात् । वर्षान्ते सुदृढद्वादशवंशपेटिकाः सुमोदकादिखाद्यं निधाय नूतनवस्त्राच्छादिताः जीवत्पतिपुत्राभ्यो दत्त्वा तदाशिषो गृह्णीयात् । इदं सर्वं जीवन्ती मातैवापत्यायुषे कुर्यात् ।

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षित-
गदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डं समाप्तम् ॥
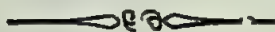
परिशिष्ट १.

सूत्रान्तर्गत नामों एवं विषयों की

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट २.

भाष्यान्तर्गत ग्रन्थ और ग्रन्थकार की अनुक्रमणिका

परिशिष्ट ३.

मन्त्रानुक्रमः

परिशिष्ट ४.

सूत्रानुक्रमः

सूत्रम्	का.	कं.	सू.
अग्नये स्वाहा प्र०	१	९	४
अग्निरैतु प्रथमो०	१	५	७१
अग्निर्भूतानामधि०	१	५	१०
अग्ने प्रायश्चित्ते०	१	११	२
अग्न्याधेयदेव०	१	२	७
अथ गाथां गायति०	१	७	२
अथ परिक्रामतः०	१	७	३
अथ पश्चात्प्रत्यायु०	१	७	१५
अथ पुंसवनम्	१	१४	१
अथ चतुर्थ्यामपररात्रे०	१	३	२९
अथ सीमन्तोन्नय०	१	१५	१
अथातो गृह्यस्थाली०	१	१	१
अथावरावपतन०	१	१६	२
अथास्य मातरम्	१	१३	११
अथास्य मूर्धा०	१	१८	३
अथास्यायुष्यं क०	१	१६	५
अथास्यै दक्षिणं	१	१६	१६
अथास्यै दक्षिणं हस्तं	१	६	३
अथास्यै दक्षिणा	१	८	८
अथास्यै दक्षिणाद्ंस०	१	११	९
अथाह वीणागाथिनौ	१	१५	७
अथैनमभिमृ०	१	१२	१४
अथैनामभिमन्त्र०	१	८	९
अथैनामश्मानमारो०	१	७	१
अथैनामुदीचीम्	१	८	१
अथैनां वासः परि०	१	४	१३
अथैनां सूर्यमुदी०	१	८	७
अथैनां स्थालीपा०	१	११	५
अथैनौ समञ्ज०	१	४	१५
अथैनौ समीक्षय०	१	४	१७
अथोत्तरीयं या०	१	४	१४
अधियज्ञमधिवि०	१	३	३१
अधिरथं शतं०	१	८	१८

सूत्रम्	का.	कं.	सू.
अनामिकया सु०	१	१६	४
अनामिकाङ्गुष्ठे०	१	३	२०
अन्नपर्याय वा०	१	१९	११
अन्यथानमुपक०	१	१०	२
अन्याभिश्चिः प्रहि०	१	३	७
अन्वारब्ध आघा०	१	५	३
अभिमृषति नना०	१	१६	२१
अयास्यमेवंषट्कृतं	१	२	१३
अयुजाक्षरमाका०	१	१७	३
अरणिप्रदानमे०	१	२	५
अर्घं प्रतिगृह्णाति	१	३	१४
अश्वो वैश्यस्य	१	८	१७
अस्तमितानुदि०	१	९	२
अस्तमिते ध्रुवं	१	८	१४
आचम्य प्राणान्त्संमृ०	१	३	२६
आचान्तोदकाय शा०	१	३	२७
आचामत्याप्राणान्य०	१	३	१६
आचार्यमृत्विग्वै०	१	३	२
आचार्याय वरं	१	८	१३
आज्यमुद्वास्योत्पूय०	१	१	४
आढ्या ब्रह्मवर्चस०	१	१९	९
आपो हिष्ठेति च ति०	१	८	६
आवसथ्याधानं	१	२	१
आसनमाहार्याह०	१	३	५
आहरन्ति विष्टरं०	१	३	३
इन्द्रश्रेष्ठानिन्द्र०	१	१८	६
उत्तरत एकेषा०	१	८	४
उदगयन आपूर्य०	१	४	५
उदपात्रं शिरस्तो०	१	१६	१८
उपयमनप्रभृत्यौपा०	१	९	१
उपलिप्त उद्धृतावो०	१	४	३
एका वैश्यस्य०	१	४	११
एतन्नित्यं सर्वत्र०	१	५	४

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१७

पारस्कर-गृह्यसूत्रम्

द्वितीय-तृतीय काण्डात्मकम्

(हरिहरभाष्यसहितम्)

द्वितीयकाण्डं गदाधरभाष्यसमन्वितम्, तृतीयकाण्डं जयराम-
प्रणीतभाष्येण समलङ्कृतम्, स्नानत्रिकण्डिकासूत्रैः,
श्राद्धनवकण्डिकासूत्रैः यमलजननशान्ति-पृष्ठो-
दिधि-शौच-भोजन-कामदेवकृतभाष्यसहितम्
'उत्सर्ग' अथवा 'प्रतिष्ठा' परिशिष्ट-
सूत्रैः समलङ्कृतं च

पं० नेने गोपालशास्त्रिणा-टिप्पण्यादिभिः परिष्कृत्य संशोधितम्
'सरला'हिन्दीव्याख्यया भूमिका-परिशिष्टादि-समन्वितम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
संस्कृतविभागः, कलासंकायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं० ११३९
के ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : चारु प्रिन्टर्स, वाराणसी
संस्करण : प्रथम वि० सं० २०५१ (१९९४)
मूल्य : रु० २५०-००

फोन : ३३३४४५

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक (बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ३२०४१४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

17

PĀRASKARA-GṚHYA-SŪTRA

(Second and Third Kanda)

With the Commentaries

OF

Harihar–Bhāṣya, Gadādhara–Bhāṣya on Second Kānda and Jayarāma–Bhāṣya on third kānda

With Appendices

Snānatrikandikā–Kalpasūtra with Harihar Bhāṣya, Śrāddha-navakandikā Kalpasūtra with Gadādhara Bhāṣya, Yamala jananaśānti, Priṣtodivi, Sauca, Bhojana and Utsarga or Pratiṣthā-sūtra with Kamdeva Bhāṣya

Notes by

PAṆḌITA GOPĀLAŚĀSTRĪ NENE

Edited

With 'Saralā' Hindi translation, explanatory Notes, Critical Introduction & thee vseful Appendices.

By

Dr. SUDHĀKARA MĀLAVĪYA

M. A. Ph. D. Sāhityācārya

Department of Saskrit, Arts Faculty

Banaras Hindu University

Varanasi-5

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors Orientol Cultural Literature

Post Box. No. 1139

K. 37|116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)

VARANASI (INDIA)

भूमिका

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ॥

अथेदानीं प्रस्तूयते—महर्षिप्रवरस्य कात्यायनपरनामकस्य भगवतः पारस्कराचार्यस्य कृतेः पारस्करगृह्यसूत्रस्य गृह्यपरिशिष्ट—स्नानत्रि-कण्डिका—श्राद्धनवकण्डिकासहितस्य—माध्यन्दिनशाखीयगृह्यसूत्रमिदम् ।

संस्कारप्राधान्यम्

पञ्चविंशतिसंस्कारैः संस्कृता ये द्विजातयः ।
ते पवित्राश्च योग्याश्च श्राद्धादिषु नियोजिताः ॥

(वीरमित्रोदये)

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकाद्यैर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः ।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्मलौकिकः ॥
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः । (शङ्खस्मृतौ)

अत्र संस्कारविषये सम्यगभिधीयते । कः संस्कारः ?

(१) 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य' —इति शबरः, शबरभाष्यम ।[1]

(२) 'संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा' । इति शाङ्करभाष्यम् ।[2]

(३) 'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते'—इति तन्त्रवार्तिकम् ।[3]

(४) संस्कारैः संस्कृतास्ते—इति च महाभारते व्यासोक्तिः ।[4]

एवञ्च गर्भाधानात् प्रभृति मरणपर्यन्तं संस्कारविधिना पुरुषस्य शारीरिकी मानसी च शुद्धिर्जायते । वस्तुतस्तु संस्कारप्रक्रियासु देवानां समक्षं शुद्धसंस्कृतोन्नतप्रेरणाय भाविजीवनाय प्रतिज्ञा क्रियते । अभ्युदयस्य प्रत्येकं समारम्भः संस्कारादेव प्रारभ्यते ।

---

१. जै० सू० ३. १. ३. ।

२. वे० सू० १. १. ४ ।

३. तन्त्र वा० पृ० १०७८ ।

४. म० भा० आदिपर्वणि १०८. १८ ।

संस्कार विभागः

ते च संस्कारा द्विविधाः—ब्राह्मा दैवाश्च । तथा च हारीतः—

'द्विविधो हि संस्कारो भवति—ब्राह्मो दैवश्च । गर्भाधानादिः स्मार्तो ब्राह्मः । पाकयज्ञा हविर्यज्ञाश्चेति दैवः । ब्राह्मेण संस्कारेण संस्कृत-ऋषीणां सलोकतां गच्छति । दैवेनोत्तरेण संस्कृतो देवानां समानतां सलोकतां गच्छतीति ।'

अङ्गिरास्तु पञ्चविंशतिसंस्कारानाह—

गर्भाधानं[1] पुंसवनं[2] सीमन्तो[3] बलिरेव[4] च ।
जातकृत्यं[5] नामकर्म[6] [7]निष्क्रमोऽन्नाशनं[8] परम् ॥
[9]चौलकर्मोपनयनं[10] तद्व्रतानां चतुष्टयम्[14] ।
[15]स्नानोद्वाहौ[16] [17]चाग्रयणमष्टकाश्च[18] यथायथम् ॥
[19]श्रावण्यामाश्वयुज्यां[20] च [21]मार्गशीर्ष्यां च पार्वणम्[22] ।
[23]उत्सर्गश्चाप्युपाकर्म[24] महायज्ञाश्च[25] नित्यशः ।
संस्कारा नियता ह्येते ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥

इति वीरमित्रोदयप्रोक्ताः पञ्चविंशतिः ।

व्यासेन तु—

गर्भाधानं[1] पुंसवनं[2] सीमन्तो[3] जातकर्म[4] च ।
नामक्रिया[5] निष्क्रामो[6]ऽन्नप्राशनं[7] वपनक्रिया[8] ॥
कर्णवेधो[9] व्रतादेशो[10] वेदारम्भक्रियाविधिः[11] ।
केशान्तः[12] स्नानो[13]द्वाहो[14] विवाहोऽग्निपरिग्रहः[15] ।
त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चैव[16] संस्काराः षोडश स्मृताः ॥

इत्यादिना षोडशैवोररीकृताः । एत एव चाधुनिकस्मार्तकर्मसु विशेषतः प्रचलितत्वात् सर्वसम्मता इत्यत्र—

त्रयोदशानामाद्यानामधिकारी पिता भवेत् ।
इतरेषां त्रयाणां स्यादधिकारी स्वयं सुतः ॥

संस्कारोद्देशः

अथ संस्कारान् तानुद्दिशति गौतमः—

'गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्म नामकरणान्नप्राशन चौलोपनयनानि चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानमष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्था आग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यान्याग्रयणेष्टि-निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्था अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्था इत्येते

चत्वारिंशत् संस्काराः इति । 'यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा अष्टावात्मगुणाश्च स ब्राह्मणो ब्रह्मणः सायुज्यमाप्नोति इति । पार्वणः स्थालीपाकः । श्रावणी तत्र क्रियमाणं श्रवणाकर्म । आग्रहायणी तत्र क्रियमाणं प्रत्यवरोहणम् । चैत्री तत्र क्रियमाणः शूलगवः । आश्वयुजी तत्र क्रियमाणमाश्वयुजीकर्म । अष्टावात्मगुणाः । दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गल्यमकार्पण्यमस्पृहा' इति ।

महर्षिप्रवरः पारस्कराचार्यः

अस्य शुक्लयजुःशाखीय गृह्यसूत्रस्य विरचयिता महर्षिप्रवरः पारस्कराचार्य एव कात्यायन इति पारस्करसूत्रगदाधरभाष्यादिपर्यालोचनयाऽवगम्यत इति विद्वांसः । तथाहि पारस्करः खलु व्रीहियवयोर्यागसाधनत्वे सन्देहाभावे पूर्वोक्तत्वहेतुं वदता कात्यायनश्रौतसूत्र-प्रथमाध्यायनवमकण्डिका-प्रथमसूत्रस्य 'व्रीहीन् यवान् वा हवींषि' इत्यस्य स्वकर्तृकत्वं 'न पूर्वचोदितत्वात् संदेह' (पा० गृ० २. १७. ४) इत्यनेन स्पष्टमुक्तवान् । विक्रमसमयात् पूर्वं दशमशताब्देः आपस्तम्बपूर्ववर्ती कात्यायनोऽयं वार्तिकप्रणेतुः कात्यायनापरनाम्नो वररुचेर्विभिन्न एव ।

प्रस्तुतसंस्करणस्योद्देशः

अस्मिन् खलु पारस्करगृह्यसूत्रस्य संस्करणे गृह्यसूत्रस्य त्रिकाण्डीरूपस्य सम्पूर्णस्य व्याख्यानभूतं श्रीमद् अग्निहोत्रि हरिहर विरचितं भाष्यम्, काण्डद्वयस्य व्याख्यानभूतं श्रीत्रिरग्निचित् सम्राटस्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरविरचितं सौत्रमन्त्रप्रकाशकत्वेन हरिहरभाष्याननुगतार्थमग्रे च तृतीयकाण्डे तदनुपलब्धेः तादृशार्थबोधकतया भारद्वाजगोत्रेण दामोदराचार्यपौत्रेण बलभद्रपुत्रेण केशवशिष्येण जयरामेण विरचितं भाष्यं च निवेशितम्—आस्तिकमतीनां स्मार्तकर्मप्रयोगादिज्ञानसौलभ्याय । अनन्तरं च हरिहर भाष्यसहितं मुख्यगौणस्नान-सन्ध्योपासन-ब्रह्मयज्ञ-तर्पणविधिकलापात्मकं स्नानत्रिकण्डिकासूत्रम्, गदाधरभाष्यसहितं श्राद्धनवकण्डिकाकल्पसूत्रं निवेश्य, यमलजननशान्ति पृष्टोदिवि-शौच-भोजन-उत्सर्गा (प्रतिष्ठा) त्मकानि पञ्च परिशिष्ट सूत्राणि न्यवेश्यन्त । उत्सर्गसूत्रस्य च श्रीमदग्निचिद्दीक्षितविश्वामित्रात्मज-कामदेव कृतं भाष्यं प्रतिष्ठापद्धतिप्रदर्शकं प्रतिष्ठाकामुकानां कृते समावेशितम् । एवं यथामति पारस्करगृह्यसूत्रमूलकण्डिका अव्याख्यातक्षेपकपरिशिष्टकण्डिकाश्च ग्रन्थान्ते संनिवेश्य समूलगृह्यसूत्रक्षेपकपरिशिष्टाध्येतॄणामपि सौकर्याय विहितमिति ।

हिन्दी-भाषायाः प्रसारो देशे विदेशेऽप्यस्ति—इति विचिन्त्य छात्राणां च महतीमावश्यकताम् अवलोक्य एतस्य गृह्यसूत्रस्य हिन्दी-अनुवादोऽपि

मया यथामतिभाष्यमनुसृत्य कृतः। अनुवादस्य परिष्कारे यः श्रमः अस्मद्-गुरुवर्याभिः डा० पद्मामिश्रमहोदयाभिः कृतः तदर्थम् आशीर्वादकामनया साञ्जलि प्रणतिमेव विनिवेदयामि।

अन्ते चास्य ग्रन्थे सौकर्याय विषयाणां बोधनार्थमखिलमन्त्राणां सूचीपत्रं सूत्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका च निवेशिता।

अपरञ्च काशीस्थ-चौखम्बा संस्कृत-संस्थानस्याधिकृतानां दुर्लभ-संस्कृतग्रन्थरत्नानां प्रकाशने रतानां श्रीराजनकुमारगुप्तमहोदयानामपि आभारो मया अवश्यमेव करणीयः।

एवं संशोधितेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे ये केचन मानुषमात्रसुलभादोषा भवेयुः, ते विद्वद्भिः सदयं क्षन्तव्या इति बद्धाञ्जलिरहमभ्यर्थयामि—

श्रीपारस्करसूत्राख्यः भृशं संशोधितो मया।
सद्भिः सारश्च ग्राह्योऽत्र, स्यादसारो हि मत्कृते॥

इति शम्॥

मकरसंक्रान्ति १९९५
३१/२१ A लंका
वाराणसी २२१००५

विदुषामनुविधेयः
सुधाकर मालवीयः

विषयानुक्रमः

द्वितीयकाण्डे

तृतीयकाण्डे

परिशिष्टखण्डे

—०—

द्वितीयकाण्डम्

प्रथमा कण्डिका

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥ १ ॥ तृतीये वाऽप्रतिहते ॥ २ ॥ षोडशवर्षस्य केशान्तः ॥ ३ ॥ यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ ४ ॥

(सरला)

चूडाकरण और केशान्त

प्राक्कथन––संस्कारों के क्रम से अब क्षौर-विधि का वर्णन करते हैं। इस कण्डिका में दो कर्मों का वर्णन है। १. चूड़ाकरण [अर्थात् मुण्डन] और २. केशान्त [अर्थात् १६ वर्ष में दाढ़ी बनाने का आरम्भ] ॥

हिन्दी––एक वर्ष के बालक का चूड़ाकरण नामक (मुण्डन) संस्कार [करना चाहिए] ॥ १ ॥ अथवा तीसरे वर्ष के समाप्त होने से पहले ॥ २ ॥ सोलह वर्ष के बालक का केशान्त संस्कार (दाढ़ी मुड़वाना) करना चाहिए ॥ ३ ॥ अथवा सभी वर्णों को जैसी जिसके कुल की परिपाटी हो, उस समय करें ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथ चूडाकरणकेशान्तौ तन्त्रेण सूत्रयति––सांवत्सरिकस्य चूडाकरणं तृतीये वाऽप्रतिहते । संवत्सरमब्दम् अतिक्रान्तः सांवत्सरिकः, तस्य कुमारस्य चूडाकरणं चूडाकर्म कुर्यात् । तृतीये वा संवत्सरे अप्रतिहते अल्पावशिष्टे ॥ यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् । यद्वा, यथामङ्गलं यथाकुलाचारम् । एतदुक्तं भवति––यस्य कुले सांवत्सरिकस्य चूडाकर्म क्रियते तस्य सांवत्सरिकस्य, यस्य तृतीयेऽब्दे तस्य तदा इति व्यवस्था । यस्य कुले नास्ति नियमः तस्य यदृच्छया विकल्पः । अन्ये तु यथामङ्गलशब्देन धर्मशास्त्रान्तरे विहितकाला-न्तरोपलक्षणमाहुः । अतश्च सर्वेषां तुल्यविकल्पः ॥ १–२ ॥

षोडशवर्षस्य केशान्तः । षोडशवर्षाण्यतीतानि यस्य असौ षोडशवर्षः, तस्य सप्तदशे वर्षे केशान्तः = केशान्ताख्यः संस्कारो भवति । अत्र यद्यपि सूत्रक्रमोऽन्यथा, तथापि केशान्तस्य कालविकल्पाभावात् चूडाकरण एव कालविकल्प इति हेतोः 'यथामङ्गलं वा सर्वेषाम्' इति सूत्रं पूर्वं व्याख्यातं 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इति न्यायात् ॥ ३–४ ॥

(गदाधर०)

चूडाकरणमाह––'सांव···रणम्' । संवत्सरो जातो यस्य स सांवत्सरिकः, तस्य

(गदाधर०)

बालकस्य चूडाकरणं = चूडाकरणाख्यं कर्म, 'कुर्यात्' इति शेषः। चूडाकरणमिति वक्ष्यमाणसंस्कारकर्मणो नामधेयम् ॥ १ ॥

'तृती···हते'। अथवा तृतीये संवत्सरे अप्रतिहते असंपूर्णेऽसमाप्ते चूडाकरणं कुर्यात् ॥ २ ॥

'षोड···केशान्तः'। केशान्त इति संस्कारकर्मनामधेयम्। षोडशवर्षाण्यतीतानि यस्य स षोडशवर्षः, तस्य पुरुषस्य केशान्ताख्यः संस्कारः स्यात्। अयं च नियतकाल एव। अतो विवाहिताविवाहितयोर्भवतीति जयरामः। अत्र कारिकायाम्—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे, वैश्यस्य ह्यधिके ततः ॥ इति।

कर्मणस्तुल्यत्वात्केशान्तकथनमत्र भगवता कात्यायनेन कृतम् ॥ ३ ॥

'यथा···सर्वेषाम्'। अथवा यथामङ्गलं यथाकुलाचारं चूडाकरणं कार्यम्। यस्य कुले सांवत्सरिकस्य कुमारस्य कुर्वन्ति तस्य सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्, यस्य कुले तृतीयेऽब्दे कुर्वन्ति तस्य तृतीये असंपूर्णे कार्यमिति व्यवस्था। यस्य कुले नियमो नास्ति तस्य विकल्पः। यथामङ्गलशब्देन केचित्कालान्तरं कल्पयन्ति।

अत्र स्मृत्यन्तरोक्ताः काला उच्यन्ते। नारदः—

जन्मतस्तु तृतीयेऽब्दे श्रेष्ठमिच्छन्ति पण्डिताः।
पञ्चमे सप्तमे वाऽपि जन्मतो मध्यमं भवेत् ॥
अधमं गर्भतः स्यात्तु नवमैकादशेऽपि वा ॥ इति।

बृहस्पतिः—

तृतीयेऽब्दे शिशोर्गर्भाज्जन्मतो वा विशेषतः।
पञ्चमे सप्तमे वाऽपि स्त्रियाः पुंसोऽपि वा समम् ॥

प्रयोगपारिजाते—

आद्येऽब्दे कुर्वते केचित्पञ्चमेऽब्दे द्वितीयके।
उपनीत्या सहैवेति विकल्पाः कुलधर्मतः ॥

कारिकायाम्—

संभवत्युदगयने शुक्लपक्षे विशेषतः। इति।

बृहस्पतिः—

शुक्लपक्षे शुभं प्रोक्तं कृष्णपक्षे शुभेतरत्।
अशुभोऽन्त्यत्रिभागः स्यात्कृष्णपक्षे निराकृते ॥

कारिकायाम्—

अश्विनी श्रवणः स्वाती चित्रा पुष्यं पुनर्वसु।
धनिष्ठारेवतीज्येष्ठामृगहस्तेषु कारयेत् ॥

(गदाधर०)

तिथिं प्रतिपदां रिक्तां पातं विष्टिं विवर्जयेत् ।
वारांञ्छनैश्चरादित्यभौमानां रात्रिमेव च ॥

बृहस्पतिः—

पापग्रहाणां वारादौ विप्राणां शुभदं रवेः ।
क्षत्रियाणां क्षमासूनोर्विट्छूद्राणां शनौ शुभम् ॥

वसिष्ठः—

द्वित्रिपञ्चमसप्तम्यामेकादश्यां तथैव च ।
दशम्यां च त्रयोदश्यां कार्यं क्षौरं विजानता ॥

ग्रन्थान्तरे—

षष्ठ्यष्टमी चतुर्थी च नवमी च चतुर्दशी ।
द्वादशी दर्शपूर्णे द्वे प्रतिपच्चैव निन्दिता ॥ इति ।

सर्वेषामिति । सर्वेषां वर्णानामित्यर्थः । भर्तृयज्ञ भाष्ये तु यस्य यादृशब्राह्मण-भोजने मङ्गलवुद्धिः स तादृशं ब्राह्मणं भोजयित्वा चूडाकरणं कुर्यादिति[1] सूत्रं योजितम् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादायाप्लाव्याहते वाससी परिधाप्याङ्क आधाय पश्चादग्नेरुपविशति ॥ ५ ॥

(सरला)

ब्राह्मणों को खिलाकर, बालक की माता लड़के को लेकर, स्नान कराकर, नूतन वस्त्रों को पहनाकर, गोद में लेकर, अग्नि के पश्चिम ओर [पति के बगल में] बैठती है ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

एवं कालमभिधाय कर्माभिधत्ते—ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादा-याप्लाव्याहते वाससी परिधाप्याङ्क आधाय पश्चादग्नेरुपविशति । चूडाकरणाङ्ग-तया त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता जननी कुमारं पुत्रं चूडाकरणार्हम् आदाय गृहीत्वा आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सकृद्धौते वाससी द्वे वस्त्रे परिधाप्य परिहिते कारयित्वा अन्तरीयोत्तरीयत्वेन अङ्के उत्सङ्गे आधाय स्थापयित्वा पश्चादग्नेः पश्चिमत उपविशति आस्ते ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

चूडाकर्मणि कालोऽभिहितः, कर्माह—'ब्राह्म'''विशति' । आभ्युदयिकश्राद्ध-

1. 'यथामङ्गलं वा सर्वेषां ब्राह्मणान् भोजयित्वा' इत्येकं सूत्रमिति तदाशयः ।

(गदाधर०)

ब्राह्मणव्यतिरिक्तान् त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारजननी कुमारं स्वपुत्रमादाय हस्ते गृहीत्वा आप्लाव्य स्नापयित्वाऽहते नवे यन्त्रमुक्ते सकृद्धौते वाससी वस्त्रे परिधाप्य परिहिते कारयित्वा अङ्के आधाय तं कुमारमङ्के उत्सङ्गे स्थापयित्वाऽग्नेः पश्चादुपविशति । मातरि रजस्वलायां तु विशेषः । बृहस्पतिः—

प्राप्तमभ्युदयश्राद्धं पुत्रसंस्कारकर्मणि ।
पत्नी रजस्वला चेत्स्यान्न कुर्यात्तत्पिता तदा ॥

पितेति कर्तृमात्रोपलक्षणम् । दोषमाह गर्गः—

विवाहोत्सवयज्ञेषु माता यदि रजस्वला ।
तदा स मृत्युमाप्नोति पञ्चमं दिवसं विना ॥ इति ।

अग्रे सुमुहूर्तालाभे तु वाक्यसारे—

अलाभे सुमुहूर्तस्य रजोदोषे उपस्थिते ।
श्रियं संपूज्य विधिवत्ततो मङ्गलमाचरेत् ॥ ३ ॥ इति ।

कुमारस्य मातरि गर्भिण्यामपि चूडाकरणं न कार्यम् । तथा च बृहस्पतिः—

गर्भिण्यां मातरि शिशोः क्षौरकर्म न कारयेत् ।
व्रताभिषेकेऽप्येवं स्यात्कालो वेदव्रतेष्वपि ॥

मदनरत्ने—

पुत्रचूडाकृतौ माता यदि सा गर्भिणी भवेत् ।
शस्त्रेण मृत्युमाप्नोति तस्मात्क्षौरं विवर्जयेत् ॥

एतदपवादोऽपि तत्रैव—

सूनोर्मातरि गर्भिण्यां चूडाकर्म न कारयेत् ।
[1]पञ्चमात्प्राक्तादूर्ध्वं तु गर्भिण्यामपि कारयेत् ॥
सहोपनीत्या कुर्याच्चेत्तदा दोषो न विद्यते ।
गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्याच्चौलकर्म तु ॥
पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥

पञ्चमासादूर्ध्वं मातुर्गर्भस्य जायते मृत्युः—इति तत्रैवोक्तम् ।

कुमारस्य ज्वरोत्पत्तौ न कार्यमित्याह गर्गः—

ज्वरस्योत्पादनं यस्य लग्नं तस्य न कारयेत् ।
दोषनिर्गमनात्पश्चात्स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ॥

लग्नमिति सर्वमङ्गलोपलक्षणम् ॥ ५ ॥

---

१. 'पञ्चमात्प्रागत ऊर्ध्वं' ख० ग० ।

अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते शीतास्वप्सूष्णा आसिञ्चति उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वपेति ॥ ६ ॥ केशश्मश्रिवति च केशान्ते ॥ ७ ॥ अथात्र नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा प्रास्यति ॥ ८ ॥

(सरला)

ब्रह्मा से स्पर्श किए गए घृत की आहुतियों को प्रदान करके संस्रव प्राशन के बाद ठण्डे जल में गरम जल को 'उष्णेन वाय'''इस मंत्र से [पिता] मिलाता है। 'हे वायु ! उष्ण जल के साथ आओ। हे अदिति ! बालों को काटो[1]।' ॥ ६ ॥ और केशान्त (अर्थात् गोदान) संस्कार में 'केशान्' की जगह 'केशश्मश्रु वप' यह अध्याहार करे ॥ ७ ॥ इसके बाद उस जल में मक्खन की गोली अथवा घृत की गोली या दही की (गोली को) मिला देता है ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते शीतास्वप्सूष्णा आसिञ्चति। ततः अन्वारब्धो ब्रह्मणा उपस्पृष्ट आज्याहुतीः आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दश हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते शीतासु अप्सु उष्णा अप आसिञ्चति प्रक्षिपति वक्ष्यमाणमन्त्रेण। अन्वारब्धग्रहणेन नित्याज्याहुतिहोमो नियम्यते। उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वपेति ॥ ६ ॥

केशश्मश्रिवति च केशान्ते। केशान्ते पुनः उष्णेनवाय उदकनेह्यदिते[2] केशश्मश्रु वपेति विशेषः ॥ ७ ॥

अथात्र नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा प्रास्यति। तथा उष्णोदकसेकानन्तरम्, अत्र आस्वप्सु नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा पिण्डं प्रास्यति 'असु क्षेपणे' प्रक्षिपति ॥ ८ ॥

(गदाधर०)

'अन्वा'''शान्ते'। ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आघारादिस्विष्टकृदन्ता आज्याहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते शीतासु पूर्वमुपकल्पितासु अप्सु उष्णा अप आसिञ्चति प्रक्षिपति "उष्णेन वाय उदकेनेहि" इति मन्त्रेण। केशान्ते तु "उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रु वप" इति मन्त्रे विशेषः। कुमारेणान्वारम्भः कार्यं इति भर्तृयज्ञमते विशेषः। मन्त्रार्थः—रविकिरणसंबन्धादन्तर्गतज्योतिषा वायोरुष्णत्वम्। हे वायो !

---

१. द्रष्टव्य—अथर्ववेद ६. ६८. २। आश्व० गृह्य १. १७. ७।

२. 'केशश्मश्रू वपतीति' क०।

(गदाधर०)

त्वमप्युष्णोदकेन गृहीतेन कुमारस्य शिरःप्लवनाय एहि। हे अदिते देवमातः केशान् लक्षीकृत्य केशार्द्रकरणार्थं शीतोदकमध्ये उष्णोदकं वप क्षिप, अनेकार्थत्वाद्धातोः ॥ ६–७ ॥

'अथा'''स्यति'। अथ उष्णोदकसेकानन्तरम्। अत्र प्रकृतोदके नवनीतपिण्डं घृतस्य पिण्डं दध्नो वा पिण्डं प्रास्यति प्रक्षिपति। 'असु प्रक्षेपे' ॥ ८ ॥

तत आदाय दक्षिणं गोदानमुन्दति–सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्च्चस इति ॥ ९ ॥ त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि कुशतरुणान्यन्तर्दधाति ओषध इति ॥ १० ॥ शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्त्तयामीति प्रवपति ॥ ११ ॥

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथासदिति सकेशानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रास्यत्युत्तरतो ध्रियमाणे ॥ १२ ॥ एवं द्विरपरं तूष्णीम् ॥ १३ ॥ इतरयोश्चोन्दनादि ॥ १४ ॥

(सरला)

वह जल लेकर 'सवित्रा प्रसूता''''''इस मंत्र से दाहिने कनपटी के बालों को भिगोता है 'हे कुमार! सूर्य द्वारा उत्पादित दैवी जल, तुम्हारी दीर्घ आयु के लिए और तुम्हारे वल (या कान्ति) के लिए तुम्हारे शरीर को भिगोवे ॥ ६ ॥ [1]तीन जगह में सफेद शाही के कांटे से [वाल] को सुधार कर (झाड़कर) तीन कुश के तृणों को 'ओषधे'''[2] इस मंत्र से केशों के भीतर रख देता है ॥ १० ॥ 'शिवो नामासि'''[3] इस मंत्र से लोहे के छुरे को लेकर 'निवर्तयामि'''[4] इस मंत्र से (बालों पर छूरे को रखना चाहिए) और येनावप'''इस मंत्र से वालों को काटता है। 'जिस छुरे से विद्वान् (सर्वज्ञ) सविता ने राजा सोम और वरुण के सिर का मुण्डन किया था उसी छुरे से हे ब्राह्मणों! इस कुमार के सिर का तुम मुण्डन करो। जिससे यह कुमार आयुष्मान् (दीर्घायु) और बुढ़ापे को पहुँचने वाला होवे।"

---

१. १० वां सूत्र कात्या० श्रौ० ५. २. १५ के बिलकुल समान है।

२. यजु० ४. १।

३. यजु० ३. ६३a।

४. यजु० ३. ६३b. द्रष्टव्य—कात्या० १. १. g. १७. वाज० सं० का ३. ६३b कात्या० ने भी दिया है।

(सरला)

कुश सहित बाल को काटकर अग्निकुण्ड के उत्तर तरफ रखे हुए बैल के गोबर के पिण्ड पर फेंकता है (अर्थात् उसे गाड़ देता है) ।। ११-१२ ।। इसी प्रकार फिर दो बार बिना मंत्र चुपचाप करना चाहिए ।। १३ ।। और बालों का भिगोना आदि कार्य (जिस तरह दहिने ओर हुआ था उसी प्रकार) बाएँ भाग के बाल काटने में भी करना चाहिए ।। १४ ।।

(हरिहर०)

तत आदाय दक्षिणं गोदानमुन्दति सवित्रा प्रसूता इति । ततस्ताभ्योऽद्भ्यः चुलुकेनैकदेशमादाय दक्षिणं गोदानं शिरसो दक्षिणप्रदेशस्थं गोदानं केशसमूहम् उन्दति क्लेदयति[1], आर्द्रं करोतीत्यर्थः । केन मन्त्रेण ? 'सवित्रा प्रसूता' इत्यादिना 'दीर्घायुत्वाय वर्चसे' इत्यन्तेन ।। ९ ।।

त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि कुशतरुणान्यन्तर्दधात्योपध इति । त्र्येण्या त्रिश्वेतया शलल्या शल्यकपक्षकण्टकेन विनीय पृथक्कृत्य पूर्वदिनाधिवासितां केशलतिकां, तस्या अन्तर्मध्ये अन्तरा त्रीणि त्रिसंख्याकानि कुशतरुणानि दर्भपत्राणि दधाति धारयति "ओषधे त्रायस्व" इति मन्त्रेण ।। १० ।।

शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्त्तयामीति प्रवपति । ततः "शिवो नामा" इत्यनेन मन्त्रेण लोहक्षुरं ताम्रपरिष्कृतमायसं क्षुरम् आदाय गृहीत्वा दक्षिणकरेण "निवर्त्तयामि" इत्यनेन मन्त्रेण प्रवपति, तं क्षुरं कुशतरुणान्यभिनिदधाति ।

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।

इति न्यायात्, धातूनामनेकार्थत्वाच्चेति अत्र प्रपूर्वो वपतिरभिनिधानार्थः । छेदनार्थत्वे तु उत्तरसूत्रविहितप्रच्छेदनानर्थक्यं प्रसज्येत ।। ११ ।।

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथाऽसदिति सकेशानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रास्यत्युत्तरतो ध्रियमाणे । 'येनावपत्' इति मन्त्रेण केशसहितानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्य खण्डयित्वा अग्नेरुत्तरतो भूभागे ध्रियमाणे स्थाप्यमाने आनडुहे आर्षभे गोमयपिण्डे प्रास्यति प्रक्षिपति ।। १२ ।।

एवं द्विरपरं तूष्णीम् । एवम् उक्तेन प्रकारेण द्विः द्विवारं उन्दनादि गोमयपिण्डनिधानान्तमपरं कर्म तूष्णीं मन्त्ररहितं कुर्यात् ।। १३ ।।

इतरयोश्चोन्दनादि । इतरयोः पश्चिमोत्तरयोः गोदानयोः उन्दनादि क्लेदनप्रभृति कर्म्म चकारात्सकृन्मन्त्रकं द्विरमन्त्रकं भवति ।। १४ ।।

---

१. 'क्लदयति' नास्ति ख० ।

(गदाधर०)

'तत'''चंस इति'। ततस्तस्माद्यत्र नवनीतादीनामन्यतमपिण्डप्राशनं कृतं तस्मादुदकात्किञ्चिदुदकमादाय दक्षिणं गोदानं गवि पृथिव्यां दीयते निधीयते स्थाप्यते शयनकाले इति गोदानं दक्षिणकर्णसमीपवर्तिशिरःप्रदेशमुन्दति 'उन्दी क्लेदने' क्लदयति आर्द्रं करोति "सवित्रा" इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे कुमार! सवित्रा सूर्येण प्रसूता जनिता उत्पादिता आपः दैव्यादिविभवाः ते तव तनूं शरीरं चूडालक्षणमङ्गमुन्दन्तु क्लेदयन्तु। किमर्थम्? तव दीर्घायुत्वाय चिरंजीवनार्थं, वर्चसे प्रतापाय ॥ ९ ॥

'त्र्येण्या'''षध इति'। त्रिषु स्थानेषु एनी श्वेता त्र्येणी शलली सेधाशलाका तया क्लिन्नान्केशान् विनीय पृथक्कृत्य विरलान् कृत्वा त्रीणि कुशतरुणानि दर्भतृणान्यन्तर्मध्ये दधाति—"ओषधे त्रायस्व" इति मन्त्रेण ॥ १० ॥

'शिवो'' पति'। ततः कर्ता 'शिवो नामा' (य० सं० ३–६३) इति मन्त्रेण लोहक्षुरं लोहेन ताम्रेण परिष्कृतमयोमयमेव क्षुरमादाय हस्तेन गृहीत्वा "निवर्तयामि" इति मन्त्रेण प्रवपति तं क्षुरं कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु संलागयति स्थापयति। अत्र प्रपूर्वो वपतिः संलागने, छेदनार्थत्वे तु उत्तरसूत्रविहितं छेदनमनर्थकं स्यात्। शिव इत्यस्यार्थः—हे क्षुर यस्त्वं शिवो नामाऽसि शान्तनामाऽसि भवसि ते तव स्वधितिर्वज्रं पिता हे भगवन् तस्मै तुभ्यं नमः मा मां मा हिंसीः मा विनाशयेति। निवर्तयामीत्यस्यार्थः, निवर्तयामि मुण्डयामि [भाविनि भूतोपचारात् ?] आयुषे आयुरर्थम्, अन्नाद्याय अन्नादनाय, प्रजननाय गर्भोत्पत्त्यै, रायस्पोषाय धनस्य पुष्ट्यै, सुप्रजास्त्वाय शोभनापत्यभवनार्थं सुवीर्याय शोभनवीर्याय ॥ ११ ॥

'येना'''माणे'। "येनावपत्सविता" इति मन्त्रेण सकेशानि केशसहितानि कुशतृणानि प्रच्छिद्य छित्त्वा खण्डयित्वाऽग्नेरुत्तरतो भूमौ ध्रियमाणेऽवस्थाप्यमाने आनडुहे बलीवर्दसंबन्धिगोमये पिण्डे गोपुरीषे तानि प्रास्यति प्रक्षिपति। अत्र गोमयपिण्डस्य स्थापनं कार्यम्। ततः केशान् प्रच्छिद्य पिण्डे प्रासनम्। अत्र केशान् प्रच्छिद्येति पाठो दर्शितः कर्कभर्तृयज्ञाभ्याम्। सकेशानीति केचित्पठन्ति। तेषां कुशतरुणानीति कुशतरुणविषयं नपुंसकमिति। भर्तृयज्ञैः प्राचीनपाठो दर्शितः। मन्त्रार्थः—हे ब्रह्माणः! येन क्षुरेण तेजोमयेन सविता सूर्यः सोमस्य राज्ञः वरुणस्य च शिरः अवपत् राजसूयदीक्षायां अमुण्डयत् विद्वान् सर्वज्ञः तेन क्षुरेणास्य शिशोरिदं शिरो यूयं वपत मुण्डयत इदं शिरः अस्य कुमारस्य आयुषे हितम् आयुष्यमायुषो भावः सत्ता वा, यथाऽयं कुमारः जरदष्टिः संपूर्णायुः असत् भूयात् जरामश्नुते व्याप्नोति जरदष्टिः जरद्भावः ॥ १२ ॥

'एवं'''तूष्णीम्'। एवमेवोक्तरीत्या द्विवारं तूष्णीं मन्त्रं विनोन्दनादि गोमयपिण्डनिधानान्तमपरं दक्षिण एव गोदाने कर्म कुर्यात्। अत्रैवं पदार्थाः—उन्दनं,

(गदाधर०)

केशानां विनयनम्, दर्भतृणान्तर्धानम्, क्षुराभिनिधानम्, सकेशानां छेदनम्, गोमयपिण्डे प्रासनम् ॥ १३ ॥

'इत···नादि' । इतरयोः पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोरुन्दनादि चकारादेवमेव सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं कर्म कुर्यात् । तत्र पूर्वं पश्चिमगोदाने कृत्वा तत उत्तरगोदाने कार्यम् "अथ पश्चात्" "अथोत्तरतः" इति सूत्रकारप्रस्थानाच्च, प्रादक्षिण्यानुग्रहाच्च । क्षुरादानं तु मन्त्रेण पुनर्न भवति, मन्त्रेण सकृद् गृहीतत्वात् ॥ १४ ॥

अथ पश्चात्त्र्यायुषमिति ॥ १५ ॥ अथोत्तरतो येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि[1] सूर्यम् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तय इति ॥ १६ ॥ त्रिः क्षुरेण शिरः प्रदक्षिणं परिहरति, समुखं केशान्ते, यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा [2]वप्त्वाऽऽवपति केशाञ्छिन्धि शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः, मुखमिति च केशान्ते ॥ १७ ॥ ताभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति— अक्षण्वनपरिवपेति ॥ १८ ॥

(सरला)

इसके बाद पीछे का बाल [3]"त्र्यायुषम्···इस मंत्र से काटना चाहिए ॥ १५ ॥ अब उत्तर (ऊपर) भाग के बालों को[4] 'येन भूरिश्चरा···इस मंत्र से काटे । जिस स्तुति से प्रचुर विचरणशील वायु चिरकाल तक (अर्थात् कल्प तक) द्यौ में सूर्य के पीछे चलता है उस स्तुति या तपस्या से मैं तुम्हारा मुण्डन, जीवन के हेतु (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के लिए, दीर्घायु के लिए, शोभन यश के लिए और कल्याण के लिए करता हूँ" ॥ १६ ॥ छूरे को तीन बार सिर के चारों तरफ प्रदक्षिण क्रम से घुमाता है । केशान्त संस्कार में मुख के सहित [सिर के चारों ओर छुरा फेरना चाहिए]। यह मंत्र पढ़ते हुए—[5]"जिस छूरे से कुमार को संस्कृत एवं सुशोभित करते हुए मुण्डन कर्म सम्पन्न करता है [उसी से कहता है कि] हे छूरे ! सिर के बालों को काटो, मस्तक को व्रण युक्त मत करना । इसकी आयु को

---

१. 'पश्यासि' क० ।

२. 'वप्ता वपात' क, 'वप्त्वा वावपति' ख० 'वस्त्रा' जयरामसंमतः पाठः ।

३. यजु० ३ ६२ ।

४. द्रष्टव्य—आश्व० १. १७. १३ ।

५. द्रष्टव्य—आश्व० १. १. ‌§ १६ । अथर्ववेद ८. २. १७ ।

(सरला)

मत चुराओ [अर्थात् इसे बहुत दिन तक जीने दो]" । और केशान्त संस्कार में 'मुख' इस शब्द को मंत्र में जोड़ना चाहिए [अर्थात् 'शुन्धि शिरो मुखं'] ॥ १७ ॥ उस (ठंडे और गर्म मिले हुए) जल से बालक के सिर को भिगोकर छूरा नाई को देता है [एवं आज्ञा देता है कि] 'बिना दुःख पहुँचाए कुमार का मुण्डन करो' ॥ १८ ॥

(हरिहर०)

अथ पश्चात् त्र्यायुषमिति । अथ दक्षिणगोदानस्य त्रिरुन्दनादिप्रच्छेदनानन्तरं पश्चाद्गोदाने विशेषमाह—त्र्यायुषमिति । 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादिना मन्त्रेण सकेशानि कुशतरुणानि सकृत्प्रच्छिद्य तूष्णीं द्विः प्रच्छिद्य गोमयपिण्डे प्रास्यति ॥ १५ ॥

अथोत्तरतः । अथ अनन्तरम् [1]उत्तरतो गोदाने उन्दनादिगोमयपिण्डनिधानान्ते विशेषमाह—'येन [2]भूरिश्चरा' इति 'स्वस्तय' इत्यन्तेन मन्त्रेण सकृत्सकेशानां कुशतरुणानां प्रच्छेदनं, [3]द्विस्तूष्णीम् ॥ १६ ॥

त्रिः क्षुरेण शिरः प्रदक्षिणं परिहरति समुखं केशान्ते । त्रिः त्रीन् वारान् क्षुरेण शिरः मूर्द्धानं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परिहरति, शिरसः समन्तात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयतीत्यर्थः । तत्र मन्त्रमाह—'यत्क्षुरेण' इत्यादि 'मास्यायुः प्रमोषीः' इत्यन्तम् । केशान्ते च मुखमिति पदं प्रक्षिपेत्, मन्त्रे आवपेत् । [4](अत्रापि सकृन्मन्त्रो द्विस्तूष्णीम्) ॥ १७ ॥

ताभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति अक्षण्वन्परिवपेति । ताभिः शीतोष्णाभिरद्भिः कुमारस्य शिरः समुद्य आर्द्रं विधाय नापिताय क्षौरकर्त्रे जातिविशेषाय क्षुरम् 'अक्षण्वन् परिवप' इत्यनेन मन्त्रेण प्रयच्छति ॥ १८ ॥

(गदाधर०)

'अथ पश्चात् त्र्यायुषमिति' । इतरयोश्चोन्दनादि इत्युक्तम्, तत्र स एव मन्त्रो मा भूदित्याह । पश्चात् पश्चिमगोदानकर्मणि "त्र्यायुषम्" इति मन्त्रेण सकेशतृणानां छेदनं कुर्यात् । त्रीण्यायूंषि समाहृतानि बाल्ययौवनस्थविराणि इत्येवमेतेषामेवावस्थात्रयव्यापकमायुरस्माकमस्त्विति मन्त्रार्थः ॥ १५ ॥

'अथो…य इति' । अथोत्तरगोदानकर्मणि सकेशानां कुशतृणानां 'येन भूरि-

---

१. 'उत्तरगोदाने' ख० ।

२. 'भूरिश्चेति' क० ग० ।

३. 'द्विस्तूष्णीं' नास्ति क० ग० ।

४. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

(गदाधर०)

श्चरा" इति मन्त्रेण छेदनं कुर्यात् । अन्यत्सर्वं दक्षिणगोदानवत्कार्यम् । मन्त्रार्थस्त्वयम्—येन ब्रह्मणा मन्त्रेण तपसा वा चरणशीलो वायुः ज्योक् चिरं आकल्पमित्यर्थः दिवं द्यां पश्चात्तामनु सूर्यं, तमनु विश्वं च चरति । किंभूतः ? भूरिः प्रचुरः । तेन ब्रह्मणा तपसा वा तन्मन्त्रितक्षुरेण ते तव शिरो वपामि । किमर्थम् ? जीवातवे जीवनहेतवे धर्माद्यर्थं, जीवनाय आयुषे, सुश्लोक्याय शोभनयशसे, स्वस्तये अविनाशाय ॥ १६ ॥

'त्रिः''' शान्ते' । त्रिवारं क्षुरभ्रामणेन शिरः मस्तकं परिहरति दक्षिणकर्णादारभ्य प्रदक्षिणं शिरसः समन्तात्पुनर्दक्षिणकर्णपर्यन्तं "यत्क्षुरेण" इति मन्त्रेण क्षुरं भ्रामयतीत्यर्थः । समुखं केशान्ते मुखसहितं शिरः परिहरति केशान्ते कर्मणि । मन्त्रेऽपि विशेषः—केशान्ते मुखमिति पदं मन्त्रे अधिकं भावयेत् । "यत्क्षुरेण" इति सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीं शिरःपरिहरणम् । हे क्षुर यत् यस्मात्क्षुरेण वप्त्वा मुण्डित्वा आवपति गोमयपिण्डे केशान् क्षिपति । किंभूतेन ? एनं कुमारं मज्जयता संस्कुर्वता तथा सुपेशसा शोभयता । अतोऽस्य केशाञ्छिन्धि अवखण्डय शिरो मस्तकं मा छिन्धि मा सव्रणं कुरु, अस्य मा आयुः प्रमोषीः = मा अपहर ॥ १७ ॥

'ताभि''' पेति' । ताभिरेव प्रकृताभिः शीतोष्णाभिरद्भिः बालकस्य शिरः मस्तकं समुद्य क्लेदयित्वा आर्द्रभावमापाद्य उन्दतिः क्लेदनार्थः, तस्य क्तान्तत्वादनुनासिकलोपः क्रियते समुद्येति रूपम् । नापिताय क्षुरं प्रयच्छति मुण्डनार्थं समर्पयति "अक्षण्वन् परिवप" इति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे नापित त्वमस्य शिरः अक्षण्वन् क्षतरहितं यथा स्यात्तथा परि समन्ताद्वप मुण्डय ॥ १८ ॥

यथामङ्गलं केशशेषकरणम् ॥ १९ ॥ अनुगुप्तमेतद्, सकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे पल्वलं उदकान्ते वा ॥ २० ॥ आचार्याय वरं ददाति ॥ २१ ॥ गां केशान्ते ॥ २२ ॥

(सरला)

[1]शिखा के लिए बालों को कुल की परम्परा के अनुसार छोड़ना चाहिए [त्रिशिखा, पंचशिखा आदि] ॥ १९ ॥ [2]बाल के सहित गोबर के पिण्ड को किसी पात्र में बन्द कर, उस पात्र को गोशाला में, गड्ढे में या नदी के तट पर रखकर (अर्थात् गाड़कर) आचार्य को अभिलषित द्रव्य दक्षिणा में देता है ॥ २०-२१ ॥ केशान्त संस्कार में गाय [दक्षिणा में देनी चाहिए] ॥ २२ ॥

---

१. द्रष्टव्य—भूमिका ।

२. द्रष्टव्य—इसी कण्डिका का १२ वां सूत्र ।

(हरिहर०)

यथामङ्गलं केशशेषकरणम् । केशानां शेषकरणं शिखास्थापनं केशशेषकरणं यथामङ्गलं कुलाचारव्यवस्थामनतिक्रम्य भवति। कुलाचाराश्च बहुधा। तद्यथा लौगाक्षिः—"तृतीयस्य वत्सरस्य भूयिष्ठे गते चूडां कारयेत्—दक्षिणतः कम्बुजवसिष्ठानाम्, उभयतोऽत्रिकश्यपानां, मुण्डा भृगवः, पञ्चचूडा आङ्गिरसः, [1]वाजसनेयिनामेका, मङ्गलार्थं [2]शिखिनोऽन्ये" इति ॥ १९ ॥

अनुगुप्तमेतत् सकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे पल्वल उदकान्ते वा। अनुगुप्तमावृतम् एतं गोमयपिण्डं सकेशं केशैः सहितं निधाय स्थापयित्वा गोष्ठे गवां व्रजे पल्वले अल्पोदके सरसि उदकान्ते वा [3]उदकस्य समीपे वा ॥ २० ॥

आचार्याय वरं ददाति। स्वकीयाय आचार्याय [4](वरम् आचार्याभिलषितं द्रव्यं ददाति कर्मकर्ता पित्रादिः ॥ २१ ॥

गां केशान्ते। केशान्ते कर्मणि संस्कार्यस्य आचार्याय) गां ददाति ॥२२॥

(गदाधर०)

'यथा···रणम्'। क्षुरसमर्पणानन्तरं नापितेन वपनं कार्यम्। तत्र केशानां शेषकरणं शिखारक्षणं स्थापनं यथामङ्गलं यस्य कुले यथा प्रसिद्धं तस्य तथैव शिखास्थापनं कार्यम्।

अत्र कारिकायाम्—

केशशेषं ततः कुर्याद्यस्मिन् गोत्रे यथोचितम्।
वासिष्ठा दक्षिणे भागे उभयत्रापि कश्यपाः ॥
शिखां कुर्वन्त्यङ्गिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्युताः।
परितः केशपङ्क्त्या वा, मुण्डाश्च भृगवो मताः ॥

---

१. 'वाजिमेकां' क० ।

२. 'शिखिनोऽन्ये इति।

कम्बुजानां वसिष्ठानां दक्षिणे कारयेच्छिखाम्।
द्विभागेऽत्रिकश्यपानां मुण्डाश्च भृगवो मताः ॥
पञ्चचूडा अङ्गिरस एका वाजसनेयिनाम्।
मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्य उक्ताचूडाविधिः क्रमात् ॥
इति अधिकं ख०।

३. 'उदकस्य समीपे वा' नास्ति क०।

४. केसान्तर्गतं नास्ति क०।

(गदाधर०)

कुर्वन्त्यन्ये शिखामत्र मङ्गलार्थमिह क्वचित् ।

लौगाक्षिः—'दक्षिणतः कम्बुजवसिष्ठानामुभयतोऽत्रिकश्यपानां, मुण्डा भृगवः, पञ्चचूडा अङ्गिरसः, वाजसनेयिनामेका, मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्ये" इति । एतच्छूद्रातिरिक्तविषयम् "शूद्रस्यानियताः केशवेशाः" इति वसिष्ठोक्तेः । यत्तु पाद्मे—

न शिखी नोपवीती स्यान्नोच्चरेत्संस्कृतां गिरम् ।

इति शूद्रमुपक्रम्योक्तं, तदेसच्छूद्रस्येति केचित् । विकल्प इति तु युक्तम् ।। १९ ।।

'अनु'''न्ते वा' । ततो वपनोत्तरं सर्वान्केशान् गोमयपिण्डे कृत्वा तं गोमयपिण्डं वस्त्रादिवेष्टनेनानुगुप्तमावृतं कृत्वा गोष्ठे गवां व्रजे स्थापयेत्, अथवा पल्वले अल्पोदके सरसि स्थापयेत्, उदकान्ते यत्र कुत्रचिदुदकसमीपे वा स्थापयेत् ।। २० ।।

'आचा'''दाति' । ततश्चूडाकरणकर्मकर्ता पित्रादिः स्वाचार्याय वरम् अभिलषितद्रव्यं ददाति । अभिलषितद्रव्याभावे "चतुःकार्षापणो वरः" इति मूल्याध्यायोक्तद्रव्यदानमिति वृद्धाः ।। २१ ।।

'गां केशान्ते' । केशान्ते कर्मणि केशान्तसंस्कारकर्ता स्वाचार्याय गां ददाति । संस्कार्यस्याचार्ययेति हरिहरः ।। २२ ।।

संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च केशान्ते ॥ २३ ॥ द्वादशरात्रꣳ, षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ॥ २४ ॥ १ ॥

इति द्वितीयकाण्डे प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

(सरला)

केशान्त संस्कार के बाद एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखना चाहिए और बाल भी नहीं कटाना चाहिए अथवा १२ रात वा ६ रात या अन्ततः [न हो सके तो] तीन रात [तक अवश्य ही ब्रह्मचर्य रखना चाहिए और केश कर्तन नहीं होना चाहिए] ।। २३-२४ ।।

इस प्रकार द्वितीय काण्ड में प्रथम कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीयकृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १ ।।

(हरिहर०)

[1]संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च केशान्ते द्वादशरात्रꣳ षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ।

---

१. 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यं केशान्तकर्मानन्तरं संवत्सरं यावत् भवेत् । द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः । केशान्तानन्तरं यावज्जीव' क० ।

(हरिहर०)

केशान्तकर्मानन्तरं संवत्सरं यावत् ब्रह्मचर्यं भवेत्, अवपनं केशान्ते द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः केशान्तकर्मानन्तरं यावज्जीवमवपनं च विहितवपनव्यतिरेकेण । विहितवपनञ्च--

गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरौ मृते ।
आधाने सोमपाने च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥
तथा वपनं [1]चानुभाविनां प्रेतकनीयसां वपनं तथा ।
मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः ॥
वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालं विरजं गयाम् ।

नैमिषं पुष्करं गयामिति पाठान्तरम् ॥

प्रयागे वपनं कुर्याद्गयायां पिण्डपातनम् ।
दानं दद्यात्कुरुक्षेत्रे, वाराणस्यां तनुं त्यजेत् ॥

इत्यादिवचननिचयप्रतिपादितनिमित्तेषु ।

अत्र गर्भाधानादिषु विवाहपर्यन्तेषु संस्कारकर्मसु मुख्यत्वेन पितैव कर्त्ता, तदभावे सन्निहितोऽन्यः । तथाच स्मरणम्--

स्वपितृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु ।
पिण्डानोद्वाहनात्तेषां तस्याभावेऽपि तत्क्रमात् ॥

एतान्युक्तानि नामकरणादीनि [2]चूडाकरणान्तानि कर्माणि दुहितॄणामपि मन्त्ररहितानि कुर्यात् । यथाह याज्ञवल्क्यः —

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः इति । तथा शूद्रस्य यथाह यमः—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।
न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः ॥

एवंविधः गर्भाधानादिचूडाकरणान्तैः संस्कारैर्बैजिकगार्भिकपापशून्यः विना मन्त्रेण तूष्णीं-यतस्तं शूद्रं [3]केनापि एकतमेनापि छन्दसा वेदेन [4]प्रजापतिः परमेश्वरः न समसृजत् समयोजयत् [5]इति । तथा ब्रह्मपुराणे --

---

१. शावं दुःखमनुभवन्तीत्यनुभाविनः सपिण्डाः । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनः ॥

२. 'चूडाकरणान्तानि मन्त्ररहितानि दुहितॄणामपि कुर्यात्' क० ।

३. 'केनापि' नास्ति क० ।

४. 'प्रजापतिः परमेश्वरः न' नास्ति क० ।

५. 'इति' नास्ति क० ग० ।

(हरिहर०)

विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा ।

मात्रशब्देन विहितेतरसंस्कारनिवृत्तिश्च । यमब्रह्मपुराण—वचनाभ्यां शूद्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामधेयनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडाकरण-विवाहाः[1] नव संस्कारा विहितास्ते च तूष्णीम्, इतरेषां निवृत्तिः ।

प्रसङ्गादनुपनीतधर्मा लिख्यन्ते । मनुः—

[2]नास्मिन्व्युत्तिष्ठते कर्म्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ।
नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ।

वृद्धशातातपः—

प्राक् चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः ।
कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥
शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् ।
रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नातव्यं तु कुमारकैः ॥

गौतमः—"प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षाः[3] । नित्यं मद्यं ब्राह्मणोऽनुपनीतोऽपि वर्जयेत् । उच्छिष्टादावप्रयता न स्युः, महापातकवर्जम्" ।

ब्राह्मे —

मातापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन् भवेत्सुखी ।

संस्कारप्रयोजनं[4] च स्मृत्यन्तरोक्तम् । यथाह याज्ञवल्क्यः—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

अङ्गिराः—

चित्रकर्म यथाऽनेकै रागैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

मनुः—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

हारीतः—"गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं सन्दधाति, पुंसवनात्पुंसीकरोति, फलस्नपनात्पितृजं पाप्मानमपोहति, जातकर्मणा प्रथममपोहति, नामकरणेन

---

१. 'विवाहान्ता नव' ख० ।

२. 'नास्मिन् हि उत्तिष्ठत' ख० ।

३. 'चारभक्षः' क० ।

४, 'संस्कारयोजनं' क० ।

(हरिहर०)

द्वितीयं, प्राशनेन तृतीयं, चूडाकरणेन चतुर्थं, स्नानेन पञ्चमम्, एतैरष्टभिर्गर्भसंस्कारैर्गर्भोपघातात्[1] पूतो भवति। [2]उपनयनाद्यैरेभिरनुव्रतैश्चाष्टभिः स्वच्छन्दसम्मितो ब्राह्मणः परं पात्रं देवपितॄणां भवति, "छन्द[3]सामायतनम्"। सुमन्तुः—"तत्र ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां [4]वृत्तिगर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडोपनयनं; चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानम्; सहधर्मचारिणीसंयोगः; पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मयज्ञानाम्; एतेषां चाष्टकाः; पार्वणश्राद्धम्; श्रावण्या[5]ग्रहायणीचैत्र्याश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः; अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ चातुर्मास्याग्रयणेष्टिर्निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः; एते चत्वारिंशत्संस्काराः"। हारीतः—द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिस्नानान्तो ब्राह्मः। पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः। ब्राह्मसंस्कारसंस्कृतऋषीणां समानतां [6]सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छ(ति[7]। दैवेनोत्तरेण संस्कारेणानुसंस्कृतो देवानां समानतां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छ)तीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ २३–२४॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः। तत्र सांवत्सरिकस्य तृतीये वा वर्षे भूयिष्ठे[8] गते कुमारस्य चूडाकरणाख्यं कर्म कुर्यात्, कुलधर्मव्यवस्थया वा। दैवयोगाद् गृह्योक्तकालालाभे स्मृत्यन्तरोक्तान्यतमकाले मातृपूजामभ्युदयिकं च कृत्वा श्राद्धातिरिक्तं ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा बहिःशालायां परिसमूहनादिभिर्भुवं संस्कृत्य लौकिकाग्निं स्थापयेत्। अथ माता कुमारमादाय स्नापयित्वा वासोयुगं परिधाप्य उत्सङ्गे निधाय अग्नेः पश्चिमत उपविशति। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। तण्डुलवर्जमासादनम्, उपकल्पनीयानि च,

१. 'गर्भोप' ख०।
२. 'नाद्यैरत्र व्रतै' क०।
३. 'छन्दसामयनं' क०।
४. 'वृत्तिगर्भा' ख०।
५. 'यणी चैत्याश्व' क०।
६. 'सालोक्यतां' नास्ति ख०।
७. 'शंसान्तर्गतं' नास्ति क०।
८. तृतीयवर्षस्याधिकांशेऽतिक्रान्ते, अल्पावशिष्टे तृतीये वर्षे इति यावत्।

(हरिहर०)

शीतोदकमुष्णोदकम्, नवनीतघृतदधिपिण्डानामेकतमः पिण्डः,[1] त्र्येणी शलली, त्रीणि त्रीणि कुशतरुणानि पृथक् बद्धानि, नवताम्रपरिष्कृत आयसः क्षुरः, गोमयपिण्डं, नापितश्चेति। ततः पवित्रकरणादिपर्युक्षणान्ते आघारादिस्विष्टकृदन्तं चतुर्दशाहुतिहोमं विधाय संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात्। ततः शीतास्वप्सु उष्णा अप आसिच्य "उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वप" इत्यनेन मन्त्रेण। अत्र उष्णोदकमिश्रितशीतोदके उपकल्पितं नवनीताद्यन्यतमं पिण्डं प्रक्षिपति। तदुदकमादाय "सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दतु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्च्चसे" इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणं गोदानमुन्दति। ततस्त्र्येण्या शलल्या केशान्विनीय 'ओषधे त्रायस्व' इति मन्त्रेण त्रीणि[2] कुशतरुणान्यन्तर्द्धाय "शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मामाहिँसीः" इत्युपकल्पितं क्षुरमादाय कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु "निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय" इत्यनेन मन्त्रेण क्षुरमभिनिदधाति। "येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथासत्" इत्यनेन[3] मन्त्रेण सकेशानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्य आनडुहे गोमयपिण्डे उत्तरतो ध्रियमाणे प्रक्षिपति। एवमेवापरं वारद्वयम् उन्दनकेशविनयनकुशतरुणान्तर्द्धानक्षुराभिनिधानसकेशकुशतरुणप्रच्छेदनगोमयपिण्डप्रासनानि तूष्णीं कुर्यात्। तथा—पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोः एवमेव सकृत्समन्त्रकं द्विस्तूष्णीं करोति। एतावान्विशेषः—पश्चिमगोदाने "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्" इति मन्त्रेण[4] छेदनम्। उत्तरगोदाने[5] "येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि[6] सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये" इत्यनेन मन्त्रेण छेदनम्। अन्यत्सर्वमुन्दनादि गोमयपिण्डप्रासनान्तं समानम्। ततो "यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्वाऽऽवपति केशान्छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः" इत्यन्तेन मन्त्रेण शिरसः समन्तात्प्रदक्षिणं क्षुरं

---

१. 'पिण्डः' नास्ति क०।

२. 'त्रीणि' नास्ति क० ग०।

३. 'इत्यन्तेन' क० ग०।

४. 'मन्त्रेण' नास्ति० क०।

५. 'उत्तरतो गोदाने' क० ग०।

६. 'पश्यांधि' क० ग०।

(हरिहर०)

भ्रामयति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम् । ततस्तेनैवोदकेन समस्तं शिर आर्द्रमापाद्य "अक्षण्वन्परिवप" इत्यनेन मन्त्रेण नापिताय क्षुरं समर्पयति । स च नापितः केशवपनं[1] कुर्वन् यथोक्तं केशशेषकरणं करोति । ततः सकेशं गोमयपिण्डम् अनुगुप्तं पल्वले गोष्ठे उदकान्ते वा निधाय चूडाकरणकर्त्ता स्वाचार्याय वरं ददाति । केशान्तेपि षोडशवर्षस्य सप्तदशे वर्षे इयमेव चूडाकरणोक्ता इतिकर्त्तव्यता[2] । एतावांस्तु विशेषः—उष्णोदकसेकमन्त्रे[3] "उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रू वप" इति, तथा क्षुरपरिहरणे मुखसहितं शिरः परिहरति । तत्र परिहरणमन्त्रे च "यत्क्षुरेण मज्जयता" इत्यादि "मास्यायुः प्रमोषीर्मुखम्" इति, तथा यस्य केशान्तः स स्वाचार्याय गां ददाति । संवत्सरं वा द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं वा ब्रह्मचर्यं करोति । शक्त्यपेक्षया विकल्पः । तथा केशान्तादूर्द्ध्वं शास्त्रीयवपनव्यतिरेकेण यावज्जीवमवपनं शास्त्रीयवपनं चोक्तम् ॥

(गदाधर०)

'संव···केशान्ते' । केशान्तकर्मानन्तरं केशान्तकर्मणा यः संस्कृतः स संवत्सरं यावद्ब्रह्मचर्यं चरेत्, स्त्रीसंभोगं न कुर्यादित्यर्थः । अवपनं च केशान्तोत्तरकालं संस्कृतः संवत्सरं वपनं वर्जयेत् । चशब्दः संवत्सरानुवृत्त्यर्थः । केशान्तकर्मोत्तरम् अवपनं च यावज्जीवं शास्त्रीयवपनव्यतिरेकेणेति वासुदेवहरिहरगर्गाः ॥ २३ ॥

'द्वादश···न्ततः' । संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च द्वादशरात्रं वा षड्रात्रं त्रिरात्रं वा । एते चत्वारो विकल्पाः पूर्वपूर्वाशक्त्या ।

अत्र स्मृत्यन्तरोक्तो वपने विधिर्निषेधश्चोच्यते—

गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ ।
आधाने सोमपाने च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥

तथा—

मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः ।
वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालं विरजं गयाम् ॥

वपनं चानुभाविनां प्रतकनीयसाम्,

तथा—

प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम् ।

---

१. 'सकेश' क० ग० ।
२. 'इतिकर्त्तव्यता भवति' ख० ।
३. 'दकासेक' ख० ग० ।

(गदाधर०)

इत्यादिषु निमित्तेषु वपनं कार्यम्। वृथा तु न कार्यम्। तथाच विष्णुः—

प्रयागे तीर्थयात्रायां पितृमातृवियोगतः।
कचानां वपनं कुर्याद् वृथा न विकचो भवेत्॥

इति निषेधेऽपि "नीचकेशो विप्रः स्यात्" इति नीचकेशत्वविधानात्कर्तनादिना नीचत्वं संपादनीयम्,

मुण्डनस्य निषेधोऽपि कर्तनं तु विधीयते।

इति बृहस्पतिवचनात्।

भारते—

प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयीत समाहितः।
उदङ्मुखो वाऽथ भूत्वा तथाऽऽयुर्विन्दते महत्॥

अपरार्के—

केशश्मश्रुलोमनखान्युदक्संस्थानि वापयेत्।
दक्षिणं कर्णमारभ्य धर्मार्थं पापसंक्षये॥
हन्वाद्यन्तं च संस्कारे शिखाद्यन्तं शिरो वपेत्॥

यतीनां तु विशेषो निगमे—

कक्षोपस्थशिखावर्जमृतुसंधिषु वापयेत्। इति॥ २४॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे प्रथमा कण्डिका॥ १॥

अथ पदार्थक्रमः—तत्र कालस्तावत्प्रथमे द्वितीये तृतीये पञ्चमे सप्तमे वा वर्षे गततृतीयभागे अगतत्रिभागे वा उपनीत्या सह वा यथाकुलाचारं चौलं कार्यम्। तत्रापि द्वितीयादौ वर्षे जन्मतो मुख्यं, गर्भतो गौणम्। उदगयने शुक्लपक्षे गुरुशुक्रयोः बाल्यवार्द्धकास्तमयाभावे अक्षयेऽनधिके च मासि ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रशस्ततिथिवार-लग्नेषु शुभमुहूर्ते दिने एव न तु रात्रौ कार्यम्। तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिक-श्राद्धम्। कुमारस्य हरिद्रालापनादिमङ्गलकरणम्, ततो ब्राह्मणत्रयभोजनम्। ततः संकल्पः—देशकालौ स्मृत्वा कुमारस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणेन बलायुर्वर्चोऽभि-वृद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं चूडाकरणाख्यं कर्म करिष्ये इति संकल्पः। ततो बहिः शालायां पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम्। ततो माता कुमारं स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्योत्सङ्गे कृत्वा पश्चादग्नेरुपविशति। ततो वैकल्पि-कावधारणम्—ब्रह्मणो गमनादिपूर्ववदवधारणम्, घृतपिण्डप्राशनम्, सकेशगोमय-पिण्डस्योदकान्ते प्राशनम्, इत्यवधारणम्। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। नात्र चरुः। उपकल्पनीयानि—शीतोदकम्, उष्णोदकम्, नवनीतपिण्डघृतपिण्डदधि-पिण्डानां मध्येऽवधारितान्यतमम्, त्र्येणी शलली, सप्तविंशतिकुशतरुणानि, ताम्र-

(गदाधर०)

परिष्कृत आयसः क्षुरः, आनडुहगोमयपिण्डः, नापितः, वरश्चेति । आज्यभागानन्तरं महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतयः । ततः स्विष्टकृत् । ततः संस्रवप्राशनादि—ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरदानान्तम् । ततः शीतोदके उष्णोदकस्य निनयनम् "उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वप" इति । उष्णोदकमिश्रितास्वप्सु नवनीतघृत-दधिपिण्डानामन्यतमप्रासनम् । अतः प्रभृत्यनेनैवोदकेनोन्दनं कार्यं सर्वत्र । उदक-मादाय दक्षिणं गोदानमुन्दति "सवित्रा प्रसूता" इति । ततस्त्र्येण्या शलल्या विनयनम् । त्रयाणां कुशतरुणानामन्तर्द्धानम् "ओषधे त्रायस्व" इति । "शिवो नामा" इति क्षुरादानम् । "निवर्तयामि" इति कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु क्षुरनिधा-नम् । ततो "येनावपत्सविता" इति सकेशानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमय-पिण्डे उत्तरतो ध्रियमाणे प्रक्षिपति । ततस्तस्मिन्नेव दक्षिणगोदाने एवमेवापरं वारद्वयं तूष्णीं कर्म कर्तव्यम् । तत्रैवं पदार्थाः—उदकमादायोन्दनम्, त्र्येण्या शलल्या विनयनम्, त्रयाणां कुशतरुणानामन्तर्द्धानम्, क्षुराभिनिधानम्, सकेशानां कुशतरुणानां छेदनम्, गोमयपिण्डे प्रासनम् । दक्षिणगोदानवदेवोन्दनादि पिण्डे प्रासनान्तं पश्चिमो-त्तरयोर्गोदानयोः सकृत्समन्त्रकं द्विस्तूष्णीं कर्म कुर्यात् । एतावान्विशेषः—पश्चिम-गोदाने "त्र्यायुषम्" इति छेदनम्, न तु "येनावपत्" इति । उत्तरगोदाने "येन भूरिश्चरा दिवम्" इति मन्त्रेणैव छेदनम् । ततो "यत्क्षुरेण" इति शिरसः समन्तात् प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयति सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम् । ततस्तापरेवाद्भिः शिरस उन्दनम्, नापिताय क्षुरसमर्पणम् "अक्षण्वन्परिवप" इति । यथामङ्गलं शिखास्थापनं नापितः करोति । ततः सकेशं गोमयपिण्डमनुगुप्तं पल्वले गोष्ठे वा उदकान्ते वा निदधाति । ततश्चूडाकरणकर्ता स्वाचार्याय वरं ददाति । यज्ञपार्श्वोक्तं दशब्राह्मण-भोजनम् ।

अत्र भोजने प्रायश्चित्तमुक्तं पराशरमाधवीये—

निर्वृत्ते चूडहोमे तु प्राङ् नामकरणात्तथा ।
चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जातकर्मणि चैव हि ॥
अतोऽन्येषु तु संस्कारेषूपवासेन शुद्ध्यति ।

॥ इति चूडाकर्मणि पदार्थक्रमः ॥

अथ केशान्ते पदार्थक्रमः—कालश्चूडाकरणोक्तो ज्ञेयः । सप्तदशे वर्षे इदं कार्यम्, लौकिकेऽग्नौ । आरम्भनिमित्तं मातृपूजापूर्वकं नान्दीश्राद्धम् । देशकालौ स्मृत्वा केशान्तकर्म करिष्ये इति संकल्पः । ब्राह्मणत्रयभोजनादि परिशिष्टोक्तब्राह्मणभोज-नान्तं चूडाकरणवत् । इयांस्तु विशेषः—उष्णोदकासेकमन्त्रे "उष्णेन वाय उदकेनेह्य-दिते केशश्मश्रू वप" इति, क्षुरपरिग्रहणमन्त्रे च "यत्क्षु० प्रमोषीर्मुखम्" इति मुख-

(गदाधर०)

सहितं शिरः परिहरति, वरस्थाने आचार्याय गोदानं, संवत्सरं ब्रह्मचर्यमित्यादि यथोक्तम् ।

॥ इति केशान्तः ॥

एतानि जातकर्मादिचूडाकरणान्तानि कर्माणि कुमार्या अप्यमन्त्रकाणि कार्याणि, तत्र होमस्तु समन्त्रकः । तदुक्तं कारिकायाम्—

जातकर्मादिकाः स्त्रीणां चूडाकर्मान्तिकाः क्रियाः ।
तूष्णीं, होमे तु मन्त्रः स्यादिति गोभिलभाषितम् ॥

होमस्तु समन्त्रक इति प्रयोगपारिजाते । याज्ञवल्क्यः—

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः । इति ॥

अथ शूद्रस्य संस्काराः—

मनुः—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।
न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः ॥

छन्दसा = मन्त्रेण ।

व्यासः—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ॥
त्रेताऽग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः ।

इत्युक्त्वाऽऽह—

नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः ।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश ॥

इति यमब्रह्मपुराणवचनाभ्यां शूद्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामधेयनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडाकरणविवाहान्ता नव संस्कारा विहितास्ते च तूष्णीमिति हरिहरभाष्ये ।

शार्ङ्गधरस्तु—

द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव हि ।
पञ्चैव मिश्रजातीनां संस्काराः कुलधर्मतः ॥
वेदव्रतोपनयनं महानाम्नी महाव्रतम् ।
विना, द्वादश शूद्राणां संस्कारा नाममन्त्रतः ॥

इत्याह ।

(गदाधर०)

ब्रह्मपुराणे तु—

विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा । इति ।

अत्र सदसच्छूद्रविषयत्वेन व्यवस्था—सच्छूद्रस्य द्वादश, असच्छूद्रस्य विवाहमात्रम् । एते च तूष्णीं कार्याः । तथाच व्यासः—

शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्ममर्हति ।
वेदमन्त्रं स्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना ॥ इति ।

मरीचिः—

अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते । इति ।

तेन शूद्रधर्मेषु सर्वत्र विप्रेण मन्त्रः पठनीयः, सोऽपि पौराण एवेति शूलपाणिः । एवं शूद्रकर्तृकहोमो विप्रद्वारैव पराशरेणोक्तः ।

दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः ।
ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ॥

अत्र माधवाचार्यैर्व्याख्यातम्—यो विप्रः शूद्रदक्षिणामादाय तदीयं हविः शान्तिपुष्ट्यादिसिद्धये वैदिकैर्मन्त्रैर्जुहोति तस्य विप्रस्यैव दोषः, शूद्रस्तु होमफलं लभत एवेति ।

शूद्रस्य यत्र यत्र होमस्तत्र तत्र लौकिकाग्नावेव । मन्त्रान्तराविधानात् नमस्कारमन्त्रेणेति मदनपारिजाते । शूद्रस्य विवाहहोमाभावश्च तत्रैवोक्तः । तच्चिन्त्यम् ॥

अथानुपनीतधर्माः । गौतमः—"प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षाः । नित्यं मद्यं ब्राह्मणोऽनुपनीतोऽपि वर्जयेत् । उच्छिष्टतादावप्रयतमनस्को महापातकवर्जम्" ।

ब्रह्मपुराणे—

मातापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन् भवेत्सुखी । इति ।

वृद्धशातातपः—

शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् ।
रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नानमेव कुमारके ॥
प्राक्चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः ।
कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥

तस्यानुपनीतस्य चण्डालादिस्पृष्टस्यापि स्पर्शनान्न स्नानम् । इदं च षष्ठवर्षात् प्राक्, ऊर्ध्वं तु भवत्येव ।

बालस्या पञ्चमाद्वर्षाद्रक्षार्थं शौचमाचरेत् ।

इति स्मृतेः । कामचारादिकेऽप्येवम् ।

(गदाधर०)

ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
चरेद् गुरुः सुहृच्चैव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥

इतिस्मृतेः ।

अथ गर्गमते पदार्थक्रमः—आभ्युदयिकम्, ब्राह्मणत्रयभोजनम्, बहिः शालायां लौकिकाग्नेः स्थापनम्, माता कुमारमादायेत्यादि यथोक्तम् । ततो ब्रह्मासनादि-दक्षिणादानान्ते विशेषः—बर्हिरासादनानन्तरमुष्णोदकं, शीतोदकं, नवनीतघृतदधि-पिण्डानामन्यतमः पिण्डः, त्र्येणी शलली, कुशपवित्राणि सप्तविंशतिः, क्षुरः, गोमयं, नापितः, वरः इत्यासादनं; नोपकल्पनम् । ततो दक्षिणादानान्तं कर्म कृत्वा शीतासु उष्णा अप आसिञ्चति, नवनीतादीनामन्यतमप्रासनं, तत्र उन्दनं, तूष्णीं विनयनं, कुशतरुणान्तर्द्धानं, क्षुरादानं, "त्र्यायुषं" "येनावपत्" इति मन्त्रद्वयेन कुशतरुणान्त-र्हितेषु केशेषु क्षुरमभिनिधाय सकेशानि तृणानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रासनम् । एवं तूष्णीमुन्दनादि द्विरपरं क्षुरादानवर्जम् । ततः पश्चिमगोदाने एवं सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम् । त्र्यायुषमिति छेदनमन्त्रे विशेषः । अथोत्तरगोदाने एवमेव सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम् । "येन भूरिश्चरा" इति छेदने विशेषः । शिरःपरिहरणं, शिरःसमुन्दनं, क्षुरसमर्पणं, शिखास्थापनं, गोष्ठाद्यन्यतमान्ते गोमयपिण्डनिधानम्, आचार्याय वरदानम् । इति गर्गमते पदार्थक्रमः ।

॥ इति द्वितीयकाण्डे चूडाकरणपदार्थक्रमः ॥

द्वितीया कण्डिका

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ १ ॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशवर्षं राजन्यम् ॥ ३ ॥ द्वादश वर्षं वैश्यम् ॥ ४ ॥ यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ ५ ॥

(सरला)

'उपनयन'

प्राक्कथन—प्रस्तुत कण्डिका में उपनयन संस्कार की विधि, काल और मेखला, अजिन दण्ड आदि धारण का वर्णन है। उपनयन का अर्थ है:—'आचार्यस्य उप समीपे माणवकस्य नयनमुपनयनशब्देनोच्यते' शिष्य को आचार्य के समीप ले जाना ही उपनयन है।

हिन्दी—ब्राह्मण को जन्म से आठवें, अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए ॥ १–२ ॥ ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय को ॥ ३ ॥ वैश्य को बारहवें वर्ष में ॥ ४ ॥ अथवा सभी (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों) का जैसा मंगल (अर्थात् कुल के आचार के अनुसार) हो ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा । अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ अष्टवर्षस्तं ब्राह्मणं द्विजोत्तमम् उपनयेत् उपनयनाख्येन संस्कारेण संस्कुर्यात् । गर्भाष्टमेषु वा गर्भः गर्भसहचरितोऽब्दः[1] अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु वा उपनयेत् । ततश्च जन्मतो नवमेऽष्टमे वा उपनयेदित्यर्थः ॥ १–२ ॥

एकादशवर्षं राजन्यम् । एकादशवर्षाण्यतीतानि यस्य असौ एकादशवर्षस्तं जन्मतो द्वादशवर्षे इत्यर्थः । राजन्यं क्षत्रियम् उपनयेदित्यनुषज्यते ॥ ३ ॥

द्वादशवर्षं वैश्यम् । द्वादशवर्षाण्यतिक्रान्तानि यस्य स तथा तं जन्मतस्त्रयोदशे वैश्यमुपनयेत् ॥ ४ ॥

यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् । पक्षान्तरमाह—अथवा, सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथामङ्गलं [2]यथाकुलधर्मं, यद्वा, यथामङ्गलशब्देन स्मृत्यन्तरोक्तपञ्चवर्षादिकालसङ्ग्रहः । यथाह मनुः—

---

१. 'गर्भसहचरितोऽब्दः' नास्ति क० ।

२. 'यथामङ्गलधर्मं' क० ।

(हरिहर०)

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे, वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

आपस्तम्बोऽपि—"अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामम्, अष्टमे आयुष्कामं, नवमे तेजस्कामं, दशमे अनाद्यकामम्, एकादशे इन्द्रियकामं, द्वादशे पशुकाममुपनयेत्" । तथा—"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम् ।" "गर्भाष्टमे वर्षे वसन्ते ब्राह्मण आत्मानमुपनापयेत्, एकादशे क्षत्रियो ग्रीष्मे, द्वादशे वैश्यो वर्षासु" । वर्षाशब्देन शरदेवाभिधीयते, "ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः" इति यास्कवचनात्[1] वर्षास्वन्तर्भवति शरत ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

अथोपनयनमाह—'अष्ट'''नयेत्' । प्रसवानन्तरमष्टौ वर्षाण्यतीतानि यस्य बालकस्यासौ अष्टवर्षः, तमष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत् उपनयनसंस्कारेण संस्कुर्यात् । आचार्यस्य उप समीपे माणवकस्य नयनम् उपनयनशब्देनोच्यते । उपनयनं च विधिना आचार्यसमीपनयनम्, अग्निसमीपनयनं वा, सावित्रीवाचनं वाऽन्यदङ्गमिति स्मृत्यर्थसारे । उपनेतृक्रममाह वृद्धगर्गः—

पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥

तथा—

पितैवोपनयेत्पुत्रं तदभावे पितुः पिता ।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः ॥

पितेति विप्रपरं, न क्षत्रियवैश्ययोः । तयोस्तु पुरोहित एव, उपनयनस्य दृष्टार्थत्वात्, तयोस्त्वध्यापनेऽनधिकारात् ॥ १ ॥

'गर्भाष्टमे वा' । अथवा ब्राह्मणं गर्भसहिताष्टवार्षिकमुपनयेत् । गर्भाष्टमेष्विति पाठो हरिहरभर्तृयज्ञभाष्ये ॥ २ ॥

'एका'''न्यम्' । एकादश वर्षाण्यतीतानि यस्यासावेकादशवर्षस्तं राजन्यं क्षत्रियमुपनयेत् । जन्मतो द्वादशवर्षे इत्यर्थः ॥ ३ ॥

'द्वादश'''श्यम्' । द्वादश वर्षाण्यतीतानि यस्यासौ तथा तं वैश्यं वर्णतृतीयमुपनयेत् । जन्मतस्त्रयोदशे वर्षे इत्यर्थः ॥ ४ ॥

'यथा'' सर्वेषाम्' । अथवा सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथामङ्गलं शास्त्रान्तरविहितकालान्तरे उपनयनं भवति । अत्राश्वलायनः—

---

१. 'इति पारस्करव' क० ।

(गदाधर०)

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।
द्विजत्वं प्राप्नुयाद्विप्रो, वर्षे त्वेकादशे नृपः ॥

आपस्तम्बः—'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत' इति । बहुवचनं गर्भषष्ठसप्तमयोः प्राप्त्यर्थमिति सुदर्शनभाष्ये । आपस्तम्बः—'अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्यकामं नवमे तेजस्कामं दशमेऽन्नाद्यकाममेकादश इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत्' ।

मनुः—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥

विष्णुः—

षष्ठे तु धनकामस्य विद्याकामस्य सप्तमे ।
अष्टमे सर्वकामस्य नवमे कान्तिमिच्छतः ॥

नृसिंहः—

उत्तरायणगे सूर्ये कर्तव्यं ह्यौपनायनम् ।

श्रुतिः—"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम्" ।

मासविषये ज्योतिषे—

माघादिषु च मासेषु मौञ्जी पञ्चसु शस्यते ।

गर्गः—

विप्रं वसन्ते क्षितिपं निदाघे वैश्यं घनान्ते व्रतिनं विदध्यात् ।
माघादिशुक्लान्तिकपञ्चमासाः साधारणा वा सकलद्विजानाम् ॥

बृहस्पतिः—

शुक्लपक्षः शुभः प्रोक्तः कृष्णश्चान्त्यत्रिकं विना ।

वृत्तशते—

न जन्मधिष्ण्ये न च जन्ममासे न जन्मकालीनदिने विदध्यात् ।
ज्येष्ठे न मासि प्रथमस्य सूनोस्तथा सुताया अपि मङ्गलानि ॥

बृहस्पतिः—

मिथुने संस्थिते भानौ ज्येष्ठमासो न दोषकृत् ।

राजमार्तण्डः—

जातं दिनं दूषयते वसिष्ठो ह्यष्टौ च गर्गो नियतं दशात्रिः ।
जातस्य पक्षं किल भागुरिश्च शेषाः प्रशस्ताः खलु जन्ममासि ॥
जन्ममासे तिथौ भे च विपरीतदले सुति ।
कार्यं मङ्गलमित्याहुर्गर्गभार्गवशौनकाः ॥

(गदाधर०)

जन्ममासनिषेधेऽपि दिनानि दश वर्जयेत् ।
आरभ्य जन्मदिवसाच्छुभाः स्युस्तिथयोऽपरे ॥

बृहस्पतिः—

झषचापकुलीरस्थो जीवोऽप्यशुभगोचरः ।
अतिशोभनतां दद्याद्विवाहोपनयादिषु ॥

कारिकायाम्—

द्वादशाष्टमबन्धुस्थे मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।

ग्रन्थान्तरे—

शुद्धिर्नैव गुरोर्यस्य वर्षे प्राप्तेऽष्टमे यदि ।
चैत्रे मीनगते भानौ तस्योपनयनं शुभम् ॥

कारिकायाम्—

अतीव दुष्टे सुरराजपूज्ये सिंहस्थिते वा द्विजपुङ्गवानाम् ।
व्रतस्य बन्धः खलु मासि चैत्रे कृतश्चिरायुः शुभसौख्यदः स्यात् ॥

एतदष्टवर्षविषयम् । ग्राह्यनक्षत्राणि मदनपारिजाते—

हस्तत्रये दैत्यरिपुत्रये च शक्रेन्दुपुष्याश्विनिरेवतीषु ।
वारेषु शुक्रार्कबृहस्पतीनां हितानुबन्धी द्विजमौञ्जिबन्धः ॥

राजमार्तण्डस्तु पुनर्वसुं ब्राह्मणस्य निषेधति—

पुनर्वसौ कृतो विप्रः पुनः संस्कारमर्हति । इति ।

तिथयस्तत्रैवोक्ताः—

तृतीयैकादशी ग्राह्या पञ्चमी दशमी तथा ।
द्वितीयायां च मेधावी भवेदर्थबलान्वितः ॥
रिक्तायामर्थहानिः स्यात्पौर्णमास्यां तथैव च ।
प्रतिपद्यपि चाष्टम्यां कुलवृद्धिविनाशकृत् ॥

कारिकायाम्—

अनध्याये चतुर्थ्यां च कृष्णपक्षे विशेषतः ।
अपराह्णे चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ॥
नान्दीश्राद्धे कृतं चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः ।
तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ॥

लल्लः—

व्रतेऽह्नि पूर्वसन्ध्यायां वारिदो यदि गर्जति ।
तद्दिने स्यादनध्यायो व्रतं तत्र विवर्जयेत् ॥

(गदाधर०)

ज्योतिर्निबन्धे—

नान्दीश्राद्धं कृतं चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः।
तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ॥

मदनरत्ने नारदः—

विनतुना वसन्तेन कृष्णपक्षे गलग्रहे ।
अपराह्णे चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ॥

वसन्ते गलग्रहो न दोषायेत्यर्थः। अपराह्णस्त्रेधाविभक्तदिनतृतीयांश इत्युक्तं तत्रैव । शब्दसामर्थ्याद्द्वेधा विभक्त इति युक्तम् ।

नारदः—

कृष्णपक्षे चतुर्थी च सप्तम्यादिदिनत्रयम् ।
त्रयोदशीचतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः ॥

राजमार्तण्डः—

आरम्भानन्तर यत्र प्रत्यारम्भो न सिद्ध्यति ।
गर्गादिमुनयः सर्वे तमेवाहुर्गलग्रहम् ॥

ज्योतिर्निबन्धे—

अष्टकासु च सर्वासु युगमन्वन्तरादिषु ।
अनध्यायं प्रकुर्वीत तथा सोपपदास्वपि ॥

सोपपदास्तु स्मृत्यर्थसारे उक्ताः—

सिता ज्येष्ठे द्वितीया च आश्विने दशमी सिता ।
चतुर्थी द्वादशी माघे एताः सोपपदाः स्मृताः

चण्डेश्वरः—

वेदव्रतोपनयने स्वाध्यायाध्ययने तथा ।
न दोषो यजुषां सोपपदास्वध्ययनेऽपि च ॥

प्रदोषदिनमपि वर्ज्यम् । तत्स्वरूपमुक्तं गोभिलेन—

षष्ठी च द्वादशी चैव अर्द्धरात्रोननाडिका ।
प्रदोषमिह कुर्वीत तृतीया तूनयामिका ॥ इति ।

ज्योतिर्निबन्धे व्यासः—

या चैत्रवैशाखसिता तृतीया माघस्य सप्तम्यथ फाल्गुनस्य ।
कृष्णे तृतीयोपनये प्रशस्ताः प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः ॥

यत्तु बृहद्गार्ग्यवचनम्—

अनध्यायं प्रकुर्वीत यस्तु नैमित्तिको भवेत् ।
सप्तमी माघशुक्ले तु तृतीया चाक्षया तथा ॥

(गदाधर०)

बुधत्रयेन्दुवाराश्च शस्तानि व्रतबन्धने । इति ।

तत् प्रायश्चित्तार्थोपनयनपरम् ।

तथा च निर्णयामृते कालादर्शे च—

स्वाध्यायवियुजो पक्षाः कृष्णप्रतिपदादयः ।
प्रायश्चित्तनिमित्ते तु मेखलाबन्धने मताः ॥ इति ।

ज्योतिर्निबन्धे नारदः—

शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं तथा ।
शाखाधिपतिलग्नं च दुर्लभं त्रितयं व्रते ॥

संग्रहे—

ऋगथर्वसामयजुषामधिपा गुरुसौम्यभौमसिताः ।
जीवो विप्राणां क्षत्रियस्य चोष्णगुर्विशां चन्द्रः ॥ इति ।

गर्गः—

ग्रहे रवीन्द्वोरवनिप्रकम्पे केतूद्गमोल्कापतनादिदोषे ।
व्रते दशाहानि वदन्ति तज्ज्ञास्त्रयोदशाहानि वदन्ति केचित् ॥

संकटे तु चण्डेश्वरः—

दाहे दिशां चैव धराप्रकम्पे वज्रप्रपातेऽथ विदारणे च ।
केतौ तथोल्कांशुकणप्रपाते त्र्यहं न कुर्याद् व्रतमङ्गलानि ॥

अनध्यायास्तु वातेऽमावस्यायामित्यत्र द्रष्टव्याः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयेत्तं च ॥ ६ ॥ पर्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति ॥ ७ ॥ पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ॥ ८ ॥ ब्रह्मचार्यसानीति च ॥ ९ ॥

(सरला)

[तीन] ब्राह्मणों को और उस बालक को (जिसका उपनयन हो) भोजन कराकर सिर के सभी बाल मुड़वाकर, वस्त्रादि से अलङ्कृत करके आचार्य के पास लाते हैं ॥ ६–७ ॥ बालक को अग्नि के पश्चिम बैठाकर 'मैं ब्रह्मचारी बनकर आया हूँ' और 'मैं ब्रह्मचारी बनूँगा'[1] यह कहलवाते हैं ॥ ८–९ ॥

(हरिहर०)

एवमुपनयनकालमभिधायेदानीं कर्म्माह—ब्राह्मणान् भोजयेत्तञ्च । त्रीन्

१. द्रष्टव्य—शतपथ ब्रा० ११. ५. ४ ।

(हरिहर०)

ब्राह्मणान् भोजयेत् आशयेत्, तं च कुमारं वपनानन्तरमाशयेदिति चकारेणानुषज्यते ॥ ६ ॥

पर्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति । परि सर्वतः उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिरास्तम् अलङ्कृतं यथासम्भवरत्नसुवर्णनिर्म्मितैः कुण्डलाद्यलङ्कारैः, आनयन्ति आचार्यपुरुषाः आचार्यसमीपम् । आचार्यलक्षणं यमेनोक्तम्—

सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः ।
न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥ इति ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति । तत आचार्यो माणवकमग्नेः पश्चिमत आत्मनो दक्षिणतः अवस्थाप्य अवस्थितं कृत्वा 'ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि' इति प्रैषमुक्त्वा माणवकं ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ॥ ८ ॥

ब्रह्मचार्यसानीति च । 'ब्रह्मचार्यसानि' इत्याचार्यो माणवकं प्रेषयति । प्रेषितश्च माणवकः 'ब्रह्मचार्यसानि' इति वदेत् ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

कालश्चोक्तः, इदानीं कर्माह 'ब्राह्म···तं च' । उपनेता आभ्युदयिकब्राह्मणव्यतिरिक्तांस्त्रीन् ब्राह्मणान्भोजयेदाशयेत्, तं च कुमारं भोजयेत् । चशब्दो भोजनक्रियानुकर्षणार्थः ॥ ६ ॥

'पर्यु···यन्ति' । परिपूर्वस्य वपतेः कृतसंप्रसारणस्यैतद्रूपम् । परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तं पर्युप्तशिरसम् अलंकृतं स्रङ्मालादिना भूषितम् आनयन्ति ये पूर्वं तेनाचार्येणोपनीतास्ते एनमाचार्यसमीपमानयन्ति । इदमानयनं चाध्ययनार्थम् । अतस्तदभावाच्छूद्रस्यानधिकारः । शूद्रस्य प्रतिषेधो भवत्यध्ययनं प्रति—"श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः" इति । वपनं च भोजनात्पूर्वमेव कार्यं नहीदानीं तदुपदेशो भूतकालनिर्देशात् ॥ ७ ॥

'पश्चा···यति' । आनयनानन्तरमाचार्योऽग्नेः पश्चात्स्वस्य च दक्षिणतः कुमारमवस्थाप्यावस्थितं कृत्वा 'ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि' इत्येवं वाचयति, ततो माणवकः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नेव 'ब्रह्मचर्यमागाम्' इति वदति । मन्त्रार्थः—ब्रह्मचर्यं प्रति अहमागाम् आगतोऽस्मि । ब्रह्म वेदस्तच्चरणम् ॥ ८ ॥

'ब्रह्म···नीति च' । तत आचार्यः ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहीति वाचयति ।

(गदाधर०)

चशब्दान्माणवकश्च प्राङ्मुखस्तथैव तिष्ठन् 'ब्रह्मचार्यसानि' इति ब्रूयात्। मन्त्रार्थः—ब्रह्म कर्म चरतीति एवं शीलो ब्रह्मचारी अहमसानि भवामि ॥ ९ ॥

अथैनं वासः परिधापयति येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्। तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥ १० ॥ मेखलां बध्नीते—इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥ ११ ॥ युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति वा ॥ १२ ॥ तूष्णीं वा ॥ १३ ॥ (यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामीति ॥

अथाजिनं प्रयच्छति—मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वी स्थविरꣳ समिद्धम्। अनाहनस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेहमिति ॥ १३ ॥)

दण्डं प्रयच्छति। तं प्रतिगृह्णाति—यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम्। तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ १४ ॥ दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥ १५ ॥

(सरला)

इसके बाद इस (बालक) को 'येनेन्द्राय'''इस मंत्र से वस्त्र पहनाते हैं 'जिस मन्त्र के द्वारा बृहस्पति ने इन्द्र के लिए अमरता का वस्त्र पहनाया (अर्थात् वस्त्र पहनकर इन्द्र अमर हो गए) उसी मंत्र के द्वारा मैं तुम्हें भी (निर्दोष) जीवन के लिए, दीर्घायु के लिए, बल के लिए और वर्चस (तेज) के लिए वस्त्र पहनाता हूँ' ॥१०॥ मेखला (करधनी) "इयं दुरुक्तं'''इस मंत्र से कटि प्रदेश में बाँधते हैं।

१. जयराम, हरिहर, वासुदेव, मुरारि मिश्र आदि के मत से आचार्य मेखला बाँधें और बालक मंत्र पढ़े। भाष्यकार गदाधर का मत है कि आचार्य ही मंत्र

(सरला)

'यह मेखला बुराइयों को दूर (बाधित) करती हुई, मेरे वर्ण को पवित्र बनाती हुई मेरे पास आई है। प्राण और अपान को बल प्रदान करती हुई देवी मेरी भगिनी सुन्दर मेखला मेरे पास आई है' ॥ ११ ॥ अथवा' 'युवा सुवासा'''इस मंत्र से (पहनाना चाहिए) 'जो युवा (ब्रह्मचारी) सुन्दर वस्त्रों को धारण किए हुए आया है वही उत्पन्न होकर श्रेष्ठ बनता है। उसको शोभन चित्त वृत्ति वाले, मन से वेदार्थ का ज्ञान कराने वाले बुद्धिमान् ऋषि उन्नत करते हैं' ॥ १२ ॥ अथवा चुपचाप [बिना मंत्र के मेखला बाँधनी चाहिए] ॥ १३ ॥ [[२]"यज्ञोपवीत परम पवित्र है, यह आदि में प्रजापति के साथ प्रकट हुआ। यह जो आयु के लिए हितकर और श्रेष्ठ है, इसको तुम पहनो। यज्ञोपवीत तुम्हारे लिए बल और तेज़ हैं। तुम यज्ञोपवीत हो, यज्ञ के लिए तुमको यज्ञोपवीत से सन्नद्ध करता हूँ" [इस मंत्र से यज्ञोपवीत पहनता है और आचार्य बालक को] इसके बाद मृगचर्म देता है "यह मृग चर्म मित्र का चक्षु है, पोषण करने वाला, दृढ़, तेज, यशस्वी, वृद्ध, ज्वलनशील, अत्यन्त सुन्दर बना हुआ (सुगठित) एवं दीर्घायु प्रदान करने वाला है। इस दृढ़

भी पढ़े। किन्तु मंत्रार्थ से यह मंत्र बालक को ही पढ़ना चाहिए। यद्यपि शाङ्खा० गृह्य० २. २. १ से आचार्य को पढ़ना चाहिए। किन्तु गोभिल गृह्य० २. १० मे स्पष्ट कथन होने से बालक ही मंत्र कहता है।

"तब (आचार्य) तीन बार प्रदक्षिण क्रम से मुंज की मेखला लपेटता हुआ बालक को 'इयं दुरुक्त' या 'ऋतस्य गोप्त्री' मंत्र बुलवाता है।" गो० गृ० २. १०।

१. ऋ० ३. ८. ४. वस्तुतः यह मंत्र अग्नि को सम्बोधित करके ऋग्वेद में आया है।

२. आचार्य पारस्कर ने यज्ञोपवीत धारण का मंत्र नहीं दिया। अतः भाष्यकारों ने आवश्यक जानकर, अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार यहाँ मंत्र का उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार मृगचर्म पहनने का भी मंत्र अन्यत्र से गृहीत है। भाष्यकार कर्क यज्ञपवीत का ही मंत्र अन्यत्र से लेते हैं। किन्तु भाष्यकार गदाधर 'मित्रस्य चक्षु०' आदि मंत्र से मृगचर्म पहनने का विधान करते हैं।

३. जिस प्रकार सोम याग की दीक्षा में अध्वर्यु यजमान को दण्ड देता है और यजमान 'उच्छ्रयस्व'''मन्त्र से दण्ड को खड़ा करता है उसी प्रकार यहाँ भी होना चाहिए [द्रष्टव्य०—कात्या० ७।६५–६६।] क्योंकि 'दीर्घं सत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति' [शतपथ० ११. ३. ३. २] 'वह दीर्घसत्र में प्रवेश करता है जो ब्रह्मचर्य में प्रवेश करता है'। इस प्रकार श्रुति में ब्रह्मचर्य को दीर्घसत्र बतलाया गया है।

(सरला)

मृगचर्म रूप वस्त्र को मैं धारण करता हूँ" ॥ १३ ॥] [आचार्य बालक को] दण्ड देता है। और 'यो मे दण्डः...' इस मंत्र से उसे बालक लेता है। 'जो दण्ड खुले आकाश से मेरे लिए भूमि पर गिरा है उसको मैं फिर से लेता हूँ (निर्दोष दीर्घ) जीवन के लिए, वेद के लिए और ब्रह्मवर्चस (अर्थात् तेज) के लिए (इसे मैं लेता हूँ) ॥ १४ ॥ कुछ ऋषियों के मत से सोमयाग की दीक्षा विधि की तरह पकड़ता है क्योंकि '[जो ब्रह्मचर्य को प्राप्त होता है वह] दीर्घ सत्र को प्राप्त होता है' यह वचन होने से ॥ १५ ॥

(हरिहर०)

अथैनं वासः परिधापयति येनेन्द्राय बृहस्पतीत्यादि वर्च्चसे इत्यन्तम्। अथ वाचनानन्तरम् एनं कुमारम् आचार्यः वक्ष्यमाणलक्षणं शाणादिवासः परिधापयति परिहितं कारयति 'येनेन्द्राय' इत्यादिमन्त्रं पठित्वा ॥ १० ॥

मेखलां बध्नीते। ततः मेखलां मौञ्ज्यादिकां वक्ष्यमाणलक्षणां बध्नीते कटिप्रदेशे त्रिवृतां प्रवरसङ्ख्याग्रन्थियुतां प्रादक्षिण्येन परिवेष्टयति—"इयं दुरुक्तम्" इत्यादिना "मेखलेयम्" इत्यन्तेन मन्त्रेण माणवकपठितेन। 'युवा सुवासाः' इत्यादि 'देवयन्तः' इत्यन्तेन वा मन्त्रेण, तूष्णीं मन्त्ररहितं वा मेखलां बध्नीते। अत्र यद्यपि सूत्रकारेण यज्ञोपवीतधारणं न सूत्रितं तथाऽपि 'एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः' इति प्रेतोदकदाने प्राचीनावीतित्व-विधानात्,

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।

इति याज्ञवल्क्येन ब्रह्मचारिणः उपवीतधारणस्मरणात्, तथा—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनेन सामान्यतः सर्वाश्रमिणां सदा यज्ञोपवीतधारणस्मरणाच्च यज्ञोपवीतधारणं तावदुपनयनप्रभृति प्राप्तम्। तच्च कुत्र कर्त्तव्यमित्यवसरापेक्षायामौचित्यान्मेखलाबन्धनानन्तरं युज्यते। एतदेव कर्कोपाध्यायवासुदेवदीक्षितरेणुदीक्षितप्रभृतयः स्वस्वग्रन्थे यज्ञोपवीतधारणमन्त्रावसरे लिखितवन्तः। तच्च सर्वकर्म्माङ्गत्वान्मन्त्रवद्युज्यते इति मन्त्रमपि शाखान्तरीयं लिखितवन्तः। ततोऽत्र—

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः" ॥

इति माणवकपठितेन मन्त्रेण उपवीतं परिधापयति, आचामयति च।

(हरिहर०)

अथ तूष्णीमैणेयमजिनमुत्तरीयं करोति 'मित्रस्य चक्षुः' इति मन्त्रेणेति। अन्ते कर्काचार्यैरजिनधारणमेव नोक्तम् ॥ ११-१३ ॥

दण्डं प्रयच्छति, तं प्रतिगृह्णाति यो मे दण्ड इति। आचार्यो माणवकाय वक्ष्यमाणलक्षणं दण्डं प्रयच्छति तूष्णीं, माणवकश्च तं दण्डं "यो मे दण्डः" इत्यादिना "ब्रह्मवर्चसाय" इत्यन्तेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति ॥ १४ ॥

दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात्। एके आचार्या दीक्षावत् दीक्षायां यथा दण्डप्रदानं सोमे, तथेच्छन्ति। तत्र 'उच्छ्रयस्व वनस्पत' इत्यादिना 'यज्ञस्योदृच' इत्यन्तेन मन्त्रेण यजमानो दण्डम् उच्छ्रयति, तद्वदत्र ब्रह्मचारी। केन हेतुना ? "दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति" इत्यारभ्य ब्रह्मचर्यस्य दीर्घसत्रसम्पत्प्रतिपादनात् ॥ १५ ॥

(गदाधर०)

'अथैनं...वर्चस इति'। अथाचार्य एनं कुमारं वासोऽहतं परिधापयति 'येनेन्द्राय' इति मन्त्रेण। वासांसि च शाणक्षौमाविकानि ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथासंख्यं ज्ञेयानि। 'वासांसि शाणक्षौमाविकानि' इति वक्ष्यमाणत्वात्। मन्त्रार्थः—हे कुमार येन विधिना इन्द्राय संस्कर्तुं बृहस्पतिः सुराचार्यो वासः पर्यदधात् परिधापितवान्। किंभूतम् ? अमृतमहतं, तेन विधिना त्वा त्वां माणवकं परिदधामि परिधापयामि। उभयत्रान्तर्भूतो णिच् ज्ञेयः परिधापयतीति सूत्रितत्वात्। यद्वा, इन्द्राय पर्यदधात् इन्द्रे अव्यवच्छिन्नं स्थापितवान्, तथा त्वा त्वां लक्ष्यीकृत्य परिदधामि त्वयि अव्यवच्छेदेन धारयामीति। किमर्थम् ? दीर्घायुत्वाय तव चिरजीवनाय। आयुशब्द उकारान्तोऽप्यस्ति। बलाय देहशक्त्यै, वर्चसे इन्द्रियशक्तये ऐश्वर्याय वेति ॥ १० ॥

'मेख...ञ्जीं वा'। तत आचार्यो माणवककट्यां मेखलां रशनां बध्नीते 'इयं दुरुक्तम्' इति मन्त्रेण। अथवा 'युवा सुवासाः' इति मन्त्रेण, अथवा तूष्णीं बध्नीते। आचार्यस्यैव मन्त्रपाठः। अत्रैवं बन्धनम्—आचार्यस्त्रिगुणां मेखलामादाय बटोः कटिप्रदेशे प्रादक्षिण्येन त्रिर्वेष्टयति। तृतीये वेष्टने ग्रन्थयस्त्रयः पञ्च सप्त वा कार्याः। तदुक्तम्—

> त्रिवृता मेखला कार्या त्रिवारं स्यात्समावृता।
> तद्ग्रन्थयस्त्रयः कार्याः पञ्च वा सप्त वा पुनः ॥

अत्र प्रवरसंख्यया नियमः। 'त्र्यार्षेयस्य ग्रन्थित्रयम्, पञ्चार्षेयस्य पञ्च, सप्तार्षेयस्य सप्त'-इति गर्गपद्धतौ। वृद्धाचारोऽप्येवमेव। आचार्यकर्तृकं मेखलाबन्धनं, कुमारस्य मन्त्रपाठ इति वासुदेवमुरारिमिश्रजयरामहरिहराः। अत्र मुरारिमिश्रैर्बुद्ध्यैव पुरुषयोगिमन्त्रसंस्कारयोस्त्यागे सामर्थ्यादिति हेतूपन्यासार्थं प्रदर्शितम्।

(गदाधर०)

नहि करणमन्त्रेऽयं न्यायः प्रवर्तते। आचार्यकर्तृको ह्ययं पदार्थः। मन्त्रपाठस्तु लिङ्गवशेन माणवककर्तृकः स्यादिति चेत्? तन्न, प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। अतः पदार्थाङ्गत्वेन मन्त्रोऽपि पदार्थकर्त्रा पठनीयः। मन्त्रेऽपि च लक्षणया माणवकाभिधानमित्यदोषः। तथाच श्रुतिः—"यां वै कां च यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा" इति। कारिकायाम्—

बध्नीयात्त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुच्चरन्।
आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात्॥

अस्मिन्नवसरे समाचाराद्यज्ञोपवीताजिने भवतः इति भर्तृयज्ञव्यतिरिक्तवासुदेवादिसर्वग्रन्थेषु। कर्काच्चार्यैस्तूपवीतमेव लिखितम्। तत्र चाविरोधादुपवीते शाखान्तरीयो मन्त्रो ग्राह्यः—

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः"॥ इति।

'अजिनस्योत्तरीयकरणं तूष्णीं मन्त्रपाठेन वा' इति वासुदेवः। "मित्र[1]...हम्" इति मन्त्रेणाजिनधारणमिति कारिकायां गर्गपद्धतौ च। यज्ञोपवीतलक्षणं स्मृत्यर्थसारे—

कार्पासक्षौमगोवाल-शाणवल्कतृणादिकम्।
यथा संभवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्टच षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं तु तत्।
अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम्।
त्रिरावेष्टच दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत्॥
यज्ञोपवीतं परममिति मन्त्रेण धारयेत्।
सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम्॥
सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत्।
विच्छिन्नं वाऽप्यधो याति भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत्॥
पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥

---

१. "मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वी स्थविरꣳ समिद्धम्। अनाहतस्य वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेहम्॥" इति मन्त्रः।

(गदाधर०)

स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत् कथञ्चन ।
ब्रह्मचारिण एकं स्यात्स्नातस्य द्वे बहूनि वा ॥
तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते ।
ब्रह्मसूत्रे तु सव्येंऽसे स्थिते यज्ञोपवीतिता ॥
प्राचीनावीतिताऽसव्ये, कण्ठस्थे हि निवीतिता ।
वस्त्रं यज्ञोपवीतार्थं त्रिवृत्सूत्रं च कर्मसु ॥
कुशमुञ्जबालतन्तुरज्ज्वा वा सर्वजातिषु ।

कात्यायनः—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन तु ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

यज्ञोपवीतं द्विजत्वचिह्नार्थमिति प्रयोगरत्ने ।

कृष्णाजिनधारणं प्रावरणार्थम् । तच्च—

त्र्यङ्गुलं तु बहिर्लोम यद्वा स्याच्चतुरङ्गुलम् ।
अजिनं धारयेद्विप्रश्चतुर्विंशाष्टषोडशैः ॥

इति प्रयोगरत्ने ।

रशनाश्च मौञ्ज्यादिकाः "मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य, धनुर्ज्या राजन्यस्य, मौर्वी वैश्यस्य" इति वक्ष्यमाणत्वात् । अजिनान्यप्यैणेयादीनि । इयं दुरुक्तमित्यस्यार्थः—इयमितीदंशब्द आद्यन्तयोर्वाक्यालङ्कारार्थः । इयं मेखला मामागात् आगता । किं कुर्वती ? दुरुक्तं दुष्टं भाषितमसत्याप्रियादिकं परितः सर्वतोभूतं भविष्यच्च बाधमाना निराकुर्वाणा, वर्णं वर्णत्वं पवित्रं शुद्धं पुनती सत्कुर्वती, मे मम प्राणापानाभ्यां मरुद्भ्यां तयोर्बलं सामर्थ्यम् आदधाना स्थापयन्ती, स्वसा स्वसृवद् हिता, देवी दीप्तिमती, सुभगा सौभाग्यदा । 'युवा सुवासाः' इत्यस्यायमर्थः—याति गुणानेकीकरोतीति युवा, सुवासाः शोभनवस्त्रः, अहतं शोभनमुच्यते । परिवीतः वस्त्रपुष्पमालादिभिः समन्ततो वेष्टित आगात् आगतः । उ वितर्के । श्रेयान स याद जायमानः उत्पाद्यमानः श्रेयान् शुद्धः स्यात् । धीरासः स्थिरप्रज्ञाः कवयः वेदवेदार्थप्रवक्तारः क्रत्वन्तदर्शनाः स्वाध्यः शोभनचित्तवृत्तयः तं च उन्नयन्ति उत्कर्षं गमयन्ति । किं कुर्वन्तः ? मनसा मनोवृत्त्या देवयन्तः वेदार्थं ज्ञापयन्तः । यज्ञोपवीतमन्त्रार्थः—हे आचार्य इदं ब्रह्मसूत्रमहं प्रतिमुञ्च प्रतिमुञ्चामि । प्रतिपूर्वा मुञ्चतिर्बन्धनार्थः, पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः । किंभूतम् ? यज्ञोपवीतं यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं उपरि स्कन्धदेशे वीतं परिहितं, परमं पर आत्मा मीयते ज्ञायते, तेन वाक्योपदेशाधिकारत्वात्, पवित्रं शोधकं, प्रजापतेर्ब्रह्मणः सहजं सहोत्पन्नं स्वभावसिद्धं वा, पुरस्तात्प्राग्भवमत इदमायुषे हितमायुष्यमस्तु,

(गदाधर०)

अग्रयं मुख्यमनुपहतं, शुभ्रं निर्मलं बलं धर्मसामर्थ्यदं, तेजः प्रभावप्रदम्[1]। यद्यपि सूत्रकृता यज्ञोपवीतं नोक्तं, तथापि उपवीतिन इति परिभाषणात् "सदा यज्ञोपवीतिना भाव्यम्" इति परिशिष्टाच्च ग्राह्यम्। कालश्चानुक्तोऽपि स्मृत्यन्तरादयमेव। उपवीतिन इत्यस्यायमर्थः—सर्वे उपवीतिनः सव्यस्कन्धस्थितयज्ञोपवीतधारिणः, कर्म कुर्वन्तीति शेषः।

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते बुधैः ॥

इति स्मरणाद् यज्ञोपवीती देवकर्माणि करोति ॥ ११-१३ ॥

'दण्ड...सायेति'। तत आचार्यो माणवकाय तूष्णीं दण्डं प्रयच्छति समर्पयति। माणवकश्च दक्षिणहस्तेन दण्डं प्रतिगृह्णाति 'यो मे दण्डः' इति मन्त्रेण। दण्डाश्च पालाशबैल्वौदुम्बरा ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथासंख्यं ज्ञेयाः। अथवा पालाशादयः सर्वेषां वर्णानाम्, "पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डो, बैल्वो राजन्यस्यौदुम्बरो वैश्यस्य, सर्वे वा सर्वेषाम्" इति वक्ष्यमाणत्वात्। मानं च शाखान्तरीयं ग्राह्यम्—"केशसम्मितो ब्राह्मणस्य दण्डो, ललाटसम्मितः क्षत्रियस्य, घ्राणसम्मितो वैश्यस्य" इति। मन्त्रार्थः—हे आचार्य यो दण्डः मे मह्यं परापतत् अभिमुखमागतः वैहायसः आकाशे प्रसृतः अधिभूम्यां भूमेरुपरि वर्तमानः तं दण्डमहमाददे गृह्णामि। पुनर्ग्रहणात्सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यस्तमप्याददे इत्याशंसनम्। किमर्थम्? आयुषे जीवनाय, ब्रह्मणे वेदग्रहणाय, ब्रह्मवर्चसाय याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे ॥ १४ ॥

'दीक्षा......वचनात्'। एके आचार्या दीक्षावत्सोमयागदीक्षायां यथा तूष्णीं प्रतिगृह्य 'उच्छ्रयस्व' इत्युच्छ्रयणं विहितं, तद्वदत्रापीच्छन्ति, कुतः? 'दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति' इति वचनात्। दण्डप्रतिग्रहणसामान्याद्दीर्घसत्रताऽस्योक्ता। यद्येवं न दीक्षावत्प्रतिग्रहणम्, स्मरणाभावात्। या चात्र दीर्घसत्रसंस्तुतिः सा दीर्घकालसामान्यादिति भर्तृयज्ञकर्कजयरामाः। 'दीक्षावद्वा दण्डग्रहणम्' इति वासुदेवकारिकाकारहरिहराः ॥ १५ ॥

अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति आपोहिष्ठेति तिसृभिः ॥ १६ ॥

अथैनꣳ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ १७ ॥

अथास्य दक्षिणाँसमधि हृदयमालभते—मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति ॥ १८ ॥ अथास्य दक्षिणꣳ हस्तं गृहीत्वाऽऽह

---

१. किञ्च यज्ञोपवीतं ब्रह्मसूत्रम् असि क्रत्वर्थं सृष्टमस्ति। अतः हे बटो यज्ञस्य क्रत्वर्थं त्वां यज्ञोपवीतेन उपनह्यामि बध्नामि इति द्वितीयमन्त्रार्थः।

को नामासीति ॥ १९ ॥ असावहं भो ३ इति प्रत्याह ॥ २० ॥ अथैनमाह कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥ २१ ॥ भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ॥ २२ ॥ अथैनं भूतेभ्यः परिददाति—प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधिभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टया इति ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(सरला)

तब (आचार्य) अपनी अञ्जलि से इस (बालक) की अञ्जलि को जल से [1]'आपोहिष्ठा—इन तीन मंत्रों द्वारा भरता है ॥ १६ ॥ इसके बाद बालक को [2]'तच्चक्षुर्देव'''इस मंत्र को पढ़ते हुए सूर्य को दिखाता है ॥ १७ ॥ तब दाहिने कन्धे के ऊपर से हाथ ले जाकर (आचार्य) इसके हृदय को [3]'ममव्रते ते'''इस मंत्र से स्पर्श करता है। "हे ब्रह्मचारी ! मैं अपने व्रत में तुम्हारे हृदय को रखता हूँ, मेरे चित्त के अनुकूल तुम्हारा चित्त होवे; मेरी वाणी को एकाग्रचित्त होकर सुनो। बृहस्पति तुमको मेरे लिए नियुक्त करे]" ॥ १८ ॥ तब (आचार्य) इसके दाहिने हाथ को पकड़ कर कहता है [4]"तुम्हारा क्या नाम है ?' ॥ १९ ॥ 'अमुक शर्मा हम हैं' हे गुरु !—ऐसा [उत्तर देता है] ॥ २० ॥ इसके बाद इस बालक से 'तुम किसके ब्रह्मचारी हो ?' ऐसा आचार्य फिर पूछते हैं ॥ २१ ॥ 'आपका'—ऐसा बालक के कहने पर आचार्य को 'इन्द्रस्य असौ'''' यह मंत्र पढ़ना चाहिए[5]। 'हे अमुक ! इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारे आचार्य हैं, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ' ॥ २२ ॥ इसके बाद (आचार्य) बालक को 'प्रजापतये'''इस मंत्र से प्रजापति

---

१. यजु० ११. ५०।

२. यजु० ३६. २४। द्रष्टव्य—प्रथम काण्ड के ८ वीं कण्डिका का ७ वां सूत्र।

३. ऋ० १०. ८५. ३३। द्रष्टव्य—प्रथम काण्ड के ८ वी कण्डिका का ८ वां सूत्र। बृहस्पति की जगह वहाँ प्रजापति है क्योंकि सन्तति के देवता प्रजापति हैं और विद्या के बृहस्पति।

४. द्रष्टव्य—शतपथ ब्राह्मण ११. ५. ४. १।

५. द्रष्टव्य—शांखा० गृह्य० २. ३. १।

(सरला)

आदि विभिन्न देवताओं को (रक्षा के लिए) प्रदान करता है। 'प्रजापति के लिए मैं तुम्हें देता हूँ, देव सवितृ के लिए मैं तुम्हें देता हूँ, वरुण देव के लिए और औषधियों के लिए मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। द्यौ और पृथ्वी को तुम्हें प्रदान करता हूँ, विश्वे देवताओं को तुम्हें देता हूँ एवं सम्पूर्ण प्राणियों को तुम्हारे कुशल के लिए, मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ ॥ २३ ॥

॥ इस प्रकार 'सरला' हिन्दी व्याख्या में डा० सुधाकर मालवीयकृत द्वितीय काण्ड के द्वितीय कण्डिका की हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अथास्याद्भिरञ्जलिनाञ्जलिं पूरयत्यापोहिष्ठेति तिसृभिः। अथ दण्डप्रदानानन्तरम् आचार्यः अस्य माणवकस्य अञ्जलिं स्वकीयाञ्जलिस्थाभिरद्भिः आपोहिष्ठेत्यादिकाभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः पूरयति ॥ १६ ॥

अथैनꣳ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति। अथ अनन्तरम् एनं माणवकं 'सूर्यमुदीक्षस्व' इत्येवं प्रेष्य सूर्यम् आदित्यम् उदीक्षयति अवलोकनं कारयति। स च प्रेषितः 'तच्चक्षुः' इत्यादिना 'भूयश्च शरदः शतात्' इत्यन्तेन मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते ॥ १७ ॥

अथास्य दक्षिणाꣳसमधि हृदयमालभते मम व्रते त इति। अथ सूर्यदर्शनानन्तरम् आचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणां समधि दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षः 'मम व्रते ते' इत्यादिना 'बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण आलभते स्पृशति ॥ १८ ॥

अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह को नामासीति। अथ हृदयालम्भनानन्तरम् आचार्यः अस्य माणवकस्य स्वकीयेन दक्षिणहस्तेन दक्षिणं हस्तं गृहीत्वा धृत्वा 'को नामासि' इति आह ब्रवीति ॥ १९ ॥

असावहं भो३ इति प्रत्याह। एवं पृष्टो माणवकः असौ अमुकशर्म्मा अहं भो३ इति प्रत्याह प्रतिवचनं दद्यात् ॥ २० ॥

अथैनमाह कस्य ब्रह्मचार्यसीति। भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति। अथ प्रतिवचनानन्तरम् आचार्य एनं माणवकं 'कस्य ब्रह्मचार्यसि' इत्याह पृच्छति। भवत इति माणवकेनोच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव अमुकशर्मन्निति पठति ॥ २१–२२ ॥

(हरिहर०)

अथैनं भूतेभ्यः परिददाति । अथ अनन्तरम् एनं कुमारम् आचार्यः भूतेभ्यः प्रजापतिप्रभृतिभ्यः परिरक्षितुं ददाति प्रयच्छति । तत्र मन्त्रः—'प्रजापतये त्वा' इत्यादि 'अरिष्टचा' इत्यन्तः ॥ २३ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'अथा'''तिसृभिः' । अथाचार्योऽस्य कुमारस्याञ्जलिं स्वेनाञ्जलिना अप आदाय ताभिरद्भिः पूरयति 'आपोहिष्ठा'[1] इति तिसृभिर्ऋग्भिः ॥ १६ ॥

---

१. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

(य० सं० ११-५०, ५१, ५२)

अर्थः—हिशब्द एवार्थः प्रसिद्धयर्थो यस्मादर्थो वा । हे आपः ! या यूयमेव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ, मयः सुखं भावयन्ति प्रापयन्ति ता मयोभुवः यस्मात् कारणात् मयोभुवः स्थेति वा स्नानपानादिहेतुत्वेन सुखोत्पादकत्वमपां प्रसिद्धम् । ताः तादृश्यो यूयं नः अस्मान् ऊर्जे रसाय भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७-१-४५) इति लोण्मध्यमबहुवचनस्य तनबादेशे दधातनेति । यथा वयं सर्वस्य भोग्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम तथाऽस्मान् कुरुतेति भावः । किञ्च महे महते रणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनाय चास्मान् दधातनेत्यनुवर्तते । महद्रमणीयं दर्शनं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं तद् अस्माकं कुरुत, अस्माकं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यान् कुरुतेति भावः । ऐहिकपारलौकिकसुखं दद्तेत्यृचो भावः । 'मह पूजायां' मह्यते पूज्यते इति मट्, (क्विप्प्रत्ययः) तस्मै महे । 'रण शब्दे' रण्यते स्तूयते सर्वैरिति रणं, तस्मै रणाय । चष्टे पश्यति सर्वं येन तत् चक्षः (चक्षतेरसुन्प्रत्ययः) तस्मै चक्षसे । 'यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातं स्यात्' इति छान्दोग्यश्रुतेः ॥ १ ॥

हे आपः वो युष्माकं यः शिवतमः शान्ततमः सुखैकहेतुः रसोऽस्ति इह अस्मिन् कर्मणि इह लोके वा स्थितान् नः अस्मान् तस्य रसस्य भाजयत भागिनः कुरुत, तं रसं प्रापयतेति भावः । कर्मणि षष्ठी । तत्र दृष्टान्तः—उशतीर्मातर इव । उशन्ति ता उशत्यः 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६-१-१०६) इति दीर्घः । 'वश कान्तौ' शतृप्रत्ययः 'उगितश्च' (पा० सू० ४-१-६) इति ङीप् । उशत्यः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति तद्वत् ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'अथैन'''रिति'। अथाचार्य एनं कुमारं सूर्यमुदीक्षयति सूर्यं दर्शयति [1]'तच्चक्षुः' इति मन्त्रेण। उदीक्षयतीति कारितत्वात् 'सूर्यमुदीक्षस्व' इति प्रैष आचार्यस्य ॥१७॥

'अथास्य'''मह्यमिति'। अथाचार्योऽस्य कुमारस्य दक्षिणांसमधिदक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वीयं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षः आलभते स्पृशति—'मम व्रते ते' इति मन्त्रेण। व्याख्यातश्चायं विवाहप्रकरणे ॥ १८ ॥

अलमिति पर्याप्तौ; लकारस्य रेफश्छान्दसः। हे आपः! वः युष्मत्सम्बन्धिनः तस्य पर्याप्तिं वयं गमाम गच्छेम। पर्याप्तिर्नाम रसविषये वैतृष्ण्यं सदातृप्तिर्वा। तस्मै इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। यस्य क्षयाय जिन्वथ 'क्षयो निवासे'' (पा० सू ६-१-२०१) इत्याद्युदात्तत्वात् क्षयशब्देन निवासः। क्षयायेति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे 'यस्य' इत्यनेन सामानाधिकरण्यात्। क्षयस्य निवासस्य जगतामाधारभूतस्य यस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्यैकदेशेन यूयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् जिन्वथ तर्पयथ। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। पश्चाहुतिपरिणामक्रमेणेति भावः। किञ्च हे आपः नः अस्मान् तत्र भोक्तृत्वेन जनयथा उत्पादयत (आशिषि लोट् 'अन्येषामपि दृश्यते'' (पा० सू० ६-३-१३७) इति संहितायां दीर्घः) तद्रसभोक्तृन् अस्मान् कुरुतेत्याजानदेवत्वमाशास्यते इति भावः। यद्वा, यस्य क्षयाय क्षयेन निवासेन यूयं जिन्वथ प्रीता भवथ तस्मै रसाय तद्रसाप्तये वः युष्मान् अरम् अत्यर्थं वयं गमाम प्राप्नुमः। किञ्च हे आपः! यूयं नः अस्मान् जनयथ प्रजोत्पादनसमर्थान् कुरुथ। (गच्छतेर्लुङि उत्तमबहुवचने 'अगमाम' इति रूपम्, अडभाव आर्षः। "बहुलं छन्दसि" (पा० सू० २-४-७३) इति शपो लुकि लोटि वा रूपम्) ॥ ३ ॥

१. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ (य० सं० ३६-२४)

अस्यार्थः—एतैर्मन्त्रैर्यो महावीरोऽस्माभिः स्तुतः तत् चक्षु जगतां नेत्रभूतमादित्यरूपं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उच्चरत् उच्चरति उदेति। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु'' (पा० सू० ३-४-९७) इति इकारलोपः। कीदृशं तत्? देवहितं देवैर्हितं स्थापितं, देवानां हितं प्रियं, शुक्रं शुक्लं पापासंसृष्टं शोचिष्मद् वा। तस्य प्रसादात् शतं शरदः वर्षाणि वयं पश्येम शतवर्षपर्यन्तं वयमव्याहतचक्षुरिन्द्रिया भवेम। प्रार्थनायां लिङ्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। शतं शरदः जीवेम अपराधीनजीवना भवेम। शतं शरदः शृणुयाम स्पष्टश्रोत्रेन्द्रिया भवेम। शतं शरदः प्रब्रवाम अस्खलितवागिन्द्रिया भवेम। शतं शरदः अदीनाः स्याम न कस्याप्यग्रे दैन्यं कुर्याम। शतात् शरदः शतवर्षोपर्यपि भूयश्च 'बहुकालं पश्येम' इत्यादि योज्यम् ॥ इति।

(गदाधर०)

'अथास्य···सीति'। अथाचार्योऽस्य कुमारस्य दक्षिणं हस्तं स्वदक्षिणहस्तेन गृहीत्वा 'को नामासि' इत्याह ब्रवीति ॥ १९ ॥

'असा···त्याह'। एवमाचार्येण पृष्टः कुमार आचार्यं प्रत्याह। असाविति सर्वनामस्थाने आत्मनो नामग्रहणम्। अमुकोऽहं भो इति ॥ २० ॥

'अथैन···सीति'। अथैनं कुमारं प्रति आचार्य आह कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥२१॥

'भवत···साविति'। भवत इति आचार्यं प्रति कुमारेणोच्यमाने आचार्य "इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि" इत्यमुं मन्त्रं पठति। असावित्यस्य स्थाने आमन्त्रणविभक्तियुक्तं कुमारनामग्रहणं कार्यम्। स्वनाम प्रथमान्तमित्यपरे। उभयथा मन्त्रार्थोपपत्तेः स्मृत्यन्तरान्निर्णय इति भर्तृयज्ञभाष्ये। मन्त्रार्थस्तु—'इदि परमैश्वर्ये' इन्द्रस्य प्रजापतेर्ब्रह्मचारी त्वमसि, तव चाग्निराचार्यः प्रथमः, द्वितीयश्चाहं तव हे असौ अमुकशर्मन् ब्रह्मचारिन् ॥ २२ ॥

'अथैनं···रिष्टया इति'। अथाचार्य एनं कुमारं भूतेभ्यः प्रजापतिप्रभृतिभ्यः परितोऽरिष्टयै रक्षायै प्रयच्छति 'प्रजापतये त्वा परिददामि' इत्यनेन मन्त्रेण। अथैनं भूतेभ्यः परिददाति प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामीति श्रुतत्वात्। मन्त्रार्थः सुगमः, हे ब्रह्मचारिन् प्रजापतये स्रष्ट्रे त्वा त्वां परिददामि समर्पयामि। विश्वेभ्यो भूतेभ्यः विश्वानि भूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च तेभ्यः, सर्वेभ्यो भूतेभ्यो देवविशेषेभ्य इत्यपौनरुक्त्यम्। किमर्थम्? अरिष्टयै अहिंसायै ॥ २३ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

तृतीया कण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥ १ ॥ अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनठ्ं. सठ्ं.शास्ति ब्रह्मचार्यस्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा सुषुप्था वाचं यच्छ समिधमाधेह्यपोशानेति ॥ २ ॥

(सरला)

'उपनयन'

प्राक्कथन—प्रस्तुत कण्डिका में उपनयन का और आगे निरूपण करते हैं। प्रधानतः यहाँ ब्रह्मचारी के लिए सवितृदेवताक गायत्री छन्द की ऋचा (गायत्री मन्त्र) का उपदेश वर्णित है।

हिन्दी—[बालक] अग्नि की प्रदक्षिणा करके बैठता है[1] ॥ १ ॥

ब्रह्मा द्वारा स्पर्श किए हुए घृत की आहुति देकर संस्रव प्राशन के बाद इस बालक को [आचार्य] शिक्षा देता है। [आज से] तुम ब्रह्मचारी हो, जल पीओ[2] [आचमन कर] कर्म करो, दिन में मत सोओ, वाणी का नियमन करो, समिधा को [सुबह शाम] अग्नि में प्रदान करो, आचमन करो[2] [यही तुम्हारे लिए शिक्षा है] ॥ २ ॥

(हरिहर०)

प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति। एवं वस्त्रदानादिभिराचार्येण संस्कृतो माणवकः अग्निं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परीत्य परिक्रम्य पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरतः उपविशति आस्ते ॥ १ ॥

अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते। ततः ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आचार्य आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते। अत्र पुनरन्वारम्भानुवादः चतुर्दशाहुतिहोमव्यतिरिक्तहोमप्रतिषेधार्थः। अथैनठ्ं सठ्ं शास्ति ब्रह्मचार्यस्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा सुषुप्था वाचं यच्छ समिधमाधेह्यपोशानेति। अथ अनन्तरमाचार्यः एनं माणवकं संशास्ति शिक्षयति। कथं ?

---

१. द्रष्टव्य—शतपथ ११. ५. ४. ६.

२. पहला आचमन भोजन के पूर्व और दूसरा भोजन के बाद करना चाहिए क्योंकि श्रुति कहती है कि—

'अशिषाम्नाचामेदशित्वाचाचामेत्'

(हरिहर०)

ब्रह्मचारी असि। असानीति माणवकेन प्रत्युक्तः अपः अशान पिब इति। अशानीति प्रत्युक्तः कर्म्म स्नानादिकं स्ववर्णाश्रमविहितं कुरु विधेहि। करवाणीति प्रत्युक्तः मा दिवा सुषुप्थाः स्वाप्सीरिति। न स्वपामीति प्रत्युक्तः वाचं गिरं यच्छ नियमय। यच्छानीति प्रत्युक्तः समिधं वक्ष्यमाण-प्रकारेण आधेहि अग्नौ प्रक्षिपेति। अपोऽशानेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'प्रद...शति'। परिदानानन्तरं कुमारोऽग्निं प्रदक्षिणं यथा स्यात्तथा परीत्य परिक्रमणं कृत्वाऽग्नेरुत्तरत उपविशति। 'पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरत उपविशति' इति जयरामहरिहरौ। 'पश्चादग्नेरुपवेशनम्' इति भर्तृयज्ञकारिकाकारौ। 'आचार्यस्य दक्षिणतः' इति गर्गपद्धतौ। 'आचार्यस्योत्तरतः' इति वासुदेवः ॥ १ ॥

'अन्वा...नेति। तत आचार्यो ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशा-ज्याहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते 'ब्रह्मचार्यसि' इत्येवमादिभिः सप्तप्रैषवाक्यैरेनं कुमार-मनुशास्ति शिक्षयति। अत्र ब्रह्मोपवेशनादि दक्षिणादानान्तं कर्म कृत्वाऽनुशासनं कार्यम्। तच्चैवं—ब्रह्मचार्यसीत्याचार्य आह। भवानीति ब्रह्मचारी प्रत्याह। अपोशानेत्याचा०। अश्नानीति ब्र०। कर्म कुर्वित्याचा०। करवाणीति ब्र०। मा दिवा सुषुप्था इत्याचा०। न स्वपानीति ब्र०। वाचं यच्छेत्याचा०। यच्छानीति ब्र०। समिधमाधेहीत्याचा०। आदधानीति ब्र०। अपोशानेत्याचा० अश्नानीति ब्र०। ब्रह्मचार्यसीत्यादिप्रैषाणामयमर्थः—ब्रह्म कर्म चरतीत्येवं शीलो ब्रह्मचारी असि भवसि। अपः अशान पिब। कर्म स्नानादिकं स्ववर्णाश्रमविहितं कुरु विधेहि। दिवसे मा स्वाप्सीः। स्मृत्युक्तकाले वाचं गिरं यच्छ नियमय। समिधं वक्ष्यमाण-प्रकारेण आधेहि अग्नौ सर्वदा प्रक्षिप। प्रथममाचमनमशिष्यन्, द्वितीयं चाशित्वा; "अशिष्यन्नाचामेदशित्वाऽऽचामेत्" इति श्रुतेः। कर्मकरणमविशेषोपदिष्टमप्याचार्याय "आचार्याय कर्म करोति" इति श्रुतत्वादिति भर्तृयज्ञः ॥ २ ॥

अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोप-सन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥ ३ ॥ दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥ ४ ॥ पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन् ॥ ५ ॥

(सरला)

[आचार्य] शासनानन्तर इस ब्रह्मचारी के लिए, पश्चिमाभिमुख अग्नि के उत्तर तरफ बैठे हुए, गुरु का पैर पकड़े हुए और गुरु को देखते हुए तथा गुरु भी सम्यक् रूप से [ब्रह्मचारी को देखते हुए] सवितृ देवताक गायत्री छन्द वाली

(सरला)

ऋचा का उपदेश देता है ॥ ३ ॥ कुछ ऋषियों के अनुसार अग्नि के दक्षिण ओर खड़े हुए अथवा बैठे हुए [ब्रह्मचारी को मंत्र देना चाहिए[1] ॥ ४ ॥ [सावित्री मंत्र प्रदान की विधि बतलाते हैं :—] पहले एक पाद, दूसरी बार दो पाद, तीसरी बार सम्पूर्ण मंत्र को और ब्रह्मचारी से बुलवाता हुआ [आचार्य उपदेश करे] ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अथाऽस्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय । दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके । पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वाञ्च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन् । अथ शासनानन्तरम् अस्मै ब्रह्मचारिणे सावित्रीं सवितृदेवत्यां गायत्रीछन्दस्कां विश्वामित्रदृष्टाम् ऋचम् अन्वाह उपदिशति । कथम्भूताय ? प्रत्यङ्मुखाय पश्चिमाभिमुखाय । पुनः कथम्भूताय ? उपविष्टाय । क्व ? अग्नेरुत्तरस्यां दिशि । तथा उपसन्नाय पादोपसङ्ग्रहणादिना भजमानाय, तथा समीक्षमाणाय सम्यक् आचार्यमवलोकयते, तथा आचार्येण सम्यगवलोकिताय । पक्षान्तरमाह दक्षिणतः अग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते ऊर्द्धाय ऊर्द्धीभूताय वा आसीनाय उपविष्टाय इत्येके आचार्याः सावित्रीप्रदानं मन्यन्ते । कथमन्वाह ? पच्छः पादं पादम्, अर्द्धर्चशः तदनु अर्द्धर्चमर्द्धर्चम्, तदनु च सर्वां तृतीयेन वारेण सह मिलित्वा आवर्त्तयन् पठन् ॥ ३–५ ॥

(गदाधर०)

सावित्र्युपदेशमाह—'अथास्मै'''ताय' । अथाचार्योऽस्मै ब्रह्मचारिणे सावित्रीं सवितृदेवताकां गायत्रीछन्दस्कां "तत्सवितुः"[2] (य० सं० ३-३५) इत्यृचमन्वाह

---

१. द्रष्टव्य—शतपथ० ब्रा० १. १. १४.

२. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

अस्यार्थः—तद् इति षष्ठयर्थे । तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः सर्वान्तर्यामितया देवस्य द्योतनात्मकस्य ब्रह्मणः, विज्ञानानन्दस्य, हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा, आदित्यान्तरपुरुषस्य वा वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादिवेदान्तप्रतिपाद्यं वयं धीमहि ध्यायामः । छान्दसं सम्प्रसारणम् । यद्वा, मण्डलं पुरुषो रश्मय इति त्रयं भर्गः शब्दवाच्यम् । भर्गो वीर्यं वा "वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद्भर्गोऽपचक्राम वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतेः । यः सविता नः अस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय । यद्वा, वाक्यभेदेन योजना-सवितुर्देवस्य तद् वरेण्यं भर्गो ध्यायामः, यश्च नो बुद्धीः प्रेरयति तं च ध्यायामः । स च सवितैव । लिङ्गव्यत्ययेन योजना सवितुर्देवस्य तत् भर्गो धीमहि, यो यद् भर्गो नो बुद्धीः प्रेरयति । इति ।

(गदाधर०)

उपदिशति । किंभूताय ? प्रत्यङ्मुखाय पश्चिमाभिमुखाय । पुनः किंलक्षणाय ? उपविष्टाय आसीनाय । क्व इत्यपेक्षायामुत्तरतोऽग्नेः अग्नेरुत्तरस्यां दिशि । उपसन्नाय पादोपग्रहणादिना भजमानाय । पुनः किंभूताय ? गुरुं समीक्षमाणाय । पुनः किंभूताय ? समीक्षिताय गुरुणा सम्यगवलोकिताय । श्रुतिः—'तस्मादेतां गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्' इति । मदनपारिजाते शातातपः—'तत्सवितुर्वरेण्यमिति सावित्रीं ब्राह्मणस्य' इति ॥ ३ ॥

'दक्षिण···वैके' । एके आचार्या अग्नेर्दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते स्थिताय ऊर्ध्वीभूताय ब्रह्मचारिणे आसीनायोपविष्टाय वा सावित्रीप्रदानमाहुः । "अथ हैके दक्षिणतस्तिष्ठते वाऽऽसीनाय वाऽन्वाहुः" इति श्रुतत्वात् एकग्रहणाद् विकल्पः ॥ ४ ॥

'पच्छो···र्तयन्' । सावित्रीप्रदानेऽयं प्रकारः—प्रथमं तावत्पच्छः पादं पादं, ततोऽर्धर्चशः अर्धर्चमर्धर्चम्, ततस्तृतीयेन वारेण सह बटुना सर्वां च सावित्रीमनुवर्तयन् आवर्तयन् पठेत् । अत्राह मदनपारिजाते लौगाक्षिः—"ॐभूर्भुवःस्वरित्युक्त्वा तत्सवितुरिति सावित्रीं त्रिरन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वामन्ततः" इति । "तां वै पच्छोऽन्वाह" इत्युपक्रम्य "अथार्द्धर्चशः, अथ कृत्स्नाम्" इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विꣳशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ॥ ६ ॥ सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥ ७ ॥ त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगतीं वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ १० ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

(सरला)

अथवा यह मंत्र उपनयन के साल भर पर, छः महीने पर या चौबीस दिन पर, बारह दिन, छः दिन या तीन दिन के बाद में [देना चाहिए] ॥ ६ ॥

"आग्नेयो वै ब्राह्मणः"[1] "निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है"—इस श्रुति के

---

१. द्रष्टव्य—शतपथ० १. १. १२.

आग्नेयो वै ब्राह्मणः सद्यो वा अग्निर्जायते ।
तस्मात् सद्य एव ब्राह्मणायानुब्रूयात् ॥

ब्राह्मण आग्नेय है । यतः अग्नि शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है । अतः तत्काल ही ब्राह्मण को उपदेश करे ।

(सरला)

अनुसार ब्राह्मण के लिए तो [गुरु को] तत्काल ही गायत्री मंत्र को कहना चाहिए ॥ ७ ॥ त्रिष्टुप्[२] [छन्द की सावित्री] क्षत्रिय के लिए [देनी चाहिए] ॥ ८ ॥ जगती[३] [छन्द की] वैश्य को [देनी चाहिए] ॥ ९ ॥ अथवा सभी [तीनों वर्णों] को गायत्री [छन्द में सावित्री] का [उपदेश करे] ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार 'सरला' हिन्दी व्याख्या में डा० सुधाकर मालवीय कृत
द्वितीय काण्ड के तृतीय कण्डिका की हिन्दी पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

(हरिहर०)

संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा । सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः । त्रिष्टुभं० राजन्यस्य । जगतीं वैश्यस्य । सर्वेषां वा गायत्रीम् । सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानाह—संवत्सरे उपनयनमारभ्य पूर्णे वर्षे, षण्मास्ये षडेव मासाः षण्मास्यं, स्वार्थे तद्धितश्छान्दसो वृद्धिलोपः "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इति वचनात् । तस्मिन् षण्मास्ये, चतुर्विंशत्यहे चतुर्विंशत्या अहोभिरुपलक्षितः कालः चतुर्विंशत्यहः तस्मिन्, द्वादशाहे द्वादशभिरहोभिरुपलक्षितः कालो द्वादशाहस्तस्मिन्, षडहे षड्भिरहोभिरुपलक्षितः कालः षडहः तस्मिन्, त्र्यहे त्रिभिरहोभिरुपलक्षितः कालस्त्र्यहस्तस्मिन्, वाशब्दः सर्वेषु संवत्सरादिषु सम्बध्यते । एते कालविकल्पाः आचार्यस्य शुश्रूषादिशिष्यगुणतारतम्यापेक्षाः । एवं सामान्येन सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानभिधायाधुना ब्राह्मणस्य विशेषमाह । तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । ब्राह्मणस्य नैते कालविकल्पाः, किन्तु क्षत्रियवैश्ययोः । ब्राह्मणस्य सद्य एव गायत्रीम् अनुब्रूयात् । कुतः ? 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' इति श्रुतेः । आग्नेयः अग्निदेवत्यः ब्राह्मण इति वेदवचनात् । त्रिष्टुभं. राजन्यस्य, जगतीं वैश्यस्य, सर्वेषां वा गायत्रीम् । राजन्यस्य क्षत्रियस्य त्रिष्टुभं त्रिष्टुप्छन्दो यस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं, जगती छन्दो यस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं वैश्यस्य विशः सावित्रीमनुब्रूयादित्यनुषज्यते । सर्वेषां वा गायत्रीं सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव गायत्रीछन्दस्कामेव सावित्रीं सवितृदेवताकां "तत्सवितुः" इति सकलवेदशाखाम्नाताम् ऋचमनुब्रूयात् ॥ ६–१० ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

१. देवः सविता'''(यजु० ९।१) २. विश्वारूपाणि'''(यजु० १२. ३).

(गदाधर०)

सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानाह—'संवत्सरे...वा'। उपनयनदिनमारभ्य संवत्सरे पूर्णे वा, षण्मास्ये मासषट्के वा, चतुर्विंशत्यहे वा, द्वादशाहे, षडहे वा, त्र्यहे वा सावित्रीमनुब्रूयादाचार्यः। 'तां ह स्मै तां पुरा संवत्सरेऽन्वाहुः' इत्युपक्रम्य 'अथ षट्सु मासेष्वथ चतुर्विंशत्यहे, अथ द्वादशाहे, अथ षडहे, अथ त्र्यहे' इति श्रुतत्वात्। क्षत्रियवैश्ययोरेते कालविकल्पाः, ब्राह्मणस्य तु वक्ष्यमाणत्वात्। एते कालविकल्पा आचार्यशुश्रूषादिशिष्यगुणतारतम्यापेक्षा इति हरिहरः। षण्मास्ये इति षडेव मासाः षण्मास्यं, स्वार्थे तद्धितश्छान्दसश्च वृद्धिलोपः, 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति वचनात् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणस्य कालमाह—'सद्य...श्रुतेः'। तु पुनः ब्राह्मणाय सद्य एव गायत्रीमनुब्रूयात् उपदिशेत्। कुतः? "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" इति श्रुतेः। आग्नेयः अग्निदेवत्य इति, अतोऽस्मै सद्य एवोपदेशो युक्तः, "आग्नेयो वै ब्राह्मणः, सद्यो वा अग्निर्जायते, तस्मात्सद्य एव ब्राह्मणायानुब्रूयात्" इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

'त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य'। त्रिष्टुप् छन्दो यस्याः सा त्रिष्टुप् तां सावित्रीं त्रिष्टुभम् "[1]देवसवितः" (य० सं० ९-१) इत्यादिकां राजन्यस्य क्षत्रियस्यानुब्रूयात्। पारिजाते—'देवसवितरिति राजन्यस्य' इति। 'ताꣳसवितुः' इति भर्तृयज्ञेनोदाहृता ॥ ८ ॥

'जगतीं वैश्यस्य'। जगतीछन्दस्कां सावित्रीं "[2]विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते"

---

१. देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु ॥

अस्यार्थः—हे सवितः सर्वस्य प्रेरकान्तर्यामिन्! हे देव दीप्यमान! यज्ञं वाजपेयलक्षणं यागं प्रसुव अभ्यनुजानीहि, प्रवर्तयेत्यर्थः। यज्ञपतिं यजमानं भगाय भजनीयायानुष्ठानरूपैश्वर्याय प्रसुव प्रेरय। त्वत्प्रसादात् दिव्यः दिवि भवः गन्धर्वः गवां रश्मीनां धारयिता केतपूः केतम् अन्नं पुनातीति केतपूः अन्नस्य पावयिता सूर्यमण्डलरूपो देवो नः अस्माकं केतम् अन्नं पुनातु शोधयतु, वाचस्पतिः प्रजापतिः नः अस्माकं वाजं हविर्लक्षणमन्नं स्वदतु आस्वादयतु स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ इति। तैत्तिरीयसंहितायां च "वाचस्पतिर्वाचमद्य स्वदाति नः" इति पाठः। तत्र प्रजापतिर्नः वाचं वाणीं स्वदाति आस्वादयतु। लेट् छान्दसः।

२. विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥

अस्यार्थः—कविः विद्वान् क्रान्तदर्शनः वरेण्यः श्रेष्ठः सविता सर्वस्य प्रसविता सूर्यः विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते द्रव्येषु प्रतिबध्नाति रात्रितमोऽ-

(गदाधर०)

(य० सं० १२–३) इत्यृचं वैश्यस्यानुब्रूयात् । जगती छन्दो यस्याः सा जगती, ताम् । [१]"युञ्जते मनः" (य० सं० ५–१४) इति भर्तृयज्ञभाष्ये । "विश्वारूपाणीति वैश्यस्य" इति पारिजाते ॥ ९ ॥

'सर्वे'''त्रीम्' । गायत्री छन्दो यस्याः सा गायत्री तां सावित्रीं सर्वेषां ब्राह्मण-क्षत्रियविशां 'तत्सवितुः' इत्यृचमनुब्रूयात् । वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ १० ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वितीयकाण्डे तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

पहृत्य रूपाणि प्रकाशयतीत्यर्थः । यश्च द्विपदे चतुष्पदे द्विपाद्भ्यश्चतुष्पाद्भ्यो मनुष्यपश्वादिभ्यो भद्रं कल्याणं स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूपं श्रेयः प्रासावीत् प्रसौति प्रेरयति । यश्च नाकं स्वर्गं व्यख्यत् विख्याति प्रकाशयति । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" (अष्टा० सू० ३-१-५२) इति च्लेरङादेशः । यश्च उषसः उषःकालस्य प्रयाणं गमनमनु पश्चात् उषःकाले व्यतीते सति विराजति विशेषेण दीप्यते । उषाः सवितुः पुरोगामिनीति सवितुः स्तुतिः ॥ इति ।

१. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

अस्यार्थः—बृहतः महतः विपश्चितः सर्वज्ञस्य अधीतवेदत्वाद् बृहत्त्वम्, अर्थाभिज्ञत्वाद्विपश्चित्त्वम् । विप्रस्य ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो होत्रा होमकर्तारः विप्रा ब्राह्मणा ऋत्विजो मनो युञ्जन्ति लौकिकचिन्ताभ्यो मनो निवार्य यज्ञचिन्तायां नियमयन्ति । उत धिय इन्द्रियाण्यपि यज्ञार्थेषु नियमयन्ति । तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यम् वयुनावित् "वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा" (निरु० नै० ५-१४) इति यास्कोक्तेर्वयुनं प्रज्ञां सर्वभूतानां मनोवृत्तिं वेत्तीति वयुनावित् (संहितायां दीर्घः) सर्वधीसाक्षीत्यर्थः । एकः इत् एक एव विदधे ससर्ज, यतः सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य परिष्टुतिः सर्वदोक्ता स्तुतिः मही महती । तथाचाथर्वणिकाः—"यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति, बृहदारण्यकेऽपि "स एव सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च" (मा० ४-२-२४ । का० ४-४-२१) इति । श्वेताश्वतरोपनिषदि "परस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति ।

चतुर्थी कण्डिका

अत्र समिदाधानम् ॥ १ ॥ पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि एवं माठं सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥ २ ॥

(सरला)

"समिदाधान"

प्राक्कथन—ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य के रूप में प्रस्तुत कण्डिका में उपनयन के अङ्गभूत समिधा-होम की विधि बतलाई जाती है।

हिन्दी—सावित्री मंत्र प्रदान करने के पश्चात्[1] समिधा [अग्नि में] डाली जाती है ॥ १ ॥ "अग्ने सुश्रव..." इस मंत्र से [ब्रह्मचारी] हाथ से [समिधा डालकर] अग्नि को प्रज्वलित करता है। "हे अग्नि ! तुम ख्याति वाले हो, मुझे भी ख्यातियुक्त बनाओ; जिस प्रकार हे अग्नि ! अच्छे यश वाले तुम हो, उसी प्रकार मुझे अच्छे यश वाला बनाओ; जिस प्रकार हे अग्नि ! तुम देवताओं के यज्ञ की रक्षा करते हो उसी प्रकार मैं मनुष्यों के लिए वेद की निधि का रक्षक[2] बन जाऊँ" ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अत्र समिदाधानम्। अत्र सावित्रीप्रदानोत्तरकाले समिधाम् आधानं प्रक्षेपः ब्रह्मचारिणो भवति। अत्राम्नाविति भाष्यकारः। अत्रावसरस्य पाठादेव सिद्धेः ॥ १ ॥

पाणिनाग्निं परिसमूहति। पाणिना दक्षिणहस्तेन अग्निं प्रकृतहोमाधिकरणं परिसमूहति सन्धुक्षयति। इन्धनप्रक्षेपेण वक्ष्यमाणैः पञ्चभिर्मन्त्रैः। अग्ने सुश्रवः सुश्रवसम्मा कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। एवं मा सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्। केचित्परिसमूहने त्रिन्मन्त्रान्मन्यन्ते। तद्यथा—अग्ने

---

१. भाष्यकार हरिहर के अनुसार "अत्र" शब्द सावित्री प्रदानोत्तर कालार्थक है।

२. द्रष्टव्यः—आश्व० गृह्य० १. २२. २१।

(हरिहर०)

सुश्रव इत्यारभ्य सुश्रवसम्मा कुरु इत्येकम्, यथा त्वमग्ने इत्यारभ्य सौश्रवसं कुरु इत्येवं द्वितीयम्, यथा त्वमग्ने देवानामित्यादि भूयासमित्यन्तं तृतीयमिति ॥ २ ॥

(गदाधर०)

उपनयनाङ्गभूतं समिदाधानमाह—'अत्र समिदाधानम्' । अत्रास्मिन् प्रकृतेऽग्नौ समिदाधानं समिधां तिसृणां प्रक्षेपो ब्रह्मचारिकर्तृको भवति । अत्र अवसरे इति केचित्, तन्न, पाठादेव तत्सिद्धेः । अत्रशब्दोऽग्निपरो द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

समिदाधानस्येतिकर्तव्यतामाह—'पाणिनाग्नि'''समिति' । ब्रह्मचारी पाणिना दक्षिणहस्तेनाग्निं प्रकृतमुपनयनाङ्गहोमाधिकरणं परिसमूहति शुष्कगोमयखण्डादीन्धनप्रक्षेपेण सन्धुक्षयति, 'अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु' इत्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः । कारिकायां विशेषः—

> प्रतिमन्त्रं त्रिभिः काष्ठैरग्ने सुश्रवआदिभिः ।
> अग्ने सुश्रव इत्येकं यथा त्वं स्याद् द्वितीयकम् ॥
> यथात्वमग्ने देवानां मन्त्रेणापि तृतीयकम् ।
> कृत्वा पर्युक्षणं वह्नेरुत्थाय समिदाहुतिः ॥ इति ।

पाणिनेत्येकवचनमेकत्वनियमार्थम् । उभाभ्यामपि दृश्यते सन्धुक्षणम् । मन्त्रार्थः—हे अग्ने हे सुश्रवः शोभनकीर्ते मा मां सुश्रवसं शोभनकीर्तिं कुरु । किञ्च हे अग्ने सुश्रवः सौश्रवसं सुश्रवाश्च सौश्रवसश्च तम् । तत्र सुश्रवाः स्वयम् सुश्रवा गुरुस्तस्यायं सौश्रवसः ममाचार्यमपि सुश्रवसं कृत्वा तदीयत्वेन मां सौश्रवसं कुर्वित्यर्थः । किञ्च हे अग्ने यथा त्वं देवानामिन्द्रादीनां मध्ये यज्ञस्य च क्रतोर्निधिं हविर्द्रव्यम् पासि रक्षसि, एवमहं मनुष्याणां मध्ये वेदस्य श्रुतेर्निधिरधिकरणं भूयासं भवेयम् ॥ २ ॥

प्रदक्षिणमग्निं [1]पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्समिधमादधाति—अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहेति ॥ ३ ॥ एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥ ४ ॥ एषा त इति वा ॥ ५ ॥ समुच्चयो वा ॥ ६ ॥

---

१. 'पर्युक्ष्योत्थाय' इत्यपि बहुसम्मतः पाठः ।

(सरला)

प्रदक्षिणा क्रम से [अर्थात् बाएँ से दाएँ] अग्नि का पर्युक्षण करके [जल छिड़क कर] खड़े होकर "अग्नये...स्वाहा" इस मंत्र से समिधा को [लकड़ी को] छोड़ता है। "मैं उस अग्नि के लिए समिधा ले आया हूँ जो महान् है और जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसको जानने वाला है। जिस प्रकार तुम हे अग्नि ! समिधा के द्वारा प्रदीप्त हो रहे हो, उसी प्रकार मैं आयु, मेधा, आध्यात्मिक शक्ति, सन्तान, पशु और ब्रह्म शक्ति से प्रदीप्त होऊँ। मेरे आचार्य जीवित पुत्र वाले हों। मैं मेधावी हो जाऊँ और जो कुछ ज्ञान हमने प्राप्त किया है, उसे न भूलूँ। यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी एवं अन्न का पचाने वाला होऊँ। स्वाहा ॥ ३ ॥ इसी प्रकार दूसरी एवं तीसरी [समिधा अग्नि में डालना चाहिए] ॥ ४ ॥

अथवा "एषा ते अग्ने[1]..." इस मंत्र के द्वारा समिधा छोड़े या दोनों ही उपरोक्त मंत्रों के द्वारा समिधा छोड़ी जा सकती है ॥ ५ ॥

पहले की भांति[2] [अग्ने सुश्रवः...मंत्रादि से] अग्नि प्रज्वलन और अग्नि के ऊपर पानी छिड़कना चाहिए ॥ ६ ॥

विमर्श—इससे स्पष्ट होता है कि उस समय वेद पढ़कर उसे रक्षा करने की इच्छा थी।

(हरिहर०)

प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन् समिधमादधात्यग्नये समिधमिति । ततः प्रदक्षिणं यथा भवति तथा अग्निं पर्युक्ष्य दक्षिणहस्तगृहीतेनोदकेन परिषिच्य उत्थाय ऊर्द्धीभूय प्राङ्मुखस्तिष्ठन् समिधं समिध्यते दीप्यते अग्निरनयेति समित् तां समिधम् आदधाति प्रक्षिपति । समिल्लक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—

नाङ्गुष्ठादधिका कार्या समित्स्थूलतया क्वचित् ।
न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥
प्रादेशान्नाधिका न्यूना न तथा स्याद् द्विशाखिका ।
न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु न विजानता ॥

ब्रह्मपुराणे—

पालाशाश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षवैकङ्कतोद्भवाः ।
अश्वत्थोदुम्बरौ बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा ॥
शालश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति याज्ञिकाः ॥

मरीचिः—

विशीला विदला ह्रस्वा वक्रा ससुषिराः कृशाः ।
दीर्घाः स्थूला घुणैर्जुष्टाः कर्मसिद्धिविनाशिकाः ॥

---

१. यजु० २. १४ २. द्रष्टव्य—इसी कण्डिका के २ और ३ सूत्र ।

(हरिहर०)

अस्य पूर्वश्लोकः—

प्रागग्राः समिधो देयास्ताश्च काम्येष्वपाटिताः।
काम्येषु च सशल्कार्द्रा विपरीता जिघांसते ॥ इति ।

केन मन्त्रेण ? "अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिद्ध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्च्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्च्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ३ ॥

एवं द्वितीयां तथा तृतीयामेषा त इति वा समुच्चयो वा। एवमनेनैव मन्त्रेण द्वितीयां समिधमादधाति, तथा तेनैव मन्त्रेण तृतीयाम् । मन्त्रविकल्पमाह— "एषा ते अग्ने समित्" इत्यादि 'आचप्यासिषीमहि' इत्यन्तेन वा मन्त्रेण । अथ वा "अग्नये समिधम्" इति "एषा ते" इति द्वयोर्मन्त्रयोः समिदाधाने समुच्चयः ऐक्यम् । ततश्च मन्त्रद्वयान्ते समित्प्रक्षेप इति त्रयो मन्त्रविकल्पाः ॥ ४—६ ॥

(गदाधर०)

'प्रदक्षि'''स्वाहेति'। ततो ब्रह्मचारी प्रदक्षिणं यथा स्यात्तथा सन्धुक्षितमग्निं दक्षिणहस्तगृहीतेनोदकेन परिषिच्योत्थाय प्राङ्मुखस्तिष्ठन् समिधमादधाति अग्नौ प्रक्षिपति 'अग्नये समिधम्' इत्यादि स्वाहाकारान्तेन मन्त्रेण । समिध्यते दीप्यते अग्निरनयेति समित् । तल्लक्षणं चास्माभिः 'समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात्' इति सूत्रार्थे उक्तम् । ननु 'तिष्ठन्समिधः सर्वत्र' इति श्रौतसूत्रे उक्तत्वादुत्थायेति ग्रहणं व्यर्थम् । सत्यम्, नायं होमः समिदाधानमित्येतत्सूचनार्थमुत्थायेति ग्रहणमित्यदोषः । अतोऽत्र त्यागाभावः। यद्वा इहोत्थायेति ग्रहणमन्यत्र स्मार्ते परिसङ्ख्यार्थमिति कारिकायाम् । **प्रयोगरत्ने** तु त्यागो लिखितः। मन्त्रार्थः—हे देवाः ! इमां समिधमग्नये अग्न्यर्थमाहार्षम् आहृतवानस्मि । किंभूताय ? बृहते महते, जातान् जातान् वेत्ति इति जातवेदास्तस्मै । यथा येन प्रकारेण समिधा अनया दीप्यमानया त्वं हे अग्ने समिध्यसे दीप्यसे एवमहमायुषा जीवनेन मेधयाऽतीतादिधारणवत्या बुद्धया वर्चसा तेजसा प्रजया पुत्रादिभिः पशुभिः गवादिभिः ब्रह्मवर्चसेन तेजसा कृताध्ययनसंपत्त्या एतैरहं समिन्धे समृद्धो भवामि । आचार्यविषयं फलमभ्याशंसते—जीवपुत्रो दीर्घायुरपत्यो ममाचार्यो भवतु जीवन्तः पुत्रा यस्य । मेधावी अहमसानि भवामि । अनिराकरिष्णुर्गुरूपदिष्टधर्माद्यविस्मरणशीलः, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नादः अन्नमत्तीत्यन्नादः भूयासं भवेयम् । स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ ३ ॥

'एवं'''याम्' । एवमनेनैव मन्त्रेण द्वितीयां समिधमादधाति, तथैवानेन मन्त्रेण तृतीयां समिधमादधाति । 'तिस्रः समिध आदधात्यग्नये समिधमाहार्षम्' इत्युच्यमाने

(गदाधर०)

मन्त्रान्ते युगपत्तिसृणामाधानं प्राप्नोति तन्निवृत्त्यर्थमेवं द्वितीयां तथा तृतीयामिति सूत्रणा ॥ ४ ॥

'एषा त इति वा'। अथवा "एषा ते अग्ने समित्तया" इति मन्त्रेण समिदाधानम्। अत्रापि मन्त्रावृत्तिः ॥ ५ ॥

'समुच्चयो वा'। अथवा "अग्नये समिधम्" "एषा ते" इति च द्वयोर्मन्त्रयोः समुच्चय ऐक्यं समिदाधाने स्यात्। अत्रापि प्रतिसमिदाधानं मन्त्रयोरावृत्तिः ॥ ६ ॥

पूर्ववत्परिसमूहनपर्युक्षणे ॥ ७ ॥ पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि। आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मेदेहि। वर्चोदा अग्नेऽसि व्वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। मेधां मे देवः सविता। मेधां मे देवी सरस्वती। मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति[1] ["अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति (१) त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम् (२)"] ॥ ८ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(सरला)

दोनों हाथों को तपाकर निम्न मंत्रों से मुख पर फेरता है "हे अग्नि ! [तुम] शरीर का पालन करने वाले हो। मेरे शरीर की तुम रक्षा करो। हे अग्नि ! तुम आयु प्रदान करने वाले हो। मुझे आयु प्रदान करो। हे अग्नि ! तुम वर्चस्विता [तेज] प्रदान करने वाले हो, मुझे वर्चस्विता दो। हे अग्नि ! मेरी शरीर में जो कुछ कमी हो उसे पूर्ण करो" ॥ ७ ॥ सविता देव मुझे मेधा [बुद्धि] प्रदान करें, सरस्वती मुझे मेधा प्रदान करें, कमल की माला धारण करने वाले दोनों अश्विनी कुमार मुझे मेधा प्रदान करें ॥ ८ ॥

[शरीर के अवयवों का स्पर्श करके 'अङ्गानि च मे'' इत्यादि मंत्र पढ़ना चाहिए ॥ १ ॥ त्र्यायुषम्'''इत्यादि मन्त्र द्वारा भस्म से प्रतिमन्त्रोच्चारणपूर्वक भस्म से मस्तक में तिलक करे, कण्ठ में, दक्षिण कन्धे पर एवं हृदयस्थल पर तिलक

---

१. इतोऽग्रे अङ्गान्यालभ्य ''प्रतिमन्त्रम् इति कपुस्तकेऽधिकः पाठ उपलभ्यते परं सूत्रकारान्तरीयत्वात्तयोः सूत्रयोरस्माभिः बन्धनीचिह्नाङ्कितः।

(सरला)

करे; अर्थात् 'त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ललाटे, कश्यपस्य त्र्यायुषम्—इससे ग्रीवा में, 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्' इससे दक्षिण बाहु मूल में, 'तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' इससे हृदय में तिलक करना चाहिए ॥ २ ॥]

॥ इस प्रकार चतुर्थ कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत
हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

पूर्ववत्परिसमूहनपर्युक्षणे । पूर्ववत् "अग्ने सुश्रव" इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः परिसमूहनं, पर्युक्षणमपि पूर्ववत्कुर्यात् ॥ ७ ॥

पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे तनूपा अग्नेऽसि तन्वम्मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्च्चोदा अग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्म आपृणेति । मेधां मे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति ॥ पाणी हस्तौ प्रतप्य तूष्णीमग्नौ तापयित्वा 'तनूपा अग्नेऽसि' इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पाणिभ्यां मुखं विमृष्टे ललाटादि चिबुकातं प्रोञ्छति । तत्र मेधां मे देवः सविता, मेधां देवी सरस्वती, अनयोरादधात्वित्यध्याहारः ।

अत्र शिष्टाचारप्राप्ताः केचित्पदार्था लिख्यन्ते । तत्र अङ्गानि च मे आप्यायन्तां वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति । अङ्गानि च मे इत्यनेन मन्त्रेण शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि अङ्गान्यालभेत । एवं वाक् इत्यनेन मुखं, प्राण इत्यनेन नासिके, चक्षुरित्यनेन चक्षुषी, श्रोत्रमित्यनेन श्रवणे, यशोबलमित्यस्य पाठमात्रम् । त्र्यायुषाणि कुरुते भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम् । "त्र्यायुषम्" इत्येतैश्चतुर्भिर्मन्त्रपादैः अनामिकागृहीतेन भस्मना ललाटग्रीवादक्षिणांसहृदयेषु प्रतिपादं त्र्यायुषाणि कुरुते । अत्र त्र्यायुषकरणं सूत्रकारानुक्तमपि प्रसिद्धत्वात् शिष्टपरम्पराचरितत्वात् क्रियते ।

ततो ब्रह्मचारी सन्ध्यामुपास्याग्निकार्यं कृत्वा गुरुपूपसङ्ग्रहणं वृद्धतरेष्वभिवादनं वृद्धेषु नमस्कारं कुर्यात्पर्यायेण । अत्र स्मृत्यन्तरोक्तमभिवादनं लिख्यते—

ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् ।

इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतस्याभिवादनप्रयोगो यथा—उपसङ्ग्रहणं नाम अमुकगोत्रोऽमुकेत्येतावत्प्रवरः अमुकशर्म्माहं भो३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वा कर्णौ स्पृष्ट्वा दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां दक्षिणपाणिना

(हरिहर०)

गुरोर्दक्षिणं पादं सव्येन सव्यं गृहीत्वा शिरोऽवनमनम्। अभिवादने पादग्रहणं नास्ति, पादस्पर्शनं कार्यं, न वा। आयुष्मान् भव सौम्यामुक इति प्लुतान्तमुक्त्वा अमुकशर्मन् इति प्रत्यभिवादः कार्यः। आयुष्मान् भव सौम्येति वा प्रत्यभिवादः॥ अत्र गुरवो माता स्तन्यदात्री च पिता पितामहः प्रपितामहो मातामहश्चान्नदाता भयत्राताऽऽचार्यश्चोपनेता च मन्त्रविद्योपदेष्टा तेषां पत्न्यश्चोपसङ्ग्राह्याः। एतेन समावृत्तेन च बाले समवयस्के वाऽध्यापके गुरुवच्चेरत्। मातुलाश्च पितृव्याश्च श्वशुराश्च यवीयसोऽपि प्रत्युत्थायाभिवाद्याः। उपाध्याया ऋत्विजो ज्येष्ठभ्रातरश्च सर्वेषां पत्न्यश्चैवं मातृष्वसा सवर्णा भ्रातृभार्या च नित्यमभिवाद्याः।

विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या जातिसम्बन्धियोषितः।
विप्रोष्य विप्रं कुशलं पृच्छेन्नृपमनामयम्॥
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च।
न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि सर्वथा॥
पूज्यैस्तमभिभाषेत भो भवन् कर्मनामभिः॥
परपत्नीमसम्बन्धां भगिनीं चेति भाषयेत्।

त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवाद्यः। अत्रिवर्षाः सम्बन्धिनः स्वल्पेनापि स्वयोनिजाः अन्ये च ज्ञानवृद्धाः सदाचाराश्चाभिवाद्याः।

उदक्यां सूतिकां नारीं भर्तृघ्नीं गर्भपातिनीम्।
पाषण्डं पतितं व्रात्यं महापातकिनं शवम्॥
नास्तिकं कितवं स्तेनं कृतघ्नं नाभिवादयेत्।
मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं धावन्तमशुचिं नरम्॥
वमन्तं जृम्भमाणं च कुर्वन्तं दन्तधावनम्।
अभ्यक्तं शिरसि स्नानं कुर्वन्तं नाभिवादयेत्॥

इति शातातपः।

बृहस्पतिस्तु—

जपयज्ञजलस्थं च समित्पुष्पकुशान् तिलान्।
उदपात्रार्घ्यभैक्षान्नं वहन्तं नाभिवादयेत्॥
अभिवाद्य द्विजश्चैतानहोरात्रेण शुध्यति।

क्षत्रवैश्याभिवादने विप्रस्यैवम्। शूद्राभिवादने त्रिरात्रं कार्यम्।

रजकादिषु तु—

चाण्डालादिषु चान्द्रं स्यादिति सङ्ग्रहकृत्स्मृतम्।

जमदग्निः—

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं चैव त्रिदण्डिनम्।

(हरिहर०)

नमस्कारं न कुर्याच्चेदुपवासेन शुध्यति ॥
सर्वे वापि नमस्कार्याः सर्वावस्थासु सर्वदा ।
अभिवादो नमस्कारस्तथा प्रत्यभिवादनम् ॥
आशीर्वाच्या नमस्कार्येर्वयस्यस्तु पुनर्नमेत् ।
स्त्रियो नमस्या वृद्धाश्च वयसा पत्युरेव ताः ॥
॥ इति हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'पूर्वे'''पर्युक्षणे' । परिसमूहनम् "अग्ने सुश्रवः" इत्यादिना सन्धुक्षणम्, पर्युक्षणम् अग्नेः सर्वतो जलासेकः, परिसमूहनपर्युक्षणे पूर्ववत्प्राग्वदग्नेः कर्तव्ये ॥७॥

'पाणी'''जाविति' । पर्युक्षणानन्तरं ब्रह्मचारी पाणी उभौ हस्तौ प्रतप्य तूष्णीमग्नौ तापयित्वा 'तनूपा अग्नेऽसि' इति सप्तभिर्मन्त्रवाक्यैर्मुखं विमृष्टे पाणिभ्यां मार्जयति । वाक्यभेदाच्च प्रतिवाक्यं पाण्योः प्रतपनं मुखविमार्जनं च । "तनूपा" इत्येतस्य स्वशाखीयत्वात्प्रतीकग्रहणे प्राप्ते मन्त्रवाक्यचतुष्टयस्योपयोगात्सर्वपाठः । 'मेधां मे देवः सविता' 'मेधां मे देवी सरस्वती' इत्यनयोर्मन्त्रयोरादधात्वित्यध्याहारः, साकाङ्क्षत्वात् । 'मन्त्रार्थः—तनूपा अग्नेऽसित्यादयः स्पष्टाः । मेधामित्यस्यार्थः—देवो द्युतिमान् सविता सूर्यो मे मह्यं मेधां धारणावतीं बुद्धिं तथा देवी दीप्यमाना सरस्वती आदधातु, तथा अश्विनौ देवौ मे मह्यं मेधाम् आधत्तां संपादयेतां पुष्करस्रजौ पद्ममालाधारिणौ । अत्राङ्गालम्भनत्र्यायुषकरणाभिवादनानि गृह्यकारानुक्तान्यप्याचारतोऽनुष्ठेयानि । तत्राभिवादनं गोत्रनामोच्चारपूर्वकं पादोपसंग्रहः । अङ्गालम्भनत्र्यायुषकरणयोः सूत्रकारान्तरप्रदर्शितौ मन्त्रौ ग्राह्यौ । तद्यथा— 'अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम्' इति । [त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम् । तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रियाविपरिणामं कुर्यात् ।

अथाभिवादने प्रकारः । तत्र याज्ञवल्क्यः—

ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् ।

ततोऽग्निकार्यादनन्तरमित्यर्थः । ब्रह्मपुराणे—

उत्थाय मातापितरौ पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यश्च ततो नित्यमभिवाद्यो विजानता ॥

मनुः—

लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥

(गदाधर०)

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयेत् ।
असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥

विप्रेति द्विजोपलक्षणम् । आपस्तम्बः—

"स्वदक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयेत्, उरःसमं राजन्यो, मध्यसमं वैश्यो, नीचैः शूद्रः प्राञ्जलिः । मनुः—

भोशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्ना स्वरूपभावो हि भोशब्दे ऋषिभिः स्मृतः ॥
आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते इत्यस्यायमर्थः—अस्याभिवादकस्य नाम्नोऽन्ते योऽयमकारः—अकार इति स्वरमात्रोपलक्षणम्, सर्वेषां नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात् । स एवान्त्यस्वरः पूर्वाक्षरः पूर्वाणि नामगतान्यक्षराणि यस्य स तथोक्तः, एवंविधः प्लुतो वाच्यो न पुनरन्त्य एवाकारो नाम्नोऽन्ते वाच्य इति । तथाच वसिष्ठः— "आमन्त्रिते स्वरोऽन्त्योऽस्य प्लवते" इति । आमन्त्रिते कर्तव्ये अभिवादकनाम्नोऽन्ते यः स्वरः स प्लवते, त्रिमात्रो भवतीत्यर्थः । ततश्चाभिवादनप्रत्यभिवादनयोरेवं प्रयोगो भवति—अभिवादये चैत्रनामाहमस्मि भोः इति । आयुष्मान् भव सौम्य विष्णुशर्मं३न् इति । क्षत्रियवैश्ययोस्तु वर्मगुप्तशब्दप्रयोग इति मदनपारिजाते ।

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
आयुष्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः ॥

इत्यादिनिषेधस्तु अभिवादनस्थलव्यतिरिक्तविषय इति विज्ञेयम् । अभिवादनं च हस्तद्वयेन कार्यम्, अन्यथाकरणे विष्णुना दोषसंकीर्तनात् ।

जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ।
सर्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥

एतदपि विद्वद्विषयम् । यतः स एवाह—

अजाकर्णेन विदुषो मूर्खाणामेकपाणिना । इति ।

अजाकर्णेन श्रोत्रसमौ करौ कृत्वा पुनः संपुटितेन करद्वयेनेत्यर्थः । अजाकर्णौ संपुटितौ यथा तथैव संपुटितं करद्वयमपीत्यजाकर्णौ । मनुः—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥

यमः—

अभिवादे तु यो विप्र आशिषं न प्रयच्छति ।
श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः ॥

(गदाधर०)

शातातपः—

पाखण्डं पतितं व्रात्यं महापातकिनं शठम् ।
सोपानत्कं कृतघ्नं च नाभिवादेत्कदाचन ॥
धावन्तं च प्रमत्तं च मूत्रोत्सर्गकृतं तथा ।
भुञ्जानमाचमनार्हं च नास्तिकं नाभिवादयेत् ॥
वमन्तं जृम्भमाणं च कुर्वन्तं दन्तधावनम् ।
अभ्यक्तशिरसं चैव स्नान्तं नैवाभिवादयेत् ॥

बृहस्पतिः—

जपयज्ञगणस्थं च समित्पुष्पकुशानलान् ।
उदपात्रार्घभैक्षान्नहस्तं तं नाभिवादयेत् ॥
उदक्यां सूतिकां नारीं भर्तृघ्नीं ब्रह्मघातिनीम् ।
अभिवाद्य द्विजो मोहादहोरात्रेण शुध्यति ॥

जमदग्निः—

देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम् ।
नमस्कारं न कुर्याच्चेत्प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥

मनुः—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥

एतच्चाभिवादनमधिकवयसामेव कार्यम् । तथाच मनुः—'ज्यायांसमभिवादयेत्' इति । स्मृत्यर्थसारे—गुरवो माता स्तन्यधात्री च पिता पितामहादयो मातामहश्चान्नदाता भयत्राताऽऽचार्यश्चोपनेता च मन्त्रविद्योपदेष्टा च तेषां पत्न्यश्चोपसंग्राह्याः, समावृत्तेन च । बाले समवयस्के चाध्यापके गुरुवच्चरेत् । मातुलाश्च पितृव्याश्च श्वशुराश्च यवीयांसोऽपि प्रत्युत्थायाभिवाद्याः । उपाध्याय ऋत्विजो ज्येष्ठा भ्रातरश्च सर्वेषां पत्न्यश्चैव । मातृष्वसा च सवर्णा भ्रातृभार्या च नित्यमभिवाद्या ।

विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ।
विप्रोष्य विप्रं कुशलं पृच्छेन्नृपमनामयम् ॥
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।
न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि सर्वथा ॥
पूज्यैस्तमभिभाषेत भोभवत्कर्मनामभिः ॥ ८ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वितीयकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

पञ्चमी कण्डिका

अत्र भिक्षाचर्यंचरणम् ॥ १ ॥ भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥ २ ॥ भवन्मध्याँ राजन्यः ॥ ३ ॥ भवदन्त्यां वैश्यः ॥ ४ ॥

(सरला)

"भिक्षाचरण और दण्डाजिन"

प्राक्कथन—प्रस्तुत कण्डिका में भिक्षाचरण, दण्ड और अजिन [वस्त्रादि] का वर्णन करते हुए स्नातकों के प्रकार बतलाकर पतित सावित्रीक का प्रतिपादन करते हैं।

हिन्दी—समिधा होम के बाद अब भिक्षाचर्य की प्रक्रिया होती हैं ॥ १ ॥ "भवत" शब्द पूर्व में प्रयोग करके ब्राह्मण भिक्षा याचन करें[1] ॥ २ ॥ [इसी प्रकार] "भवत" शब्द को मध्य में कहकर क्षत्रिय ॥ ३ ॥ [और] 'भवत' को अन्त में कहकर वैश्य [भिक्षा करे] ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अत्र भिक्षाचर्यंचरणम् । अत्रावसरे भिक्षाचर्यानुष्ठानम् ॥ १ ॥

तद्यथा—भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत भवन्मध्यांॅराजन्यो भँवदन्त्यां वैश्यः । भवच्छब्दः पूर्वो यस्याः सा भवत्पूर्वा तां भिक्षां ब्राह्मणः द्विजोत्तमः भिक्षेत याचेत, तथैव भवच्छब्दो मध्ये यस्याः सा भवन्मध्या तां राजन्यः क्षत्रियो भिक्षेतेत्यनुषङ्गः । भवच्छब्दः अन्त्ये यस्याः सा भवदन्त्या तां वैश्यः तृतीयो वर्णः, भिक्षां भिक्षेतेत्यनुवर्त्तते ॥ २–४ ॥

(गदाधर०)

'अत्र···णम्' । अत्रास्मिन्काले भिक्षाचर्यंचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । अत्र विशेषो मनुस्मृतौ—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्नि चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥

एतत् त्रितयं भिक्षाङ्गम् इति पारिजाते । कारिकायामप्येवम् ॥ १ ॥

'भव···वैश्यः' । भवच्छब्दः पूर्वो यस्याः सा भवत्पूर्वा तां भवत्पूर्वां ब्राह्मणो

---

१. २.४ सूत्र के लिए द्रष्टव्य—आप० १. ३. २८; मनु २.४९ ।

(गदाधर०)

वर्णोत्तमो भिक्षेत याचेत । एवं भवच्छब्दो मध्ये यस्याः सा भवन्मध्या तां भिक्षां राजन्यः क्षत्रियो भिक्षेत । तथा भवच्छब्दोऽन्त्यो यस्याः सा भवदन्त्या तां वैश्यो वर्णतृतीयो भिक्षेत । अयमर्थः—सगौरवसम्बोधनार्थं भवत्पदमादिमध्यावसानेषु ब्राह्मणादिभिः क्रमेण कार्यं, तच्च सम्बुद्धयन्तम् । तिस्र इति सूत्रसामर्थ्यात्स्त्रीप्रत्ययवच्च तत्पदं भवति । तत्रायं प्रयोगः—'भवति भिक्षां देहि' इति ब्राह्मणः, 'भिक्षां भवति देहि' इति क्षत्रियः, 'भिक्षां देहि भवति' इति वैश्यः ॥ २–४ ॥

तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥ ५ ॥ षड् द्वादशाऽपरिमिता वा ॥ ६ ॥ मातरं प्रथमामेके ॥ ७ ॥

(सरला)

तीन [ऐसी] स्त्रियों से भिक्षायाचना करे, जो न देने वाली न हो[1] ॥ ५ ॥ अथवा छः स्त्रियों से किंवा बारह या अपरिमित स्त्रियों से ॥ ६ ॥ कुछ शास्त्रकार बतलाते हैं कि पहली भिक्षा माँ से [माँगनी चाहिए] ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः, षड् द्वादशापरिमिता वा, मातरं प्रथमामेके । भिक्षेर्धातोर्द्विकर्मत्वाद् द्वितीयं कर्माह—तिस्रः स्त्रियो भिक्षां भिक्षेत । कथम्भूताः ? अप्रत्याख्यायिन्यः प्रत्याख्यातुं निराकर्त्तुं शीलं यासां ताः प्रत्याख्यायिन्यः, न प्रत्याख्यायिन्यः अप्रत्याख्यायिन्यः ताः अप्रत्याख्यायिनीः । अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा, भिक्षेतेति कर्तृप्रत्ययान्तस्याख्यातस्य कर्मकारकापेक्षत्वात् । षड् वा स्त्रियः, द्वादश वा अपरिमिता वा असंख्याता वा भिक्षेतेति सर्वत्रानुषङ्गः । एते भिक्षाविकल्पाः आहारपर्याप्त्यपेक्षया । एके आचार्याः मातरं जननीं प्रथमां भिक्षेतेत्याहुः । अयञ्च प्रथमाहर्धर्मं इति भाष्यकारः ॥ ५–७ ॥

(गदाधर०)

'तिस्रो⋯यिन्यः' । तिस्रः स्त्रियो भिक्षां भिक्षेत । किंभूताः ? अप्रत्याख्यायिन्यः । अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा, भिक्षेतेति कर्तृप्रत्ययान्तस्याख्यातस्य कर्मकारकापेक्षित्वात् । प्रत्याख्यातुं निराकर्तुं शीलं यासां ताः, न प्रत्याख्यायिन्यः अप्रत्याख्यायिन्यः, याः स्त्रियो निराकरणं न कुर्वन्ति ता भिक्षणीया इत्यर्थः । शौनकेन विशेषो दर्शितः—'अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वा' इति । याज्ञवल्क्यः—

ब्राह्मणेषु चरेद्भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये । इति ।

---

१. पाँचवें सूत्र के लिए द्रष्टव्य—आश्व० गृह्य० १.२२.७

(गदाधर०)

भैक्षं प्राप्तुं चरेदित्यर्थः। आत्मवृत्तये स्वशरीरयात्रार्थं, नाधिकम्। ब्राह्मणेषु चरेदित्येतद्ब्राह्मणविषयम्। अत एव व्यासः—

ब्राह्मणक्षत्रियविशश्चरेयुर्भैक्षमन्वहम्।
सजातीयगृहेष्वेव सार्ववर्णिकमेव वा॥ इति।

सर्वशब्दः प्रकृतवर्णत्रयपरः॥ ५॥

'षट्'''ता वा'। षड् वा स्त्रियः, द्वादश वा स्त्रियः, अपरिमिता असंख्याता वा भिक्षेतेत्यर्थः॥ ६॥

'मातरं प्रथमामेके'। एके आचार्या मातरं स्वजननीं प्रथमां भिक्षेतेत्याहुः। अयं च प्रथमाहर्द्धर्मः इति कर्कः॥ ७॥

आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके॥८॥ अहिंᳫसन्नरण्यात्समिध आहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते॥ ९॥

(सरला)

कुछ आचार्यों का कहना है कि [ब्रह्मचारी] आचार्य को भिक्षा निवेदन करके चुपचाप दिनभर खड़ा रहे[1]॥ ८॥ बिना तोड़े हुए जंगल से समिधा [लकड़ी] लाकर उस अग्नि में पूर्ववत् डालकर मौन व्रत को भंग करता है॥ ९॥

(हरिहर०)

आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके। आचार्याय गुरवे भैक्षं लब्धां भिक्षां निवेदयित्वा इयं भिक्षा मया लब्धेति समर्प्य वाग्यतो मौनी अहःशेषं भिक्षानिवेदनोत्तरतो यावदस्तमयं तिष्ठेन्नोपविशेन्न च शयीत रागत इत्येके सूत्रकाराः वर्णयन्ति, वयन्तु अनियमं मन्यामहे, ततश्च विकल्पः॥ ८॥

अहिंᳫसन्नरण्यात्समिध आहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते। अहिंसन् अच्छिदन् स्वयंभग्ना इत्यर्थः। अरण्यान्न ग्रामात् समिधः पूर्वोक्त-लक्षणा आहृत्य आनीय तस्मिन्नग्नौ यत्र उपनयनाङ्गहोमः कृतस्तस्मिन् पूर्ववत्परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं यावद् आधाय हुत्वा वाचं विसृजते मौनं त्यजति वाग्यमपक्षे॥ ९॥

---

1. आठवें सूत्र के लिए द्रष्टव्य—आश्व० गृह्य० १.११०.११।

(गदाधर०)

'आचा''' त्येके'। ततो ब्रह्मचारी भिक्षां भिक्षित्वा आचार्याय उपनयनकर्त्रे भैक्षां लब्धां निवेदयित्वा निवेदनं कृत्वा इयं भिक्षा लब्धेति। वाग्यतः संयमितवागहःशेषं तिष्ठेत्। इतः प्रभृति यावदस्तमयमासीतेति एके वदन्ति, नवेत्यन्ये, अतो विकल्पः ॥ ८ ॥

'अहिं''' जते'। ब्रह्मचारी अहिंसन् अच्छिन्दन हिंसामकुर्वन् अरण्याद् वनात् समिध आहृत्य आनीय तस्मिन् यस्मिन्नुपनयनहोमः कृतस्तस्मिन्नग्नौ पूर्ववत्पाणिनाऽग्निं परिसमूहतीति पूर्वोक्तरीत्याधाय समिदाधानं कृत्वा वाचं विसृजते, यदि वाग्यमो गृहीतस्तदा तस्मिन्काले विसृजते ॥ ९ ॥

अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥ १० ॥ दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥ ११ ॥ मधुमाꣳसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥ १२ ॥ अष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ १३ ॥ द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥ १४ ॥ यावद्ग्रहणं वा ॥ १५ ॥

(सरला)

ब्रह्मचारी को भूमि पर सोने वाला, खटाई और नमक न खाने वाला होना चाहिए ॥ १० ॥ दण्ड धारण करना, समिदाधान, गुरु-सेवा एवं भिक्षा याचन करना [ये ब्रह्मचारी के मुख्य धर्म हैं] ॥ ११ ॥ मधु, मांस, जलक्रीडा, ऊँचे आसन के ऊपर बैठना, स्त्रियों के बीच में रहना, झूठ बोलना और बिना दी हुई वस्तु का लेना—इन सभी का परित्याग करना चाहिए[1] ॥ १२ ॥ अड़तालिस वर्ष तक वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन करे[2] ॥ १३ ॥ अथवा प्रत्येक वेद को बारह-बारह सालों में [पढ़ना चाहिए][2] ॥ १४ ॥ अथवा, जब तक वेद का ज्ञान न हो जाय, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करे[2] ॥ १५ ॥

(हरिहर०)

अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्याद्दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या, मधुमाꣳसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत्। अत ऊर्ध्वं ब्रह्मचारिणो यमनियमानाह—अधः शयितुं शीलमस्य असावधःशायी स्यात्, तथा अक्षारं अलवणं चाश्नातीत्येवंशीलोऽक्षारालवणाशी भवेत्। दण्डधारणं दण्डस्य स्ववर्णविहितस्य धारणं कुर्यात्।

---

१. १२ सूत्र के लिए द्रष्टव्य—गौतम २.१३; आप० १. २. २३. २८–३०, ३१. २६।

२. १३, १४, १५ सूत्र द्रष्टव्य—आप० १. २. १२; आश्व० १. २२. ३।

(हरिहर०)

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत् ।

इत्येतदुपलक्षणत्वेन सदा चिह्नरूपं कुर्यात् । अग्नेः परिचरणं सायं प्रातः परिसमूहनपूर्वं त्र्यायुषकरणान्तेन समिदाधानम् । गुरुशुश्रूषा गुरोः शुश्रूषा परिचर्या तां कुर्यात् । भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या, भैक्षचरणमिति यावत् । मधु क्षौद्रं, मासं पललं, मज्जनं नद्यादावाप्लवनं, स्नानं तूद्धृतोदकेन । उपरि खट्वादौ आसनम् उपवेशनम् आसनस्योपरि मसूरिकाद्यासनं वा, स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्ये अवस्थानम्, अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्वात् । अनृतम् असत्यवदनम्, अदत्तानां परद्रव्याणाम् आदानं ग्रहणं स्तेयमित्यर्थः । एतानि मध्वादीनि वर्जयेत् ॥ १०–१२ ॥

अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् । अष्टाभिरधिकानि चत्वारिंशत् अष्टाचत्वारिंशत् तानि अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि अब्दानि वेदब्रह्मचर्यं वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यमुक्तलक्षणं चरेत् अनुतिष्ठेत् । अस्मिन् पक्षे चतुर्णामपि वेदानामेक एव व्रतादेशः सर्ववेदाहुतिहोमश्च ॥ १३ ॥

द्वादश वा प्रतिवेदं यावद्ग्रहणं वा । अनुकल्पमाह—वा तदशक्तौ द्वादश द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं वेदे वेदे ब्रह्मचर्यं चरेदित्यनुवर्त्तते । तत्राप्यशक्तौ यावद्ग्रहणं यावद्वेदस्य वेदयोः वेदानां वा ग्रहणम् आचार्यात्पाठतोऽर्थतश्च स्वीकरणं तावद्वा ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ १४–१५ ॥

(गदाधर०)

'अधः···चर्या । अधःशायी स्यात् । अक्षारालवणाशी भवेत् । दण्डधारणं सर्वदा कार्यम् । अग्नेः परिचरणम् । समिदाधानं परिसमूहनादि सायंप्रातः, "उभयकालमग्निं परिचरेत्" इति स्मृत्यन्तरात् । गुरुशुश्रूषा च प्रत्यहं कर्तव्या स्वाध्यायाऽनुरोधेन । भिक्षाचर्या भिक्षाचरणं स्थित्यर्थम् ॥ १०–११ ॥

'मधु···येत्' । मधु प्रसिद्धं मांसं च । मज्जनं गङ्गादौ स्नानं प्रतिषिध्यते, उद्धृतोदकेन तु कार्यमेव । उपर्यासनमासनस्योपरि मसूरिकाद्यासनं निधायोपवेशनम्, स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्येऽवस्थानम्, अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्वात् । अनृतमसत्यभाषणम्, अदत्तादानं परद्रव्याणामदत्तानां स्वयं ग्रहणम्, एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेन्न कुर्यात् ॥ १२ ॥

'अष्टा···रेत्' । अष्टाभिरधिकानि चत्वारिंशदष्टाचत्वारिंशत् तान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्, चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् एकमेव ब्रह्मचर्यव्रतं कुर्यात् । अस्मिन्पक्षे चतुर्णामपि वेदानामेक एव व्रतादेशः । सर्वाश्च वेदाहुतयो हूयन्ते ॥ १३ ॥

(गदाधर०)

'द्वाद'''दम्' । अथवा प्रतिवेदं द्वादशद्वादशवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं चरेत् । अयमर्थः—एकं वेदं समाप्य समावर्तनं कृत्वा पुनर्द्वितीयवेदग्रहणं यावत् ब्रह्मचर्यं चरित्वा स्नात्वैवं वेदान्तरेऽपि ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ १४ ॥

'यावद्ग्रहणं वा' । यद्वा यावद्वेदस्य वेदयोर्वेदानां पाठतोऽर्थतश्च स्वीकरणं तावत् ब्रह्मचर्यं चरेत ॥ १५ ॥

वासाꣳसि शाणक्षौमाविकानि ॥ १६ ॥ ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥ रौरवꣳ राजन्यस्य ॥ १८ ॥ आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥ १९ ॥ सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥ २० ॥

(सरला)

सन, अतसी [रेशम] और ऊन के वस्त्र को [क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी को धारण करना चाहिए] ॥ १६ ॥ ब्राह्मण को काले मृग का ॥ १७ ॥ क्षत्रिय को रुरु का ॥ १८ ॥ और वैश्य के लिए बकरे अथवा गाय के[1] चर्म का उत्तरीय [होना चाहिए] ॥ १९ ॥ [उपर्युक्त की प्राप्ति न होने पर] सभी के लिए प्रमुखता के कारण गोचर्म का उत्तरीय हो सकता है ॥ २० ॥

(हरिहर०)

वर्णव्यवस्थया वासःप्रभृतीनि व्यवस्थितान्याह—वासाꣳसि शाणक्षौमाविकानि । ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां यथासंख्यं शाणक्षौमाविकानि वस्त्राणि परिधेयानि भवन्ति । तत्र शणमयं शाणं क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारमयं क्षौमम्, आविकम् अवेर्मेषस्य विकारः आविकम्, ऊर्णामयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य । एणी हरिणी तस्या इदम् ऐणेयम् अजिनं कृत्तिः उत्तरीयं भवति ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः ॥ १७ ॥

रौरवꣳ राज्यन्यस्य । रुरुर्मृगविशेषः चित्रमृग इति प्रसिद्धः, तस्येदमजिनं रौरवं राजन्यस्य क्षत्रियस्योत्तरीयं भवति ॥ १८ ॥

आजं गव्यं वा वैश्यस्य । अजस्य बस्तस्य इदम् आजम् अजिनं कृत्तिः वैश्यस्य उत्तरीयम् । अथवा, गव्यं गोः इदम् गव्यम् अजिनं वैश्यस्य उत्तरीयं भवति ॥ १९ ॥

सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् । पक्षान्तरमाह—सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गव्यमजिनं वा उत्तरीयं भवति । कदा ? असति मुख्ये अविद्यमाने ।

---

१. यह सम्पन्नता का सूचक है ।

(हरिहर०)

कुतः ? प्रधानत्वात् । गव्यं हि अजिनानाम्प्रधानम् ऐणेयाद्यजिनप्रभृतीनामेण्यादीनां गोः प्राधान्यं यतः । यद्वा, गव्यस्य चर्मणः पुरुषसम्बन्धित्वेन प्रधानत्वात् । तथाच श्रुतिः—'तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुः' इति ॥ २० ॥

(गदाधर०)

अथ वर्णक्रमेण परिधानवस्त्राण्याह—'वासा०ं'''कानि' । ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणां ब्रह्मचारिणां शाणक्षौमाविकानि वासांसि वस्त्राणि यथासंख्यं परिधानार्थं भवन्ति । शाणं शणमयम् । क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारमयम् । आविकमवेर्मेषस्य विकार आविकं मेषरोमनिर्मितम् । गौतमः—'सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतम्' इति । वसिष्ठः— शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य, माञ्जिष्ठं क्षौमं च क्षत्रियस्य, पीतं कौशेयं वैश्यस्य' इति । कारिकायामप्येवम् । 'कौशेयं पटविशेषः' इति पारिजाते ॥ १६ ॥

'ऐणे'''णस्य' । एणी हरिणी तस्या इदमैणेयं चर्म उत्तरीयं ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति । अत्र कारिकायां प्रयोगरत्ने च विशेषः—

तत् त्र्यङ्गुलं बहिर्लोम यद्वा स्याच्चतुरङ्गुलम् ।
एकखण्डं त्रिखण्डं वा धार्यं यदुपवीतवत् ॥ इति ॥ १७ ॥

'रौर''' न्यस्य' । राजन्यस्य क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो रुरुर्नामारण्यसत्त्वविशेषस्तदीयं चर्म उत्तरीयं भवति ॥ १८ ॥

'आजं'''श्यस्य' । अजस्येदं चर्म आजं, यद्वा, गव्यं गोरिदं चर्म वैश्यस्योत्तरीय भवति ॥ १९ ॥

'सर्वे'''त्वात्' । असति यथोदिते चर्मणि सर्वेषां वर्णानां वा गव्यं चर्म भवति । कुत एतत् ? पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः । पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्म श्रूयते—"ते अवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुः" इति । ते देवाः पुरुषत्वचमवच्छाय उत्कृत्य एतां त्वचं गवि अदधुः धृतवन्त इति श्रुत्यर्थः ॥ २० ॥

मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥ २१ ॥ धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥ २२ ॥ मौर्वी वैश्यस्य ॥ २३ ॥ मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥ २४ ॥ पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥ २५ ॥ बैल्वो राजन्यस्य ॥ २६ ॥ औदुम्बरो वैश्यस्य[1] ॥ २७ ॥

---

१. यद्यपीतोऽग्रे "केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसम्मितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य" इत्येकं सूत्रमधिकं क० ख० ग० पुस्तकेषूपलभ्यते तथापि कपुस्तकस्थहरिहरपाठानुरोधेन गदाधरभाष्यानुरोधेन च शाखान्तरीयत्वनिश्चयादस्माभिर्मूले उपेक्षितम् ।

(सरला)

ब्राह्मण के लिए मूँज की मेखला [होनी चाहिए] ॥ २१ ॥ क्षत्रिय के लिए धनुष की डोरी [की मेखला होनी चाहिए] ॥ २२ ॥ वैश्य के लिए मूर्वा नामक घास [से निर्मित मेखला होनी चाहिए] ॥ २३ ॥ यदि मूँज का अभाव हो तो कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक तृण विशेष [से निर्मित मेखला को बाँधना चाहिए[1]] ॥ २४ ॥ ब्राह्मण का दण्ड पलाश का हो ॥ २५ ॥ क्षत्रिय का [दण्ड] बेल का हो ॥ २६ ॥ वैश्य का दण्ड गूलर का हो ॥ २७ ॥

(हरिहर०)

मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य, धनुर्ज्या राजन्यस्य, मौर्वीवैश्यस्य, मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकवल्वजानाम् । मौञ्जी मुञ्जः तृणविशेषः तन्मयी मौञ्जी रशना मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति, धनुर्ज्या चापस्य ज्या गुणः रशना राजन्यस्य ब्रह्मचारिणः, मौर्वी तृणविशेषस्तन्मयी रशना वैश्यस्य भवति । मुञ्जस्याभावे अलाभे ब्राह्मणस्य कुशानां कुशमयी रशना भवति, धनुर्ज्याया अभावे क्षत्रियस्य अश्मन्तकमयी भवति, मौर्व्यभावे बल्वजी वैश्यस्य । मुञ्जाभावशब्दोऽत्र धनुर्ज्यामौर्व्यभावोपलक्षणार्थः ॥२१–२४॥

पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः बैल्वो राजन्यस्य औदुम्बरो वैश्यस्य[2] । स च केशसंमितः पादादिकेशमूलावधिप्रमाणकः । बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवः क्षत्रियस्य ललाटसंमितः ललाटावधिपरिमाणः भ्रूमध्यावधिरित्यर्थः । औदुम्बरः उदुम्बर वृक्षोद्भवो वैश्यस्य ब्रह्मचारिणो मुखसंमितः ओष्ठपुटावधिर्दण्डः ॥ २५–२७ ॥

(गदाधर०)

'मौञ्जी···णस्य' । मुञ्जः शरस्तन्मयी मौञ्जी मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति ॥ २१ ॥

'धनु···न्यस्य' । धनुर्ज्या धनुषश्चापस्य ज्या गुणः मेखला क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो भवति । सामर्थ्याच्च स्नायुमयी वेणुमयी वा । इयं च त्रिवृत् न कार्या ज्यात्वविनाशप्रसङ्गात् ॥ २२ ॥

---

१. २४ सूत्र के लिए द्रष्टव्य—मनु २. ४३।

२. 'वैश्यस्य दण्डो भवति । बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवः क्षत्रियस्य, औदुम्बरः उदुम्बरवृक्षोद्भवो वैश्यस्य ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

केशसम्मितो ब्राह्मणस्य ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य । स च केशसंमितः पादादिकेशमूलावधिप्रमाणकः ब्राह्मणस्य । क्षत्रियस्य ललाटसंमितः ललाटावधिपरिमाणः भ्रूमध्यावधिरित्यर्थः । वैश्यस्य ब्रह्मचारिणः पादादिरोष्ठावधिको दण्डः' ख० ग० ।

(गदाधर०)

'मौर्वी वैश्यस्य' मुरुरिति तृणविशेषस्तन्मयी मौर्वी मेखला वैश्यस्य ब्रह्मचारिणो भवति ॥ २३ ॥

'मुञ्जा'''जानाम्' । मुञ्जाभावे ब्राह्मणस्य कुशाश्मन्तकबल्वजानां संबन्धिनी रशना भवति । कुशमयी वा अश्मन्तकाख्यतृणमयी बाल्वजी वा भवतीति भर्तृयज्ञ व्याख्याने लभ्यते । मुञ्जाभावशब्दोऽत्र धनुर्ज्यामौर्व्यभावोपलक्षणार्थं इति रेणुगर्ग-हरिहराः । 'मुञ्जाद्यभावे वर्णक्रमेण कुशाद्या ग्राह्याः' इति मदनपारिजाते ॥ २४ ॥

'पाला'''दण्डः' । ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः पालाशो दण्डो भवति ॥ २५ ॥

'बैल्वो''' न्यस्य' । बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवो दण्डः क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो भवति ॥ २६ ॥

'औदुः'''श्यस्य' । वैश्यस्य ब्रह्मचारिण उदुम्बरवृक्षोद्भवो दण्डो भवति । अत्रा चार्येणानुक्तमपि दण्डमानमुपयुक्तत्वादविरोधित्वाच्छाखान्तरीयं ग्राह्यम् । तच्च केशसंमितो ब्राह्मणस्य, ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्येति दण्डं प्रक्रम्योक्तमिति जयरामभाष्ये । इदं च सूत्रं सूत्रत्वेन हरिहरभाष्ये तिष्ठति । भर्तृयज्ञ कर्कादिग्रन्थेषु नोपलभ्यते । अतः क्षिप्तमेतदित्याभाति ॥ २७ ॥

सर्वे वा सर्वेषाम् ॥ २८ ॥ आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥ २९ ॥ शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभि-क्रामन्तं चेदभिधावन् ॥ ३० ॥ स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति ॥ ३१ ॥ तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥ ३२ ॥

(सरला)

[ब्राह्मण के दण्ड की लम्बाई केश पर्यन्त, क्षत्रिय का ललाट पर्यन्त और वैश्य का नासिका पर्यन्त दण्ड होना चाहिए] अथवा सभी, सभी वृक्षों का दण्ड धारण कर सकते हैं ॥ २८ ॥ आचार्य के द्वारा बुलाये जाने पर [ब्रह्मचारी] उठकर सुने ॥ २९ ॥ यदि गुरु सोए हों तो बैठकर, बैठे हों तो खड़ा होकर, खड़े हों तो चल-कर और चलते हों तो दौड़कर ब्रह्मचारी आचार्य की बात को सुने ॥ ३० ॥ इस प्रकार नियम पूर्वक निवास करता हुआ जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य आश्रम में रहता है वह यहीं रहता हुआ स्वर्ग में निवास करता है । (द्विरुक्ति स्तुत्यर्थ है) ॥ ३१ ॥ और जो ब्रह्मचर्याश्रम में इस प्रकार रहता है उस स्नातक की (विद्या प्राप्ति से) इस लोक में कीर्ति होती है ॥ ३२ ॥

(हरिहर०)

सर्वे वा सर्वेषाम् । यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां सर्वे

(हरिहर०)

पालाशबैल्वौदुम्बरा अनियमेन दण्डा भवन्ति । नियमोऽत्र नास्ति । मुख्यालाभे यथालाभमुपादेयम् ॥ २८ ॥

आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् । आचार्येण गुरुणा आहूत आकारित उत्थाय ऊर्ध्वो भूत्वा प्रतिशृणुयात् प्रतिवचनं दद्यात् ब्रह्मचारी ॥ २९ ॥

शयानं चेदासीनः । चेद्यदि शयानं स्वपन्तं ब्रह्मचारिणं गुरुराह्वयति तदासीनः उपविष्टस्सन् प्रतिवचनं दद्यात् । आसीनं चेत्तिष्ठन् । आसीनम् उपविष्टं चेदाह्वयति तदा तिष्ठन्नुत्थितः । तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन् । यदि तिष्ठन्तमुत्थितमाह्वयति तदा अभिक्रामन् गुरुमभिमुखं गच्छन् प्रतिशृणुयात् । अभिक्रामन्तं चेदभिधावन् । अभिक्रामन्तमभिमुख मागच्छन्तमाचार्यः ब्रह्मचारिणं यदि आह्वयति तदा स ब्रह्मचारी अभिमुखं धावन्सन् प्रतिशृणुयात् ॥ ३० ॥

स एवं वर्त्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसति । स ब्रह्मचारी एवमुक्तेन मार्गेण ब्रह्मचर्ये वर्त्तमानस्तिष्ठन् अमुत्र स्वर्गे अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति । द्विरुक्तिः स्तुत्यर्था ॥ ३१ ॥

तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति । तस्य ब्रह्मचारिणः स्नातकस्य समावृतस्य कीर्तिर्यशो भवति इति यथोक्तधर्मानुष्ठातुर्ब्रह्मचारिणः फलकथनम ॥ ३२ ॥

(गदाधर०)

'सर्वे वा सर्वेषाम्' । अथवा सर्वे पालाशादयो दण्डाः सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशामनियमेन भवन्ति, न प्रतिवर्णं जातिव्यवस्था भवति ॥ २८ ॥

'आचा···यात्' । अचार्येणोपनयनकर्त्रा आहूत आकारितो ब्रह्मचारी आसनादुत्थाय प्रतिशृणुयात प्रतिवचनं दद्यात् ॥ २९ ॥

'शया···सीनः' । चेद्यदि आचार्यः शयानं स्वपन्तं ब्रह्मचारिणमाह्वयति तदा स आसीन उपविष्टः सन् प्रतिवचनं दद्यात् । 'आसी···ष्ठन्' । चेद्यद्यासीनमुपविष्टं ब्रह्मचारिणमाकारयत्याचार्यस्तदा स ब्रह्मचारी तिष्ठन् प्रतिवचनं दद्यात् । 'तिष्ठ···मन्' । चेद्यदि तिष्ठन्तं ब्रह्मचारिणमाह्वयति तदाऽभिक्रामन्नाचार्याभिमुखं व्रजन् प्रतिवचनं कुर्यात् । 'अभि···वन्' । चेद्यदि अभिक्रामन्तं ब्रह्मचारिणमाकारयति तदा ब्रह्मचारी अभिधावन् आचार्याभिमुखं धावन् प्रतिवचनं दद्यात् ॥ ३० ॥

अस्यार्थवादमाह—'स एवं···तीति' । स ब्रह्मचारी एवं पूर्वोक्तब्रह्मचर्यधर्मेण वर्तमानः अमुत्र स्वर्लोके अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति । द्विरुक्तिः प्रशंसार्था ॥ ३१ ॥

'तस्य···वति । येनैवं ब्रह्मचर्यानुष्ठानं कृतं तस्य स्नातकस्य समावृत्तस्य कीर्तिर्यशो भवति । यथोक्तधर्मकर्तुः फलं चैतत ॥ ३२ ॥

त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥ ३३ ॥ समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥ ३४ ॥ समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्त्तते स व्रतस्नातकः ॥ ३५ ॥ उभयठ्ँ समाप्य यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥ ३६ ॥

(सरला)

स्नातक तीन प्रकार के होते हैं :—१. विद्या स्नातक, २. व्रत स्नातक और ३. विद्याव्रत स्नातक ॥ ३३ ॥ वेद को समाप्त कर और [ब्रह्मचर्य] व्रत को असमाप्त कर जो ब्रह्मचारी समावर्तन [स्नान] करता है, वह विद्या स्नातक कहलाता है ॥ ३४ ॥ [ब्रह्मचर्य] व्रत को समाप्त कर और वेद को असमाप्त कर जो स्नान करता है, वह व्रत स्नातक कहलाता है[1] ॥ ३५ ॥ दोनों [विद्या-व्रत] को समाप्त कर स्नान करने वाला ब्रह्मचारी विद्या-व्रत स्नातक कहा जाता है ॥ ३६ ॥

(हरिहर०)

त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति । त्रयः त्रिप्रकाराः स्नातका भवन्ति । कथम् ? एको विद्यास्नातकः, अपरो व्रतस्नातकः, अन्यो विद्याव्रतस्नातकः ॥ ३३ ॥

एतेषां लक्षणमाह—समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्त्तते स विद्यास्नातकः समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातकः, उभयठ्ँ समाप्य यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातक इति । समाप्य समाप्ति पाठतोऽर्थतश्च अवसानं नीत्वा वेदं वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकामेकां शाखां यः समावर्त्तते स्नाति स ब्रह्मचारी विद्यास्नातको भवति । एवं समाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकादिकं ब्रह्मचर्यम् असमाप्य असंपूर्णमधीत्य वेदम् एकां शाखां यो ब्रह्मचारी समावर्त्तते स्नानं करोति स व्रतस्नातको भवति । उभयं वेदं ब्रह्मचर्यं च समाप्य अन्तं नीत्वा यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति ॥ ३४–३६ ॥

(गदाधर०)

स्नातकलक्षणमाह—'त्रयः···भवन्ति' त्रयः त्रिविधाः स्नातकाः भवन्ति । विद्या ···तक इति' । त्रिविधाः स्नातका इत्युक्तं, तत्रैको विद्यास्नातको द्वितीयो व्रतस्नातकः तृतीयो विद्याव्रतस्नातक इति ॥ ३३ ॥

---

१. ३२ से ३५ तक सूत्र के लिये द्रष्टव्य—आप० १, ३०, १–३, मनु. ४,३१। द्रष्टव्य—सूत्र १३ और १४ और ६ कण्डिका का २.३ सूत्र ।

'उपनयन'

'समा···तकः'। समाप्य वेदं पाठतोऽर्थतश्च वेदं वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकामेकां शाखाम्, असमाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकं ब्रह्मचर्यमसमाप्य यः समावर्तते स्नाति स विद्यास्नातक इत्युच्यते ॥ ३४ ॥

'समा···तकः'। व्रतं ब्रह्मचर्यं द्वादशवार्षिकं समाप्य वेदमसमाप्य संपूर्णमनधित्य यः समावर्तते स व्रतस्नातक इत्युच्यते। एवं च व्रतस्नातकस्य विवाहोत्तरकालमध्ययनसमापनं वेदार्थज्ञानं चेति मन्तव्यम् ॥ ३५ ॥

'उभ···तक इति'। उभयं वेदं ब्रह्मचर्यं च समाप्य यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातक इत्युच्यते। लक्षणप्रयोजनं च "स्नातकानेके', इत्यादिषु ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥ ३७ ॥ आद्वाविंशाद्राजन्यस्य ॥ ३८ ॥ आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥ ३९ ॥ अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ४० ॥ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ॥ ४१ ॥ कालातिक्रमे नियतवत् ॥ ४२ ॥ त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये सꣳस्कारो नाध्यापनं च ॥ ४३ ॥ तेषाँ सꣳस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥ ४४ ॥ ५ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमीकण्डिका ॥ ५ ॥

(सरला)

सोलह वर्ष तक ब्राह्मण का उपनयन का समय व्यतीत नहीं होता है ॥ ३७ ॥ क्षत्रिय का उपनयन काल बाइस वर्ष तक होता है ॥ ३८ ॥ वैश्य का चौबीस वर्ष पर्यन्त होता है ॥३९॥ इसके पश्चात् [अर्थात् सोलह, बाइस एवं चौबीस वर्ष के उपरान्त] ये पतित सावित्रीक हो जाते हैं [अर्थात् इनका उपनयन नहीं हो सकता][1] ॥ ४० ॥ इनका उपनयन न करे, वेद न पढ़ाए, (स्वयं) यज्ञ भी न कराए [यहाँ तक कि] इनके साथ [किसी प्रकार का] व्यवहार [कन्या का लेन-देन] न करे[2] ॥ ४१ ॥ [दैववशात् अथवा पुरुष के अपराध से किसी भी प्रकार] काल का अतिक्रम हो जाय तो शास्त्रानुकूल [श्रौतसूत्रों के अनुसार] प्रायश्चित करे ॥ ४२ ॥ तीन पीढ़ी तक पतित सावित्रीकों के पुत्र का उपनयन

---

१. ३६ से ४० के लिए आश्व० गृह्य० १, १९, ५ ।

२. ४१ के लिए द्रष्टव्य का० श्रौ० २५, १, १२. १३ ।

(सरला)

संस्कार और वेदादि का अध्यापन भी नहीं हो सकता ।।४३।। [यदि] उन पतित सावित्रीकों में जो संस्कार का इच्छुक है, वह व्रात्यस्तोम यज्ञ विशेष के यजन करने से अध्ययन [अध्यापनादि कर्मों] के योग्य होता है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'वह व्यवहार के योग्य हो जाते हैं' ।। ४४ ।।

।। इस प्रकार 'सरला' हिन्दी व्यख्या में डा० सुधाकर मालवीय कृत द्वितीय काण्ड के पञ्चम कण्डिका की हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ५ ।।

(हरिहर०)

आषोडशाद्वर्षाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति, आद्वाविंशाद्राजन्यस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य । उपनयनकालस्य परमावधिमाह । आषोडशात् षोडशाद्वर्षात्प्राक् ब्राह्मणस्य विप्रस्य अनतीतः न अतीतः उपनयनस्य कालः समयो भवति । आद्वाविंशात् द्वाविंशाद्वर्षात्पूर्वं क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशात् चतुर्विंशतिवर्षादर्वाक् वैश्यस्य उपनयनस्य कालः अनतीतो भवति । भवतीति सर्वत्र सम्बध्यते ।। ३७–३९ ।।

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति । अद्य पञ्चदशात् एकविंशात्त्रयोविंशाद्वर्षादूर्ध्वम् अनुपनीता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः यथासंख्यं पतितसावित्रीकाः पतिता स्खलिता अधिकाराभावान्निवृत्ता सावित्री गायत्री येभ्यः ते पतितसावित्रीकाः भवन्ति सम्पद्यन्ते ।। ४० ।।

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः । एतान् पतितसावित्रीकान् न उपनयेयुः उपनयनसंस्कारेण न संस्कुर्युः शिष्टाः । कैश्चित् अतिक्रान्तनिषेधैरुपनीतानपि न अध्यापयेयुः वेदं पाठयेयुः । तथा न याजयेयुः कैश्चिदतिक्रान्तनिषेधैर्वेदमध्यापितानपि न याजयेयुः न यज्ञं कारयेयुः । एभिः पतितसावित्रीकैरनुपनीतैरुपनीतैर्वा सह न व्यवहरेयुः न व्यवहरेत् । स्नानासनशयनभोजनविवाहादिभिः कर्मभिर्न व्यवहारं कुर्युः ।। ४१ ।।

कालातिक्रमे नियतवत् । गर्भाधानादीनि उपनयनान्तानि कर्माणि नियतकालान्यभिहितानि यदि दैववशात्पुरुषापराधाद्वा दोषाद्वा तेषां नियतस्य कालस्य अतिक्रमो भवति, तदा किं कर्त्तव्यमिति सन्देहे निर्णयमाह—कालातिक्रमे यस्य संस्कारकर्मणः शास्त्रे नियमितो यः कालः तस्यातिक्रमे लङ्घने नियतवत् नित्यवत् नित्ये श्रौतकल्पे नित्येषु यद्विहितं तद्वत् अनादिष्टं प्रायश्चित्तं भवति । ततः कृतप्रायश्चित्तस्यातिक्रान्तकाले संस्कारकर्मण्यधिकारः सम्पद्यते । अनादिष्टप्रायश्चित्तेतिकर्त्तव्यता च प्रयोगे वक्ष्यते । अत्र

(हरिहर०)

कालातिक्रम इत्युपलक्षणम् । अतः अन्येषामपि कर्मणां नाशे इदमनादिष्टमेव सर्वप्रायश्चित्तं, गृह्यकारेण प्रायश्चित्तान्तरस्यानुपदिष्टत्वात् । किन्तु श्रौतानामतिदेशे प्राप्ते अविज्ञाते प्रतिमहाव्याहृतिभिः सर्वाभिश्चतुर्थं. सर्वप्रायश्चित्तं चेत्यस्यैव कालातिक्रमे नियतवदित्यनेनातिदेशः कृतो नतूपदेशः कृतो गृह्यकारेण । तत्राविज्ञातमप्रत्यक्षश्रुतिमूलं किमिदमाग्वेदिकं सामवैदिकं याजुर्वैदिकं वेत्यनिश्चितं स्मार्त्तं कर्म तस्य भ्रेषे श्रौतकल्पे व्याहृतिचतुष्टयं पञ्चवारुणहोमं प्रायश्चित्तमुद्दिष्टमत्रगृह्यसूत्रे गृह्योक्तकर्मणामपि स्मार्त्तत्वात्तद्भ्रेषे तस्यैवातिदेशो युक्तो न पुनः प्रत्यक्षवेदमूलकर्मभ्रेषोपदिष्टानाम् ॥ ४२ ॥

इदानीं पतितसावित्रीकविषये संस्कारप्रतिप्रसवमाह—त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये सं.स्कारो नाध्यापनं च । त्रिपुरुषं त्रीन्पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्राः तेषां अपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनाम् । तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति निषिद्धस्य पुनरनुज्ञापनं प्रतिप्रसव इति । उपनयनस्यैव प्रतिप्रसवात् ॥ ४३ ॥

तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् । तेषां पतितसावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्तोमेन यज्ञविशेषेण इष्ट्वा व्रात्यस्तोमं यज्ञं कृत्वा व्यवहार्यो भवति । उपनयनादिसंस्कारयोग्यो भवति । तस्मात्काममिच्छया व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा अधीयीरन् वेदं पठेयुः, व्यवहार्याः लोके शिष्टानां अध्यापनादिषु कर्मसु योग्या भवन्तीति वचनात् श्रुतेः ।

असंस्कार्यप्रसङ्गात् स्मृत्यन्तरोक्ता अपि असंस्कार्या लिख्यन्ते——

षण्ढान्धबधिरस्तब्धजडगद्गदपङ्गुषु ।
कुब्जवामनरोगार्त्तशुष्काङ्गिविकलाङ्गिषु ॥
मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये ।
ध्वस्तपुंस्त्वेऽपि चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचिताः ॥

मूकोन्मत्तौ न संस्कार्यावित्येके, कर्मस्वनधिकारात्पातित्यं नास्ति । तदपत्यं तु संस्कार्यम् । ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनोत्पन्नो ब्राह्मण एवेति स्मृतेः । अन्ये तु तावपि संस्कार्यावित्याहुः । होमन्तावदाचार्यः करोति । उपनयनञ्च विधिना आचार्यसमीपानयनं वा सावित्रीवाचनं वा अन्यदङ्गं यथाशक्ति कार्यम् । विवाहश्च कन्यास्वीकारोऽन्यदङ्गमिति ।

औरसक्षेत्रजाश्चैषां संस्कार्या भागहारिणः ।
औरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजो गूढजस्तथा ॥

(हरिहर०)

कानीनश्च पुनर्भूजो दत्तः क्रीतश्च कृत्रिमः ।
दत्तात्मा च सहोढश्च त्वपविद्धः सुतस्ततः ॥
पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ।
एते द्वादशपुत्राश्च संस्कार्याः स्युर्द्विजातयः ॥
केचिदाहुर्द्विजैर्जातौ संस्कार्यौ कुण्डगोलकौ ।
अमृते च मृते पत्यौ जारजौ कुण्डगोलकौ ॥

शङ्खलिखितौ–"नोन्मत्तमूकान्संस्कुर्यात्" । विष्णुः–"नापरीक्षितं याजयेत्, नाध्यापयेन्नोपनयेत्" । आपस्तम्बः–"शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्" । एतच्च रथकारविषयं, तस्य तु मातमहीद्वारकं शूद्रत्वम् । अदुष्टकर्मणां मद्यपानरहितानामिति कल्पतरुकारः ॥ ४४ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥

(गदाधर०)

उपनयनकालस्य परमावधिमाह–'आषो ''' वति' । अर्वाक् षोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः न अतिक्रान्त एवोपनयनस्य कालो भवति ॥ ३७ ॥

'आद्वा '''न्यस्य' । अर्वाक् द्वाविंशाद् वर्षात्क्षत्रियस्यानतीत एवोपनयनकालो भवति ॥ ३८ ॥

'आच '''श्यस्य' । अर्वाक् चतुर्विंशाद्वर्षाद्वैश्यस्यानतीत एवोपनयनस्य कालो भवति ॥ ३९ ॥

'अत '''वन्ति' । अत उक्तकालादूर्ध्वमनुपनीता ब्राह्मणादयः पतितसावित्रीका भवन्ति संपद्यन्ते अधिकाराभावात्, पतिता स्खलिता सावित्री येभ्यस्ते पतितसावित्रीकाः ॥ ४० ॥

'नैना '''रेयुः' । एतान् पतितसावित्रीकान् नोपनयेयुः शास्त्रज्ञः । अज्ञानादुपनीतानपि नाध्यापयेयुः । एवमध्यापितानपि न याजयेयुः यज्ञं न कारयेयुः । एभिः सह भोजनादिभिः कर्मभिर्व्यवहारमपि न कुर्युः ॥ ४१ ॥

सन्ति गर्भाधानादीनि नियतकालानि कर्माणि, तेषु कालातिक्रमे प्रायश्चित्तमाह–'काला '''वत्' । गर्भाधानादिनियतकालानां कर्मणां नियतकालव्यतिक्रमे सति प्रायश्चित्तं नियतवत् नित्यवत् नियते श्रौतकल्पे नैमित्तिकेषु यद्विहितं स्मार्तं तदेवानादिष्टं भवति । तच्चाविज्ञाते प्रतिमहाव्याहृति सर्वाभिश्चतुर्थं सर्वप्रायश्चित्तं चेति । कालव्यतिक्रमादन्यत्रापि यज्ञोपवीतिना बद्धशिखेन पवित्रपाणिना बद्धकच्छेन प्रदक्षिणमाचान्तेन शुचिना स्नातेन कर्मकर्तव्यमित्यादिस्मृत्यन्तरविहितेऽपि भ्रेषे उत्पन्ने एतदेव भवति,

(गदाधर०)

नैमित्तिकान्तराविधानात् । "आवसथ्याग्निसाध्यलौकिकाग्निसाध्यानग्निसाध्यकर्मसु चतुर्गृहीतान्येतानि सर्वत्र" इति प्रायश्चित्तसूत्र उक्तत्वादत्र चतुर्गृहीतं गृहीत्वा होमः कार्यः। चतुर्गृहीतं च स्रुगभावे न संभवत्यतः स्रुगुत्पाद्येति रामवाजपेयिभिः प्रायश्चित्ते उक्तम्। सा च होमसंबन्धाद्वैकङ्कती भवति। स्रुवस्तु खादिर एव। स्रुवेण प्रायश्चित्तहोम इति हरिहरः, तदयुक्तम्। अत्र श्रौतातिदेशो 'नियतवत्' इति भगवता कृतः, तत्र चतुर्गृहीतं विहितं, तदत्रापि प्राप्नोत्येव। चतुर्ग्रहणं च स्रुच्येव संभवति। अतः स्रुक् प्राप्ता केन निवार्यते ? किञ्च पूर्णाहुतिधर्मोऽपि हरिहरैरङ्गीकृतस्तत्र पठिता स्रुक् स्वयं कुतो नाङ्गीकृतेति ? यदि गृह्योक्तेतिकर्तव्यताऽङ्गीकृता स्यात्ततः स्यात्स्रुवेण होमः, सा नाङ्गीकृतेत्यलमतिप्रसङ्गेन। कारिकायाम्—

मुख्यकाले नरैः कर्म कर्तुं यदि न शक्यते ।
गौणकालेऽपि कर्तव्यं तदनादिष्टपूर्वकम् ॥

इदं प्रायश्चित्तं त्वनादिष्टम्। यत्र विशिष्टप्रायश्चित्तं स्मर्यते तत्र नैतदपेक्ष्यते किन्तु तदेव तत्र भवति। यथा—

सर्वकर्ममध्ये तु क्षुत आचमनं स्मृतम् ।
तथा— अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे ।
मार्जारमूषकस्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसंभवे ॥
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत् ।

इति रामवाजपेयिनः ॥ ४२ ॥

'त्रिपु···नं चं' । त्रीन्पुरुषान्यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्रास्तेषामपत्ये चतुर्थे पुरुषेऽसंस्कार उपनयनसंस्कारो न भवति, अध्यापनं च न भवति। अत्र हरिहरभाष्यं मृग्यम् ॥ ४३ ॥

'तेषाॐ···नात्' । तेषां पितृपुत्रपौत्राणां त्रयाणां पतितसावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारेप्सुः आत्मानं संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्तोमेन यज्ञेनेष्ट्वा व्रात्यस्तोमं कृत्वा व्यवहार्यो भवति, काममिच्छया व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा अधीयीरन् वेदं पठेयुः व्यवहार्याः शिष्टानामध्यापनादिकर्मसु योग्या भवन्तीति वचनाच्छ्रुतः। अथषण्ढमूकादीनां विशेषः प्रयोगपारिजाते—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स इति श्रुतिः ।
तस्माच्च षण्ढबधिरकुब्जवामनपङ्गुषु ॥
जडगद्गदरोगार्तशुष्काङ्गविकलाङ्गिषु ।
मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये ॥

(गदाधर०)

ध्वस्तपुंस्त्वेषु चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचितम् ।
मत्तोन्मत्तौ न संस्कार्याविति केचित्प्रचक्षते ॥
कर्मस्वनधिकाराच्च पातित्यं नास्ति चैतयोः ।
तदपत्यं च संस्कार्यमपरे त्वाहुरन्यथा ॥
संस्कारमत्र होमादीन् करोत्याचार्य एव तु ।
उपनेयांश्च विधिवदाचार्यः स्वसमीपतः ॥
आनीयाग्निसमीपं वा सावित्रीं स्पृश्य वा जपेत् ।
कन्यास्वीकरणादन्यत्सर्वं विप्रेण कारयेत् ॥
एवमेव द्विजैर्जातौ संस्कार्यौ कुण्डगोलकौ ॥ इति ॥

स्मृत्यर्थसारेऽप्येवम् । आपस्तम्बः—"शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्" । इदं च रथकारस्योपनयनम् । तस्य च मातामहीद्वारकं शूद्रत्वम् । अदुष्टकर्मणां मद्यपानादिरहितानामिति ॥ ४४ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अथोपनयनप्रयोगः—तत्र ब्राह्मणस्याष्टवार्षिकस्य गर्भाष्टवार्षिकस्य वा क्षत्रियस्यैकादशवार्षिकस्य वैश्यस्य द्वादशवार्षिकस्य उपनयनं कुर्यात् । यथामङ्गलं सर्वेषामुपनयनम् । अथोदगयने शुक्लपक्षे पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कुर्यात् । कुमारस्य वपनं कारयित्वा ब्राह्मणत्रयस्य भोजनं दत्त्वा कुमारं च भोजयित्वा बहिःशालायां पञ्चभूसंस्कारान् विधाय लौकिकाग्निं स्थापयित्वा पर्युप्तशिरसमलङ्कृतं कुमारम् आचार्यपुरुषा आचार्यसमीपमानयन्ति । तत आचार्यं आनीतं कुमारं पश्चादग्नेः स्वस्य दक्षिणतोऽवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति कुमारं प्रति वदति । ब्रह्मचर्यमागामिति कुमारः प्रतिब्रूयात् । ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहीत्याचार्येणोक्ते ब्रह्मचार्यसानीति माणवको ब्रूयात् । अथाचार्यो माणवकं "येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् । तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे" इत्यनेन मन्त्रेण यथोक्तं वासः परिधापयति । तत आचार्यो माणवकस्य कटिप्रदेशे मेखलां[1] बध्नाति—

---

१. मेखला सप्तहस्ता स्यादजिनं तु द्विहस्तकम् ।
बहिर्लोम त्र्यङ्गुलञ्च खण्डैकं वा त्रिखण्डकम् ॥
त्रिवृता मेखला कार्या त्रिवारं स्यात्समावृता ।
तद्ग्रन्थयस्त्रयः कार्याः पञ्च वा सप्त वा पुनः ॥

(हरिहर०)

"इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्" इति मन्त्रं पठितवतः । 'युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान्भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः" इति वा मन्त्रः । तूष्णीं मन्त्रवर्ज्जं वा । ततः "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः" इति मन्त्रं पठितवतो माणवकस्य दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयति । यज्ञोपवीतलक्षणं तु छन्दोगपरिशिष्टे—

त्रिवृदूर्ध्वं वृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥

वामावर्त्तं त्रिगुणं कृत्वा प्रदक्षिणावर्त्तं नवगुणं विधाय तदेवं त्रिसरं कृत्वा ग्रन्थिमेकं विदध्यात् । यथा—

पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोत्थितम् ॥

वामस्कन्धे धृते नाभिहृत्पृष्ठवंशयोर्धृतं यथा कटिपर्यन्तं प्राप्नोति तावत्‌परिमाणं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

कार्पासक्षौमगोबालशाणवल्कतृणादिकम् ।
सदा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके ।
आवेष्ट्य षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः ॥
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं च तत् ।
अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् ॥
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम् ।
त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमन् ॥
यज्ञोपवीत परममितिमन्त्रेण धारयेत् ।
सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम् ॥
सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्म्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत् ।
विच्छिन्नं वाऽप्यधो यातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत् ॥

मनुः—मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥
अत्र प्रवरसङ्ख्यानियम इति वृद्धाः ॥

(हरिहर०)

स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत्कथञ्चन ।
ब्रह्मचारिण एकं स्यात्स्नातस्य द्वे बहूनि वा ॥
तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते ।
ब्रह्मसूत्रेऽपसव्येंऽसे स्थिते यज्ञोपवीतिता ॥
प्राचीनावीतिता सव्ये कण्ठस्थे तु निवीतिता ।
वस्त्रं यज्ञोपवीतार्थं त्रिवृत्सूत्रं च कर्मसु ।
कुशमुञ्जबल्वज तु रज्ज्वा वा सर्वजातिषु ॥

ततस्तथैव तूष्णीं माणवकस्य यथोक्तमजिनमुत्तरीयं कारयति। तथाचार्यो माणवकाय दण्डं ददाति । माणवकश्च "योमे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् । तदहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय" इत्यनेन मन्त्रेण तं प्रतिगृह्णाति । दीक्षाद्वा दण्डं ददाति प्रतिगृह्णात्युच्छ्रयति च । अथाचार्यः स्वकीयमञ्जलिं जलेन पूरयित्वा तेन जलेनाञ्जलिस्थेन माणवकस्याञ्जलिं पूरयति "आपो हिष्ठा" इत्यृचेन । ततो गुरुर्माणवकं प्रेषयति सूर्यमुदीक्षस्वेति । माणवकश्च प्रेषितः "तच्चक्षुः" इति मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते । अथाचार्यो माणवकस्य दक्षिणांसस्योपरि स्वं दक्षिणं हस्तं नीत्वा हृदयमालभते—"मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्" इति मन्त्रेण । अथाचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं गृहित्वा को नामासीत्याह । एवं पृष्टः कुमारः अमुकशर्माहं भो ३ इति प्रत्याह । पुनराचार्यो माणवकं पृच्छति—कस्य ब्रह्मचार्यसीति, भवत इति माणवकेनोच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवामुकशर्मान्नित्याचार्यः पठेत् । अथैनं कुमारं भूतेभ्यः परिददात्याचार्यः—"प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि अद्भ्यस्त्वौषधिभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टचै" इत्यनेन मन्त्रेण । अथ कुमारः अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य आचार्यस्योत्तरत उपविशति, आचार्यश्च ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा आघाराद्याः स्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाज्याहुतीर्हुत्वा हुतशेषं प्राश्य पूर्णपात्रं वरं वा ब्रह्म वा दद्यात् । अथानन्तरम् एनं ब्रह्मचारिणं संशास्ति । कथं ? ब्रह्मचर्यसीत्याचार्यो वदति, भवानीति ब्रह्मचारी । अपोशानेत्याचार्यः, अश्नानीति ब्रह्मचारी । कर्म कुर्वित्याचार्यः, करवाणीति ब्रह्मचारी । मा दिवा सुषुप्था इत्याचार्यः, न स्वपामिति ब्रह्मचारी । वाचं यच्छेत्याचार्यः यच्छानीति ब्रह्मचारी । समिधमाधेहीत्याचार्यः आदधानीति ब्रह्मचारी ।

(हरिहर०)

अपोशानेत्याचार्य अश्नानीति ब्रह्मचारी। अथास्मै एवं शासिताय ब्रह्मचारिणे आचार्यः सावित्रीमन्वाह। कादृशाय ? उत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखाय उपविष्टाय पादोपसङ्ग्रहपूर्वकमुपसन्नाय आचार्यं समीक्षमाणाय स्वयमप्याचार्येण समीक्षिताय। कथमन्वाह ? ॐकारव्याहृतिपूर्वकं प्रथमपक्षे एकैकं पादं, तथा द्वितीयमर्द्धर्चशः, तथैव तृतीयं सर्वां, स्वयं च ब्रह्मचारिणा सह पठन्। केषांचित्पक्षे दक्षिणतोऽग्नेस्तिष्ठते आसीनाय वा आचार्यं उक्तप्रकारेण सावित्रीमन्वाह। संवत्सरे वा षण्मासे वा चतुर्विंशत्यहे वा द्वादशाहे वा षड्हे वा त्र्यहे वा काले क्षत्रियवैश्ययोर्ब्रह्मचारिणोराचार्यः सावित्रीं ब्रूयात्। ब्राह्मणाय तु सद्य एव गायत्रीं गायत्रीछन्दस्कां सावित्रीं सवितृदेवत्याम् ऋचं विश्वामित्रदृष्टां सायमग्निहोत्रहोमानन्तरङ्गार्हपत्याग्न्युपस्थापने विनियुक्तां तत्सवितुरिति सर्ववेदशाखाम्नातां ब्रह्मदृष्टगायत्रीछन्दस्कां परमात्मदैवतवेदारम्भादिविनियुक्तां सप्रणवां प्रजापतिदृष्टाग्निवायुसूर्यदैवतगायत्र्युष्णिगनुष्टुप्छन्दस्काग्न्याधानविनियुक्तभूर्भुवःस्वरितिमहाव्याहृतिपूर्विकां ब्राह्मणाय ब्रह्मचारिणे आचार्योऽनुब्रूयात्, क्षत्रियाय त्रिष्टुप्छन्दस्कां बृहस्पतिदृष्टां सवितृदेवत्यां देवसवितरित्यादिकां वाजपेये आज्यहोमे विनियुक्तां, तथा वैश्याय प्रजापतिदृष्टां जगतीछन्दस्कां सवितृदेवत्यां रुक्मपाशप्रतिमोचने उषासंभरणे विनियुक्तां विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चत इत्येतामृचं ब्रूयात्। सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव वा गायत्री छन्दस्कां सावित्रीम् उक्तलक्षणां ब्रूयात्। अत्रावसरे ब्रह्मचारी समिदाधानं करोति। तत्र पूर्वम् दक्षिणहस्तेन 'अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु' 'यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि' 'एवं माᳬसुश्रवः सौश्रवसं कुरु' यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि' 'एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्' इत्येतैः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् इन्धनप्रक्षेपेणाग्निं सन्धुक्षयति। हस्ताभ्यां सन्धुक्षणप्रसिद्धिरस्ति। ततोऽग्निं प्रदक्षिणं दक्षिणहस्तेनाद्भिः पर्युक्ष्योत्थाय तिष्ठन् "अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासᳬं स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण उक्तलक्षणामेकां समिधमग्नावाधायानेनैव द्वितीयां तथैव तृतीयां वाऽऽधत्ते, एषा ते अग्ने समिदित्यादिना वा मन्त्रेण, "अग्नये समिधमाहार्षम्" इति "एषा ते अग्ने समित्" इत्येताभ्यां समुच्चिताभ्यां मन्त्राभ्यां वा, एकैकशस्तिस्रः समिध आदधाति। तत उपविश्य पूर्ववदग्ने सुश्रव इत्यादिभिरग्निं सन्धुक्ष्य पर्युक्ष्य

(हरिहर०)

च तूष्णीं पाणी प्रतप्य "तनूपा अग्नेऽसि तन्वम्मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि, अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण, मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ" इति सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मुखं विमार्ष्टि।

अत्र शिष्टाचारप्राप्ताः केचन पदार्था लिख्यन्ते—तत "अङ्गानि च म आप्यायन्ताम्" इत्यनेन शिरः प्रभृति पादान्तं सर्वाङ्गमालभते। "वाक्चम आप्यायताम्" इति मुखम्, "प्राणश्च म आप्यायताम्" इति नासारन्ध्रे युगपत्, "चक्षुश्च म आप्यायताम्" इति चक्षुषी युगपत्, "श्रोत्रं च म आप्यायताम्" इति दक्षिणं श्रोत्रम्, ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामम्, "यशो बलं च म आप्यायताम्" इति मन्त्रं पठेत्। ततोऽनामिकया अग्नेर्भस्म गृहीत्वा ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि चतुर्षु स्थानेषु "त्र्यायुषं जमदग्ने, कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्" इति चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं त्र्यायुषाणि कुरुते।

अत्र स्मृत्यन्तरोक्तमभिवादनं लिख्यते—

ततोऽभिवादयेद् वृद्धानसावहमिति ब्रुवन्।

इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतम्। तस्याभिवादनस्य प्रयोगो यथा—वत्सगोत्रो भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति पञ्चप्रवरः श्रीधरशर्माहं भो ३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वाऽभिवाद्य गुर्वादिकं ब्रह्मचारी अभिवादयेत्। अभिवाद्यश्च गुर्वादिः आयुष्मान् भव सौम्य श्रीधरशर्मन् भो ३ इति प्रत्यभिवदेत्। अयमभिवादनप्रयोगो गृहस्थस्यापि अत्र वृद्धानिति वचनात्। कनिष्ठाभिवादने नाधिकारः। वृद्धाश्च त्रिविधाः विद्यातपोवयोभिः। अत्र समये ब्रह्मचारी भैक्षं चरति।

तद्यथा—भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणः, भिक्षां भवति देहीति राजन्यः। भिक्षां देहि भवतीति वैश्यश्च भिक्षां भिक्षेत्। अत्र भिक्षायाचनवाक्ये भवतीति स्त्रीसंबोधनपदात् स्त्रियो भिक्षेतेति प्राप्तम्। ताश्च कीदृशीः कति च इत्यपेक्षायामुच्यते। याः प्रत्याख्यानं न कुर्वन्ति ताः भिक्षेत। कति? तिस्रः षड् वा द्वादश वा द्वादशभ्योऽधिका वा, मातरं वा प्रथमां भिक्षेतेत्यत्रयः। एवं भिक्षां भिक्षित्वा ब्रह्मचारी गुरवे भैक्षं निवेद्य अहःशेषं वाग्यतस्तिष्ठेत् वा आसीत वेत्यनियमः। तत उपास्तमयं सन्ध्यावन्दनपूर्वकं स्वयं प्रशीर्णाः पूर्वोक्तलक्षणाः समिधः पूर्ववत् उक्तप्रकारेण तस्मिन्नेवाग्नौ आधाय वाचं विसृजते इति तद्दिनकृत्यम्।

(हरिहर०)

अथ तद्दिनमारभ्यासमावर्तनात्कर्त्तव्यमुच्यते । भूमौ शयनम्, अक्षारालवणाशनं, दण्डधारणम् अग्निपरिचरणं, गुरुशुश्रूषा, भिक्षाचर्या सायंप्रातर्भोजनार्थं भोजनसन्निधाने वा वारद्वयं वा भैक्षचरणं, अनिन्द्ये ब्राह्मणगृहे भैक्षं गुर्वाज्ञया याचित्वा भोजनविधिना भुञ्जानः मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् । स्मृत्यन्तरे तु—

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशूद्रस्त्रीप्राणिहिंसनम् ।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥

आदिशब्देन पर्युषितताम्बूलदन्तधावनावसक्थिकादिवास्वापच्छत्रपादुकागन्धमाल्योद्वर्तनानुलेपनजलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्यालापादीन्यन्यान्यपि वर्जनीयानि स्मृतानि ।

तथा—

कार्या भिक्षा सदा धार्यं कौपीनं कटिसूत्रकम् ।
कौपीनसहितं धार्यं खण्डं वा वस्त्रपार्श्वयुक् ॥
यज्ञोपवीतमजिनं मौञ्जीं दण्डं च धारयेत् ।
नष्टे भ्रष्टे नवं मन्त्राद् धृत्वा भ्रष्टं जले क्षिपेत् ॥

अष्टचत्वारिंशतं वर्षाणीत्यादिव्यवहार्या भवन्तीति वचनादित्यन्तसूत्रमुक्तार्थम् । कालातिक्रमे नियतवदित्यस्यार्थ उक्तः । इतिकर्त्तव्यताऽत्र लिख्यते—पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य अनादिष्टप्रायश्चित्तहोमं कुर्यात् । पूर्णाहुतिर्यथा कात्यायनसूत्रे—"पूर्णाहुतिं जुहोति निरुप्याज्यं गार्हपत्येऽधिश्रित्य स्रुक्स्रुवं च संमृज्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य गृहीत्वारब्ध एवठं सर्वत्र" ।

अत्रैवं प्रयोगः—यदाऽऽवसथिकस्य अनादिष्टं प्राप्नोति तदाग्निः सम्भृत एव, यदि च निरग्नेः तदा शुद्धायां भूमौ पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकमग्निं स्थापयित्वा स्थाल्यामाज्यं तूष्णीं निरुप्याग्नावधिश्रित्य स्रुवं दर्भैः संमृज्याज्यमुद्वास्य कुशतरुणाभ्यामुत्पूयावेक्ष्य स्रुवेणादायोपरि समिधं निधायोत्थाय स्रुवं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनाग्नौ तिष्ठन् समिधमाधायोपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य ॐ भूः स्वाहेति स्रुवस्थिताज्येनैकामाहुतिं हुत्वा भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहेति चतस्रः, "त्वन्नो अग्ने" इत्यादिभिः पञ्चभिः स्रुवेणावदायाज्याहुतीर्जुहोति । इदं नवाहुतिहोमात्मकं कर्म यत्र यत्र प्रायश्चित्तानादेशः कर्मणां नियतकालातिक्रमो वा तत्र तत्रानादिष्टसंज्ञकं प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यदा तु कस्मिंश्चित्स्थालीपाकादिकर्मप्रयोगे वर्तमाने अनादिष्टप्रायश्चित्तमापद्येत तदा तत्कर्माङ्गभूते एवाग्नौ तत्कृत्वा

(हरिहर०)

अनादिष्टं हुत्वा उपरितनं प्रयोगं कुर्यात् । यदा तु बहूनि निमित्तानि भवन्ति तदा 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्त्तते' इतिन्यायात् यावन्ति निमित्तानि तावत्कृत्वः प्रायश्चित्तमावर्त्तते यथोक्तम् ।

॥ इत्युपनयनपद्धतिः ॥

अत्र "वेदब्रह्मचर्यं चरेत्" (पा० गृ० कां० १ कं० ५ सू० १३) इत्यनेन वेदाध्ययनाङ्गतया ब्रह्मचर्याचरणमुक्तम्, वेदाध्ययनारम्भस्य कालः इतिकर्त्तव्यता च नोक्ता । केवलं समावर्त्तनकर्म सूत्रकारेणारब्धं "वेदठ् समाप्य स्नायात्" (पा० गृ० कां० १ कं० ६ सू० १) इति । तत्र वेदस्य आरम्भं विना समाप्तिः कर्त्तुमशक्येति उपनयनानन्तरमेव वेदारम्भस्य समय इत्यवगम्यते । इतिकर्त्तव्यता च पुनः "एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु" इति उपाकर्महोमातिदेशाद् व्रतादेशने वेदारम्भे प्राप्नोति । अतश्च—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥

इति गुरोः उपनयनानन्तरं वेदाध्यापनविधानाच्च उपनयनोत्तरकालं पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकं वेदारम्भनिमित्तमाभ्युदयिकं श्राद्धमाचार्यो विधाय पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्मचारिणमाहूय अग्नेः पश्चात् स्वस्योत्तरत उपवेश्य ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कृत्वा यदि ऋग्वेदमारभते तदा पृथिव्यै स्वाहा, अग्नये स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा, ब्रह्मणे छन्दोभ्यः इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा शेषं समापयेत् । यदि यजुर्वेदं तदाऽऽज्यभागानन्तरम् अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहेति विशेषः । यदा सामवेदं तदाज्यभागानन्तरं दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहेति विशेषः । यदाऽथर्ववेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहेति विशेषः । यद्येकदा सर्ववेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागानन्तरं क्रमेण प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्यः इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतये इत्याद्याः सप्त मन्त्रेण जुहुयात् । अनन्तरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा ब्रह्मचारिणे यथाविधि वेदमध्यापयितुमारभते ।

॥ इति व्रतादेशप्रयोगः ॥

—ooioioo—

(गदाधर०)

अथ पदार्थक्रमः

शुक्लपक्षे द्वितीयादिस्वाध्यायतिथिषु नानध्याये न नैमित्तिकानध्याये पूर्वाह्णे शुभमुहूर्ते शुभचन्द्रादौ गुरुशुक्रयोर्बाल्यवार्धकास्तराहित्यादौ ज्योतिर्विज्ञोक्ते शुभे काले उपनयनं कार्यम् । तत्राधिकारसिद्धये प्रायश्चित्तमाह वृद्धविष्णुः—

कृच्छ्रत्रयं चोपनेता त्रीन् कृच्छ्रांश्च बटुश्चरेत् ।
आचार्यो द्वादशसहस्रं गायत्रीं च जपेत्तथा ॥
नान्दीश्राद्धे कृते चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः ।
तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ॥

उक्ते काले उपनिनीषुः पिता पूर्वेद्युर्वटोः परिधानार्थं शुक्लमीषद्धौतं नवं सदशं परेणाधृतं वस्त्रमुत्तरीयार्थं चाजिनं यज्ञोपवीतं मेखलामव्रणमृजुं सौम्यदर्शनं दण्डं कौपीनं भिक्षाभाजनं च संपाद्य स्वस्योपनेतृत्वाधिकारसिद्धये कृच्छ्रत्रयं द्वादशसहस्रं गायत्रीं च जप्त्वा कुमारेणापि कामचारकामवादकामभक्षणादिदोषापनोदनार्थं कृच्छ्रत्रयं कारयित्वा स्वस्तिवाचनाङ्कुरार्पणग्रहयज्ञनान्दीश्राद्धानि संकल्पपूर्वकं कृत्वा मण्डपप्रतिष्ठां कुर्यात् । तत्र संकल्पः—अस्य कुमारस्योपनयने ग्रहानुकूल्य-सिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं ग्रहयज्ञं करिष्ये । ग्रहयज्ञं समाप्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य कुमारस्य द्विजत्वसिद्धिद्वारा वेदाध्ययनाधिकारार्थं श्व उपनयनं करिष्ये । तदङ्गभूतमद्य गणपतिपूजनपूर्वकं स्वस्तिवाचनपूर्वकं नान्दीश्राद्धं मण्डपप्रतिष्ठां कुलदेवतादिस्थापनं च करिष्ये । उपनयनेन सह चौलकरणपक्षे तदपि संकल्पे कीर्तयेत् । तन्त्रेण च स्वस्तिवाचनग्रहयज्ञनान्दीश्राद्धादीनि कुर्यात् । अथापरेद्युः कृतनित्यक्रियः कुमारस्य वपनं कारयित्वा ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा कुमारं च भोजयित्वा बहिःशालायां पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयेत् । ततो वैकल्पि-कावधारणम् । तूष्णीं मेखलाबन्धनम् । दण्डः पालाशः । आसीनाय गायत्रीप्रदानम् । 'एषा ते' इति समिदाधानम् । मातृपूर्वकमपरिमिताश्च भिक्षणीयाः । 'न वाग्यतोऽहः-शेषं तिष्ठेत्' इति पक्षः । उत आचार्योपनीताः पुरुषाः कृतमङ्गलस्नानं स्रङ्माल्या-द्यैरलङ्कृतं बटुमाचार्यसमीपमानयन्ति । तत आचार्यो बटुमग्नेः पश्चादवस्थाप्य—'ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि' इति वदति । 'ब्रह्मचर्यमागाम्' इति ब्रह्मचारी ब्रूयात् । ततो ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहि इत्याचार्यो वदति । 'ब्रह्मचार्यसानि' इति ब्रूयात् । ततः कुमारमाचार्यो वासः परिधापयति 'येनेन्द्राय' इति । तत आचार्यः कुमारस्य कटिदेशे—'इयं दुरुक्तम्' इति मन्त्रेण मेखलां बध्नाति । 'युवा सुवासा' इति वा बन्धनम्, तूष्णीं वा । ततो बटुः—'यज्ञोपवीतम्' इति मन्त्रं पठित्वा दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयति । ततो बटुः—'मित्रस्य चक्षुः' इत्यजिनमुत्तरीयं

(गदाधर०)

गृह्णाति । तत आचार्यो दण्डं माणवकाय प्रयच्छति । माणवकः—'यो मे दण्डः' इति दण्डं प्रतिगृह्णाति । अथाचार्यः स्वाञ्जलिना वटोरञ्जलिमद्भिः पूरयति—'आपोहिष्ठा' इति तिसृभिः । सूर्यमुदीक्षस्वेत्याचार्य आह । ततो वटुः 'तच्चक्षुः' इति सूर्यं पश्यति । तत आचार्यो माणवकस्य दक्षिणांसस्योपरि हस्तं नीत्वा हृदयमालभते—'मम व्रते ते' इति । तत आचार्यो माणवकस्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह 'को नामाऽसि' इति । अमुक अहं भो ३ इति बटुः प्रत्याह । ततो गुरुर्वटुं प्रति कस्य ब्रह्मचार्यसीति वदति । भवत इति बटुराह । तदैवाचार्यः—'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि' इति मन्त्रं ब्रूयात् । तवामुकब्रह्मचारीति प्रयोगो मन्त्रान्ते । अथैनमाचार्यो रक्षार्थं भूतेभ्यः परिददाति 'प्रजापतये त्वा' इति । ततो बटुरग्निं प्रदक्षिणीकृत्याचार्यस्योत्तरत उपविशति । ततो गुरुर्ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्तं चूडाकरणवत् कर्म कृत्वा कुमारस्यानुशासनं करोति । तच्चैवं—'ब्रह्मचार्यसि' इत्याचार्य आह । 'भवानि' इति ब्रह्मचारी प्रत्याह । अपोऽशानेत्याचार्य आह । अश्नानीति ब्रह्मचारी प्रत्याह । कर्म कुर्वित्या० । करवाणीति ब्र० । मा दिवा सुषुप्था इत्या० । न स्वपानीति ब्र० । वाचं यच्छेत्या० । यच्छानीति ब्र० । समिधमाधेहीत्या० । आदधानीति ब्र० । अपोऽशानेत्या० । अश्नानीति ब्र० । अथाचार्यो ब्रह्मचारिणेऽग्नेरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय सावित्रीं ब्रूयात् ; तत्रैवं प्रणवव्याहृतिपूर्वकं प्रथममेकैकं पादम्, तथा द्वितीयमर्द्धर्चशः, तथैव तृतीयं सर्वां, स्वयं च बटुना सह पठेत् । दक्षिणत आसीनाय वा सावित्रीप्रदानम् । ततो ब्रह्मचारी समिदाधानं करोति । तत्र पूर्वमग्नेः संधुक्षणम् । पञ्चमन्त्रैरिन्धनप्रक्षेपणम् 'अग्ने सुश्रवः' इति प्रथमम् । 'यथा त्वमग्ने' इति द्वितीयम् । 'एवं मा७ंसम्' इति तृतीयम् । 'यथा त्वमग्ने देवानाम्' इति चतुर्थम् । 'एवमहं मनुष्याणाम्' इति पञ्चमम् । प्रदक्षिणमग्निमुदकेन पर्युक्ष्योत्थाय समिधम् 'अग्नये समिधम्' इत्यग्नौ प्रक्षिपति । एवं द्वितीयाम्, तथैव तृतीयाम्, 'एषा ते' इति वा मन्त्रेण समिधामाधानम् । अथवा द्वाभ्यामपि समिधामाधानम् । पुनः पञ्चभिर्मन्त्रैरग्नेः संधुक्षणं पूर्ववत् । अग्नेः पर्युक्षणम् । ततस्तूष्णीं पाणी प्रतप्य 'तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि' इति मुखं विमार्ष्टि । ततो द्वितीयवारं पाणी प्रतप्य 'आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि' इति मुखं विमार्ष्टि । एवं तूष्णीं पाणी प्रतप्य 'वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि' । 'अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण' । 'मेधां मे देवः सविता आदधातु' 'मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु' । 'मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ'[१] ।

अथाचारतोऽनुष्ठेयाःपदार्थाः । 'अङ्गानि च म आप्यायन्ताम्' इति शिरःप्रभृति

१. एषां मन्त्राणां प्रतिमन्त्रं 'इति मुखं विमार्ष्टि' इत्यनुषज्यते ।

(गदाधर०)

पादान्तं सर्वाङ्गान्यालभते । 'वाक् च म आप्यायताम्' इति मुखालम्भनम् । 'प्राणश्च म आप्यायताम्' इति नासिकयोरालम्भनम् । 'चक्षुश्च म आप्यायताम्' इति नेत्रयोरालम्भनम् । 'श्रोत्रं च म आप्यायताम्' इति दक्षिणकर्णमालभ्यानेनैव मन्त्रेण वामालम्भनम् । 'यशो बलं च म आप्यायताम्' इति जपः । ततो भस्मना ललाटे तिलकं 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इति । 'कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इति ग्रीवायाम् । 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्' इति दक्षिणेंऽसे । 'तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' इति हृदि । ततोऽभिवादनम् । तत्रैवं प्रयोगः—माण्डव्यसगोत्रः भार्गवच्यावनआप्नवानौर्वजामदग्न्येति पञ्चप्रवरोऽभिवादयेऽमुकनामाऽहमस्मि ३ ।

कारिकायाम्—

पद्माकारौ करौ कृत्वा पादोपग्रहणं गुरोः ।
उत्तानाभ्यां तु पाणिभ्यामिति पैठीनसेर्वचः ॥

आयुष्मान् भव सौम्य विष्णुशर्म३न् इत्याचार्यस्य प्रत्यभिवादनम् । ततो वृद्धाभिवादनम् ।

अथ भिक्षाचर्यचरणम् ।

तत्र ब्रह्मचारी पात्रं गृहीत्वा भवति भिक्षां देहीत्येवं भिक्षां याचेत । तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः षट् द्वादशापरिमिता वा । ततो भिक्षामाचार्याय निवेदयेत् । अत्र मध्याह्नसन्ध्यां कुर्यादिति प्रयोगपारिजाते । नेति कृष्णम्भट्टीकारः । ततो भैक्ष्यं भुङ्क्ष्वेति गुरुणाऽनुज्ञातो भोजनं कुर्यात् । इतः प्रभृति सूर्यास्तमयं यावद्वाग्यतो वा भवेत् । ततः सायं सन्ध्यावन्दनपूर्वकमग्निपरिचरणं पाणिनाग्निं परिसमूहतीत्याद्यभिवादनान्तं पूर्ववत् । उपनयनाग्निस्त्रिरात्रं धार्यः, "त्र्यहमेतमग्निं धारयति" इत्यापस्तम्बोक्तेः । 'यावद्व्रतमग्निरक्षणम्' इति गर्गपद्धतौ । इत्युपनयने पदार्थक्रमः ॥

एष प्रयोगः स्वस्वकाले कृतपूर्वसंस्कारस्य । असंस्कृतस्य तु विशेष उच्यते । आचार्य उपनयनात्पूर्वाह्ने बटुना सह मङ्गलस्नातः प्राणानायम्य तिथ्यादि सङ्कीर्त्य—"मम कुमारस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनचौलकर्मान्तानां संस्काराणां कालातिपत्तिदोषनिवृत्तिद्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रायश्चित्तहोमं करिष्ये' इति सङ्कल्प्य पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्निं लौकिकं स्थापयित्वा स्थाल्यामाज्यं निरुप्याग्नावधिश्रित्य स्रुवं दर्भैः संमृज्याज्यमुद्वास्य कुशतृणाभ्यामुत्पूयावेक्ष्य स्रुवेणादाय समित्प्रक्षेपं कृत्वा नवाहुतीर्जुहोति । भूः स्वाहा १, भुवः० २, स्वः० ३, भूर्भुवः स्वः० ४, त्वन्नो अग्ने० ५, सत्वन्नो अग्ने० ६, अयाश्चाग्ने० ७, ये ते शतं० ८, उदुत्तमं० ९, इति नवाहुतिहोमात्मकं प्रायश्चित्तं कृत्वा चौलातिरिक्तसंस्काराणां प्रमादादकरणे प्रत्येकं पादकृच्छ्रं, चौलाकरणेऽर्द्धकृच्छ्रं, बुद्धिपूर्वं चौलातिरिक्ताकरणे

(गदाधर०)

प्रत्येकमर्द्धकृच्छ्रं चौलाकरणे कृच्छ्रं बटुना कारयेत् । अशक्तौ तत्प्रत्याम्नायत्वेन गोदानतिलाहुतिसहस्रदशसहस्रगायत्रीजपद्वादशविप्रभुक्त्यादिष्वेकं प्रायश्चित्तं कारयित्वाऽतीतजातकर्मादीनि कृत्वा पूर्वोक्तोपनयनतन्त्रं सर्वमाचरेत् । उपनीत्या सह चौलकरणे पूर्वेद्युः संस्कारद्वयं सङ्कीर्त्य युगपत्स्वस्तिवाचनग्रहयज्ञनान्दीश्राद्धानि कृत्वा परेद्युर्मङ्गलस्नानविप्रत्रयभुक्त्यादिवरदानान्तं पूर्वोक्तं चौलप्रयोगं सर्वं कृत्वा पुनस्तिथ्याद्युल्लिख्य कुमारस्य वपनाद्युपनयनं सर्वं कार्यम् । अत्र शौनकः—

आरभ्याधानमाचौनात्कालेऽतीते तु कर्मणाम् ।
व्याहृत्याज्यं सुसंस्कृत्य हुत्वा कर्म यथाक्रमम् ॥
एतेष्वेकैकलोपे तु पादकृच्छ्रं समाचरेत् ।
चूडाया अर्द्धकृच्छ्रं स्यादापदीत्येवमीरितम् ॥
अनापदि तु सर्वत्र द्विगुणं द्विगुणं चरेत् ।

कात्यायनः—

लुप्ते कर्मणि सर्वत्र प्रायश्चित्तं विधीयते ।
प्रायश्चित्ते कृते पश्चाल्लुप्तं कर्म समाचरेत् ॥

स्मृत्यर्थसारे चैवम् । आश्वलायनकारिकायां तु प्रायश्चित्ते कृतेऽतीतं कर्म कृताकृतमित्युक्तम् ।

प्रायश्चित्ते कृते पश्चादतीतमपि कर्म वै ।
कार्यमित्येक आचार्या नेत्यन्ये तु विपश्चितः ॥ इति ।

मण्डनस्तु—

कालातीतेषु सर्वेषु प्राप्तवत्स्वपरेषु च ।
कालातीतानि कृत्वैव विदध्यादुत्तराणि तु ॥ इत्युक्तवान् ।

तत्र सर्वेषां तन्त्रेण नान्दीश्राद्धं कुर्यात्, देशकालकर्त्रैक्यात् ।

अथ ब्रह्मचारिधर्माः

अधःशयनमक्षारालवणाशनं दण्डधारणमरण्यात्स्वयंप्रशीर्णानां समिधामाहुतिः कालत्रये सन्ध्योपासनं परिसमूहनादि यथोक्तमग्निपरिचरणं सायं प्रातः सन्ध्योपास्तेरूर्ध्वं गुरुशुश्रूषया स्थातव्यं, भोजनार्थं वारद्वयं सायं प्रातश्च भिक्षाचरणं, भैक्षाशनं लौहे, मृन्मये, पर्णादौ वा कार्यम् । मधुमांसयोरभक्षणम्, उन्मज्जनं न कार्यम्, उद्धृतोदकेन स्नानम्, आसनस्योपरि मसूरिकां स्थापयित्वा नोपविशेत्, स्त्रीणां मध्ये नावस्थानं, नानृतवदनं, नादत्तादानम् । अन्येऽपि स्मृत्यन्तरोक्ता नियमाः । याज्ञवल्क्यः—

(गदाधर०)

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टं[1] शुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम् ।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥

शुक्तं परुषं वचः,[2] पर्युषितान्नं च । मनुः—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।

वर्जयेदिति प्रकृतम् । पारिजाते कौर्मे—

नादर्शं चैव वीक्षेत नाचरेद्दन्तधावनम् ।
गुरूच्छिष्टं भेषजार्थं प्रयुञ्जीत न कामतः ॥

एतन्निषिद्धमध्वादिविषयम्, अन्यस्य गुरूच्छिष्टस्य सर्वदा प्राप्तेः । वसिष्ठः—'स चेद्व्याधीयीत कामं गुरोरुच्छिष्टशेषमौषधार्थं सर्वं प्राश्नीयात्' इति । ज्येष्ठभ्रातुरित्यपि ज्ञेयम् । तथाऽऽपस्तम्बः—

'पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यम्' इति ।

स्मृत्यन्तरे—

गुरुवद्गुरुपुत्रे स्यादन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् ।

प्रचेताः—

ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रे च भोजनम् ।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत् ॥

यमः—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च नित्यशः ।
कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत् ॥

अथ ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तम्

तत्र बौधायनः—'अत्र शौचाचमनसन्ध्यावन्दनदर्भभिक्षाऽग्निकार्यराहित्य–शूद्रादिस्पर्शन–कौपीनकटिसूत्रयज्ञोपवीतमेखलादण्डाजिनत्याग – दिवास्वाप–च्छत्रधारण–पादुकाऽभ्यारोहण–मालाधारण–उद्वर्तन-अनुलेपन-अञ्जन–जलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्याद्यभिरति–पाखण्डादिसम्भाषण–पर्युषितभोजनादि–ब्रह्मचारिव्रतलोपजसकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मचारी कृच्छ्रत्रयं चरेन्महाव्याहृतिहोमं च कुर्यात् । तद्यथा–लौकिकाग्निं प्रतिष्ठाप्य ब्रह्मवरणाद्याज्यभागान्तं कृत्वा प्रथमं व्यस्तसमस्तव्याहृतिभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा ४ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा ५, भुवो वायवे

---

१. 'शुक्ल' ख० ग० ।

२. विज्ञानेश्वरस्तु प्रतिषेधतीममर्थं तस्याभक्ष्यप्रकरणे पृथक् निषेधात् ।

(गदाधर०)

चान्तरिक्षाय च महते च स्वा० ६, सुवरादित्याय च दिवे च महते च स्वा० ७, भूर्भुवःसुवश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च महते च स्वा० ८, पाहि नो अग्ने एनसे स्वा० ९, पाहि नो अग्ने विश्ववेदसे स्वा० १०, यज्ञं पाहि विभावसो स्वा० ११, सर्वं पाहि शतक्रतो स्वा० १२, पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः स्वाहा १३, सहरज्जा निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वपस्न्याविश्वतस्परि स्वाहा १४, पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा स्विष्टकृदादिवरदानान्तं शेषं समापयेत्' इति ॥ एतदल्पधर्मलोपे प्रायश्चित्तम्।

बहुधर्मलोपे तु प्रायश्चित्तविशेष ऋग्विधाने शौनकेनोक्तः—

तवोधिया जपेन्मन्त्रं लक्षं चैव शिवालये।
ब्रह्मचारी स्वधर्मं च न्यूनं चेत्पूर्णमेव तत् ॥ इति।

महानाम्न्यादिव्रतेषु लुप्तेषु तारतम्येन त्रीन् षट् द्वादश वा कृच्छ्रान् कृत्वा पुनर्व्रतं प्रारभेत इति स्मृत्यर्थसारे। तथा सन्ध्याग्निकार्यलोपे स्नात्वाऽष्टसहस्रं जपः, भिक्षालोपेऽष्टशतम्, अभ्यासे द्विगुणं पुनःसंस्कारश्चेत्युक्तम् ॥

॥ इति ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तम् ॥

अथ पुनरुपनयनम्। तत्र मनुः—

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥

चन्द्रिकायां बौधायनः—

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् तथा प्रत्यन्तवासिनः।
अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च गत्वा संस्कारमर्हति ॥

हेमाद्रौ पाद्मे—

प्रेतशय्याप्रतिग्राही पुनः संस्कारमर्हति।

वृद्धमनुः—

जीवन् यदि समागच्छेद् घृतकुम्भे निमज्ज्य च।
उद्धृत्य स्नापयित्वाऽस्य जातकर्मादि कारयेत् ॥ इति।

मिताक्षरायां पराशरः—

यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्यातो विनिर्गतः।
अनाशकनिवृत्तश्च गार्हस्थ्यं चेच्चिकीर्षति ॥
स चरेत् त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि च।
जातकर्मादिभिः सर्वैः संस्कृतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥

(गदाधर०)

शातातपः—

लशुनं गृञ्जनं जग्ध्वा पलाण्डुं च तथा शुनम् ।
उष्ट्रमानुषकेभाश्वरासभीक्षीरभोजनात् ॥
उपायनं पुनः कुर्यात्तप्तकृच्छ्रं चरेन्मुहुः ॥

अपरार्कादिसर्वग्रन्थेषु पित्रादिव्यतिरेकेण ब्रह्मचारिणः प्रेतकर्मकरणे पुनरुपनयनमित्युक्तम् ।

त्रिस्थलीसेतौ—

कर्मनाशाजलस्पर्शात्करतोयाविलङ्घनात् ।
गण्डकीबाहुतरणात्पुनःसंस्कारमर्हति ॥

पराशरः—

अजिनं मेखला दण्डो भैक्ष्यचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥

'य ऐकं वेदमधीत्यान्यवेदमध्येतुमिच्छति तस्य पुनरुपनयनम्' इति हरदत्तः इत्यन्ये, "सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यः सावित्र्यनूच्यते" इत्यापस्तम्बवचनात् । यमः—

पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा ॥

इदं च युगान्तरविषयम् । इति पुनरुपनयनम् ॥

त्रुटितानां मेखलादीनां प्रतिपत्तिमाह मनुः—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीत्वाऽन्यानि मन्त्रवत् ॥

अथ गर्गमते पदार्थक्रमः

श्राद्धम् । वपनम् । विप्रभोजनम् । बटोरपि अग्निस्थापनम् । अलङ्कृतस्यानयनम् । पश्चादग्नेरवस्थापनम् । ततो ब्रह्मासनादिबर्हिस्तरणान्तं कर्म । ततो ब्रह्मचर्यमागामिति वाचनम् । ब्रह्मचार्यसानीति च । वासः परिधापयति । मेखलाबन्धनम् । बटोर्मन्त्रपाठः । मन्त्रेण यज्ञोपवीतपरिधानम् । तत आचमनम् । उत्तरीयधारणं मन्त्रेण । दण्डप्रतिग्रहः । दीक्षाबद्धा । अञ्जलिनाऽञ्जलिपूरणमद्भिः । प्रैषपूर्वकं सूर्यवीक्षणम् । हृदयालम्भनम् । दक्षिणहस्तग्रहणादि भूतेभ्यः परिदानान्तम् । ततो हस्तविसर्गः । ततः प्रदक्षिणं परिक्रम्योपवेशनम् । तत आचार्यस्योपयमनादानादिपर्युक्षणान्तम् । आचार्यस्यान्वारम्भो माणवककर्तृकः । तत आघाराद्याश्चतुर्दशाहुतयः संस्रवप्राशनादिदक्षिणादानान्तम् । ततो ब्रह्मचारिशासनं ब्रह्मचार्यसीत्यादि पूर्ववत् । ततो बर्हिर्होमादिब्राह्मणभोजनान्तम् ।

(गदाधर०)

अथ सावित्रव्रतादेशः

तत्रोपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम्। ततः कुमार उत्थाय हस्तेनोदकं गृहीत्वाऽग्निमभिमुखो भूत्वा 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि सावित्रं सद्यःकालं तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्' इति व्रतग्रहणं करोति। ततो ब्रह्मचारिण उपवेशनम्। ब्रह्मचारिण आचार्यस्यान्वारम्भः सर्वाहुतिषु। तत उपयमनादानादि आज्यभागान्तम्। ततो वेदाहुतयः षोडश। प्रतिवेदं चतस्रश्चतस्रः, एवं षोडश। ततः प्रजापतये, देवेभ्यः, इत्याद्याः सप्त। ततो महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दश। आज्यभागाद्या एताः सप्तत्रिंशदाहुतयो व्रतानामादेशे विसर्गे च होतव्याः। ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तम्। ततः अथास्मै सावित्रीमन्वाहेत्यादि यथोक्तं सावित्रीप्रदानम्। ततो माणवकस्य 'तत्सवितुः' इत्यनेन मन्त्रेण सन्ध्योपासनम्। सन्ध्योपासनान्ते 'तत्सवितुः'इत्यनेनैवाग्निपरिचरणम्। तदन्ते गोत्रनामग्रहणपूर्वकं सर्वेषामभिवादनम्। ततो भिक्षाचर्यचरणम्। भिक्षानिवेदनम्—भिक्षां भो इत्येवम्। आचार्यस्तु भिक्षां भो इत्येवं भिक्षां स्वीकुर्यात्। ततो ब्रह्मचारी शुचिर्भूत्वा स्वासने उपविशति। ततो बर्हिर्होमादिविप्रभुक्त्यन्तम्। अथानन्तरं सावित्रव्रतवत् सन्ध्योपासनाग्निपरिचरणम्। तत उपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम्। तत उत्थाय हस्तेनोदकं गृहीत्वाऽग्निमभिमुखो भूत्वा "अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं सावित्रं सद्यःफलं तदशकं तन्मे राधि" इति मन्त्रेण सावित्रव्रतोत्सर्गं करोति। उपयमनकुशादानादिपर्युक्षणान्तम्। अन्वारम्भः। आघारावाज्यभागौ। वेदाहुतयः षोडश। प्रजापतय इत्याद्याः सप्त। महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दश। एवं सप्तत्रिंशदाहुतयः। प्राशनादिविप्रभुक्त्यन्तं पूर्ववत्। सावित्रव्रतादेशे ब्रह्मणे दक्षिणादानान्ते सावित्र्या संध्यावन्दनमग्निपरिचरणं च यत्कृतं व्रतोत्सर्गे तदभावः। ततः अप्स्वन्तरिति दण्डस्याप्सु प्रक्षेपः। वातो वा इति मेखलाया अ०। वातरंहा भवेति यज्ञोपवीतस्या०। नमो वरुणायेति कुमारस्य दधिघृतशर्कराणां प्रत्येकं प्राशनम्।

॥ इति सावित्रव्रतोत्सर्गः ॥

अथाग्नेयव्रतम्

तत्रोपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम्। ततो ब्रह्मचारिणो मेखलाबन्धनम्। यज्ञोपवीतधारणम्। दण्डसमर्पणम्, ग्रहणं च। मेखलादिषु पूर्वोक्ता एव मन्त्राः। व्रतग्रहणं पूर्ववत् 'अग्ने व्रतपते' इति। आग्नेयं सांवत्सरिकम्, तच्छ० राध्यतामिति। आग्नेयं यथाकालं तच्छके० ध्यतामितीदानीं प्रयोगं कुर्वन्ति। ततः स्वस्थाने उपवेशनम्। आचार्यान्वारम्भः। उपयमनादानादिपर्युक्षणान्तम्। आघा-

(गदाधर०)

राद्याः स्विष्टकृदन्ताः सप्तत्रिंशदाहुतयोऽत्रापि होतव्याः। ततः प्राशनादिब्राह्मण-भोजनान्तम्। ततः स्मृत्युक्तं माध्याह्निकं संध्योपासनम्। ततोऽग्नेः पश्चादुपविश्य पाणिनाऽग्निं परिसमूहतीत्यादित्र्यायुषकरणान्तं यथोक्तम्। तत्र विशेषः। गात्रा-लम्भने कर्कमतेऽध्याहारः। 'अङ्गानि च म आप्यायन्ताम्' इति गर्गपद्धतौ। त्र्यायुष-करणान्ते शिवो नामेति जपः। यदि वटुर्मेधाकामः स्यात्तदा 'सदसस्पतिम्' इति-तृचेन मेधां याचते। श्रीकामश्चेत् 'इदं मे' इति श्रियं या०। ततो मेखलास्था-न्प्रवरान्प्रदक्षिणोपचारेण स्पृष्ट्वाऽमुकसगोत्रोऽमुकशर्माऽहं भो वैश्वानर अभिवाद-यामि। एवं वरुणाचार्यवृद्धानाम्। भिक्षाचर्यंच०गुरवे नि०। अनुज्ञातस्तां स्वीकृत्य मातृहस्ते समर्पयति। बर्हिर्होमादिविप्रभुक्तयन्तम्। इत्युपनयने पदार्थाः॥

ततः सन्ध्याकालेऽञ्जलिप्रक्षेपान्ते सूर्योपस्थानं वारुणीभिर्ऋग्भिः 'इमम्मे' इत्या-दिभिः। "मित्रः सᳬसृज्य" इत्यादिभिः प्रातः। "उद्वयम्"इत्यादिभिर्मध्याह्ने। ततो दण्डं गृहीत्वाऽग्निपरिचरणम्। मध्याह्ने सायाह्ने च सन्ध्योपासनान्ते प्रत्यहमग्नि-परिच०। एके मातरप्यग्निपरिचरणमिच्छन्ति। ततो वाग्विसर्गः। पूर्वोक्ता एव ब्रह्मचारिधर्मा ज्ञेयाः। सन्ध्योपासनादीनि स्वस्वकाले कार्याणि तेषां कालातिक्रमे कर्मणां भ्रेषे प्रायश्चित्तमुच्यते। परिसमूहनादि कृत्वा 'अन्वग्निः' इति मन्त्रेणाग्ने-राहरणम्। 'पृष्ठो दिवि' इति स्थापनम्। ताᳬसवितुस्तत्सवितुर्विश्वानि देवेत्या-दिभिः सावित्रमन्त्रैस्त्रिभिः प्रज्वालनम्। नात्र ब्रह्मोपवेशनादि। पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्यानादिष्टं कार्यम्। अथाग्नेयव्रतस्थितो ब्रह्मचारी समिधाऽग्निं दुवस्यतेत्येव-माद्याग्नेयवेदविभागं संवत्सरपर्यन्तं पठित्वा व्रतमुत्सृजति। संवत्सरे पूर्णे आग्नेय-व्रतविसर्गः। तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्तयन्तमाग्नेयव्रतादेशवत् भवति। एतावा-न्विशेषः—यस्मिन्काले आग्नेयव्रतग्रहणं कृतं तस्मिन्सन्ध्यावन्दनम्। अग्निपरिच०। आग्नेयव्रतविसर्गः—अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं सांवत्सरिकं तदशकं तन्मे राधीति मन्त्रेण। ततोऽनन्तरमामभिक्षानिवृत्तिः। दण्डादीनामप्सु प्रक्षेपः। व्रतादौ ग्रहणं तेषाम्।

॥ इत्याग्नेयव्रतविसर्गः॥

अथ शुक्रियव्रतादेशः

तत्रोपलेपनादि बर्हिस्तरणान्तं कृत्वा मेखलायज्ञोपवीत दण्डानां धारणपूर्वकं व्रत हणम्। अग्ने० मि शुक्रियं सांवत्सरिकं तच्छकेयमिति विशेषः। तत उपय-मनादिविप्रभुक्तयन्तमाग्नेयव्रतादेशवत्। शुक्रियवेदव्रतस्थित 'ऋचं वाचम्' इत्यादि शुक्रियवेदविभागं पठति संवत्सरं यावत्। उत्तमेऽहनि अपराह्णकालान्ते निशा-मुखे त्रिगुणेन पटेन एकस्यां दिशि बद्धेन नाभिमात्रं यावन्माणवकस्य प्रच्छा-

(गदाधर०)

दनम् मूर्धानमारभ्य ग्रन्थेः शिरस उपरिकरणम् । ततः सावित्र्या वेदशिरसा हिरण्येन पात्रेण इति मन्त्रैरवगुण्ठनम् । एवं प्रच्छादितो ब्रह्मचारी सूर्योदयं यावत्तिष्ठति । रात्रौ वा गोष्ठे वा देवायतने वाऽधः शयनम् । रात्रौ गृहे यदि स्थितिस्तदा व्युष्टायां रात्रौ ग्रामाद्बहिर्गमनम् । ततोऽवगुण्ठनीयविसर्गः । ततोऽदृश्रमस्य, उदुत्यम्, चित्रं देवानामुदितेऽर्के जपः । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय शुक्रियव्रतस्य विसर्गः । तत्र परिसमूहनादिबर्हिस्तरणान्तम् । ततः प्राकृतं सन्ध्योपासनम्, अग्निस्वीकरणम् । ततोऽग्नेव्रत० मचारिषं शुक्रियं सांवत्सरिकं तदशकं तन्मे राधीति मन्त्रेणोत्सर्गः । उपयमनादिब्राह्मणभोजनान्तम् । ततस्ताम्रपात्रे उदकप्रक्षेपः । द्यौः शान्तिरिति शान्तिकरणम् । शान्तिपात्रमवगुण्ठनीयवस्त्रं च गुरवे दद्यात् । ततोऽप्स्वन्तरमृतमित्यादिभिः पूर्ववत्प्रत्यृचं दण्डमेखलायज्ञोपवीतानामप्सु प्रक्षेपः । दधिघृतशर्कराणां 'नमो वरुणाय' इति प्रतिमन्त्रं प्राशनम् । ततो वपनम् । व्रतग्रहणस्यादौ सर्वत्र शुक्रियादिषु मेखलायज्ञोपवीतदण्डानां धारणम् ॥

अथौपनिषद्व्रतादेशः

उपलेपनादिबर्हिस्तरणान्तम् । ततोऽग्ने व्रत० औपनिषदं सांवत्सरिकं तच्छके० राध्यतामिति व्रतग्रहणम् । तत उपयमनादानादि विप्रभुक्तयन्तम् । औपनिषदे व्रते स्थितो द्वयाह प्राजापत्या इत्याद्यौपनिषदवेदविभागं संवत्सरं यावत् पठति । तत उत्तमेऽहनि निशामुखे अवगुण्ठनीयवस्त्रेणाच्छादनादि । उदितो अदृश्रमस्य उदुत्तमम्, चित्रं देवानामिति जपान्तं शुक्रियवत् । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय व्रतविसर्गः । तत्र परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तं कृत्वा पूर्ववत्सन्ध्योपासनमग्निपरिचरणं च । ततोऽग्ने० व्रतमचारिषमौपनिषदं सांवत्सरिकं तद० तन्मे राधीति व्रतविसर्गः । तत उपयमनादानादिविप्रभुक्तयन्तम् । ताम्रे उदकप्रक्षेपः । 'द्यौः शान्तिः' इति शान्तिकरणम् । भाजनवस्त्रयोराचार्याय दानम् । दण्डादीनामप्सु प्रासनम् । दध्यादीनां प्राशनम् ।

॥ इत्यौपनिषदं व्रतम् ॥

अथ शौलभव्रतादेशः

तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्तयन्तमौपनिषद्व्रतादेशवत् । व्रतग्रहणे शौलभं सांवत्सरिकमिति प्रयोगः । शौलभिनीनामृचां पाठो व्रते स्थितस्य । अत्राप्युत्तमेऽहनि निशामुखे पटेन प्रच्छादनादि उदिते जपान्तं पूर्ववत् । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय व्रतविसर्गः । तत्रैवं परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तम् । ततः सन्ध्योपासनादि । ततो व्रतविसर्गः । अग्ने० रिषं शौलभं सांवत्सरिकं तद० धीति मन्त्रः ।

(गदाधर०)

तत उपयमनादानादि ब्राह्मणभोजनान्तम् । तत उदकं पात्रे कृत्वा 'द्यौः शान्तिः' इति शान्तिकरणम् । पात्रवस्त्रयोर्गुरवे दानम् । दण्डादीनामप्सु प्रक्षेपः । दधिमधुशर्कराणां 'नमो वरुणाय' इति प्रत्यृचं प्राशनम् । ततो वपनम् ।

॥ इति शौलभम् ॥

अथ गोदानव्रतादेशः

तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्त्यन्तम् । व्रतग्रहणस्यादौ मेखलायज्ञोपवीतदण्डानां धारणम् । गोदानं सांवत्सरिकमिति मन्त्रे विशेषः । अस्मिन्व्रते अवगुण्ठन्यादीनामभावः "त्रिष्ववगुण्ठनं शुक्रियादिषु" इति सूत्रणात् । ततः संवत्सरे पूर्णे गोदानव्रतविसर्गः । तत्र परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तम् । ततः सन्ध्योपासनादि । अग्ने० रिषं गोदानं सांवत्सरिकं त० धीति मन्त्रेणोत्सर्गः । उपयमनादि विप्रभुक्त्यन्तं पूर्ववत् । अत्रास्मिन्विसर्गे दण्डमेखलायज्ञोपवीतानामप्सु प्रक्षेपाभावः । आचार्याय गोमिथुनदानम् । समाप्तानि व्रतानि । इति गर्गमते उपनयने पदार्थक्रमो व्रतानि च । इमानि च व्रतानि प्रक्षिप्तसूत्रे पठितानि कर्कमतानुसारिभिरप्यनुष्ठेयानि, स्मृत्यन्तरे केषाञ्चित् चत्वारिंशत्संस्कारेषु पाठात् ।

॥ इति उपनयने पदार्थक्रमः ॥

अथ वेदारम्भे पदार्थक्रमः

तत्र स्मृतौ—

"उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्" ॥

कारिकायाम्—

अप्रसुप्ते हरौ स स्यात्रानध्याये शुभेऽहनि ।
नास्तंगते जीवसिते वाले वृद्धे मलिम्लुचे ॥
षष्ठीं रिक्तां शनिं सोमं भौमं हित्वोत्तरोडुषु ।
मृगादिपञ्चधिष्ण्येषु मूलाश्विन्योः करत्रये ॥
पूर्वासु तिसृषूपेन्द्रभत्रये केन्द्रगैः शुभैः ।

तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । देशकालौ स्मृत्वा यजुर्वेदव्रतादेशं करिष्ये' इति सङ्कल्पः । ततः पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निस्थापनम् । ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तम् । ततः स्थाल्याज्येनैव जुहोति । अन्तरिक्षाय स्वाहा १, वायवे० २, ब्रह्मणे० ३, छन्दोभ्यः० ४, प्रजापतये० ५, देवेभ्यः० ६, ऋषिभ्यः० ७, श्रद्धायै० ८, मेधायै० ९, सदसस्पतये० १०, अनुमतये० ११, ततो भूराद्याः स्विष्ट-

(गदाधर०)

कृदन्ताः। ततः प्राशनादि दक्षिणादानान्तम्। ततो विघ्नेशं सरस्वतीं हरिं लक्ष्मीं स्वविद्यां च पूजयेत्। यदि ऋग्वेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते पृथिव्यै स्वाहा, अग्नये स्वाहेति च हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि समानम्। यदि सामवेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि पूर्ववत्। यद्यथर्ववेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि यथोक्तम्। यद्येकदा सर्ववेदारम्भस्तदैवम्—आज्यभागान्ते वेदारम्भक्रमेण प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं हुत्वा प्रजापतय इत्याद्याः सप्त तन्त्रेण जुहुयात्। ततो महाव्याहृत्यादि समानम्। कारिकायाम्—

तत्र प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायाननमीक्षते।
वेदारम्भमनुब्रूयाद्यथाशास्त्रमतन्द्रितः ॥

मनुः—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः॥
सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः।
ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा॥
प्राञ्जलिः पर्युपासीत पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति॥
ॐकारं व्याहृतीस्तिस्रः सपूर्वां त्रिपदान्ततः।
उक्त्वाऽऽरभेच्च वृत्तान्तमन्वहं गौतमोऽब्रवीत्॥

त्रिपदां गायत्रीम्। मनुः—

अध्येष्यमाणश्च गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥

दक्षः—

द्वितीये तु तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते।
वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः॥
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा।

याज्ञवल्क्यः—

हस्तौ सुसंयतौ धार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ।

तथा—

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥

(गदाधर०)

पाराशरः—

ज्ञातव्यः सर्ववेदार्थो वेदानां कर्मसिद्धये ।
पाठमात्रमधीती च पङ्के गौरिव सीदति ॥

व्यासः—

वेदस्याध्ययनं पूर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि ।
अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा ॥

मनुः—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

यमः—

य इमां पृथिवीं सर्वां सर्वरत्नोपशोभिताम् ।
दद्याच्छास्त्रं च शिष्येभ्यस्तच्च तच्च द्वयं समम् ॥
न निन्दां ताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ।
अधोभागे शरीरस्य नोत्तमाङ्गे न वक्षसि ॥
अतोऽन्यथा हि प्रहरन् न्याययुक्तो भवेन्नरः ।

न्याययुक्तो दण्डयुक्त इत्यर्थः । अत्र माणवकं कुलपरम्परागतं वेदमध्यापयेत्, तस्यैवाध्येतव्यत्वनियमात् । वसिष्ठः—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः ।
तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा ॥
अधीत्य शाखामात्मीयामन्यशाखां ततः पठेत् ।
स्वशाखां यः परित्यज्य अन्यशाखामुपासते ॥
शाखारण्डः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥ इति ।

॥ इति वेदारम्भप्रयोगः ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वितीयकाण्डे पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

षष्ठ कण्डिका

वेदठ्ँ.समाप्य स्नायात् ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्यं वाऽष्टाचत्वारिठ्ँ.शकम् ॥ २ ॥ द्वादशकेऽप्येके ॥ ३ ॥ गुरुणा ऽनुज्ञातः ॥ ४ ॥

(सरला)

प्राक्कथनः—प्रस्तुत कण्डिका में वेदाध्यन की समाप्ति पर संस्कार का विधान है। यहाँ पर ब्रह्म संस्कार पूर्ण हो जाते हैं।

हिन्दी—वेद को पढ़ लेने के बाद स्नान (समावर्तन संस्कार) करे ॥ १ ॥ अथवा अड़तालिस वर्ष के ब्रह्मचर्य की परिसमाप्ति पर[1] [स्नान करना चाहिए]॥२॥ कुछ आचार्यों के मतानुसार बारह वर्ष के पश्चात्[2] [स्नान करना चाहिए] ॥३॥ [फिर जब चाहें] गुरु की आज्ञा से [स्नान किया जा सकता है] ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथ समावर्तनमारभते—वेदठ्ँ. समाप्य स्नायाद्, ब्रह्मचर्यं वाऽष्टाचत्वारिठ्ँ.शकम्। वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं समाप्य सम्यक् पाठतोऽर्थतश्च अन्तं नीत्वा स्नायाद्वक्ष्यमाणेन विधिना स्नानं कुर्यात्। अथवा ब्रह्मचर्यं व्रतम् अष्टाचत्वारिठ्ँ.शकम् अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं निर्वर्त्यं समाप्य अवसानं प्राप्य गुरुणाऽनुमतः स्नायादिति सम्बन्धः ॥ १–२ ॥

द्वादशकेऽप्येके। एके सूत्रकाराः द्वादशकेऽपि द्वादशवर्षसमाप्येऽपि व्रते चरिते स्नायादिति मन्यन्ते ॥ ३ ॥

तत्रापि गुरुणाऽनुज्ञातः। अत्रासूत्रितमपि उभयं वेदं व्रतं च समाप्य वा स्नायादित्यनुषज्यते, यतः पूर्वं स्नातकस्य त्रैविध्यमुक्तम् ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'वेदठ्ँ.'''यात्'। स्नानशब्देन समावर्तनसंस्कार उच्यते। वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं समाप्य सम्यक् पाठतोऽर्थतश्चान्तं नीत्वा स्नायाद्वक्ष्यमाणविधिना स्नानं कुर्यात् ॥१॥

'ब्रह्म'''शकम्'। अथवा ब्रह्मचर्यव्रतमष्टाचत्वारिंशकमष्टाचत्वारिंशद्वर्षं निर्वर्त्य समाप्य अवसानं प्रापय्य गुरुणाऽनुज्ञातः स्नायादिति सम्बन्धः। मीमांसकास्तु अष्टाचत्वारिंशकं व्रतं समाप्य अवसानं कुर्यादिति पक्षं नाङ्गीकुर्वन्ति 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्याधानश्रुतिविरोधात्। नच विकल्पः, अतुल्यत्वात्।

---

१. द्रष्टव्यः—कण्डिका ५ का १३ वाँ सूत्र।

२. द्रष्टव्यः—कण्डिका ५ का १४ वाँ सूत्र।

(गदाधर०)

प्रत्यक्षमेकं श्रुतिवचनम्, कल्प्यमपरम् । कल्प्यप्रत्यक्षयोः प्रत्यक्षं बलवदिति भर्तृयज्ञ-भाष्ये ॥ २ ॥

'द्वा'''के' । द्वादशवार्षिके व्रते समाप्तेऽप्येके स्नानमिच्छन्ति । अन्ये तु वेदव्रत-समाप्त्युत्तरं स्नानमिच्छन्ति ॥ ३ ॥

'गुरु'''ज्ञातः' । स्नायादिति शेषः । गुर्वनुज्ञा च समावर्तनकर्माङ्गं, न तु स्नान-कालान्तरमेतत् ॥ ४ ॥

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः ॥ ५ ॥ षडङ्गमेके ॥ ६ ॥ न कल्प-मात्रे ॥ ७ ॥ कामं तु याज्ञिकस्य ॥ ८ ॥

(सरला)

विधि, विधेय और तर्क[1] ही वेद[2] हैं ॥ ५ ॥ कुछ शास्त्रकार षडङ्ग[3] सहित वेद (का अध्ययन अपेक्षित मानते हैं) ॥ ६ ॥ परन्तु कल्पमात्र (अर्थात् सिर्फ ग्रन्थमात्र) के पढ़ लेने पर नहीं ॥ ७ ॥ याज्ञिक (अर्थात् यज्ञ शास्त्र के जानने वाले) का (समावर्तन संस्कार) स्वेच्छा[4] से (हो सकता है) ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः । वेदं समाप्येत्युक्तं, तत्र कियान् वेद इत्यपेक्षा-यामाह—विधिः विधीयते इति विधिः "अग्निमादधीत" "अग्निहोत्रं जुहुयात्" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधायकं ब्राह्मण-

१. विधिः—"विधिर्विधायकं ब्राह्मणम्" विधायक वाक्यों को विधि या ब्राह्मण कहते हैं जिनके अनुसार यज्ञ किया जाता है । विधेयः—मन्त्र (जो यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं । तर्क = मीमांसा, मन्त्रों का अर्थ समझने के लिए विचार ।

२. वेद से तात्पर्य है कि इतना जाने बिना वेद पढ़ा नहीं समझना चाहिए ।

३. १. शिक्षा २. कल्प ३. व्याकरण ४. निरुक्त ५. छन्द और ६. ज्योतिष ।

४. कई आचार्यों के सिद्धान्त उद्धृत किये गए हैं कि वेद को ६ अंगों सहित ही पढ़े न कि अंगों में से केवल कल्प ही पढ़े । यहाँ आचार्य पारस्कर का मत है कि यदि उसे बड़े-बड़े कामों में हिस्सा नहीं लेना है, केवल यज्ञ का ही काम करना है तो वह कल्प अङ्ग के समेत ही वेद को पढ़े इसमें कोई हानि नहीं । यहाँ भाष्यकार कल्पमात्र का अर्थ ग्रन्थमात्र लेकर तीन पक्ष प्रस्तुत करते हैं १—मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद को ही पढ़े और स्नान करे । २—षडङ्ग वेद को पढ़कर स्नान करे ३—ग्रन्थमात्र को पढ़कर (न की अर्थ समझकर) और यज्ञ विद्या का अभ्यास करके स्नान करे ।

(हरिहर०)

वाक्यम् । विधेयः विधीयते विनियुज्यते ब्राह्मणवाक्येन कर्माङ्गत्वेनेति विधेयो मन्त्रः इषेत्वादिः । विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः यदत्रैतस्मिन्दर्शने सति समस्तवैदिकसंहारात्मिका मीमांसाऽपि वेदशब्दवाच्या भवतीत्यादिना तर्कपदं मीमांसापरमङ्गीकृत्य वार्तिककारितायाः मीमांसाया अपि वेदत्वमुक्तम्, तद्विध्यादित्रयस्य वेदत्वप्रतिपादनार्थेयं स्मृतिरिति षडङ्गवेदत्वस्मृतितुल्यन्यायतया पूर्वपक्षसंयताभ्युपगमेनैव । तद्दृष्टान्तेन कल्पसूत्राणां छन्दस्त्वाभावमुपपादयितुम् नत्वेवमेव स्मृतिव्याख्यानं सम्मतम् अध्येतॄणां मीमांसायां वेदशब्दाप्रसिद्धेः । नचाध्येतृप्रसिद्धिनिरपेक्षैवेयं स्मृतिर्विध्यादित्रयस्य वेदत्वं प्रतिपादयतीति वाच्यम्, तथा सति तन्नैरपेक्ष्येण स्मृतिमात्रपर्यालोचने तत्स्वारस्येन विध्युद्देशमात्रस्यैव वेदत्वापत्तावर्थवादादीनामवेदत्वापत्तेः; विधेयत्वमग्निहोत्रन्यायविस्तरयोरपि वेदत्वापत्तेश्च । अथाध्येतृप्रसिद्ध्यनुरोधेन विधिविधेयशब्दयोर्ब्राह्मणमन्त्रपरत्वान्नाव्याप्त्यतिव्याप्ती तर्हि स्मृतिरध्येतृप्रसिद्धिसापेक्षत्वापत्तौ कथं तर्कतदप्रसिद्धवेदत्वप्रतिपादनपरता ? न च तदंशे स्वातन्त्र्यम्, अपेक्षानपेक्षाविध्यनुवादकृतवैरूप्यापत्तेः, न्यायविस्तरातिप्रसङ्गानिवृत्तेश्च; व्यवहारानुप्रविष्टपदार्थनिर्णये तद्विरोधेन शास्त्रस्यासामर्थ्याच्च । तस्मादध्येतृप्रसिद्धस्यैव मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य कश्चिद्विधिनाङ्गविधायकः कश्चिन्मन्त्रात्मको विधेयः कश्चित्स एष नेति त्रैयम्बकाः पुरोडाशाः—इत्यादिवत्त्रैविध्यमनयैवोच्यत इति तात्त्विकोऽर्थः । अतः षडङ्गा एव वेदस्मृतिरपि परमतोपन्यासात्पूर्वपक्षस्मृतिरेवेत्यलम् । तर्कोऽर्थवाद इति कर्कोपाध्यायः । यथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति" इति विधिः श्रूयते । तत्राञ्जनसाधनं घृतं तैलं वसा च, तन्मध्ये केनाक्ता इति संशये तेजो वै घृतमिति अर्थवादात् घृतेनाक्ता इति निर्णीयते अतस्तर्कोऽर्थवादः । तर्को मीमांसेति कल्पतरुकारः । चकारान्नामधेयभागसङ्ग्रहः । यतो वेदो विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयभेदैश्चतुर्धा मीमांसकैर्विचार्यते । यथा अग्निहोत्राघारौ यागभेदौ, उद्भिद्बलभिदिति नामधेयानि ॥ ५ ॥

षडङ्गमेके । एके सूत्रकाराः षडङ्गं वेदं समाप्य स्नायादित्याहुः । षट् शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तज्योतिषच्छन्दांसि अङ्गानि यस्य वेदस्य षडङ्गः, तं षडङ्गम् ॥ ६ ॥

न कल्पमात्रे । कल्पमात्रे ग्रन्थमात्रे मन्त्रे वा ब्राह्मणे वा अधीते न स्नानमिच्छन्ति, कल्पमात्राध्ययनस्य अनुष्ठानायोग्यत्वात् । यतः "अथातोऽधिकारः" "अथातो धर्मजिज्ञासा" "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादिभिः

(हरिहर०)

धिकारसूत्रैः अधीतसकलवेदस्याग्निहोत्रादिकर्मस्वधिकार इत्याचार्यैर्वर्ण्यते ॥ ७ ॥

कामं तु याज्ञिकस्य । तु शब्दः पक्षव्यावृत्तौ । काममिच्छया याज्ञिकस्य आध्वर्यवादियज्ञविद्याकर्मकुशलस्य स्नानमिच्छन्ति । अयमर्थः—मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीत्य अवबुध्य च स्नायादित्येकः पक्षः, साङ्गं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादित्यपरः, ग्रन्थमात्रमप्यधीत्य यज्ञविद्यां चाभ्यस्य स्नायादिति तृतीयः । यज्ञविद्याविरहेण ग्रन्थमात्रे अधीते न स्नायादिति निषेधः, यतो वेदाध्ययनं वेदविहिताग्निहोत्रादिकर्माद्यनुष्ठानप्रयोजनम् ॥८॥

(गदाधर०)

'वेदꣳ. समाप्य स्नायात्' इत्युक्तं, तत्र वेदशब्देन किमुच्यते इत्यत आह—'विधि···वेदः' । विधत्ते इति, विधीयत इति वा विधिः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिविधायकं ब्राह्मणवाक्यम् । विधीयते विनियुज्यते ब्राह्मणवाक्येन कर्माङ्गत्वेनेति विधेयो मन्त्रः इषेत्वादिः । तर्कशब्देनार्थवादोऽभिधीयते । तर्क्यते ह्यनेन संदिग्धोऽर्थः । यथा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्' इति । अञ्जनं तैलवसादिनाऽपि संभवति, तत्र तेजो वै घृतमिति घृतसंस्तवात् तर्क्यते—घृताक्ता इति । तेन विध्यर्थवादमन्त्रा वेदशब्देनाभिधीयन्त इत्युक्तम् । तर्कः कल्पभाग सूत्रमिति भर्तृयज्ञः । तर्को मीमांसेति कल्पतरुः । चशब्दान्नामधेयसंग्रह इति हरिहरः ॥ ५ ॥

'षडङ्गमेके' । शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति षड्भिरङ्गैरुपेतमेक आचार्या वेदमिच्छन्ति । तमधीत्य स्नायादित्यन्वयः । स्नानं च द्वितीयाश्रमप्रतिपत्तिः । तदनुष्ठानयोग्यता च षडङ्गे वेदेऽधिगते भवति ॥ ६ ॥

अत एवोच्यते—'न कल्पमात्रे' । कल्पशब्देन च ग्रन्थमात्रमभिधीयते । कल्पमात्रे ग्रन्थमात्रे मन्त्रे वा ब्राह्मणे वा अधीते न स्नानमिच्छन्ति । नहि ग्रन्थमात्राध्ययनेन कर्मानुष्ठानयोग्यता भवति । तस्मादर्थतो ग्रन्थतश्चाधिगम्य स्नानमिति ॥ ७ ॥

'कामं···ज्ञिकस्य' । यज्ञं वेदिति याज्ञिकः । तुशब्देन ग्रन्थमात्राधीतस्याध्वर्यवादियज्ञविद्याकुशलस्य षडङ्गमर्थतोऽनधिगम्यापि काममिच्छया स्नानं भवति । तेनायमर्थः—मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादित्येकः पक्षः, साङ्गं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादिति द्वितीयः पक्षः, ग्रन्थमात्रमधीत्य यज्ञविद्यां चाभ्यस्य स्नायादिति तृतीय पक्षः ॥ ८ ॥

उपसङ्गृह्य गुरुꣳ. समिधोऽभ्याधाय परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात्स्थित्वाऽष्टानामुदकुम्भानां ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा

गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा[1] तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्येकस्मादपो गृहीत्वा तेनाभिषिञ्चते–तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥९॥ येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳪंसुराम् । येनाक्षावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यश इति, आपो हिष्ठेति च प्रत्यृचम्, त्रिभिस्तूष्णीमितरैः ॥ १० ॥

(सरला)

अब स्नान विधि का प्रतिपादन करते हैं:—

गुरु के चरणों को स्पर्श कर समिदाधान करके कनात से घिरे हुए समावर्तन स्थान के उत्तर की ओर रखे हुए आठ जलकुम्भों से पूर्व की ओर, पूर्व को अग्रभाग वाली (बिछी हुई) कुशाओं के ऊपर खड़ा होकर ॥ ८ ॥ (निम्न मंत्रों को कहते हुए स्नान करना चाहिए—) "जो पानी के भीतर अग्नियाँ प्रविष्ट हैं जो सभी प्राणियों का संवरण करती है, अंगों को तप्त करने वाली जन्तु हिंसक (क्रमि नाशक) मन को मार डालने वाली, अपने व्रत से कभी स्खलित न होने वाली, विशेष रूप से पीड़ित करने वाली, शरीर को दूषित करने वाली, इन्द्रियों का हनन करने वाली अग्नियों[2] को मैं छोड़ देता हूँ क्योंकि ये सभी कष्टप्रद है। जो चमकने वाली अग्नि है उसको मैं ग्रहण करता हूँ" इस प्रकार कहते हुए (८ घड़ों में से एक से जल लेकर) ब्रह्मचारी उस जल से अपना अभिषेक करता है, इस मंत्र से मैं श्री यश ब्रह्म और ब्रह्मवर्चस्विता के लिए उस जल से अभिषेक करता हूँ ॥ ९ ॥ येन श्रियं'''यश इस मंत्र से (दूसरे कलश से जल लेकर अभिसिचंन[3] करना चाहिए)

"जिस प्रकार देवताओं ने श्री और अमृत पाया एवं उपमन्यु की दोनो आँखे सींची थी, हे अश्विनद्वय ! तुम दोनों का वह यश मुझे भी मिल जाय और 'आपो-

---

१. दूषिरिन्द्रियहा अतितान्सृजामि इति जयरामसम्मतः पाठः ।

२. अग्नि की आठ हानिकारक शक्तियों के लिए द्रष्टव्यः—अथर्व १६. १. २ शांखा, ५. २ अथर्व १४. १. ३८ में तनूदूषि अग्नि का त्याग और रोचन का स्वीकार कहा है। इस मंत्र में अग्नि की आठ हानिकारक शक्तियाँ कौन सी है उनका रूप क्या है यह एक विचारणीय विषय है। द्रष्टव्यः—मन्त्र ब्राह्मण १, ७, १,

३. द्रष्टव्य :—अथर्व १४.१.३५—३६ मन्त्र ब्राह्मण १. ७. ५ ।
यदि अथर्व वेद के पाठ से इसे मिलाएँ तो येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां की जगह येनाक्षावभ्यषिञ्चतां होना चाहिए।

(सरला)

हिष्ठा[1]...इन मंत्रों से (क्रमशः तीसरे चौथे और पाँचवे कलश के जल से) प्रत्येक ऋचा को पढ़ते हुए (अभिषिचंन करे) और अन्य तीन घड़ों से स्नान करते समय मौन रहना चाहिए[2] ॥ १० ॥

(हरिहर०)

उपसङ्गृह्य गुरुठ्ं. समिधोऽभ्याधाय परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात्स्थित्वाऽष्टानामुदकुम्भानां ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहाऽस्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्येकस्मादपो गृहीत्वा तेनाभिषिञ्चते । स्नायादित्युक्तं, तत्र कथं स्नायादित्यपेक्षिते आह—उपसङ्गृह्य उपसङ्ग्रहणविधिना प्रणम्य कं गुरुम् आचार्यं समिधः पूर्वोक्तलक्षणास्तिस्रः परिसमूहनादित्र्यायुषकरणान्तेन विधिना आचार्यनिर्वर्त्तितसमावर्त्तनाङ्गहोमेऽग्नौ आधाय प्रक्षिप्य । अत्र समिधोऽभ्याधायेत्युक्तम् । तत्समिदाधानं किं वेदाहुत्यादिसमावर्त्तनहोमात्पूर्वम् उत पश्चात् ? वेदाहुतिहोमः कुतः प्राप्त इति चेत् ? "एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु" इत्यतिदेशात् । पूर्वं भवतु उपसंगृह्य गुरुठ्ं. समिधोभ्याधायेति पाठात् समिदाधानानन्तरं वेदाहुतीनामवसर इति गम्यते । नैतदेवम् , श्रुत्या हि वेदाहुतीनाम् अवसरः समिदाधानात्पूर्वं समिदाधानं च स्नानात्पूर्वमिति क्रमस्य ज्ञापितत्वात् । कथं ? "स यामुपयन् समिधमादधाति सा प्रायणीया, याᳪंस्नास्यन्त्सौदयनीया" इति श्रुतेः । तस्मात्समावर्त्तनहोमान्ते उपसङ्ग्रहणादि परिश्रितस्य परिवेष्टितस्य सर्वतः प्रच्छादितस्य समावर्तनाङ्गहोमसाधनाग्निस्थापनप्रदेशस्य उत्तरतः उत्तरस्मिन् भागे कुशेषु प्राक्कूलेषु प्रागग्रेषु आस्तीर्णेषु । क्व? पुरस्तात्प्राच्यां दिशि । केषाम् ? अष्टानामुदकुम्भानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टसंख्याकानाममलजलपूर्णानामाम्रादिशुभपल्लवमुखानां स्थित्वा स्थितिं कृत्वा ऊर्ध्वीभूयेत्यर्थः "ये अप्स्वन्तरग्नयः" इत्यादिना मन्त्रेण "तमिह गृह्णामि" इत्यन्तेन एकस्मात्प्रथमा-

---

१. वाज-संहिता ११. ५०—५२

२. आठ घड़े अग्नि के उत्तर में एक पंक्ति में दक्षिणोत्तर रहते हैं । उनमें से पानी पहले दक्षिण वाले में से फिर उत्तरोत्तर उत्तर वालों में से लेना चाहिए । पानी डालने का प्रत्येक घड़े में से एक ही मंत्र है । अभिषेक का मंत्र पहला 'तेन मां' दूसरा 'येन श्रियं' तीसरा 'आपो हिष्ठा' चौथा 'यो वः शिवतमो' 'पाँचवाँ 'तस्मा अरं' । छठां सातवाँ 'आठवाँ अभिषेक चुपचाप विना मंत्र के होता है ।

(हरिहर०)

तिक्रमे कारणाभावादिति न्यायेन प्रथमात् प्राङ्न्युदञ्चि च कर्माणीत्यनेन न्यायेन दक्षिणस्य प्रथमत्वम्। अपः जलं दक्षिणहस्तेन गृहीत्वा तेन जलेन अभिषिञ्चते अभ्युक्षति आत्मानं शिरस्तः स्नानकर्त्ता। तत्र मन्त्रः—तेन मामभिषिञ्चामि इत्यादिब्रह्मवर्चसायेत्यन्तः ॥ ६ ॥

येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳪंसुराम्। येनाक्षावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यश इत्यापोहिष्ठेति च प्रत्यृचं, त्रिभिस्तूष्णीमितरैः। एवम् एकोदकुम्भजलसाध्यं स्नानमभिधाय इतरसप्तोदकुम्भजलस्नानमात्रे मन्त्रविशेषाभिधानात् "ये अप्स्वन्तरग्नयः" इत्ययमेव सर्वोदकुम्भजलग्रहणे साधारणो मन्त्र इति प्रतीयते। ततः सर्वेभ्यो द्वितीयादिकुम्भेभ्यः प्रत्येकं ये अप्स्वन्तरिति मन्त्रेण जलमादाय वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्यथाक्रममभिषिञ्चते। तद्यथा—येन श्रियमिति द्वितीयम्, आपोहिष्ठेति तृतीयम्, यो वः शिव इति चतुर्थम्, तस्मा-अरङ्गमिति पञ्चमम्, तूष्णीमितराणि त्रीणि स्नानानि ॥ १० ॥

(गदाधर०)

स्नायादित्युक्तं, तत्र कथं स्नायादित्यपेक्षायामाह—'उप'''येति'। उपसङ्गृह्य गुरोः पादोपग्रहणं कृत्वा समिधोऽभ्याधायाग्निपरिचरणं कृत्वा। इतश्च पूर्वं वेदाहुतिहोमः, 'एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु' इत्युक्तत्वात्। ननु समिदाधानस्य पश्चाद्वेदाहुतयः कुतो न भवन्ति? क्रमान्तरानभिधानात्, उपसङ्गृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधायेतिपाठानुग्रहापत्तेश्च। मैवम्, यतो वेदाहुतीनां पश्चादेव समिदाधानम्, ततश्च स्नानमिति श्रूयते—'स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया याᳪंस्नास्यन्त्सोदयनीया' इति। तस्मात्समिदाधानस्नानयोरव्यवहितकालत्वोपपादनाद्वेदाहुतीनां च स्नानाङ्गत्वातिदेशाच्च समिदाधानात्पूर्वं वेदाहुतिहोम इत्युक्तम्। स्नानं चाष्टभिरुदकुम्भैः क्रमेण परिश्रितस्य वस्त्रादिना वेष्टितसमावर्तनस्थानस्थितस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे स्थापितानामष्टानामुदकुम्भानां दक्षिणोत्तरायतानां पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि आस्तीर्णेषु कुशेषु ब्रह्मचारी स्थित्वा ऊर्ध्वीभूय 'येऽप्स्वन्तरग्नय' इति मन्त्रेण प्रथमादुदकुम्भादपो गृहीत्वा 'तेन मामभिषिञ्चामि' इति मन्त्रेणात्मानमभिषिञ्चति। मन्त्रार्थः—येऽग्नयो गोह्यादयोऽप्सु अन्तर्मध्ये प्रविष्टाः स्थिताः इन्द्रियहान्ता अष्टौ तान् अमेध्यत्वादमङ्गल्यत्वादेताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् अग्नीन् विजहामि पृथक्करोमि। यश्च रोचनोऽग्निर्मेध्यत्वान्मङ्गल्यत्वात्प्रीतिकारित्वाच्च तमिहाप्सु विषये गृह्णामि स्वीकरोमि। यतः अद्भ्योऽग्निरुत्पद्यते संभ्रियते आच्छाद्यत इति गोह्यः उपगोह्यः अङ्गतापकः। मयूखो जन्तुहिंसकः। मनस उत्साहं हन्तीति मनोहा। अस्खलः प्रध्वंसी अजीर्णकृत्। विविधतया रुजति पीडयतीति विरुजः। तनूं शरीरं दूषयति

(गदाधर०)

विकृतिं नयति इति तनूदूषुः । इन्द्रियाणि हन्तीति इन्द्रियहा । अभिषेकमन्त्रार्थः— तेनोदकेन मां इममात्मानमभिषिञ्चामि । किमर्थम् ? श्रियै संपत्त्यर्थं, यशसे कीर्त्यै, ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय यागाध्यापनोत्कृष्टतेजसे ॥ ९ ॥

'येन···तरैः' । अष्टाभ्य उदकुम्भेभ्योऽपां ग्रहणे एक एव मन्त्रो 'ये अप्स्वन्तरग्नय' इति । अभिषेचने तु भिद्यते । तद्यथा—येन श्रियमिति द्वितीयम्, आपो हिष्ठेति तृतीयम्, यो वः शिवतम इति चतुर्थम्, तस्मा अरङ्गमिति पञ्चमम्, ततस्तूष्णीं त्रिभिरितरैरुदकुम्भैरभिषेकः । मन्त्रार्थः—हे अश्विनौ येन जलप्रभावेण भवन्तौ सुराणां श्रियं संपदं शोभां वा अकृणुतां कृतवन्तौ । येन च सुराणाममृतमवमृशतां प्राप्तवन्तौ, अटोऽदर्शनं छान्दसम् । येन वलेनाक्षौ उपमन्योरक्षिणी अभ्यषिञ्चताम-भिषिक्तवन्तौ । वां युवयोर्यदेवंभूत यशस्तदतेज्जलाभिषेकेण ममाप्यस्त्विति शेषः ॥ १० ॥

उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य निधाय वासोऽन्यत्परिधायादित्यमुपतिष्ठते—उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमयेति ॥११॥ दधि तिलान्वा प्राश्य जटालोमनखानि सꣳहृत्यौदुम्बरेण दन्तान् धावेत—अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमाक्ष्यते यशसा च भगेन चेति ॥ १२ ॥ उत्साद्य पुनः स्नात्वाऽनुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते—प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पयेति ॥ १३ ॥ पितरः शुन्धध्वमिति पाण्योरवनेजनं दक्षिणा निषिच्यानुलिप्य जपेत्—सुचक्षा अहमक्षीभ्यां[2] भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति ॥ १४ ॥

---

१. भ्राजभृष्टिरिति भ्राजभ्रष्टिरिति च पाठान्तरम् । नखान् इत्यपि पाठः ।

२. ई च द्विवचने । ७।१।७७ अस्थ्यादीनामित्येव । अक्षीभ्यान्ते नास्तिकाभ्याम् इति वैदिकप्रक्रियायाम् ।

(सरला)

'उदुत्तमं…'[1] इस मंत्र को पढ़ते हुए मेखला खोलकर, दण्ड को अलग रखकर (पहले के वस्त्रों को उतार कर) दूसरा वस्त्र धारण करता है और आदित्य की पूजा करता है (इन मंत्रों से)—

१. "उदय होता हुआ, चमकते हुए वज्र वाला (इन्द्र) मरुतों के साथ स्थित होता है। प्रातःकाल चलने वाले देवों के साथ स्थित होते हुए हे इन्द्र ! तुम दस के द्वारा पूजित होते हो, मुझे भी दस देने वाला बनाओ। सर्वज्ञ तुम मुझे भी सर्वज्ञता तक पहुँचाओ।

२. उत्थानशील, चमकते हुए भालों से युक्त मरुतों के साथ खड़े हुए दिन में संचरणशील देवों के साथ हे इन्द्र। तुम सौ के द्वारा पूजित होते हो, मुझे भी सौ के द्वारा पूजित बनाओ। सर्वज्ञ तुम मुझे भी सर्वज्ञता तक पहुँचाओ।

३. उत्थानशील, चमकते हुए भालों से युक्त मरुतों के साथ खड़े हुए संध्या समय तुम संचरणशील देवों के साथ हे इन्द्र ! तुम सहस्र के द्वारा पूजित होते हो, मुझे भी सहस्रों द्वारा पूजित बनाओ। सर्वज्ञ तुम मुझे भी सर्वज्ञता तक पहुँचाओ ॥ ११ ॥

दधि अथवा तिलों को खा कर सिर के बाल दाढ़ी (व काँस) के बाल नाखूनों को कटवाकर गूलर के वृक्ष की दातून से "अन्नाद्याय…भगेन च" इस मंत्र से दाँतों को साफ करना चाहिए।

'हे दन्त ? तुम अन्न खाने के लिए व्यूह रूप में डटकर उद्यत हो जाओ। यह सोम[2] राजा (दातून) आ गया, वही मेरे मुख को यश और सौभाग्य देते हुए धोएगा ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् उबटन लगाकर पुनः स्नान करके नासिका और मुख दोनों के लिए अनुलेपन ग्रहण करता है और कहता है "मेरे प्राण और अपान को तर्पित करो। मेरे चक्षु को तर्पित करो। मेरी श्रवणेन्द्रिय को तर्पित करो ॥१३॥

'हे पितरों शुद्ध होओ' यह मंत्र कहते हुए दोनों हाथों के धोने का जल दक्षिण दिशा में डालकर, (अपने को चन्दन से) अनुलिप्त करके जपता है कि "मैं नेत्रों से अच्छा देखने वाला होऊँ, मुख से अच्छे तेज वाला और कानों से अच्छा सुनने वाला होऊँ" ॥ १४ ॥

(हरिहर०)

उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य निधाय वासोऽन्यत्परिधायादित्यमुपतिष्ठते उद्यन्भ्राजभृष्णुरित्यादि।

---

१. यजु० १२. १२। ऋ० १. २४. १५.

२. सोम (अर्थात् चन्द्रमा) ओषधि (बनस्पतियों) में रस का संचार करता है इसीलिए उदुम्बर के दातून को सोम रूप कहा है।

(हरिहर०)

उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां रशनामुन्मुच्य उच्छब्दसामर्थ्यात् शिरोमार्गेण निःसार्यं निधाय तां च भूमौ निक्षिप्य अन्यद्वस्त्रं परिधाय आदित्यं सूर्यम् उद्यन्भ्राजभृष्णुरित्यादिभिर्मन्त्रैः उपतिष्ठते स्तौति ॥ ११ ॥

दधि तिलान्वा प्राश्य जटालोमनखानि संहृत्यौदुम्बरेण दन्तान्धावेत—अन्नाद्याय व्यूहध्वमिति । ततो दधितिलानामन्यतरत् प्राश्य अशित्वा जटाश्च लोमानि च नखानि च जटालोमनखानि तानि संहृत्य संहार्य वापयित्वेत्यर्थः । अत्र संहृत्येति णिचो लोपश्छान्दसः, स्वयं संहर्त्तुमशक्यत्वात् । औदुम्बरेण द्वादशाङ्गुलसम्मितेन कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलेन उदुम्बरकाष्ठेन अन्नाद्याय व्यूहध्वमिति मन्त्रेण दन्तान् धावेत् प्रक्षालयेत् । ब्राह्मणो द्वादशाङ्गुलेन, दशाङ्गुलेन राजन्यः, अष्टाङ्गुलेन वैश्य इति विशेषः । अत्र जटालोमनखवपननिमित्तादुत्तरत्र पुनः स्नात्वेति पुनःशब्दसामर्थ्याच्च स्नानमाप्यते । अतो वपनानन्तरं स्नानाचमने विधाय दन्तान्प्रक्षालयेदिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

उत्साद्य पुनः स्नात्वाऽनुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते प्राणापानौ म इति । उत्साद्य सुगन्धिद्रव्येण शरीरमुद्वर्त्य पुनर्भूयः स्नात्वा शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि प्रक्षाल्य अनुलेपनं चन्दनादि मुखनासिकयोश्च उपगृह्णीते । मुखं नासिकां च अनुलिम्पति । प्राणापानौ मे तर्पयेत्यादिना श्रोत्रं मे तर्पयेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १३ ॥

पितरः शुन्धध्वमिति पाण्योरवनेजनं दक्षिणा निषिच्यानुलिप्य जपेत् सुचक्षा अहमक्षीभ्यामिति । ततः पाण्योरवनेजनं हस्तयोः प्रक्षालनमुदकं पितरः शुन्धध्वमित्यनेन मन्त्रेण प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुखो भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि निषिच्य प्रक्षिप्य यज्ञोपवीती भूत्वा पितृकर्मकरणनिमित्तकम् उदकस्पर्शं विधाय चन्दनादिना सुगन्धिद्रव्येण गात्राण्यनुलिप्य सुचक्षा अहमक्षीभ्यामित्यादि भूयासमित्यन्तं मन्त्रं जपेत् ॥ १४ ॥

(गदाधर०)

'उदु···मयेति' । तत 'उदुत्तमम्' इति मन्त्रेण मेखलां रशनामुन्मुच्य ऊर्ध्वं शिरोमार्गेण निःसार्य तां च भूमौ निक्षिप्य वासोऽन्यत्परिधाय वस्त्रान्तरं परिहितं कृत्वा 'उद्यन्भ्राजभृष्णुः' इति मन्त्रेण सूर्यमुपतिष्ठते । मेखलानिधानोत्तरं दण्डाजिनयोर्निधानम् । तूष्णीमिति जयरामकारिकाकारौ । मन्त्रार्थः—हे सूर्य यतो भवान् प्रातःसवने यावभिर्गमनशीलैर्ऋष्यादिसप्तकगणैः सेवितोऽस्थात् तिष्ठति यथेन्द्रो मरुद्भिरस्थात् तिष्ठति तद्वत् । किंभूतः ? उद्यद् उद्गच्छन् भ्राजभृष्णुः स्वप्रभयाऽ-

(गदाधर०)

न्यतेजउद्भासकः आविदन् सर्वं शुभाशुभं जानन्। किञ्च यथा च त्वं प्रातःसवने दशसनिः दशसंख्यातानां गवादीनां सनिर्दाता। षणु दाने। अतो मामपि दशसनिं दशगुणदक्षिणादिदातारं कुरु। मा मां विदन् वेदयन् ज्ञापयन् गमय प्रापय प्रतिष्ठामिति शेषः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ॥ ११ ॥

'दधि'''चेति'। ततो दधितिलयोरन्यतरत् प्राशयित्वा जटाश्च लोमानि च नखानि च जटालोमनखानि तानि संहृत्यापनीय वापयित्वा। संहृत्येत्यत्र णिचो लोपश्छान्दसः स्वयं संहर्तुमशक्यत्वात्। औदुम्बरेण दन्तान्धावेत औदुम्बरेण काष्ठेन दन्तान् शोधयेत् अन्नाद्यायेति मन्त्रेण। हे दन्ताः यूयम् अन्नाद्याय अन्नादनाय व्यूहध्वं निर्मला भवत। यतोऽयं राजा सोमश्चन्द्रः काष्ठरूपेणागमत् आगतः। अतः स एव सोमो मे मम मुखं प्रमार्क्ष्यते शोधयिष्यति। केन? यशसा सत्कीर्त्या भगेन भाग्येन च। दन्तधावनस्य नित्यकाम्यत्वादुभयफलसंवन्ध इति मुरारिः ॥ १२ ॥

'उत्सा'''येति'। उत्साद्य अङ्गोद्वर्तनेन मलमपसार्य पुनः स्नात्वा मलापकर्षणस्नानोत्तरं पुनः स्नानं कृत्वाऽनुलेपनं चन्दनादि नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते आदत्ते 'प्राणापानौ मे' इति मन्त्रेण। मुखनासिके चानुलिम्पतीति हरिहरः। पाण्योरवनेजनं निषिच्येति वक्ष्यमाणत्वादत्र पाणिभ्यामनुलेपनग्रहणम्। मन्त्रार्थः—हे उपलेपनाधिदेवते मे मम प्राणापानौ वायू तर्पय प्रीणय। तथा मे चक्षुरिन्द्रियम्, तथा मे श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं च तर्पय ॥ १३ ॥

'पित'''यासमिति'। प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुखो भूत्वा 'पितरःशुन्धध्वम्' इत्येतावता मन्त्रेण पाण्योरवनेजनं हस्तयोः प्रक्षालनोदकं दक्षिणा निषिच्य दक्षिणस्यां दिशि निषिच्य प्रक्षिप्य यज्ञोपवीती भूत्वा पितृकर्मत्वादुदकं स्पृष्ट्वा चन्दनेनात्मानमनुलिप्य 'सुचक्षा अहम्' इति मन्त्रं जपेत्। अत्र दक्षिणापदं लुप्तसप्तम्यन्तम्। मन्त्रार्थः—हे सवितः अहमक्षीभ्यां नेत्राभ्यां कृत्वा सुचक्षाः सुदर्शनो भूयासं भवेयं तथा मुखेन सुवर्चाः सुतेजाः, भूयासमिति पूर्वत्र सम्बन्धः। तथा कर्णाभ्यां सुश्रुत् सुश्रवणो भूयासम् ॥ १४ ॥

अहतं वासो धौतं वाऽमौत्रेणाच्छादयीत—परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्य इति ॥ १५ ॥ अथोत्तरीयम्—यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती। यशोभगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यतामिति ॥ १६ ॥ एकश्चेत्पूर्वस्योत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत ॥ १७ ॥ सुमनसः प्रतिगृह्णाति—या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामाये-

न्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन चेति ॥ १८ ॥ अथाऽवबध्नीते यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयीति ॥ १९ ॥ उष्णीषेण शिरो वेष्टयते–युवा सुवासा इति ॥ २० ॥

(सरला)

नवीन वस्त्र अथवा बिना धोबी के द्वारा धोया हुआ (अर्थात् हाथ से घर में धोया हुआ) वस्त्र "परिधास्यै"'इस मंत्र से पहनना चाहिए। 'मैं यश एवं दीर्घायु के लिए इन वस्त्रों को पहनता हूँ। मैं अतिशय वृद्ध शरीर वाला बनूँ। बहुत से पुत्र और धनादि से सम्पन्न होऊँ। समृद्धि के पोषण के लिए मैं इन वस्त्रों को धारण करता हूँ ॥ १५ ॥

(धोती पहनने के बाद) अब 'यशसा मा'''इस मंत्र से दुपट्टा (धारण करना चाहिए) "द्यौ और पृथ्वी यश के साथ मुझे प्राप्त हों इन्द्र और बृहस्पति यश के साथ प्राप्त हों, यश और भाग्य मुझे मिले, यश मुझे में स्थित हो" ॥ १६ ॥ यदि एक ही (वस्त्र) हो तो पहले (धोती) के ही आधे भाग से ओढ़ लेना चाहिए ॥ १७ ॥ (गुरु द्वारा दिए गए) फूलों को लेता है (इस मंत्र से) जिस (पुष्प) को जमदग्नि (प्रजापति) ने श्रद्धा, मेधा, काम और इन्द्रियों के बल लिए ग्रहण किया था, उन्हीं पुष्पों को मैं यश एवं भाग्य के साथ धारण करता हूँ"[1] ॥ १८ ॥ इसके बाद पुष्पों को (यह मंत्र कहते हुए शिर में) बाँधता है "अप्सराओं के जिस विपुल-विस्तृत यश को इन्द्र ने निर्मित किया था, उसी यश से गूंथे हुए ये पुष्प मैं बाँधता हूँ। मुझ में यश की प्रतिष्ठा हो" ॥ १९ ॥ पगड़ी से सिर को 'युवा सुवासा[2]'''यह मंत्र पढ़ते हुए बाँधता है ॥ २० ॥

(हरिहर०)

अहतं वासो धौतं वाऽमौत्रेणाच्छादयीत परिधास्या इति। ततः अहतं नवं सदशं पवित्रं वासः वसनम् आच्छादयीत परिदधीत, तदलाभे अमौत्रेण अरजकेण धौतं क्षालितं 'परिधास्या' इत्यादिना 'अभिसंव्ययिष्ये' इत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १५ ॥

अथोत्तरीयं यशसा मेति। अथोत्तरीयपरिधानानन्तरं तादृशमेवोत्तरीयं वासो यशसा मेत्यादि यशो मा प्रतिपद्यतामित्यन्तेन मन्त्रेण आच्छादयीतेति गतेनाख्यातेन सम्बन्धः ॥ १६ ॥

---

१. द्रष्टव्य—हिरण्यकेशी गृह्य० १, ३, ११, ४।

२. ऋ० ३-८, ४, द्रष्टव्य कण्डिका २ का ९ वाँ सूत्र।

(हरिहर०)

एकं चेत्पूर्वस्योत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत । चेद्यदि एकमेव वासो भवति तदा पूर्वस्यैव परिधानीयस्य वासस उत्तरवर्गेण उत्तरभागेन प्रच्छादयीत । यशसा मेति मन्त्रेणोत्तरीयं कुर्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

सुमनसः प्रतिगृह्णाति या आहरदिति । सुमनसः पुष्पाणि प्रतिगृह्णाति । अन्येन दत्तान्यादत्ते । या आहरदित्यादि यशसा च भगेन चेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १८ ॥

अथाऽवबध्नीते यद्यश इति । अथ ताः प्रतिगृह्य अवबन्धीते शिरसि बन्धाति 'यद्यशोऽप्सरसा' इत्यादिना 'यशो मयि' इत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १९ ॥

उष्णीषेण शिरो वेष्टयते युवा सुवासा इति । उष्णीषेण पूर्वोक्तलक्षणेन तृतीयेन वाससा शिरो मूर्द्धानं वेष्टयते 'युवा सुवासाः' इत्यादिकया 'देवयन्तः' इत्यन्तयर्चा ॥ २० ॥

(गदाधर०)

'अह''' यिष्य इति' । अहतं नवीनं सदृशं वासः वसनम् अथवाऽमौत्रेण अरजकेन धौतं वास आच्छादयीत 'परिधास्यै' इति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे वासोदेवते परिधास्यै अनेकशुभवस्त्रपरिधानाय तथा यशोधास्यै स्तुत्यै दीर्घायुत्वाय दीर्घजीवनाय च इदं वासः संव्ययिष्ये परिधास्ये । किम्भूतः ? वासोदेवतानुग्रहेण जरदष्टिरस्मि वृद्धत्वव्याप्यायुर्भवामि । पुरूचीः पुम्भिर्बहुभिः पुत्रधनादिभिश्च संयोगोऽस्ति यस्य सः । उच समवाये । किम्भूतं वासः ? रायस्पोषं धनादिपोषणं पुष्टिकरम् । किञ्च एतत्सम्बन्धेनाहं शतं शरदो वर्षाणि जीवामि ॥ १५ ॥

'अथो'' तामिति' । अथ परिधानानन्तरमाचम्य 'यशसा मा' इति मन्त्रेण अहतमेव वास उत्तरीयमाच्छादयीतेति सम्बन्धः । मन्त्रार्थः—हे वासोदेवते द्यावापृथिवी द्यावाभूमी यशसा युक्तौ मा माम् अविन्दत् विन्दतां प्राप्नुतामिति यावत् । विद्लृ लाभे धातुः । विभक्तिवचनव्यत्ययेनान्वयः । तथा इन्द्राबृहस्पती अपि यशसा युक्तौ मा अविन्दत्, तथा भगः सूर्योऽपि यशसा अविन्दत् । तच्चैतैः संपादितं यशो मा मां प्रतिपद्यतां मयि सर्वदा तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

'एकं'''यीत' । चेद्यदि एकं वासो भवति द्वितीयं न भवति तदा पूर्वस्य परिधानीयस्यैव वासस उत्तरवर्गेण उत्तरभागेन प्रच्छादयीत उत्तरीयं कुर्यात् । तत्रापि यशसामेति मन्त्रो भवति, क्रियान्तरत्वात् । अत्रैवम्—पूर्वं वस्त्रार्द्धं समन्त्रकं परिधाय द्विराचम्य उत्तरार्द्धं गृहीत्वा उत्तरीयं मन्त्रं पठित्वोत्तरीयं कृत्वा पुनर्द्विराचामेत् ॥ १७ ॥

'सुम'''चेति' । सुमनसः पुष्पाणि प्रतीत्युपसर्गसामर्थ्यात् गुरुणा समर्पिताः सुमनसः प्रतिगृह्णाति 'या आहरत्' इति मन्त्रेण । याः सुमनसः पुष्पाणि जमदग्निः

(गदाधर०)

प्रजापतिः श्रद्धाद्यर्थमाहरत् आददौ, ताः सुमनसो यशसा कीर्त्या भगेनैश्वर्येण च सहाहं प्रतिगृह्णामि श्रद्धाद्यर्थम् । तत्र श्रद्धा धर्मादरः । मेधा धारणाशक्तिः । कामोऽभिलाषपूर्तिः । इन्द्रियं तत्पाटवम् ॥ १८ ॥

'अथा'''मयीति' । ताः प्रतिगृह्य स्वशिरसि बध्नाति 'यद्यशोऽप्सरसाम्' इति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे सुमनस इन्द्रो देवः अप्सरसामुर्वश्यादीनां कुसुमावबन्धेन यद्यशः सर्वजनप्रियत्वं चकार कृतवान् । तेन यशसा सङ्ग्रथिताः युष्मान् आबध्नामि चूडायाम् । किंभूतं यशः ? विपुलं विशालम्, पृथु सन्ततं दीर्घं, तद्यशो मयि विषये तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ १९ ॥

'उष्णी'''सा इति' । उष्णीषेण शिरोवेष्टनवस्त्रेण शिरो वेष्टयते—'युवा सुवासाः' इति मन्त्रेण । व्याख्यातश्चायमुपनयने ॥ २० ॥

अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयादिति कर्णवेष्टकौ ॥ २१ ॥ वृत्रस्येत्यङ्क्तेऽक्षिणी ॥ २२ ॥ रोचिष्णुरसीत्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते ॥ २३ ॥ छत्रं प्रतिगृह्णाति—बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहीति ॥ २४ ॥ प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुञ्चते ॥ २५ ॥ विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते ॥ २६ ॥ दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणिचेन्मन्त्रः ॥ २७ ॥ ६ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

(सरला)

'अलंकरणमसि''''तुम अलंकरण हो, बहुत, बार शोभा बढ़ाने वाले हो"[1] इस मंत्र के द्वारा दोनों कानों में कुण्डल धारण करना चाहिए ॥ २१ ॥ 'वृत्रस्येति[2]''''' इस मंत्र से आंखो में अंजन लगाता है ॥ २२ ॥ 'रोचिष्णुरसीति'''' तुम चमकने वाले हो, इस मंत्र के द्वारा अपने को दर्पण में देखता है ॥ २३ ॥ (गुरु से दिए हुए) छाते को 'बृहस्पतेश्छदिरसि' इस मंत्र से लेता है 'तुम बृहस्पति के छाते हो, पाप से मुझे दूर रक्खो, तेज और यश से मुझे अन्तर्धान न करो (अर्थात् दूर न करो) ॥ २४ ॥ 'तुम दोनों प्रतिष्ठ हो (बुनियाद रूप हो) चारो ओर से मेरी रक्षा करो' इस मंत्र से जूता पहनता है ॥ २५ ॥ 'सभी नाशक शक्तियों से मुझे

१. वाज० सं० ४. ३, ७ । २. यजु० ४. ३ ।

(सरला)

सब ओर से बचाओं इस मंत्र से बाँस का दण्ड लेता है ॥ २६ ॥ दन्त धावनादि कार्य (जो इस समावर्तन संस्कार में कहा गया है उसी विधि से) नित्य प्रति करना चाहिए। यदि वस्त्र छाता या जूता नवीन धारण करना हो तो उपरोक्त मंत्र से (ही धारण करना चाहिए) ॥ २७ ॥

विशेष—इस प्रकार स्नान से लेकर दण्ड धारण तक का सारा कर्म शिष्य का है। आचार्य का नहीं।

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में षष्ठ कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

(हरिहर०)

अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयादिति कर्णवेष्टकौ। अलङ्करणमसीति मन्त्रेण दक्षिणोत्तरयोः कर्णयोर्वेष्टकौ भूषणे प्रतिमन्त्रं प्रतिमुञ्चते परिधत्ते ॥ २१ ॥

वृत्रस्येत्यङ्क्तेऽक्षिणी। 'वृत्रस्य' इत्यादिना 'चक्षुर्मे देहि' इत्यन्तेन मन्त्रेण यथाक्रमं दक्षिणवामे मन्त्रावृत्त्याऽक्षिणी अङ्क्ते सौवीराञ्जनेन संस्करोति ॥ २२ ॥

रोचिष्णुरसीत्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते। 'रोचिष्णुरसि' इत्यनेन मन्त्रेण आत्मानं मुखप्रभृति शरीरम् आदर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति ॥ २३ ॥

छत्रं प्रतिगृह्णाति बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्द्धेहीति। छत्रम् आतपत्रं 'बृहस्पतेश्छदिरसि' इत्यादिना 'यशसो मान्तर्धेहि' इत्यन्तेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति। प्रतिग्रहशब्दसामर्थ्यात् अन्यत आदत्ते ॥२४॥

प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुञ्चते। उपानहौ पादत्राणे प्रतिमुञ्चते परिधत्ते 'प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्' इत्यनेन मन्त्रेण, मन्त्रस्य द्विवचनान्तत्वात्परिधातुं शक्यत्वाच्च युगपत्पादयोः प्रतिमुञ्चते। प्रतिष्ठे इति द्विवचनम् स्थ इति च ॥ २५ ॥

विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते। विश्वाभ्यो मेत्यादिमन्त्रेण वैणवं वंशमयं दण्डं यष्टिम् आदत्ते गृह्णाति। तच्चोक्तन्यायेन पूर्वदण्डं त्यक्त्वैव। इदमभिषेकप्रभृति दण्डग्रहणान्तं कर्मजातं स्नानकर्त्ता करोति, नाचार्यः ॥ २६ ॥

दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मन्त्रः। दन्तप्रक्षालनमादौ येषां पुष्पादीनां तानि दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि सर्वदा मन्त्र-

(हरिहर०)

वन्ति स्नातकस्य भवन्ति । वाससी च छत्रं च उपानहौ च वासश्छत्रोपानहं चकाराद् दण्डेऽपि । एतानि चेद्यदि अपूर्वाणि नूतनानि ध्रियन्ते गृह्यन्ते तदा मन्त्रो भवति तद्ग्रहणे ॥ २७ ॥

इति षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

(गदाधर०)

'अलं···ष्टकौ' । कर्णवेष्टकौ कुण्डले दक्षिणसव्यकर्णयोरामुञ्चति–अलङ्करणमसीति मन्त्रावृत्त्या । मन्त्रार्थः—हे कुण्डलदेवते त्वमलङ्करणमलंकारशोभाऽसि । अतस्त्वयाऽलङ्कृतस्य मम भूयो बहुवारमलङ्करणं भूयात् अस्तु ॥ २१ ॥

'वृत्र···क्षिणी' । वृत्रस्येत्यादि चक्षुर्मे देहीत्यन्तेन मन्त्रेण कज्जलेन अक्षिणी अङ्क्त संस्करोति । सावीराञ्जनेनेति हरिहरः । अत्र च सव्यं नेत्रमङ्क्त्वा ततो दक्षिणाञ्जनं मन्त्रावृत्त्या । तथाच दीक्षाप्रकरणे लिङ्गम्–'सव्यं वा अग्रे मानुषः' इति । कारिकायाम्—

वृत्रस्येत्यक्षिणी अङ्क्तेऽभ्यञ्जननाभिनासिकम् ।
सव्यं प्रथममित्येव श्रूयते बह्वृचश्रुतौ ॥

हरिहरेण दक्षिणाञ्जनं पूर्वमुक्तं तदाशयं न विद्मः ॥ २२ ॥

'रोचि···क्षते' । आत्मानं सर्वे देहमादर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति 'रोचिष्णुरसि' इत्येतावता मन्त्रेण । मन्त्रार्थः–रोचिष्णुः प्रकाशकः ॥ २३ ॥

'छत्रं···हीति' । उपसर्गसामर्थ्याद् गुरुणा दत्तं छत्रमातपत्रं 'बृहस्पतेश्छदिरसि' इति मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति । मन्त्रार्थः–हे छत्र, त्वं बृहस्पतेः पितामहस्य छदिर्घर्मादिनिर्वर्तकोऽसि प्रथमम्, अतः पाप्मनो निषिद्धाचरणान्माम् अन्तर्द्धेहि अन्तर्हितं कुरु । तेजसश्च सकाशान्माऽन्तर्द्धेहि मा व्यवहितं कुरु तद्युक्तं कुर्वित्यर्थः ॥ २४ ॥

'प्रति···ञ्चते' । 'प्रतिष्ठे स्थो' इति मन्त्रेण उपानहौ पादत्राणे पादयोः प्रतिमुञ्चते परिधत्ते युगपत् शक्यत्वात्, द्विवचनान्तत्वाच्च । मन्त्रार्थः—हे उपानहौ देवते, युवां प्रतिष्ठे स्थितिहेतू स्थः भवथः । अतो विश्वतः सर्वस्मात्परिभवात् मा मां पातं रक्षतम् ॥ २५ ॥

'विश्वा···दत्ते' । 'विश्वाभ्यो' इति मन्त्रेण वैणवं वंशमयं दण्डं यष्टिमादत्ते । अत्राभिषेकादिदण्डधारणान्तं कर्म स्नानकर्तुंर्न त्वाचार्यस्य । मन्त्रार्थः—हे दण्ड विश्वाभ्यः सर्वाभ्यः नाष्ट्राभ्यो राक्षसादिभ्यः सर्वावस्थासु मा मां परिपाहि सर्वभावेन रक्ष ॥ २६ ॥

(गदाधर०)

'दन्त'''न्मन्त्रः' । दन्तप्रक्षालनमादौ येषां पुष्पादीनां तानि दन्तप्रक्षालनादीनि तत्साधनानि प्राप्य नित्यमपि नित्यमेव मन्त्रो भवति । अपि एवार्थे । वाससी च छत्रं च उपानाहौ च वासश्छत्रोपानहः, चकाराद् दण्डोऽपि । एतानि वाससा-दीनि चेद्यदि नवीनानि ध्रियन्ते, तदैव मन्त्रा भवति, न सर्वदा ॥ २७ ॥

॥ इति षष्ठी कण्डिका ॥

[1]अथ पदार्थक्रमः । **सुरेश्वरः—**

> भौमभानुजयोर्वारे नक्षत्रे च व्रतोदिते ।
> ताराचन्द्रविशुद्धौ च स्यात्समावर्तनक्रिया ॥ इति ॥

एतच्च ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तं कृत्वा कार्यम् । तदाह **बौधायनः—** 'शौचसन्ध्यादर्भशिक्षाऽग्निकार्यराहित्यकौपीनोपवीतमेखलादण्डाजिनाधारणदिवास्वा-पच्छत्रपादुकास्रग्विधारणोद्वर्तनानुलेपनाञ्जनद्यूतनृत्यगीतवाद्याद्यभिरतो ब्रह्मचारी कृच्छ्रत्रयं चरेत्' इति । ब्रह्मचारी गुरुमर्घदानेन संपूज्य तेनानुज्ञातो ज्योतिश्शास्त्रोक्ते शुभे काले आचार्यगृहे समावर्तनं नाम कर्म कुर्यात् । ब्रह्मचारी कृतनित्यक्रियः कृतप्रातरग्निकार्यश्च । तत आचार्यः प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य ब्रह्म-चारिणो गृहस्थाद्याश्रमान्तरप्राप्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं समावर्तनाख्यं कर्माहं करिष्ये इति संकल्प्य, तदङ्गभूतं निर्विघ्नार्थं गणपतिपूजनं, स्वस्तिपुण्याहवाचनं, मातृकापूजनं, नान्दीश्राद्धं चाहं करिष्ये । श्राद्धादि समाप्य तत आचार्यम् अहं स्नास्ये इत्युक्ते स्नाहीति प्रत्यनुज्ञा गुरोः । ततः पादोपसंग्रहणं गुरोः । ततः परिश्रिते पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम् । वैकल्पिकावधारणे विशेषः दधिप्राशन-मभौत्रधौतवस्त्रम् । ततो ब्रह्मवरणाद्याज्यभागान्ते विशेषः—उपकल्पनीयेषु समिन्धन-काष्ठानि, समिधः, पर्युक्षणार्थमुदकं, हरितकुशाः, अष्टावुदकुम्भाः, औदुम्बरं द्वादशाङ्गुलं दन्तकाष्ठं ब्राह्मणस्य, दशाङ्गुलं राजन्यस्य, अष्टाङ्गुलं वैश्यस्य, दधि, नापितः, स्नानार्थमुदकमुद्वर्तनद्रव्यं चन्दनमहते वाससी । प्रयोगरत्नमते–यज्ञोपवीते, पुष्पाणि, उष्णीषं, कर्णालङ्कारौ, अञ्जनम्, आदर्शः, नूतनं छत्रम् उपानहौ, वैणवो दण्डः । ततः पवित्रकरणाद्याज्यभागान्तं कुर्यात्, १ अन्तरिक्षाय स्वाहा, २ वायवे स्वाहा, ३ ब्रह्मणे स्वाहा, ४ छन्दोभ्यः स्वाहा, ५ प्रजापतये स्वाहा, ६ देवेभ्यः स्वाहा, ७ ऋषिभ्यः स्वाहा, ८ श्रद्धायै स्वाहा, ९ मेधायै स्वाहा, १० सदसस्पतये स्वाहा, ११ अनुमतये स्वाहा । लिङ्गोक्तास्त्यागाः । यदि ऋग्वेदमधीत्य स्नाति तदा

---

१. हरिहरपद्धतिरग्रेऽष्टमकण्डिकायां दत्तेति बोद्धव्यम् ।

(गदाधर०)

१ पृथिव्यै स्वाहा, २ अग्नये स्वाहेत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्यारभ्यानुमत्यन्ता नवाहुतीर्जुहोति। एवं सामवेदे दिवे सूर्यायेत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे इत्याद्या नवाहुतीर्जुहोति। एवमथर्ववेदेऽपि दिग्भ्यश्चन्द्रमसे इत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्राह्मणे छन्दोभ्यः इत्याद्या जुहोति। यदि वेदचतुष्टयमधीत्य स्नानं करोति, तदा आज्यभागानन्तरं प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं हुत्वा 'ब्रह्मणे' 'छन्दोभ्यः' इत्याज्याहुतीः पुनः पुनर्जुहोति। ततः 'प्रजापतये' इत्यारभ्यानुमत्यन्ताः सप्ताहुतीस्तन्त्रेण जुहोति। एवं वेदद्वयत्रयाध्ययनेऽपि योज्यम्। ततो भूराद्या नवाहुतयः। ततः स्विष्टकृद्धोमः। ततः प्राशनादिप्रणीताविमोकान्तम्। ततो ब्रह्मचारी उपसङ्ग्रहणपूर्वकं गुरुं नमस्कृत्य परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं समिदाधानं तस्मिन्नेवाग्नौ कुर्यात्। तत आचार्यपुरुषैः परिश्रितस्योत्तरभागे स्थापितानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टानाममलजलपूर्णानामुदकुम्भानां पूर्वभागे आस्तृतेषु प्रागग्रेषु कुशेषु उदङ्मुखः स्थित्वा 'येऽप्स्वन्तः' इति मन्त्रेण प्रथमकलशादुदकं गृहीत्वा तेनोदकेन स्वकीयशिरसोऽभिषेकः 'तेन माम्' इति मन्त्रेण। एवमेव द्वितीयादिभ्य उदकुम्भेभ्यो येऽप्स्वन्तरित्यनेनैवैकैकस्माज्जलमादाय वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैरभिषेकः, येन श्रियमिति द्वितीयः, आपो हिष्ठेति तृतीयः, यो व इति चतुर्थः, तस्मा इति पञ्चमः, ततस्तूष्णीं त्रिवारमभिषेकः। तत 'उदुत्तमम्' इति मेखलां शिरोमार्गेण निस्सार्य भूमौ प्रक्षेपः। ततः कृष्णाजिनदण्डयोस्त्यागः। वासोऽन्यत्परिधायादित्योपस्थानम्, 'उद्यन्भ्राजभृष्णुः' इति। ततो दधिप्राशनं तिलानां वा जटालोमनखानां निकृन्तने स्नानमौदुम्बरकाष्ठेन दन्तधावनम् 'अन्नाद्याय' इति। ततः सुगन्धिद्रव्येणोद्वर्तनम्। स्नानम्। चन्दनाद्यनुलेपनं गृहीत्वा मुखनासिकयोरुपग्रहणं—'प्राणापानौ' इति। ततोऽपसव्येन दक्षिणामुखेन पाण्योरवनेजनजलस्य दक्षिणस्यां दिशि निषेकः—पितरः शुन्धध्वम् इति। ततः सव्येनोदकालम्भः। ततश्चन्दनेनात्मानमनुलिप्य 'सुचक्षा अहम्' इति जपः, अहतवाससः परिधानं—'परिधास्यै' इति अरजकधौतस्य वा। द्विराचमनम्।

धारयेद्वैणवीं यष्टिं सोदकं च कमण्डलुं।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥

इति मनूक्तत्वाद्यज्ञोपवीतद्वयधारणमिति हरिहरः प्रयोगरत्नाकरश्च। तत उत्तरीयवाससो धारणं 'यशसा मा' इति। एकं चेत्पूर्वस्यैवोत्तरभागेनोत्तरीयधारणम्। 'या आहरज्जमदग्निः' इति सुमनसः प्रतिग्रहः। ततः शिरसि पुष्पबन्धनं—'यद्यशोऽप्सरसाम्' इति उष्णीषेण शिरोवेष्टनं—'युवासुवासाः' इति, 'अलंकरणमसि' इति कुण्डलधारणम्। मन्त्रावृत्त्या दक्षिणकर्णे वामकर्णे च 'वृत्रस्य' इत्यक्षिणी अङ्क्ते। प्रथमं वामं ततो दक्षिणमनेनैव मन्त्रेण। 'रोचिष्णुरसि' इत्यनेनात्मन आदर्शे

(गदाधर०)

प्रेक्षणम् । 'बृहस्पतेः' इति छत्रप्रतिग्रहणम् । 'प्रतिष्ठे स्थो' इत्युपानहौ प्रतिमुञ्चते पादयोर्युगपत् । ततो 'विश्वाभ्यो' इति दण्डादानम् । अभिषेकादि दण्डादानान्तं स्नानकर्ता करोति, नाचार्यः । समावर्तनोत्तरं पूर्वमृतानां त्रिरात्रमाशौचं कार्यम् ।

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं दत्त्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।। (मनु० ५. ८८)

इत्युक्तेः । आदिष्टी ब्रह्मचारीति विज्ञानेश्वरः । ब्रह्मचर्ये यदि कश्चिन्न मृतस्तदा त्रिरात्रमध्ये विवाहः कार्योऽन्यथा नेति सिध्यति । जनने तु सत्यपि न त्रिरात्रम्, तत्रातिक्रान्ताशौचाभावात् 'उदकं दत्त्वा' इति वचनाच्चेति दिक् । ततो मधुपर्कः । इति समावर्तने पदार्थक्रमः ।। अत्र गर्गमते होमो नास्ति अन्यत्तुल्यम् ।। * ।। ६ ।।

इति गदाधरभाष्ये द्वितीयकाण्डे षष्ठी कण्डिका ।। ६ ।।

अथ सप्तमी कण्डिका

स्नातस्य यमान्वक्ष्यामः ॥ १ ॥ कामादितरः ॥ २ ॥ नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यान्न च गच्छेत् ॥ ३ ॥ कामंतु गीतं गायति वैव गीते वा रमत इति श्रुतेर्ह्यपरम् ॥ ४ ॥ क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेत् ॥ ५ ॥ न च धावेत् ॥ ६ ॥

स्नातक के कर्तव्य

प्राक्कथनः—प्रस्तुत कण्डिका में ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में जाने वाले स्नातक के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। ये नियम तीनों वर्णों के लिए कहे गये हैं किन्तु इच्छानुसार कोई भी इनका पालन कर सकता है।

हिन्दीः—[ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में जाने वाले इस स्नान किए हुए] स्नातक के कर्त्तव्यों को कहूँगा[1] ॥ १ ॥ [उत्तम गति की] कामना से [इच्छानुसार] दूसरे वर्ण भी [इन कर्त्तव्यों का पालन कर सकते हैं] ॥ २ ॥ नाचना, गाना और बजाना नहीं करना चाहिए [क्योंकि ये व्यसन हैं जो काम से उत्पन्न होते हैं] और न तो [जहाँ होता हो वहाँ] जाना ही चाहिए ॥ ३ ॥ यदि गाने की इच्छा हो तो गीत स्वयं गाना चाहिए। अथवा दूसरी श्रुति है कि स्वयं गाए या दूसरे के गीत में मन लगाना चाहिए[2] ॥ ४ ॥ क्षेमे [[3]कुशल-आपदाभाव] में दूसरे ग्राम में रात को नहीं जाना चाहिए ॥ ५ ॥ और न दौड़ना ही चाहिए ॥ ६ ॥

(हरिहर०)

स्नातस्य यमान्वक्ष्यामः। स्नातस्य ब्रह्मचर्यात् समावृत्तस्य द्विजातेः यमान् व्रतानि वक्ष्यामः कथयिष्यामहे ॥ १ ॥

कामादितरः। कामात् इच्छया इतरः द्विजातेरन्यः शूद्र इति यावत्, यमेषु अस्नातकोऽपि अधिक्रियते ॥ २ ॥

विशेष—१. यह अधिकार सूत्र है।

२. यह श्रुति शतपथ की है—VI. 1. 1. 15.

३. अर्थात् यदि विपत्ति या जरूरी काम आ जाय तो रात में दूसरे ग्राम जा सकता है।

(हरिहर०)

नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यात् न च गच्छेत् । नृत्यं लास्यादिभेदभिन्नं गीतं षड्जादिस्वरैर्ध्रुवादिरूपकविशेषैर्निबद्धं, वादित्रं तन्त्र्यादिभेदेन चतुर्विधं, नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्यगीतवादित्राणि तानि स्वयं न कुर्यात्, न च गच्छेत् नृत्यादि अन्यैरपि क्रियमाणानि न गच्छेत् द्रष्टुं श्रोतुम् । चकारः करोतेर्गच्छतिक्रियासमुच्चयार्थः ॥ ३ ॥

कामंतु गीतं गायति वैव गीते वा रमत इति श्रुतेर्हि । अत्र गीते प्रतिप्रसवमाह । तु पुनः कामम् इच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात् परैः क्रियमाणं च गच्छेच्छ्रोतुम् । कुतः हि यस्मात् गायति स्वयं गानं करोति, गीते वा अन्यैः क्रियमाणे गाने वा रमते रतिं प्राप्नोति इति श्रुतेर्वेदवचनम् । कः ? यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते आत्मानं सुखिनं सम्पूर्णं मन्यते स स्वयं गायति गीतं च शृणोति । अपरम् अपरमपि गायेत्, गीतं च शृणुयात् इत्येतदर्थज्ञापकं वेदे लिङ्गमस्ति । यथाऽश्वमेधे श्रूयते "दिवा ब्राह्मणो गायति, नक्तꣳ राजन्यः" इति । अनेन ब्राह्मणराजन्ययोः स्वयं गानेऽधिकारोऽस्तीति ज्ञायते । तथा तौ च अश्वमेधयाजिनं यजमानं राजन्यं श्रावयितुं गायतः । तेन गायनश्रवणेऽप्यधिकारो गम्यते ॥ ४ ॥

क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेत् । क्षेमे सति आपदभावे सति नक्तं रात्रौ ग्रामान्तरम् अन्यग्रामं न गच्छेत्, अक्षेमे तु गच्छेत् ॥ ५ ॥

न च धावेत् । क्षेमे सतीत्यनुषज्यते न च धावेत् शीघ्रं न गच्छेत् ॥ ६ ॥

(गदाधर०)

'स्नात—क्ष्यामः' । स्नातस्य ब्रह्मचर्यात्समावृत्तस्य त्रैवर्णिकस्य यमान् नियमान् वक्ष्यामः, अधिकारसूत्रमेतत् । तेषु स्नातकोऽधिक्रियते ॥ १ ॥

'कामादितरः' । कामादिच्छातः इतरः स्नानसम्बन्धशून्यः शूद्रोऽभिधीयते । स हि स्नातको न भवति । एवं सतीच्छया शूद्रस्यापि यमेष्वधिकारो भवति ॥ २ ॥

तानाह—'नृत्य'''च्छेत्' । नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्यगीतवादित्राणि तानि स्वयं न कुर्यात् , न च गच्छेत् नृत्यादीनि अन्यैः क्रियमाणानि द्रष्टुं श्रोतुं वा न व्रजेत् ॥ ३ ॥

'कामं तु गीतम्' । तु पुनः काममिच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात् । अन्यैः क्रियमाणं श्रोतुं गच्छेच्च, कर्मण्यौपयिकत्वाद् गीतस्य । दृश्यते हि अश्वमेधे गानम्—'ब्राह्मणोऽन्यो गायति राजन्योऽन्यः' इति । न चाक्रियमाणं शक्यते गातुमिति । 'गाय'''रम्' । अपरम् उषासंभरणकाण्डे वचनमस्ति—'तस्मादुहैतद्यः सर्वः कृत्स्नो

(गदाधर०)

मन्यते गायति वैव गीते वा रमते' इति। अपरग्रहणाच्च पूर्वं न्यायप्राप्तमभिहितम्। एवं च यत्रापि पुनर्वचनेन देवताग्रे नृत्यगीतादिकं विहितं तत्रापि ब्राह्मणादिभिः कार्यमेव, विहिते निषेधाप्रवृत्तेः ॥ ४ ॥

'क्षेमे···च्छेत्'। क्षेमे आपदभावे सति नक्तं रात्रौ ग्रामान्तरमन्यद् ग्रामं न गच्छेत्। अक्षेमे तु नक्तमपि गच्छेत् ॥ ५ ॥

'न च धावेत्'। क्षेमे इत्यनुवर्तते। क्षेमे सति न च धावेत् शीघ्रं न गच्छेत् ॥६॥

उदपानावेक्षणवृक्षारोहणफलप्रपतनसन्धिसर्पणविवृतस्नानविषमलङ्घनशुक्तवदनसन्ध्यादित्यप्रेक्षणभैक्षणानि न कुर्यात् न ह वै स्नात्वा भिक्षेताप ह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः ॥ ७ ॥ वर्षत्यप्रावृतो व्रजेत् अयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति ॥ ८ ॥ अप्स्वात्मानं नावेक्षेत ॥ ९ ॥

(सरला)

कुएँ का झाँकना, पेड़ पर चढ़ना, किसी फल को तोड़ कर गिरा देना, सायं-प्रातः दौड़ना या चलना, नङ्गे हो कर स्नान करना, नीची ऊँची भूमि को लाँघना, अश्लील संभाषण, [दिन-रात की] सन्धि में सूर्य का देखना, भिक्षादि [इन सभी पहले कहे हुए] कार्यों को नहीं करना चाहिए [क्योंकि भिक्षाचर्य प्रतिषेध के लिए श्रुति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं]। 'समावर्तन के बाद भिक्षा न माँगे क्योंकि समावर्तन करके भिक्षा को दूर हटाया जाता है। ऐसी वेद की आज्ञा है'[1] ॥ ७ ॥ पानी बरसते समय "यह जलकण रूपी वज्र मेरे पाप को दूर करे" इस मन्त्र को पढ़ते हुए बिना वस्त्र ओढ़े जाए ॥ ८ ॥ जल में अपने [प्रतिबिम्ब] को नहीं देखना चाहिए ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

उदपानावेक्षणवृक्षारोहणफलप्रपतनसन्धिसर्पणविवृतस्नानविषमलङ्घनशुक्तवदनसन्ध्यादित्यप्रेक्षणभिक्षणानि न कुर्यात्। उदपानस्य कूपस्यावेक्षणम् उपरि स्थित्वा अधोमुखी भूयावलोकनम्, वृक्षे आरोहणम् उपरिगमनं, फलानाम् आम्रादीनां प्रपतनं त्रोटनम्, सन्धौ सन्ध्यासमये सर्पणम् अध्वगमनम्,

---

विशेषः—१. यह श्रुति शतपथ ११. ३. ३. ७ की ही। द्रष्टव्य—वसिष्ठ १२.२, १०, २५; गौतम ९. ३२, ६१।

(हरिहर०)

सन्धिना अपमार्गेण वा सर्पणम् , विवृतेन नग्नेन स्नानम् , विषमस्य पर्वतगर्त्तादेः लङ्घनमतिक्रमणम् , शुक्तस्य अश्लीलस्य वदनं भाषणम् । अश्लीलन्तु त्रिविधं लज्जाकरम् , दुःखकरं, अमङ्गलसूचकं च । सन्ध्यासु आदित्यस्य सूर्यमण्डलस्य रागतः प्रेक्षणं दर्शनम् , उपरक्तस्य वारिप्रतिबिम्बितस्य च "नोपरक्तं न वारिस्थम्" इति मनुस्मृतेः । भिक्षणं भैक्षचर्या । एतानि उदपानावेक्षणादीनि भिक्षणान्तानि वर्जयेत् । न ह वै स्नात्वा भिक्षेताप ह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः । भिक्षणप्रतिषेधे श्रुतिं प्रमाणत्वेनावतारयति स्नात्वा समावर्त्य न भिक्षेत यतः स्नात्वा भिक्षाम् अपजयति अपाकरोति । ह वै इति निपातसमुदायो निश्चयार्थे । इति वेदवचनात् ॥ ७ ॥

वर्षत्यप्रावृतो व्रजेदयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति । देवे वर्षति अप्रावृतः अनाच्छादितो व्रजेत् गच्छेत् 'अयं मे वज्रः' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ८ ॥

अप्स्वात्मानं नावेक्षेत । अप्सु जले आत्मानं स्वमुखं नावेक्षेत न पश्येत् ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

'उद'''र्तात्' । उदपानस्य कूपस्यावेक्षणमुपरि स्थित्वा अधोमुखीभूयावलोकनम् । आम्रादिवृक्षस्यारोहणमुपरि गमनम् । फलानामाम्रादीनां प्रपतनं त्रोटनम् । सन्धौ सन्ध्यासमये सर्पणमध्वगमनम् , सन्धिः कुद्वारं सर्पगर्तादिलक्षणं वा तत्र सर्पणम् । विवृतेन नग्नेन स्नानम् । विषमस्य पर्वतगर्तादेर्लङ्घनमतिक्रमणम् । शुक्तवदनमश्लीलभाषणम् । सन्ध्यादित्यप्रेक्षणं सन्ध्यासु सूर्यावेक्षणम् ।

नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ (मनु० ४. ३७)

इति स्मृतेः । भिक्षणं सिद्धान्नस्यैव । उदपानावेक्षणादीनि वर्जयेत् । तत्र भैक्षणप्रतिषेधे प्रत्यक्षमेव वचनमस्तीत्याह—'न ह'''श्रुतेः' । स्नात्वा समावर्त्य न भिक्षेत । यतः स्नात्वा भिक्षामपजयति अपाकरोति ह वै इति निपातसमुदायो निश्चयार्थः । अत्र यो दृष्टार्थविषयः प्रतिषेधस्तत्र दृष्टार्थत्वादेवाकरणे प्राप्ते प्रतिषेधविधानसामर्थ्याददृष्टार्थताऽप्यनुमीयते ॥ ७ ॥

'वर्ष'''दिति' । पर्जन्ये वर्षति अप्रावृत अनाच्छादित एव व्रजेत् गच्छेत् 'अयं मे वज्रः' इति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—जलकणरूपो वज्रो मम पाप्मानमपहनत् अपहन्तु ॥ ८ ॥

'अप्स्वा'''क्षेत' । अप्सु जले आत्मानं स्वशरीरं न पश्येत् ॥ ९ ॥

अजातलोम्नीं विपुंसीं षण्ढं च नोपहसेत् ॥ १० ॥ गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात् ॥ ११ ॥ सकुलमिति नकुलम् ॥ १२ ॥ भगालमिति कपालम् ॥ १३ ॥ मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ १४ ॥ गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत ॥ १५ ॥ उर्वरायामनन्तर्हितायां भूमावुत्सर्पंस्तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ १६ ॥ स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत ॥ १७ ॥ विकृतं वासो नाच्छादयीत ॥ १८ ॥ दृढव्रतो वधत्रः[1] स्यात् सर्वेषां मित्रमिव ॥ १९ ॥ ७ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

(सरला)

समय पर जिस स्त्री से भ्रू नेत्रादि स्थान में बाल न जमें उस अलोम वाली पुरुष के आकार वाली और नपुंसक स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥ गर्भवती [स्त्री] को "विजन्या" कहना चाहिए ॥ ११ ॥ नकुल [नेवला] को सकुल ॥ १२ ॥ और कपाल को भगाल[2] ॥ १३ ॥ और इन्द्रधनुष को "मणिधनु[3]" ऐसा [कहना चाहिए] ॥ १४ ॥ गाय बछड़े को पिलाती हुई देखकर किसी दूसरे से नहीं कहना चाहिए[4] ॥ १५ ॥ बोए हुए खेत में तृणादि रहित बिना ढकी हुई भूमि पर खड़े होकर या चलते हुए [आगे सरकते हुए] मूत्र और मल-त्याग नहीं करना चाहिए[5] ॥ १६ ॥ अपने आप गिरे हुए काष्ठ से गुदेन्द्रिय को साफ करना चाहिए [शौच क्रिया करें] ॥ १७ ॥ [गेरू आदि से] रंगे विकृत वस्त्र

---

१. स्यात् सर्वत आत्मानं गोपायेत् सर्वेषां मित्रमिव शुक्रियमध्येष्यमाणः' क० ख०।

२. द्रष्टव्य—गौतम ९. २१ ।

३. द्र०—गौतम ९. २२; वसिष्ठ १२. ३२, ३३; आपस्तम्ब १. ३१. १८ वस्तुतः यहाँ जो दूसरे शब्दों से बुलाने को कहा है इसका तात्पर्य शुभ शब्दों से है—जैसा कि कहा है—"भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् भद्रमित्येन वा वदेत" भला आदमी भला ही बोले; अभद्र को भी शुभ शब्दों से व्यवहार करे।

४. द्रष्टव्य—गौतम ९. २३; आप० १. ३१. १० ।

५. द्रष्टव्य—गौतम ९. ३८ वसिष्ठ १२. १३; आपस्तम्ब १. ३०. १५ बिना ढके हुए से अर्थ है पत्ते या घास आदि से पृथ्वी को ढक कर। आगे परिशिष्ट में शौच विधि में इसका विधान भी है।

(सरला)

को नहीं पहनना चाहिए[1] ॥ १८ ॥ दृढ़व्रती [समाप्त-कर्मा] हो, अपने और दूसरे प्राणियों को वध से बचाने वाला हो। अपने शरीर को सुरक्षित रखने वाला हो। समस्त प्राणियों से मित्र की तरह व्यवहार करने वाला हो ॥ १९ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में सातवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

अजातलोम्नीं विपुंसीं षण्ढं च नोपहसेत्। समयेऽपि न जातानि लोमानि यस्याः सा अजातलोम्नी ताम् अजातलोम्नीं नोपहसेत् न च गच्छेत्। विपुंसी च पुरुषाकारां स्त्रियं कूर्चादिविकारेण नोपहसेदित्यनुवर्त्तते। षण्ढं नपुंसकं नोपहसेदित्यनुवर्त्तते ॥ १० ॥

गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात्। गर्भिणीम् अन्तर्वत्नीं विजन्या इति नाम ब्रूयात् वदेत् ॥ ११ ॥

सकुलमिति नकुलं भगालमिति कपालं मणिधनुरितीन्द्रधनुर्गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत। सकुलमिति नकुलं ब्रूयात्। कपालं कर्परं भगालम् इति ब्रूयात्। इन्द्रधनुः मणिधनुरिति ब्रूयात्। परस्य गां सुरभिं धयन्तीं वत्सं पाययन्तीं परस्मै अन्यस्मै स्वामिने नाचक्षीत न कथयेत् ॥ १२–१५ ॥

उर्वरायामनन्तर्हितायां भूमावुत्सर्पंस्तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात्। उर्वरायां सस्यवत्यां भूमौ पृथिव्यां केवलायां तृणैरनन्तर्हितायां मूत्रपुरीषे मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्गं न कुर्यात्। किञ्च तिष्ठन् ऊर्ध्वः न कुर्यात्। तथा उत्सर्पन्नुत्क्षिपमाणः[2] सन् न कुर्यात् ॥ १६ ॥

स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत। स्वयम् आत्मनः प्रयत्नं विना प्रशीर्णेन स्वयं छिन्नेन पतितेन काष्ठेन दारुशकलेन अयज्ञियेन प्रमृजीत प्रोञ्छयेत्। पुरीषोत्सर्गसन्निधानात् गुदमित्यध्याहारः ॥ १७ ॥

विकृतं वासो नाच्छादयीत। विकृतं मञ्जिष्ठादिरागेण विकारमापादितं वासो वस्त्रं न परिदधीत। नील्यादिना रक्तं विकृतं निषिध्यते, कषायरक्तं तु न निषिध्यते किन्तु प्रशस्यते इति भाष्यकारः ॥ १८ ॥

दृढव्रतो वधत्रः स्यात् सर्वेषां मित्रमिव। दृढं स्थिरं व्रतं प्रारब्धं कर्म यस्य स दृढव्रतः स्यात् भवेत्। किञ्च वधात् घातात् त्रायते रक्षतीति वधत्रः

१. द्रष्टव्य—९. ४; आपस्तम्ब १. ३०. १०।

२. 'उत्प्लवमानः' इति ग०

(हरिहर०)

स्यात् । किञ्च सर्वेषां स्वेषां परेषां च मित्रमिव सखेव सुहृदिव हितकारी स्यादित्यर्थः, 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इति स्मरणात् । अत्र यो दृष्टार्थविषयः प्रतिषेधः तत्र दृष्टार्थादेव निवृत्तिप्राप्तौ प्रतिषेधसामर्थ्याददृष्टमप्यनुमीयते । अत एव प्रायश्चित्तस्मरणम् , स्नातकव्रतलोपे तु एकरात्रमभोजनम् इति स्मरणात् ॥ १९ ॥

(गदाधर०)

'अजात···सेत्' । समयेऽप्यनुत्पन्नलोम्नीम् अजातानि लोमानि यस्या सेयमजातलोम्नी[1] ताम् , विपुंसीं कूर्चादिना पुरुषाकृतिं स्त्रियम् , षण्ढः प्रसिद्ध एव, एतानि नोपहसेत् नाभिगच्छेत् उपहासशब्देनाभिगमनमुच्यते ॥ १० ॥

'गर्भि···क्षीत' । गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात् । गर्भिणीं गुर्वीं विजन्येति पर्यायशब्देन वदेत् , न गर्भिणीमिति । उत्तरत्राप्येवमेव योज्यम् । सकुलमिति नकुलम् । सकुलमिति नकुलं ब्रूयात् । भगालमिति कपालम् । भगालमिति कपालम् कर्परं ब्रूयात् । मणिधनुरितीन्द्रधनुः । मणिधनुरिति इन्द्रधनुर्ब्रूयात् । गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत । परस्य गां सुरभिं धयन्तीं वत्सं पाययन्तीम् अन्यस्मै परस्मै स्वामिने वा नाचक्षीत न कथयेत् ॥ ११–१५ ॥

'उर्व···र्यात्' । उर्वरायां सस्यवत्यां भूमौ तृणैरनन्तर्हितायां केवलायां च मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्गं न कुर्यात् । किञ्च तिष्ठन् ऊर्ध्वः सन् न कुर्यात् । तथोत्सर्पन् उत्प्लवमानस्सन्न कुर्यात् ॥ १६ ॥

'स्वयं···जीत' । आत्मनः प्रयत्नमन्तरेण स्वयमेव प्रशीर्णेन छिन्नेन दारुशकलेन गुदं प्रमृजीत प्रोञ्छेत् परिमार्जयेत् । ततः शौचं कुर्यात् ॥ १७ ॥

'विकृ···यीत' । विकृतं नील्यादिना विकारमापादितं वस्त्रं न परिदधीत । अत्र न कषायप्रतिषेधः । कषायरक्तं तु प्रशस्यते इति भाष्यकाराः ॥ १८ ॥

'दृढ···स्यात्' । दृढं व्रतं संकल्पो यस्य स दृढव्रतः स्यात् भवेत् । तथा वधाद् घातादात्मानं परं च त्रायते रक्षतीति वधत्रः स्यात् ।

'सर्वे···मिव' । सर्वेषां स्वेषां परेषां च मित्रमिव सखेव सर्वेषु सुहृदिव हितकारी भवेत् 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इति स्मृतेः ॥ १९ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वितीयकाण्डे सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

---
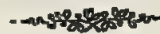
१. एते नियमा समावर्तनादारभ्य गार्हस्थ्यसमाप्तिपर्यन्तं पालनीयत्वेनाभिमता इति कृतविवाहस्य स्त्र्यभिगमप्राप्तौ तादृशस्त्र्यभिगमनं व्यावर्त्यते इति बोध्यम् ।

अष्टमी कण्डिका

तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् ॥ १ ॥ अमाꣳसाश्यमृन्मयपायी ॥ २ ॥ स्त्रीशूद्रशवकृष्णशकुनिशुनां चादर्शनमसम्भाषा च तैः ॥ ३ ॥ शवशूद्रसूतकान्नानि च नाद्यात् ॥ ४ ॥ मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यात् ॥ ५ ॥ सूर्याच्चात्मानं नान्तर्दधीत ॥ ६ ॥ तप्तेनोदकार्थान्कुर्वीत ॥७॥ अवज्योत्य रात्रौ भोजनम् ॥ ८ ॥ सत्यवदनमेव वा ॥ ९ ॥ दीक्षितोऽप्यातपादीनि कुर्यात् प्रवर्ग्यवाँश्चेत् ॥ १० ॥ ८ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे अष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

(सरला)

प्राक्कथन—पूर्वोक्त सप्तमी कण्डिका में कहे हुए यमों को सदैव करना चाहिए। किन्तु तीन दिन तक इनको ठीक तौर से करके अपने को उनमें समयोजित करना चाहिए। इस प्रकार इस कण्डिका में पिछले से ही सम्बन्धित कर्तव्यों का निर्देश विस्तार से किया गया है।

हिन्दी—[पूर्वोक्त उन] व्रतों [कर्तव्यों] को स्नातक तीन दिन तक [जरूर] करे[1] ॥ १ ॥ मांस के विना अन्न को खाने वाला होवे। मिट्टी के बने हुए पात्र में पानी पीने वाला हो ॥२॥ स्त्री, शूद्र, मृतक, काला कौवा और कुत्ते को नहीं देखना चाहिए और उन लोगों से वातचीत भी नहीं करनी चाहिए ॥३॥

अन्त्येष्टि में प्रवृत्त मनुष्य का[2], नापितादि शूद्र का और जिसके ऊपर सूतक लगा हो [अर्थात् जनन और मरण कार्य में जो संलग्न हों] उस मनुष्य का अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ ४ ॥ मल-मूत्र और थूक अग्नि में नहीं डालना चाहिए ॥ ५ ॥ और सूर्य से अपने को [छाते आदि से] आड़ करके नहीं चलना चाहिए ॥ ६ ॥ गर्म जल से स्नान, आचमन, शौचादि करना चाहिए ॥ ७ ॥ रात में दीपक जला कर भोजन करना चाहिए ॥ ८ ॥ अथवा [अर्थात् इन

---

१. द्रष्टव्य–शतपथ १४. १. २८।

२. शव का अन्न अर्थात् उसके ज्ञातियों के अन्न से तात्पर्य है। जैसा कि आगे ३. १०. २७ में कहेंगे।

(सरला)

नियमों को तीन दिन तक पालन करना चाहिए यदि न भी कर पाए तो] सत्य बोलने के नियम का जरूर [पालन करना चाहिए] ॥ ६ ॥ सोम या अग्निष्टोमादि यज्ञों में दीक्षा लिया हुआ यजमान यदि प्रवर्ग्य कार्य[1] वाला हो तो उसे भी आतपादि पूर्वोक्त नियमों का पालन करना चाहिए ॥ १० ॥

इस प्रकार द्वितीय काण्ड में आठवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् । एवं स्नातकस्य समावर्त्तनप्रभृति यावद्गार्हस्थ्यं कर्त्तव्यत्वेन वर्जनीयत्वेन च नृत्यगीतादीन्यभिधाय अधुना तस्यैव समावर्त्तनदिनमारभ्य त्रिरात्रव्रतचर्यामाह—तिस्रः त्रिसंख्या रात्रीः अहोरात्राणि व्रतं वक्ष्यमाणं चरेत् । अनुतिष्ठत् ॥ १ ॥

अमांꣳसाश्यमृन्मयपायी । मांसमश्नातीत्येवंशीलो मांसाशी तद्विपरीतः अमांसाशी, मृन्मयेन मृदादिर्निर्मितेन पात्रेण पिबतीति मृन्मयपायी तद्विपरीतः अमृन्यपायी स्यादिति शेषः ॥ २ ॥

स्त्रीशूद्रशवकृष्णशकुनिशुनां चादर्शनमसम्भाषा च तैः । स्त्री नारी, शूद्रश्चतुर्थो वर्णः, शवो मृतशरीरम्, कृष्णशकुनिः काकः, श्वा कुकुंरः, एतेषामनदर्शनम् अवलोकनाभावः तैः स्त्रीशूद्रादिभिश्च सह असम्भाषा न सम्भाषा असम्भाषा अवचनव्यवहारः ॥ ३ ॥

शवशूद्रसूतकान्नानि च नाद्यात् । नाद्यात् न भक्षयेत् । कानि ? शवो मृतकः तस्मिन् जाते सति क्रीत्वा लब्ध्वा वा यत् ज्ञातिभिरद्यते, शूद्रस्य अवरवर्णस्य नापितादेर्भोज्यान्नस्यापि यदन्नं तच्छूद्रान्नम्, सूतके प्रसवाशौचे सति यत् ज्ञातीनामन्नं तत्सूतकान्नम्, तानि शवशूद्रसूतकान्नानि । चकारः स्त्रियाद्यदर्शनादिसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यात् । मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषे आतपे

---

१. प्रवर्ग्य क्रिया सोमादि यज्ञों में की जाती है । "प्रवर्ग्यः सोमयाङ्गभूतः कर्मविशेषो महावीर संभरणाख्यः" यह प्रवर्ग्य की परिभाषा है जिसे पहले सोमयाग में कहा गया है ।।

घर्मे न कुर्यात् । नोत्सृजेत्, तथा ष्ठीवनं च थूत्कृत्य मुखाल्लालादिनिःस्रावं न कुर्यादातपे ॥ ५ ॥

सूर्याच्चात्मानं नान्तर्दधीत । सूर्यात् आदित्यात् आत्मानं स्वं छत्रादिना अन्तर्हितं न कुर्यात् ॥ ६ ॥

तप्तेनोदकार्थान् कुर्वीत । तप्तेन जलेन उदकार्थान् उदकसाध्याः शौचाचमनादिकाः क्रियाः कुर्वीत विदध्यात् ॥ ७ ॥

अवज्योत्य रात्रौ भोजनम् । रात्रौ निशि अवज्योत्य दीपं प्रज्वाल्य भोजनम् अशनं कुर्वीत ॥ ८ ॥

सत्यवदनमेव वा । वा यद्वा सत्यवदनमेव सत्यवाक्योच्चारणमेव कुर्यात्, न अधस्तनानि अमांसाशनादीनि ॥ ९ ॥

दीक्षितोऽप्यातपादीनि कुर्यात्प्रवर्ग्यवांश्चेत् । चेत् यदि दीक्षितः सोमयागार्थं स्वीकृतदीक्षः प्रवर्ग्यवान् प्रवर्ग्यो महावीरः अस्यास्तीति प्रवर्ग्यवान् तदा आतपादीनि आतपे मूत्रपुरीषोत्सर्गष्ठीवनादीनि अवज्योत्य रात्रिभोजनान्तानि कुर्यात् वा सत्यवदनमेव । अत्र सूत्रकारेण यावन्ति स्नातकव्रतान्युक्तानि न तावन्त्येवानुतिष्ठेत्, अपि तु मन्वादिस्मृतिप्रणीतान्यपि ॥ १० ॥

इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः—वेदमुक्तलक्षणं व्रतं च उभयं वा समाप्य गुर्वनुज्ञातो ब्रह्मचारी स्नायात् । तत्र आचार्यो मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा ब्रह्मचारिणा 'भो आचार्य अहं स्नास्ये' इत्यनुज्ञादानं प्रार्थितः स्नाहीत्यनुज्ञां दत्त्वा ब्रह्मचारिणे,[1] परिश्रिते पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं विधाय ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कर्म निर्वर्त्य वेदारम्भवत् वेदाहुतिहोमं विधाय महाव्याहृत्यादि स्विष्टकृदन्तं च कृत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात् । तद्यथा—तत्राज्य भागान्तं कृत्वा यदि ऋग्वेदमधीत्य स्नानं करोति तदा पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहा इति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्यः इत्याद्यानवाहुतीर्हुत्वा, यदि यजुर्वेदं तदाऽऽज्यभागानन्तरम् अन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा इति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्यः इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा[2], यदि सामवेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा इति हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्यः इत्यारभ्यानुमत्यन्ता

---

१. 'परिश्रित्य' ख० ।

२. 'हुत्वा महाव्याहृत्यादि स्विष्टकृदन्ता दशाहुतीर्हुत्वा छन्दोभ्य इत्यारभ्यानुमत्यन्तान वाहुतीर्हुत्वा महाव्याहृत्यादि दक्षिणां दत्त्वा समापयेत्' क० ।

(हरिहर०)

नवाहुतीर्जुहोति । यद्यथर्ववेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्रमसे स्वाहा इति आहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे इत्याद्या जुहोति । यदैकदा वेदचतुष्टयमधीत्य स्नानं करोति तदाऽऽज्यभागानन्तरं प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतये इत्याद्याः प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतये अनुमतये इति सप्त मन्त्रेण जुहुयात् । एवं वेदद्वयत्रयाध्ययनेऽपि योज्यम् । अनन्तरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय दक्षिणादानान्तं कुर्यात् । अथ ब्रह्मचारी उपसङ्ग्रहणपूर्वकं गुरुं नमस्कृत्य परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं तस्मिन्नग्नौ समिदाधानं कुर्यात् । तत् आचार्यपुरुषैः परिश्रितस्योत्तरभागे स्थापितानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टानां जलपूर्णानां कलशानां पूर्वभागे आस्तृतेषु प्रागग्रेषु कुशेषु उदङ्मुखः स्थित्वा "येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहाऽस्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि" इति मन्त्रेण प्रथमकलशात् दक्षिणचुलुकेन उदकमादाय "तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय" इति मन्त्रेणात्मानमभिषिञ्चते । एवमेव द्वितीयादिभ्यः समेभ्यः उदकुम्भेभ्यः 'येऽप्स्वन्तरग्नयः' इत्यनेनैव मन्त्रेण एकैकस्माज्जलमादाय 'येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳪंसुराम् । येनाक्षावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः" इति, 'आपो हिष्ठा मयोभुवः' 'यो वः शिवतमो रसः' 'तस्मा अरङ्गमामवः' इत्येतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमात्मानमभिषिच्य त्रिस्तूष्णीमभिषिञ्चते । तत उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां शिरोमार्गेण निःसार्य तां मेखलां भूमौ निधाय अन्यद्वासः परिधायाचम्य आदित्यमुपतिष्ठते—"उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवायावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रशनिं मा कुर्वाविदन्मा गमय" इत्यादित्योपस्थानमन्त्राः । ततो दधि वा तिलान्वा दक्षिणहस्तमध्यगतेन सोमतीर्थेन प्राश्य जटालोमनखानि वापयित्वा स्नात्वाचम्योक्तलक्षणेनौदुम्बरकाष्ठेन "अन्नाद्याय व्यूहध्वᳪं सोमो राजाऽयमागमत्स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च" इत्यनेन मन्त्रेण दन्तान् क्षालयित्वाऽऽचम्य सुगन्धिद्रव्यमिश्रितेन यवादिचूर्णेन तैलसन्नीतेन शरीरमुद्वर्त्य पुनः सशिरस्कं स्नात्वाऽऽचम्य चन्दनाद्यनुलेपनं पाणिभ्यां गृहीत्वा मुखं नासिकां च 'प्राणापानौ मे तर्प्पय, चक्षुर्मे तर्प्पय, श्रोत्रं मे तर्प्पय" इत्यनेन मन्त्रेणानुलिम्पेत् ।

(हरिहर०)

ततः पाणी प्रक्षाल्य तदुदकमञ्जलिनादायापसव्यं कृत्वा दक्षिणमुखो भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि "पितरः शुन्धध्वम्" इत्यनेन मन्त्रेण भूमौ निषिञ्चेत्पितृतीर्थेन। अथ यज्ञोपवीती भूत्वोदकमुपस्पृश्य चन्दनादिना "सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्" इति मन्त्रेण आत्मानमनुलिप्य "परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये" इति मन्त्रेण अहतं धौतं वा यथालाभं वासः परिधाय।

धारयेद्वैणवीं यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥

इति मनुना ब्रह्मचर्यं प्राप्तस्य यज्ञोपवीतधारणस्य सतः स्नातकस्य पुनर्विधानात् द्वितीययज्ञोपवीतधारणं प्राप्तम्, तच्च पूर्वे धृते सति न सम्भवति अतस्तदुत्तार्य जले प्रक्षिप्यापरं नवमुक्तलक्षणमुपवीतद्वयं "यज्ञोपवीतम्" इत्यादिना मन्त्रेण परिधाय यज्ञोपवीतस्यैकदेशविनाशे यातयामत्वम्, अतो न तस्य नवेन संयोगः, यज्ञोपवीतस्यैकदेशविनाशेऽपि मन्त्रादिकसंस्कारस्य विनष्टत्वात्। ततः—

"यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्रा बृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम्" ॥

इति मन्त्रेण उत्तरीयं वास आच्छाद्य द्वितीयवस्त्रालाभे पूर्वस्यैवोत्तरवर्गेण अनेनैवोत्तरीयमन्त्रेणोत्तरीयं वासः परिधत्ते। "या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय। ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च" इति पुष्पाणि अन्यतः प्रतिगृह्य "यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु। तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि" इति मन्त्रेण शिरसि बध्वा 'युवा सुवासा' इत्यनयर्चा उष्णीषेण शिरो वेष्टयते। "अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात्" इति मन्त्रेण दक्षिणे कर्णे कुण्डलं कृत्वाऽनेनैव वामकर्णे परिधाय "वृत्रस्यासि कनीनिकाश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि" इति मन्त्रेण[1] दक्षिणे प्रक्षिप्य सौवीराञ्जनं प्रक्षिप्य तेनैव वामं चक्षुः अङ्क्ते। 'रोचिष्णुरसि' इत्यादर्शे मुखं विलोक्य "बृहस्पते छदिरसि पाप्मनो मानन्तर्द्धेहि तेजसो यशसो मामन्तर्धेहि' इत्यन्यस्माच्छत्रं प्रतिगृह्य "प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मापातम्" इत्युपानहौ युगपत्पादयोः प्रतिमुञ्च्य "विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः" इति वैणवं दण्डमादत्ते पूर्वदण्डं त्यक्त्वा। अत्र मातृपू-

१. 'दक्षिणमक्षि सौवीराञ्जनेनाङ्क्त्वा तेनैव वामे अङ्क्ते' ख० ग०।

(हरिहर०)

जादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं आचार्यकृत्यं, कलशादभिषेकादि दण्डग्रहणान्तं स्नानकर्त्तुः। वासश्छत्रोपानद्ग्रहणव्यतिरिक्तानि दन्तप्रक्षालनादीनि मन्त्रवन्ति सदा भवन्ति, वासः प्रभृतीनि तु नूतनान्येव। तत आचार्यः स्नातकस्य नियमान् श्रावयेत्, त्रिरात्रव्रतानि च। स्नातकश्च तानि यथोक्तानि कुर्यात् ॥

इति समावर्त्तनम्।

(गदाधर०)

स्नातस्य समावर्तनप्रभृति यावद्गार्हस्थ्यं धर्मानभिधायाधुना तस्यैव समावर्तनदिनमारभ्य त्रिरात्रं व्रतमाह—'तिस्रो'''रेत्'। वक्ष्यमाणं व्रतं तिस्रः त्रिसंख्याः रात्रीः अहोरात्राणि चरेदनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

'अमा०ᳬ'''पायी'। मांसमश्नातीत्येवंशीलो मांसाशी न मांसाशी अमांसाशी, मृण्मयेन मृत्पात्रेण पिबतीत्येवंशीलो मृण्मयपायी न मृण्मयपायी अमृण्मयपायी स्यादिति शेषः ॥ २ ॥

'स्त्रीशू'''च तैः'। स्त्री नारी, शूद्रोऽन्त्यवर्णः, शव मृतशरीरं, कृष्णशकुनिः काकः, श्वा कुक्कुरः, एतेषामदर्शनं भवेत्। एतैः स्त्र्यादिभिः सहासंभाषणं च अवचनव्यवहारः। अत्र यस्य येन यादृक् संभाषणं प्राप्तं तादृङ् निषिध्यते ॥ ३ ॥

'शव'''द्यात्'। मरणानन्तरं क्रीत्वा लब्ध्वा वा ज्ञातिभिर्यदद्यते तच्छवान्नम्, शूद्रस्य भोज्यान्नस्य नापितादेरन्नं शूद्रान्नम्, प्रसवे सति अर्वाग् दशाहात् यत् ज्ञातीनामन्नं तत्सूतकान्नम्, एतानि नाद्यात् भक्षयेत् ॥ ४ ॥

'मू'''र्यात्'। मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषे। ष्ठीवनं थूत्कृत्यमुखाल्लालादित्यजनम्। एतत्त्रयम् आतपे घर्मे न कुर्यात् नोत्सृजेत् ॥ ५ ॥

'सूर्या'''धीत'। सूर्यादादित्यादात्मानं स्वं छत्रादिना अन्तर्हितं न कुर्यात् ॥६॥

'तप्ते'''र्वीत'। तप्तेन जलेनोदकार्थान् उदकसाध्याः शौचाचमनादिकाः क्रियाः कार्याः ॥ ७ ॥

'अव'''जनम्'। रात्रौ अवज्योत्य दीपोल्काद्यन्यतरेण प्रकाशं कृत्वा भोजनं कुर्यात् ॥ ८ ॥

'सत्य'''वा'। अथवा सत्यभाषणमेव कुर्यात्, नाधस्तननियमान् ॥ ९ ॥

'दीक्षि'''श्चेत्'। चेद्यदि दीक्षितः सोमयागार्थं स्वीकृतदीक्षः प्रवर्ग्यवान् प्रवर्ग्यः सोमयागाङ्गकर्मविशेषः सोऽस्यास्तीति तथा, तदाऽऽतपादीनि मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यादित्यादीनि करोति ॥ १० ॥

नवमी कण्डिका

अथातः पञ्च महायज्ञाः ॥ १ ॥ वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयाद् ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतय इति ॥२॥

(सरला)

पञ्च-महायज्ञ

प्राक्कथनः—समावर्तन संस्कार के बाद जिसका विवाह हो गया है उसे पंच-महायज्ञ करने का अधिकार है। इसलिए प्रस्तुत कण्डिका में पंच-महायज्ञ की विधि बताते हैं। देवताओं के लिए बलि, प्राणियों के लिए बलि, पितरों के लिए बलि, और ब्रह्मयज्ञ तथा मनुष्य के लिए बलि—ये पंच महायज्ञ हैं।

हिन्दीः—समावर्तन संस्कार के बाद अब इस [कण्डिका] से पाँच महायज्ञों[1] [का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है] ॥ १ ॥

देवयज्ञः—[अग्नि का] पर्युक्षण करके वैश्वदेव[2] बलि [अर्पण] के अन्न से स्वाहाकार शब्द से ब्रह्मा के लिए, प्रजापति के लिए, गृह्यदेवताओं के लिए, कश्यप के लिए, तथा अनुमति के लिए आहुति प्रदान करनी चाहिए ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अथातः पञ्च महायज्ञाः। अथ समावर्तनानन्तरं कृतविवाहस्य पञ्चमहायज्ञेष्वधिकारः, अतो हेतोः पञ्चसंख्याकाः महायज्ञाः महायज्ञशब्दवाच्याः कर्मविशेषाः पञ्चमहायज्ञा व्याख्यास्यन्ते इति। तत्र पञ्चसु ब्रह्मणे स्वाहा इत्येवमादिको होमात्मकः पूर्वो देवयज्ञः, ततो मणिके त्रीनित्येवमादिबलिरूपो भूतयज्ञः। ततः पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः। हन्तकारातिथिपूजादिको मनुष्ययज्ञः। पञ्चमो ब्रह्मयज्ञः। एते पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्त्तव्याः स्नातकेन ॥ १ ॥

कथमित्यपेक्षायामाह—वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात्। विश्वेदेवा देवता अस्येति वैश्वदेवमन्नं तस्मात्। के ते? देवभूतपितृमनुष्यादयः, स्मृतिषु तेभ्यश्च अदत्त्वा भोजननिषेधात्, तेभ्यो दत्त्वा गृहपतेः शेषभुजित्वविधानात्। तस्माद्यदन्नमहरहः शालाग्नौ लौकिकेऽग्नौ वा यथा-

---

विशेषः—१. द्रष्टव्यः—आश्व० गृह्य० III. १
२. द्रष्टव्यः—I. १२. ३

(हरिहर०)

घिकारं पच्यते तद्वैश्वदेवमन्नं, तस्मादुद्धृत्य पात्रान्तरे कृत्वा पर्युक्ष्य आवसथ्यस्य पर्युक्षणं कृत्वा स्वाहाकारैः सह वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयात्। अत्र पर्युक्षणोपदेशः कुशकण्डिकेतिकर्त्तव्यतानिरासार्थः। जुहोतिषु स्वाहाकारोपदेशश्च बल्यादिभ्यो निवृत्त्यर्थः, संस्रवव्युदासार्थो वा। बलिदानं तु नमस्कारेणैव कुर्यात्, 'पितृभ्यः स्वधा नमः' इत्यत्राचार्येण बलिदाने नमस्कारस्य दर्शितत्वात्। ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतय इति। एते पञ्च होमाः ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'अथा'''यज्ञाः'। व्याख्यास्यन्त इति सूत्रशेषः। महायज्ञा इति कर्मनामधेयम्। तत्रैको देवयज्ञो ब्रह्मणे स्वाहेत्येवमादिहोमरूपः। मणिके त्रीनित्येवमादिबलिरूपो भूतयज्ञः। पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः। हन्तकारातिथिपूजनादिरूपो मनुष्ययज्ञः। पञ्चग्रहणात्पञ्चमो ब्रह्मयज्ञः। एते पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः, नित्यत्वात्। यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेषां पावनत्वख्यापनार्थं, न काम्यत्वप्रतिपादनाय ॥ १ ॥

एषामनुष्ठानप्रकारमाह—'वैश्व'''यात्'। विश्वे सर्वे देवा देवतामस्येति वैश्वदेवमन्नम्। ते च देवपितृमनुष्यादयः। कथमेषां देवतात्वमिति चेत्, येन स्मृतावेषां दानं विहितम् 'एभ्यो दत्त्वा शेषभुजा गृहपतिना भवितव्यम्'। तस्माद्वैश्वदेवमन्नं यदहरहः पच्यते शालाग्नौ, तत आदायाग्निं पर्युक्ष्य स्वाहाकारैः सह वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयात्। पर्युक्ष्यग्रहणाच्च कुशकण्डिकोक्तेतिकर्तव्यताव्युदासः। स्वाहाकारैरिति "यज्जुहोति तत्स्वाहाकारैः, शेषे नमस्काराः"। आचरन्ति हि बलिकर्मणि नमस्कारान्। यद्वा, स्वाकाहारग्रहणं संस्रवव्युदासार्थम्। 'ब्रह्म'''य इति'। एतैर्मन्त्रैः पञ्चाहुतीर्जुहोति ॥ २ ॥

भूतगृह्येभ्यो मणिके त्रीन् पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै ॥ ३ ॥ धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः ॥ ४ ॥ प्रतिदिशं वायवे दिशां च ॥ ५ ॥ मध्ये त्रीन्ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय ॥ ६ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यस्तेषामुत्तरतः ॥ ७ ॥ उषसे भूतानां च पतये परम् ॥ ८ ॥

(सरला)

भूतयज्ञः—गृह्यभूतों[1] के लिए तीन बलि घड़े के समीप में पर्जन्य के लिए, जलों के लिए और पृथिवी के लिए डालनी चाहिए ॥ ३ ॥ धाता के लिए और विधाता के लिए दरवाजे के दोनों भागों में [बलि रखनी चाहिए] ॥ ४ ॥

१. द्रष्टव्यः—I. १२. २

(सरला)

हर दिशाओं में वायु के लिए और दिशाओं के लिए [बलि प्रदान करनी चाहिए] ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त बलियों के मध्य में ब्रह्मा के लिए अन्तरिक्ष के लिए और सूर्य के लिए तीन [बलि रखनी चाहिए] ॥६॥ पूर्वोक्त उन बलियों के उत्तर की तरफ विश्वे देवों को और सारे भूतों को [दो बलि देनी चाहिए] ॥ ७ ॥ इन दोनों बलियों के उत्तर तरफ उषा के लिए और भूतपतियों के लिए [दो बलियां रखनी चाहिए]।।८।।

(हरिहर०)

भूतगृह्येभ्यः । भूतानि च गृह्याणि च तानि भूतगृह्याणि तेभ्यो भूतगृह्येभ्यः, होमानन्तरं दद्यादिति शेषः । कथं ? मणिके त्रीन् पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै । मणिके मणिकसमीपे सामीप्यसप्तमीयम् । त्रीन् बलीन् दद्यादिति शेषः । कथं ? पर्जन्याय नमः, अद्भ्यो नमः, पृथिव्यै नम इति ॥ ३ ॥

धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः । द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमः विधात्रे नमः इति द्वौ बली दद्यात् ॥ ४ ॥

प्रतिदिशं वायवे दिशां च । प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति वायवे नमः इति एकैकं बलिं दद्यात् । दिशां च दिग्भ्यश्च प्रतिदिशं प्राच्यै दिशे नमः इत्येवमादि तल्लिङ्गोल्लेखेनैकैकं बलिं दद्यात् ॥ ५ ॥

मध्ये त्रीन् ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय । मध्ये प्रतिदिशं दत्तानां बलीनामन्तराले त्रीन् बलीन् दद्यात् । कथं ? ब्रह्मणे नमः, अन्तरिक्षाय नमः, सूर्याय नम इति ॥ ६ ॥

विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यस्तेषामुत्तरतः । तेषां ब्रह्मादीनां त्रयाणां बलीनाम् उत्तरतः उत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः, विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इति द्वौ बली दद्यात् ॥ ७ ॥

उषसे भूतानां च पतये परम् । परं तयोरप्युत्तरतः उषसे नमः, भूतानां पतये नम इति बलिद्वयं दद्यात् । केचित्तु विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यः, भूतानां च पतये, इत्यत्र चकारं मन्त्रान्तर्गतमाहुः ॥ ८ ॥

(गदाधर०)

'भूतगृह्येभ्यः' । भूतानि च गृह्याणि च तेभ्यो बलीन्ददाति । तान्याह— 'मणि···थिव्यै' । मणिके मणिकसमीपे, सामीप्ये सप्तमीयम् । त्रीन् बलीन् दद्यात् । पर्जन्याय नमः, अद्भ्यो नमः, पृथिव्यै नमः, इति मन्त्रैः । त्रीनिति ग्रहणं भूतगृह्येभ्य इति चतुर्थबलिहरणनिवृत्त्यर्थम् । केचित्तु भूतगृह्येभ्य इत्येवं समन्त्रकं चतुर्थं बलिहरणमिच्छन्ति ॥ ३ ॥

'धात्रे···द्वार्ययोः' । द्वार्ययोर्द्वारशाखयोर्मध्ये धात्रे विधात्रे इति द्वौ बली ददाति ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'प्रति'''शां च' । दिशं दिशं प्रति वायवे नम इत्येकैकं बलिं दद्यात् । दिशां च यद्दानं तदपि प्रतिदिशं स्वस्वनाममन्त्रैर्ददाति । ततश्च प्राच्यै दिशे नम इत्यादि सिद्धयति ।। ५ ।।

'मध्ये'''र्याय' । प्रतिदिशं दत्तबलीनां मध्येऽन्तराले ब्रह्मणे नमः इत्यादित्रीन् बलीन् दद्यात् ।। ६ ।।

'विश्वे'''रतः' । आनन्तर्यात्तेषां त्रयाणां बलीनामुत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो, विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इति द्वौ बली दद्यात् । "विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यो भूतानां च पतय इत्युभयत्र चकारः पठनीयः" इति गर्गः ।। ७ ।।

'उष'''परम्' । परमिति तयोरप्युत्तरतः उषसे नमः, भूतानां पतये नमः इति द्वौ बली दद्यात् ।। ८ ।।

पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः ।। ९ ।। पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्या दिशि निनयेद्यक्ष्मैतत्त इति ।। १० ।।

(सरला)

पितृयज्ञः—'पितृभ्यः''''''' "पितरों के लिए स्वधा हो नमस्कार हो" इस मन्त्र से [पितरों के लिए] दक्षिण की तरफ [बलि रखनी चाहिए] ।। ९ ।। [पूर्वोक्त बलि रखे गए] पात्र को धोकर उत्तर और पूर्व के कोन की दिशा में "यक्ष्मै तत्ते'''''''''" "हे यक्ष्म ! यह तेरे लिए है" इस मन्त्र से गिरा देना चाहिए[1] ।। १० ।।

(हरिहर०)

पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः । एषामेव ब्रह्मादिबलीनां दक्षिणतः दक्षिणप्रदेशे पितृकर्मत्वात्प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नमः इति मन्त्रेणैकं बलिं पात्रावशिष्टेनान्नेन दद्यात् ।। ९ ।।

पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेद्यक्ष्मैतत्त इति । उद्धरणपात्रं निर्णिज्य प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं तेषामेव ब्रह्मादिबलीनाम् उत्तरापरस्यां वायव्य दिशि निनयेत् उत्सृजेत् । कथं ? यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनम् इति मन्त्रेण ।।१०।।

(गदाधर०)

'पितृ'''णतः' । तेषामेव ब्रह्मादिबलीनां त्रयाणां दक्षिणतः दक्षिणप्रदेशे पितृभ्यः स्वधा नमः इति मन्त्रेणैकं बलिं दद्यात् । पित्र्यत्वाच्चात्र दक्षिणामुखः प्राचीनावीती भवति । नमस्कारश्चात्र प्रदर्शित आचार्येण स सर्वत्र बलिहरणेषु प्रत्येतव्यः समाचारादित्युक्तमेतत् ।। ९ ।।

---

१. ब्रह्मयज्ञ यथावसर बाद में कहेंगे ।

(गदाधर०)

'पात्रं—त्त इति'। पात्रमुद्धरणपात्रं निर्णिज्य प्रक्षाल्य तदुदकं ब्रह्मादिबलित्रयाणामेवोत्तरापरस्यां वायव्यां दिशि निनयेत् 'यक्ष्मैतत्ते' इति मन्त्रेण। अत्र निर्णेजनमित्यध्याहारः। 'बलिहरण मध्यादिदेशाः शालाया ग्राह्याः' इति भर्तृयज्ञः ॥ १० ॥

उद्धृत्याग्रं ब्राह्मणायावनेज्य दद्याद्धन्त त इति ॥ ११ ॥ यथार्हं भिक्षुकानतिथींश्च सम्भजेरन् ॥ १२ ॥ बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः ॥ १३ ॥ पश्चाद् गृहपतिः पत्नी च ॥ १४ ॥ पूर्वो वा गृहपतिः, तस्मादु स्वादिष्टं गृहपतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति श्रुतेः ॥ १५ ॥ अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठाद्देवेभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्चोदपात्रात् ॥ १६ ॥ ९ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

(सरला)

नृयज्ञः—वैश्वदेव के हवि को उठाकर ब्राह्मण के लिए भाग निकाल कर "हन्त त" "यह तेरा है" इस वाक्य से देना चाहिए ॥ ११ ॥ भिक्षुकों और अतिथियों को यथा योग्य बाँट देना चाहिए ॥ १२ ॥ बालक, घर के बड़े लोग, जो जिस योग्य हों उन्हें भोजन कराना चाहिए ॥ १३ ॥ उसके बाद गृह स्वामी और उसकी पत्नी [भोजन] करें[1] ॥ १४ ॥ अथवा गृहस्वामी का पहले भोजन करना भी अनुचित नहीं है क्योंकि "गृहपति को अपने अतिथियों से पहले स्वादिष्ट भोजन करना चाहिए" यह वेद की आज्ञा है ॥ १५ ॥ प्रतिदिन, देवताओं के लिए [अन्न से] स्वाहापूर्वक आहुति देनी चाहिए। अन्न के अभाव में कन्द, फल पुष्प समिधा आदि किसी न किसी से [अवश्य करनी चाहिए] पितरों के लिए और मनुष्यों के लिए भी अन्नजल[2] आदि [किसी न किसी प्रकार से बलि रखना ही चाहिए] ॥ १६ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में नौवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

---

१. यही शास्त्र की मर्यादा है।

२. द्रष्टव्यः—शांखायन गृह्य II, १७. २; शतपथ ११. ५. ६. २।

(हरिहर०)

उद्धृत्याग्रं ब्राह्मणायावनेज्य दद्याद्धन्तत इति । वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य अवदाय अग्रं षोडशग्रासपरिमितं ग्रासचतुष्टयपर्याप्तं वा अन्नं ब्राह्मणाय विप्राय न क्षत्रियवैश्याभ्याम् अवनेज्य इत्यवनेजनं दत्त्वा "हन्त ते" इत्यनेन मन्त्रेण दद्यात् । अत्र पञ्च महायज्ञा इत्युपक्रम्य चतुर्णां क्रमेणानुष्ठानमुक्तम् , पञ्चमस्य ब्रह्मयज्ञस्य पञ्च महायज्ञा इत्यनेनानुष्ठानस्य वक्तुमुपक्रान्तत्वात् तदनुष्ठानं सावसरं वक्तव्यं नोक्तम् , अतो विचार्यते–ब्रह्मयज्ञस्य स्मृत्यन्तरे त्रयः काला उक्ताः । यथाह कात्यायनः—

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः ।
स चार्वाक् तर्पणात् कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥
वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेत्यनिमित्तकात् ॥ इति ।

स्नानविधावपि 'उपविशेद्दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदम्' इति । तेनोपक्रान्तस्यापि ब्रह्मयज्ञविधेः तर्पणात्प्राक् उक्तत्वात् अत्र तस्याकथनमदोषः । सोऽत्र यदि क्रियते तदा तेनैव विधिना कर्त्तव्यः । तत्र चेत्कृतस्तदाऽत्र न कर्त्तव्यः । विकल्पेन हि कालाः स्मर्यन्ते, अतो न समुच्चयः ।

किञ्च—

न हन्तर्ति न होमं च स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ।
नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात्समानेऽहनि कुत्रचित् ॥

इत्यनेनात्रापि समुच्चयनिषेधात् । तस्मात्प्रातर्होमानन्तरं वा तर्पणात्पूर्वं वा वैश्वदेवान्ते सकृद् ब्रह्मयज्ञं कुर्यादिति सिद्धम् । [1]एतावदवशिष्यते–वैश्वदेवावसाने यदा क्रियते तदा कोऽवसरः ? चतुर्णामन्त इति चेत् ? न, हन्तकारादेर्नृयज्ञस्य रात्रावपि स्मरणात् "नास्यानश्नन् गृहे वसेत्" इत्यादिना । तस्मादनिर्दिष्टकालोऽपि ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञात्पूर्वं कर्त्तव्यः ॥ ११ ॥

यथार्हं भिक्षुकानतिथींश्च सम्भजेरन् । यथार्हं यो यदर्हति तदनतिक्रम्य यथार्हं तद्यथा भवति तथा भिक्षुकान् परिव्राजकब्रह्मचारिप्रभृतीन् । तत्र उपकुर्वाणकब्रह्मचारिणामक्षारालवणम् , इतरेषां च यथोचितम् । अतिथीन् अध्वनीनान्श्रोत्रियादीन् सम्भजेरन् भिक्षाभोजनादिदानेन तोषयेरन् गृहमेधिनः ॥ १२ ॥

बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः । बालो ज्येष्ठः प्रथमो येषां गृह्याणां ते

---

१. 'एतावदृशिष्यते' क० ।

(हरिहर०)

बालज्येष्ठाः ते च ते गृह्या गृहे भवाः पुत्रादयः यथार्हं यथायोग्यम् अश्नीयुः भुञ्जीरन् ॥ १३ ॥

पश्चाद् गृहपतिः पत्नी च । पश्चाद् गृह्येषु पूर्वमाशितेषु सत्सु पश्चाद् गृहपतिः गृहस्वामी पत्नी च तद्भार्या अश्नीयाताम् ॥ १४ ॥

पूर्वो वा गृहपतिः । वा अथवा गृहपतिः स्वामी पत्न्याः पूर्वमश्नीयात् । कुतः ? तस्माद्‌ स्वादिष्टं गृहपतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति श्रुतेः । तस्मात् स्वात् अन्नात् यत् ःइष्टं तदन्नं गृहपतिः पत्न्याः पूर्वः अतिथिभ्यः अशितेभ्यः इति श्रुतेः वेदवचनात् ॥ १५ ॥

अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठाद्देवेभ्यः, पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्चोदपात्रात् । अहरहः प्रतिदिनं देवेभ्यः अन्नेन स्वाहा कुर्यात् देवतोद्देशेन अन्नं जुहुयात् । अन्नाभावे केनचित् द्रव्येण काष्ठपर्यन्तेनापि । पितृभ्यः स्वधा कुर्यादन्नेन, तदभावे !केनचिद् द्रव्येणोदपात्रपर्यन्तेन । एवं मनुष्येभ्यो हन्तकारम् । एवं पञ्चमहायज्ञानामहरहर्नित्यत्वेनेतिकर्त्तव्यताऽवगम्यते ॥ १६ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

(गदाधर०)

'उद्घृ · ·त इति' । तत एव वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्याग्रमन्नं षोडशग्रासपरिमितं ग्रासचतुष्टयपरिमितं वा ब्राह्मणायावनेज्यावनेजनजलं दत्त्वा 'हन्त ते' इति मन्त्रेण दद्यात् । हन्तकाराच्च पूर्वं ब्रह्मयज्ञस्यावसरः । नृयज्ञो हि हन्तकारादिरास्त्रापात् । रात्रावपि ह्यतिथिपूजा स्मर्यते अतिथिं प्रकृत्य 'नास्यानश्नन् गृहे वसेत्' इति । तस्माद्ब्रह्मयज्ञोऽनिर्दिष्टकालोऽपि नृयज्ञात्पूर्व एवेति कर्काचार्याः । अतो नित्यस्नानसूत्रस्यार्षेयत्वे मूलं मृग्यम् । प्रातर्होमानन्तरं वा तर्पणात्पूर्वं वा वैश्वदेवावसाने वा ब्रह्मयज्ञ इति हरिहरः । कात्यायनः—

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः ।
स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥
वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेति निमित्तकात् (?) ॥

स चैकस्मिन्नहनि सकृदेव कार्यः । तदाह—

न हन्तेति न होमं च स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ।
नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात्समानेऽहनि कुत्रचित् ॥ इति ॥ ११ ॥

(गदाधर०)

'यथाऽ'''रन्' । यथाऽर्हं यो यदन्नमर्हति तदनतिक्रम्य यथाऽर्हं तत् यथा भवति तथा भिक्षुकान् परिव्राजकान् ब्रह्मचारिप्रभृतीन् । तत्र भिक्षुकान् मधुमांसवर्जितम् , एवमितरेषां यथोचितम् , अतिथींश्च अध्वनीनान् श्रोत्रियादीन् सम्भजेरन् भिक्षाभोजनादिदानेन तोषयेरन् गृहमेधिनः ॥ १२ ॥

'बाल'''श्नीयुः' । बालो ज्येष्ठः प्रथमो येषां ते बालज्येष्ठाः ते च ते गृह्या गृहे भवाः पुत्रपौत्रादयः यथायोग्यमश्नीयुर्भुञ्जीरन् ॥ १३ ॥

'पश्चा'''त्नी च' । गृह्याणामशनोद्र्ध्वं गृहपतिर्गृहस्वामी पत्नीं तत्स्त्री अश्नीतः ॥ १४ ॥

'पूर्वो'''श्रुतेः' । गृहपतिर्वा पत्न्याः पूर्वमश्नीयात् , न युगपत् । कुतः ? 'तस्मादु स्वादिष्टम्' इति श्रुतेः । अस्यार्थः—तस्मात् स्वात् अन्नात् यदिष्टं तद् गृहपतिरश्नाति अतिथिभ्योऽशितेभ्यः पूर्वं पत्न्या इति ॥ १५ ॥

'अह'''वेभ्यः । देवयज्ञोऽयमहरहः कार्यः स्वाहा कुर्याद्देवेभ्योऽन्नेन जुहुयात् । अन्नाभावे केनचिद् द्रव्येण काष्ठपर्यन्तेनापि कार्यः । 'पितृ'''त्रात्' । पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञश्च आ उदपात्रादप्यहरहः कार्यः । एवं पञ्चमहायज्ञक्रिया अहरहरेवेति गम्यते ॥ १६ ॥

॥ इति नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

अथ पद्धतिः— ततः पञ्चमहायज्ञनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा वैश्वदेवार्थं पाकं विधाय समुद्धृत्याऽभिघार्य पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य मणिकोदकेनाग्निं पर्युक्ष्य हस्तेन द्वादशपर्वपूरकमोदनमादाय ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे, प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये, गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यः, कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय, अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये, इति देवयज्ञः। इति पञ्चाहुतीर्हुत्वा मणिकसमीपे प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा हुतशेषेणान्नेन बलित्रयं दद्यात् । तद्यथा—पर्जन्याय नमः इदं पर्जन्याय, अद्भ्यो नमः इदमद्भ्यः, पृथिव्यै नमः इदं पृथिव्यै, इति दद्यात् । ततो द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमः इदं धात्रे, विधात्रे नमः इदं विधात्रे इति द्वौ बली दत्त्वा प्रतिदिशं वायवे नमः इत्यनेनैव चतसृषु दिक्षु चतुरो बलीन् दद्यात् । इदं वायवे न मम इति त्यागः ।

(हरिहर०)

दिशां च प्राच्यै दिशे नमः, दक्षिणायै दिशे नमः, प्रतीच्यै दिशे नमः, उदीच्यै दिशे नमः, इदं प्राच्यै दिशे, इदं दक्षिणायै दिशे, इदं प्रतीच्यै दिशे, इदमुदीच्यै दिशे इत्यादि दिग्भ्यश्च बलीन् दद्यात् । दत्तानां बलीनामन्तराले–ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे, अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय, सूर्याय नमः इदं सूर्याय इति प्राक्संस्थं बलित्रयं दद्यात् । ततो ब्रह्मादीनां बलित्रयाणामुत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः, विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः इति द्वौ बली दद्यात् । तयोरुत्तरतः उषसे नमः इदमुषसे, भूतानां च पतये नमः इदं भूतानां च पतये, इति द्वौ बली दद्यात् । इति भूतयज्ञः । ततो ब्रह्मादीनां बलीनां दक्षिणप्रदेशे प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नमः इति मन्त्रेणैकं बलिं पात्रे अवशिष्टान्नेन दद्यात् । इति पितृयज्ञः । तत्पात्रं प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं ब्रह्मादिबलीनां वायव्यां दिशि निनयेत्––यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः इत्यनेन मन्त्रेण, इदं यक्ष्मणे । ततः काकादिबलीन् बहिर्दद्यात् । तद्यथा—

> ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा ।
> वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम् ॥

इदं वायसेभ्यः,

> द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
> ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥

इदं श्वभ्याम् ।

> देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
> प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥

इदं देवादिभ्यः,

> पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
> तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥

इदं पिपीलिकादिभ्यः । पादौ प्रक्षाल्याचम्य अतिथिप्राप्तौ पादप्रक्षालनपूर्वकं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्च्य अन्नं परिवेष्य 'हन्त तेऽन्नमिदं मनुष्याय' इति सङ्कल्प्य तमाशयेत् । तदभावे षोडशग्रासपरिमितं चतुर्ग्रासपरिमितं वा अन्नं पात्रे कृत्वा निवीती भूत्वोदङ्मुख उपविष्टो 'हन्त तेऽन्नमिदं मनुष्याय' इति सङ्कल्प्य कस्मैचिद्ब्राह्मणाय दद्यात् मनुष्ययज्ञसिद्धये । ततो नित्यश्राद्धं कुर्यात् । तद्यथा–स्वागतवचनेन षट् ब्राह्मणान्द्वौ वा एकं

(हरिहर०)

वाऽभ्यर्च्य पादौ प्रक्षाल्य आचम्य गृहं प्रवेश्य कुशान्तर्हितेष्वासनेषूदङ्मुखानुपवेशयेत्। ततः स्वयमाचम्य प्राङ्मुख उपविश्य पुण्डरीकाक्षं श्रीवासुदेवं संस्मृत्य सावित्रीं पठित्वा अद्येहेत्यादि देशकालौ स्मृत्वा प्राचीनावीती दक्षिणामुखः सव्यं जान्वाच्य अमुकसगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकाऽमुकशर्मणां तथा अमुकगोत्राणामस्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाममुकामुकशर्मणां नित्यश्राद्धमहं करिष्ये इति प्रतिज्ञाय नित्यश्राद्धं कुर्यात्। ततो यथार्हं भिक्षुकादिभ्योऽन्नं संविभज्य बालज्येष्ठाश्च गृह्या यथायोग्यमश्नीयुः। ततो जायापती अश्नीतः, पूर्वो वा गृहपतिः, पत्नी ततोऽतिथ्यादीनाशयित्वाऽश्नीयात् ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

अथ पदार्थक्रमः—तत्र प्रथमप्रयोगे वैश्वदेवं विनैव मातृपूजापूर्वकं सदैवमाभ्युदयिकं श्राद्धम्। कारिकायाम्—

अह्नोऽष्टधा विभक्तस्य चतुर्थे स्नानमाचरेत्।
पञ्चमे पञ्चयज्ञाः स्युर्भोजनं च तदुत्तरम् ॥
अह्नोऽष्टधा विभक्तस्य विभागे पञ्चमे स्मृतः।
कुतश्चित्कारणान्मुख्यकालाभावात्तदन्यथा ॥ इति।

तत्रावसथ्योल्मुकं महानसे कृत्वा तत्र वैश्वदेवार्थं पाकं विधाय महानसादङ्गारानाहृत्यावसथ्ये निधाय ततः पाकादन्नमुद्धृत्याभिघार्य अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुख उपविश्य मणिकोदकेनाग्निं पर्युक्ष्य दक्षिणं जान्वाच्य हस्तेन द्वादशपर्वपूरकमोदनमादाय जुहुयात्। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम। ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये न मम। ॐ गृह्याभ्यः स्वाहा, इदं गृह्याभ्यो न मम। ॐ कश्यपाय स्वाहा, इदं कश्यपाय न मम। ॐ अनुमतये स्वाहा, इदमनुमतये०। इति देवयज्ञः।

ततो मणिकसमीपे हुतशेषेणान्नेन बलित्रयमुदक्संस्थं दद्यात्। पर्जन्याय नमः, इदं पर्जन्याय न०। अद्भ्यो नमः, इदमद्भ्यो न० पृथिव्यै नमः, इदं पृथिव्यै न मम। ततो द्वार्ययोः शाखयोर्मध्ये प्राक्संस्थं बलिद्वयं दद्यात्। धात्रे नमः, इदं धात्रे न मम। विधात्रे नमः, इदं विधात्रे न०। ततो 'वायवे नमः' इत्यनेनैव मन्त्रेण पुरस्तादारभ्य प्रतिदिशं प्रदक्षिणं बलिचतुष्टयं दद्यात्। 'इदं वायवे न मम' इति सर्वत्र (त्यागः)। ततः प्रागादिचतसृषु दिक्षु दत्तानां वायुबलीनां पुरस्तादुदग्वा चतुरो बलीन् दद्यात्। प्राच्यै दिशेनमः, इदं प्राच्यै दिशे न मम। दक्षिणायै दिशे

(गदाधर०)

नमः, इदं दक्षिणायै दिशे न० । प्रतीच्यै दिशे नमः, इदं प्रतीच्यै दिशे न० । उदीच्यै दिशे नमः इदमुदीच्यै दिशे न० । ततो वायुबलीनामन्तराले प्राक्संस्थं बलित्रयं दद्यात् । ब्रह्मणे नमः, इदं ब्रह्मणे न० । अन्तरिक्षाय नमः, इदमन्तरिक्षाय न० । सूर्याय नमः, इदं सूर्याय न० । तत एतेषामुत्तरतो बलिद्वयं दद्यात् । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः, इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० । विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः, इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न० । तयोश्चोत्तरतो बलिद्वयं दद्यात् । उषसे नमः, इदमुषसे न मम । भूतानां पतये नमः, इदं भूतानां पतये० । इति भूतयज्ञः ।

अथ पितृयज्ञः । तत्र प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणामुखः सव्यंजान्वाच्य ब्रह्मादिबलित्रयस्य दक्षिणप्रदेशे पितृतीर्थेन 'पितृभ्यः स्वधा नमः' इति बलिं दद्यात् । इति पितृयज्ञः ।

ततस्तत्पात्रं प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं सव्येनैव ब्रह्मादिबलितो वायव्यां दिशि यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनमिति निनयेत्, इदं यक्ष्मणे न मम । ततः काकादिबलीन् बहिर्दद्यात् । तद्यथा—

सुरभिर्वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता ।
गोग्रासस्तु मया दत्तः सुरभे प्रतिगृह्यताम् ॥

इदं सुरभ्यै न मम ।

ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा ।
वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम् ॥

इदं वायसेभ्यो न मम ।

द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥

इदं श्वभ्यां न मम ।

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥

इदं देवादिभ्यो न मम ।

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥

इदं पिपीलिकादिभ्यो न मम । पादौ प्रक्षाल्याचामेत् ।

अथ ब्रह्मयज्ञः । तत्रासनोपरि न्यस्तप्रागग्रदर्भेषु प्राङ्मुख उपविष्टः पवित्रपाणिरन्यान्दर्भान्पाणिभ्यामादाय प्रणवव्याहृतिपूर्वां गायत्रीमाम्नाय स्वरेणाधीत्य 'इषेत्वा'

(गदाधर०)

इत्यादिवेदमारभ्य यथाशक्ति कण्डिकाऽध्यायशो वा संहितां पठित्वा ब्राह्मणं पठेत् । ब्राह्मणं च ब्राह्मणशो वा पठेत् । ॐ स्वस्तीत्यन्ते वदेत् । एवं संहितां समाप्य ब्राह्मणमादावारभ्य समापयेत् । तच्च समाप्य द्विवेदाध्यायी चेद् द्वितीयवेदम् । एवं क्रमेणादावारभ्य समापयेत् । एवमेव तृतीयवेदं चतुर्थवेदं च । एवमेवेतिहासपुराणादीन्यपि पठित्वा आदावारभ्य क्रमेण समापनीयानि । जपयज्ञप्रसिद्धये प्रत्यहं चाध्यात्मिकीं विद्यामुपनिषदमपि क्रमेण ब्रह्मयज्ञान्ते पृथक् पठेत । एवमेव गीतादिपाठः,

'जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥'

इति याज्ञवल्क्येन पृथग्विधानात् । अमावास्यादिष्वनध्यायेष्वपि ब्रह्मयज्ञो भवत्येव, 'अहरहः स्वाध्यायमधीते' इति श्रुतेः । कारिकायां विशेषः—

बद्धाञ्जलिर्दर्भपाणिः प्राङ्मुखस्तु कुशासनः ।
वामाङ्घ्रिमुत्तमं कृत्वा दक्षिणं तु तथा करम् ॥
दक्षिणे जानुनि करोत्यञ्जलिं तमृषेर्मतात् ।
प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तिस्र एव तु ॥
गायत्रीं चानुपूर्व्येण विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ।
ॐ स्वस्ति ब्रह्मयज्ञान्ते प्रोक्त्वा दर्भान् क्षिपेदुदक् ॥
वेदादिकमुपक्रम्य यावद्वेदसमापनम् ।
आध्यात्मिकाऽथवा विद्या ऋग्यजुः साम एव च ॥ इति ।

इति ब्रह्मयज्ञः ।

ततो वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य षोडशग्रासपरिमितमन्नमुदकपूर्वकं ब्राह्मणाय दद्यादिति । मन्त्रः 'इदमन्नं सनकादिमनुष्येभ्यो हन्त ते' इति ।

अत्र निरग्नेर्नित्यश्राद्धम् । तदुक्तम्—

कृतत्वात्पितृयज्ञस्य साग्नेः श्राद्धं न विद्यते ।
नित्यं पित्र्येण बलिना, निरग्नेस्तत्तु विद्यते ॥
बलेरभावात्पित्र्यस्य शिष्टात्काकबलिः स्मृतः ।
प्रदीपचण्डिकादौ तु स्मृतिः सम्यगुदाहृता ॥

तथा—

नित्यश्राद्धं निरग्नेः स्यात्साग्नेः पित्र्यो बलिः स्मृतः ।
कात्यायनीयवाक्येन विकल्पः प्रतिभाति हि ॥
श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्पित्र्यो बलिरथापि वा ।
साग्निकः पितृयज्ञान्तं बलिकर्म समाचरेत् ॥
अनग्निर्हुतशेषं तु काके दद्यादिति स्मृतिः ॥

(गदाधर०)

तच्चैवं, बहिर्बलेर्निवेशनान्ते सोदकमन्नं भूमौ चाण्डालवायसादिभ्यो निक्षिपेत् । मन्त्रास्तु प्रागुक्ताः । मनुः—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निक्षिपेद् भुवि ॥

पितृयज्ञोत्तरं ब्रह्मयज्ञकरणपक्षे तु काकादिबलिदानं ब्रह्मयज्ञोत्तरं द्रष्टव्यम् । अथ नित्यश्राद्धे विशेषः । हेमाद्रौ—

एकमप्याशयेद्विप्रं षण्णामप्यन्वहं गृही ।

अपीत्यनुकल्पः । प्रचेताः—

नामन्त्रणं न होमं च नाह्वानं न विसर्जनम् ।
न पिण्डदानं विकिरं न दद्यादत्र दक्षिणाम् ॥

अत्र 'निर्दिश्य भोजयित्वा किञ्चिद्दत्त्वा विसर्जयेत्' इति तेनैवोक्तेर्दक्षिणाविकल्पः । यत्तु काशीखण्डे—

नित्यश्राद्धं दैवहीनं नियमादिविवर्जितम् ।
दक्षिणारहितं चैव दातृभोक्तृव्रतोज्झितम् ॥ इति,

तद्विप्राभावपरम् । भविष्ये—

आवाहनं स्वधाकारं पिण्डाग्नौकरणादिकम् ।
ब्रह्मचर्यादिनियमा विश्वेदेवा न चैव हि ॥
दातृणामथ भोक्तृणां नियमो न च विद्यते ।

एतद्दिवाऽसम्भवे रात्रावपि कार्यम् । तथा बृहन्नारदीये—

दिवोदितानि कर्माणि प्रमादादकृतानि चेत् ।
यामिन्याः प्रहरं यावत्तावत्सर्वाणि कारयेत् ॥

॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

अथ वैश्वदेवनिर्णयः—

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते ।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षुकं तु विसर्जयेत् ॥
वैश्वदेवाकृतेः पापं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् ॥

साग्नेः सर्वत्र श्राद्धादौ वैश्वदेवः ।

पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च साग्निकः ।
पिण्डयज्ञं ततः कुर्यात्ततोऽन्वाहार्यकं बुधः ॥
पित्रर्थं निर्वपेत्पाकं वैश्वदेवार्थमेव च ।
वैश्वदेवं न पित्रर्थं न दार्शं वैश्वदेविकम् ॥

(गदाधर०)

इति लौगाक्षिस्मृतेः। अत्र "साग्निक आहिताग्निः" इति हेमाद्रिः। कात्यायनानां तु "सर्वार्थमेक एव पाको वैश्वदेवान्नात्" इति सूत्रणात्, अन्येषां तु पृथक्,

श्राद्धात्प्रागेव कुर्वीत वैश्वदेवं तु साग्निकः।
एकादशाहिकं मुक्त्वा तत्र चान्ते विधीयते ॥

इति हेमाद्रावुक्तेः। तत्रैव परिशिष्टे—

संप्राप्ते पार्वणश्राद्धे एकोद्दिष्टे तथैव च।
अग्रतो वैश्वदेवः स्यात्पश्चादेकादशेऽहनि ॥

स्मार्त्ताग्निमतां तद्रहितानां वाऽग्नौकरणोत्तरं विकिरोत्तरं व होममात्रं पृथक्पाकेन। भूतयज्ञादिषु श्राद्धान्त एव। अत्र मूलं हेमाद्रिचन्द्रिकादौ स्पष्टम्। सर्वेषां श्राद्धान्ते वा तत्पाकेन वैश्वदेवनित्यश्राद्धादीनीति तृतीयः।

श्राद्धं निर्वर्त्य विधिवद्वैश्वदेवादिकं ततः।
कुर्याद्भिक्षां ततो दद्याद्धन्तकारादिकं तथा ॥

इति पैठीनसिस्मृतेः। ततः श्राद्धशेषात्।

श्राद्धाद्धि श्राद्धशेषेण वैश्वदेवं समाचरेत् ॥

इति चतुर्विंशतिमताच्च। एवं वैश्वदेवस्य कालत्रयस्य आशार्के साङ्ख्यायनेन परिशिष्टमुदाहृत्यैव व्यवस्योक्ता।

आदौ वृद्धौ क्षये चान्ते दर्शे मध्ये महालये।
एकोद्दिष्टे निवृत्ते तु वैश्वदेवो विधीयते ॥

इति बहुस्मृत्युक्तत्वात्सर्वेषां श्राद्धान्ते एवेति मेधातिथिस्मृतिरत्नावल्यादयो बह्वः। बह्वृचां श्राद्धान्त एवेति बोपदेवः। मध्यपक्षस्त्वन्यशाखापर इति स एवाह। हेमाद्रिस्तु वृद्धावप्यन्त एव वैश्वदेवमाह। कातीयानां तु स्मार्तश्रौताग्निमतामादावेव। अन्येषामन्ते। तैत्तिरीयाणां तु साग्नीनां सर्वत्रादौ। 'पञ्चयज्ञांश्च अन्ते च' इति सुदर्शनभाष्ये। मार्कण्डेयः—

ततो नित्यक्रियां कुर्याद्भोजयेच्च ततोऽतिथीन्।
ततस्तदन्नं भुञ्जीत सह भृत्यादिभिर्नरः ॥

ततः श्राद्धशेषात्। नित्यक्रियां नित्यश्राद्धम्। तत्र पृथक्पाकेन नैत्यकमिति तेनैवोक्तेः पाकैक्ये विकल्पः। अथ पक्वाभावे स्मृत्यर्थसारे विशेषः—

पक्वाभावे प्रवासे वा तन्दुलानौषधीस्तु वा।
पयो दधि घृतं वाऽपि कन्दमूलफलादि वा ॥

(गदाधर०)

योजयेद्देवयज्ञादौ जलं वाऽप्सु जलं पतेत् ।
इदं स्रुवेण होतव्यं पाणिना कठिनं हविः ॥ इति ।

स्नातको ब्रह्मचारी वा पृथक्पाकेन वैश्वदेवं कुर्यात् । स्त्री बालश्च कारयेदिति स्मृत्यर्थसारे । तत्रैव—

होमाग्रदानरहितं भोक्तव्यं न कथञ्चन ।
अविभक्तेषु संसृष्टेष्वेकेनापि कृतं तु यत् ॥
देवयज्ञादि सर्वार्थं लौकिकाग्नौ कृतं यदि ।
इक्षूनपः फलं मूलं ताम्बूलं पय औषधम् ॥
भक्षयित्वाऽपि कर्तव्याः स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥ इति ।

अथ निरग्निकस्य विशेषः । तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—'अथातो धर्मजिज्ञासा केशान्तादूर्ध्वमपत्नीक उत्सन्नाग्निरनग्निको वा प्रवासी वा ब्रह्मचारी वाऽन्वग्निरिति ग्रामादग्निमाहृत्य पृष्ठोदिवीत्यधिष्ठाप्य त्रिभिश्च सावित्रैः प्रज्वाल्य ताँ सवितुस्तत्सवितुर्विश्वानि देवसवितरिति पूर्ववदक्षतैर्हुत्वा पाकं पचेत् । तत्र वैश्वदेवो ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतये विश्वेभ्यो देवेभ्योऽग्नये स्विष्टकृत इत्युपस्पृश्य पूर्ववद्बलिकर्मणैवं कृते न वृथा पाको भवति न वृथा पाकं पचेन्न वृथा पाकमश्नीयादत्र पिण्डपितृयज्ञः पक्षाद्याग्रयणानि कुर्यात्' इति ।

गर्गमते वैश्वदेवे विशेषः—पञ्चाहुतीनामुत्तरं स्विष्टकृद्धोमः । भूतयज्ञे पूर्वं भूतगृह्येभ्यो नम इति बलिं दत्त्वा पर्जन्यादिभ्यो दानम् । विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यो, भूतानां च पतय इति मन्त्रद्वये चकारपाठः ॥

॥ इति पञ्चमहायज्ञपदार्थक्रमः ॥

अथ दशमी कण्डिका

अथातोऽध्यायोपाकर्म ॥ १ ॥

ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याᳬ श्रावणस्य पञ्चमीं हस्तेन वा ॥ २ ॥

आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

पृथिव्याऽअग्नयः इत्यृग्वेदे ॥ ४ ॥ अन्तरिक्षाय वायव इति यजुर्वेदे ॥ ५ ॥ दिवे सूर्यायेति सामवेदे ॥ ६ ॥ दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे ॥ ७ ॥ ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति सर्वत्र ॥ ८ ॥ प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतयेऽनुमतय इति च ॥ ९ ॥ एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु ॥ १० ॥

(सरला)

"उपाकर्म"

प्राक्कथन—उपाकर्म नए वर्ष के लिए वेद और अन्य शास्त्र के अध्ययन अध्यापन का आरम्भ कर्म है। इसे 'श्रावणी कर्म' भी कहते हैं। इसको गुरु, शिष्य, स्नातक और ब्रह्मचारी सभी मिलकर करते हैं। यह कार्य आचार्य की गृह्याग्नि में होता है। भाष्यकार गदाधर ने हेमाद्रि के प्रमाण से यह कहा है कि इसी समय दोपहर में रक्षा-बन्धन करें।

हिन्दी—वैश्वदेव विधि के वर्णन के बाद अब इस [कण्डिका] से अध्ययन की उपाकर्म [विधि को कहते हैं] ॥ १ ॥ औषधियों के [वनस्पतियों के] उग जाने पर श्रवण नक्षत्र से युक्त श्रावण मास की पूर्णमासी में अथवा हस्त नक्षत्र से युक्त श्रावण मास की पञ्चमी तिथि को [उपाकर्म करना चाहिए] ॥ २ ॥ आघार और आज्यभाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके घी की आहुतियों को [निम्न प्रकार से] देता है ॥ ३ ॥ ऋग्वेद के अध्ययन में पृथ्वी के लिए और अग्नि के लिए ॥ ४ ॥ यजुर्वेद के अध्ययन में अन्तरिक्ष और वायु के लिए ॥ ५ ॥ सामवेद के अध्ययन में द्यौ और सूर्य के लिए ॥ ६ ॥ अथर्ववेद के अध्ययन में दिशाओं के लिए और चन्द्रमा के लिए [यह आहुति देनी चाहिए] ॥ ७ ॥ सभी वेद के अध्ययन में ब्रह्मा के लिए और छन्दों के लिए [आहुती प्रदान करनी चाहिए] ॥ ८ ॥ [सब वेदों के अध्ययन में] प्रजापति के लिए; देवों के लिए,

(सरला)

ऋषियों के लिए, श्रद्धा के लिए, मेधा के लिए, सदस्पति के लिए और अनुमति के लिए भी आहुतियाँ[1] प्रदान करनी चाहिए ॥ ९ ॥ ये ही आहुतियाँ वेदारम्भ[2] और समावर्तन में भी दी जायेंगी ॥ १० ॥

(हरिहर०)

अथातोऽध्यायोपाकर्म । अथ पञ्चमहायज्ञकथनानन्तरम् अध्यायस्य अध्ययनस्य उपाकर्म उपाकरणम्, व्याख्यास्यते इति शेषः । तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्यैव भवति, 'छन्दांस्युपाकृत्याधीयीत' इति वचनात् । उपाकरणस्य चावसथ्याग्निसाध्यत्वात् निरग्नेर्नाधिकारः । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः–

न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम् ।
स्वगर्भसंस्कृतार्थश्च यावन्नासौ प्रजायते ॥ इति ॥

स्वेन आत्मना आहितः आधानसंस्कृतोऽग्निः स्वः तस्मिन्स्वेऽग्नौ अन्यस्य सम्बन्धी संस्कारको होमः अन्यहोमः स न स्यात् न भवेत् । किं पर्युदस्य ? एकां समिदाहुतिं तां मुक्त्वा वर्जयित्वा । सा च समिदाहुतिः उपाकर्मणि आचार्यस्याग्नौ शिष्यकर्त्तृका भवति । तेनावसथ्याग्नावुपाकर्म भवतीति गम्यते । अतः अध्यापयतोऽपि निरग्नेः साग्नेरपि अनध्यापयतो नाधिकारः । यत्तु लोके ब्रह्मचारिणं पुरस्कृत्य उपाकर्म प्रवर्त्तते लौकिकाग्नौ, तस्याचारं विहाय मूलं न दृश्यते ॥ १ ॥

ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याम् । ओषधीनाम् अपामार्गादीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सत्यां श्रवणेन युक्तायां श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रावणस्य शुक्लपञ्चदश्याम् । अत्र ओषधीप्रादुर्भावः श्रवणश्च पौर्णमास्या

---

१. द्रष्टव्यः—आश्व० ३. ५. २ (८ से ९) में । विशेषः—प्रत्येक वेद की अलग-अलग आहुतियाँ कही गई हैं । ८ और ९ सूत्र में जो आहुति कही हैं वे सभी में बराबर होती हैं । यदि चारों वेदों का एक साथ आरम्भ करना हो तो चारों वेदों की अलग-अलग आहुतियों के साथ ८वें सूत्र की आहुति देनी चाहिए और सब से अन्त में ९वें सूत्र से एक आहुति देनी चाहिए । इसीलिए दो सूत्र का अलग-अलग विधान है ।

२. उपनयन के बाद वेदारम्भ में कोई होम नहीं कहा है । अतः यहाँ उसका विधान करते हैं ।

(हरिहर०)

एव विशेषणं तत्र तयोः प्रायशः सम्भवात् । एवं च सति पौर्णमास्या एव प्राधान्यम् । तस्माद् विशेषणाभावेऽपि पौर्णमास्यां भवति । श्रावणस्य पञ्चमीं७ हस्तेन वा । ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः । श्रावणमासस्य पञ्चमीं हस्तेन युक्तां वा प्राप्य भवति । तत्रापि प्रायेण हस्तो भवति । अतः श्रावणीपूर्णिमा श्रावणपञ्चमी वा विशिष्टा अविशिष्टा वा उपाकर्मणः कालः । अन्ये तु कालचतुष्टयमाहुः—'अथ श्रवणेन वा श्रावण्यां पौर्णमास्यां वा श्रावणस्य पञ्चमीं वा हस्तेन वा' इति । ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः । ओषधिप्रादुर्भावे सति श्रवणेन इत्यादि ॥ २ ॥

आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति—पृथिव्या अग्नय इत्यृग्वेदे, अन्तरिक्षाय वायव इति यजुर्वेदे, दिवे सूर्यायेति सामवेदे, दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे, ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति सर्वत्र, प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतयेऽनुमतये इति च । आज्यभागाविष्ट्वा आज्यभागहोमानन्तरम् आज्याहुतीर्जुहोति । तत्र ऋग्वेदे अधीयमाने पृथिव्यै, अग्नये, इति द्वे आहुतीर्जुहोति । यजुर्वेदे अधीयमाने अन्तरिक्षाय, वायवे इति द्वे । सामवेदे अधीयमाने दिवे, सूर्याय इति द्वे । अथर्ववेदे अधीयमाने दिग्भ्यः, चन्द्रमसे, इति द्वे । ब्रह्मणे तेषु एकतमे वा तथा प्रजापतये इत्यादिकाश्च सप्त । चशब्दात् सर्वत्र । एवमेकैकशो वेदाध्यापनोपाकरणपक्षे । यदा पुनश्चतुर्णामपि वेदानां तन्त्रेणोपाकरणकर्म, तदा ब्रह्मणे, छन्दोभ्यश्च इति प्रतिवेदाहुतिद्वयमावर्त्तयेत् । प्रजापतये, देवेभ्य इत्याद्यास्तन्त्रेणैव, योगविभागसामर्थ्यात् ॥ ३–९ ॥

एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु । एतत् उपाकर्मणि विहितं पृथिव्यै इत्यादि अनुमतये इत्यन्तं होमकर्म व्रतादेशनं वेदारम्भः, विसर्गः समावर्त्तनम्, व्रतादेशनानि च विसर्गश्च व्रतादेशनविसर्गास्तेषु भवति ॥ १० ॥

(गदाधर०)

'अथा···कर्म' । व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः । अधीयत इत्यध्यायो वेदः तस्योपाकर्म उपाकरणमुपक्रमः । एवं हि मन्वादयः स्मरन्ति—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ इति ।

अर्धेन सह पञ्चमान् । एवं सत्यध्ययनप्रवृत्तस्यैतद्भवति । अत एवाग्निमतोऽध्यापनं भवति । न ह्यनग्निमान् शक्नोत्यग्निसाध्यं कर्म कर्तुमिति । निरग्नेरप्येतदुपाकर्म लौकिकाग्नौ भवतीति गर्गः । न चैतत्कर्कादिसंमतम् । अध्यायोपाकर्मेति वक्ष्य-

(गदाधर०)

माणस्य विधिपूर्वकस्य स्वाध्यायप्रारम्भकर्मणो नामधेयम् । पौषस्य रोहिण्यां मध्यमाष्टकायां वा पाक्षिकोत्सृष्टस्यार्धषष्ठानर्धसप्तमान्वा मासान् शुक्लपक्षे वेदाः कृष्णपक्षेऽङ्गानि इत्येवमधीत्य ततः सर्वथोत्सृष्टस्य पुनरुपाकरणं स्वीकरणमिति जयरामो हरिहरश्च । अपरे तु श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्यार्धषण्मासानधीत्योत्सर्गं वदन्ति । ततश्च तेषां मते उपाकृतानां वेदानामुत्सर्गः । मिताक्षरादिधर्मशास्त्रनिबन्धेष्वप्येवम् । हरिहरजयरामभाष्ययोरुत्सृष्टस्योपाकरणम् ॥ १ ॥

'ओष'''स्याम्' । एतदुपाकर्म अपामार्गाद्योषधीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सति श्रवणेन युक्तायां पौर्णमास्यां श्रावणशुक्लपञ्चदश्यां कुर्यात् । श्रावण्यां हि पौर्णमास्यां श्रवण एव प्रायशो भवति, ओषधिप्रादुर्भावश्च । तदेतदुभयं तस्या एव विशेषणम् । अत्र पौर्णमास्या एव प्राधान्यात् विशेषणाभावेऽपि तत्पौर्णमास्यां भवति इति हरिहररेणुकौ । अपरे तु श्रवणयुक्तपौर्णमास्यभावे हस्तयुक्तपञ्चम्यां कार्यमित्याहुः । यदि ग्रहणं संक्रान्तिर्वा पर्वणि भवति, तदा पञ्चम्यामुपाकरणम् । तदुक्तं **स्मृतिमहार्णवे**—

संक्रान्तिर्ग्रहणं वाऽपि यदि पर्वणि जायते ।
तन्मासे हस्तयुक्तायां पञ्चम्यां वा तदिष्यते ॥

तथा च—

संक्रान्तिर्ग्रहणं वाऽपि पौर्णमास्यां यदा भवेत् ।
उपाकृतिस्तु पञ्चम्यां कार्या वाजसनेयिभिः ॥

मदनरत्नेऽपि—

यदि स्याच्छ्रावणं पर्व ग्रहसङ्क्रान्तिदूषितम् ।
स्यादुपाकरणं शुक्लपञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥

तत्रापि प्रयोगपारिजाते वृद्धमनुकात्यायनौ—

अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्संक्रान्तिर्ग्रहणं तदा ।
उपाकर्म न कुर्वीत परतश्चेन्न दोषकृत् ॥ इति ।

अत्र प्रयोगपारिजाते—

वेदोपाकरणे प्राप्ते कुलीरे संस्थिते रवौ ।
उपाकर्म न कर्तव्यं सिंहयुक्ते तदिष्यते ॥

इति वचनं देशान्तरविषयम् ।

नर्मदोत्तरभागे तु कर्तव्यं सिंहयुक्तके ।
कर्कटे संस्थिते भानावुपाकुर्यात्तु दक्षिणे ॥

(गदाधर०)

इति वृहस्पतिवचनात् । पराशरमाधवीयेऽप्येवम् । सामगानां सिंहस्थे रवावुक्तेस्तद्विषये इदं पुरोडाशचतुर्धाकरणवदुपसंह्रियत इति त्वन्ये । एतच्च शुक्रास्तादावपि कार्यम्,

उपाकर्मोत्सर्जनं च पवित्रदमनार्पणम् ।

इत्युक्तेः । पर्वणि ग्रहणे सति पूर्वं त्रिरात्रादिवेधाभाव उक्तः प्रयोगपारिजाते—

नित्ये नैमित्तिके जाप्ये होमयज्ञक्रियासु च ।
उपाकर्मणि चोत्सर्गे ग्रहवेधो न विद्यते ॥ इति ।

प्रथमारम्भस्तु न भवति । तत्रैव कश्यपः—

गुरुभार्गवयोर्मौढ्ये बाल्ये वा वार्धकेऽपि वा ।
तथाऽधिमाससङ्क्रान्तौ मलमासादिषु द्विजः ॥
प्रथमोपाकृतिर्न स्यात्कृतं कर्म विनाशकृत् ॥ इति ।

एतच्च पूर्वाह्णे कार्यम् । तथा च प्रचेतो वचः—

भवेदुपाकृतिः पौर्णमास्यां पूर्वाह्ण एव तु । इति ।

दीपिकाऽपि—'अस्य तु विधेः पूर्वाह्णकालः स्मृतः' इति । यत्तु—

अध्यायानामुपाकर्म कुर्यात्कालेऽपराह्णके ।
पूर्वाह्णे तु विसर्गः स्यादिति वेदविदो विदुः ॥

इति गोभिलवचः, तत् सामगविषयम्, तेषामपराह्णस्योक्तत्वात् । तेन वाजसनेयिभिः पूर्वाह्णव्यापिनी तिथिर्ग्राह्या । दिनद्वये पूर्वाह्णव्याप्तौ एकदेशस्पर्शे वा तैत्तिरीयव्यतिरिक्तानां पूर्वैवेति हेमाद्रिः मदनपारिजातेऽपि—पूर्वविद्धायां श्रावण्यां वाजसनेयिनामुपाकर्मेत्युक्तम् । मदनरत्ने तु,

पर्वण्यौदयिके कुर्युः श्रावणं तैत्तिरीयकाः ।

इति बह्वृचपरिशिष्टे तैत्तिरीयकपदम् अनुवादत्वात्तस्य च प्राप्त्यधीनत्वात् प्राप्तेश्च यजुर्वेदिमात्रपरत्वात्सर्वयजुर्वेद्युपलक्षणार्थमित्युक्तम् । तथैवानन्तभट्टीयेऽपि ।
कारिकायां तु—

पूर्णिमा प्रतिपद्युक्ता तत्रोपाकर्मणः क्रिया ।
उक्तोऽर्थोऽयं प्रसङ्गेन भविष्योत्तरसंज्ञके ॥

वस्तुतस्तु हेमाद्रिमतमेव युक्तम् । पराशरमाधवीये—

श्रावणी पौर्णमासी तु सङ्गमात्परतो यदि ।
तदैवौदयिकी ग्राह्या नान्यदौदयिकी भवेत् ॥

(गदाधर०)

कालादर्शेऽपि—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा प्रतिपत्षण्मुहूर्तकैः ।
विद्धा स्याच्छन्दसां तत्रोपाकर्मोत्सर्जनं भवेत् ॥

प्रयोगपारिजाते—

उपाकर्मोत्सर्जनं च वनस्थानामपीष्यते ।
धारणाध्ययनाङ्गत्वात् गृहिणां ब्रह्मचारिणाम् ॥
उत्सर्जनं च वेदानामुपाकर्म तथैव च ।
अकृत्वा वेदजप्येन फलं नाप्नोति मानवः ॥

'श्राव…न वा' । श्रावणस्य शुक्लपञ्चमीं हस्तेन युक्तां प्राप्य वा भवति । तत्रापि प्रायशो हस्त एव भवति । अतः कालद्वयस्योपाकरणकर्मणो विकल्पोऽयम् । भर्तृयज्ञास्तु कालचतुष्टयं वर्णयन्ति, वासुदेवदीक्षिता अपि ॥ २ ॥

'आज्य…य इति च' । आज्यभागानन्तरमाज्याहुतीर्जुहोति । ऋग्वेदे अधीयमाने पृथिव्यै स्वाहा, अग्नये स्वाहेति द्वे आहुती जुहोति । अन्तरिक्षाय वायवे इति द्वे यजुर्वेदे अधी० । दिवे सूर्यायेति द्वे सामवेदे अधी० । दिग्भ्यः, चन्द्रमसे इति द्वे अथर्ववेदे अधी० । सर्वेषु वेदेष्वधीयमानेषु—ब्रह्मणे, छन्दोभ्यश्चेति द्वे आहुती सर्वत्र प्रतिवेदमावर्तयेत् । च शब्दात्प्रजापतये इत्यादिकाश्च सप्त सर्वत्र । पृथक् योगकरणं चतुर्णामपि वेदानां तन्त्रेणोपाकरणे ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेत्याहुतिद्वयं प्रतिवेदमावर्तनीयम् । प्रजापतये इत्येवमाद्यास्तन्त्रेणैव, योगविभागसामर्थ्यात् ॥ ३–९ ॥

'एत…सर्गेषु । एतदेव आज्याहुतिनवकमेव कर्म व्रतादेशेषु वेदारम्भव्रतेषु विसर्गे समावर्तने च । व्रतादेशनानि च विसर्गश्च व्रतादेशनविसर्गास्तेषु भवति ॥ १० ॥

सदसस्पतिमित्यक्षतधानास्त्रिः ॥ ११ ॥ सर्वेऽनुपठेयुः ॥ १२ ॥ हुत्वा हुत्वौदुम्बर्यस्तिस्रस्तिस्रः समिध आदध्युरार्द्राः सपलाशा घृताक्ताः सावित्र्या ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणश्च पूर्वकल्पेन ॥ १४ ॥

(सरला)

"सदसस्पतिम्"[1] इस मन्त्र से भुने हुए यवों की तीन आहुतियाँ देनी चाहिए ॥ ११ ॥ सभी शिष्यों को [आचार्य के अनुकरण में स्वर के सहित सदसस्पति] मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥ १२ ॥ इस प्रकार धान की प्रत्येक आहुति के बाद गूलर

---

१. यजु० ३२।१३ ।

(सरला)

की हरी गीली पत्तों सहित घी में डूबी हुई तीन-तीन समिधाओं को गायत्री मन्त्र से अग्नि में प्रदान करनी चाहिए ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारी गण को भी पूर्वोक्त समिदाधान[1] के ही मन्त्र से [आहुति देनी चाहिए ॥ १४ ॥

(हरिहर०)

सदसस्पतिमित्यक्षतधानास्त्रिः सर्वेऽनुपठेयुर्हुत्वा हुत्वौदुम्बर्यस्तिस्रस्तिस्रः समिध आदध्युरार्द्राः सपलाशा घृताक्ताः सावित्र्या । 'सदसस्पतिम्' इत्यनेन मन्त्रेण अक्षताश्च धानाश्च ता अक्षतधानाः ता आचार्यो जुहोति त्रिस्त्रिवारम् । सर्वे च शिष्या एतं मन्त्रम् अनु सह पठेयुः । तथा हुत्वा हुत्वा एकैकामाहुतिं हुत्वा औदुम्बर्यः उदुम्बरवृक्षोद्भवास्तिस्रस्तिस्र आर्द्राः सरसाः सपलाशाः पत्रसहिताः घृताक्ताः आज्यलिप्ताः समिधः सर्वे आचार्यप्रमुखाः शिष्याः आदध्युः अग्नौ सावित्र्या प्रसिद्धया प्रक्षिपेयुः भेदेन, न तु युगपत् ॥ ११–१३ ॥

ब्रह्मचारिणश्च पूर्वकल्पेन । तत्र ये ब्रह्मचारिणः शिष्याः ते पूर्वकल्पेन समिदाधानोक्तमन्त्रेण आदध्युः । अत्र तिस्रस्तिस्र इति वीप्सा न समिद्विषया किन्तु आधातृपुरुषविषया, तेन प्रत्याहुति एकैकामादध्युः ॥ १४ ॥

(गदाधर०)

'सद'''विच्या' । धानानां च श्रपणानुपदेशात्सिद्धानामेवोपादानम् । अक्षताश्च ता धानाश्च अक्षतधानास्ताः 'सदसस्पतिम्' इति मन्त्रेण आचार्यस्त्रिर्जुहोति । सर्वे शिष्या अनु सहैवानुवर्तमानाः 'सदसस्पतिम्' इति मन्त्रं त्रिः पठेयुः । किं कृत्वा ? हुत्वा हुत्वा एकैकामक्षतधानाहुतिम् उदुम्बरवृक्षोद्भवास्तिस्रस्तिस्र आर्द्राः पत्रसहिताः घृतलिप्ताः समिध आचार्यसहिताः शिष्याः सावित्र्या 'तत्सवितुः' इति मन्त्रेणादध्युरग्नौ प्रक्षिपेयुः । न यौगपद्येन । औदुम्बरीस्तिस्र इति पाठ इति हरिहरजयरामौ । औदुम्बर्य इति तु कर्कभर्तृयज्ञाः । तिस्रस्तिस्र इति वीप्सा आधातृपुरुषविषया न समिद्विषयेति हरिहरः । अतश्च प्रत्याहुति एकैकामेवादध्युः ॥ ११–१३ ॥

'ब्रह्म'''ल्पेन' । तत्र ये ब्रह्मचारिणः शिष्यास्ते पूर्वकल्पेन प्रागुपदिष्टाग्निपरिचरणसमिदाधानमन्त्रेणादध्युः ॥ १४ ॥

शन्नो भवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः प्राश्नीयुः ॥ १५ ॥ दधिक्राव्ण इति दधि भक्षयेयुः ॥ १६ ॥ स यावन्तं गणमिच्छेत्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात् सावित्र्या शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन

---

१. कण्डिका चार में कही विधि से समिधा की आहुति दें ।

वा ॥ १७ ॥ प्राशनान्ते प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमध्यायादीन्प्रब्रूयात् ॥१८॥ ऋषिमुखानि बह्वृचानाम् ॥१९॥ पर्वाणि छन्दोगानाम् ॥ २० ॥ सूक्तान्यथर्वणानाम् ॥ २१ ॥ सर्वे जपन्ति—सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म[1] । इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामह इति ॥ २२ ॥ त्रिरात्रं नाधीयीरन् ॥ २३ ॥ लोमनखानामनिकृन्तनम् ॥ २४ ॥ एके प्रागुत्सर्गात् ॥ २५ ॥ १० ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

(सरला)

"शन्नो भवन्तु......[2]" इस मन्त्र से भुने हुए यवों को बिना कूचे ही [चबाकर] खाना चाहिए ॥ १५ ॥ "दधिक्राव्णः[3]" इस मन्त्र से दही भोजन करना चाहिए ॥ १६ ॥ आचार्य जितना चाहे उतना वह शिष्य तिलों को आकर्षफलक[4] में लेकर सावित्री से अथवा "शुक्रज्योतिः[5]" इस यजुर्वेद के अनुवाक से आहुति दे ॥ १७ ॥ संस्रव प्राशन के बाद पूर्वाभिमुख बैठे हुए ॐ कार का उच्चारण करके और तीन बार सावित्री मन्त्र का उच्चारण करके यथाशक्ति प्रथम द्वितीयादि अध्यायों को पढ़ना चाहिए[6] ॥ १८ ॥ ऋग्वेद आदि के विद्यार्थियों के लिए नए ऋषि के आदि [प्रतीक] ॥ १९ ॥ [और] सामवेद के विद्यार्थी को दसति या प्रपाठक ॥ २० ॥ अथर्वण वेद के विद्यार्थियों को सूक्तों के मन्त्रों को [स्वर सहित पढ़ना चाहिए] ॥ २१ ॥ आचार्य और सभी शिष्यों को "सह नोऽस्तु ......विद्विषामहै" "यह ब्रह्म [वेद] हम लोगों को साथ-साथ प्राप्त हो, वह हम सब की साथ-साथ रक्षा करे । इन्द्र उस ज्ञान को जानता है, जिससे हम आपस

१. 'ब्रह्मा' क० ।

२. यजु० ३६।१२ ।

३. यजु० २३।३२ ।

४. आकर्षफलक—बहेड़े और पासे को "आकर्ष" कहते हैं । इस प्रकार के काष्ठ का—'काले सर्प के आकार का' एक पात्र होता है उसके फन के ऊपर तिल रखकर होम किया जाता हे उसी को 'आकर्षफलक' कहते हैं ।

५. यजु० १७।८० इत्यादि ।

६. अगले १९वें सूत्र से यह स्पष्ट है कि यह नियम केवल यजुर्वेद के लिए है ।

(सरला)

में द्वेष न करे।" इस मन्त्र को जपना चाहिए ॥ २२ ॥ [उपाकर्म के बाद] तीन दिन तक नहीं पढ़ना चाहिए ॥ २३ ॥ और न तो बाल व नाखूनों को ही कटवाना चाहिए ॥ २४ ॥ किसी आचार्य के अनुसार उत्सर्ग[1] से पहले [तक नाखून व बालों को नहीं कटवाना चाहिए अर्थात् कुछ लोग तीन रात तक ही इस नियम को मानते हैं] ॥ २५ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में दसवीं कण्डिका की
डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥

(हरिहर०)

शन्नो भवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः प्राश्नीयुः। 'शन्नो भवन्तु वाजिनः' इत्यनयर्चा अक्षतधाना अखादन्तः दन्तैरनवखण्डयन्तः प्राश्नीयुः ॥ १५ ॥

दधिक्राव्ण इति दधि भक्षयेयुः। "दधिक्राव्णो अकारिषम्" इत्यृचा दधि भक्षयेयुः ॥ १६ ॥

स यावन्तं गणमिच्छेत्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात् सावित्र्या शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा। स आचार्यो यावन्तं यावत्संख्याकं शिष्याणां गणं समूहमिच्छेत्, तावत्संख्याकान् तिलान् आकर्षफलकेन औदुम्बर्येण बाहुमात्रेण सर्पाकृतिना सावित्र्या सवितृदेवतया गायत्रच्छन्दस्कया प्रसिद्धया जुहुयात्। यद्वा "शुक्रज्योतिः" इत्यनुवाकेन जुहुयात्। गुणफलमेतत्। अतो धानाभ्यः स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादि नवाहुतीर्हुत्वा ॥ १७ ॥

प्राशनान्ते प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमध्यायादीन् प्रब्रूयादृषिमुखानि बह्वृचानाम्, पर्वाणि छन्दोगानाᳬ सूक्तान्यथर्वणानाम्। संस्रवप्राशनानन्तरं प्रत्यङ्मुखेभ्य आसीनेभ्यः शिष्येभ्यः सामर्थ्यात् स्वयं प्राङ्मुख उपविष्ट ॐकारं प्रणवमुक्त्वा उच्चार्य 'तत्सवितुः' इत्यादिकां च सावित्रीं त्रिरुक्त्वा मन्त्रब्राह्मणयोः अध्यायानामादीन्प्रब्रूयादध्यापयेत् इति यजुर्वेदोपाकरणे। ऋग्वेदोपाकरणे तु—बह्वृचानां शिष्याणां ऋषिमुखानि मण्डलादीन्ब्रूयात्। छन्दोगानां सामगानां शिष्याणां सामोपाकरणे पर्वाणि पर्वणामादीन्प्रब्रूयात्। अथर्वणानां शिष्याणाम् अथर्ववेदोपाकरणे सूक्तानि सूक्तादीन्प्रब्रूयात् ॥ १८–२१ ॥

सर्वे जपन्ति सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म। इन्द्रस्तद्वेद

---

१. उत्सर्ग कर्म आगे बारहवीं कण्डिका में कहेंगे।

(हरिहर०)

येन यथा न विद्विषामह इति। सर्वे आचार्यशिष्याश्च सह नोऽस्त्वित्यमुं मन्त्रं जपन्ति ॥ २२ ॥

त्रिरात्रं नाधीयीरन् लोमनखानामनिकृन्तनमेके प्रागुत्सर्गात्। उपाकर्मानन्तरं त्रिरात्रं नाधीयीरन् अध्ययनं न कुर्युः, त्रिरात्रमेव लोम्नां नखानां च अनिकृन्तनम् अच्छेदनम् एके आचार्याः। लोमनखानामनिकृन्तनं प्रागुत्सर्गात् उत्सर्गकर्मतः अर्वाक् इच्छन्ति। उत्सर्गश्च अर्द्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुरित्येवं वक्ष्यमाणः ॥ २३–२५ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥

(गदाधर०)

'शंनो···श्नीयुः'। 'शं नो भवन्तु वाजिनः' इति मन्त्रेण अक्षतधाना यवानां धाना अनवखण्डयन्तः दन्तैरचर्वयन्तः प्राश्नीयुः सर्वे आचार्यसहिताः, बहुवचनोपदेशात् ॥ १५ ॥

'दधि···येयुः'। सर्वे ॥ १६ ॥

'स या···केन वा'। स आचार्यो यावन्तं यावत्संख्याकं शिष्याणां गणं समूहमिच्छेत्तावतस्तावत्संख्याकान् तिलान् आकर्षफलकेन औदुम्बरेण बाहुप्रमाणेन सर्पाकृतिना 'तत्सवितुः' इत्यनया जुहुयात्, "शुक्रज्योतिः" इत्यनुवाकेन वा जुहुयात्। ततो धानाभिः स्विष्टकृत्। कृष् विलेखने धातुस्तस्यैतद्रूपम्। आ समन्तात्कृष्टं फलं यस्य तत्। अथवा आकर्षयतीत्याकर्षः फलमेव फलकं तेन जुहुयात्। तच्च "वैकङ्कतम्" इति कारिकायाम् ॥ १७ ॥

'प्राश···णानाम्'। संस्रवभक्षणान्ते स्वयं प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुखोपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यो यजुर्वेदोपाकरणे ॐकारमुक्त्वा उच्चार्य "तत्सवितुः" इति सावित्रीं त्रिरुक्त्वा मन्त्रब्राह्मणयोरध्यायादीन् प्रब्रूयात् अध्यापयेत्। बह्वृचानां शिष्याणां ऋग्वेदोपाकरणे ऋषिमुखानि मण्डलादीनि प्रब्रूयात्। छन्दोगानां शिष्याणां सामवेदोपाकरणे पर्वाणि पर्वणामादीन्प्रब्रूयात्। अथर्वणानां शिष्याणामथर्ववेदोपाकरणे सूक्तानि सूक्तादीन् ॥ १८–२१ ॥

'सर्वे···मह इति'। आचार्यसहिताः सर्वे शिष्याः 'सह नोऽस्तु' इति मन्त्रं जपन्ति। मन्त्रार्थः—इदं साङ्गोऽयं वेदः अध्ययनार्थं सहभावं प्राप्तानां समवेतानां नोऽस्माकम् अस्मद् हृदये अस्तु स्थिरं भवतु। ततश्च सह मिलितान्नोऽस्मानवतु पायात् रक्षतु। तथाऽत्र मिलितानां नोऽस्माकम् अनध्यायादावध्ययने शूद्रादिश्रवणा-

(गदाधर०)

दिना उपहतमपि इदं ब्रह्म वीर्यवत् अयातयाममस्तु। इन्द्रः प्रजापतिः तत् यथावत् वेद वेदयतु। येन वेदनेन परस्परं न विद्विषामहे न द्विष्मः ॥ २२ ॥

'त्रिरा'''न्तनम्। उपाकर्मोत्तरं त्रिरात्रं नाधीयीरन् सर्वे अध्ययनं न कुर्युः। लोम्नां नखानां च छेदनं त्रिरात्रं न कुर्युः ॥ २३–२४ ॥

'एके'''र्गात्'। एके आचार्याः प्रागुत्सर्गाल्लोमनखानामनिकृन्तनमिच्छन्ति। उत्सर्गश्चार्धषण्मासानधीत्योत्सृजेयुरिति वक्ष्यते ॥ २५ ॥

॥ इति दशमी कण्डिका ॥ १० ॥ * ॥

(हरिहर०)

अथ पद्धतिः—श्रावण्यां पूर्णमास्यां श्रावणयुक्तायां श्रवणरहितायां वा श्रावणस्य शुक्लपञ्चम्यां हस्तयुक्तायामयुक्तायां वा उपाकर्म अध्यायोपाकर्म भवति। तच्च अध्यापनं कुर्वत् एव औपासनिकस्य न त्वन्यस्य। तत्र प्रथम-प्रयोगे विहितमातृपूजापूर्वकं श्राद्धम्। आचार्यः आवसथ्याग्नौ प्रवेशनाद्या-ज्यभागान्ते विशेषमनुतिष्ठेत्। तण्डुलस्थाने अक्षतधाना आसादयेत्, प्रोक्षणकाले प्रोक्षेच्च। तथोपकल्पयति—औदुम्बरीः समिधः दधि आकर्ष-फलकं तिलान् भक्षार्थं धानाः। तत आज्यभागान्ते वेदाहुत्यादीनामनुमत्य-न्तानां वेदारम्भवद्धोमं विदध्यात्। एकदा सर्ववेदोपाकरणे प्रतिवेद-माज्याहुतिद्वयं हुत्वा हुत्वा ब्रह्मणे, छन्दोभ्य, इत्याहुतिद्वयं पुनः पुनर्जुहु-यात्। प्राजापत्याद्या अनुमत्यन्ताः सप्ताहुतीस्तन्त्रेण। अथ सदसस्पतिमि-त्यनयर्च्चा स्रुवेण आसादिताभिरक्षतधानाभिरेकामाहुतिमाचार्यो जुहोति। इदं सदसस्पतये०। शिष्या अपि मन्त्रं गुरुमनुमन्त्रमुपांशु पठन्ति। तत आचार्यः शिष्याश्च सर्वे औदुम्बरीमार्द्रां सपलाशां घृताक्तां एकैकां समिधं 'तत्सवितुः' इत्यादिकया सावित्र्या अग्नावादध्युः ब्रह्मचारिणश्च शिष्याः अग्निकार्यमन्त्रेण तथैव समिधमादध्युः। एवं द्विरपरं धानाहोमं विधाय एकैकां समिधमादध्युः। तत आचार्यः शिष्याश्च उपकल्पितधानाभ्यस्तिस्रो-ऽक्षतधाना अनवखण्डयन्तो भक्षयेयुः "शन्नो भवन्तु वाजिनः" इत्यन-यर्च्चा। तत आचम्य ततो "दधिक्राव्णो अकारिषम्" इत्यनयर्च्चा दधि भक्षयेयुः। तत आचमनानन्तरमाचार्यो यावन्तं शिष्यगणं कामयेत्, तावतस्तिलानाकर्षफलकेनादाय सावित्र्या जुहुयात्, इदं सवित्रे०। "शुक्र-ज्योतिः" इत्यनेनानुवाकेन वा तिलान् जुहुयात्, तत्रेदं मरुद्भ्य इति त्यागः।

(हरिहर०)

ततो हुतशेषधानाभ्यः स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानं यथोक्तं कुर्यात् । ततः प्रत्यङ्मुखोपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यः प्राङ्मुख आचार्यं उपविष्ट ॐकारमुक्त्वा त्रिवारं च सावित्रीमुक्त्वा—"इषे त्वा" "कृष्णोऽसि" इत्येवं मन्त्रस्य अध्यायानामादीन्प्रतीकान् ब्रूयात् । तथा च 'व्रतमुपैष्यन्स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति' इत्येवं च ब्राह्मणस्य । ऋग्वेदानां मण्डलादीन् छन्दोगानां पर्वादीन् आथर्वणानां सूक्तादीन् प्रब्रूयात् । ततः सर्वे आचार्याः शिष्याश्च जपन्ति—"सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म । इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे" इति अमुं मन्त्रम् । तदनन्तरं त्रिरात्रमनध्यायं कुर्युः । यतः—

अनध्यायेष्वध्ययने प्रज्ञामाहुः प्रजां श्रियम् ।
ब्रह्म वीर्यं बलं तेजो निकृन्तति यमः स्वयम् ॥
मन्त्रवीर्यक्षयभयादिन्द्रो वज्रेण हन्ति च ।
ब्रह्मराक्षसतां चैति नरकं च भजेद् ध्रुवम् ॥

लोमनखानां निकृन्तनं न कारयेयुः त्रिरात्रमेव । प्रागुत्सर्गाद्वा लोमनखानां च निकृन्तनं वर्जयेयुः । अतः मन्त्रब्राह्मणयो शुक्लकृष्णपक्षे उत्सर्जनं यावत् निरन्तरं मन्त्रं ब्राह्मणं च अधीयीरन् आचार्येणाध्याप्यमानाः शिष्याः ।

॥ इत्युपाकर्म ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

(गदाधर०)

अथ पदार्थक्रमः—तत्र प्रथमप्रयोगे आचार्येण मातृपूजापूर्वकं नान्दीश्राद्धं कार्यम् । कारिकायाम्—

ततो नान्दीमुखं श्राद्धं मातृपूजनपूर्वकम् ।
गुरोस्तदात्मसंस्कारान्न शिष्याणां परार्थतः ॥

आचार्यस्यावसथ्याग्नौ कर्म । ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः—तण्डुलस्थाने अक्षतधानानामासादनम् , प्रोक्षणं च । उपकल्पनीयानि—औदुम्बर्यः समिधः, दधि, आकर्षफलकं, तिलाः, भक्ष्यार्थं धानाः । आज्यभागान्ते वेदाहुतीनामनुमत्यन्तानां होमो वेदारम्भवत् । एकदा सर्ववेदोपाकरणं चेत्प्रतिवेदमाहुतिद्वयं हुत्वा 'ब्रह्मणे'

(गदाधर०)

'छन्दोभ्यः' इत्याहुतिद्वयं पुनः पुनर्होतव्यम् । प्राजापत्याद्या अनुमत्यन्ताः सप्ताहुतयस्तन्त्रेण । ततः सदसस्पतिमित्यनयर्चाऽक्षतधानाहोमः । सदसस्पतिमिति मन्त्रं शिष्या अपि अनुपठेयुः । तत आचार्यः शिष्याश्च सर्वे औदुम्बरीस्तिस्रस्तिस्रः समिध आर्द्राः घृताक्ता आदध्युस्तत्सवितुरित्यनयर्चा । ये तु ब्रह्मचारिणः शिष्यास्तेषामग्निकार्यमन्त्रेणैव समिदाधानं भवति । एवं द्विरपरं धानाहोमः समिदाधानं च । तत आचार्यः शिष्याश्च तिस्रस्तिस्रोऽक्षतधाना अनवखण्डयन्तः प्राश्नीयुः शन्नो भवन्त्वित्यनयर्चा । ततः सर्वेषां 'दधिक्राव्णः' इत्यृचा दधिभक्षणम् , आचमनं च । ततो यावन्तं शिष्यगणमिच्छेदाचार्यस्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात्सावित्र्या, इदं सवित्रे० । शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा । ततो धानाभिः स्विष्टकृत् । ततो नवाहुतयः । ततः संस्रवप्राशनम्, मार्जनम्, पवित्रप्रतिपत्तिः, दक्षिणादानं ब्रह्मणे, प्रणीताविमोकः । ततः प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यः प्राङ्मुख आचार्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमुक्त्वा इषे त्वेत्याद्यध्यायादीन्प्रब्रूयात् । बह्वृचादीनां यथोक्तम् । सह नोऽस्त्विति मन्त्रपाठ आचार्यसहितानां शिष्याणाम् । ततस्त्रिरात्रमनध्यायः । लोमनखानामनिकृन्तनं च त्रिरात्रमेव । प्रागुत्सर्गाद्वा लोमनखानामनिकृन्तनम् । ततः परं मन्त्रब्राह्मणयोरध्ययनं प्रागध्यायोत्सर्गात् ।

॥ इत्युपाकर्मणि पदार्थक्रमः ।

ततो वैश्वदेवः ।

अत्र रक्षाबन्धनमुक्तं हेमाद्रौ—

ततोऽपराह्णसमये रक्षापोटलिकां शुभाम् ।
कारयेदक्षतैः शस्तैः सिद्धार्थैर्हेमभूषितैः ॥ इति ॥

इदं भद्रायां न कार्यम् ।

भद्रायां द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा ।
श्रावणी नृपतिं हन्ति ग्रामं दहति फाल्गुनी ॥

इति संग्रहवचनात् । भद्रासत्त्वे तु रात्रावपि तदन्ते कुर्यादिति निर्णयामृते । तत्र मन्त्रः—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥"
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरन्यैश्च मानवैः ।
कर्तव्यो रक्षिकाचारो द्विजान्संपूज्य शक्तितः ॥ इति ॥

॥ इति गदाधर भाष्ये दशमी कण्डिका १० ॥

अथ एकादशी कण्डिका

वातेऽमावास्यायाꣳ सर्वानध्यायः ॥ १ ॥

श्राद्धाशने चोल्कावस्फूर्जद्भूमिचलनाग्न्युत्पातेष्वृतुसन्धिषु चाऽऽकालम् ॥ २ ॥ उत्सृष्टेष्वभ्रदर्शने सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रिसन्ध्यं वा ॥ ३ ॥ भुक्त्वार्द्रपाणिरुदके निशायाꣳ सन्धिवेलयोरन्तःशवे ग्रामेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये ॥ ४ ॥

(सरला)

अनध्याय अर्थात् छुट्टियों के दिन का विधान

प्राक्कथनः—पिछले कण्डिका [उपाकर्म] में कहा है कि तीन रात तक नहीं पढ़ना चाहिए। इसी प्रसङ्ग को लेकर अनध्याय अर्थात् छुट्टियों के दिन का प्रस्तुत कण्डिका में विधान करते हैं।

हिन्दीः—प्रचण्ड वायु चलने में अमावस्या तिथि में सभी वेद वेदाङ्ग का अनध्याय होगा[1] ॥ १ ॥ श्राद्ध में भोजन करने पर और तारों के [या] बिजली के गिरने पर, भूकम्प होने पर, लूह आदि उपद्रवों में और ऋतुओं के सन्धि में अनध्याय होगा और जब तक ये रहें तब तक [उसी समय दूसरे दिन तक] अनध्याय होगा ॥ २ ॥ [वेदों के] उत्सर्गों में और संघात[2] रूप में मेघ के देखने पर भी तीन दिन रात [तक] अथवा तीन सन्ध्या कालों तक अनध्याय होगा ॥ ३ ॥ भोजन करने के बाद जब तक भींगा हुआ हाथ हो [तब तक न पढ़े] जल में खड़े होने पर रात्रि में और रात दिन की सन्धियों में [न पढ़े] [जिस ग्राम में] मृतक हो उस ग्राम में [न पढ़े] और जिस रोज के[3] मध्य में राज्याभिषेकादि उत्सव हो उस रोज भी नहीं पढ़ना चाहिए ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

इदानीं 'त्रिरात्रं नाधीयीरन्' इत्यनध्यायप्रसङ्गात् अनध्यायानाह—वातेऽमावास्यायाꣳ सर्वानध्यायः। वाते वायौ प्रचण्डे वाति सति, वातमात्रस्य

---

१. कुछ का मत है कि स्वाध्याय हो सकता है।

२. सर्वरूप अर्थात् जब मेघ, वायु, बिजली, वृष्टि और गर्जना एक साथ हो।

३. द्रष्टव्य—मनु. ५. ८५ गौतम—१६. १६।

(हरिहर०)

सर्वदा विद्यमानत्वात् नानध्यायनिमित्तता, अमावास्यायां दर्शे च सर्वानध्यायः सर्वेषु वेदेषु वेदाङ्गेषु अनध्ययनम् अध्ययननिवृत्तिः सर्वानध्यायः। मतान्तरे यद्गुरुमुखाच्छिक्ष्यते शिल्पश्रमादि तत्राप्यनध्यायः, यतः शिल्पिनः स्थपत्यादयः श्रमिणो मल्लादयः अनध्यायं मन्यन्तो दृश्यन्ते; अतो यत्किञ्चिदुपाध्यायतः अधीयते श्रूयते वा शिक्ष्यते वा तत्र सर्वत्रानध्यायः। स चानध्यायः गुरोः सकाशात् अनधीताध्ययने, अध्यापकधर्मप्रकरणात्; न गुणनेऽपि। केचित्तु सर्वशब्दस्य गुणनादिविषयतां मन्यन्ते, तन्मते नाऽपूर्वाध्ययनं नाधीतस्याभ्यसनमिति ॥ १ ॥

श्राद्धाशने चोल्कावस्फूर्ज्जद्भूमिचलनाग्न्युत्पातेष्वृतुसन्धिषु चाकालम्। न केवलममावास्यायाम्, अपि तु श्राद्धाशने च श्राद्धान्नस्य भोजने अशने भक्षणे, उल्का ज्वालाकृतिः पतन्ती तारका, अवस्फूर्ज्जन्ती विद्योतमाना विद्युत्, भूमिः पृथिवी तस्याश्चलनं कम्पः भूमिचलनम्, अग्निः प्रसिद्धः, उल्का च अवस्फूर्ज्जच्च भूमिचलनं च अग्निश्च उल्कावस्फूर्ज्जद्भूमिचलानाग्नयः तेषाम् उत्पातः उत्पतनं तस्मिन्, ऋतुसन्धिषु ऋतूनां सन्धयः अन्तरालानि ऋतुसन्धयः तेषु च सर्वानध्याय इत्यनुवर्तते। किं यावत्? आकालं यस्मिन् काले यस्य निमित्तस्य उल्कादेरापतनम् अपर दिने तावत्कालपर्यन्तमाकालम्। केचित्तु श्राद्धाशने यावत्तदन्नं न जीर्यति तावदनध्यायमाहुः। ऋतुसन्धिशब्देन एकस्य ऋतोः अन्ते अपरस्य यावदप्रवृत्तिः स काल उच्यते। तत्राकालिकता नोपपद्यते। ततश्च पूर्वस्यर्त्तोः अन्त्या रात्रिः उत्तरस्य आद्यमहः तावाननध्यायः ॥ २ ॥

उत्सृष्टेष्वभ्रदर्शने सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रिसन्ध्यं वा। उत्सृष्टेषु छन्दःसु वक्ष्यमाणेन विधिना छन्दसामुत्सर्गे कृते अनध्यायः, अभ्रस्य अतिशयितस्य मेघस्य दर्शने आविर्भावे, विद्युदभ्रवायुवृष्टिगर्जितानां युगपत्प्रवृत्तिः सर्वरूपं तस्मिन् सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि वा त्रिसन्ध्यं सन्ध्यात्रयम्। अनध्याय इति चकारेणानुगृह्यते। अन्येषां पक्षे अभ्रदर्शने त्रिसन्ध्यं सर्वरूपे त्रिरात्रमिति व्यवस्थितो विकल्पः ॥ ३ ॥

भुक्त्वार्द्रपाणिरुदके निशायाम्। भुक्त्वाऽशित्वा यावदार्द्रपाणिस्तावत्। अनध्याय इत्यनुषङ्गः। उदके यावत्तिष्ठति तावत्। निशायां महानिशायाम्,

महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम्।

इति स्मरणात्।

रात्रेः पूर्वोत्तरौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्।

(हरिहर०)

इति वचनेन रात्रेः पूर्वंचतुर्थयामयोः वेदाभ्यासविधानात् द्वितीयतृतीय-प्रहरयोः परिशेषादनध्याय इत्यर्थात् महानिशा लभ्यते । सन्धिवेलयोः अहो-रात्रयोः सन्धिवेलयोः सन्ध्याकालयोरित्यर्थः । अन्तःशवे ग्रामे अन्तर्मध्ये शवः मृतशरीरं यस्य सः तस्मिन्ग्रामे तावदनध्यायः । अन्तर्दिवाकीर्त्ये दिवा अह्नि कीर्त्यं पठनीयं यत् प्रवर्ग्यादि तद्दिवाकीर्त्यं तस्मिन् विषये अन्तः ग्राममध्ये अनध्यायः । पक्षान्तरे तु सन्निहितो दिवाकीर्तिश्चण्डालो यत्र सोऽन्तर्दिवा-कीर्त्यो देशः तत्रानध्यायः ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'वाते'''ध्यायः' । वाते वायौ प्रचण्डे सति वातस्य सर्वदा विद्यमानत्वादति-शयितोऽत्र ग्राह्यः । सर्वशब्दाच्चाङ्गानामपि, न छन्दसामेव । यद्यदुपाध्यायसकाशाद् गृह्यते शिल्पाद्यपि तत्सर्वग्रहणेन गृह्यते । शिल्पिनामपि हि अनध्यायप्रसिद्धिरस्ति । अनध्यायश्च प्रकृतत्वाद् गुरुमुखाद्यच्छिक्ष्यते तत्रैव भवति, न गुणनेऽपीति । अपरे तु सर्वविषयतामिच्छन्ति ॥ १ ॥

'श्राद्धा'''कालम्' । आकालिका एते अनध्यायाः । आकालं यस्मिन्काले उल्का-देरापतनम् अपरदिने तावत्कालपर्यन्तम् । श्राद्धाशने श्राद्धान्नभोजने, श्राद्धान्नेऽजीर्णे इत्यपरे । उल्का ज्वालाकृतिः पतन्ती तारका । अवस्फूर्ज्जत् विद्योतमाना विद्युत् । भूमिचलनं भूमेः कम्पः । अग्निग्रामिदाहः एषामुत्पात उत्पतनं तस्मिन् । ऋतुसन्धि-शब्देन एकस्य ऋतोरन्तः अपरस्य यावदप्रवृत्तिः स काल उच्यते । तत्र चाकालिकता नोपपद्यते । ततश्च पूर्वस्यान्तोऽन्त्या रात्रिः उत्तरस्याद्यमहस्तावाननध्यायः ॥ २ ॥

'उत्सृ'''दा' । उत्सृष्टेषु छन्दःसु वेदानामुत्सर्गे कृते, अभ्रदर्शनमत्रातिशयितं गृह्यते, सर्वकालमभ्रस्य विद्यमानत्वात् । विद्युदभ्रवायुवृष्टिगर्जितानां युगपत्प्रवृत्तिः सर्वरूपम् , तत्रापि त्रिरात्रमनध्यायः त्रिसन्ध्यं वेति विकल्पः । अभ्रदर्शने त्रिसन्ध्यं सर्वरूपे च त्रिरात्रमिति व्यवस्थितविकल्प इत्यन्ये ॥ ३ ॥

'भुक्त्वा'''कीर्त्ये' । भुक्त्वा यावदार्द्रपाणिस्तावन्नाधीयीत । तथोदके याव-त्तिष्ठति तावत् । निशायाम् स्मृत्यन्तरान्निशाशब्देनार्द्धरात्रमुच्यते इति कर्कः,

"महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।

इति स्मरणात् ।

रात्रेः पूर्वोत्तरौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् ।

इति वचनेन रात्रेः पूर्वचतुर्थयामयोर्वेदाभ्यासविधानाद् द्वितीयतृतीययोः परि-शेषादनध्याय," इति हरिहरः । सन्धिवेलयोः अहोरात्रयोः सन्ध्याकालयोः । अन्तः-

(गदाधर०)

शवे ग्रामे ग्राममध्ये यावेच्छवं मृतशरीरं भवति ? तावन्नाधीयीत । अन्तर्दिवाकीर्त्ये दिवा अह्नि कीर्त्यं पठनीयं यत् प्रवर्ग्यादि तद्दिवाकीर्त्यं तस्मिन्विषये ग्रामे अनध्यायः । तद् ग्राममध्ये न पठनीयम् । सूत्रयोजनायां ग्रामपदं काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र योजनीयम् । ग्रामेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये इति । अन्ये तु अन्तः सन्निहितो दिवाकीर्तिश्चाण्डालो यत्र सोऽन्तर्दिवाकीर्त्यो देशस्तत्रानध्यायः ॥ ४ ॥

धावतोऽभिशस्तपतितदर्शनाश्चर्याभ्युदयेषु च तत्कालम् ॥ ५ ॥ नीहारे वादित्रशब्द आर्त्तस्वने ग्रामान्ते श्मशाने श्वगर्दभोलूकश्रृगालसामशब्देषु शिष्टाचरिते च तत्कालम् ॥ ६ ॥ गुरौ प्रेतेऽपोभ्यवेयाद्दशरात्रं चोपरमेत् ॥ ७ ॥ सतानूनप्त्रिणि सब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रम् ॥ ८ ॥ एकरात्रमसब्रह्मचारिणि॥ ९ ॥

(सरला)

दौड़ने में महापातकों[1] [कलंकित, निंदित व्यक्ति] से युक्त के देख लेने पर अथवा आश्चर्यदायक वस्तु के देखने पर और जन्म आदि उत्सव होने पर उसी समय अनध्याय करना चाहिए [जिस समय ये उपस्थित हों सिर्फ उसी समय तक] ॥ ५ ॥ कुहरे में नृत्य गीत वाद्यादि के शब्द से गूंजित स्थान में शोक युक्त होने पर बिजली तड़कने में ग्राम के बाहर श्मशान में कुत्ते, गदहे, ऊल्लू, सियार के रोते समय में और विशेषतः सामवेद के शब्द सुनने में और किसी प्रतिष्ठित पुरुष के आ जाने पर तत्काल उसी समय अनध्याय करना चाहिए ॥ ६ ॥ [ये नैमित्तिक अनध्याय है]। पिता या आचार्य के मर जाने पर जलदानादि क्रिया में लगा हुआ हो तो [वर्ण क्रम से] दस रोज तक वेद अध्ययन में विराम रखना चाहिए ॥ ७ ॥ सोम यज्ञ करता हुआ यजमान तनूनपात् में जिसने साथ-साथ यज्ञ किया हो[2] या कराता हुआ ऋत्विज् और या साथ पढ़ता हुआ ब्रह्मचारी मर जाय तो तीन दिन तक अनध्याय रखना चाहिए ॥ ८ ॥ एक गुरु के पास जो ब्रह्मचारी पढ़ता हो किन्तु [ग्रन्थ में] सहपाठी न हो तो उसके मरने पर एक रोज का अनध्याय करना चाहिए ॥ ९ ॥

---

१. **अभिशस्त** का अर्थ है जिस पर पतित करने वाला कोई पाप लगाया गया हो पर निर्णय नहीं हुआ हो । **पतित** का अर्थ है जिसका गिरना निर्णीत हो चुका है ।

२. सोमयाग में दीक्षित और उससे ऋत्विज तानूनप्तृ आज्य को साथ-साथ स्पर्श करते हैं ।

(हरिहर०)

धावतोऽभिशस्तपतितदर्शनाश्चर्याभ्युदयेषु च तत्कालम् । धावतः शीघ्रं गच्छतः, अभिशस्तः ब्रह्महत्यादिपापेनाभियुक्तः, पतितः ब्रह्महत्यादिना पापेन, अभिशस्तश्च पतितश्च अभिशस्तपतितौ •तयोर्दर्शनम्, आश्चर्यम् अद्‌भुतम्, अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादिम्, एतेषु धावनादिनिमित्तेषु तत्कालं यावन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ ५ ॥

नीहारे वादित्रशब्द आर्त्तस्वने ग्रामान्ते श्मशाने श्वगर्दभोलूकशृगालसामशब्देषु शिष्टाचरिते च तत्कालम् । नीहारे धूमरिकायां, वादित्राणां मृदङ्गादीनां शब्दे, आर्त्तस्य सुदुःखितस्य स्वने शब्दे, ग्रामस्यान्ते सीम्नि, श्मशाने प्रेतभूमौ, श्वा च गर्दभश्च उलूकश्च शृगालश्च साम च श्वगर्दभोलूकशृगालसामानि तेषां शब्दे श्रूयमाणे, शिष्टाचरिते च[1] शिष्टस्य श्रोत्रियस्य आचरिते आगमने तत्कालं यावत्तन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ ६ ॥

गुरौ प्रेतेऽपोऽभ्यवेयाद्दशरात्रं चोपरमेत् । गुरौ आचार्ये प्रेते मृते अपो जलम् अभ्यवेयात् प्रविशेत् स्नानपूर्वमुदकदानाय, दशरात्रं दशाहानि अध्ययनादुपरमेत् ॥ ७ ॥

सतानूनप्त्रिणि सब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रम् । तानूनप्त्रं नाम सोमयागे ऋत्विजां दीक्षितस्य च आज्याभिमर्शनलक्षणं कर्म, समानं तानूनप्त्रं येनास्ति इति सतानूनप्त्री तस्मिन् सतानूनप्त्रिणि प्रेते, समाने तुल्ये ब्रह्मणि वेदे चरति स सब्रह्मचारी तस्मिन् सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि समानाचार्ये प्रेते त्रिरात्रमनध्यायः ॥ ८ ॥

एकरात्रमसब्रह्मचारिणि । न सब्रह्मचारी असब्रह्मचारी तस्मिन् असब्रह्मचारिणि भिन्नाचार्ये सहाध्यायिनि प्रेते एकरात्रमनध्यायः ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

'धाव...त्कालम्' । धावतः शीघ्रं गच्छतः । अभिशस्तो ब्रह्महत्यादिपापेनाभियुक्तः, पतितो ब्रह्महत्यादिपापेन, अभिशस्तपतितयोर्दर्शनम्, आश्चर्यमद्भुतमिन्द्रजालादि, अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादि, एषु धावनादिनिमित्तेषु तत्कालं यावन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ ५ ॥

'नीहा...ते च' । नीहारे धूमरिकायाम् । वादित्राणां मृदङ्गादीनां शब्दे । आर्तस्य दुःखितस्य स्वने शब्दे । ग्रामस्यान्ते सीम्नि । श्मशाने मृतकदाहभूमौ । श्वा च गर्दभश्च उलूकश्च शृगालश्च साम च श्वगर्दभोलूकशृगालसामानि तेषां शब्दे श्रूय-

१. 'वा' क०

(गदाधर०)

माणे । शिष्टाचरिते च शिष्टस्य श्रोत्रियस्याचरिते आगमने चकारात् तत्कालं यावन्निमित्तमनध्यायः ॥ ६ ॥

'गुरौ…मेत्' । गुरौ आचार्ये प्रेते मृते अप उदकमभ्यवेयात् प्रविशेत् स्नानपूर्वकमुदकदानाय, दशरात्रं दशाहानि स्वाध्यायादध्ययनादुपरमेत् ॥ ७ ॥

'सता…रात्रम्' । तानूनप्त्रं "ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति" "द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण" "तानूनप्त्रमेतत्" "दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशन्त्यृत्विजो यजमानश्चानाधृष्टम्" (का. सू. ८–१४, १५, १८, १९) इति ज्योतिष्टोमे विहितम् । सह तानूनप्त्रमाज्यं येन स्पृष्टं स सतानूनप्त्री तस्मिन् सतानूनप्त्रिणि प्रेते । समाने तुल्ये ब्रह्मणि वेदे चरतीति सब्रह्मचारी तस्मिन् सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि समानाचार्ये च प्रेते त्रिरात्रं स्वाध्यायादुपरमेत् ॥ ८ ॥

'एक…रिणि' । न सब्रह्मचारी असब्रह्मचारी तस्मिन् भिन्नाचार्ये प्रेते एकरात्रमनध्यायः ॥ ९ ॥

अर्द्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुः ॥ १० ॥ अर्द्धसप्तमासान् वा ॥११॥ अथेमामृचं जपन्ति––उभा कवी यो नो धर्मः परापतत् । परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि सृजामह इति ॥ १२ ॥ त्रिरात्रꣳ सहोष्य विप्रतिष्ठेरन् ॥ १३ ॥ ११ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

(सरला)

पाँच महीने १५ दिन में अथवा ६ महीने १५ दिन में अध्ययन करके उत्सर्ग[1] करना चाहिए [तब बाद में उपाकर्म करना चाहिए] ॥ १०–११ ॥ उत्सर्ग के अनन्तर "उभा कवी……मह" "हे युवक[2] और क्रान्तिदर्शी अश्विनो ! जो हम धर्म से च्युत हुए हैं उसे तुम्हारी धर्म वाली मित्रता से और विद्वेषों से दूर हटाते हैं" इस ऋचा को आचार्य व शिष्य जपते हैं ॥ १२ ॥ उपाकर्म के बाद तीन रोज तक आचार्य के घर पर निवास करके परदेश में [स्वगृह] जाना चाहिए ॥ १३ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में एकादश कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥११॥

---

१. उत्सर्ग अर्थात् वेद का अध्ययन अध्यापन बन्द करना चाहिए ।

२. "युवा" वस्तुतः युवानौ होना चाहिए । यह वैदिक वचन व्यत्यय है ।

(हरिहर०)

अर्द्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुः । अर्द्धः षष्ठो मासो येषां मासानां ते अर्द्धषष्ठाः तान् अधीत्य पठित्वा उत्सृजेयुः पूर्वं श्रावण्यादौ उपाकृतानि छन्दांसि ॥ १० ॥

अर्द्धसप्तमासान्वा । अर्द्धःसप्तमो येषां ते अर्द्धसप्तमासास्तान्मासान्वा अधीत्य उत्सृजेयुरिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः । अत्र छन्दसामुत्सर्गोपदेशात् अङ्गाध्ययनमनुज्ञायते ॥ ११ ॥

अथेमामृचं जपन्ति उभा कवी युवा इति । आचार्येण सह शिष्या 'उभा कवी युवा' इतीमामृचं जपन्ति 'उभा कवी युवा यो नो धर्मः परापतत् । परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि सृजामहे' इति इमामृचं जपन्ति ॥ १२ ॥

त्रिरात्रꣳ सहोष्य विप्रतिष्ठेरन् । त्रिरात्रं सह एकत्र उषित्वा विप्रतिष्ठेरन् विप्रवासं कुर्युः विशेषेण प्रवासं कुर्युः ॥ १३ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

(गदाधर०)

'अर्द्ध...जेयुः' । अर्द्धः षष्ठो मासो येषां ते अर्द्धषष्ठा मासास्तानर्द्धषष्ठान्मासानधीत्य पठित्वोत्सृजेयुः पूर्वमुपाकृतानि स्वीकृतानि छन्दांसि उत्सृजेयुः । उत्सर्गश्छन्दसामेव अङ्गानि पुनरधीयीत ॥ १० ॥

'अर्द्ध...न्वा' । अधीत्योत्सृजेयुरिति शेषः । अर्द्धसप्तमो मासो येषु ते अर्द्धसप्तमासाः ॥ ११ ॥

'अथेमा...मह इति' । उत्सर्गानन्तरमाचार्येण सह शिष्या 'उभा कवी' इतीमामृचं जपन्ति उच्चारयन्ति । मन्त्रार्थः—हे अश्विनौ युवां उभा उभौ यतः कवी क्रान्तदर्शिनौ युवा युवानौ युष्मत्संपादितो धर्मो नोऽस्माकं परिसख्यस्य सुमित्रभावस्य परापतत् रक्षणार्थमागतः । तेन धर्मेण विसख्यानि विद्वेषादीनि विषमाध्ययनादीनि वा विसृजाम त्यजाम । किंभूतस्य सख्यस्य ? धर्मिणः उपकारादिधर्मवतः परस्परमनुकूलस्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

'त्रिरा...रन्' । अत्र त्रिरात्रं सह एकस्मिन् गृहे आचार्यसहिताः शिष्या निवासं कृत्वा विप्रतिष्ठेरन् विविधं प्रवासं कुर्युः । त्रिरात्रं सहवासनियमः विप्रतिष्ठाऽत्र विद्यत एव ॥ १३ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

अथ द्वादशकण्डिका

पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां वाष्टकायामध्यायानुत्सृजेरन् ॥ १ ॥

(सरला)

उत्सर्ग-कर्म

प्राक्कथन :—प्रस्तुत कण्डिका में उपाकर्म में शुरु किए गए वेद के अध्ययन की समाप्ति पर उत्सर्ग-कर्म का विधान करते हैं।

हिन्दीः—पौष (मास) के रोहिणी नक्षत्र में अथवा मध्यमा अष्टका में [कृष्ण पक्ष की अष्टमी को] [उपाकर्म में आरम्भ किये हुए वेद के] अध्ययन का उत्सर्ग (समापन) करना चाहिए ॥ १ ॥

(हरिहर०)

पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां चाष्टकायामध्यायानुत्सृजेरन् । पौषमासस्य रोहिणीनक्षत्रे मध्यमायामष्टकायां पौष्या ऊर्ध्वाष्टकायाम् अष्टम्यां वा अध्यायान् स्वाध्यायानुत्सृजेरन् पूर्वमुपाकृतान् । पुनरुपाकरणं यावन्नाधीयीरन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

(गदाधर०)

'पौषः'''रन्' पौषमासस्य रोहिण्यां रोहिणीनक्षत्रें, मध्यमायामष्टकायाम् पौष्या ऊर्ध्वमष्टम्यां वा अध्यायान् वेदान् उत्सृजेरन् पूर्वमुपाकृतान्, पुनरुपाकरणं यावन्नाधीयीरन् ॥ १ ॥

उदकान्तं गत्वाद्भिर्देवाᳫँश्छन्दाᳫँसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान्गन्धर्वानितराचार्यान्त्संवत्सरं च सावयवं पितृनाचार्यान्त्स्वाᳫँश्च तर्पयेयुः ॥ २ ॥ सावित्रीं चतुरनुद्रुत्य विरताः स्म इति प्रब्रूयुः ॥ ३ ॥ क्षपणं प्रवचनं च पूर्ववत् ॥ ४ ॥ १२ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

उत्सर्ग-कर्म की विधि इस प्रकार है :—

[आचार्य के साथ शिष्यगण] नदी आदि जल के किनारे जाकर देवता, छन्द, वेद, ऋषि, पुराने आचार्य, गन्धर्व, दूसरे आचार्य, अवयवों (दिन-रात

(सरला)

मासादि) समेत संवत्सर, पितर और अपने आचार्यों का जल से तर्पण करें ॥२॥ (शिष्य) गायत्री मंत्र को चार बार पढ़कर (वेदाध्ययन से अब) "हम विरत हुए हैं" इस (वाक्य) को (आचार्य से) कहे ॥ ३ ॥ अनध्याय, बाल व नाखून काटना, पढ़ना और पढ़ाना पहले की तरह [अर्थात् उपाकर्म की तरह तीन रात तक न करें] ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में बारहवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १२ ॥

(हरिहर०)

उदकान्तं गत्वाऽद्भिर्देवान् छन्दांᳩसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान्गन्धर्वानितराचार्यान्त्संवत्सरं सावयवं पितॄनाचार्यान्स्वांस्तर्पयेयुः । कथमुत्सृजेरन्नित्यपेक्षायामुच्यते—उदकान्तं नद्याद्युदकसमीपं गत्वा उदकसमीपगमनात् स्नानं लक्ष्यते । ननु—

पक्ष[1] द्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टे नदीस्नानस्य निषेधात् कथं नद्याद्युच्यते ? सत्यम्.—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च ।
चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते ॥

इत्यपवादवचनान्न दोषः । ततो यथाविधि स्नात्वा माध्याह्निकं कर्म 'देवागातु विदः' इत्येतत्प्राक् निर्वर्त्य सप्तर्षीपूजावंशानुपठनानन्तरं देवास्तृप्यन्ताम्, छन्दाᳩसि तृप्यन्तामित्येवमाचार्यान्तान् यज्ञोपवीतिनस्तर्पयेयुः आचार्यसहिताः शिष्याः । ततः प्राचीनावीतिनो दक्षिणामुखा नामगोत्रोच्चारणपूर्वकं स्वांश्च पितृपितामहप्रपितामहान् तर्पयेयुः । अनन्तरं स्नानवस्त्रं निष्पीड्याऽऽचम्य 'देवा गातुविदः' इत्यनयर्चा समापयेयुः ॥ २ ॥

सावित्रीं चतुरनुद्रुत्य विरताः स्म इति प्रतिप्रब्रूयुः । ततः सावित्रीं तत्सवितुरित्यादिकां चतुः कृत्वोऽनुद्रुत्य पठित्वा "विरताः स्म" इत्याचार्यप्रमुखाः शिष्याः सर्वे ब्रूयुः ॥ ३ ॥

---

१. 'मासद्वयम्' ग०

(हरिहर०)

क्षपणं प्रवचनं च पूर्ववत् । क्षपणम् अनध्ययनं लोमनखानामनिकृन्तनं च, प्रवचनम् अध्यायादीनां पठनं पूर्ववत् उपाकरणकालवत् । ततस्त्रिरात्रानन्तरं शुक्लपक्षेषु छन्दांस्यधीयीरन् कृष्णपक्षेष्वङ्गानि । ततः पुनरर्द्धषष्ठमासानर्द्धसप्तमासान्वा मासानधीत्य एवमेवोत्सर्गं विधाय 'उभाकवी युवा' इत्यादिकां ऋचं जपित्वा त्रिरात्रमेकत्रावस्थाय यथेष्टं विप्रतिष्ठेरन् पृथक् पृथक् गच्छेयुः । ततः पुनरुपाकरणकाले उपाकृत्य अध्ययनं यावदुत्सर्गः ॥ ४ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

(गदाधर०)

उत्सर्गप्रकारमाह—'उद'''येयुः' । नद्याद्युदकान्तम् उदकसमीपं गत्वा तत्र स्नात्वाऽद्भिर्देवादींस्तर्पयेयुराचार्यसहिताः शिष्याः । उदकान्तगमनेन च स्नानं लक्ष्यते । अत्र नदीरजोदोषो न भवति । तदुक्तम्—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च ।
चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते ॥ इति ॥ २ ॥

'सावि'''ब्रूयुः' । तर्पणस्यान्ते आचार्यसहिताः सर्वे शिष्याः सावित्रीं 'तत्सवितुः' इत्यृचं चतुःकृत्वोऽनुद्रुत्य पठित्वा 'विरताः स्मः' इति मन्त्रं ब्रूयुः ॥ ३ ॥

'क्षप'''वत्' । ततः क्षपणम् अनध्ययनं लोमनखानामनिकृन्तनं च, प्रवचनं चाध्यायादीनां पठनं पूर्ववत् उपाकर्मकालवत् । ततस्त्रिरात्रानन्तरं शुक्लपक्षेषु छन्दांस्यधीयीरन्, कृष्णपक्षेष्वङ्गानि । ततोऽर्द्धषष्ठान्मासानर्द्धसप्तमान्वा मासानेवमेवाधीत्य सर्वत उत्सृज्य उपाकृत्य चाधीयीतेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

॥ इति द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

अथ पदार्थक्रमः—पौषस्य रोहिण्यां मध्यमाष्टकायां वा पौषस्यैवाध्यायोत्सर्गः । तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । उदकान्तगमनम् । स्नात्वाऽद्भिर्देवादितर्पणम् । देवास्तृप्यन्तु, छन्दांसि तृप्यन्तु, वेदास्तृप्यन्तु, ऋषयस्तृप्यन्तु, पुराणाचार्यास्तृप्यन्तु, गन्धर्वास्तृप्यन्तु, इतराचार्यास्तृप्यन्तु, संवत्सरः सावयवस्तृप्यतु, पितरस्तृप्यन्तु, आचार्यास्तृप्यन्तु । नामगोत्रोच्चारणपूर्वकं स्वांश्च पित्रादींस्तर्पयेयुः । जीवत्पितृकाणां तु पितामहादितर्पणम् । ततस्तत्सवितुरित्यस्याः सावित्र्याश्चतुरनुद्रवणम् । 'विरताः स्मः' इति सकृद् ब्रूयुः । उपाकर्मवदध्यायादीनां पठनम् ।

(गदाधर०)

त्रिरात्रमनध्यायः। लोमनखानामनिकृन्तनं च त्रिरात्रम्। ततस्त्रिरात्रादूर्ध्वं शुक्लपक्षेषु छन्दांसि अधीयीरन्, कृष्णपक्षेष्वङ्गानि। ततः पुनरर्द्धषष्ठमासानधीत्यार्द्धसप्तमासान् वाऽधीत्य एवमेवोत्सर्गं विधाय 'उभाकवी' इत्यादिकामृचं जपित्वा त्रिरात्रमेकत्रावस्थाय पश्चाद्यथेष्टं पृथक् गच्छेयुः। ततः पुनरुपाकरणकाले उत्सृष्टान् वेदानुपाकृत्याध्ययनं यावदुत्सर्गम्। वृद्धाचारकारिकायां विशेषः—

पौषस्य रोहिण्यामृक्षे वाऽष्टकां प्राप्य मध्यमाम्।
उदकान्तं समासाद्य वेदस्योत्सर्जनं बहिः॥
स्नातव्यं विधिवत्तत्र स्थापयेदृष्यरुन्धती।
प्रवरांश्च ततो धीमान् कुर्यात्तेषां प्रतिष्ठितिम्॥
इमावेवेति यजुषा नामान्येषां विनिर्दिशेत्।
अङ्गिरस्तान् स्थापयेत्तत्र सप्तऋषय इत्यृचा॥
अर्घस्तेभ्यः प्रदातव्यः पूजनं चन्दनादिभिः।
नैवेद्यैर्विविधैः पूज्या वेदस्य हितमिच्छता॥
ऋषीणां प्रीतये दद्यादुपवीतान्यनेकशः।
प्रणम्य च मुनीन् भक्त्या पश्चात्तर्पणमाचरेत्॥
देवाच्छन्दांसि वेदाश्च ऋषयश्च सनातनाः।

तथा—

पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यास्तथैव च।
अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतव एव च॥
संवत्सरोऽवयवैः सार्द्धमयं पुरश्च पञ्चभिः।
मन्त्रैर्द्वाभ्यां मूर्द्धेति माछन्दस्तिस्र एव च॥
सावित्रीं पाठयेच्छिष्यान् चतुःकृत्वो गुरुः स्वयम्।
एवं षोडशभिर्मन्त्रैः सप्तऋषय इत्येकया।
चतुर्भिस्तर्पयेद्वंशैरिमावेवेत्यनेन च॥
विरताः स्मेति पठेयुस्ते प्रणवं योजयेत्कविः॥
सावित्रीं त्रिः समुच्चार्य अध्यायांश्च प्रपाठकान्।
शतस्थानान्यनुस्मृत्य कण्डिकाश्च तथान्तिमाः॥
अन्तिमाः फक्किका ब्रूयादग्निमीळे पुरोहितम्।
इषे त्वेत्यग्न आयाहि शन्नो देवीरभिष्टयः।
सह नोऽस्त्वित्ति मन्त्रं च पश्चादुभाकवीति च॥ इति॥

॥ इति पदार्थक्रमः॥ १२॥

॥ इति गदाधरभाष्ये द्वादशी कण्डिका॥ १२॥
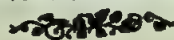
अथ त्रयोदशकण्डिका

पुण्याहे लाङ्गलयोजनम् ॥ १ ॥ ज्येष्ठया वेन्द्रदैवत्यम् ॥ २ ॥ इन्द्रं पर्जन्यमश्विनौ मरुतउदलाकाश्यपठ्ं. स्वातिकारीᳬ सीतामनुमतिं च दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैरिष्ट्वाऽनडुहो मधुघृते प्राशयेत् ॥ ३ ॥ सीरायुञ्जन्तीति योजयेत् ॥ ४ ॥ शुनठ्ं. सुफला इति कृषेत् फालं वा लभेत ॥ ५ ॥

(सरला)

लाङ्गल-योजन [प्रथम हल जोजना]

प्राक्कथन:—जिनका कृषि कर्म में अधिकार है ऐसे खेती के काम में प्रवृत्त पुरुष जब पहली वार हल जोतते हैं—उस समय इस कर्म को किया जाता है। जिसकी विधि प्रस्तुत कण्डिका में इस प्रकार है :—

हिन्दी :—[ज्योतिष शास्त्र में कहे गए] शुभ दिन में हलों को (Plough) चलाना चाहिए [अर्थात् कृषि कार्य आरम्भ करना चाहिए] ॥ १ ॥ अथवा जिस दिन ज्येष्ठ नक्षत्र[1] हो [क्योंकि इस नक्षत्र के] देवता इन्द्र हैं ॥ २ ॥ इन्द्र, पर्जन्य, अश्विन, मरुत्, उदलाकाश्यप, स्वातिकारी, सीता और अनुमति आदि देवों को दही चावल [हल्दी चन्दनादि] गन्धों से और यवों [-लावा] से आहुति देकर बैलों को घी में शहद मिलाकर खिलाना चाहिए ॥ ३ ॥ [इसके बाद] 'सीरा युञ्जन्ति[2]' इस मंत्र से [बैलों को] जोड़ना चाहिए ॥ ४ ॥ 'शुनं सुफाला[3]' इस मंत्र से हल जोतना चाहिए या फल [Plough हल का मुख] स्पर्श करना चाहिए ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

पुण्याहे लाङ्गलयोजनम्। प्रथमं कृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्मोच्यते। पुण्याहे उदगयनशुक्लपक्षादिव्युदासेन चन्द्रतारानुकूले दिवसे लाङ्गलस्य हलस्य योजनं प्रवर्त्तनम् ॥ १ ॥

---

१. खेती इन्द्र के अधीन है और ज्येष्ठा नक्षत्र के अधिष्ठाता–देव "इन्द्र" है। द्रष्टव्य—शाखा. १. २६. १६।

२. यजु. १२. ६७।

३. यजु. १२. ६९।

(हरिहर०)

जेष्ठया वेन्द्रदैवत्यम्[1] । पक्षान्तरमाह यद्वा, अपुण्याहेऽपि ज्येष्ठया नक्षत्रेण युते लाङ्गलयोजनम् । कुतः ? इन्द्रदेवत्या ज्येष्ठा यतः इन्द्रायत्ता च कृषिरिति । एतच्च मातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्धपूर्वकम् ॥ २ ॥

इन्द्रं पर्जन्यमश्विनौ मरुतउदलाकाश्यपठ्. स्वातिकारीᳬसीतामनुमतिं च दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैरिष्ट्वाऽनडुहो मधुघृते प्राशयेत् । तत्र इन्द्रादीननुमत्यन्तान् देवताविशेषान्[1] दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैः[2] (अक्षता यवाः) इष्ट्वा नमोन्तैर्नाममन्त्रैः बलिहरणेन सम्पूज्य अनडुहो वृषभान् षडादीन्[3] मधुघृते प्राशयेत् । तद्यथा—दधितण्डुलगन्धाक्षतान् पात्रे कृत्वा शुचिराचान्तः प्राङ्मुख उपविश्य कृषिक्षेत्रैकदेशे गोमयोपलिप्ते हस्तेन गृहीत्वा इन्द्राय नमः, पर्जन्याय नमः, अश्विभ्यां नमः, मरुद्भ्यो नमः, उदलाकाश्यपाय नमः, स्वातिकार्यै नमः, सीतायै नमः, अनुमत्यै नमः, यथामन्त्रं त्यागा इदमादिका नमोरहिताः । एवमष्टौ[4] बलीन् प्राक्संस्थान् दद्यात् । ततो बलीवर्दान् मधुघृते पात्रे कृत्वा तूष्णीं प्रत्येकं प्राशयेत् लेहयेत् ॥ ३ ॥

सीरायुञ्जन्ती योजयेच्छुनठं सुफाला इति कृषेत् फालं वा लभेत । 'सीरा युञ्जन्ति' इत्यनयर्चा वृषभौ हले योजयेद्दक्षिणोत्तरक्रमेण । 'शुनठं सुफाला' इत्यनयर्चा भूमिं कृषेत् । यद्वा, 'शुनठं सुफाला' इति फालमभिमृशेत्, उभयलिङ्गत्वान्मन्त्रस्य[5] ॥ ४ ॥ ५ ॥

(गदाधर०)

'पुण्या'''जनम्' । यस्य कृषिकर्मण्यधिकारस्तस्येदमुच्यते । पुण्याहे उदगयने शुक्लपक्षे चन्द्राद्यनुकूलदिने लाङ्गलस्य हलस्य योजनं प्रवर्तनं भवति । प्रथमकृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्म भवति । उदगयने आपूर्यमाणपक्षे पुण्याह इत्यनेनैव प्राप्तत्वादत्र पुण्याहग्रहणमग्रिमसूत्रे अपुण्याहत्वद्योतनार्थम् ॥ १ ॥

पक्षान्तरमाह—'ज्येष्ठ'''त्वम्' । अथवा अपुण्याहेऽपि ज्येष्ठया नक्षत्रेण युते दिने लाङ्गलयोजनं भवति । प्रथमकृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्म भवति । उदगयन इन्द्रदैवत्यं ज्येष्ठानक्षत्रं यतः, इन्द्राधीनं च कृषिकर्म, वृष्टिनिमित्तत्वात् । ज्येष्ठया वेति हेतौ तृतीया । ज्येष्ठायामिन्द्रदैवत्यं वेति भर्तृयज्ञपाठः ॥ २ ॥

---

१. 'अष्टौ देवताविशेषान्' ग० । २. 'गन्धैः' नास्ति क० ।
३. 'षडादीन्' नास्ति ग० । ४. 'इत्यष्टौ' ग० ।
५. 'तांल्लिंगत्वान्मन्त्रयोः' क० ।

(गदाधर०)

'इन्द्रं···येत्'। यागशब्देन देवतोद्देशेन बल्युपहार उच्यते। इन्द्रादिदेवताविशेषान्दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैर्यवैश्चेष्ट्वा नमोऽन्तैर्नाममन्त्रैर्बलिहरणेन सम्पूज्य अनडुहो बलीवर्दान्मधुघृते पात्रे कृत्वा तूष्णीं प्रत्येकं प्राशयेत् ॥ ३ ॥

'सीरा···भेत'। यागान्तरं सीरा युञ्जन्ति'[1] इत्यनेन मन्त्रेण वृषभौ हले योजयेद्दक्षिणोत्तरक्रमेण। ततः 'शुनर्ठ.[2] सुफाला' इति भूमिं कृषेत्। अथवा 'शुनर्ठ. सुफाला' इति फालं हलमुखमायसमभिमृशेत्, उभयलिङ्गत्वान्मन्त्रस्य ॥ ४ ॥ ५ ॥

नवाग्न्युपदेशात् ॥ ६ ॥ वपनानुषङ्गाच्च ॥ ७ ॥ अग्र्यमभिषिच्याकृष्टं तदा कृषेयुः ॥ ८ ॥ स्थालीपाकस्य पूर्ववद्देवता यजेदुभयोर्व्रीहियवयोः प्रवपन्सीतायज्ञे च ॥ ९ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥१०॥ ॥ १३ ॥

॥ इति त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

(सरला)

अथवा [हल जोतने के समय 'सीरा···और शुनं····' इन मंत्रों को] न पढ़े क्योंकि इसका विनियोग अग्नि के चयन में और बीज बोने में है। [अतः] अनुवृत्ति

---

१. "सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया ॥ (य० सं० अ० १२ क० ६७) ॥ धीराः धीमन्तोऽग्निक्षेत्रविदः कवयः कृषिकर्माभिज्ञाः सीरा सीराणि हलानि युञ्जन्ति वृषैर्योजयन्ति। युगा युगानि पृथक् नाना वितन्वते विस्तारयन्ति। किं कर्तुम्? देवेषु सुम्नया सुम्नं सुखं कर्तुमिति शेषः। देवानां सुम्नं सुखं कर्तुं युञ्जन्तीत्यर्थः ।,

२. "शुनर्ठ. सुफाला विकृषन्तु भूमिर्ठ. शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनाऽस्मै" ॥ (य० सं० अ० १२ कं० ६९) ॥ सुशोभनाः फालाः सीराग्रस्था लोहविशेषाः शुनं सुखं यथा तथा भूमिं विकृषन्तु विलिखन्तु। कीनाशा हलिनः शुनं सुखेन वाहैः वृषभैः सह अभियन्तु अभिगच्छन्तु। हे शुनासीरा हे शुनासीरौ वाय्वादित्यौ अस्मै अस्माकं ओषधीः व्रीह्यादिकाः सुपिप्पलाः शोभनफलाः युवां कर्तन कुरुत। कीदृशौ शुनासीरौ? हविषा जलेन तोशमाना तोशतिर्वधकर्मा भूमिं घ्नन्तौ। जलेन भूमिं सिञ्चन्तौ सन्तावोषधीः सफलाः कुरुतमिति भावः ॥

(सरला)

से भी [शुनं···] इस मंत्र का प्रयोग यहाँ प्राप्त नहीं होता[१] ॥ ६–७ ॥ श्रेष्ठ बैल को जल से अभिषिंचित[२] करके जो विना जोते हुए खेत हों उनको जोतना चाहिए ॥ ८ ॥ [यहाँ कर्मान्तर कहते हैं कि :—] धान जौ [गेहूँ आदि] इन दोनों के बोने के समय और सीता यज्ञ में स्थालीपाक के पहले की तरह[३] देवताओं का पूजन करना चाहिए ॥ ९ ॥ अन्त में ब्राह्मण को भोजन [कराना चाहिए] ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में तेरहवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १३ ॥

(हरिहर०)

न वाऽग्न्युपदेशात् । न वा एतौ योजने कर्षणे[४] मन्त्रौ भवतः । कुतः ? अग्नौ अग्निचयने एतयोः[५] उपदेशात् । न च अग्निप्रकरणे आम्नातयोरत्रोपदेशः, न वाऽतिदेशः ॥ ६ ॥

वपनानुषङ्गाच्च । इतोऽपि मन्त्रौ न भवतः अग्निप्रकरणे बीजवपने ये मन्त्रा 'या ओषधीः' इत्याद्या विनियुक्ताः तेषामप्यत्रानुषङ्गः स्यात्, यदि लिङ्ग-

---

१. अर्थात् अग्नि के चयन में इन मंत्रों [यजु० १२. ६९–७२ तक] का उपदेश हैं। यहाँ न उपदेश है और न तो अतिदेश है। अतः इनका संबन्ध यहाँ नहीं हो सकता। अन्यत्र अग्निचयन में और बीज बोने में जो "या ओषधी···" यजु० १२. ७५ आदि मंत्र का विनियोग किया गया है 'उसका भी विनियोग हो'–यह कहने से यह प्रतीत होता है कि पहले आचार्यों ने इन मंत्रों का प्रयोग किया था किन्तु आचार्य पारस्कर को यह अभीष्ट नहीं है क्योंकि यह [यजु० १२. ६९] वस्तुतः श्रौतकर्म के प्रयोग में आया है। द्रष्टव्य—कात्यायन० १७. २. १२; ३, ८; ।

२. भाष्यकारों के अनुसार अभिषेचन का अर्थ हैं—"घुंघरू की माला आदि से सजाकर"।

३. इस कण्डिका में कहे गए इन्द्र, पर्जन्य उदलाकाश्यप आदि देवताओं के लिए जो बलि हरण कहा था—उन्ही के लिए धान या जौ बोते समय हवन करना चाहिए।

४. 'कर्षणे च' ग०।

५. एतनोरुपदेशात्' ग०।

(हरिहर०)

मात्रेणोपदेशातिदेशाभावेऽपि नियुज्येत; तदा वपनमन्त्रा अपि तल्लिङ्गत्वाद्विनियोजनीया भवेयुर्न चैतदिष्यते ॥ ७ ॥

अग्र्यमभिषिच्याकृष्टं तदा कृषेयुः। अग्र्यं श्रेष्ठं बलीवर्दम् अभिषिच्य गन्धमाल्यादिभिर्भूषयित्वा अकृष्टमविलिखितं यत् तत्क्षेत्रमाकृषेयुः विलिखेयुः । ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति लाङ्गलयोजनम् ॥ ८ ॥

इति सूत्रार्थः[1]

अथ साग्निकस्य कृषिकर्मणि विशेषमाह—स्थालीपाकस्य पूर्ववद्देवता यजेदुभयोर्व्रीहियवयोः प्रवपन सीतायज्ञे च। स्थलीपाकस्य चरोः पूर्ववल्लाङ्गलयोजनोक्तदेवता इन्द्रादिकाः यजेत। किं कुर्वन् ? प्रवपन् उप्तिं कुर्वन्। कयोः ? व्रीहियवयोः व्रीहियवयोर्वपनकाले। अत्र स्थालीपाकस्य श्रपणोपदेशाभावात् सिद्धस्योपादानम् ॥ ९ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १० ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

अथ प्रयोगः—तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकानन्तरमावसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते तण्डुलस्थाने पूर्वसिद्धं स्थालीपाकमासाद्य प्रोक्षणकाले प्रोक्षेत। तत आज्यभागानन्तरं स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो जुहुयात्। तद्यथा–इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय, तथा-पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय, अश्विभ्याᳬस्वाहा इदमश्विभ्याम्, मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यः, उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्यपाय, स्वातिकायै स्वाहा इदं स्वातिकायै, सीतायै स्वाहा इदं सीतायै, अनुमत्यै स्वाहा इदमनुमत्यै। ततोऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति हुत्वा आज्येन नवाहुतीश्च हुत्वा प्राशनब्रह्मणेदक्षिणादानब्राह्मणभोजनानि कुर्यात्। इति व्रीहियववपनकर्म।

सीतायज्ञे च एता एव देवताः स्थालीपाकेन यजेदित्यतिदेशः ॥ १३ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥
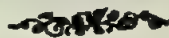
(गदाधर०)

'नवा…शात्'। न चैतौ मन्त्रौ विनियोक्तव्यौ। किंकारणम् ? अग्निचयन एतावुपदिष्टौ। न चाग्निप्रकरणपठितयोरिहोपदेशो नातिदेशः ॥ ६ ॥

---

१. 'र्थः। अथापरं कर्मान्तरं–स्थाली' क०।

(गदाधर०)

किञ्च 'वप'''च्च' । अग्निचयनप्रकरणे अन्नवपने ये मन्त्रा 'या ओषधीः' इत्यादयो विनियुक्तास्तेषामप्यनुषङ्गः प्राप्नोति, यदि लिङ्गमात्रेण विनियोगः स्यात्; न चैतदिष्यते ॥ ७ ॥

'अग्र्य'''षेयुः' । अग्र्यं वल्लभं बलीवर्दमभिषिच्य घुर्घुरमालादिना भूषयित्वा अकृष्टमविलिखितं यत्क्षेत्रं तत् कृषेयुः ॥ ८ ॥

'स्थाली'''जनम्' । इदमपरं कर्मान्तरम् । स्थालीपाकस्य श्रपणानुपदेशादत्र सिद्धस्यैव ग्रहणम् । स्थालीपाकस्य चरोः पूर्ववल्लाङ्गलयोजनोक्ता देवता इन्द्रादिका यजेत् । किंकुर्वन् ? उप्तिं कुर्वन् । कयोः ? व्रीहियवयोर्वपनकाले । ततो ब्राह्मणस्य भोजनं कार्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

अथ पदार्थक्रमः । पुण्याहे लाङ्गलयोजनम् । उदगयनाद्यभावेऽपि ज्येष्ठानक्षत्रे वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धम् । ततो दध्याद्यादाय लांगलयोजनदेशे गमनम्, तत्र स्थण्डिलानुलेपनम् । तत्र दधितण्डुलगन्धाक्षतमिश्रितैरिन्द्रादिभ्यो बलिहरणं हस्तेनैव–इन्द्राय नमः, पर्जन्याय नमः, अश्विभ्यां नमः, मरुद्भ्यो नमः, उदलाकाश्यपाय नमः, स्वातिकार्यै नमः, सीतायै नमः, अनुमत्यै नमः । यथा दैवतं त्यागाः । अनडुहो मधुघृते प्राशयेत् । ततः प्रथमबलीवर्दस्य मण्डनम् । ततोऽकृष्टे देशे कर्षणम् । ततो ब्राह्मणभोजनम् । अथ व्रीहियवयोर्वपनकाले मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कृत्वाऽऽवसथ्येऽग्नौ कर्म भवति । तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । तण्डुलस्थाने सिद्धस्य चरोरासादनं प्रोक्षणं च । आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो होमः—इन्द्राय स्वाहा, पर्जन्याय स्वाहा, अश्विभ्या१ँ स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, उदलाकाश्यपाय स्वाहा, स्वातिकार्यै स्वाहा, सीतायै स्वाहा, अनुमत्यै स्वाहा । यथा दैवतं त्यागाः । ततश्चरुणा स्विष्टकृत् । ततो भूरादिनवाहुतयः । संस्रवप्राशनम् । मार्जनम् । पवित्रप्रतिपत्तिः । दक्षिणादानम् । प्रणीताविमोकः ।

॥ इति पदार्थक्रमः ॥ १३ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशकण्डिका

अथातः श्रवणाकर्म ॥ १ ॥ श्रावण्यां पौर्णमास्याम् ॥ २ ॥ स्थालीपाकᳪ॒ श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडाशम् ॥ ३ ॥ धानानां भूयसीः पिष्ट्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति—अप श्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणैरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः स्वाहा (१)। न वै श्वेतस्याध्याचारे ऽहिर्ददर्श कश्चन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति (२) ॥ ४ ॥

(सरला)

"श्रवणा-कर्म"

प्राक्कथन—वर्षा ऋतु के आरम्भ में सर्पों का प्रकोप होता है। उन्हीं को दूर रखने के कुछ उपाय इस कर्म में वर्णित हैं। इसको श्रवणाकर्म नाम से पुकारते हैं। क्योंकि यह श्रवण में होता है। गृहस्थ को आवसथ्याग्नि में जिस प्रकार पक्षादिक होम करने का विधान किया गया है उसी प्रकार श्रवणा-कर्म का विधान है।

हिन्दी—अब 'श्रवणाकर्म[1]' के नाम से प्रसिद्ध यज्ञ [का वर्णन किया जाता है] ॥ १ ॥ [इस कर्म को] श्रावण की पूर्णमासी में [करना चाहिए] ॥ २ ॥ चरू [Food] पकाकर भुने हुए जव और एक कपाल वाला पुरोडाश[2] पकाकर उन धानों को खूब पीस कर [जव सत्तू बन जाय तो] आधार और आज्यभाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके "आपश्वेतपदा[3]......और "न वै श्वेतस्या"...... इन दोनों मंत्रों से घृत की आहुति देता है। 'हे श्वेतपद वाले (नागों) ! तुम हमारी (सपिण्ड, सगोत्र एवं सोदक भेद से) सात पीढ़ी तक प्रजा को मेरे निवासभूमि के पूर्वभाग से तथा पश्चाद्भाग से (स्वजातिजन्य मालिन्य से) रहित कर दो और मेरी वरुण द्वारा आयत्त अर्थात् नागों से अभिभूत प्रजा को छोड़ दो

द्रष्टव्य—१. आश्व० २।१. शाङ्ख ४.५. गोभिल ३.७

२. घोड़े के खुर के बराबर दो अंगुल ऊँचाई मिट्टी का तावा बना कर आग में पकाते हैं यही 'कपाल' कहलाता है। इसी पर पुरोडाश (रोटी) पकाते हैं। अश्वमेध आदि यज्ञों में कई कपाल बनाए जाते हैं। यहाँ एक ही का निर्देश है।

३. द्रष्टव्य—आश्व० २.३.३ शाङ्ख ४.१८.१.

(सरला)

सभी मेरे भृत्यवर्ग एवं पश्वादि रूप प्रजा को राज-बान्धवों (नागराज तक्षक, वासुकि अथवा शेष रूप बान्धवों के साथ छोड़ दो। तुम्हारी आहुति सदा इनके साथ होवे।' 'श्वेन नाग के आधिपत्य में सर्पजातीय अहि ने किसी लोक के प्राणिजात को पापदृष्टि से नहीं देखा था। इसलिए उन श्वेत (शुद्ध) एवं विदर्वा के पुत्र नाग के लिए नमस्कारपूर्वक आहुति होवे' ॥ ३–४ ॥

(हरिहर०)

अथातः श्रवणाकर्म। अथेदानीमावसथ्याग्निसाध्यकर्मणां प्रकृतत्वात् श्रवणाकर्म, 'उच्यते' इति शेषः ॥ १ ॥

श्रावण्यां पौर्णमास्याम्। तच्च श्रावणमासस्य शुक्लपञ्चदश्यां कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥

स्थालीपाकठ्ं. श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडाशम्। स्थालीपाकं चरुम् अक्षतधानाः अक्षतानां सतुषाणां यवानां धानाः अक्षतधानाः ताश्च श्रपयित्वा एककपालम् एकस्मिन् कपाले श्रप्यत इयेत्ककपालः तं पुरोडाशं च[1] श्रपयित्वेत्यनुषज्यते अन्यथा तद्भूतोपादानं स्यात्, अतश्च धानापुरोडाशयोः श्रपणोपदेशात् भर्जनकपालयोरपि आसादनप्रोक्षणे भवतः। अर्थवतां प्रोक्षणमविशेषेणोपदिश्यते ॥ ३ ॥

धानानां भूयसीः पिष्ट्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोत्यपश्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणैरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः स्वाहा। न वै श्वेतस्याऽध्याचारेऽहिर्ददर्श कञ्चन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति। धानानां भर्जितानां यवानां मध्ये भूयसीः वह्वीः पिष्ट्वा सक्तुत्वमापाद्य आज्यभागौ हुत्वा "अपश्वेतपदा जहि" "न वै श्वेतस्याद्ध्याचारे" इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रं[1] द्वे आज्याहुती जुहोति ॥ ४ ॥

(गदाधर०)

'अथा...कर्म'। श्रवणाकर्मेति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो नामधेयम्। व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

'श्राव...स्याम्'। तत्कर्म श्रावणशुक्लपञ्चदश्यां भवति। अस्य कर्मणो गौणकालो न भवति। तदुक्तं कारिकायाम्—

---

१. 'च' नास्ति न०।

(गदाधर०)

श्रावण्यामेव तत्कार्यमभावाद् गौणकालतः ।
परिसंख्योक्तितः सूत्रकारस्यान्यस्मृतेर्बलात् ॥

यावज्जीवं पाकयज्ञानुष्ठानं सकृद्वेति तत्रैवोक्तम् ।

वचनात्सूत्रकारस्य सकृदस्य क्रिया भवेत् ।
एवमेवोत्तरेषां स्यादावृत्तिर्वा स्मृतेर्बलात् ॥
सकृत्करणमिच्छन्ति तत्रावृत्तिः सतां मतात् ।

तथा—

यावज्जीवं पाकयज्ञैर्यजेत्संवत्सरेण च ॥ इति ॥ २ ॥

'स्थाली···श्रम्' । स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा अक्षतानां सतुषयवानां धाना अक्षत धानास्ताश्च श्रपयित्वा एकस्मिन् कपाले श्रप्यत इत्येककपालस्तं च पुरोडाशं श्रपयित्वा । चरुधानापुरोडाशानां सिद्धानामुपादान माभूदिति श्रपयित्वेति ग्रहणम् । भर्जनैककपालयोरप्यासादनप्रोक्षणे भवतः, अर्थवदासाद्यार्थवत्प्रोक्ष्येत्यविशेषोपदेशात् । पुरोडाशस्य श्रपणमात्रोपदेशात्पेषणामुपदेशाच्च लौकिकपिष्टानामासादनम् ॥ ३ ॥

'धाना···स्वाहेति' । धानानां मध्ये भूयसीर्बह्वीर्धानाः पिष्ट्वा पेषणेन सक्तुत्वं संपाद्याज्यभागौ हुत्वा आज्येनाहुती द्वे जुहोति—"अपश्वेतपदा जहि" इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । तत्रापश्वेतपदा जहीति प्रथमां न वै श्वेतस्येति द्वितीयाम् । मन्त्रार्थः— हे श्वेतपद त्वमिमा मदीयाः प्रजाः मम निवासभूमेः पूर्वेण भागेन अपरेण च पश्चा-द्भागेन च जहि स्वजातिजनितमालिन्यधर्मात् परित्यज । अस्मात् स्थानाच्च स्थाना-न्तरं व्रज । किंभूताः प्रजाः ? सप्त च सपिण्डसगोत्रसोदकत्वभेदेन सप्तसप्तपुरुष-सम्बन्धाः सप्त कुल । तद्यथा—

पिता माता च भार्या च दुहिता भगिनी तथा ।
पितृष्वसा मातृष्वसा सप्त गोत्राण्यमूनि वै ॥ इति ॥

वारुणैर्वरुणायत्तैर्नागैर्मदीयाः प्रजाः परित्यज । सर्वाः सेवकपश्वादिरूपाः राज-बान्धवैर्नागैः राजा तक्षको वासुकिः शेषो वा तस्य ये बान्धवास्तैः सह त्यज । एतैः सह सदा तुभ्यं सुहुतमस्तु हविःसंपादनमस्तु । पूर्वोक्तमेव द्रढयति । वै निश्चयेन । श्वेतस्य नागस्याध्याचारे आधिपत्ये अहिः सर्पजातीयः कश्चन लोकं प्राणिजातीयं न पश्यति स्म पापदृष्ट्या, अनेन कर्मणा स्थानत्यागात् । तदर्थं श्वेताय शुद्धाय नागाय नमस्कारपूर्वकं सुहुतमस्तु । किंभूताय नागाय ? वैदर्व्याय विदर्वापत्याय ॥ ४ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति ॥ ५ ॥ धानावन्तमिति धानानाम् ॥ ६ ॥ घृताक्ता-

न्सक्तून्सर्पेभ्यो जुहोति आग्नेयपाण्डुपर्थिवानाᳬंसर्पाणामधिपतये स्वाहा (१) श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहा (२) अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहेति (३) ॥ ७ ॥ सर्वहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति ॥ ८ ॥

(सरला)

स्थाली पाक (चरु) की आहुति देता है—विष्णु के लिए, श्रवण के लिए, श्रावण की पूर्णमासी के लिए और वर्षा [ऋतु] के लिए ॥ ५ ॥ "धानावन्तं[1]......" इस मंत्र से भुने हुए यवों की आहुति प्रदान करनी चाहिए ॥ ६ ॥

सत्तू होम—घी से भिगोये हुए सत्तू को सर्प देवता के लिए 'आग्नेय पाण्डु...' "श्वेतवायवा..." "अभिभूः सौर्या..." इन तीन मन्त्रों से आहुति प्रदान करता है। (i) "अग्नि सम्बन्धी, पाण्डु जातीय पृथ्वी में रहने वाले सर्पों के अधिपति [वासुकी] के लिए स्वाहा" (ii) "वायु सम्बन्धी श्वेत जातीय अन्तरिक्ष में विहार करने वाले सर्पों के अधिपति [वासुकी] के लिए स्वाहा" (iii) सभी को नित्य अभिभव[2] करने वाले सूर्य सम्बन्धी, द्यौ में रहने वाले सर्पों[3] के अधिपति के लिए स्वाहा" ॥ ७ ॥ सम्पूर्ण [विना कुछ छोड़े हुए] होम के लिए एक कपाल पर पकाए हुए पुरोडाश से 'ध्रुवाय भौमाय ... स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिए ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

स्थालीपाकस्य जुहोति विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति । अनन्तरं स्थालीपाकस्य चरोश्चतस्र आहुतीर्जुहोति यथा विष्णवे स्वाहेत्येवमादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः ॥ ५ ॥

धानावन्तमिति धानानाम् । "धानावन्तं करम्भिणम्" इत्यनयर्चा धानानामेकामाहुतिं जुहोति ॥ ६ ॥

घृताक्तान्सक्तून्सर्पेभ्यो जुहोत्याग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳬंसर्पाणामधिपतये स्वाहा श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬंसर्पाणामधिपतये स्वाहा अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहेति । घृतेन आज्येन अक्ताः अभिघारिताः घृताक्ताः तान् सक्तून

---

१. यजु० २०. २९ ।

२. अभिभूः में विसर्ग छान्दस है।

३. सर्पों का वास पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ बताया गया है और उनका सम्बन्ध अग्नि, वायु और सूर्य से कहा गया है क्योंकि अभिधार्थ ठीक नहीं बैठता है।

(हरिहर०)

सर्पेभ्यः—'आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाम्' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकामेवं तिस्र आहुतीर्जुहोति ॥ ७ ॥

सर्वंहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति । तत एककपालं पुरोडाशं सर्वंहुतं यथा भवति तथा–'ध्रुवाय भौमाय स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण जुहोति । ततः स्थालीपाकधानासक्तुभ्यः स्विष्टकृद्धोमः ॥ ८ ॥

(गदाधर०)

'स्थालि···श्चेति' । ततो विष्णवे स्वाहेत्येवमादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्थालीपाकस्य चरोश्चतस्र आहुतीर्जुहोति ॥ ५ ॥

'धाना···नाम्' ततो 'धानावन्तं[1] करम्भिणम्' (य० सं० अ० २० कं० २९) इत्यनयर्चा स्रुवेण धानानामेकाहुतिं जुहोति ॥ ६ ॥

'घृता···स्वाहेति' । घृतेनाक्तान् अभिघारितान् सक्तून् सर्पेभ्यो मन्त्रोक्तेभ्यः 'आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाम्' इति त्रिभिर्मन्त्रैस्तिस्र आहुतीर्जुहोति । मन्त्रार्थः–आग्नेयाः अग्निदेवत्याः, पाण्डवाः पाण्डुजातीयाः, पार्थिवाः पृथिवीविहारिणः, तेषां सर्पाणामधिपतये शेषाय वासुकये वा स्वाहा सुहुतमस्तु (१) श्वेतः श्वेतजातीयाः ।

वायवाः वायुदेवत्या इति यावत् । आन्तरिक्षा अन्तरिक्षविहारास्तेषामधिपतय इति प्राग्वत् ॥ (२) तथा अभिभवन्ति सर्वानित्यभिभुवः, सौर्याः सूर्यदेवत्याः दिव्या दिवि विहारास्तेषाम् । अभिभूरिति विसर्गश्छान्दसः (३) ॥ ७ ॥

'सर्व···स्वाहेति' । सक्तुहोमोत्तरमेककपालं पुरोडाशं सर्वंहुतं सम्पूर्णं हुतं यथा भवति तथा 'ध्रुवाय भौमाय स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण जुहोति । ततः स्विष्टकृद्धोमः स्थालीपाकधानासक्तुभ्यः । सर्वंहुत एक कपाल इति परिभाषितत्वादत्रावाच्यं सर्वं हुतमेककपालमिति; वाच्यं वा 'पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वंहोमः' इति सूत्रेण संस्रवनिधानं प्राप्तं तद्व्युदासार्थम् ॥ ८ ॥

प्राशनान्ते सक्तूनामेकदेशꣳ शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिःशालायाः स्थण्डिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां मान्तरा गमते

---

१. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् । इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ (य० सं० अ० २० कं० २९) ॥

अस्यार्थः—हे इन्द्र ! त्वं प्रातःकाले नः अस्माकं पुरोडाशं जुषस्व । कीदृशम् ? धानावन्तं धाना विद्यन्ते यत्र तं, करम्भिणं करम्भोऽस्यास्ति, अपूपवन्तमपूपाः सन्ति यत्र, उक्थिनमुक्थं शस्त्रं यत्र स्तुतियुक्तम् इति ॥

त्युक्त्वा वाग्यतः सर्पानवनेजयति—आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳬं सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व (१) श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬंसर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व (२) अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपतेऽवनेक्ष्वेति (३) ॥ ९ ॥ यथावनिक्तं दर्व्योपघातᳫं सक्तून सर्पेभ्यो बलिᳫं हरति आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳫं, सर्पाणामधिपत एष ते बलिः (१) श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳫं सर्पाणामधिपत एष ते बलिः (२) अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳫं सर्पाणामधिपत एष ते बलिरिति (३) ॥ १० ॥

(सरला)

संस्रव प्राशन के बाद सत्तू के एक भाग को सूप में रखकर [यज्ञ] शाला [गृह] से बाहर निकल कर वेदिका को लीप कर जलती हुई लकड़ी को वेदिका के एक भाग में रखते हुए 'मेरे बीच में मत आओ'[1] ऐसा कह कर तत्पश्चात् मौन हो कर सर्प देवताओं को 'आग्नेय पाण्डु···इन मन्त्रों से अवनेजन[2] प्रदान करना चाहिए 'अग्नि सम्बन्धी पाण्डु जातीय पृथ्वी में रहने वाले सर्पों के अधिपति [शेष या वासुकी] को शुद्ध करते हैं" "वायु सम्बन्धी श्वेत जातीय अन्तरिक्ष में विहार करने वाले सर्पों के अधिपति [शेष या वासुकी] को शुद्ध करते हैं" "सभी का नित्य अभिभव करने वाले सूर्य सम्बन्धी द्यौ में रहने वाले सर्पों के अधिपति को शुद्ध करते हैं" ॥ ९ ॥ जिन स्थानों पर अवनेजन का जल दिया गया है [अव्ययीभाव समास है] मेक्षण [एक यज्ञीय पात्र] से [दो या पाँच बार] सत्तू ले लेकर सर्पों के लिए "आग्नेय पाण्डुपा·······' 'श्वेत······' 'अभिभू···' इन मंत्रों से बलि रखनी चाहिए। "अग्नि सम्बन्धी, पाण्डु जातीय पृथ्वी में रहने वाले सर्पों के अधिपति [शेष या बासुकी] के लिए यह बलि है" "वायु सम्बन्धी श्वेत जातीय अन्तरिक्ष में विहार करने वाले सर्पों के अधिपति [शेष या वासुकी] के लिए यह बलि है" "सभी का नित्य अभिभव करने वाले सूर्य सम्बन्धी, द्यौ में रहने वाले सर्पों के अधिपति के लिए यह बलि है" ॥ १० ॥

(हरिहर०)

प्राशनान्ते सक्तूनामेकदेशᳫं० शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिःशालायाः स्थण्डिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां मान्तरा गमतेत्युक्त्वा वाग्यतः सर्पानवनेजयत्याग्नेयेति।

---

१. द्रष्टव्य—इसी कण्डिका का २३ वाँ सूत्र। आश्व० २–१–१३।

२. सर्पों के प्रक्षालन के लिए जल देना।

(हरिहर०)

प्राशनान्ते संस्रवप्राशनानन्तरं सक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं शूर्पे [1]शरेषीका-वंशान्यतममये इच्छापरिमाणे न्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य बहिः अङ्गणे स्थण्डिलं भूमिं स्वयमेव गोमयेनोपलिप्य अत्र सर्पानवनेजयतीत्यस्याः क्रियाया उपलेपनक्रियायाश्चैककर्तृकत्वेन पूर्वकालीनस्योपलेपनस्य ल्यबन्तत्वं "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० सू० ३–४–२१) इति पाणिनिना ल्यप् स्मरणात्। तेनात्र स्थण्डिलस्य स्वयं पूर्वमुपलेपनम्। उल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलति काष्ठेऽन्येन ध्रियमाणे मान्तरा गमत आवसथ्यस्य मम चान्तराले मा गच्छत इत्युक्त्वा अभिधाय वाग्यतो मौनी सर्पान् 'आग्नेय' 'श्वेत' 'अभिभूः' इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः 'अवनेनिक्ष्व' इत्येतदन्तैः प्राक्संस्थानवनेजयति अवनिक्तान् शुचीन् करोति ॥ ९ ॥

यथावनिक्तं दर्व्योपघातर्ठ. सक्तून् सर्पेभ्यो बलिर्ठ. हरत्याग्नेयेत्यादि अधिपते एष ते बलिरिति। यथावनिक्तं येषु देशेषु अवनेजनं कृतं यथावनिक्तम् अवनिक्तमनतिक्रम्येत्यर्थः। दर्व्या प्रादेशमात्रया द्व्यङ्गुष्ठपर्वविस्तीर्णया पालाशाद्यन्यतमयज्ञियवृक्षोद्भवया उपघातम् उपहत्योपहत्य गृहीत्वा 'आग्नेय' इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः 'एष ते बलिः' इत्येतदन्तैः प्रतिमन्त्रं सर्पेभ्यो बलिं हरति ददाति। उपघातमिति णमुल्प्रत्ययान्तः उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः, अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमितिवत् ॥ १० ॥

(गदाधर०)

'प्राश···निक्ष्वेति'। संस्रवप्राशनान्ते पूर्वकृतसक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं नडवेणुशरेषीकान्यतममये शूर्पे न्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य बहिः प्राङ्गणे स्थण्डिलभूमिं गोमयेनोपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलत्काष्ठे अन्येन ध्रियमाणे माऽन्तरा गमतेत्यभिधाय वाग्यतः आग्नेयपाण्डुपार्थिवानामिति त्रिभिर्मन्त्रैः सर्पान् प्राक्संस्थान् अवनेजयति भूमावुदकप्रक्षेपेणानिक्तान् शुचीन् करोति। माऽन्तरा गमत आवसथ्यस्य मम चान्तराले मा गच्छतेत्यर्थः। अत्र शूर्पं चर्मतन्तुबद्धमपि ग्राह्यमेव शूर्पस्वरूपस्य तथा प्रसिद्धत्वात्। उल्का च लौकिकाग्निना कार्या। "विशये लौकिकमयुक्तत्वात्" (का० सू० ४–३–७) इति कात्यायनोक्तेः ॥ ९ ॥

'यथा···लिरिति'। येषु देशेषु अवनेजनं कृतं तदनतिक्रम्य यथाऽवनिक्तं दर्व्या

---

१. 'शरेषिका' ग०।

(गदाधर०)

प्रसिद्धया उपघातम् उपहत्योपहत्य गृहीत्वा आग्नेयेत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं सर्पेभ्यो बलिं हरति ददाति । उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः, अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमितिवत् ॥१०॥

अवनेज्य पूर्ववत्कङ्कतैः प्रलिखति–आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳬं सर्पाणामधिपते प्रलिखस्व (१) श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬं सर्पाणामधिपते प्रलिखस्व (२) अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपते प्रलिखस्वेति (३)॥ ११ ॥ अञ्जनानुलेपनठ्ं स्रजश्चाङ्क्ष्वानुलिम्पस्व स्रजोऽपि नह्यस्वेति ॥ १२ ॥ सक्तुशेषठ्ं स्थण्डिले न्युप्योदपात्रेणोपनिनीयोपतिष्ठते नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः ॥ १३ ॥ स यावत्कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत्सन्ततयोदधारया निवेशनं त्रिः परिषिञ्चन् परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् ॥ १४ ॥

(सरला)

पहले की तरह[1] अवनेजन दे कर [वैकङ्कत वृक्ष विशेष की लकड़ी] की कंघी से "आग्नेय पाण्डु···" इन मन्त्रों से रेखा खींचनी चाहिए ॥ ११ ॥ काजल, चन्दन आदि अङ्गराग और पुष्प वेदिका पर चढ़ाने के समय पहले के ही मन्त्रों में लिखस्व के स्थान पर "अञ्जनस्व" "अनुलिम्पस्व" और पुष्प माला में "नह्यस्व" इन पदों को कहना चाहिए ॥ १२ ॥ बलि देने से बचे हुए सत्तुओं को वेदिका पर रखकर जलपात्र से जल छिड़ककर "नमोऽस्तु सर्पेभ्यः[2]" इन तीन मन्त्रों से उपस्थान—[पूजा] करना चाहिए ॥ १३ ॥ वह यजमान जितने स्थान तक चाहे कि सर्प न चलें, फिरें, उतने स्थान तक अविच्छिन्न [निरन्तर बहती हुई] जल की धारा से गृह को सींच कर तीन बार "अपश्वेतपदा जहि···" इन दोनों मन्त्रों से गृह की परिक्रमा करे ॥ १४ ॥

(हरिहर०)

अवनेज्य पूर्ववत्कङ्कतैः प्रलिखत्याग्नेयेत्यादि प्रलिखस्वेत्यन्तम् । अवनेज्य अवनेजनं दत्त्वा, कथम् ? पूर्ववत्कङ्कतैर्वैकङ्कतीयैः प्रादेशमात्रैस्त्रिभिरेकतोदन्तैः समुचितैः 'आग्नेय' इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः प्रलिखस्वेत्यन्तैर्यथासंख्यं प्रतिबलि प्रलिखति कण्डूयति ॥ ११ ॥

---

१. आग्नेय इत्यादि मन्त्रों से ।

२. यजु० १३ ।

(हरिहर०)

अञ्जनानुलेपनठं. स्रजश्चाञ्जस्वानुलिम्पस्व स्रजोऽपि नह्यस्वेति । अञ्जनं कज्जलं लौकिकदीपजं त्रैककुदं, सौवीरमिति प्रसिद्धं वा; अनुलेपनं सुरभिचन्दनादि; स्रजः पुष्पमालाः 'आग्नेय' इत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः 'अञ्जस्व' 'अनुलिम्पस्व' 'स्रजोऽपि नह्यस्व' इत्यन्तैः प्रतिमन्त्रं प्रतिबलिहरणमेकैकं यथाक्रमं ददाति ॥ १२ ॥

सक्तुशेषठं. स्थण्डिले न्युप्योदपात्रेणोपनिनीयोपतिष्ठते नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः । सक्तुशेषे यच्छूर्पे न्युप्यानीतं बल्यर्थं बलिदानायोपलिप्तैकदेशे न्युप्य शूर्पेणैव क्षिप्त्वा उदपात्रेण जलपात्रेण उपनिनीय प्रवाह्य 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः' इति तिसृभिर्ऋग्भिः सर्पानुपतिष्ठते बल्यभिमुखस्तिष्ठन् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् स्तौति ॥ १३ ॥

स यावत्कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत्सन्ततयोदधारया निवेशनं त्रिःपरिषिञ्चन्परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् । स गृहपतिः यावत् यावन्तं देशं सर्पाः नागाः नाभ्युपेयुर्न सञ्चरेयुः इति कामयेत इच्छेत् [1]तावन्तं देशं सन्ततया अनवच्छिन्नया उदधारया सलिलधारया निवेशनं गृहं परिषिञ्चन् त्रिः परीयात् त्रीन्वारान् गृहस्य समन्तात् प्रादक्षिण्येन परिक्रम्य गच्छेत् । कथम् ? 'अपश्वेतपदा जहि' (पा० गृ० २–१४–४) इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् ॥ १४ ॥

(गदाधर०)

'अव···खस्वेति' । तत आग्नेयेत्यादिमन्त्रैः पूर्ववदवनेजनं कृत्वा कङ्कतैस्त्रिभिर्वैकङ्कतीयैः प्रादेशप्रमाणैरेकतोदन्तैः समुच्चितैः 'आग्नेय' इत्यादित्रिभिर्मन्त्रैर्यथासंख्यं दत्तबलिं प्रलिखति कण्डूयति ॥ ११ ॥

'अञ्ज···ह्यस्वेति' । अञ्जनं सौवीराञ्जनं लौकिकदीपजं कज्जलं वा । अनुलेपनं चन्दनादि । स्रजः पुष्पमालाः 'आग्नेय' इत्यादित्रिभिर्मन्त्रैः 'अञ्जस्व अनुलिम्पस्व' 'स्रजोऽपि नह्यस्व' इत्यन्तैः प्रतिमन्त्रं प्रतिबलि यथाक्रममेकैकं ददाति ॥ १२ ॥

'सक्तु···सृभिः । सक्तुशेषं बल्यर्थं यत्पूर्वं शूर्पे कृत्वा आनीतं बलिदानावशिष्टं तत्स्थण्डिले उपलिप्तायां भूमौ शूर्पेणैव न्युप्य प्रक्षिप्योदपात्रेणोपनिनीय आप्लाव्य

---

१. 'तावत् तावन्तं' ख० ।

(गदाधर०)

"नमोस्तु[1] सर्पेभ्यः" (अ० १३ कं० ६, ७, ८) इति तिसृभिरृग्भिः बलिमुपतिष्ठते, बलिसमीपे तिष्ठन् मन्त्रं पठतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

'स या'''द्वाभ्याम्' । स यजमानो यावत् यावन्तं देशं सर्पा नाभ्युपेयुर्नागच्छेयुरिति कामयेत इच्छेत्, तावत् तावन्तं देशं भूभागं सन्ततया अनवच्छिन्नया जलधारया निवेशनं गृहम् 'अपश्वेतपदा जहि' (पा० गृ० २–१४–४) इति पूर्वोक्ताभ्यां मन्त्राभ्यां परिषिञ्चन् त्रिः परीयात् त्रीन्वारान् गृहस्य परितः प्रादक्षिण्येन गच्छेत् । सकृन्मन्त्रेण परिगमनं द्विस्तूष्णीम् । तत इतरथावृत्तिः । कर्त्रन्तरस्यानुपदेशात्स्वयं कर्तृकाणि स्मार्तानि कर्माणि, तत्र स इत्युच्यमाने तस्यैव प्राप्नुवन्ति । काम्येषु तु पुनर्ग्रहणं नियमार्थम् । काम्यं नियमेन स्वयं कर्तव्यम् । यत्त्वकामसंयुक्तं कालनिमित्ते चोद्यते तदागते काले अवश्यं कर्तव्यम्, असंनिहिते च यजमाने अन्येनापि कारयितव्यमिति भर्तृयज्ञः ॥ १४ ॥

दर्वीं शूर्पं च[2] प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रयच्छति ॥ १५ ॥ द्वारदेशे शालाया द्वारे आपो हिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः मार्जयन्त आपो-

---

१. नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु । ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ (य० सं० १३–६).

अस्यार्थः—ये के च ये केचित् सर्पन्ति सर्पा लोकाः पृथिवीमनुगताः तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु नमस्कारो भवतु । अन्तरिक्षे लोके ये वर्त्तमानाः सर्पाः, ये च दिवि द्युलोके ये वर्त्तमानाः सर्पास्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु । इति ॥

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीꣳरनु ।

ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ (य० सं० १३–७)

अस्यार्थः—यातुं यातनां दुःखं दधति धारयन्ति ते यातुधानाः रक्षःप्रभृतयः । तेषां मध्ये याः सर्पजातयः इषवः बाणरूपेण वर्तन्ते, ये वा अन्ये अवटेषु बिलेषु शेरते स्वपन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ।

ये वाऽमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु । येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ (य० सं० १३–८)

अस्यार्थः—दिवः द्युलोकस्य रोचने दीप्तस्थाने ये वा अमी सर्पाः स्थिताः, अमी इति विप्रकृष्टानामपि प्रत्यक्षाणां निर्देशः । ये वा सूर्यस्य रश्मिषु किरणेषु सर्पाः वसन्ति. येषां सर्पाणाम् अप्सु जलेषु सदः स्थानं कृतं भवति, तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः नमस्कारः अस्तु इति ।

२. 'च' नास्ति ख० ग० ।

हिष्ठेति तिसृभिः ॥ १६ ॥ अनुगुप्तमेतठ्ँ. सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्त-मितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातठ्ँ. सक्तून्सर्पेभ्यो बलिठ्ँ. हरेदाग्रहायण्याः ॥ १७ ॥ तठ्ँ, हरन्तं नान्तरेण गच्छेयुः ॥ १८ ॥ दर्व्याचमनं प्रक्षाल्य निदधाति ॥ १९ ॥ धानाः प्राश्नन्त्यसठ्ँ. स्यूताः ॥ २० ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २१ ॥ ॥ १४ ॥

॥ इति चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

(सरला)

मेक्षण और सूप को धोकर और तपाकर रख देना चाहिए ॥ १५ ॥ "आपो-हिष्ठा···[1]" इन तीनों मन्त्रों से दरवाजे के स्थान में मार्जन [धुलाई] करना चाहिए ॥ १६ ॥ इस होम से बचे हुए सत्तू को सुरक्षित रखकर इस श्रावण कर्म के बाद नित्यप्रति सूर्यास्त होने पर अग्नि का पूजन करके श्रावण से अग्रहायणी यज्ञ तक [जिसकी विधि तीसरे काण्ड की दूसरी कण्डिका में है] मेक्षण से सत्तू लेकर [पूर्वोक्त विधि के ही अनुसार] सर्प देवताओं के लिए बलि देनी चाहिए ॥ १७ ॥ उस बलि को प्रदान करते हुए [यजमान व आवसथ्याग्नि के] बीच से नहीं जाना चाहिए[2] ॥ १८ ॥ तत्पश्चात् आचमन करके मेक्षण को धोकर रख देता है ॥ १९ ॥ [ब्रह्मा और यजमान दोनों ही] यव को बिना कूंचे खाएँ ॥ २० ॥ सबसे बाद में ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ २१ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में चौदहवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १४ ॥

(हरिहर०)

दर्वी शूर्पं च प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रयच्छति । दर्वीं पूर्वोक्तां शूर्पं च [3]प्रक्षाल्य क्षालयित्वा प्रतप्य सक्तत्तापयित्वा सन्निधानादुल्कायामेव प्रयच्छति ददाति उल्काधाराय सन्निधानादेव ॥ १५ ॥

---

१. द्रष्टव्य—यजु० ११।५०–५२ ।

२. द्रष्टव्य—आश्व० ३. १. १३ और इसी कण्डिका का सूत्र ११ ।

३. 'प्र' नास्ति ख० ग० ।

(हरिहर०)

द्वारदेशे मार्जयन्त आपो हिष्ठेति तिसृभिः। द्वारदेशे शालाया द्वारे आपो-हिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः मार्जयन्ते बहुवचनोपदेशात् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः मार्जयन्ते अद्भिरात्मानमभिषिश्चन्ति ॥ १६ ॥

अनुगुप्तमेतठ्ँ सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योप-घातठ्ँ सक्तून्सर्पेभ्यो बलिठ्ँ हरेदाग्रहायण्याः॥ एतं प्रकृतं सक्तुशेषं होम-विशिष्टान्सक्तून् अनुगुप्तं सुरक्षितं यथा भवति तथा निधाय स्थापयित्वा ततस्तस्मात् श्रवणाकर्मकालात् प्रभृति अस्तमिते सूर्ये प्रतिदिनमग्निमाव-सथ्यं परिचर्य सायं होमेन आराध्य दर्व्योपघातं शूर्पे न्युप्तान् सक्तून सर्पेभ्य उक्तप्रकारेण[1] बलिं हरति। किमवधि ? आग्रहायण्याः आग्रहायणीं पौर्ण-मासीं यावत्, अथवा आग्रहायणीशब्देन तत्कालावधिकमाग्रहायणीकर्म लक्ष्यते, तत्र हि बलीनामुत्सर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात्। भाष्यकारस्तु—तत इति तेभ्यः सक्तुभ्यः दर्व्योपहत्योपहत्यास्तमिते अग्निपरिचरणं कृत्वा बलिं हरेदाग्रहायणीं यावदित्याह स्म। बलिहरणं च अवनेजनदानप्रत्य-वनेजनैः कङ्कतविलेखनान्तैरेव ॥ १७ ॥

तठ्ँ हरन्तं नान्तरेण गच्छेयुः। तं गृहपतिं बलीन् हरन्तम् आवसथ्या-ग्निम् अन्तरेण मध्ये न गच्छेयुः प्राणिनः। ततः श्वादयोऽपि निवार्या ॥१८॥

दर्व्याचमनं प्रक्षाल्य निदधाति। दर्व्या आचमनं मुखं प्रक्षाल्य निदधाति स्थापयति प्रत्यहं दर्वीमुखप्रक्षालनोपदेशाच्छूर्पप्रक्षालनाभावः ॥ १९ ॥

धानाः प्राश्नन्त्यसठ्ँस्यूताः। धानाः भर्जितान् यवान् प्राश्नन्ति भक्ष-यन्ति। बहुवचनोपदेशात् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः। [2]कथं भूताः ? असठ्ँ-स्यूताः दन्तैरलग्नाः अचर्वयन्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २१ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः—तत्र श्रावण्यां पूर्णिमायां श्रवणाकर्म। तस्य प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं विधायावसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात्। तद्यथा, ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते अयं विशेषः चरुस्थाल्यनन्तरं भर्जनकर्परं, तत -एकं कपालं, तथा तण्डुलानन्तरं यवान् ततस्तण्डुलपिष्टान्यासादयेत्।

---

१. 'उक्तप्रकारेणैव' ख० ग०।

२. 'धानाः' इत्यधिकं ख० ग० ३।

(हरिहर०)

प्रोक्षणकाले यथाऽऽसादितं प्रोक्षेत्। उपकल्पयति[1] च दृषदुपले शूर्पोल्के उदपात्रदर्व्यौ कङ्कतत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेति। ततः पवित्रकरणादि-प्रोक्षणीनिधानान्ते चरुदेशस्योत्तरतो भर्जनमधिश्रित्य तदुत्तरतः कपाल-मुपधाय आज्यं निरूप्य चरुपात्रे प्रणीतोदकासेचनपूर्वकं तण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा[2] (प्रणीतोदकेन पिष्टं संपूय पुरोडाशं कृत्वा) ब्रह्मद्वारा आज्यमधिश्रित्य स्वयं चरुमन्येन भर्जने यवानपरेणैककपाले पुरोडाशमधिश्रित्य पुरोडाशं प्रथयित्वा यावत्कपालं सर्वेषां पर्यग्निकरणं कुर्यात्। ततः स्रुवं संस्कृत्या-ज्यमुद्वास्य चरुं चोद्वास्याज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा धाना उद्वास्य चरो-रुत्तरतो निधाय पुरोडाशमुद्वास्य धानानामुत्तरतः स्थापयेत्। तत आज्यो-त्पवनवीक्षणप्रोक्षण्युत्पवनानि कृत्वा धानानां भूयसीर्धाना दृषदुपलाभ्यां पिष्ट्वा अल्पाः पृथक् स्थापयित्वा घृतेन सक्तून् अङ्क्त्वा उपयमनकुशा-दानाद्याज्यभागान्तं कर्म कुर्यात्। तत आज्येन—'अपश्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः स्वाहा' इति 'इदं श्वेतपदे' इति त्यागं विधाय "न वै श्वेतस्याध्याचारेऽहिर्ददर्श न कञ्चन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहा" इति मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं श्वेताय वैदर्व्यायेति त्यक्त्वा स्थालीपाकेन चतस्र आहुती-र्जुहोति। तद्यथा, विष्णवे स्वाहा इदं विष्णवे, श्रवणाय स्वाहा इदं श्रवणाय। श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा, इदं श्रावण्यै पौणमास्यै। वर्षाभ्यः स्वाहा, इदं वर्षाभ्यः[3] इति। अथ "धानावन्तं करम्भिणम्" इत्यृचा धानानामेकाहुतिं हुत्वा इदमिन्द्रायेति त्यक्त्वा सक्तूनामाहुति-त्रितयं जुहुयात्। तद् यथा "आग्नेय पाण्डुपार्थिवानाᳬंसर्पाणामधि-पतये स्वाहा" इदं शब्दयुक्तः स्वाहाकाररहितोऽयं मन्त्र एवं त्यागः। एवं[4] त्रिषु। श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬंसर्पाणामधिपतये स्वाहा, अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहा। ततो ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति सर्वं पुरोडाशं स्रुवे कृत्वा जुहुयात्। इदं ध्रुवाय भौमायेति त्यक्त्वा चरु-धानासक्तुभ्य उत्तरतः किञ्चित्किञ्चिदादाय स्विष्टकृतं विधाय महाव्या-हृतिहोमं संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कुर्यात्। अथ हुतशेषसक्तू-

---

१. 'उपकल्पित' ख० ग०।		२. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।

३. 'इति' नास्ति क०।		४. 'एवं' नास्ति क० ग०।

नामेकदेशं शूर्पे प्रक्षिप्यादायोदपात्रं[1] दर्वीकङ्कतत्रयाञ्जनानुलेपनस्रजश्च शालाया बहिर्निष्क्रम्य ब्रह्मणा उल्काधारेण च[2] सह, स्वाङ्गणे हस्तमात्रं स्थण्डिलं स्वयमुपलित्य लौकिकाग्न्युल्कायां ध्रियमाणायां मान्तरा गमतेति प्रैषमुच्चार्य वाग्यतः स्थण्डिले उदपात्रमादाय 'आग्नेय' इत्यादिना-'अधिपतेऽवनेनिक्ष्व'इत्यन्तेन मन्त्रेण[3] एकत्रावनेजनार्थं जलं दत्त्वा 'श्वेत-वायव' इत्यादिना 'अधिपतेऽवनेनिक्ष्व' इत्यन्तेन द्वितीयम् 'अभिभूः सौर्य' इत्यादिना तथैव तृतीयं सर्पानवनेजयति। ततोऽवनेजनस्थानेष्ववनेजन क्रमेण एतैरेव मन्त्रैरेष ते बलिरित्यन्तैस्त्रिः प्रतिमन्त्रं बलिं हरति। ततः पूर्ववदवनेज्य कङ्कतत्रयेण प्रलिखस्वेत्यन्तैः एतैरेव मन्त्रैः प्रतिबलिं प्रतिमन्त्रं प्रलिखति। ततोञ्जस्वेत्यन्तैरुक्तमन्त्रैः प्रतिबलिं प्रतिमन्त्रमञ्जनं ददाति। तथैवानुलिम्पस्वेत्यनुलेपनम्। एवमेव स्रजोपि नह्यस्वेति पुष्पमालां दत्त्वा सक्तुशेषं स्थण्डिले क्षिप्त्वा उदपात्रजलेन प्रसंप्लाव्य "नमोऽस्तु सर्पेभ्यः" इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिस्तिष्ठन्[4] सर्पानुपतिष्ठते। ततः स गृहपतिः एता-वन्तं देशं सर्पा न प्रविशेयुरिति यावत् कामयेत तावन्तं देशं सन्ततोदकधा-रया त्रिः परिषिञ्चन् गृहं परीयात्। अपश्वेतपदा जहीति पूर्वोक्तमन्त्राभ्यां सकृत् द्विस्तूष्णीम्। ततो दर्वीं शूर्पं च प्रक्षाल्योल्कायां सकृत्प्रतप्योल्काधाराय प्रयच्छति। अथ शालाद्वारि आपो हिष्ठेति तृचेन ब्रह्मयजमानोल्काधाराः मार्जयन्ते जलेनात्मानम्। ततो धानाः प्राश्नन्ति ब्रह्मयजमानोल्काधारा अनवखण्डयन्तः। ततो ब्राह्मणभोजनम्। एतावच्छ्रवणाकर्म।

अथ प्रत्यहं बलिहरणप्रयोगः—सक्तुशेषं सुगुप्ते भाण्डे स्थापयित्वा ततोऽस्तमिते [5]सूर्येकृतसायं होमः शूर्पे सक्तुदर्वीकङ्कतत्रयं निधायोदपात्रं गृहीत्वा सोल्काधारः शालायाः बहिरुपलेपनादि परिलेखनान्तं बलिहरण-मनुदिनं पूर्ववत्कुर्यात् आग्रहायणीं यावत्। मान्तरा गमतेति प्रैषाभावेऽपि कश्चित् अन्तरा न गच्छेत्। दर्वीमुखमेव प्रक्षालयेत्।

॥ इति अहरहर्बलिदानविधिः ॥

---

१. 'प्रक्षिप्योदपात्रं' ख० ग०।

२. 'च' नास्ति क०।

३. 'मन्त्रेण नास्ति क०।

४. 'स्तिष्ठन्नुपतिष्ठ' क०।

५. 'कृतसायं होमः शूर्पे' नास्ति क०।

(गदाधर०)

'दर्वी···च्छति'। यया बलिदानं कृतं तां दर्वी शूर्पं च प्रक्षाल्य प्रतप्य संनिधानादुल्कायामेव सकृत्तापयित्वा प्रयच्छति उल्काधाराय संनिधानात् ॥ १५ ॥

'द्वार···सृभिः'। ऋग्भिः बहुवचनाद् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः शालाया [1]द्वारे आपो हिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिर्मार्जयन्ते अद्भिरात्मानमभिषिञ्चन्ति ॥ १६ ॥

'अनु···यण्याः' एतं प्रकृते सक्तुशेषमनुगुप्तं सुगुप्तं यथा भवति तथा स्थापयित्वा ततस्तेभ्यः सक्तुभ्योऽस्तमितेऽस्तमिते सूर्ये प्रत्यहमक्षतहोमानन्तरं दर्व्योपघातं दर्व्योपहृत्योपहृत्य सक्तून्सर्पेभ्यो बलिं हरेदाग्रहायणीं पौर्णमासीं यावत् ॥ १७ ॥

'तऽं···च्छेयुः' तमावसथ्याग्निं बलिं हरन्तं यजमानं चान्तरा मध्ये न गच्छेयुर्लोकाः। श्वादयोऽपि निवार्याः ॥ १८ ॥

---

१. "आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे" ॥ (य० सं० अ० ११ कं० ५०)॥ हे आपः! या यूयमेव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ। मयः सुखं भावयन्ति प्रापयन्ति ता मयोभुवः। यस्मात्कारणान्मयोभुवः स्थेति वा। स्नानपानादिहेतुत्वेन सुखोत्पादकत्वमपां प्रसिद्धम्। ताः तादृश्यो यूयं नः अस्मान् ऊर्जे रसाय भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत, यथा वयं सर्वस्य भोगस्य रसस्य भोक्तारो भवेम तथास्मान् कुरुतेति भावः। किञ्च महे महते रणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनाय चास्मान् दधातनेत्यनुवर्तते महद्रमणीयं दर्शनं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं तदस्माकं कुरुत, अस्मान् ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यान् कुरुतेति भावः। ऐहिकपारलौकिकसुखं दत्तेत्यृचो भावः।

"यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः" ॥ (य० सं० अ० ११ कं० ५२)॥ हे आपः! वो युष्माकं यः शिवतमः शान्ततमः सुखैकहेतू रसोऽस्ति। इहास्मिन् कर्मणि इह लोके वा स्थितान् नः अस्मान् तस्य रसस्य भाजयत भागिनः कुरुत, तं रसं प्रापयेति भावः। तत्र दृष्टान्तः—उशतीर्मातर इव उशन्ति ता उशत्यः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयस्तन्यरसः बालं पाययन्ति तद्वत्।

"तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः"। (य० सं० अ० ११ कं० ५२)॥ हे आपः! वः युष्मत्सम्बन्धिनस्तस्य पर्याप्तिं वयं गमाम गच्छेम। यस्य क्षयाय जिन्वथ क्षयस्य निवासस्य जगतामाधारभूतस्य यस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्यैकदेशेन यूयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् जिन्वथ तर्पयथ। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। पश्चाहुतिपरिणामक्रमेणेति भावः। किञ्च हे आपः! नः अस्मान् तत्र भोक्तृत्वेन जनयथ उत्पादयत। यद्वा, अस्या ऋचोऽयमर्थः—यस्य क्षयाय क्षयेन निवासेन यूयं जिन्वथ प्रीता भवथ तस्मै रसाय तद्रसाप्तये वो युष्ममानरमत्यर्थं वयं गमाम प्राप्नुमः। किञ्च हे आपः! यूयं नः अस्मान् जनयथ प्रजोत्पादनसमर्थान् कुरुत।

(गदाधर०)

'दर्व्याः···धाति'। ततो दर्व्यां आचमनं मुखे प्रक्षाल्य निदधाति प्रतिदिनम्। अत्र न शूर्पप्रक्षालनम्, अनुक्तत्वात् ॥ १९ ॥

'धानाः···स्यूताः'। श्रावण्यां पौर्णमास्यां संस्थिते श्रवणाकर्मणि धाना अश्नन्ति दन्तैरचर्वन्तो ब्रह्मयजमानोल्काधाराः ॥ २० ॥

'ततो···जनम्' ॥ २१ ॥

अथ पदार्थक्रमः—तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकं नान्दीमुखं श्राद्धं कृत्वा आवसथ्ये कर्म कार्यम्। ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः—चरुपात्रानन्तरं भर्जनखर्परस्यासादनम्। तत एककपालम्। तण्डुलानन्तरं यवानामासादनम्। ततः पिष्टानाम्। प्रोक्षणं च यथासादितानाम्। उपकल्पनीयानि—दृषदुपले शूर्पमुल्का उदपात्रं दर्वी कङ्कतत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेति। उल्काधारकः, मार्जनीयोदकं, धानाः प्राशनार्था लौकिकाः इति त्रयमधिकमुपकल्पनीयमिति रेणुकः। ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणीनिधानान्ते चरुदेशस्योत्तरतो भर्जनखर्पराधिश्रयणम्। 'अत्र सन्ध्याशून्येऽङ्गारकरणम्' इति रेणुकः। भर्जनस्योत्तरत एककपालोपधानमाज्यनिर्वापश्चरुपात्रे तण्डुलप्रक्षेपः, प्रणीतोदकेन पिष्टसंयवनं, ब्रह्मण आज्याधिश्रयणं, तदुत्तरतश्चरोरधिश्रयणं यजमानस्य, चरोरुत्तरतः खर्परे यवाधिश्रयणमुल्काधारस्य, कपाले पुरोडाशमधिश्रित्यैककपालं प्रथयेदितरः, सर्वेषां पर्यग्निकरणं, स्रुवसंस्कारः, तत आज्यादीनामुद्वासनमुदक्संस्थमाज्योत्पवनमवेक्षणं प्रोक्षण्युत्पवनं, धानानां भूयसीः पिष्ट्वा अल्पानां स्थापनम् आज्येन सक्तूनाञ्जनम्। तत उपयमनकुशादानाद्याज्यभागान्ते आज्याहुतिद्वयं कुर्यात्। तत्र 'अपश्वेतपदा' इति प्रथमाम्, इदं श्वेतपदे० 'नवै श्वेतस्य' इति द्वितीयाम्, इदं श्वेतपदाय वैदर्व्याय०। ततः स्थालीपाकेनाहुतिचतुष्टयम्—विष्णवे स्वाहा, श्रवणाय स्वाहा०, श्रावण्यै पौर्णमास्यै०, वर्षाभ्यः०, इदं विष्णवे न ममेत्यादित्यागः। 'धानावन्तम्' इत्यृचा धानानामेकाऽऽहुतिः—इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न०। ततः सक्तूनामाहुतित्रयं जुहुयात्—'आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाम्' इति प्रथमाम्, 'श्वेतवायवान्तरिक्षाणाम्' इति द्वितीयाम्, 'अभिभूः' इति तृतीयाम्; यथा (दैवतं) मन्त्रान्ते त्यागाः स्वाहाकारवर्जिता इदं शब्दादयः। ततो 'ध्रुवाय भौमाय स्वाहा' इति पुरोडाशं सकलं जुहोति इति 'ध्रुवाय भौमाय०। ततश्चरुधानासक्तुभ्य उत्तरतः स्विष्टकृत्। ततो नवाहुतयः। संस्रवप्राशनादिदक्षिणादानान्तम्। सक्तुशेषैकदेशस्य शूर्पे प्रक्षेपः। शालाया बहिर्निष्क्रमणम्। बहिरेव स्थण्डिलोपलेपनम्। तत उल्काधारणम्। माऽन्तरा गमतेति प्रैषः। वाग्यतः स्थण्डिले सर्पानवनेजयति 'आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳩ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व' इति त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम्। ततोऽवनेजनस्थानेष्ववनेजनक्रमेणैतैरेव मन्त्रैरेष ते बलि-

(गदाधर०)

रित्यन्तैस्त्रिभिः प्रतिमन्त्रं बलिं हरति । अत्र यथादैवतं त्यागा इति गर्गः । नेत्यपरे नाञ्जनादौ त्यागा इति **रेणुकः** । ततः पूर्ववत्पुनरवनेजनम् । एतैरेव मन्त्रैः प्रलिखस्वेत्यन्तैः कङ्कतत्रयेण प्रतिमन्त्रं प्रलिखति । ततोऽञ्जस्वेत्यन्तैरुक्तमन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रमञ्जनं ददाति । तथैवानुलिम्पस्वेत्यनुलेपनमादायम् । स्रजोऽपिनह्यस्वेत्यन्तैः पुष्पमालादानम् । ततः सक्तुशेषं स्थण्डिले न्युप्योदपात्रनिनयनं सक्तुशेषस्योपरि । 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः' इति तिसृभिरुपस्थानम् । स यावन्तं कामयेत एतावन्तं देशं न सर्पा अभ्युपेयुरिति, तावन्तं गृहदेशमुदधारया सन्ततया त्रिः परिषिञ्चन्परीयात्, 'अपश्वेतपदा जहि' इति द्वाभ्याम् । अत्र स्वाहाकारो नेति **गर्गरेणुकौ** । सकृन्मन्त्रेण परिगमनं द्विस्तूष्णीम् । तत इतरथावृत्तिरिति **रेणुकः** । दर्वी शूर्पं च प्रक्षाल्योल्कायां प्रतप्योल्काधाराय प्रयच्छति । ततो जलेन मार्जनं द्वारदेशे 'आपो हि ष्ठा' इति तिसृभिर्ब्रह्मयजमानोल्काधाराणाम् । ततो धानानां प्राशनं तेषामेव । ततो ब्राह्मणभोजनम् । सक्तुशेषस्थापनं सुगुप्ते भाण्डे । ततोऽस्तमिते अक्षतहोमानन्तरमुल्काधारणादिबलिहरणकङ्कतपरिलेखान्तं पूर्ववत् । माऽन्तरा गमतेति प्रैषाभावेऽपि नान्तरागमनम् । दर्वीमुखप्रक्षालनम् । शूर्पदर्व्योः प्रक्षालनमिति **वासुदेवरेणुकौ** । एवमन्वहं बलिहरणमाग्रहायणीं यावत् ।

॥ इति पदार्थक्रमः ॥

अथ गर्गमते विशेषः ।

पात्रासादने—चरुस्थाली आज्यानन्तरं यवाः तण्डुलाः पिष्टं कर्परिका कपालं बर्हिः दर्वी उल्का उल्काधारश्च शूर्पं कङ्कतास्त्रयः अञ्जनमनुलेपनं स्रजश्च उदकं दृषदुपले वरश्च । ततः स्फ्योपहितमोषधिकरणम् । ततो ग्रहणम् । विष्णवे, श्रवणाय, श्रावण्यै पौर्णमास्यै, वर्षाभ्यो जुहोति । तण्डुलानां ग्रहणम् । इन्द्राय जुष्टं गृह्णामीति यवानाम् । ध्रुवाय भौमाय जु० पिष्टस्य ग्रहणम् । प्रोक्षणे स्वाधिकः । प्रोक्षणीनिधानान्ते भर्जनाधिश्रयणादिपर्यग्निकरणान्ते स्रुवप्रतपनादिबर्हिस्तरणान्तम् । धाना उद्वास्याल्पानां पेषणं कृत्वा चर्वादीनामुद्वासनमिति गर्गमतमिति तत्पद्धतौ । स्तरणान्ते आज्योद्वासनादिधानोद्वासनान्तम् । अल्पानां धानानां पृथक्करणम् । भूयिष्ठानां पेषणम् । ततः सर्वेषामभिघारणं बर्हिष्यासादनं च । तत उपयमनादानाद्याज्यभागान्तम् । ततः स्विष्टकृदादि दर्वीं शूर्पं प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रदानान्तं समानम् । बलिहरणादौ सक्तुहोमवद्यथोद्देशं त्यागाः । परिषेचनमन्त्रयोः स्वाहाकारवर्जितयोरुच्चारणमिति **गर्गपद्धतौ** । मार्जनं यजमानपत्न्युल्काधाराणाम । सक्तूनां स्थापनम् । ततो धानाप्राशनं स्वामिब्रह्मोल्काधाराणम् । ततो बर्हिर्होमादिब्राह्मणभोजनान्तम् । ततोऽस्तमिते उल्काधारणादिपरिलेखान्तं पूर्ववत् । यथोक्ता एव त्यागाः । एवं प्रत्यहमाग्रहायणीं यावत् । इति ग र्मते ।

(गदाधर०)

कारिकायां विशेषः श्रवणाकर्माकरणे—

श्रवणाकर्म लुप्तं चेत्कथंचित्सूतकादिना ।
आग्रहायणिकं कर्म वलिवर्जमशेषतः ॥
अकृत्वाऽन्यतमं यज्ञं पश्चानामधिकारतः ।
उपवासेन शुध्यन्ति पाकसंस्था तथैव च ॥
पाकसंस्थासु लुप्तासु श्रवणाकर्म आदितः ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं वचनात्तु प्रजापतेः ॥
स्वयं होमाश्च यावन्तो न कृताश्चेत्प्रमादतः ।
तावतोऽपि बलींश्चायं हरेत्तदहरेव तु ॥
एकैकं परिलेखान्तमेकमेवोदपात्रकम् ।
प्रक्षालनं तदन्ते स्याच्छूर्पदर्व्योर्भवेदिति ॥ १४ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशकण्डिका

प्रौष्ठपद्यामिन्द्रयज्ञः ॥ १ ॥ पायसमैन्द्रठं श्रपयित्वाऽपूपाठंश्च ॥ २ ॥ अपूपैस्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय प्रौष्टपदाभ्यश्चेति ॥ ३ ॥ [1]प्राशनान्ते मरुद्भ्यो बलिठं हरत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः ॥ ४ ॥ आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात् ॥ ५ ॥ शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम् ॥ ६ ॥ विमुखेन च मनसा ॥ ७ ॥ नामान्येषामेतानीति श्रुतेः ॥ ८ ॥ इन्द्रं दैवीरिति जपति ॥ ९ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १० ॥ १५ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

(सरला)

"इन्द्र-यज्ञ"

प्राक्कथन :—जिस प्रकार श्रावणमास की पूर्णमासी में श्रवणाकर्म का विधान है उसी प्रकार भाद्रपद की पूर्णमासी को "इन्द्र-यज्ञ" नामक कर्म होता है। इस होम के प्रधान देवता 'इन्द्र' हैं।

हिन्दी—भाद्रपद की पूर्णमासी को इन्द्र-यज्ञ [नामक कर्म करना चाहिए] ॥ १ ॥ इन्द्र के लिए खीर पकाकर और [अग्नि के चारों ओर बिछाने के लिए] पूआ [पकाकर] ॥ २ ॥ पूओं को [अग्नि के चारों ओर] बिछाकर, आघार और आज्यभाग नामक आहुतियों को प्रदान करके, घी की आहुतियाँ इन्द्र के लिए, इन्द्राणी के लिए, अजैकपाद के लिए, अहिर्बुध्न्य के लिए और प्रौष्ठपदाओं (भादों मास) के लिए [इन्द्राय आदि पाँच मन्त्रों से स्वाहाकार अन्त में लगाकर] आहुति प्रदान करता है[2] ॥ ३ ॥ [हुतशेष के] प्राशन के बाद मरुतों के लिए बलि देता

---

१. इतः पूर्वं 'स्थालीपाकस्य जुहोतीन्द्राय स्वाहेति' अधिकं क० ।

२. भाष्यकार हरिहर के मत से पायस की आहुति का यद्यपि आगे विधान नहीं है फिर भी 'इन्द्राय स्वाहा' मन्त्र से पायस की एक आहुति दे देनी चाहिये। अन्यथा पायस का पकाना व्यर्थ ही होगा।

(सरला)

है [क्योंकि] श्रुति के अनुसार मरुत[1] अहुत (बलि) के खाने वाले हैं ॥ ४ ॥ उन्हें पीपल के पत्तों पर [बलि देनी चाहिए] [क्योंकि] यह कहा है कि "मरुत देव पीपल में स्थित हैं[2]" ॥ ५ ॥ 'शुक्र ज्योतिः···" [यजु० १७।८० से ८५ तक] इन प्रत्येक मन्त्रों से[3] और ["उग्रश्च भीमश्च···" यजु० १७।८६] इस विमुख नामक मन्त्र से मन में ही पढ़कर [बलि देना चाहिए] ॥ ६–७ ॥ [क्योंकि] श्रुति कहती है कि यह इन (मरुद्गणों) के नाम हैं[4] ॥ ८ ॥ 'इन्द्रं दैवी'[5] (काठ. सं. १७.८६) इस मन्त्र को जपता है ॥ ९ ॥ इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में पन्द्रहवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १५ ॥

(हरिहर०)

प्रौष्ठपद्यामिन्द्रयज्ञः । प्रौष्ठपदी भाद्रपदी प्रकरणात् पौर्णमासी, तस्याम् इन्द्रयज्ञनामधेयं कर्म भवति औपासनाग्नौ ॥ १ ॥

पायसमैन्द्रꣳ श्रपयित्वाऽपूपांश्च । पायसं पयसा सिद्धं चरुम् ऐन्द्रम् इन्द्रदेवत्यं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा अपूपांश्च चतुरः श्रपयित्वा तांश्च चतुरः प्रतिदिशं संस्तरणार्थम् । ऐन्द्रमित्यनेन देवतातद्धितेन इन्द्राय स्वाहेति होमलक्षणा, उपरि होमस्य मन्त्रान्तरस्य चानुक्तत्वात् । अत्र पायसश्रपणोपदेशात् पयश्च प्रणीयते ॥ २ ॥

अपूपैस्तीर्त्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय प्रौष्ठपदाभ्यश्चेति । अपूपैः प्रतिदिशमग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागौ

---

१. यह श्रुति शतपथ IV ५.२.१६ से उद्धृत है। यहाँ अहुत का अर्थ बलि है। यह परिभाषिक शब्द है जो कि बलि के अर्थ में प्रयुक्त हैं जैसे शांखायन १.१०.७ में "हुतोग्निहोत्रहोमेन' अहुत बलिकर्मणा।

२. शतपथ IV ३.३.६ में इन्द्र के प्रसङ्ग में यह उद्धृत है। पीपल के पत्ते प्रायः हिलते रहते हैं अतः उन पर मरुतों की स्थिति कही गई है।

३. यह सूत्र कात्या० १८.४.२३ के अन्तिम भाग से मिलता है।

४. शतपथ IX ३.१.२६ से यह श्रुति उद्धृत है जहाँ "शुक्र ज्योतिः" आदि मरुद्गणों के नाम कहे गये हैं। यह शब्द वाज० सं० १७.८० में भी आया है।

५. यह सूत्र कात्या० १८.४.२५ के समान है।

(हरिहर०)

हुत्वा इन्द्रायेत्यादिभिः स्वाहान्तैः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति। अत्रानुक्तोऽपि पायसेन इन्द्राय स्वाहेत्येकाहुतिहोमः, अन्यथा पायसश्रपणमदृष्टार्थं स्यात् ॥ ३ ॥

प्राशनान्ते मरुद्भ्यो बलिं हरत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः। ततः स्विष्टकृदादिप्राशनान्ते मरुद्भ्यः एकोनपञ्चाशत्संख्येभ्यो देवताभ्यो बलिं ददाति। ननु मरुतां देवतात्वे सति कथं होमसम्बन्धरहितत्वं, बलिदानार्हत्वं च? शृणु, 'अहुतादो मरुत' इति श्रुतेः अहुतमदन्तीत्यहुतादः मरुतो देवा इति श्रुतेः वेदवचनात् ॥ ४ ॥

आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात्। मरुद्भ्यो बलिं हरतीत्युक्तम्, तस्याधिकरणमुच्यते--अश्वत्थस्य इमानि आश्वत्थानि तेषु पिप्पलोद्भवेषु पत्रेषु 'बलिं हरति' इति शेषः। ननु बलिहरणं भूमौ अन्यत्र दृश्यते, इह कस्मादश्वत्थपत्रेष्विति शङ्कते आह---मरुतः शुक्रज्योतिप्रभृतयो यस्मात् अश्वत्थे तस्थुः स्थितवन्त इति वचनात् श्रुतेः ॥ ५ ॥

शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम्। विष्णुमुखेन च मनसा। नामान्येषामेतानीति श्रुतेः। मन्त्रापेक्षायामाह---शुक्रज्योतिरित्येवमादिभिर्मन्त्रैः नमस्कारान्तैः प्रतिमन्त्रं विमुखेन च 'उग्रश्च भीमश्च' इत्येवमादिना अध्येतृप्रसिद्धेन मनसा मनोव्यापारेण 'बलिं हरति' इति शेषः। कुतः एभिर्मन्त्रैर्बलिहरणम्? एषां मरुताम् एतानि शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च इत्येवमादीनि विक्षिप इत्यन्तानि नामानि इति श्रुतेः वेदवचनात् ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

इन्द्रं दैवीरिति जपति। बलिहरणान्ते "इन्द्रं दैवीः" इत्येतामृचं जपति ॥ ९ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १० ॥

इति सूत्रार्थः।

अथ प्रयोगः—भाद्रपदपौर्णमास्यां प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं विधायावसथ्याग्नौ इन्द्रयज्ञाख्यं कर्म कुर्यात्। तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः—सक्षीरं प्रणयनम्, मूलदेशे पयः इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयेत्। उपकल्पनीयानि---तण्डुलपिष्टं सप्ताश्वत्थपर्णानि ततः आज्यनिर्वापानन्तरं प्रणीताभ्यः क्षीरमुत्सिच्य चरुपात्रे तण्डुलान्प्रक्षिप्य प्रणीतोदकेन पिष्टं संपूय चतुरोऽपूपान्निर्मायाज्यमधिश्रित्य तदुत्तरतश्चरुं तदुत्तरतः कर्परे चतुरोऽपूपान् अधिश्रयति। आसादनक्रमेणोद्वासनादि। तत उपयमनकुशादानात् पूर्वमपूपैः अग्नेः पुरस्तात् दक्षिणतः पश्चिमतः उत्तरतश्च एकैकेन परिस्तरणं

(हरिहर०)

कृत्वाऽऽज्यभागान्ते पश्चाज्याहुतीर्जुहोति--इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय; इन्द्राण्यै स्वाहा, इदमिन्द्राण्यै; अजायैकपदे स्वाहा, इदमजायैकपदे; अहिर्बुध्न्याय स्वाहा, इदमहिर्बुध्न्याय; प्रोष्ठपदाभ्यः स्वाहा, इदं प्रोष्ठपदाभ्यः। ततः पायसेन इन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमिन्द्रायेति त्यक्त्वा पायसेनैव स्विष्टकृद्धोमं विधाय महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनदक्षिणादानानि कुर्यात्। अथाग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थानि प्रागग्राणि सप्ताश्वत्थपत्राणि निधाय तेषु मरुद्भ्यो बलीन् हरति पायसशेषं स्रुवेणादाय शुक्रज्योतिरित्येवमादिभिः षड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारान्तैरुग्रश्च भीमश्चेत्येतेनैव सप्तमेन च मनसोच्चारितेन च प्रतिमन्त्रं सप्तसु पत्रेषु यथाक्रमम्। स्पष्टार्थं प्रयोग उच्यते त्यागश्च। शुक्रज्योतिश्चेत्यारभ्य ऋतपाश्चात्यंहा नमः, इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्यंहसे च०। ईदृङ्चान्यादृङ्चेत्यादिसरभसे नमः, इदमीदृशे अन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय संमिताय सरभसे च०। ऋतश्चेत्यादिविधारये नमः, इदमृताय सत्याय ध्रुवाय धरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च०। ऋतजिच्चेत्यारभ्य गणो नमः, इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणाय अन्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च०। ईदृक्षास इत्यारभ्य यज्ञे अस्मिन्नमः, इदमीदृक्षेभ्यः एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः संमितेभ्यः सभरेभ्यो मरुद्भ्यश्च०। स्वतवांश्चेत्यादि उज्जेषिणे नमः, इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिने उज्जेषिणे च०। उग्रश्चेत्यारभ्य विक्षिपः स्वाहा नमः मनसा, इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वतेऽभियुग्वने विक्षिपाय चेत्यपि मनसा। तत इन्द्रं दवीरित्येतामृचं जपति यजमानः। ततो ब्राह्मणभोजनमिति ॥ १५ ॥

(गदाधर०)

'प्रोष्ठ...यज्ञः'। इन्द्रयज्ञ इति कर्मणो नामधेयम्। प्रोष्ठपदी च भाद्रपदी पौर्णमासी, तस्यामेतत्कर्मावसथ्येऽग्नौ भवति ॥ १ ॥

'पात्र...पांश्च' पायसं पयसि पक्वं चरुमैन्द्रमिन्द्रदेवत्यं यथाविधि श्रपयित्वा अपूपांश्च चतुरः श्रपयित्वा। ऐन्द्रग्रहणात् इन्द्राय स्वाहेति होमो लभ्यते। अत्रापां क्षीरस्य च प्रणयनं कार्यम् ॥ २ ॥

'अपूपै...भ्यश्च'। अग्नेः प्रतिदिशमपूपैः स्तीर्त्वा प्रदक्षिणं परिस्तीर्य आज्य-

(गदाधर०)

भागानन्तरम् 'इन्द्राय' इत्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति। आज्याहुत्यन्ते इन्द्राय स्वाहेति पायसेन होमः। ततः स्विष्टकृदादि ॥ ३ ॥

'प्राश'''चनात्'। संस्रवप्राशनान्ते मरुद्भ्यो देवताभ्यो बलिं ददाति। ननु होमासम्बन्धे कथमेषां देवतात्वं बलिकर्माहत्वं च? उच्यते, 'अहुतादो मरुतः' इति श्रुतेः। अहुतमदन्तीत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः। अत एव बलिदानमेव न तु होमः। तच्चाश्वत्थेषु पत्रेषु कार्यम्। कुतः? यस्मान्मरुत अश्वत्थे तस्थुः स्थितवन्तः। अत एवाश्वत्थपत्राणां सदैव चाञ्चल्यम्। अश्वत्थस्येमानि आश्वत्थानि पर्णानि तेषु बलिं हरतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

'शुक्र''मन्त्रम्'। यद्बलिहरणं तत् 'शुक्रज्योतिः' इत्येवमादिभिः षड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारान्तैः प्रतिमन्त्रं कार्यम् ॥ ६ ॥

'विमु''''श्रुतेः'। चकाराद् बलिहरणं विमुखेन 'उग्रश्च भीमश्च' इत्यध्येतृप्रसिद्धेन मन्त्रेण मनसोच्चारितेन। एतैर्मन्त्रैरिति कुतः? 'नामान्येषामेतानीति श्रुतेः' एषां मरुतामेतानि शुक्रज्योतिरित्यादीनि नामानि श्रूयन्ते ॥ ७ ॥ ८ ॥

'इन्द्रं'''पति'। बलिहरणान्तरम् 'इन्द्रं दैवीः[१]' इत्येतामृचं जपति ॥ ९ ॥

'ततो'''नम्' ॥ १० ॥

॥ इति पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

अथ पदार्थक्रमः

प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम्। ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः। सक्षीरं प्रणयनम्। उपकल्पनीयानि—यवपिष्टं व्रीहिपिष्टं वा, ससाश्वत्थपत्राणि, पोतकं, कर्परमपूपार्थं, निरुप्याज्यं प्रणीताभ्यः पोतकेन क्षीरं गृहीत्वा चरुपात्रे कृत्वा तण्डुलप्रक्षेपः, प्रणीतोदकेन पिष्टसंयवनं, लौकिकेनेति

---

(१) इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्। एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु। (य० सं० अ० १७ कं० ८६)

अस्यार्थः—दैवीः दैव्यः देवसम्बन्धिन्यः मरुतः मरुद्रूपाः विशः प्रजाः इन्द्रं राजानम् अनुवर्त्मानः अनु पश्चाद्वर्त्म वर्तनं यासां ताः इन्द्रानुगामिन्यः अभवन्। यथा दैवीः विशः इन्द्रम् अनुवर्त्मानः इन्द्रमनुसृत्य वर्तमाना अभवन्। एवं दैवीर्मानुषीश्च देवसम्बन्धिन्यो मनुष्यसम्बन्धिन्यश्च। विशः प्रजाः इमं यजमानम् अनुवर्त्मानः अनुसृत्य वर्त्तमाना भवन्ति। इति प्रार्थना ॥

(गदाधर०)

रैणुकः । आज्याधिश्रयणं, ततश्चतुर्णामपूपानामधिश्रयणमुपयमनादानात्पूर्वमग्नेरपूपैस्स्तरणं पुरस्तात्प्रथमं प्रदक्षिणम् । आज्यभागान्ते पञ्चाज्याहुतयः–इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राण्यै स्वाहा, अजायैकपदे स्वाहा, अहिर्बुध्न्याय स्वाहा, प्रौष्ठपदाभ्य स्वाहा सुगमास्त्यागाः । ततः पायसेन इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय० । ततो नवाहुतयः स्विष्टकृच्च, संस्रवप्राशनम्, मार्जनम्, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोको, दक्षिणादानम् । प्राक्संस्थान्युदक्संस्थानि वा सप्ताश्वत्थपत्राणि कृत्वा तेषु मरुद्भ्यो बलिहरणं पायसशेषेणैव स्रुवेण 'शुक्रज्योतिः' इति षड्भिः 'उग्रश्च' इत्यनेन सप्तमेन च प्रतिमन्त्रम्—शुक्रज्योति० नमः, इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्यहंसे च न मम १ ईदृङ्चान्यादृङ् च० से नमः, इदमीदृशेऽन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय संमिताय सभरसे च न० २ ऋतश्च रये नमः, इदमृताय सत्याय ध्रुवाय धरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च न० ३ । ऋतजिच्च० गणो नमः, इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणायान्तिमित्राय दूरेअमित्राय गणाय च न० ४ । ईदृक्षास० अस्मिन्नमः, इदमीदृक्षेभ्य एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः सम्मितेभ्यः सभरेभ्यो मरुद्भ्यश्च न० ५ । स्वतवांश्च० ज्जेषी नमः । इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिने उज्जेषिणे च० ६ । उग्रश्च भीमश्च० यः स्वाहा नमः, मनसा, इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वते अभियुग्वने विक्षिपाय चेत्यपि मनसा ७ । 'इन्द्रं दैवीः' इत्यस्याः कण्डिकाया जपः । ततो विप्रभुक्तिः । मुख्यकालाभावे गौणेऽप्येतत्कार्यम् ।

अभावान्मुख्यकालस्य गौणकालेऽपि शस्यते ।

इति कारिकोक्तेः । गर्गमते—ग्रहणे इन्द्राय जुष्टम् । प्रोक्षणे त्वाधिकः । इन्द्रं दैवीरित्यस्याः कण्डिकाया जपान्ते बर्हिर्होमादिब्राह्मणतर्पणान्तम् । ततो वैश्वदेवः । अन्यत्समानम् । इति पदार्थक्रमः ॥ १५ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥
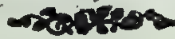
षोडशकण्डिका

आश्वयुज्यां पृषातकाः ॥ १ ॥ पायसमैन्द्रठं श्रपयित्वा दधि-मधुघृतमिश्रं जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति ॥ २ ॥ प्राशनान्ते दधिपृपातकमञ्जलिना जुहोति ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा विगात्स्वाहेति ॥ ३ ॥ दधिमधुघृतमिश्रममात्या अवेक्षन्त आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन ॥ ४ ॥ मातृभिर्वत्सान्त्सठंसृज्य ताᳬं-रात्रिमाग्रहायणीं च ॥ ५ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ६ ॥ १६ ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे षोडशीकण्डिका ॥ १६ ॥

(सरला)

"पृषातक कर्म"

प्राक्कथन :—प्रस्तुत कण्डिका में पृषातक कर्म की विधि कहते हैं। इसमें दही व घृत से हवन करते हैं।

हिन्दी :—आश्विन मास (कुआर) के पूर्णमासी तिथि को पृषातक[1] नामक कर्म करना चाहिए ॥ १ ॥ इन्द्र के लिए पायस (खीर) पकाकर दही, शहद और घी मिलाकर इन्द्र के लिए, इन्द्राणी के लिए, दोनों आश्विनों के लिए, अश्विन की पूर्णमासी के लिए और शरद ऋतु के लिए [इन्द्राय आदि ५ मन्त्रों से स्वाहाकार अन्त में लगाकर] आहुति प्रदान करता है ॥ २ ॥ [हुत शेष के] प्राशन के बाद घी मिली हुई दही को अञ्जलि से "ऊनं मे'''स्वाहा" इस मन्त्र से आहुति देता है[2]।" जो कुछ मेरा अपूर्ण हो वह पूर्ण हो जाय और जो मेरा पूर्ण है वह न्यून न हो [अर्थात् कुछ भी घटे नहीं] ॥ ३ ॥ यजमान के भाई पुत्र आदि सम्बन्धी दही शहद घी मिले हुए चरु को "आयात्विन्द्र'''" [यजु० २८.५७ से ५४ तक] इस [यजुर्वेद के] अनुवाक से देखते हैं ॥ ४ ॥ [जिस दिन पृषातक होम हो] उस रात को गायों के साथ बछड़ों को बन्धन से मुक्त करके [रखना चाहिए] और आग्रहायणी [यज्ञ की रात] में भी [बन्धन-मुक्त रखना चाहिए[3]]

---

१. "पृषातक" का अर्थ है 'मिला हुआ दही और घी'।
तु० शांखा० IV. १६, ३ तु० आश्व० II. २, ६

२. तु० आश्व० I. २, ३ ३. तु० शांखायन ४. १६. ४

(सरला)

॥ ५ ॥ इस [पृषातक होम] के बाद ब्राह्मण भोजन [कराना चाहिए] ॥ ६ ॥

॥ इस प्रकार द्वितीय काण्ड में सोलहवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १६ ॥

(हरिहर०)

आश्वयुज्यां पृषातकाः । पृषातका इतिसंज्ञकं कर्म भवति । तच्च आश्वयुज्यां पौर्णिमायां भवति ॥ १ ॥

पायसमैन्द्रꣳ श्रपयित्वा दधिमधुघृतमिश्रं जुहोति । तत्र ऐन्द्रम् इन्द्रदेवत्यम् पायसं चरुं संसाध्य दधिमधुघृतैर्मिश्रं कृत्वा आवसथ्याग्नौ जुहोति । केभ्य इत्याह—इन्द्रायेन्द्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति । इन्द्रायेत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति यथामन्त्रं त्यागः ॥ २ ॥

प्राशनान्ते दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोत्यूनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा विगात्स्वाहेति । ततः स्विष्टकृत्प्रभृतिप्राशनान्ते दध्ना पृषातकं पृषदाज्यं दधिपृषातकमञ्जलिना "ऊनं मे" इत्यादिना मन्त्रेण जुहोति । पृषदाज्यं घृते दधिप्रक्षेपाद्भवति दुग्धेनापि[1] तत्सम्भवाद् दधिग्रहणम् ॥ ३ ॥

दधिमधुघृतमिश्रममात्या अवेक्षन्ते आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन । ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसम् अमात्या अमा च गृहम् तत्र भवा अमात्या यजमानस्य गृह्याः भ्रातृपुत्रादयः "आयात्विन्द्रोऽवस उप न" इत्यारभ्य "यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" इत्यन्तेन अनुवाकेनावेक्षन्ते पश्यन्ति ॥४॥

मातृभिर्वत्सान् सꣳसृज्य ताꣳ रात्रिम् । ताम्-आश्वयुजीसम्बन्धिनीं रात्रिं वत्सान् मातृभिर्जननीभिर्धेनुभिः सꣳसृज्य संसृष्टान् कृत्वा तां रात्रिमिति "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० सू० २–३–५) इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया । तेन सन्ध्यायां वत्सान् सꣳसृज्य सकलां रात्रिं न बध्नीयात् । आग्रहायणीं च । न केवलं तामेव रात्रिं वत्ससंसर्गः, आग्रहायणीं च मार्गशीर्षसम्बन्धिनीमपि रात्रिम् ॥ ५ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १६ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

---

१. 'दुग्धेनापि तत्सम्भवाद् दधिग्रहणम्' नास्ति क० ।

(हरिहर०)

अथ प्रयोगः—तत्र आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातकाख्यं कर्म भवति। तद्यथा प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकपूर्वकमावसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादि प्राशनान्ते विशेषः—सक्षीराः प्रणीताः प्रणयेत, दधिमधुनी उपकल्पयेत्, प्रणीताक्षीरेण पायसं श्रपयेत्। तत उपयमनकुशादानादर्वाक् पायसे दधिमधुघृतानि आवपेत्। आज्यभागानन्तरं दधिमधुघृतमिश्रेण पायसेन इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय; इन्द्राण्यै स्वाहा, इदमिन्द्राण्यै; अश्विभ्यां स्वाहा, इदमश्विभ्याम्; आश्वयुज्यै पौर्णमास्यै स्वाहा, इदमाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै; शरदे स्वाहा, इदं शरदे। एवं पञ्चाहुतीर्हुत्वा तत एव पायसात् स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्ते स्थाल्याज्ये दधि आसिच्य पृषदाज्यं कृत्वा अञ्जलिनाऽऽदाय "ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा विगात्स्वाहा" इति मन्त्रेणैकामाहुतिं जुहोति इदमग्नये। ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसम् अमात्याः पुत्रादयः "आयात्विन्द्र" इत्यनुवाकेन "यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" इत्यन्तेन अवेक्षन्ते। ततो ब्राह्मणभोजनम्। कृतैतत्कर्माङ्गतया ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये ॥ १६ ॥

(गदाधर०)

'आश्व···तकाः'। पृषातका इति वक्ष्यमाणकर्मणो नामधेयम्। तच्चावसथ्ये आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां भवति। आश्वयुजी आश्विनी पूर्णिमा ॥ १ ॥

'पाय···दे चेति' ॥ ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यं पायसं पयसि शृतं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा दधिमधुघृतैर्मिश्रितं पायसं चरुम् 'इन्द्राय' इत्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति ॥ २ ॥

'प्राश···त्स्वाहेति'। संस्रवप्राशनान्ते दधिपृषातकं दध्ना मिश्रितं स्थाल्याज्यमञ्जलिना जुहोति 'ऊनं मे पूर्यताम्' इति मन्त्रेण। दधिपृषातकशब्दः पृषदाज्यवाची। अत्राग्निर्देवतेति गर्गवासुदेवजयरामकारिकाकाराः,

आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते।
मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टपरिभाषावचनात्। वाक्येन प्राकरणिकीमिन्द्रदेवतां बाधित्वा प्रजापतिर्देवतेति हरिहरः। तच्चिन्त्यम्, अनादिष्टदेवतालिङ्गेष्वपि

(गदाधर०)

मन्त्रेषु देवतापेक्षायां सत्यां किं यत्किञ्चिद्देवतान्तरं परिकल्प्यतामुत प्रकृतैव गृह्यतामिति । तत्र प्रकृतपरिग्रहो न्याय्यः, सन्निधानात् । अप्रकृतोपादाने पुनरसंन्निधानात् सन्देह इति । तथा च नैरुक्ताः—'तथा येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' इति । तत्रापि मुख्यत्वादिन्द्र एव । अयमर्थो दर्शितः कर्केणापि 'पिष्टलेपाञ्जुहोति' इति सूत्रे । मन्त्रार्थः—हे इन्द्र, मे मम यदूनं तदनेन होमेन पूर्यतां पूर्णं क्रियताम् । यच्च पूर्णं तन्मा विगात् विपरीतभावमपूर्णतां मा गच्छतु ॥ ३ ॥

'दधि···केन' । अमा गृहं तत्र भवां अमात्या यजमानगृह्या भ्रातृपुत्रादयः दधिमधुघृतैर्मिश्रितं चरुशेषम् 'आयात्विन्द्रः'[1] इत्यनुवाकेन 'स्वस्तिभिः सदा नः' इत्यन्तेनावेक्षन्ते विलोकयन्ति ॥ ४ ॥

'मातृ···रात्रिम्' । वत्साम् धेनुभिः संसृज्य संसृष्टान्कृत्वा तस्यां रात्रौ संसृष्टा एव वसन्ति । तामिति "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० सू० २–३–५) इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया । तेन संपूर्णां रात्रिं वसन्ति । अधिकारमुपजीवन्नाह—'आग्रहायणीं च' । आग्रहायणीं मार्गशीर्षसम्बन्धिनीं रात्रिं संसृष्टा एव वत्साः वसन्ति ॥५॥

'ततो···जनम् ॥ ६ ॥

॥ इति षोडशी कण्डिका सूत्रार्थः ॥

अथ पदार्थक्रमः

प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः—सक्षीरं प्रणयनम्, दधिमधुनोरुपकल्पनम्, प्रणीताक्षीरमुत्सिच्य पायसश्रपणम्, प्रागुपयमनादानात्पायसे दधिमधुघृतावपनम्, आज्यभागान्ते दधिमधुघृतमिश्रेण पायसेन पञ्चाहुतयः—इन्द्राय स्वाहा० इन्द्राण्यै०, अश्विभ्याᳬं स्वाहा आश्वयुज्यै, पौर्णमास्यै०, शरदे० । यथामन्त्रं त्यागाः । ततः पायसादेव

1. आयात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः । वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्नक्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ (य० सं० अ० २० क० ४८) ॥ अस्यार्थः—शूरः विक्रान्तः इन्द्रो नो ऽस्मानवसे अवितुं रक्षितुम् उप आयातु समीपमागच्छतु । इह आयातः सन् अस्माभिः स्तुतः सधमात् सह देवैः सार्धं मादयति तृप्यति स सहमात् सहभोजनकर्ता अस्तु । मादयतेः क्विप् । वावृधानः वर्धमानः यस्य इन्द्रस्य पूर्वीः तविषीः पूर्वाः तविष्यः कृतानि बलानि वृत्रवधादयः पराक्रमाः द्यौर्न स्वर्गं इव कथ्यन्ते, स्वर्गो यथा स्तूयते तथा यस्येन्द्रस्य बलानि स्तूयन्ते । यश्चेन्द्रः अभिभूति अभिभवनशीलं क्षत्र नः श्ररम् पुष्यात् पुष्यति । स इन्द्रः आयात्विति भावः । एवमग्रेऽपि ।

(गदाधर०)

स्विष्टकृत् । ततो महाव्याहृत्यादिनवाहुतयः । संस्रवप्राशनादिदक्षिणान्तम् । ततः स्थाल्याज्ये दध्यासिच्य तत्पृषदाज्यमञ्जलिना जुहोति 'ऊनं मे पूर्यताम्' इति, इदमिन्द्राय० । ततो दधिमधुघृतमिश्रं चरुशेषं यजमानगृह्याः पुत्रादयोऽवेक्षन्ते 'आयातिवन्द्रः' इत्यनुवाकेन 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' इत्यन्तेन मन्त्रेण । ततो ब्राह्मणभोजनम् । रात्रौ वत्ससंसर्गः । गौणकालेऽपीदं कार्यम्—

पृषातकमिदं कर्म गौणकालेऽपि शस्यते ।

इति कारिकोक्तेः । गर्गमते विशेषः—ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्ते बर्हिःसादनानन्तरं दधिमधुघृतानामासादनम्, पयसश्च । ग्रहणे इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि । इन्द्रायेन्द्राण्यै अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे जुष्टमिति केचित् । आज्यभागान्ते पायसे दध्याद्यावपनम् । स्विष्टकृदन्ते पृषदाज्यहोमः । इदमग्नय इति त्यागः । ततो महाव्याहृत्यादिदक्षिणान्तम् । ततो गृह्याणां चर्ववेक्षणम् । ततो बर्हिर्होमादिविप्रभुक्त्यन्तम् । ततो वैश्वदेवः । रात्रौ वत्ससंसर्ग इति ॥ १६ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये षोडशीकण्डिका ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशकण्डिका

अथ सीतायज्ञः ॥ १ ॥ व्रीहियवानां यत्र तत्र यजेत तन्मयठं स्थालीपाकठं श्रपयेत् ॥ २ ॥ कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरठं स्थालीपाकठं श्रपयेत् ॥ ३ ॥ न पूर्वचोदितत्वात्सन्देहः ॥ ४ ॥ असम्भवाद्विनिवृत्तिः ॥ ५ ॥ क्षेत्रस्य पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे फलानुपरोधेन ॥ ६ ॥ ग्रामे वोभयसम्प्रयोगादविरोधात् ॥ ७ ॥ यत्र श्रपयिष्यन्नुपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय तन्मिश्रैर्दर्भैस्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥८॥ पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः। तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा१ ॥ यन्मेकिञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे सर्वठं.समृध्यतां जीवतः शरदः शतठं. स्वाहा२ ॥ सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यठं. श्रैष्ठ्यठं. श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा३ ॥ यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताॅं सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा४ ॥ अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये ध्रुवाॅं सा मे त्वनपायिनी भूयात्स्वाहेति५ ॥ ९ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति सीतायै यजायै समायै भूत्या इति ॥ १० ॥ मन्त्रवत्प्रदानमेकेषाम् ॥ ११ ॥ स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेः ॥ १२ ॥ विनिवृत्ति ॥ १३ ॥ स्तरणशेषकुशेषु सीतागोप्तृभ्यो बलिठं. हरति पुरस्ताद्ये त आसतेजुधन्वानो निषङ्गिणः ते त्वा पुरस्ताद्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनः नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १४ ॥ अथ दक्षिणतोऽनिमिषा वर्मिणः आसते ते त्वा दक्षिणतो गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनः नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १५ ॥ अथ पश्चादाभुवः

प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्कुरिः ते त्वा पश्चाद्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनः नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १६ ॥ अथोत्तरतः भीमा वायुसमा जवे ते त्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि गोपयन्त्वप्रमत्ता अनपायिनः नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १७ ॥ प्रकृतादन्यस्मादाज्यशेषेण च पूर्ववद्बलिकर्म ॥ १८ ॥ स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरितत्वात् ॥ १९ ॥ सठ्ँस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान् भोजयेद्ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ २० ॥

॥ इति पारस्कराचार्यविरचिते गृह्यसूत्रे द्वितीयं काण्डं सम्पूर्णम् ॥

(सरला)

"सीता-यज्ञ"

प्राक्कथन—अब 'सीतायज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध होम की विधि बताई जायगी। इस होम के करने का अधिकार उन्हीं द्विजों को है जो खेती करते हैं। इस यज्ञ को साल भर में दो बार करना चाहिए। यह कर्म आहिताग्नि के लिए है।

हिन्दी—अब "सीतायज्ञ" का वर्णन करते हैं ॥ १ ॥ धान या यवों को जब जिसका समय हो उसी का चरु पकाना चाहिए ॥ २ ॥ यज्ञ करने की इच्छा से 'सीतायज्ञ' से अन्यत्र दूसरे यज्ञ में [अर्थात् पक्षादिक यज्ञ में] भी धान या जौ ही में से किसी एक का चरु पकाना चाहिए ॥ ३ ॥ यहाँ सन्देह नहीं होना चाहिए (कि धान या जौ लिया जाय) क्योंकि पहले[1] इसका विधान किया जा चुका है ॥ ४ ॥ (जौ का चरु अर्थात् खीर) असम्भव होने के कारण उस (संदेह) की निवृत्ति की गई है ॥ ५ ॥ खेत के पूर्व अथवा उत्तर भाग में जोते हुए पवित्र स्थान पर जो कि कृषि कार्य के लिए किसी भी

---

१. द्र० परिभाषा सूत्र। क्योंकि कहा हैं कि "व्रीहीन् यवान् वा हविषि" [का. श्री. १-९-१] "यहाँ केवल हवि को कहा है वहाँ धान या जौ को जानना चाहिए"। अतः प्रस्तुत स्थल पर सन्देह होता कि जहाँ जहाँ चरु कहा है वहाँ धान का चरु लिया जाय या जौ का। उत्तर है कि यह 'चरु' शब्द चावल के खीर के ही अर्थ में प्रसिद्ध है। अतः चावल ही लेना चाहिये क्योंकि जौ की खीर असम्भव है।

(सरला)

तरह से हानिकारक न हो वहाँ 'सीता' यज्ञ करना चाहिये[1] ॥ ६ ॥ अथवा ग्राम में किया जा सकता है; दोनों ही तरह से समान आज्ञा होने से और कृषि के अविरोध होने से [कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह जहाँ चाहे कर सकता है] ॥ ७ ॥ जिस जगह यज्ञ करना हो उस लीपी हुई भूमि पर रेखा खींचकर जल से सिंचन करके अग्नि को स्थापित करके [जौ या धान जिसका समय हो] उससे मिली हुई कुशाओं से परिस्तरण करके आघार और आज्य भाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके घृत की आहुति देनी चाहिये ॥ ८ ॥

["पृथिवी'''भूयात्स्वाहेति" ये घृत आहुतियों के मन्त्र हैं ।]

(i) पृथिवी, द्यौ, अवान्तर दिशाएँ और मुख्य दिशाएँ जिसके लिए कान्ति-मान् हैं, उस इन्द्र को मैं यहाँ बुलाता हूँ; उसके अस्त्र हमारे लिये कल्याणकारी हों। स्वाहा।

(ii) हे वृत्र को मारने वाले ! जो कुछ इस कर्म में मुझे अभीष्ट है वह मुझे सौ वर्ष जीते हुए पूर्ण होता रहे । स्वाहा ।

(iii) सम्पदा, ऐश्वर्य, भूमि, वृष्टि (अभीष्ट-वर्षण), बड़प्पन, श्रेष्ठता और शोभा यहाँ मेरी प्रजा (अर्थात् पुत्रादिकों) की रक्षा करे । स्वाहा ।

(iv) जिसके विद्यमानत्व में लौकिक और वैदिक (श्रौत और स्मार्त) कर्मों की वृद्धि होती है, इन्द्र की पत्नी उस सीता को बुलाता हूँ; वह प्रत्येक कर्म में अन्नादि भोज्य पदार्थों की वृद्धि करने वाली हो । स्वाहा ।

(v) घोड़ों वाली, गौओं वाली, मधुर वाणी वाली सीता आलस्य रहित होकर सारे प्राणधारियों का पोषण करती है । खलिहान की शोभा वाली उस धान्य राशिमती एवं उत्पादन के निमित्त उर्वरक दृढ़ सीता को बुलाता हूँ । वह सीता मेरे दुःखों का ध्वंस करने वाली हो । स्वाहा । ॥ ६ ॥ स्थालीपाक से सीता के लिए, यजा[2] (यज्ञ) के लिए, शमा (शान्ति या भक्ति की देवी) के लिए और विभूति के लिए होम करता है ॥ १० ॥ किसी आचार्य के मत से मन्त्रपूर्वक (मन्त्र के साथ देवताओं को) आहुति देनी चाहिए [न कि 'स्वाहा' शब्द से

---

१. भाष्यकारों का मत हैं कि यदि कर्ता की इच्छा हो तो घर में भी कर सकता है ।

२. भूति—वृद्धि की अधिष्ठातृ शक्ति । यजा—यज्ञ की अधिष्ठातृ शक्ति । शमा = शान्ति की अधिष्ठातृ शक्ति ।

(सरला)

ही] ॥ ११ ॥ किन्तु 'स्वाहाकार प्रदानाः'[1] इस श्रुति वाक्य से उनके (आचार्य के) सम्मति की निवृत्ति हो जाती है[2] ॥ १२ ॥ अग्नि के अगल बगल बिछाने से बचे हुए कुशाओं पर हल की रक्षा करने वाले देवताओं के लिए [चारों दिशाओं में] वलि देता है। [वलि देने के चार मन्त्र दिशाओं के अनुसार निम्न है :—] हे सीते ! अच्छे धनुष वाले, निषङ्ग (तरकष) वाले जो देवता तुम्हारे सामने बैठे हुए हैं; वे तुम्हारी पूर्व दिशा से रक्षा करें। वे देवता अप्रमत्त हैं, कष्ट को दूर करने वाले हैं। इनको नमस्कार है। इनके लिए मैं वलि प्रदान कर रहा हूँ ॥ १३ ॥ उसके पश्चात् दक्षिण दिशा से बिना पलक गिराते हुए, कवच धारण करने वाले जो देवता बैठे हुए हैं; वे तुम्हारी दक्षिण दिशा से रक्षा करे। वे देवता अप्रमत्त हैं; कष्ट को दूर करने वाले हैं। इनको नमस्कार है। इनसे लिए मैं वलि प्रदान कर रहा हूँ ॥ १४ ॥ इसके पश्चात् पश्चिम दिशा से चारों ओर से उत्पन्न होने वाले, प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होने वाले 'भूति, भूमि, पर्ष्णि, शुनङ्कुरि नामक देवता तुम्हारी पश्चिम की ओर से रक्षा करें। वे देवता अप्रमत्त हैं; कष्ट को दूर करने वाले हैं, इनको नमस्कार है। इनके लिए मैं वलि प्रदान कर रहा हूँ ॥१५॥ इसके पश्चात् उत्तर दिशा से भयङ्कर और वेग में वायु के समान प्रखरगामी देवता उत्तर दिशा से खेत में, खलिहान में, गृह में, मार्ग में तुम्हारी रक्षा करें। वे देवता सावधान है। कठिनाइयों को दूर करने वाले हैं। इनको नमस्कार है। इनके लिए मैं वलि देता हूँ ॥ १६ ॥ इस [सीता यज्ञ के स्थालीपाक के चरु] के अतिरिक्त दूसरे सिद्धपाक के और आहुति प्रदान से बचे हुए घृत से पूर्ववत्[3] वलि कार्य [करना चाहिए] ॥ १७ ॥ तत्पश्चात् स्त्रियाँ भी वलि प्रदान करें क्योंकि ऐसा आचार[4] है ॥ १८ ॥ कर्म के समाप्त होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराना

---

१. श्रुति में यह इसी प्रकार नहीं प्राप्त होती। लेकिन ये शब्द कात्या० श्रौ० १–२–७ में मिलते हैं।

२. क्योंकि श्रुति कहती है कि—

स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम्।
हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥ कातीय स्मृति ॥

अर्थात् देवताओं को 'स्वाहा' शब्द से आहुति देनी चाहिए।

३. इन्द्र, पर्जन्य आदि लाङ्गल भोजन के देवताओं के लिए।

४. सायन्त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं वलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायम्प्रातर्विधीयते ॥ (मनु० ३–१२)

(सरला)

चाहिए, कर्म के समाप्त होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये[1] ॥१९॥२०॥

॥ इति कविवर श्रीरामकुवेरमालवीयात्मज सुधाकर मालवीय
कृतं गृह्यसूत्रस्य द्वितीयकाण्डस्य भाषा भाष्यं
समाप्तमगमत् ॥ २ ॥

(हरिहर०)

अथ सीतायज्ञः । अथेदानीं सीतायज्ञकर्म, व्याख्यास्यत इति शेषः । तत्र कृषिप्रवृत्त औपासनिकोऽधिक्रियते ॥ १ ॥

व्रीहियवानां यत्र यत्र यजेत तन्मयठं. स्थालीपाकठं. श्रपयेत् । तत्र सीतायज्ञे व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवास्तन्मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् व्रीहिकाले यवकाले वा यजेत् सीतायज्ञेन, तन्मयं व्रीहिमयं व्रीहिकाले, यवमयं यवकाले स्थालीपाकं चरुं श्रपयेत् ॥ २ ॥

कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरठं. स्थालीपाकठं. श्रपयेत् । कामात् इच्छातः, अन्यत्रापि यज्ञादिप्रभृतिषु ईजानो यागं कुर्वन् व्रीहियवयोरेव अन्यतरं स्थालीपाकठं. श्रपयेत् ॥ ३ ॥

न पूर्वचोदितत्वात्सन्देहः । अत्र व्रीहियवयोरन्यतरस्य यागमात्रसाधनद्रव्यत्वे न सन्देहः । कुतः ? पूर्वचोदितत्वात् पूर्वोपदिष्टत्वात् । कुत्रेति चेत् ? 'व्रीहीन् यवान्वा हविषि' (१-९-१) इत्यत्र कल्पे, अतो न सन्देहः ॥ ४ ॥

असम्भवाद् विनिवृत्तिः । ननु यावस्य चरोर्विनिवृत्तिर्दृश्यते, कथमन्यत स्थालीपाकं श्रपयेदिति चेत् ? उच्यते, यावस्य चरोर्या निवृत्तिः सा असंभवात्, न शास्त्रात् । अतो नायमसंभवविनिवृत्तस्य यावस्य चरोः प्रतिप्रसवः, यतः सामान्यशास्त्रविहितं क्वचिच्छास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धं, पुनर्विधीयमानं हि प्रतिप्रसवमुच्यते । इदं त्वसंभवात्प्रतिषिद्धम् । कथमसंभव इति चेत् ? अनवस्रावितान्तरोष्मपक्वे ईषदसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दप्रयोगप्रत्य-

---

१. "कर्म के समाप्त होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराएं—यह सूत्र का अभ्यास (अर्थात् फिर से लिखना) काण्ड की समाप्ति का परिचायक है । यह महर्षियों का नियम रहा है कि अध्याय या काण्ड के समाप्ति पर अन्तिम सूत्र को दो बार पढ़ते हैं ।

(हरिहर०)

यात् । अतो वाचनिको यावस्थालोपाको यत्र यत्र गुलिकाभिः सम्पाद्यते, यत्र पुनर्विकल्पः तत्रासम्भवाद्विनिवृत्तिरिति ॥ ५ ॥

क्षेत्रस्य पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे फलानुपरोधेन । क्षेत्रस्य सस्यवतः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उत्तरतो वा उदीच्यां वा शुचौ अमेध्यद्रव्यरहिते देशे कृष्टे फालेन विलिखिते फलस्य सस्यस्य अनुपरोधः अबाधः फलानुपरोधस्तेन फलानुपरोधेन सीतायज्ञः कर्त्तव्यः ॥ ६ ॥

ग्रामे वोभयसम्प्रयोगात् । यद्वा ग्रामे कर्त्तव्यः । कुतः उभयसम्प्रयोगात् उभयं क्षेत्रं ग्रामश्च सम्प्रयोक्तुमधिकरणतया सम्बद्धुं शक्यते फलानुपरोधेन कृष्टत्वेन वा पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे इति ग्रामस्यापि विशेषणत्वेन संबध्यते, अविरोधात् । ननु क्षेत्रग्रामयोः एकतरोपादानेन अन्यतरस्य बाधः प्रसज्येत, ततो विरोध इति चेत् ? न, अविरोधात् । न विरोध; अविरोधस्तस्मादविरोधाद्विकल्पदेकतरोपादानं न दोषः । व्यवस्थासम्भवे हि अष्टदोषदुष्टोऽपि विकल्प आश्रीयते न्यायविद्भिः ॥ ७ ॥

यत्र श्रपयिष्यन्नुपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय तन्मिश्रैर्दर्भैस्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति । यत्र क्षेत्रे ग्रामे वा चरुं श्रपयिष्यन् भवति श्रपयितुमिच्छन् भवति, तत्र उपलिप्ते गोमयोदकेन उद्धते स्फ्येनोल्लिखिते अवोक्षिते मणिकोदकेन सिक्ते अग्निमावसथ्यं स्थापयित्वा । अत्र पुनरुपलेपनाद्युपदेशः दृष्टेऽपि प्राप्त्यर्थः, न पुनः परिसमूहनोद्धरणनिवृत्त्यर्थः । तन्मिश्रैर्दर्भैस्तीर्त्वा तैर्व्रीहिभिर्यवैर्वा मिश्रा मिलिता दर्भास्तैस्तन्मिश्रैर्दर्भैः अग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागयागानन्तरं वक्ष्यमाणमन्त्रैः पृथिवी द्यौरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ८ ॥ ९ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति सीतायै यजायै शमायै भूत्यै इति । मन्त्रवत्प्रदानमेकेषाम् । स्थालीपाकस्य इत्यवयवलक्षणा । तस्य सीताद्याभ्यश्चतसृभ्यो देवताभ्यश्चतस्र आहुतीः क्रमेण तन्नामभिरेव चतुर्थ्यन्तैः स्वाहाकारान्तैश्च जुहोति । एकेषामाचार्याणां मते मन्त्रवदेव प्रदानं होमः, न स्वाहाकारः ॥ १० ॥ ११ ॥

किं कारणम् ? आह—स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेः । स्वाहाकारेण प्रदानं येषु ते स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः इति श्रुतेः श्रुतौ श्रौतकर्मणि स्वाहाकारप्रदानत्वम्, इदं तु स्मार्तं कर्म्म । ननु वषट्कारेण च देवेभ्योऽन्नं प्रदीयत इति सामान्यवचनात् गार्ह्येऽपि प्रवर्त्ततामिति चेत् ? न चात्र

(हरिहर०)

वषट्कारस्य प्रवृत्तिः। किमिति ? याज्यापुरोनुवाक्यावत्त्वे[1] वषट्कारस्य श्रवणात्। तेन सह पाठाच्च। स्वाहाकारोऽप्यत्र निवर्त्तते[2] ॥ १२ ॥

विनिवृत्तिः। मन्त्रवत्प्रदानमित्येतस्य पक्षस्य विनिवृत्तिः निरासः अप्रवृत्तिः। कुतः? स्मार्तेऽपि कर्मणि स्मृतिकारैः स्वाहाकारस्य विधानात्। तद्यथा छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः—

स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम्।
हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारं स्वधाभुजाम् ॥ इति।

अथ "सीतायज्ञे च" (पा० गृ० २–१३–९) इत्यनेन सूत्रेणातिदिष्टाभ्यो लाङ्गलयोजनदेवताभ्यः तद्भूतोपात्तस्थालीपाकेनास्मिन्नवसरे जुहुयात्। कुतः ? स्थालीपाकहोमाविकारात्। ततः स्विष्टकृदादि ॥ १३ ॥

स्तरणशेष कूर्चेषु सीतागोप्तृभ्यो बलिङ् हरति पुरस्ताद्ये ते आसत इत्यादि। तत्र पुरस्ताद् 'ये' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्तरणशेषभावमुपसर्जनत्वं गताः प्राप्ताः त एव कुशास्तेषु स्तरणकुशेषु बलिं हरति। केभ्यः ? सीतागोप्तृभ्यः सीता लाङ्गलपद्धतीः गोपायन्ति ये ते सीतागोप्तारस्तेभ्यः स्तरणशेष (कुश) कूर्चाः। प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु यथालिङ्गम् ॥ १४ ॥
॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

प्रकृतादन्यस्मादाज्यशेषेण च पूर्ववद्बलिकर्म। प्रकृतात्प्रधानदेवतासम्बन्धिनो व्रैह्याद्यवाद्वा स्थालीपाकात् अन्यो यः सिद्धोपात्तश्चरुस्तस्मात्स्थाल्येनाज्यशेषेण च पूर्ववत् लाङ्गलयोजनवत् कर्म बलिकर्म इन्द्रपर्जन्यादिभ्यो बलिहरणं कर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरितत्वात्। स्त्रियश्च भार्यादिकाः उपयजेरन् बलिकर्मणा ताभ्य एव देवताभ्यः पूजां कुर्युः। कुत एतत् ? आचरितत्वात् प्राचीनाभिस्त्रीभिः बलिकर्मणः कृतत्वात् ॥ १९ ॥

सङ्स्थिते कर्मणि ब्राह्मणान् भोजयेत् २। संस्थिते समाप्ते सीतायज्ञाख्ये कर्मणि ब्राह्मणान् विप्रान् त्रिप्रभृतीन् भोजयेत् आशयेद्भक्ष्यभोज्यादिभिः। द्विरुक्तिरत्र काण्डसमाप्तिनिबन्धना ॥ २० ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

---

१. वत्त्वे वषट्कारस्य प्रवृत्तिरिति याज्यापुरोनुवाक्यावत्त्वे क०।
२. 'निवर्तते न' क०।

(हरिहर०)

अथ प्रयोगः—अथ सीतायज्ञः कृषिं कुर्वतः साग्नेः व्रीहिनिष्पत्तिकाले यवनिष्पत्तिकाले च भवति । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिके भवतः । अनन्तरं क्षेत्रस्य पूर्वत उत्तरतो वा कृष्टे शुचौ देशे यत्र सस्यानि न नश्यन्ति तत्रेदं कर्म कुर्यात् । यद्वा, ग्रामे पूर्वत उत्तरतो वा शुचिदेशस्य कर्षणं विधाय तत्र कर्त्तव्यम् । एवं देशद्वयान्यतरे देशे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा औपासनाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनादि कुर्यात् । तत्र विशेषः—व्रीहिकाले व्रीहिसस्यमिश्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति, यवकाले यवसस्यमिश्रैः । तथा व्रीहिकाले व्रीहिमयमेकमेव चरुं, यवकाले यवमयं श्रपयति । अपरं स्थालीपाके सिद्धमेवासादयति । तण्डुलानन्तरम् उपकल्पयति बलिपटलकम् शूर्पादिकं वैणवं पात्रम् । बलिपटलकमिति कल्माषौदनयुक्तमुच्यते । तण्डुलानन्तरं सिद्धचरुं प्रोक्षति । आज्यभागानन्तरं पञ्चाहुतीर्जुहोति—यथा पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः । तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा, इदमिन्द्राय० । यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् । तन्मे सर्वठं. समृध्यतां जीवतः शरदः शतठं. स्वाहा, इदमिन्द्राय० । सम्पत्तिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यठं. श्रैष्ठ्यं श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा, इदमिन्द्राय० । यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताठं. सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा, इदमिन्द्रपत्न्यै० । अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाठं. सा मेत्वनपायिनी भूयात्स्वाहा०, इदं सीतायै० । अथ प्रकृतस्य स्थालीपाकस्य चतस्र आहुतीर्जुहोति । यथा—सीतायै स्वाहा, इदं सीतायै०, यजायै स्वाहा, इदं यजायै०, शमायै स्वाहा, इदं शमायै०, भूत्यै स्वाहा, इदं भूत्यै० । अथ सिद्धेन स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो अष्टाहुतीर्जुहोति । तद्यथा—इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय०, पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय०, अश्विभ्याठं स्वाहा इदमश्विभ्यां०, मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यः०, उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्यपाय० स्वातिकायै स्वाहा इदं स्वातिकायै०, सीतायै स्वाहा इदं सीतायै०, अनुमत्यै स्वाहा इदमनुमत्यै, यथादैवतं त्यागः । प्रकृतात्सिद्धान्नचरोः स्विष्टकृतः । ततो महाव्याहृत्यादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कृत्वा क्षेत्रस्य पुरस्तादारभ्य प्रादक्षिण्येन प्रतिदिशं स्तरणशेषकुशतृणान्यास्तीर्य तेषु मुख्येन चरुणा यथास्तरणं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्बलीन् हरति यथा पुरस्ताद् "ये त आसते सुधन्वानो निषङ्गिणः ते त्वा पुरस्ताद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम्"

(हरिहर०)

इति पुरस्ताद्बलिहरणमन्त्रः। इदं सुधन्वेभ्यो निषङ्गिभ्यः०। अथ दक्षिणतो "अनिमिषा वर्मिण आसते ते त्वा दक्षिणतो गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम्" इति दक्षिणतो बलिहरणमन्त्रः। इदमनिमिषेभ्यो वर्मिभ्यः। अथ पश्चाद् "आभुवः प्रभु वो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनंकुरिः ते त्वा पश्चाद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम्" इति पश्चिमतो बलिहरणमन्त्रः। इदमाभूभ्यः प्रभूभ्यो भूत्यै भूम्यै पार्ष्ण्यै शुनंकर्यै०। अथोत्तरतो "भीमा वायुसमा जवे ते त्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम्" इति उत्तरतो बलिहरणमन्त्रः। इदं भीमेभ्यो वायुसमाजवेभ्यः०। अथ सिद्धचरुशेषं स्थाल्येनाज्यशेषेण सन्नीय तेनेन्द्रादिभ्योऽनुमत्यन्तेभ्यो लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो बलिं हरति। ततो बलिपटलकेन स्त्रियश्चन्द्रादिभ्यो हलयोजनदेवताभ्यः अन्येभ्यश्च वृद्धव्यवहारसिद्धेभ्यः क्षेत्रपालादिभ्यः बलिदानं कुर्युः। ततो ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ १७ ॥

॥ इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ द्वितीयः काण्डः समाप्तः ॥ २ ॥

(गदाधर०)

'अथ सीतायज्ञः'। व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। सीतायज्ञ इति कर्मनाम। स चायं कृषिप्रवृत्तस्य साग्नेर्भवति ॥ १ ॥

'व्रीहि···येत्'। व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवाः, तेषां मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन्काले व्रीहिकाले यवकाले वा सीतायज्ञेन यजेत तत्र तन्मयं व्रीहिकाले व्रीहिमयं यवकाले यवमयं स्थालीपाकं चरुं श्रपयेत् ॥ २ ॥

'कामा···येत्'। कामादिच्छया अतोऽन्यत्रापि ईजानो यागं कुर्वन् पक्षादिप्रभृतिषु व्रीहियवयोरेवान्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेत् ॥ ३ ॥

'न पू···न्देहः'। व्रीहियवयोरन्यतरस्य यागसाधनत्वे नैव सन्देहः। कुतः ? परिभाषासूत्रे 'व्रीहिन् यवान्वा हविषि' (१-९-१) इति पूर्वं चोदित्वात् पूर्वमुपदिष्टत्वात्। अतोऽर्थादपि च व्रीहिभिर्यवैर्वा यागः प्राप्नोतीति न वक्तव्यमेतत् ॥४॥

ननु यावस्य चरोर्विनिवृत्तिदर्शनात्कथमन्यतरं चरुं श्रपयेत्तत्राह—'अस···

(गदाधर०)

वृत्तिः'। यावस्य चरोरसम्भवाद्विनिवृत्तिरधस्तनस्य शास्त्रान्तरस्थ। तेन यवानां स्थालीपाकं कुर्यादिति पुनरारम्भः। असम्भवश्चानवस्रावितान्तरोष्मपाकविशद-विषयसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दस्य प्रयोगप्रत्ययात्। अतः सर्वत्रः स्थालीपाको व्रीहिणामेव ॥ ५ ॥

'क्षेत्र ''धेन'। सस्ययुक्तस्य क्षेत्रस्य पूर्वस्यां दिशि उदीच्यां वा अमेध्यरहिते देशे कृष्टे सीरेण विलिखिते फलस्य सस्यस्यानुपरोधेन अबाधेनोक्ते देशे सीतायज्ञः कार्यः ॥ ६ ॥

'ग्रामे '''धात्'। अथवा सीतायज्ञो ग्रामे वा कार्यः। उभयं हि संप्रयोक्तुं शक्यते—फलानुपरोधः कृष्टं च। न चात्र विरोधः। अतो वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ ७ ॥

'यत्र ' स्वाहेति'। यत्र क्षेत्रे ग्रामे वा चरुं श्रपयिष्यन् भवति तत्रोपलिप्ते उद्धते उल्लिखिते अवोक्षिते जलेनाभ्युक्षिते देशेऽग्निमावसथ्यमुपसमाधाय स्थापयित्वा तन्निश्रैर्दर्भैः व्रीहिकाले व्रीहिसस्यमिश्रैः, यवकाले यवसस्यमिश्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तीर्या-ज्यभागयागानन्तरमाज्येन पञ्चाहुतीर्जुहोति—'पृथिवी द्यौः' इत्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रम्। उपलेपनोद्धतावोक्षितग्रहणं कृष्टेऽपि पञ्चसंस्कारप्रज्ञप्त्यर्थम्, नेतर-परिसंख्यार्थम्। मन्त्रार्थः—पृथिव्यादिदेवता यस्मै इन्द्राय इन्द्रमुपासितुं स्थिताः, प्रदिशः दिशश्च। किंभूताः? द्युभिः कान्तिभिरावृताः पूर्णाः, तमिन्द्रम् इह यज्ञे उपह्वये समीरमाह्वये। इन्द्रस्य हेतयो वज्राद्यायुधानि शिवाः कल्याणकारिण्यः सन्तु। तस्मै च सुहुतमस्तु १ ॥ हे वृत्रहन् अस्मिन्कर्मणि सीतायज्ञे यत्किञ्चिन्मे ममोपेप्सितमिष्टं तत्सर्वं मे मम समृध्यतां सम्पद्यताम्। किम्भूतस्य? शतं शरदो वत्सरान् जीवतः। तुभ्यं स्वाहेति सर्वत्र समानम् २ ॥ सम्पत्तिर्धनाद्युपचयः, भूति-रैश्वर्यम्, भूमिराश्रयः, वृष्टिरभीष्टस्य, ज्यैष्ठ्यं ज्येष्ठत्वम्, श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठत्वम्, श्रीःप्रतिष्ठासम्पत्त्यादिगणः इह यज्ञे प्रीतः सन् मदीयां प्रजां पुत्रादिवर्गमवतु रक्षतु। इन्द्रो वा एतैर्युक्तां प्रजामवत्विति ३ ॥ यस्याः सीतायाः सह वैदिकलौकिकानां श्रौतस्मार्तानां कर्मणां भूतिः संपत्तिर्भवति। तामिन्द्रपत्नीं सीतामुपह्वये। सा सीता मे मम अनपायिनी अदनीयादिवृद्धिकर्त्री कर्मणि कर्मणि प्रतिकर्म भूयात् भवतु, तस्यै स्वाहा ४ ॥ तामेव विशिनष्टि। अश्वावती अश्वादि सम्पत्तिकर्त्री। एवं गोमत्यादौ। सूनृता मधुरवाक्। अतन्द्रिता सावधाना सती या प्राणभृतो जीवान् बिभर्ति पुष्णाति। किंभूता? खलमालिनी धान्यराशिवती, उर्वरा सर्व-सस्यानां सम्पत्, तां ध्रुवां स्थिरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये। उपहूता च सा मे मम अनपायिनी दुःखध्वंसिनी भवतु। तस्यै स्वाहा ५ ॥ ८ ॥ ९ ॥

(गदाधर०)

'स्थाली'''त्या इति'। सीताया इति चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति। अवयवलक्षणा षष्ठी स्थालीपाकस्येति ॥ १० ॥

'मन्त्र'''श्रुतेः'। एकेषामाचार्याणां मते मन्त्रवत्प्रदानम्–यथामन्त्रं होमो, न तु स्वाहाकारेण। कुतः ? 'स्वाहाकारप्रदानाः' इति श्रुतेः। श्रुतौ हि जुहोतीनां स्वाहाकारप्रदानता श्रूयते। इदं तु स्मार्तं कर्म। ननु वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयत इति सामान्येनोक्तेरत्रापि तत्प्रवर्ततामिति चेत् ? न चात्र वषट्कारप्रवृत्तिः। याज्यापुरोनुवाक्यावत्त्वे च वषट्कारश्रवणम्। तत्सहपाठात्स्वाहाकारोऽप्यत्र न प्रवर्तते ॥ ११ ॥ १२ ॥

'विनिवृत्तिः'। पूर्वोक्तपक्षस्य मन्त्रवत्प्रदानमित्यस्य विनिवृत्तिर्निरासः। स्मार्तेऽपि कर्मणि—

स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम्।
हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥

इति कात्यायनस्मृतौ विधानात्। "सीतायज्ञे च" (पा० गृ० २–१३–२) इत्यतिदेशादस्मिन्नवसरे लाङ्गलयोजनदेवताभ्यः तद्भूतोपात्तेन स्थालीपाकेन होमः, स्थालीपाकहोमाधिकारात्। ततः स्विष्टकृदादि ॥ १३ ॥

'स्तरण'''मसिति'। अग्नेः परिस्तरणे ये कुशा व्रीहिसस्यमिश्रा यवसस्यमिश्रा वा शेषभावमङ्गभावं प्राप्तास्त एव कूर्चाः आसनानि तेषु बलिं हरति। सीतागोप्तृभ्यः सीता लाङ्गलपद्धतीर्ये गोपायन्ति पालयन्ति ते सीतागोप्तारस्तेभ्यः। तत्र पुरस्तात्प्राच्यां 'ये त आसते' इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः – हे सीते ये देवाः सुधन्वानः शोभनधनुष्मन्तः निषङ्गिणः सतूणीराः ते तव पुरस्तात् आसते तिष्ठन्ति, ते त्वां पुरस्तात्प्राच्यां दिशि गोपायन्तु रक्षन्तु। किंभूताः ? अप्रमत्ताः सावधानाः, अनपायिनः कष्टहराः। अहं चैषां नमस्करोमि। बलिमेवमेभ्यो हरामि ददामि ॥१४॥

'अथ द'''ममिति'। अथ पुरस्ताद् बल्यनन्तरमग्नेर्दक्षिणपार्श्वे कूर्चेषु बलिं हरति—'अनिमिषा' इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—ये अनिमिषाः निमेषरहिताः वर्मिणः सन्नद्धाः शेषं पूर्ववत् ॥ १५ ॥

'अथ प'''ममिति'। अथाग्नेः पश्चिमायां दिशि 'आभुव' इति बलिं ददाति। मन्त्रार्थः—आ समन्ताद्भुवाः। तानेवाह–भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनंकुरिरित्येवं नामानः, शेषं व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

'अथोत्त'''ममिति'। अथोत्तरपार्श्वे बलिं ददाति—'भीमा' इति मन्त्रेण।

(गदाधर०)

मन्त्रार्थः—भीमाः भीषणाः, जवे वेगे वायुना समास्तुल्याः, क्षेत्रे खले गृहे अध्वनि वा वर्तमानं त्वा त्वां गोपायन्तु, शेषं समानम् ।। १७ ।।

'प्रकृ'''कर्म' । प्रकृतात्प्रधानयागदेवतासम्बन्धिनः स्थालीपाकादन्यो यः सिद्धो गृहीतश्चरुस्तस्मात्स्थाल्याज्येनाज्यशेषेण च पूर्ववदिन्द्रपर्जन्यादिभ्यो लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो बलिहरणं कार्यम् ।। १८ ।।

'स्त्रिय'''त्वात्' । ततः स्त्रियो भार्यादिका उपयजेरन् बलिहरणं कुर्युः इन्द्रादिभ्योऽन्येभ्यश्च क्षेत्रपालादिदेवताभ्यो वृद्धव्यवहारेण । कुतः ? आचरितत्वात् । प्राचीनाभिः कृतत्वात् बलिकर्मणः ।। १९ ।।

'सठंस्थिते'''येत्' । समाप्ते स्त्रीकर्तृकबल्यनन्तरं त्रीन्ब्राह्मणान्भोजयेत् । द्विरभ्यासः काण्डसमाप्तिसूचनार्थः ।। २० ।। १७ ।। * ।।

।। इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मज
दीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये द्वितीयकाण्डं
सम्पूर्णम् ।। * ।।

अथ पदार्थक्रमः

प्रथमप्रयोगे । मातृश्राद्धम् । उक्ते देशे आवसथ्याग्ने स्थापनम् । ब्रह्मोपदेशनादिदक्षिणान्ते विशेषः—सस्यमिश्रैर्दर्भैरग्नेः परिस्तरणम्, एकश्चरुः श्रप्यते, अपरः सिद्ध एव तण्डुलानन्तरमासादनीयः, उपकल्पनीयानि—बलिपटलकं शूर्पादि वैणवं पात्रम् कुल्माषौदनयुक्तं बलिपटलकमित्युच्यते । तण्डुलोत्तरं सिद्धचरोः प्रोक्षणम्, आज्यभागान्ते पञ्चाहुतयः—पृथिवी द्यौ० इदमिन्द्राय० १ । यन्मे० इदमिन्द्राय० । सम्पत्ति० इदमिन्द्राय० ३ । यस्या भावे० इदमिन्द्रपत्न्यै० ४ । अश्वावती० इदं सीतायै० ५ । प्रकृतचरुणा आहुतिचतुष्टयम्—सीतायै स्वाहा०, यजायै स्वाहा० शमायै०, भूत्यै० एवं त्यागाः । ततः सिद्धचरुणा लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो होमः—इन्द्राय स्वाहा० १, पर्जन्याय० २, अश्विभ्याठ्ं ३, मरुद्भ्यः० ४, उदलाकाश्यपाय० ५, स्वातिकार्यै० ६, सीतायै० ७, अनुमत्यै स्वाहा० ८ । स्विष्टकृदुभयोः, महाव्याहृत्यादिदक्षिणान्तम् । प्रतिदिशं प्रदक्षिणं पुरस्तात्प्रथमं 'ये ते' इति प्रतिमन्त्रं बलिचतुष्टयदानम् । त्यागाः—इदं सुधन्वभ्यो निषङ्गिभ्यो० १, इदमनिमिषेभ्यो वर्मिभ्यो० २, इदमाभ्यः प्रभूभ्यो भूत्यै भूम्यै पार्ष्ण्यै शुनङ्कुर्यै० ३ इदं भीमाभ्यो वायुसमाजवेभ्यो० ४ । चरोराज्यस्य

(गदाधर०)

च मिश्रणम् । तेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्य इन्द्रादिभ्योऽनुमत्यन्तेभ्यो बलिहरणम् । ततो बलिपटलकेन स्त्रियश्च बलिहरणं कुर्युः इन्द्रादिभ्योऽन्येभ्यश्च क्षेत्रपालादिदेवताभ्यो वृद्धाचारेण । ततो ब्राह्मणत्रयभोजनम् ॥ १७ ॥ * ॥

॥ इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये द्वितीयकाण्डे सीतायज्ञे पदार्थक्रमः ॥

॥ समाप्तञ्चेदं द्वितीयकाण्डम् ॥ २ ॥ * ॥

अथ तृतीयकाण्डम्

प्रथमकण्डिका

अनाहिताग्नेर्नवप्राशनम् ॥ १ ॥ नवꣳ.स्थालीपाकꣳ. श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति—शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा १ ॥ ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां योऽज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहेति २ ॥ २ ॥ स्थालीपाकस्याग्रयणदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति स्विष्टकृते च—स्विष्टमग्ने अभि तत्पृणीहि विश्वाँश्च देवः। पृतना अविष्यत्[1]। सुगन्तु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरन्न आयुः स्वाहेति ॥ ३ ॥ अथ प्राश्नाति—अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः। शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः। भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयाऽवशेन समशीमहि त्वा। स नो मयोऽभूः पितवाविशस्व शं तोकाय तनुवे स्योन इति[2] ॥ ४ ॥ अन्नपतीयया वा ॥ ५ ॥ अथ यवानामेतमु त्यं मधुना संयुतं यवꣳ. सरस्वत्या अधिवनाय चकृषुः। इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानव इति ॥ ६ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ७ ॥ १ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे प्रथमकण्डिका ॥ १ ॥

(सरला)

नवान्न प्राशन नामक कर्म

प्राक्कथन :—प्रस्तुत कण्डिका में नए अन्न के तैयार होने पर उसके प्राशन

---

१. 'अभिष्यत्' क०। २. 'इति' नास्ति क०।

(सरला)

की विधि बतलाई गई है। श्रौत में नये अन्न की आग्रयण इष्टि कही गयी है। उसी की जगह पर गृह्यकर्म प्रचलित हुआ हैं। यह उनके लिए है जो आहिताग्नि नहीं है।

हिन्दीः—श्रौत सूत्र की अग्नियों का जिसने आधान नहीं किया है उसके लिए नव प्राशन [नए अनाजों के खाने की शुरुआत की विधि] का वर्णन करते हैं ॥ १ ॥ नए अन्न का (शरद् में चावलों का और वसन्त में जौ का) स्थालीपाक पकाकर आधार और आज्य भाग संज्ञक आहुतियों को प्रदान करके 'शतायुधाय' और 'ये चत्वारः' इन दोनों मंत्रों से घृत की आहुति से होम करता है।

१. सैंकड़ों शस्त्रों वाले; सैंकड़ों शक्तियों वाले; सैंकड़ों रक्षा से युक्त, शत्रुओं को दबा देने वाले [इन्द्र] के लिए [आहुति है]। वह इन्द्र हमें सौ वर्ष का जीवन दे और हमें सारी दुर्गतियों से पार ले जाये ॥ स्वाहा ॥

२. वह चार मार्ग जो देवताओं के चलने के हैं, जो द्यौ और पृथिवी के मध्य में नाना दिशाओं में जाते हैं, उनमें जो हमें क्षीण न होने वाली अजेयता को प्राप्त कराए, इस कर्म में, हे देवताओ ! तुम उन सभी मार्गों में हमें स्थापित करो ॥ स्वाहा ॥ २ ॥ आग्रयण देवताओं[1] के लिए स्थाली पाक की आहुति देकर और स्विष्टकृत अग्नि के "स्विष्टमग्ने…" इस मन्त्र से घृत की आहुति देनी चाहिये। "हे अग्नि ! तुम इसको अच्छा यजन किया हुआ बनाकर पूर्ण करो। [अग्नि] देव सारे शत्रुओं को दबाएँ। हे अग्नि ! हमारे अच्छे मार्ग का उपदेश करते हुये हम में आइए। ज्योति से भरा हुआ और जीर्ण न होने वाला आयु हमें दीजिये ॥ स्वाहा ॥ ३ ॥ अब [हुतशेष संस्रव को] खाता है [इस मन्त्र से] "अग्नि पहले खाये क्योंकि वह जानता है। अन्न यज्ञ के योग्य [हवि] बनता है। वह सब मनुष्यों का मित्र हमारे लिये ओषधियों को कल्याणकारी बनाये। भलाई से तुम हमें अधिक भलाई की ओर ले गये हो। हे देवताओं (हे अन्न) पुष्टि रूप के साथ हम तुम्हें प्राप्त करें। अतः तुम हम में सुखकारी होकर प्रवेश करो। हमारी सन्तान के लिए और हमारे लिये कल्याणकारी होइए और सुखप्रद होइए ॥ ४ ॥ अथवा "अन्नपते नो देहि" [इस मन्त्र से नये अन्न का भोजन करना चाहिये] ॥ ५ ॥ हे अन्न के स्वामी हमको रोग नाशक और बलप्रद अन्न दीजिये। हम में जो दाता है उसको बढ़ाइये और हमारे मनुष्यों और पशुओं में पराक्रम दीजिये [यजु० ११–८३] किन्तु जौ के [भक्षण

---

१. श्रौत में आग्रयण के देवता इन्द्र और अग्नि, विश्वेदेव, द्यौ और पृथिवी कहे गये हैं।

(सरला)

में यह मन्त्र पढ़े] इस जौ को जो मधु से संयुक्त है, जिसको [कृषकों ने] सरस्वती के वन में कर्षणा किया है। इन्द्र जो शतक्रतु है [सैकड़ों शक्तियों और ज्ञानों वाला है] वह हल का पति था और जो बड़े दानी मरुत हैं वे किसान थे ॥ ६ ॥ अन्त में ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ॥ ७ ॥

॥ इस प्रकार तृतीय काण्ड में प्रथम कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत सरला हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥

(हरिहर०)

अनाहिताग्नेर्नवप्राशनम् । अनाहिताग्निरावसथिकः तस्य नवान्नप्राशन-निमित्तं[1] नवप्राशनाख्यं कर्म, व्याख्यास्यते इति[2] सूत्रशेषः। नवप्राशनमिति संज्ञा त्वन्वर्था ततश्चैतत्कृत्वा नवं प्राश्यते नाकृत्वा। अत्र किन्नवमात्रं[3] निषिध्यते उत कतिपयानि इत्यपेक्षिते गृह्यासंग्रहकारः--

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः ।
नाश्नीयात्तानहुत्वैवमन्येष्वनियमः स्मृतः ॥
ऐक्षवः सर्वशुङ्गाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः ।
अकृताग्रयणोऽश्नीयात्तेषां[4] नोक्ता हविर्गुणाः ॥ इति ॥

न चाऽस्याग्रयणशब्दवाच्यता। तेन पौर्णमास्यमावास्यानियमो[5] नास्ति। व्रीहियवपाकोचितत्वात् शरद्वसन्तावाद्रियेते ॥ १ ॥

नवठं. स्थालीपाकठं. श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति–शतायुधाय इत्यादि। नवं शरदि नूतनं व्रीहिमयं, वसन्ते नूतनं यवमयं स्थालीपाकं चरुं पक्त्वाऽऽज्यभागयोरन्ते 'शतायुधाय' इति 'ये चत्वारः' इत्येताभ्यां प्रतिमन्त्रं द्वे आज्याहुती जुहोति ॥ २ ॥

स्थालीपाकस्याग्रयणदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति स्विष्टकृते च स्विष्टमग्न इति। अथ स्थालीपाकस्य आग्रयणदेवताभ्य इन्द्राग्नी विश्वेदेवा द्यावापृथिवी

१. 'तस्य नवान्नप्राशनाख्यं कर्म' ख० ग०।
२. 'इति सूत्रार्थः' क०।
३. 'नवमात्रनिषेधः उत कतिपयानामित्यपेक्षिते' ग०।
४. 'अकृत्वाग्रयणेऽश्नी' क०।
५. 'पौर्णमास्याममावास्यायामिति नियमो' ख० ग०।

(हरिहर०)

इत्येताभ्यः प्रत्येकमेकैकामाहुतिं हुत्वा 'स्विष्टमग्ने' इत्यनेन मन्त्रेण स्विष्टकृद्धोमात्पूर्वं चकारात्पश्चाश्चाज्याहुतिं जुहोति, मध्ये स्थालीपाकेन सौविष्टकृतम् ॥ ३ ॥

ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ते–

अथ प्राश्नात्यग्निः प्रथम इति। 'अग्निः प्रथमः' इतिमन्त्रेण संस्रवं प्राश्नाति। अत्र हुतशेषप्राशने गुणविधिरयं मन्त्रेण ॥ ४ ॥

अन्नपतीयया वा। अन्नपतिर्ह्यग्निर्देवता[1] यस्याः सा अन्नपतीया ऋक्, तया अन्नपतीयया ऋचा "अन्नपतेऽन्नस्य" (य. सं. ११–८३) इत्यादिकया वा विकल्पेन प्राश्नाति। यद्वा, अन्नपतिशब्दो यस्यामृचि अस्ति साऽन्नपतीया ॥ ५ ॥

अथ यवानामेतमु त्यमिति। अथ व्रीहिप्राशनमन्त्राभिधानानन्तरं यवानां प्राशने मन्त्रमाह–'एतमु त्यम्' इत्यादि 'सुदानवः' इत्यन्तं मन्त्रम्। यवप्राशने पैठीनसिः–अग्निमेवोपासीत् नान्यदैवतम्। अग्निर्भूम्यामिति विज्ञायते। न प्रवसेत्, यदि प्रवसेदुत्यमुपस्थानं यजमानस्य प्राशितमग्नौ जुहुयात् नवेष्ट्यामेवौपासनिकस्य ॥ ६ ॥

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ७ ॥

इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः—तत्र शरदि वसन्ते च अनाहिताग्नेः नवप्राशनं कर्म भवति। प्रथमप्रयोगे मातृकापूजाभ्युदयिके विदध्यात्। आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः—नवं स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागानन्तरं आज्याहुतिद्वयं जुहोति। [2]यथा–"शतायुधाय शतवीर्याय शतोतय अभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा"। इदमिन्द्राय०। "ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां योज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहा" इदꣳ. सर्वेभ्यो देवेभ्यो इन्द्राग्नी विश्वेदेवा द्यावापृथिवी स्थालीपाकेनाग्रयणदेवताः। इन्द्राग्निभ्याꣳ स्वाहा, इदमिन्द्राग्नि-

---

१. 'अन्नपतिरिति अन्नं पति र्देवता' ग०।

२. 'तद्यथा' ग०।

(हरिहर०)

भ्याम्, उपांशु । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः, उपांशु । द्यावापृथिवीभ्याᳪ स्वाहा, इदं द्यावापृथिवीभ्याम् इति तिस्र आहुतीर्हुत्वा "स्विष्टमग्ने अभितत् पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत् ।[1] सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्येह्यजरं न आयुः स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण आज्याहुतिं जुहोति, इदमग्नये[2] । ततः स्थालीपाकात् अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति[3] हुत्वा त्यक्त्वा च पुनः "स्विष्टमग्ने" इत्यादिनाऽऽज्याहुतिं जुहोति, इदमग्नये इति त्यागः । ततो महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यहोमान्तं कृत्वा "अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः । शिवा अस्मभ्य ओषधोः कृणोतु विश्वचर्षणिः । भद्रान्न श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयाऽवशेन समशीमहि त्वा । स नो मयोभूः पितो आविशस्व शं तोकाय तनुवे स्योनः" इत्यनेन मन्त्रेण संस्रवं प्राश्नाति । "अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि" इत्यनयर्चा वा प्राश्नाति । यवान्नप्राशने तु–"एतमु त्यं मधुना संयुतं यवᳪ. सरस्वत्या अधिवनाय चक्रुषः । इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः" इत्यनेन यवसंस्रवं प्राश्नाति । ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १ ॥

(जयराम०)

'अना'''शनम् ।' वक्ष्यत इति सूत्रशेषः । अनाहिताग्निरवैतानिक औपासनिक इति पर्यायः । तस्य नवप्राशनमिति कर्मणो नामधेयम् । अन्वर्थसंज्ञाकरणात्कृत्वैतन्नव-मन्नं प्राश्यते, नाकृत्वा । नन्वत्र किं नवमात्रं प्रतिषिद्धमुत कतिपयानीत्याशङ्क्य श्यामाकव्रीहियवानामेव नियमो नान्येषाम् । यथाह गृह्यासङ्ग्रहकारः—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः ।
नाश्नी[4]यात्तानहुत्वैवमन्येष्वनियमः स्मृतः ॥
ऐक्षवः सर्व [5]शुङ्गाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः ।

---

१. 'अभिष्यक्' क० ।

२. 'इदमग्नये इति त्यागः' ग० ।

३. 'स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते हुत्वा पुनः' क० ।

४. 'नाश्नीया न च हु' इति कलिकाता आसियातिकसमितिमुद्रितगृह्यासङ्ग्रह-पुस्तके पाठः ।

५. 'सर्वंखल्वाश्च कोद्रवा वरटैः सह । अकृताग्रयणा भक्ष्या येषां नोक्ता' क० आ० पुस्तके । तत्र खल्वाः चणकाः, कोद्रवाः 'कोद्रू, हरिक' इति प्रसिद्धा महाराष्ट्रे ।

(जयराम०)

अकृताग्रयणोऽश्नीयान्नैषामुक्ता हविर्गुणाः । (२-७६, ७८) इति ।

यत्तु श्रूयते नवमात्रप्रतिषेधस्तदाहिताग्निविषयः । शरद्वसन्तयोरेव तद्भवति, औचित्यात् । न चात्र पौर्णमास्यादिकालनियमः, अनाग्रयणत्वात् ॥ १ ॥

नवठं. स्थालीपाकठं. श्रपयित्वाऽऽज्यभागौ दृष्ट्वा आज्याहुती द्वे शतायुधेति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रम् । अथ मन्त्रार्थः—तत्र द्वयोः प्रजापतिस्त्रिष्टुप् आद्यस्येन्द्रोऽपरस्य विश्वेदेवा आज्यहोमे० । स इन्द्रः नोऽस्मान् शतं शरदो वर्षाणि अजीजान् जीवयतु । यद्वा नोऽस्मभ्यं धान्यं जनयतु । तत्र नः इति तन्त्रम् । तेन नोऽस्माकं दुरितानि दुर्व्यसनानि पापानि वा विश्वा विश्वानि सर्वाणि अतिनेषत् अतिनेष्यति । तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु । किंभूताय ? शतायुधाय शतमपरिमितान्यायुधानि यस्य तस्मै । तथा शतवीर्याय अपरिमितशक्तये । तथा शतोतये अनन्तलीलाय । तथा अभिमातिषाहे अभिमातयः अरातयः तान्सहते जयतीत्यभिमातिषाट् तस्मै १ । हे सर्वे देवाः ये चत्वारः पथयः पन्थानः देवपितृमनुष्यसर्पाणां मार्गाः देवयाना देवनं क्रीडां सम्पादयन्तः देवादिभिर्गम्यमाना वा अन्तराद्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योर्मध्यस्थाः । पृथ्वीशब्देनात्र पृथ्वीतलं लक्ष्यते । वियन्ति वियत्तुल्याः अतिनिर्मला इत्यर्थः । यद्वा विविधत्वं यन्ति, भिन्नत्वेनेत्यर्थः । तेषां चतुर्णां पथां मध्ये यः पन्था अजीजिमजेयत्वं परैरनभिभवनमिति यावत् । आवहात् आवहेत्प्रापयेत् । तस्मै पथे नोऽस्मान् परिधत्त परिदत्त समर्पयेत्यर्थः । तं पन्थानमस्मान्प्रापयतेत्यर्थः । इह अस्मिन् कर्मणि कृते सति, अनेन कर्मणा प्रतोषं प्राप्येत्यर्थः । किं भूतामजीजिम् ? अज्यानिं ज्यानिर्ग्लानिः हानिर्वा तद्रहिताम्, क्षेमेणाभीष्टपदप्राप्तिहेतुमित्यर्थः । युष्मभ्यं स्वाहेत्युक्तार्थम् २ ॥ २ ॥

ततश्च स्थालीपाकेनाग्रयणदेवताभ्य इन्द्राग्नी विश्वेदेवा द्यावापृथिवी इत्येताभ्यो हुत्वा जुहोत्याज्याहुतिं 'स्विष्टमग्ने' इति वक्ष्यमाणमन्त्रेण । स्विष्टकृते चेति स्थालीपाकात्स्विष्टकृद्धोमं विधाय चकारात्पुनरप्याज्याहुतिं 'स्विष्टमग्ने' इत्यनेनैव मन्त्रेण पूर्ववज्जुहोति । 'स्विष्टमग्ने' इति मन्त्रेण स्विष्टकृद्धोमस्योभयत आज्याहुती भवत इत्यर्थः । स्विष्टमग्न इत्यस्यार्थः । तत्र प्रजापतिर्विराडग्निराज्यहोमे० । हे अग्ने प्रजापते यत् स्विष्टं स्विष्टकृते हुतं तत् अभि अभितः उभयतः आदावन्ते च पृणीहि पूर्णं कुरु । देवः प्रकाशात्मा भवान् विश्वान् सकलपरिवारयुतान् अस्मान् अविष्यत् अवतु । किम्भूतान् ? पृतनाः सेनाः तद्वत्परिचारकानित्यर्थः । यद्वा, पृतना इति पञ्चम्यर्थे प्रथमा । तेन पृतनाभ्यः शत्रुसेनाभ्योऽस्मानवत्विति । किञ्च, नोऽस्माकं कं सुगं सुगम्यम् अर्चिरादिरूपं पन्थां पन्थानं प्रदिशन् ददेव एहि आगच्छ । नु एवार्थे । किञ्च नोऽस्मभ्यं ज्योतिष्मत् प्रकाशयुक्तं कीर्तियुक्तमित्यर्थः । अजरम्—जरा

(जयराम०)

रोगाद्युपद्रवः तद्रहितमायुर्दृष्ये॑हि चिन्तय आशंसेत्यर्थः । यद्वा, ध्येहि धेहि देहीत्यर्थः । तदा यकारोऽनर्थकः । तुभ्यं स्वाहेति ॥ ३ ॥

अथ महाव्याहृतिहोमानन्तरं प्राश्नाति संस्रवम् 'अग्निः प्रथमः' इत्यादि 'तन्मे स्योन' इत्यन्तेन ऋग्द्वयात्मकेन मन्त्रेण । अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिः क्रमेणानुष्टुप्-त्रिष्टुभौ जाठरोग्निः संस्रवप्राशने विनियोगः । इदं हविरग्निर्जाठरः प्रथमो मुख्यः अश्नातु भुनक्तु । स एवाग्निः हि यतः यथा यादृशं पावनं पोषणं चेदं हविर्वेद जानाति । अतोऽस्मभ्यमोषधीर्ग्राम्या आरण्याश्च शिवाः सुखकरीः कृणोतु करोतु । किम्भूतः ? विश्वचर्षणिः सर्वधान्याधिपः । हे देवाः इन्द्रादयः यूयं नोऽस्मान् प्रति श्रेयः एवं नवान्नप्राशनभवमारोग्यं समनयिष्ट सम्यक् प्रापयत । किंभूतान् ? भद्रान् भन्दनीयान् युष्मत्प्रसादेन नवान्नप्राशनार्हान् । किञ्च, हे पितो अन्न व्रीहे वयं त्वत्प्र-सादप्राप्तसामर्थ्यास्त्वा त्वां समशीमहि सम्यक् संस्कृतमेवाशीमहि अश्नाम । केन साधनेन ? त्वया अनुग्राहकेण, त्वत्प्रसाद एव तत्र कारणमित्यर्थः । किंभूतेन त्वया ? अवशेन पाथेयेन शम्बलेनेत्यर्थः । किञ्च हे पितो अन्न स त्वमस्माभिरेवं विधिना प्राशितः सन् नोऽस्मान् आविशस्व बलादिहेतुत्वेनास्मत्कुक्षिं प्रविशस्व । किञ्च मयो-ऽभूः मयः सुखं तद्रूपोऽभूः भव । तथा शं कल्याणाय । शमित्यव्ययम् । तथा तोकाय अपत्याय । तथा तनुवे शरीरावयवपालनाय । स्योनः परिणामेन सुखकरः सेवनीयो वा अभूर्भव । यत्र च हुतशेषप्राशनं तत्रायं गुणविधिः ॥ ४ ॥

'अन्नपतीयया वा' । "([1]अन्नपतेन्नस्य नो देहि" (य० सं० ११–८३) इत्य-

---

१. अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ (य० सं० अ० ११ कं० ८३)

अस्यार्थः—हे अन्नपते ! अन्नस्य पालक अग्ने नः अस्मभ्यम् अनमीवस्य नास्ति अमीवा व्याधिर्येन तदनमीवं तस्य अनमीवस्य व्याध्यनुत्पादकस्य तन्नाशकस्य वा शुष्मिणः शुष्मं बलं विद्यते यस्मात्तस्य शुष्मिणः बलदातुः अन्नस्य देहि प्रयच्छ, कर्मणि षष्ठी, अन्नं देहि । यद्वा, अन्नस्य स्वमंशं देहि । किञ्च दातारं अन्नस्य दातारं प्रता-रिषः प्रकर्षेण वर्धय । "प्रसमुपोदः पादपूरणे" (अष्टा० सू० ८–१–६) इति पाद-पूर्त्यै प्रोपसर्गस्य द्वित्वम् । तॄ प्लवनतरणयोः लेटो मध्यमैकवचनम् "सिब्बहुलं लेटि" (अष्टा० सू० ३–१–३४) इत्यनेन सिप्प्रत्ययः । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" (अष्टा० सू० ७–२–३५) इतीट् । छान्दसी धातोर्वृद्धिः । "लेटोडाटौ" (अष्टा० सू० ३–४–९४) इति अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" (अष्टा० सू० ३–४–९७) इत्यनेन लेट इकारलोपे रुत्वविसर्गौ तारिषः इति रूपं सिद्धम् । किञ्च नः अस्माकं

(जयराम०)

नयर्चा वा प्राशनं कार्यम् । अन्नपतिशब्दो विद्यते यस्यां सेयमन्नपतीया । छप्रत्यय-मत्र स्मरन्ति । तत्र परमेष्ठी बृहती लिङ्गोक्ता समिदाहुतौ० । यादृच्छिकोऽयं विकल्पः । अपरे त्वाहुः—वाशब्दश्चकारार्थे अतः समुच्चय इति ॥ ५ ॥

अथ यवानां प्राशने मन्त्रविशेष उच्यते–'एतम्' इति । तत्र प्रजापतिर्जगती इन्द्रो यवान्नप्राशने० । उ एवार्थे । एतम् एतत् प्रत्यक्षं त्यं त्यत् परोक्षमन्नं, यु मिश्रणे, यौति लीयतेऽस्मिन्निति यवः परमात्मा तत्प्राप्तिसाधनत्वादयमपि यवः तं यवं मरुतो देवविशेषाः । सरस्वयाः सर इत्युदकनाम तद्वत्याः नद्याः अधिवनाय उपरि वनेषु केदारेषु चकृषुः कृष्टवन्तः । यद्वा, सरोऽस्यामस्तीति सरस्वती पृथिवी तस्या अधि उपरि वनाय सम्भजनाय । वन सम्भक्तौ । पञ्चमहायज्ञाद्यर्थमित्यर्थः । किम्भूतम् ? मधुना मधुरसेन संयुक्तं संसक्तम् । अथवा एतं त्वंपदार्थं जीवं त्यं तत्पदार्थे परं ब्रह्म तत् यवं मिश्रीभूतमेकत्वमापन्नं कर्मभूमौ वनाय अतन्निरसनाय चकृषुः आकृष्टवन्तः उपाददुरित्यर्थः । तत्साधत्वेन प्रथममिदमपि कर्म चक्रुरिति विवक्षितम् । तत्किमि-त्यत आह–यत इन्द्रः शतक्रतुः अतः सीरस्य लाङ्गलस्य पतिरासीत् बभूव । मरुतश्च कीनाशाः कृषीवलाः कर्षका इत्यर्थः । सुदानवः शोभनस्य भोगादेर्दानवः दातारः आसन् बभूवुः । तदनेन यवोत्पत्तिः प्रशस्यते ॥ ६ ॥ ७ ॥ १ ॥

द्विपदे मनुष्ये पुत्रादौ चतुष्पदे गवादौ च ऊर्जं अन्नं धेहि धारय । यद्वा द्वौ पादौ यस्य सः द्विपात्तस्मै द्विपदे चत्वारः पादाः यस्य सः चतुष्पात् तस्मै चतुष्पदे "पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" (अष्टा० सू० ५–४–१३८) इति सूत्रेण अन्तलोपे "पादः पत्" (अष्टा० सू० ६–४–१३०) इत्यनेन पदादेशः द्विपदे मनुष्याय चतुष्पदे गवादये अन्नं धेहि देहि । सर्वेभ्यो नरपशुभ्योऽन्नं देहीति भावः ।

द्वितीया कण्डिका

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म ॥ १ ॥ स्थालीपाकठ्ं श्रपयित्वा श्रवणावदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति—यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा १ ॥ संवत्सरस्य प्रतिमा या ताᳬ रात्रिमुपास्महे । प्रजाᳬ सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा २ ॥ संवत्सराय परिवत्सरायेडावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः । तेषां वयठ्ं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा ३ ॥ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः । तेषामृतूनाᳬ शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहेति ४ ॥ २ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति—सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति ॥ ३ ॥ प्राशनान्ते सक्तुशेषठ्ं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्यामार्जनात् ॥ ४ ॥ मार्जनान्त उत्सृष्टो बलिरित्याह ॥ ५ ॥ पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तीर्याहतं च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवरोहन्ति ॥ ६ ॥ दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः ॥ ७ ॥ दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रठ्ं शमीशाखासीतालोष्ठाश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपति—अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः । सुवीर्योयठ्ं श्रैष्ठ्ये दधातु नाविति ॥ ८ ॥ पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति—दैवीं नावमिति तिसृभिः ॥ ९ ॥ स्रस्तरमारोहन्ति ब्रह्माणमामन्त्रयते—ब्रह्मन्प्रत्यवरोहामेति ॥ १० ॥ ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्ति—आयुः कीर्त्ति यशो बलमन्नाद्यं प्रजामिति ॥ ११ ॥ उपेता जपन्ति—सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयतान्नः ॥ शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु नः शिवा इति ॥ १२ ॥ स्योना पृथिवी नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शि-

रसः संविशन्ति ॥ १३ ॥ उपोदुत्तिष्ठन्ति—उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या। पृथिव्याः सप्तधामभिरिति ॥ १४ ॥ एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः ॥ १५ ॥ अधः शयीरंश्चतुरो मासान्यथेष्टं वा ॥ १६ ॥ २ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(सरला)

१. आग्रहायणी कर्म एवं २. स्रस्तरारोहण कर्म

प्राक्कथन :—इस कण्डिका की यह एक विशेषता है कि इसमें दो कर्म एक साथ वर्णित हैं। आग्रहायणी कर्म नव वर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता है। जब कि अष्टका को भी नव वर्षोत्सव ही मानते हैं[1]। स्रस्तरारोहण में आसन पर बैठने की विधि का वर्णन है।

हिन्दी :—मार्गशीर्ष के [अगहन मास] पूर्णमासी को आग्रहायणी नाम से प्रसिद्ध कर्म [करना चाहिए] ॥ १ ॥ स्थालीपाक पकाकर श्रवणाकर्म की तरह ही [आघाराज्याहुतियों को देकर "अपश्वेत ... नवैश्वेत" इन मन्त्रों से] घृत की आहुति देकर अन्य मन्त्रों से यजन करता है। (१) जो आराम देने वाली रात्रि मनुष्यों को आती हुई आनन्दित करती है वह रात्रि, जिसका लोग आनन्द से स्वागत करते हैं जैसा कि वन से घर आती हुई गाय को, जो कि संवत्सर की पत्नी है वह रात्रि हमारे लिए मंगलकारी हो ॥ ॥ स्वाहा ॥ (२) जो रात्रि संवत्सर की प्रतिछाया है उसकी हम उपासना करते हैं कि मैं बड़े वीर्यवाली सन्तान को उत्पन्न करके दीर्घ आयु प्राप्त करूँ ॥ स्वाहा ॥ (३) संवत्सर के लिये,[2] परिवत्सर के लिए, इदावत्सर के लिए, इद्वत्सर के लिए और वत्सर के लिए मेरा बृहत् नमस्कार हैं। इन यज्ञ के योग्य संवत्सरादि की सुमति में दीर्घकाल तक हम जीतने वाले हों और हानि न उठाने वाले हों ॥ स्वाहा ॥ (४) ग्रीष्म, हेमन्त, वसन्त और वर्षा [ऋतुएँ] हमारे लिए कल्याणकारी हों और शरद् ऋतु हमारे लिए भयरहित हो। सौ वर्ष सम्बन्धी इन ऋतुओं के अभय

---

१. वैदिक इण्डेक्स, पृ० ४१४।

२. वैदिक ज्योतिशास्त्र में इन ५ वर्ष का एक युग माना जाता है।

(सरला)

स्थान में मैं वास करूँ ॥ स्वाहा ॥ २ ॥ सोम के लिए, मृगशिरा नक्षत्र के लिये, मार्गशीर्ष की पौर्णमासी के लिए और हेमन्त के लिये स्थाली पाक का होम करता है ॥ ३ ॥ संस्रव प्राशन के अन्त में श्रवणाकर्म में बलि प्रदान से बचे हुए सत्तू को सूप में डालकर [अग्निहोत्र गृह से] बाहर निकलने से लेकर मार्जन पर्यन्त [पूर्वोक्त श्रवणा कर्म की विधि से बलि देनी चाहिये] ॥ ४ ॥ मार्जन के अन्त में [अब] "बलि समाप्त की गई" ऐसा कहना चाहिए ॥ ५ ॥

अब स्रस्तरारोहण कर्म कहते हैं :—

अग्निकुण्ड के पश्चिम में कुशासन और नवीन वस्त्र बिछाकर स्नान करके नवीन वस्त्रों को धारण कर क्रमशः गृहपति उसके बाद स्त्री और स्त्री के बाद में पुत्र पौत्रादिक जो जिससे छोटा हो । सभी उस आसन पर बैठते हैं [यही स्रस्तरारोहण हैं] ॥ ७ ॥ अग्निकुण्ड के दक्षिण में ब्रह्मा को बैठाकर, उत्तर में जल से पूर्ण कलश, शमी वृक्ष की डाली, हल की रेखा का एक मिट्टी का ढेला एक पत्थर सभी को रखकर अग्नि की ओर देखते हुये "अयमग्नि···" इस मन्त्र का जप करता है । "यह अग्नि सबसे बढ़कर वीर है [अचिन्त्यशक्ति] है, सबसे बढ़कर ऐश्वर्य वाला है, सहस्रों श्रेष्ठ वस्तुओं का सबसे बढ़कर दाता है, यह बड़ी शक्ति वाला अग्नि, हमारे परिवार के साथ हम दम्पति को श्रेष्ठ पद पर आसीन करे ॥ ७ ॥ अग्नि के पश्चिम की ओर [पूर्वाभिमुख खड़ा होकर] पूर्व की ओर अञ्जलि करता है ॥ ८ ॥ "दैवी नावं···" [से लेकर मध्वा] 'रजांसि सुक्र तू' आदि तीन ऋचाओं से [सभी आसन पर बैठते हैं] ॥ ९ ॥ [ब्रह्मा से पूँछते हैं] ब्रह्मन् ! हम प्रत्यवरोहण करें इस प्रकार ब्रह्मा को आमन्त्रित करता है [पूँछता है] ॥ १० ॥ ब्रह्मा के आज्ञा देने पर "आयु कीर्ति······" इस मन्त्र से आसन पर सब लोग चढ़े । "आयु, कीर्ति, यश, बल, खाने योग्य अन्न और सन्तति को प्राप्त हों ॥ ११ ॥ जो उपनीत हैं [जिनका उपनयन संस्कार हो चुका है] वे यह मंत्र जपते हैं—"हमारे लिये हेमन्त [जाड़ा] वसन्त और ग्रीष्म ऋतु शुभ हो, हमारे लिये वर्षा कल्याणकारी हों और हमारे लिये शरद [ऋतुएँ] कल्याणकारी हों" ॥ १२ ॥ [सभी] "स्योना पृथिवी नो भव···" इस मन्त्र से दाहिने करवट होकर पूर्व में सिर करके लेट जाते हैं "हे पृथिवी हमारे लिए मृदु हो जाओ" ॥ १३ ॥ [सभी] "उदायुषा···" आयु के साथ, शोभन आयु के साथ, मेघ की वृष्टि के साथ, पृथिवी के सात धामों के साथ [हम उठते हैं] यह मन्त्र पढ़ते हुए आसन के समीप खड़े हो जाते हैं ॥ १४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मा से आज्ञा पाकर दो बार [यही] और करना चाहिए ॥ १५ ॥

(सरला)

[इस कार्य के बाद] चार महीने तक भूमि पर ही शयन करना चाहिये अथवा जैसी इच्छा हो [नीचे या चारपाई पर सोएं] ॥ १६ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीयकाण्ड में द्वितीय कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥

(हरिहर०)

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म । मार्गशीर्ष्याम् आग्रहायण्यां[1] पौर्णिमायामाग्रहायणीसंज्ञं कर्म भवति ॥ १ ॥

स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा श्रवणावदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति–यां जना इत्यादि । तत्र चरुं श्रपयित्वा श्रवणाकर्मणि यथा द्वे आहुती जुहोति, तथाऽत्र "अपश्वेतपदा जहि" (पा० सू० २–३–१७) इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां हुत्वा ततोऽनन्तरमपराः "यां जना" इत्यादिभिः[2] (चतुर्भिर्मन्त्रैः स्वाहान्तै) श्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति ॥ २ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति–सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति । ततः स्थालीपाकेन "सोमाय" इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्वाहान्तैश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति । चकारः समुच्चयार्थः ॥ ३ ॥

प्राशनान्ते सक्तुशेषꣳ शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्यामार्जनात् । ततः स्विष्टकृतप्रभृतिप्राशनान्ते बलिहरणार्थं सक्तुशेषं शूर्पे कृत्वा उपनिष्क्रमणप्रभृति[3] (शालाया बहिर्निष्क्रमणादि) आमार्जनात् द्वारदेशे मार्जनं यावत् श्रवणाकर्मवत्कुर्यात् ॥ ४ ॥

मार्जनान्त उत्सृष्टो बलिरित्याह । मार्जनस्यान्ते अवसाने 'उत्सृष्टो बलिः' इति वचनं ब्रूयात् । एतावदाग्रहायणी कर्म ॥ ५ ॥

अथान्यत्कर्माभिधीयते–पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तीर्याहतं च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवरोहन्ति । पश्चादग्नेरावसथ्यस्य पश्चिमदेशे स्रस्तरं प्रागग्रैः कुशैः स्रस्तरमास्तीर्य विरचय्य । तच्चास्तरणमग्निशालातो गृहान्तरे युज्यते, अग्निशालायां ह्यौपवसथ्यरात्रिमन्तरेण शयनप्रतिषेधात् । अहतं च वसनं सकृत् प्रक्षालितं वस्त्रं तदुपरि आस्तीर्येति सम्बन्धः । आप्लुताः

---

१. 'पौर्णमास्य–मा' ग० ।

२–३. धनुश्चिह्नान्तर्गतं नास्ति ग० ।

स्नाताः अहते नवे सदशे प्रक्षालिते प्रत्येकं वाससी येषां ते अहतवाससः स्वामिप्रभृतयः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरं निविशन्ते ॥ ६ ॥

दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः। कथं प्रत्यवरोहन्ति ? सर्वेषां दक्षिणतः स्वामी गृहपतिर्भवति, तस्योत्तरा जाया पत्नी, तस्या उत्तरतः अपत्यानि इति शेषः। कथं ? यथाकनिष्ठं यो यस्मात् कनिष्ठः (स[1] तस्मादुत्तरतस्तस्मादपि यः) स तदुत्तरत इति ॥ ७ ॥

दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं शमीशाखासीतालोष्ठाश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपत्ययमग्निर्वीरतम इति। तत्र स्वामी स्रस्तरं प्रत्यवरोक्ष्यन् दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्माणं यथाविध्युपवेश्य उत्तरत उदपात्रं जलपूर्णं भाजनं शमीवृक्षस्य शाखां, सीतालोष्ठं हलपद्धतिभवं मृच्छकलम्, अश्मानं प्रस्तरं निधाय स्थापयित्वा अग्निमीक्षमाण आवसथ्यं पश्यन् "अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः। सुवीर्योऽयं श्रैष्ठ्ये दधातु नौ" इत्येतं मन्त्रं जपति ॥ ८ ॥

पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति—दैवीं नावमिति तिसृभिः। अग्नेः पश्चिमतः स्थित्वा प्रागग्रमञ्जलिं करसम्पुटं विदधाति "दैवीं नावम्" इत्यारभ्य "मध्वा रजाꣳसि सुक्रतू" इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः ॥ ९ ॥

स्रस्तरमारोहन्ति ब्रह्माणमामन्त्रयते—ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति। स्रस्तरं यथोक्तम् आरोहन्ति इदानीं[2] स्वामिप्रभृतयः। पूर्वं [3]यत्प्रत्यवरोहन्तीति तद्विधानार्थम्। तत्र स्वामी ब्रह्माणम् आमन्त्रयते पृच्छति। कथम् ? 'ब्रह्मन् प्रत्यवरोहाम' इति वाक्येन ॥ १० ॥

ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्त्यायुः कीर्त्तिं यशो बलमन्नाद्यं प्रजामिति। प्रत्यवरोहध्वमिति वाक्येन ब्रह्मणाऽनुज्ञाताः प्रसूताः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरमभितिष्ठन्ति 'आयुः कीर्त्तिम्' इत्यनेन मन्त्रेण। अत्र स्त्रीणामपि मन्त्रपाठः ।११।

उपेता जपन्ति—सुहेमन्तः सुवसन्त इत्यादिकम्। तत्र ये उपेताः[4] उपनीतास्ते जपन्ति 'सुहेमन्तः' इत्यादिकं मन्त्रम् ॥ १२ ॥

स्योना पृथिवी नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति। स्रस्तरमारुह्य

---

१. कंसान्तर्गतं नास्ति। ग०।

२. 'साम्प्रतम्' ग०।

३. 'यत्प्रत्यवरोहन्तीत्युक्तं तद्विधानार्थमिदम्' ग०।

४. उपनीतास्ते स्रस्तरमारुह्य सुहेमन्त' ग०।

'स्योना पृथिवी'इत्यनेन मन्त्रेण स्वामिजायापत्यानि प्राक् पूर्वं[1] शिरो येषान्ते प्राक्शिरसः दक्षिणपार्श्वैः उदङ्मुखाः संविशन्ति स्वपन्ति, शेरते स्रस्तरोपरि इत्यर्थः ॥ १३ ॥

उपोदुत्तिष्ठन्त्युदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्याः सप्तधामभिरिति । उप स्रस्तरसमीपे उदुत्तिष्ठन्ति उत्थाय[2] तिष्ठन्ति । उपपदमनर्थकम् । 'उदायुषा स्वायुषा' इत्यनेन मन्त्रेण स्रस्तरात् ॥ १४ ॥

एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः । एवमुक्तप्रकारेण ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेत्यारभ्य उत्थानपर्यन्तं ब्रह्मानुज्ञाताः सन्तो द्विवारम्[3] अपरमन्यत्स्रस्तरमारोहन्ति संविशन्ति उत्तिष्ठन्ति च ॥ १५ ॥

अधः शयीरँश्चतुरो मासान्यथेष्टं वा । अत ऊर्ध्वं चतुरो मासान् पौषमाघफाल्गुनचैत्रान्[4] अधः खट्वां व्युदस्य भूमौ शयीरन् गृहपतिप्रमुखाः । यथेष्टं वा अथवा इष्टमनतिक्रम्य यथेष्टं यथाकामम्, अधो वा खट्वायां वा शयीरन्निति विकल्पार्थः ॥ १६ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

अथ प्रयोगः[5]—मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म भवति । तत्र प्रथमारम्भे[6] मातृपूजाभ्युदयिकं विधाय आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादि प्राशनान्ते विशेषः—शूर्पं सक्तून् उल्काम् उदपात्रं दर्वीं कङ्कातत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेत्युपकल्प्य आज्यभागानन्तरम् 'अपश्वेतपदा जहि' इत्याहुतिद्वयं श्रवणाकर्मवद्धुत्वा अपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति वक्ष्यमाणैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । यथा—"यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा, इदꣳ रात्र्यै० १ । संवत्सरस्य प्रतिमा या ताꣳ रात्रिमुपास्महे । प्रजाꣳ सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा, इदꣳ. रात्र्यै० २ । संवत्सराय परिवत्सरायेडावत्सरायेद्वत्सराय[7] वत्सराय कृणुते बृहन्नमः । तेषां वयꣳ. सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा, इदꣳ. संवत्सराय परिवत्सराये[8] डावत्स-

---

१. 'पूर्वस्यान्दिशि शिरो' ग० ।

२. 'उत्थाय उत्तिष्ठन्तीत्यर्थः' ग० ।

३. 'द्विरपरं' ग० ।

४. 'पौषादीनन् अध' ग० ।

५. 'पद्धतिः' ग० ।

६. 'प्रथमप्रयोगे मातृपूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय' ग० ।

७. 'परिवत्सरायेदावत्स' ग० ।

८. 'परिवत्सरायेदावत्स' ग० ।

(हरिहर०)

रायेद्वत्सराय वत्सराय च० ३। ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः। तेषामृतूनाᳬं[1] शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहा, इदं ग्रीष्माय हेमन्ताय वसन्ताय वर्षाभ्यः शरदे च० ४। ततः स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति। तद्यथा—सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय०। मृगशिरसे स्वाहा, इदं मृगशिरसे०। मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहा, इदं मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै०। हेमन्ताय स्वाहा, इदं हेमन्ताय०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं[2] हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमण प्रभृति[3] आमार्जनान्तं श्रवणाकर्मवत्कृत्वा मार्जनान्ते उत्सृष्टो बलिरित्युच्चैर्ब्रूयात्। ततस्तां रात्रिं वत्सान् स्वमातृभिस्सह संसृजेत्॥ इत्याग्रहायणीकर्म॥

अथ स्रस्तरारोहणम्—

तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाऽभ्युदयिके[4] विधाय स्रस्तरास्तरणप्रदेशगृहे सर्वमावसथ्याग्निं नीत्वा पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा अग्नेः पश्चिमायां दिशि कुशैः स्रस्तरास्तरणं कुर्यात्। स्रस्तरस्य स्तरणमग्निशालाया गृहान्तरे युज्यते, अग्निशालायामौपवसथ्यरात्रि मन्तरेण शयननिषेधात्। तस्योपरि नूतनं सकृत्प्रक्षालितम् उदक्देशं वासः संस्तरेत्। अग्निं दक्षिणेन ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं शमीशाखां सीतालोष्ठम् अश्मानं च निधाय[5] स्रस्तरपश्चिमतः स्वामी स्थित्वा तमुत्तरेण पत्नी तामुत्तरेणापत्यानि यथाकनिष्ठम्। तत्र गृहपतिरग्निमीक्षमाणो जपति—"अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः। सुवीर्योऽयᳬं श्रैष्ठ्ये दधातु नो" इत्येतं मन्त्रम्। ततः पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति—"दैवीन्नावᳬं स्वरित्रामनागसम्" इत्यादिभिः "मध्वा रजाᳬंसि सुक्रतू" इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः। ततो 'ब्रह्मन् प्रत्यवरोहाम' इति ब्रह्माणमामन्त्र्य 'प्रत्यवरोहध्वम्' इति ब्रह्मणा प्रत्यनुज्ञाताः सर्वे स्नाताः अहतवाससः "आयुः कीर्त्तिर्यशो बलमन्नाद्यं प्रजाम्" इत्यनेन मन्त्रेण स्रस्तरमारोहन्त्यधितिष्ठन्ति, स्त्रियोऽपि मन्त्रेण। तमारुह्य तेषु ये उपनीतास्ते—

---

१. 'तेषां वयᳬं सुमतौ यज्ञियानां निवात' क०।

२. 'सौविष्टकृतं हुत्वा' क०।

३. 'प्रभृति मार्जपर्यन्तं' ग०।

४. 'मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय० ग०।

५. विधाय' क०।

(हरिहर०)

"सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयतां नः। शिवा नो वर्षाः (सन्तु[1] शरदः सन्तु नः शिवाः" इत्यमुं मन्त्रं जपन्ति। अथ 'स्योना पृथिवी' इत्यनयर्चा स्वामिप्रभृतयः, स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च सर्वे यथोक्त-क्रमेण) दक्षिणपार्श्वैः प्राक् शिरसः संविशन्ति स्वपन्ति। तत "उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्टया। पृथिव्याः सप्तधामभिः" इत्यनेन मन्त्रेणो-त्तिष्ठन्ति सर्वे। ततः स्रस्तराहुत्तीयं ब्रह्मानुमन्त्रणप्रत्यवरोहणोपेतजप-संवेशनोत्थानानि वारद्वयमेवं कुर्युः। तत आरभ्य चतुरो मासान् सर्वे अधःशयीरन् कामतो वा शय्यायाम्। पुनरावसथ्यं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्वस्थाने स्थापयेत्।

॥ इति स्रस्तरारोहणम् ॥

मुख्यकाले यदाऽऽवश्यं कर्म कर्त्तुं न शक्यते।
गौणकालेऽपि कर्त्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशो भवेत्॥
आसायमाहुतेः, कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः।
प्रातराहुतिकालात्प्राक्कालः स्यात्सायमाहुतेः॥
पौर्णमासस्य कालोऽस्ति पुरा दर्शस्य कालतः।
पौर्णमासस्य कालात्प्राग्दर्शकालोऽपि विद्यते॥
वैश्वदेवस्य कालोऽस्ति प्राक् प्रघासविधानतः।
प्रघासानां च कालः स्यात्साकमेधीयकालतः॥
स्यात्साकमेधकालोप्याशुनासीरीयकालतः ।
शुनासीरीयकालोऽपि आवैश्वदेवकालतः॥
श्यामाकैर्व्रीहिभिश्चैव यवैरन्योन्यकालतः।
प्राग्यष्टुं युज्यतेऽवश्यं न त्वत्राग्रयणात्परः॥
दक्षिणायनकाले वा पश्विज्या वोत्तरायणे।
अन्योन्यकालतः पूर्वं यष्टुं युक्ते उभे अपि॥
एवमागामियागीयमुख्यकालादधस्तनः ।
स्वकालादुत्तरो गौणः कालः पूर्वस्य कर्मणः॥
यद्वाऽऽगामिक्रियामुख्यकालस्याप्यन्तरालवत् ।
गौणकालस्तमिच्छन्ति केचित्प्राक्तनकर्मणि॥
गौणेष्वेतेषु कालेषु कर्म चोदितमाचरेत्।
प्रायश्चित्तप्रकरणे प्रोक्तां निष्कृतिमाचरेत्॥

---

१. धनुश्चिह्नान्तर्गतं नास्ति क०।

(हरिहर०)

प्रायश्चित्तमकृत्वा वा गौणकाले समाचरेत् ।
नित्येष्टिमग्निहोत्रं च भारद्वाजीयभाष्यतः ॥
मुख्यकाले हि मुख्यं चेत्साधनं नैव लभ्यते ।
तत्कालद्रव्ययोगस्य मुख्यत्वं गौणताऽपि वा ॥
मुख्यकालमुपाश्रित्य गौणमप्यस्तु साधनम् ।
न मुख्यद्रव्यलोभेन गौणकालप्रतीक्षणम् ॥
एकपक्षगतो यावान् होमसाध्यो[1] विपद्यते ।
पक्षहोमविधानान्तं हुत्वा तन्तुमतीं यजेत् ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

(जयराम०)

मार्गशीर्ष्यां शुक्लपञ्चदश्यामाग्रहायणीकर्म 'कर्तव्यम्' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

तत्कथम् ? 'स्थालीपाकम्' इति । स्थालीपाकश्रपणमाज्यभागहोमोपलक्षणम् । तेनाज्यभागानन्तरमाज्येन "अपश्वेतपदा" "न वैश्वेतस्य" (पा० सू० का० २ कं ३ सू० १७) इति मन्त्राभ्यामाहुतिद्वयं श्रवणाकर्मणि यथा तथाऽत्रापि हुत्वा अपराश्चतस्रो जुहोति—"यां जनाः" इत्येवमादिवक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । अथ मन्त्रार्थः— तत्र 'यां जनाः' इति द्वयोः प्रजापतिरनुष्टुप् रात्रिराज्यहोमे० । तत्र धेनुरूपेण तावद्रात्रिः प्रस्तूयते । यां रात्रीमायतीमागच्छन्तीं जनाः सन्तः प्रतिनन्दन्ति प्रजाप्यायनदात्रीत्वेनादृत्य हृष्टाः समर्द्धयन्ति, वनादागच्छन्तीं धेनुमिव । या च रात्रीं संवत्सरस्य प्रजापतेः पत्नी यज्ञसंयोगभाग्योषा । "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (अष्टा० सू० ४-१-३३) इति स्मरणात् । "संवत्सरो वै यज्ञः" इति श्रुतेः । धेनुपक्षे संवत्सरस्य पत्नीत्वं प्रजापालयित्रीत्वेन । स्वाहेत्युक्तार्थम । सा रात्रिर्नोऽस्माकं सुमङ्गली शोभनकल्याणकर्त्री अस्तु भूयात् १ ॥ या रात्री संवत्सरस्य प्रतिमा आकृतिः जायेति यावत् । "अर्द्धो वा एष आत्मनो यज्जाया" इति श्रुतेः । अहोरात्रे हि संवत्सरस्य शरीरं, तद्भावभावात् । तां रात्रीमुपास्महे आराधयामः । तत्फलमाह— प्रजां पुत्रादिरूपां सुवीर्यां शोभनैश्वर्यां दीर्घमखण्डितमायुश्च व्यश्नवै प्राप्नवानि । स्वाहेत्युक्तार्थम् २ ॥ संवत्सरायेति द्वयोर्विराट्ऋषिः त्रिष्टुप् प्रथमस्य संवत्सरादिपञ्चदेवता द्वितीयस्यार्तव आज्यहोमे० । हे स्तोतारः भवन्तो याभ्यः संवत्सरादिसंज्ञिकाभ्यः कालविशेषदेवताभ्यो बृहत् यथा तथा नमः नमस्कारं कृणुते कृण्वते हविः समर्पयन्तीत्यर्थः । तासां च प्रसादात्सुमतौ शोभनबुद्धौ वर्तमाना वयं

---

१. होमसम्बन्धो' ग० ।

(जयराम०)

ज्योक् चिरं जीताः दोषाणां दुष्टानां च जेतारः अहताः अनुपहताः स्याम भवेमेति प्रार्थना। किंभूतानाम् ? यज्ञियानां यज्ञार्हाणाम् ३ ॥ ग्रीष्मः, हेमन्तः, उत अप्यर्थे। वसन्तोऽपि नोऽस्माकं शिवाः कल्याणकृतो भवन्तु। तथा वर्षाः शिवाः सन्तु। शरच्च नोऽस्माकममया नीरुक् अस्तु। ग्रीष्मादय ऋतवो वृषादिमासद्वयभुजः कालावयवाः तेषां ग्रीष्माद्यधिष्ठातॄणां प्रसादात् वयमेषां संवत्सरादीनां निवाते अनर्दितप्रदेशे आश्रये वा अभये निर्भये वसेम तिष्ठामेत्यपि प्रार्थना। किंभूतानाम् ? शतशारदानां वर्षशतसम्बन्धिनाम् ४ ॥ २ ॥

ततः स्थालीपाकस्यावयवेन सोमादिभ्यश्चतुर्भ्यो नाममन्त्रैः प्रतिमन्त्रम्। ततः स्विष्टकृद्धोमः ॥ ३ ॥

प्राशनान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्य संस्थाप्य निष्क्रमणप्रभृति सक्तुभ्यो बलिदानविधिः सर्वोऽप्यामार्जनात् श्रवणाकर्मवद्भवति ॥ ४ ॥

मार्जनान्ते उत्सृष्टो बलिरित्येवमाह यजमानः।समाप्तमिदमाग्रहायणीकर्म ॥५॥

अथान्यत्कर्मान्तरम्। तत्राग्निमपरेण तृणैः स्रस्तरमास्तीर्य तदुपर्यहतं च वास आस्तीर्य आप्लुताः स्नाताः अहतवाससश्च सन्तः स्रस्तरं प्रत्यवरोहन्ति आरोहन्ति। तेषां च प्रत्यवरोहतां दक्षिणतः स्वामी यजमानः, जाया च पत्नी तदुत्तरतः, तदुत्तरतो यथाकनिष्ठमपत्यानि भवन्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥

उदपात्रादिनिधानं त्वदृष्टार्थम्। आदावग्निं पश्यन् गृहपतिर्जपति 'अयमग्निः' इत्यमुं मन्त्रम्। अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् अग्निस्तदुपस्थाने०। अयमावसथ्याग्निर्वीरतमः अचिन्त्यशक्तिः, भगवत्तमः ऐश्वर्यादिषड्गुणाश्रयोऽयम्, सहस्रं सहन्ते ददतीति सहस्रसाहः तेषु तमः नानार्थप्रदमुख्यः, सुवीर्यः शोभनमेव वीर्यं यस्य सोऽयं नो आवां जायापती सपरिकरो श्रैष्ठ्ये श्रेष्ठे कर्मणि दधातु स्थापयतु ॥ ८ ॥

ततोऽग्नेः पश्चाद्भागे स्थित्वा प्रागग्रमञ्जलिं करोति "दैवीं नावम्" इत्यादितिसृभिर्ऋग्भिः। तासां क्रमेण प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयो गायत्री छन्दः अदितिर्द्यौर्मित्रावरुणौ च उपस्थाने० ॥ ९ ॥

एवमञ्जलिं विधाय आरोहन्ति सर्वे। तत्र विधानमाह—यजमान ब्रह्माणमामन्त्रयते "ब्रह्मन् प्रत्यवरोहाम" इति मन्त्रेण पृच्छति ॥ १० ॥

प्रत्यवरोहतेमिति ब्रह्मणाऽनुज्ञाताः स्रस्तरमवरोहन्ति आयुः कीर्त्तिं यशो-बलमन्नाद्यं प्रजामिति मन्त्रेण। तत्र आसुरी गायत्री लिङ्गोक्ता आरोहणे०। आयुरादि आरोहेम लभेमेति प्रार्थना ॥ ११ ॥

(जयराम०)

उपेता उपनीता जपन्ति 'सुहेमन्तः' इत्यमुं मन्त्रम् । तस्यार्थः—तत्राश्वलायनः पंक्तिश्चर्तवो जपे० । नोऽस्माकं सुशोभनो हेमन्तः प्रतिधीयतां संपद्यताम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १२ ॥

'स्योना पृथिवी' इति । दध्यङ्ङाथर्वणो गायत्री पृथिवी शान्तिकरणे० । अनेन स्रस्तरे स्वपन्ति ॥ १३ ॥

तत उप युगपदुत्तिष्ठन्ति । उः पादपूरणः । उत्तिष्ठन्ति 'उदायुषा' इति मन्त्रेण । अस्यार्थः—तत्र गौतमो गायत्री अग्निरुत्थाने० । उदायुषा दीर्घायुषा, तथा स्वायुषा शोभनजीवितेन उत् उत्कृष्टस्य पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्याः सप्तभिर्धामभिः श्रेष्ठस्थानैः सह भवामेति प्रार्थना ॥ १४ ॥

एवमेवमेव समन्त्रकं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः स्रस्तरारोहादि कुर्युः ॥१५॥१६॥२॥

॥ इति जयरामभाष्ये द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

अथ तृतीया कण्डिका

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः ॥ १ ॥ ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति ॥ २ ॥ अपूपमाꣳसशाकैर्यथासङ्ख्यम् ॥ ३ ॥ प्रथमाऽष्टका पक्षाष्टम्याम् ॥ ४ ॥ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति—त्रिꣳशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतꣳ समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः। ऋतूंस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा १ ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि। विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा २ एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः स्वाहा ३ अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत् भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वोऽअन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा ४ अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम्। भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा ५ पञ्च व्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च। पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधिलोकमेकꣳ स्वाहा ६ ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्ति। सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवितैकान्नियच्छतु स्वाहा ७ या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराꣳ समाꣳ स्वाहा ८ शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषाऽऽगाद्विश्वरूपा शबलीरग्निकेतुः। समानमर्थꣳ स्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर ऊष आगाः स्वाहा ९ ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्ना नेत्री जनित्री प्रजानाम्। एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्साऽजीर्णा[1] त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहेति १० ॥५॥

---

१. 'व्युच्छस्य जीर्णा' क०।

स्थालीपाकस्य जुहोति—शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्षठ्ं. शन्नो द्यौर-भयं कृणोतु । शन्नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घ-मायुर्व्यश्नवै स्वाहा १ आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रो अपहन्तु पापम् । भूतं भविष्यदकृन्तद्विश्वमस्तु मे ब्रह्माभि-गुप्तः सुरक्षितः स्याठ्ं स्वाहा २ विश्वे आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु । ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु नः स्वाहेति च ३ ॥ ६ ॥ अष्टकायै स्वाहेति च ॥ ७ ॥ मध्यमा गवा ॥ ८ ॥ तस्यै वपां जुहोति—वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति ॥ ९ ॥ श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थि-सव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृयज्ञवत् ॥ १० ॥ स्त्रीभ्यश्चोपसेचनं च[1] कर्षूषु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपनठ्ं. स्रजश्च ॥ ११ ॥ आचार्या-यान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन् ॥ १२ ॥ मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टका ॥ १३ ॥ ३ ॥ ॥ ❀ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डस्य
तृतीया कण्डिका समाप्ता ॥ ३ ॥

(सरला)

अष्टका-कर्म

प्राक्कथन—आग्रहायणी कर्म के पश्चात् पौष, माघ और फाल्गुन के कृष्ण पक्ष के तीन अष्टमियों में अष्टका कर्म का विधान करते हैं। इनके मन्त्रों में उषाकालों का वर्णन है जिन्हें पाँच कहा गया है। ये पाँच उषाएँ क्या हैं और इन अष्टमियों से इनका क्या सम्बन्ध है ? कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी तरह दैवी शक्तियों में अष्टका से क्या अभिप्रेत था ? यह भी विचारणीय है। सुमन्तु गौतमादि आचार्यों ने इसे संस्कार ही माना है—"अष्टकाः पार्वणाः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः।"

---

१. 'च नास्ति' क० ।

(सरला)

हिन्दी :—आग्रहायणी कर्म के अनन्तर तीन अष्टकाएँ [होती हैं] ॥ १ ॥ [अष्टकाएँ] इन्द्र, विश्वेदेव, प्रजापति और पितरों के लिए [होती हैं] ॥२॥ [तीनों] यथाक्रम से पूआ, मांस और शाक से [होती है] ॥३॥ पहली अष्टका [आग्रहायणी के अनन्तर पौष मास की] कृष्ण पक्ष की अष्टमी में [होती है] ॥ ४ ॥ स्थालीपाक (food) पकाकर आधार और आज्य भाग नामक आहुतियों को प्रदान करके "त्रिंशत्स्वसार ....." इन मन्त्रों से घृत की आहुतियों को प्रदान करता है। (१) तीस बहने[1] शुद्ध स्थान पर प्रकाश रूप समान चिह्न को [कंचुकी की तरह आदि कोई आभरण] पहने हुए आती हैं। वे ज्ञानी की तरह [काल का] यथार्थ ज्ञान रखती हुई ऋतुओं को फैलाती हैं। वे चमकती हुई सूर्य के चारों ओर घूमती हैं ॥स्वाहा॥ (२) वह ज्योति वाली [रात्रि देवी] आकाश में वर्तमान सूर्य के रश्मियों को पहनती हैं। [उस उषा में] विभिन्न प्रकार के पशु जन्म लेकर [अर्थात् नींद से जगकर] इस [पृथिवी] माता की गोंद में [विभिन्न वन-गमनादि व्यवहारों को] देखते हैं ॥स्वाहा॥ (३) एकाष्टका ने तपसे महिमा वाले गर्भस्थ इन्द्र को प्रकट किया, उस [इन्द्र] से देवताओं ने राक्षसों को जीता और वह अपनी दैवी शक्तियों से वृत्रादि राक्षसों का मारने वाला हो गया ॥स्वाहा॥ (४) हे बहनों ! [यह सम्बोधन एकाष्टका द्वारा दूसरी उषाओं को किया गया है] मुझ छोटी बहन को तुमने बड़ा बनाया है, मैं सत्य (गुणगान) कहती हुई इसको चाहती हूँ [शिरोधार्य करती हूँ]। मैं इस [यजमान] की सुमति [भलाई] में होऊँ जैसी कि तुम हो, तुम में से कोई भी एक दूसरी को न छोड़ें [अर्थात् सभी मिलकर यजमान के कार्य-साधक हो] ॥ स्वाहा ॥ (५) वह मेरी सुमति में सभी धन वाला हुआ है, उसने प्रतिष्ठा पाई है और अभीष्ट [धन] को पाया है। मैं इस यजमान की सुमति में होऊँ। तुम में से एक दूसरे को कोई न छोड़े ॥स्वाहा॥ (६) पाँच प्रभातों [अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, औपवसथ्य और सुत्या के प्रभात] के पीछे ५ दोह [अन्धेरी रात, चाँदनी रात, दोनों सन्ध्याएँ और दिन] उत्पन्न हुए, ५ नामों वाली पृथ्वी [वसन्त ऋतु में पुष्पवती, ग्रीष्म में तापवती, वर्षा में वृष्टि-मती, शरद् में जलों की निर्मलता वाली और हेमन्त शिशिर में शैत्यावती नाम की] प्रभातों के पीछे उत्पन्न हुई, प्रभातों के पीछे ५ ऋतुएँ उत्पन्न हुई, पञ्चदश

[पाश्चात्य मत से चार अष्टकाएँ यथाक्रम से हैं चौथी वर्षा में होती है।]

विशेष :— (१) महीने में ३० दिन होते हैं उषाएँ भी ३० हो जायंगी अतः तीस बहने कहा गया है।

(सरला)

स्तोम से समर्थ हुई ५ दिशाएँ [चार दिशा, एक ऊपर की] जिनका [प्रकाश-रूप] मूर्धा समान हैं—एक लोक में उत्पन्न हुई ।। स्वाहा ।। (७) ऋतु के गर्भ के सदृश पहली उषा चमकी । एक उषा जलों की महिमा को पोषित करती है । एक [उषा] सूर्य के सजे हुए मार्गों में विहार करती हैं । एक धर्म के मार्गों में विचरती है । एक को सविता नियम में रखते हैं ।। स्वाहा ।। (८) जो पहले चमकी वह यमलोक में [फलदायिनी] धेनु हो गई । हे उषा इसीलिये तुम दूधवाली हुई । अतः अगले वर्ष हमें [प्रकाश रूप] दूध दों ।।स्वाहा।। (९) चमकने वाली श्रेष्ठ उषा आकाश स्थित ज्योति के साथ यहाँ आई है । सारे रूपों वाली, चितकवरी [उषा काल में अग्निहोत्रियों से प्रज्वलित की हुई] अग्नियों के झण्डे वाली, समान कर्म [अर्थात् सूर्य के साथ अन्धकार को दूर करनेवाले कर्म] को करती हुई हे जीर्ण न होने वाली उषा तुम [चिरकाल से स्थित होकर] जरा को प्राप्त हुई हो ।।स्वाहा।। (१०) ऋतुओं की पत्नी यह पहली उषा आई है । दिनों को बनाने वाली और प्रजाओं की माता । हे उषा तुम एक होकर अनेक प्रकार से चमकती हो और स्वयं अजीर्ण होकर सबको जीर्ण करती हो [अर्थात् वृद्ध करती हो]।। स्वाहा ।।५।। (११) स्थाली-पाक का हवन करता है [इन मन्त्रों से] "पृथिवी हमारे लिए शान्त हों, अन्तरिक्ष कल्याण कारक हो, द्यौ हमको कल्याण और अभय दें, दिशाएँ [चारों दिशाएँ और ऊपर की दिशाएँ] हमारे लिए कल्याणकारी हों । दिन और रात्रि हमारी आयु को दीर्घ करे ।।स्वाहा।। (१२) जल और किरणें सब ओर से हमारी रक्षा करें विधाता और समुद्र [सूक्ष्म दृष्टि] हमारे पाप को दूर करें भूत और भविष्यत् सब मेरे लिए अभय हों, ब्रह्म [वेद] से रक्षित मैं सुरक्षित होऊँ ।। स्वाहा ।। (१३) सारे वसु देवता रुद्र और मरुत हमारे रक्षक हों । परम स्थान में स्थित प्रजापति हमें पराक्रम, सन्तान, और दीर्घायु दे स्वाहा ।। ६ ।। अष्टकाओं के लिए स्वाहा ।। ७ ।। माघमास की [अष्टका] गौ से [करना चाहिए] ।। ८ ।। उस गौ के वपा की "वह वपाम्" इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिए । "हे जातवेद ! पितरों के लिए वपा को ले जाओ" ।। ९ ।। सभी अष्टकाओं के दूसरे दिन अन्वष्टका में पशु के दाहिने कटि प्रदेश और वाम भाग के कटि प्रदेश के मांस को लेकर सब तरफ से आच्छादित यज्ञ मण्डप में ब्राह्मण और श्रौतसूत्र में लिखे हुए पिण्डपतृ यज्ञ के समान पितृ यज्ञ करना चाहिए ।। १० ।। और पिता, पितामह, प्रपितामाह की स्त्रियों को भी उन लोगों के पिण्डों के समीप में अवनेजन का जल छिड़कना चाहिए और अवटों में मदिरा से तर्पण करके और काजल, चन्दन और पुष्प माला [स्त्रियों के पिण्ड के समीप में] चढ़ानी चाहिऐ ।। ११ ।। [यदि] इच्छा हो तो [पितरों को दी हुई हवि] पुत्र; पौत्रादि से रहित आचार्य और शिष्यों

(सरला)

को दे दें ॥ १२ ॥ और बरसात के मध्य में चौथी शाक की अष्टका [अर्थात् कुआर मास की कृष्णाष्टमी में] करना चाहिए ॥ १३ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में तृतीय कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

(हरिहर०)

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः । ऊर्ध्वम् उपरि आग्रहायण्याः मार्गशीर्ष्याः पूर्णिमायाः तिस्रः अष्टकाः त्रीण्यष्टकाख्यानि कर्माणि भवन्ति । तानि च सकृत्, संस्कारकर्मत्वात् । कुतः संस्कारकर्मतेति चेत् ? सुमन्तुगौतमादिभिः–"अष्टकाः पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः" इत्यादिना अष्टकादीनां संस्कारत्वेन स्मरणात् । ननु संस्कारकर्मणामपि पञ्चमहायज्ञपार्वणस्थालीपाकपार्वणश्राद्धानां कुतोऽसकृत्करणम् ? अभ्यासश्रवणात् । तथाहि "अहरहः स्वाहा कुर्यात्···आकाष्ठात्" पा० गृ० २–९–१६) इत्यादिना पञ्चमहायज्ञादीनां, "मासि[1] मासि वोशनम्"–(का० प० श्रा० १) इति श्राद्धस्य "पक्षादिषु" (पा० गृ० १–१२–१) इति बहुवचनात् स्थालीपाकस्य; न तथाष्टकानामभ्यासः श्रूयते, येन ताः पुनः पुनरनुष्ठीयेरन् । एवञ्च सति चत्वारिंशत्संस्कारकर्मणां मध्ये येषामभ्यासः श्रूयते, तान्यसकृद् भवन्ति । इतराणि[2] तु सकृदिति निर्णयः ॥ १ ॥

ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येत्यपूपमाꣳसशाकैर्यथासंख्यम् । एवमष्टकाकर्माणि कर्त्तव्यत्वेन[3] विधाय, तत्र च द्रव्यदेवतापेक्षायां द्रव्याणि देवताश्चाभिधत्ते । तत्र प्रथमा ऐन्द्री इन्द्रो देवता अस्या इति ऐन्द्री इन्द्रदैवत्येत्यर्थः । द्वितीया वैश्वदेवी विश्वेदेवा देवता अस्या इति वैश्वदेवी विश्वेदेवदैवत्येत्यर्थः । तृतीया प्राजापत्या प्रजापतिर्देवता अस्या इति प्राजापत्या प्रजापतिदैवत्येति यावत् । चतुर्थी पित्र्या पितरो देवता अस्या इति पित्र्या पितृदैवत्येत्यर्थः । अपूपं च मांसं च शाकश्च अपूपमांसशाकास्तैः अपूपमांसशाकैः यथासङ्ख्यं या यस्याः सङ्ख्या तामनतिक्रम्य यथासङ्ख्यं

---

१. 'मासि मासि' नास्ती क०

२. 'तु' नास्ति क०

३. 'कर्त्तव्यत्वेनाभिधाय' ख० ग०

(हरिहर०)

यजेतेत्यध्याहारः। एतदुक्तं भवति—प्रथमायामपूपेनेन्द्रं यजेत्, द्वितीयायां "मध्यमा गवा" इति वक्ष्यमाणत्वात् गोमांसेन विश्वान् देवान्, तृतीयायां शाकेन प्रजापतिमिति। अत्र तिस्र उपक्रम्य पित्र्येत्यनेन चतुर्थ्यां अभिधानमयुक्तमिति चेत्? उपक्रान्तानां तिसृणां देवताऽभिधानावसरे चतुर्थ्या अपि देवताया आचार्यस्य बुद्धिस्थत्वात् तदभिधानं न दोषः। अत्राष्टकाशब्दः कर्मवचनेऽपि कालोपलक्षकः। यथा—'वार्त्रघ्नी पौर्णमासी वृधन्वती अमावास्या' इत्यत्र कर्माभिधायकौ पौर्णमास्यामावास्याशब्दौ कालस्याप्युपलक्षकौ। अन्यथा आग्रहायण्या ऊर्ध्वं तिस्रोऽष्टका इत्यनेन प्रतिपद्येवाष्टकाकर्मप्राप्तिः स्यात्। तस्मादष्टकाशब्देन अष्टम्युपलक्ष्यते। तथाच श्रुतिः—"द्वादशपौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्या" इति। आश्वलायनस्मृतिश्च—"हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः" इति ॥ २ ॥ ३ ॥

एवमष्टकाकर्मसु द्रव्यदेवते अभिधायेदानीमुद्देशक्रमेण तदितिकर्त्तव्यतामाह—प्रथमाष्टका पक्षाष्टम्याᳫं स्थालीपाकᳫं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। प्रथमा आद्या अष्टका 'अष्टकानामधेयं कर्म' 'भवति' इति सूत्रशेषः। कदा? पक्षाष्टम्याम्। अत्र सौरादिभेदेन मासानामनेकत्वात् अष्टम्योऽप्यनेका इति किंमाससम्बन्धिन्यामष्टम्यामष्टकानामधेयं कर्मेति सन्देहापत्तौ पक्षाष्टम्यामित्याह—पक्षे अपरपक्षे 'पौर्णमास्या ऊर्ध्वम्, इति वचनसामर्थ्यात् पक्षाष्टमी कृष्णाष्टमी, न पुनः सौरसावननाक्षत्रमाससम्बन्धिनी; तेषां शुक्लकृष्णपक्षत्वाभावात्। तस्यां पक्षाष्टम्याम्। कथं? स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा उक्तविधिना संसाध्य आज्यभागौ आहुतिविशेषौ हुत्वा दशाज्याहुतीः 'त्रिᳫं.शत्स्वसार' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं जुहोति ॥ ४ ॥ ५ ॥

स्थालीपाकस्य[2] जुहोति शान्ता पृथिवी इत्यादि। स्थालीपाकस्य चरोर्जुहोति—'शान्ता पृथिवी' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति प्रतिमन्त्रम्। अत्र ऐन्द्री प्रथमाऽष्टकेति प्राधान्यमिन्द्रस्योक्तम्, अपूपेत्यनेन हविषः, यागावसरश्च नोक्तः सूत्रकृता, अतः सन्देहः कुत्र क्रियतामिति। किं तावत्प्राप्तम्? साधनत्वात्प्रधानत्वादाज्यभागानन्तरं क्रियतामिति। न, तत्र "आज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति" (पा० गृ० ३–३–५) इति

१. 'अष्टकाख्यं कर्म' ग०। २. इदं प्रतीकं नास्ति क०।

(हरिहर०)

सूत्रकारेण आज्याहुतिविधानात्। तर्हि तदन्तेऽस्तु। न, तत्रापि "स्थालीपाकस्य जुहोति" (पा० गृ० अ० ३–३–६) इत्याज्यहोमानन्तरं स्थालीपाकहोमविधानात्। तस्मात्तदनन्तरं[1] युज्यते। ततः अपूपेन 'इन्द्राय स्वाहा' इत्येकामाहुतिं जुहुयात्, एवमुत्तरत्रापि ॥ ६ ॥ ७ ॥

एवं प्रथमाष्टकेतिकर्त्तव्यतामनुविधायाधुना [2]इयमेवोत्तरीयास्वप्यष्टकासु[2] इतिकर्त्तव्यता इत्यभिप्रेत्य तासां विशेषमात्रमनुविधत्ते, मध्यमा गवा इत्यादिभिः सूत्रैः। मध्यमा तिसृणां द्वितीयेत्यर्थः। सा च गवा गोपशुना 'कर्त्तव्या' इति सूत्रशेषः। अत्राचार्येण यद्यपि गोपशुरुक्तस्तथापि—

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु।

इति स्मरणात्, तथा—

देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः।
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥
[3]समुद्रयानस्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
महाप्रस्थानगमनं गोपशुश्च सुराग्रहः ॥
अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहो लीढापरिग्रहः।
असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिषु ॥
वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमघसङ्कोचनं तथा।
अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ॥
प्रायश्चित्ताऽभिधानं च विप्राणां मरणान्तिकम्।
संसर्गदोषः पापेषु मधुपर्के पशोर्वधः ॥
दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः।
शामित्रं चैव[4] विप्राणां सोमविक्रयणं तथा ॥
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।
कलौ युगे त्विमान्धर्मान्विवर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

इति स्मरणात् गोपशोः अस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वात् कलौ विशेषवर्जनीयत्वाच्च न गवालम्भः कर्त्तव्यः, किन्तु अनिषिद्धपश्वन्तरेण[5] अवश्यकर्त्तव्याष्टकादिकर्म निर्वर्त्तनीयम् ॥ ८ ॥

तस्यै वपां जुहोति—वह[6] वपां जातवेदः पितृभ्य इति। तस्यै इति षष्ठीस्थाने

---

१. 'तस्मादनन्तरमेव' ग०।
२. 'इयमेवोत्तरास्वष्ट' ग०।
३. 'समुद्रयानं' क०।
४. 'चैवामित्राणां' ग०।
५. 'अनिषिद्धश्वान्तरेणावश्य' क०।
६. 'वहत्वयं' क०।

(हरिहर०)

चतुर्थी। तस्याः गोर्वपां "वह वपाम्" इत्यादिना मन्त्रेण जुहोति। पुनः विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यवदानानि जुहोति। शेषं पशुकल्पं पशुश्चेदित्यादिना[1] उपरिष्टाद्वक्ष्यति।

रूपं कालोऽनुनिर्वापः श्रपणं[2] देवता तथा।
आदौ ये विधृताः पक्षास्त इमे सर्वदा स्मृताः॥

इत्येतस्य संहितासु अदर्शनात्, समूलत्वे त्वनुनिर्वापादिसमभिव्याहारेण श्रौतमात्रविषयत्वात्। वस्तुतस्तु नान्यस्य तन्त्रं प्रतीयताम्[3] इति पायिकम्[4], सान्तपनीयाधिकरणेऽन्यतन्त्रमध्येऽग्निहोत्रदर्शनात्॥ ९॥

श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थिसव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृयज्ञवत्। श्वः अष्टम्या उत्तरेद्युः अन्वष्टकासु अनु पश्चात् भवन्तीत्यन्वष्टकाः तासु। सर्वासां चतसृणामष्टकानां 'कर्म भवति' इति शेषः। केन च द्रव्येणेत्याह—पार्श्वसक्थिसव्याभ्यामिति पार्श्वं च सक्थि च[5] पार्श्वसक्थिनी ते च सव्ये च पार्श्वसक्थिसव्ये ताभ्यां पार्श्वसक्थिसव्याभ्याम्। अत्र तुल्याधिकरणे विशेषणीभूतस्य सव्यशब्दस्योत्तरपदत्वं छान्दसम्। परिवृते सर्वतः प्रच्छादिते आवसथ्याग्निसदने॥ इति कर्त्तव्यतापेक्षायामाह—पिण्डपितृयज्ञवत् अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञवत्[6] तदुक्तं पिण्डपितृयज्ञविधिना॥ १०॥

स्त्रीभ्यश्च। पिण्डपितृयज्ञवत् इत्यनेन पितृपितामहप्रपितामहानामेव पिण्डदानं प्राप्तं, ततोऽधिकमुच्यते। स्त्रीभ्यः मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यः पिण्डान्दद्यादिति चकारेण समुच्चीयते। अत्र सामान्योऽपि स्त्रीशब्दः पित्रादिसन्निधानात् मात्रादिपरोऽवसीयतेऽवगम्यते। उपसेचनं च कर्षूषु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपनं स्रजश्च। न केवलं स्त्रीभ्यः पिण्डान्दद्यात्, किन्तु उपसेचनं कुर्यात्। कया? सुरया मद्येन, कासु? कर्षूषु[7], न केवलं सुरया तर्पणेन च तर्पयत्यनेनेति तर्पणसाधनं सक्त्वादि तेन। चकार उपसेचनक्रियासमुच्चयार्थः। करणाधिकरणयोश्चेति तर्पणशब्दो[8] ल्युडन्तः। अञ्जनं त्रैककुदं सुवीराञ्जनं प्रसिद्धं, तदलाभे लौकिककज्जलम्, अनुलेपनं सुगन्धिद्रव्यं चन्दनादि स्रजः अप्रतिषिद्धसुरभिपुष्पमालाः। चकारो दद्यादिति क्रियासमुच्चयार्थः॥ १२॥

---

१. 'पशुश्चेदाप्लाव्येरयादिना' ग०।　२. 'श्रवणं क०।
३. 'प्रतीयते' न०।　४. 'प्रापिकम्' क०।　५. 'च' नास्ति ग०।
६. 'पिण्डपितृयज्ञवत्तथा तदुक्तं' क०।　७. 'कर्षूषु अवटेषु' ख० ग०।
८. 'ल्युडन्तोऽत्र तर्पणशब्दः त्रैककुदं ख० ग०।

(हरिहर०)

आचार्यायान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन । यदि कामयेत्तत्तदा आचार्याय अन्ते वासिभ्यश्च शिष्येभ्यः पिण्डान् दद्यात्, यदि ते अनपत्याः स्युः ॥१२॥

मध्या वर्षे च तुरीया शाकाष्टका । एवमष्टकात्रयं सामान्यतो विशेषतश्च अनुविधाय पित्र्यां इत्युद्देशक्रमप्राप्तां विशेषतश्चतुर्थीमष्टकामाह–मध्या मध्ये वर्षे वृष्टिकाले प्रौष्ठपद्या ऊर्ध्वमष्टमीत्यर्थः । तुरीया चतुर्थी शाकाष्टका शाकेन कालशाकाख्येन निर्वर्त्या[1] अष्टका शाकाष्टका ॥१३॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

अथाष्टकाकर्मपद्धतिः–तंत्र मार्गशीर्ष्या ऊर्द्ध्वं कृष्णाष्टम्यां मातृपूजा पूर्वाभ्युदयिकश्राद्धं विधायाऽऽवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात् । कषाञ्चित् पक्षे[2] अष्टकाकर्मसु आभ्युदयिकं नास्ति, 'नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धम्' इति वचनात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । तण्डुलानन्तरं पूर्वमौपासनाग्नि-सिद्धस्यैवापूपस्य आसादनं प्रोक्षणं च प्रोक्षणकाले, तत आज्यभागान्तं कृत्वा[3] 'त्रिठ्ं.शत्स्वसारः' इत्येवमाद्या दशाहुतीर्हुत्वा स्थालीपाकेन 'शान्ता पृथिवी' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्हुत्वा अपूपात् 'इन्द्राय स्वाहा' इत्येकामाहुतिं दत्त्वा स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृतं जुहोति । तद्यथा–आज्यभागानन्तरं त्रिठ्ं.शत्स्वसार उपयन्ति [4]निष्कृतठ्ं. समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः । ऋतूंस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा १ ॥ इदं स्वसृभ्यो० । ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि । विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा २ ॥ इदठ्ं. रात्र्यै० । एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्ता सुराणामभवच्छ-चीभिः स्वाहा ३ ॥ इदमष्टकायै० । अमानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा ४ ॥ इदं रात्रीभ्यो० । अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो ऽन्या-मति मा प्रयुक्त स्वाहा ५ ॥ इदठ्ं. रात्रीभ्यो० । पञ्च व्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च । पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नी-रधिलोकमेकठ्. स्वाहा ६ ॥ इदठं. रात्रीभ्यो० । ऋतस्य गर्भः प्रथमा

---

१. 'निर्वर्त्य' क० । २. 'मते' ख० ग० । ३. 'कर्मकृ' ख० ग० ।
४. 'निष्कृतिठ्ं.' ख० ग० ।

(हरिहर०)

व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्त्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवित्रैकां नियच्छतु स्वाहा ७ ॥ इदठ्ं. रात्र्यै० । या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे । सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराᳬ समाᳬ स्वाहा ८ ॥ इदं रात्र्यै० । शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषाऽऽगाद्विश्वरूपा शबलीरग्निकेतुः । समानमर्थठ्ं. स्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगात्स्वाहा ९ ॥ इदं रात्र्यै० । ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम् । एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्साऽजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहा १० ॥ इदठ्ं. रात्र्यै० । अथ स्थालीपाकेन चतस्र आहुतयः 'शान्ता[1] पृथिवी' इत्यादिभि-र्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं जुहोति । तद्यथा—"शान्ता पृथिवी' शिवमन्तरिक्षठ्ं. शन्नो द्यौरभयं कृणोतु । शन्नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घमायु-र्व्यश्नवै स्वाहा १ ॥ इदं पृथिव्यै अन्तरिक्षाय दिवे दिग्भ्यः प्रदिग्भ्य आदिग्भ्योऽहोरात्राभ्यां च० । आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रोऽपहन्तु पापम् । भूतं भविष्यदकृन्तद्विश्वमस्तु मे ब्रह्माभिगुप्तः सुरक्षितः स्याᳬ स्वाहा २ ॥ इदमद्भ्यो मरीचिभ्यो धात्रे समुद्राय ब्रह्मणे च० । विश्व आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु । ऊर्ज्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु न स्वाहा ३ ॥ इदं विश्वेभ्य आदित्येभ्यो वसुभ्यो देवेभ्यो रुद्रेभ्यो मरुद्भ्यः प्रजापतये पर-मेष्ठिने च० । अष्टकायै स्वाहा ४ ॥ इदमष्टकायै० । अथ अपूपादेकाहुतिः— 'इन्द्राय स्वाहा' इदमिन्द्राय० । स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृत् । ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्तं होमं विधाय प्राशनादि समापयेत् । श्वोऽन्वष्ट-काकर्मावसथ्याग्नावेव । तत्र नित्यवैश्वदेवानन्तरमपराह्णे प्राचीनावीती नीवीबन्धनं कृत्वा दक्षिणामुखः [2]परिवेष्टितेऽग्निसमीपेऽग्नेरुत्तरत उप-विश्याग्नेयादिदक्षिणान्तमप्रदक्षिणमग्निं दक्षिणाग्रैः कुशैः परिस्तीर्य अग्नेः पश्चिमतः दक्षिणसंस्थानि पात्राण्येकैकश आसादयति । यथा——स्रुवं[3] चरुस्थालीं वा । स्रुक्पक्षे स्रुगनन्तरं चरुस्थालीमुदकमाज्यं मेक्षणं स्फ्य-मुदपात्रं सकृदाच्छिन्नानि क्रीतयोर्लब्धयोर्वा छागस्य पार्श्वसक्थ्योर्मांसं सुरां सक्तूनञ्जनमनुलेपनं स्रजः सूत्राणि च । ततः पार्श्वसक्थ्योर्मांसं श्लक्ष्णं[4] अणुशश्छित्वा प्रक्षिप्तासादितोदकायां चरुस्थाल्यां प्रक्षिप्या-

१. 'शान्ता पृथितीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्जुहोति' ख० ग० ।

२. 'परिवृत्ते' ख० ग० ।   ३. 'स्रुवं' ख० ग० ।

४. 'श्लक्ष्णां' ख० ग० ।

(हरिहर०)

ग्नावधिश्रित्याप्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वा शृतमांसमासादितेन घृतेनाभिघार्यं दक्षिणत उद्वास्य पूर्वेणाऽग्निमानीयोत्तरतः स्थापयेत् । ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन मांसमादाय 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा' इत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमग्नये कव्यवाहनायेति त्यागं विधाय पुनर्मेक्षणेन मांसमादाय 'सोमाय पितृमते [1]स्वाहा' इति हुत्वा इदं सोमाय पितृमत इति त्यागं विधाय मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणामुख उपविश्य सव्यं [2]जान्वाच्योपलिप्य स्फ्येन 'अपहता असुरा रक्षा॒ꣳसि [3]वेदिषदः' इति लेखामुल्लिख्य तथैव द्वितीयाम्, उदकमुपस्पृश्य'ये रूपाणि'इत्युल्मुकं प्रथमलेखाग्रे निधाय तथैव द्वितीयलेखाग्रे उदकमुपस्पृशेत् । तत उदकपात्रमादाय प्रथमलेखायां पितृतीर्थेनामुकसगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वा [4]द्वितीयलेखायाममुकसगोत्रेऽस्मन्मातः अमुकि देवि अवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहीप्रपितामह्योरवनेजनं दत्त्वा सकृदुपमूललूनानि दक्षिणाग्राणि बर्हिर्लेखयोरास्तीर्यं तत्रावनेजनक्रमेणामुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नेतत्ते मांसं स्वधा नम इति मांसपिण्डं दत्त्वा पितामहप्रपितामहयोश्चैवं प्रदायापरलेखायाममुकगोत्रेस्मन्मातरमुकदेवि एतत्ते मांसं स्वधा नम इति पिण्डं दत्वा [5]पितामहीप्रपितामहीपिण्डद्वयं प्रदाय प्रतिपिण्डदानम् इदं पित्रे, इदं पितामहाय, इदं प्रपितामहाय, इदं मात्रे, इदं पितामह्यै, इदं प्रपितामह्यै इति त्यागं विधाय इच्छया स्त्रीपिण्डसमीपेऽवनेजनसकृदाच्छिन्नास्तरणपूर्वकमनपत्येभ्य आचार्यायान्तेवासिभ्यश्च यथाक्रमं मांसपिण्डान् दद्यात् । चकारादन्येभ्योऽपि सपिण्डादिभ्यो दद्यात् । स्त्रीपिण्डसन्निधाने अवटत्रयं खात्वा तेषु अमुकगोत्रे अमुकदेवि सुरां पिबस्वेत्येकत्रावटे सुरां प्रसिच्य तथैव पितामही प्रपितामही इतरयोरवटयोरासिच्य—सक्तूनादायामुकगोत्रेऽमुकि देवि तृप्यस्वेति मातृप्रभृतिभ्यः सक्तून्प्रत्यवटं प्रक्षिप्य ततस्तथैव अञ्जस्वेति मातृप्रभृतिभ्योऽञ्जनं दत्त्वा अनुलिम्पस्वेत्यनुलेपनं च दत्त्वा स्रजोऽपिनह्यस्वेति स्रजो दत्त्वा 'अत्र पितरः' इत्यर्थं च जपित्वा पराङावृत्य वायुं धारयन्नात-

१. 'स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं हुत्वा' ख० ग० ।

२. जान्वाच्य भूमिमुपलिप्य' ख० ग० ।

३. 'वेदिषद् इति मन्त्रेण लेखासंस्थामुल्लिख्य' ख० ग ।

४. 'द्वितीयलेखायामेवमेवामुकगोत्रेऽस्मन्मातरमुकि देवि' ख० ग० ।

५. 'पितामहीप्रपितामह्योरप्येवं पिण्डद्वयं' ख० ग० ।

(हरिहर०)

मनात् उदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्य 'अमी मदन्त' इत्यर्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनेज्य नीवीं विस्रस्य 'नमो वः' इति प्रतिमन्त्रमञ्जलिं करोति। 'गृहान्न' इत्याशिषं प्रार्थ्य 'एतद्वः' इति प्रतिपिण्डं सूत्राणि दत्त्वा 'ऊर्जम्' इति पिण्डेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य उखायामवध्यायावजिघ्रति। सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं च प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य आन्वष्टक्यं श्राद्धं कुर्यात्। उखा ताम्रमयी मृन्मयी वा। शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्च आददीत मतीः सदा। उखा मांससान्नाय्योखा चयनोखा पशूखा पिण्डपितृयज्ञोखा॥ इत्येकाष्टका॥ पौष्या ऊर्द्ध्वं कृष्णाष्टम्यां द्वितीयाष्टका। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कृत्वा आवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात्। तत्र ब्रह्मोपवेशनं प्रणीताप्रणयनं परिस्तरणं विधाय पात्राण्यासादयति—पवित्रच्छेदनानि, पवित्र, प्रोक्षणीपात्रम्, आज्यस्थाली, द्वे चरुस्थाल्यौ, संमार्गकुशाः, उपयमनकुशाः, समिधः, स्रुवः, आज्यं, काष्मर्यमय्यौ हस्तमात्र्यौ वपाश्रपण्यौ, शाखाविशाखे, अष्टका, चरुतण्डुलाः, हस्तमात्रं वारणं शूलं, पशुश्रपणार्थमुखा ताम्रमयी मृन्मयी वा, पाशुकचरुतण्डुलाश्च, इत्येतानि। अथोपकल्पनीयान्युपकल्पयन्ति—प्लक्षशाखा, पलाशशाखा त्रिहस्तप्रमाणा, व्याममात्री कौशी त्रिगुणरशना, उपाकरणतृणमेकं दर्भतरुणं, द्विगुणरशना कौशी व्याममात्री, पशुच्छागः, पात्रेजनी उदकपूर्णा स्थाली, असिः शस्त्रं, हिरण्यशकलानि, पृषदाज्यार्थं दधि चेति। ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणान्ते विशेषः—विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टम्प्रोक्षामीति पाशुकचरुतण्डुलानां प्रोक्षणम्, आज्यनिर्वापानन्तरमष्टकाचरुपात्रे तण्डुलान् प्रक्षिप्य पाशुकचरुपात्रे तण्डुलचरुप्रक्षेपं कुर्यात्। ततो ब्रह्माज्यं स्वयमष्टकाचरुमन्यः पत्नी वापाशुकचरुं युगपदग्नौ उदक्संस्थमधिश्रपयन्ति : ततः पर्यग्निकरणादिप्रोक्षण्युत्पवनान्तं यजमान एव कुर्यात्। अथाग्नेः पश्चाद्दक्षिणत आरभ्य उदक्संस्थाः प्रागग्राः कुशास्तरणोपरि प्लक्षशाखा आस्तीर्य अग्नेः प्रादक्षिण्येन पुरस्ताद् गत्वा पलाशशाखामग्निकुण्डलग्नाम् उदङ्मुखोपविष्टः वितस्तिमात्रं निखाय त्रिगुणरशनामादाय प्रादक्षिण्येन पलाशशाखां त्रिर्वेष्टयति। अथोपाकरणतृणेन विश्वेभ्यो देवेभ्य उपाकरोमीति पशुमुपाकरोति स्पृशति शरीरे। द्विगुणरशनया शृङ्गमध्ये तत्तूष्णीं दक्षिणकर्णाऽधस्ताद् बध्नाति। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मीति पलाशशाखायां पशुं नियुनक्ति। अथ प्रोक्षणीरादाय ब्रह्मन्हविः प्रोक्षिष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य ॐ प्रोक्षेति ब्रह्मणाऽनुज्ञातो विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्ष्य प्रोक्षणीजलं पशोरास्ये कृत्वा शेषं पशोरधस्तादुपोक्षति सिञ्चति।

(हरिहर०)

अथ यथागतमागत्य स्वासने उपविश्य उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य ब्रह्मणान्वारब्ध आघारौ हुत्वा आज्यलिप्तेन तत्स्रुवाग्रेण ललाटे अंसयोः श्रोण्योश्च पशुं समनक्ति अञ्जनं करोति। ततोऽसिमादाय स्रुवेणैव संयोज्यासिस्रुवाग्राभ्यां पशोर्ललाटमभिमृशति। ततोऽग्नेरुल्मुकमादायोत्थाय प्रदक्षिणं परिगच्छन् पशुम् आज्यं शाखामग्निं पर्यग्निकृत्वोल्मुकमग्नौ प्रास्य तावत्प्रति परीत्य अप्रादक्षिण्येनागत्य आस्तृततृणद्वयमादाय पशुं शिरस उन्मुच्य कण्ठे बध्वा पलाशशाखां तत उन्मुच्य रशनया वामकरेण धृत्वा दक्षिणेन वपाश्रपणीभ्यामन्वारब्धमुदङ्ङुन्नयति। तत्रैकं तृणं भूमौ धृत्वा तस्मिन्प्रत्यक्शिरसं, वा उदक्पादं पशुं निपात्य स्वासने उपविशति यजमानः। अपरः कश्चिन्मुखं संगृह्य संज्ञपयति। संज्ञप्यमाने यजमानः पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्वाहा देवेभ्य इत्येकामाहुतिं हुत्वा इदं देवेभ्य इति त्यागं कृत्वा संज्ञप्ते देवेभ्यः स्वाहेति तेनैवाज्येन द्वितीयां दत्त्वा इदं देवेभ्यः, अपराः पञ्चाहुतीस्तूष्णीं जुहोति इदं प्रजापतये इति त्यागः पञ्चसु। तत उत्थाय पशुं मोचयित्वा वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं त्यजति। ततः पात्रेजनीमादाय पशोः प्राणान्स्वयमेव शुन्धति। तद् यथा—पात्रेजनीजलमादाय मुखं, दक्षिणोत्तरनासिके, दक्षिणोत्तरे चक्षुषी, दक्षिणौ कर्णौ, नाभिं, मेढ्रं, पायुम्, एकीकृत्य पादांश्च क्रमेण शुन्धति। शेषं पशोः पश्चान्निषिञ्चति। ततः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभ्यग्रे उदगग्रं तृणं निधाय असिधारया तृणमभिनिधाय च्छिनत्ति। अथ द्विधाभूतस्य तृणमूलमादाय उभयतो लोहितेनाक्तां निरस्य वपामुत्खिदति। अनन्तरं वपाश्रपण्यावादाय प्रोर्णोति। ततश्छिनत्ति वपाम्। तां च प्रक्षाल्य अग्नेरुत्तरतः स्थित्वा प्रतप्य शाखाग्न्योरन्तरेण हुत्वाऽग्नेर्दक्षिणतः स्थित्वा वपां श्रपयति। श्रप्यमाणां च स्रुवेणाज्यं गृहीत्वाऽभिघार्य प्रत्याहृत्य ब्रह्माणं प्रदक्षिणीकृत्य स्वासने उपविश्य स्रुवेणाज्यं गृहीत्वा वपायां प्राणदानं विधाय प्लक्षशाखास्वासादयति आलभेत च। ततः ब्रह्मणान्वारब्ध आज्यभागौ हुत्वा "त्रिंशत्स्वसार" इति दशाहुतीरनन्वारब्धो हुत्वा अष्टकाचरुणा 'शान्ता पृथिवी' इत्यादिकाश्चतस्रो हुत्वा वपाहोमाय वामहस्तस्थे स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय वपां द्विधाऽवदाय गृहीत्वा पुनर्हिरण्यशकलमवधाय द्विरभिघार्य 'वह वपां जातवेदः पितृभ्यः' इति प्राचीनावीतिनो दक्षिणमुखस्य होमः, इदं पितृभ्यः इदं जातवेदस इति वा त्यागं विधाय यज्ञोपवीती भूत्वोदकं स्पृष्ट्वा वपाश्रपण्यौ विपर्यस्ते अग्नौ प्रास्य पशुं विशास्ति। तद्यथा हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वे यकृत् वृक्कौ गुदमध्यं

(हरिहर०)

दक्षिणाश्रोणिमिति सर्वावदानपक्षे ।। दक्षिणबाहुं गुदतृतीयाणिष्ठं सव्या श्रोणिरिति त्र्यङ्गानि स्विष्टकृदर्थानि, यदा त्रीणि तदा हृदयं जिह्वां क्रोडमिति त्रीणि। पञ्चावदानपक्षे हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वे इति पञ्च अवद्यति खण्डयति। तस्मिन्पक्षे शेषान्स्विष्टकृतेऽवद्यति। ततः अवदानानि प्रक्षाल्य शूलेन हृदयं प्रतप्य उखामग्नावधिश्रित्य अवदानानि प्रक्षिपति, स्वल्पमुदकं च। ततः त्रिः प्रच्युते हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्य इतराण्यवदानानि त्र्यङ्गवर्जितानि आज्येनाभिघारयति। अथोखामुद्वास्य अवधानान्युद्धृत्य कस्मिंश्चित्पात्रे हृदयादिक्रमेण उदक्संस्थानि निधाय स्रुवेणाज्यमादाय हृदयादीनां त्र्यङ्गवर्जितानां क्रमेण प्राणदानं कृत्वा शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य प्लक्षशाखासु हृदयादिक्रमेणोदक्संस्थान्यासादयति। ततस्त्र्यङ्गवर्जितान्यालभते। अथ प्रधानहोमार्थं स्रुवेण आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय हृदयादिभ्यः क्रमेण द्विर्द्विरवदाय स्रुवे क्षिप्त्वा स्थालीपाकाच्च सकृदवदायोपरि क्षिप्त्वा तदुपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्, इद विश्वेभ्यो देवेभ्यः। ततो स्विष्टकृदर्थं स्रुव उपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा द्विर्द्विरवदाय स्रुवे कृत्वा चरुद्वयाच्च सकृत्सकृदवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विर्द्विरभिघार्य अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति जुहुयात्, इदमग्नये स्विष्टकृते इति त्यागः। असर्वावदानपक्षे प्रधानावदानशेषात् स्विष्टकृद्धोम इति विशेषः। ततो महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यान्ता नवाज्याहुतिर्हुत्वा ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा संस्रवर्ठ. प्राश्य ब्रह्मणे पश्वङ्गं दक्षिणां दद्यात्। ततः स्मृत्यन्तरोक्तपञ्चविंशतिब्राह्मणभोजनं च दद्यात्। अस्यैव पशोः सव्यपार्श्वसक्थिभ्यामपरदिने अन्वष्टकाकर्म पूर्ववत्। माघ्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां तृतीया प्राजापत्याष्टका। सा यथा प्रथमाष्टका। तत्र अपूपस्थाने कालशाकचरुस्तदग्निः सिद्ध एव तमासादयेत् आसादनकाले। प्रोक्षणकाले प्रोक्षयेत्। ततोऽपूपयागस्थाने प्रजापतये स्वाहेति कालशाकं जुहुयात्। शेषं समानम्। कालशाकालाभे वास्तुकम्। अन्येद्युः पूर्ववदन्वष्टकाकर्म। प्रौष्ठपद्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां चतुर्थी पित्र्या शाकाष्टका। सा च प्रथमाष्टकावत्। एतावान्विशेषः—चरुस्थालीद्वयं तण्डुलानन्तरं कालिकशाकमासादयेत्। कालिकशाकचरुसम्बद्धामासादनादिहोमान्तं कर्म प्राचीनावीती दक्षिणामुखः कुर्यात्। अन्यद्यज्ञोपवीती पूर्वाभिमुखः कालिकशाक-

(हरिहर०)

चरुसम्बद्धं कर्म कृत्वा उदकमुपस्पृशेत् । अपूपहोमस्थाने पितृभ्यः स्वाहेति शाकचरोरेकामाहुतिं जुहुयात् । प्रातरन्वष्टकाकर्म पूर्ववत् ॥ ३ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीयकाण्डस्य तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

(जयराम०)

अष्टकाः 'भवन्ति' इति शेषः । संस्कारश्चायं स्मर्यते गौतमादिभिः । सकृत्करणं चास्य अभ्यासस्याश्रवणात् ॥ १ ॥

ता आह–'ऐन्द्री' इत्यादि । वक्ष्यति च "मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टका" (पा० गृ० ३–३–१३) इति चतुर्थ्यां निर्देशम् । तद्धितान्तेन निर्देशः प्रत्यष्टकं तद्देवत्यो होमो यथा स्यादिति ॥ २ ॥

इदानीं तत्साधनभूतं द्रव्यमाह–'अपूपम्' इति । अपूपो मण्डकः, मांसं "मध्यमा गवा" (पा० गृ० सू० ३–३–८) इति वक्ष्यति, शाकं कालशाकम् अष्टकाद्वये ॥३॥

प्रथमाष्टका आग्रहायणीसमनन्तरपक्षाष्टम्यां 'भवति' इति शेष. ॥ ४ ॥

आज्यभागौ हुत्वेत्यवसरज्ञापनम् । तत्राज्याहुतिषूक्तमन्त्राणां "त्रिंशत्" इत्यादिदशानां प्रजापतिस्त्रिष्टुप्, अष्टम्या[1] अनुष्टुप् लिङ्गोक्ता आज्यहोमे० । अष्टकायास्तदधिष्ठात्रीदेवतायास्त्रिंशत्तिथयः स्वसारो भगिन्यः । ताश्चाष्टकाया उप समीपं यन्ति गच्छन्ति हविर्भागग्रहणाय । मुख्यत्वादष्टकायास्तद्द्वारा ता अपि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । किम्भूताः ? निष्कृतं शुद्धं समानं तुल्यं केतुं चिह्नं चन्द्रादिरूपं प्रतिमुञ्चमानाः धारयन्त्यः । ऋतून् हेमन्तादीन् तन्वते सम्भूय विस्तारयन्ति । पुनः किम्भूताः ? कवयः क्रान्तदर्शनाः[2] । प्रजानतीः पूर्वकालस्वरूपं जानानाः । छादनात् व्यापकत्वाच्छन्दो वत्सरः तस्य मध्ये परियन्ति आवर्त्तन्ते । कीदृश्यः ? भास्वतीः दीप्तिमत्यः, ताभ्यः स्वाहा सुहुतमस्त्विति सर्वत्र समानम् १ ॥ या रात्री ज्योतिष्मती आप्यायनद्वारा ओजआदिकर्त्री नक्षत्रप्रचुरा वा, देवी देवतारूपा संसारचक्रे क्रीडन्तीति वा, नभ आकाशं प्रतिमुञ्चते आवृणोति । एतेन स्वरूपं व्याख्यातम् । सूर्यस्य व्रतानि दिवसोचितकर्माण्यप्यावृणोति, न प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः । यस्यां रात्र्यां पशवो गवादयः अस्या मातुः पृथिव्या उपस्थे उपरिस्थितं वस्तु विशेषेण पश्यन्ति । "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति श्रुतेः । किं भूताः पशवः ? नानारूपाः बिडालाद्यनेकभेदभिन्नाः, जायमाना उत्पद्यमाना अपि । जन्मदिनमारभ्येत्यर्थः २ ॥ एकाष्टका चतुर्थी ण वर्षासु प्रसिद्धा सा तप्यमाना तपसा शास्त्रविहितधर्मेण गर्भं श्रेयःप्राप्त्युपायविशेषरूपमिन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तं महिमानं महान्तमप्रतिहतमित्यर्थः, जजान

१. 'अष्टम्यां' ग० । २. 'कान्तदर्शता' ग० ।

(जयराम०)

जनितवती। तेन गर्भेण देवा इन्द्राद्या दस्यून्प्रतिपक्षान् व्यसहन्त पराजितवन्तः। यद्वा, तान् विशेषेण स्वप्रहारमसहन्तं असहायन्त। अन्तर्भूतोऽत्र णिच् बोद्धव्यः। यश्च गर्भः शचीभि स्वनुष्ठितकर्मभिः असुराणामपकारिणां शत्रूणां हन्ता हिंसकोऽभवत् अभूत्। शचीति कर्मणो नामधेयं गणे[1] पठ्यते ३ ॥ या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टादष्टका तत्राष्टमी ज्येष्ठया सम्बध्यते। साऽप्येकाष्टकेत्याचक्षते। अथाष्टका स्वभगिनीः प्रत्याह—हे रात्र्यः यूयमात्मगुणैः कृत्वा अनुजां कनीयसीमपि मामनानुजां न अनुजा अननुजा तामनानुजां दीर्घच्छान्दसः, ज्येष्ठामकर्त्त कृतवत्यः। अहं च सत्यं युष्मत्कृतमुपकारं यथार्थं वदन्ती कीर्त्तयन्ती सती एतत् अनानुजात्वमन्विच्छे शिरसि धारये। यथाऽस्य यजमानस्य सुमतौ शोभनमतिप्रदाने भूयासं भवेयम्, तथा यूयमप्येवंविधा भवत। किन्तु युष्मान्प्रति ब्रवीमि—वो युष्माकं मध्ये अन्या रात्रयः अन्यां रात्रीमति अतिक्रम्य मा प्रयुक्त प्रतिपक्षा भूत्वा यजमानकार्यं मा विच्छेदयन्तु। मिथोऽनुरागिण्यो भूत्वा यजमानकार्यं संसाधयन्त्वित्यर्थः ४॥ अभूदित्यादिना पुनस्ताः प्रत्याह—हे भगिन्यः मम सुमतौ शोभननिष्ठायां वर्तमानोऽयं यजमानः विश्ववेदाः सर्वधनोऽभूत् भवतु। विश्वानि सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि धनानि वा यस्य सः। किंच प्रतिष्ठां सम्यक् स्थितिमुत्कर्षं वा आष्ट आश्नुताम्। गाधं चाभिलाषजातमर्थम् अविदत् विन्दतु। हिशब्द एवार्थे। भूयासमित्याद्युक्तार्थम् ५॥ याः पञ्च रात्रीः व्युष्टीः उषसोऽनुगताः, तत्स्वरूपमाह—पञ्चदोहाः यजमानस्याधिकारादिरूपा दोहा दोह्या यासां ताः। तथा गां संवत्सरात्मिकाम्, पञ्चनाम्नीं संवत्सरपरिवत्सरेदावत्सरेद्वत्सरवत्सराख्याम्। अथवा—

नन्दा भद्रा च सुरभी सुशीला सुमनास्तथा।

इति शिवधर्मे प्रतिपादितनाम्नीम्। यस्याः पञ्च ऋतवोऽनुगता वत्साः। किञ्च, दिशः पूर्वाद्या ऊर्ध्वान्ताः पञ्चदशेन स्तोमेन क्लृप्ताः समर्थीकृताः, समानमूर्ध्नीः समानस्तुल्यो मूर्द्धा मस्तको यासां ताः। मूर्द्धा चादित्यः। एकमधिलोकं लोकस्य पृथिव्याख्यस्य अधि उपरि द्वितीयान्तानुपाकर्तुं प्रथमान्ताः पदार्थाः कर्मार्थं क्लृप्ताः। ताभ्यः स्वाहेत्युक्तार्थम् ६॥ या रात्रिः ऋतस्य यज्ञस्य सत्यस्य वा ब्रह्मणो वा गर्भं आश्रयः कारणं वा। प्रथमा आद्या, सायंप्रातरित्यादिप्रथमत्वनिर्देशात्। व्युषिषी अन्धकारमपनयन्ती। एका कृष्णा अपां जलानां महिमानं महत्त्वं चन्द्रादिरूपं बिभर्त्ति धारयति पुष्णाति वा। या चैका सूर्यस्य रवेः निष्कृतेषु निम्नेषु अस्तमयेषु चरति व्यवहरति। एका च शुक्ला घर्मस्य आतपस्य निष्कृतेषु चरति। तामेकां सविता नियच्छतु सुखदात्रीं करोतु। अष्टकाविशेषणं वा सर्वम् ७॥

---

१. निरुक्तनिघण्टौ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डिकायाम्।

(जयराम०)

सैवाष्टका रात्रिर्धेनुरूपेण स्तूयतेऽनुष्टुभा। या प्रथमा अष्टका रात्रिः व्यौच्छत् विपाशितवती। उच्छी विपाशे। सा रात्रिः यमे नियमे कृते सति धर्मराजे वा धेनुः पयस्विनी गौरभवत् अभूत्। श्राद्धादिरूपहविःसम्पादनद्वारा यमस्याप्यभीष्टं प्रादादित्यर्थः। सा नोऽस्माकं पयस्विनी अभीष्टदात्री भूत्वा उत्तरामुत्तरामुत्तरोत्तरां समां वर्षं यावज्जीवमस्माकं पुत्रपशुग्रामधनादिकामान् धुक्ष्व पूरयत्वित्यर्थः। पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः ८॥ या रात्रिः शुक्रा शोचिष्मती ऋषभा वर्षणशीला श्रेष्ठा वा नभसा नभसि स्थितेन ज्योतिषा सहागात् आगता। अतो विश्वरूपा नानारूपा। तदेवाह–शबली कर्बुरा शुक्लकृष्णारुणवर्णभेदेन, अग्निकेतुः होमार्थमुद्धृतोऽग्निः केतुः प्रकाशकः चिह्नं तिलको वा यस्याः सा। अग्निर्मन्दप्रकाश उषःकाले सूर्यतेजःसम्भेदाद्वा भवति। समानं तुल्यमर्थं प्रयोजनं शोभनतया अपस्यमाना सम्पादयन्ती। उषःकाले पुण्यकर्माणि क्रियन्त इति यजमाने जरां निर्दुष्टदीर्घजीवनं बिभ्रति धारयन्ती हे अजरे उषः त्वमागाः आगताऽसि। अजरे इति विशेषणं सर्वदैकरूपत्वात्। यजमानविशेषणं वा ९॥ अथोषोरूपाया रात्रेः स्तुतिद्वारेण स्वरूपनिरूपणमाह—इयमुषा आगात् आगता। किम्भूता ऋतूनां वसन्तादिषण्णां प्रथमा मुख्या पत्नी पालयित्री। उषःकालादृतोः प्रवृत्तिर्भवतीति प्रथमत्वम्। पत्नी भार्या वा, ऋतुभिः सह सन्धानात्। अह्नां वासराणां नेत्री प्रापयित्री, उषसो दिनानामाविर्भावात्। तथा प्रजानां जनित्री सवित्री, निद्रापगमेन जागरणधर्मत्वात्। एकैव सती बहुधा प्रकारेण व्यौच्छत् प्राकाशत। अनेन कर्तृधर्मत्वात् या एवंरूपा सा त्वं स्वयमजीर्णा सती अन्यत्सर्वं प्राणिजातं जरयसि वयोविहीनं करोषि, यातायाताभ्यां वयसोऽपचयाद्वा। अथवा रविरश्मिकदम्बप्रसारेण स्वयं जीर्णा सती अन्यत्सर्वं निमेषादिसंवत्सरान्तकालावयवजातं जरयसि अपनयसि। तथा च यास्कः–"रात्रेर्जरयिता जारः सूर्यः" इति १०॥ ५॥

ततः स्थालीपाकेन–'शान्ता पृथिवी' इत्यादिना मन्त्रचतुष्टयेन चतस्र आहुतयः क्रमेण। अथ मन्त्रार्थः—तत्र त्रयाणां प्रजापतिः पंक्तिर्लिङ्गोक्ता होमे०। शान्ता सुखस्वरूपा पृथिवी नोऽस्माकमभयं कृणोतु करोतु। तथा शिवं मङ्गलमन्तरिक्षम्, तथा शं सुखरूपा द्यौरपि कृणोतु। तथा दिशः प्राच्याद्याः प्रदिशोऽवान्तरदिशः आदिशः सर्वा नोऽस्माकं शं कृण्वन्तु। हे अहोरात्रे युवां शं कृणुतं कुरुतम्। एषां प्रसादाद्दीर्घमायुर्व्यशनवै प्राप्नुयाम १॥ आपो जलानि मरीचीः मरीचयः मे मम देहगेहादि सर्वं परिपान्तु रक्षन्तु। धाता अपां धारयिता समुद्रः सिन्धुः मे इति पदं तन्त्रमतः सर्वत्र सम्बध्यते। तेन मे मम पापं वृजिनमपहन्तु दूरीकृत्य नाशयतु। कीदृशं पापम्? तदेव प्रपञ्चयति–भूतं व्यतीतं, भविष्यदागामि तत् विश्वं सर्वं पाप-

(जयराम०)

मकृन्तत् छिनत्त्विति यावत् । कृती छेदने । यद्वा, भूतं दक्षादिषु व्यतीतं भविष्यच्च तेष्वेव वर्तमानमभीष्टं धनादिनिकरं विश्वं सर्वमकृन्तत् अनवच्छिन्नं करोतु । तत एतैरनुगृहीतस्य मे ब्रह्म वेदः अभिगुप्तः शूद्रश्रवणादिनाऽनुपहतोऽस्तु । ततोऽभिगुप्तेन वेदेनाहं सुरक्षितः । धर्मानुष्ठाने निष्प्रत्यूहः स्यां भवेयम् । सर्वैर्वा सुरक्षितः २ ॥ विश्वेदेवास्त्रयोदश, आदित्या द्वादश, वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, मरुतो देवविशेषा एकोनपञ्चाशत्, एते नोऽस्माकं गोप्तारो रक्षितारः सन्तु भवन्तु । परमेष्ठी प्रजापतिश्च मयि ऊर्जमन्नं प्राणबलं वा प्रजां पुत्रादिरूपाममृतममरणधर्मत्वं परमानन्दं वा, तथा दीर्घमायुश्चिरं जीवितं च दधातु सुस्थितं करोतु ३ ॥ 'अष्टकायै स्वाहा' इति चतुर्थीमाहुतिं हुत्वाऽपूपेन 'इन्द्राय स्वाहा' इत्येकामाहुतिं हुत्वोभयोः स्विष्टकृत् । इति प्रथमाष्टका ॥ ६ ॥ ७ ॥

मध्यमाष्टका पौषस्य कृष्णाष्टम्याम् । सा च गवा गोपशुना भवति । तस्याश्च कल्पमुपरिष्टाद्वक्ष्यति ॥ ८ ॥

तस्यै वपां नाभिस्थचर्मविशेषं जुहोति–'वह वपाम्' इति मन्त्रेण । तस्यार्थः– तत्रादित्यस्त्रिष्टुप् जातवेदाः वपाहोमे० । वह प्रापय शेषे स्पष्टम् । पुनरवदान-होमो विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्येकाहुतिकः । वैश्वदेवीतिसंशब्दनात् ॥ ९ ॥

श्वः सर्वासामष्टकानां श्वस्तनेऽहनि अन्वष्टकासु पार्श्वसक्थिसव्ययोर्मांसमादाय परिवृते सर्वत आच्छादिते आवसथ्यागारे पिण्डपितृयज्ञवत्कर्म भवति ॥ १० ॥

इयांस्तु विशेषः स्त्रीभ्यश्च स्त्रीभ्यश्चापि पिण्डान्ददाति । कर्षूषु स्त्रीपिण्ड-समीपखातगर्तेषु सुरया विहितमद्येन तर्पणेन च तर्पणहेतुभिः सक्तुभिरुपसेचनं स्त्रीपिण्डेषु । अञ्जनानुलेपनस्रजश्च ददाति ॥ ११ ॥

आचार्याय तथाऽन्तेवासिभ्यः शिष्येभ्योऽनपत्येभ्य इच्छया ददाति । मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टका 'भवति' इति शेषः ॥ १२ ॥ १३ ॥ ३ ॥ *

॥ इति जयराम भाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थी कण्डिका

अथातः शालाकर्म ॥ १ ॥ पुण्याहे शालां कारयेत् ॥२॥ तस्या अवटमभिजुहोत्यच्युताय भौमाय स्वाहेति ॥ ३ ॥ स्तम्भमुच्छ्रयति-इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धाराम्प्रतरणीं वसूनाम् । इहैव ध्रुवान्निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा (१) अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय । आ त्वा शिशुरा-क्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः (२) आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह । आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदघ्नः कलशै-रुप (३) क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् । अश्वावद्गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव । अभिनः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः (४) इति चतुरः प्रपद्यते ॥ ४ ॥ अभ्यन्त-रतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रम्प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा निष्क्रम्य द्वारसमीपे स्थित्वा ब्रह्माणमा-मन्त्रयतेब्रह्मन् प्रविशामीति ॥ ५ ॥ ब्रह्मानुज्ञातः [1]प्रविशत्यृतम्प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति ॥ ६ ॥ आज्यꣳ सꣳस्कृत्येहरतिरित्याज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति–वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा (१) वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभि-रिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति[2] नो जुषस्व स्वाहा (२) वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयम्पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा (३) अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः स्वाहेति (४) ॥ ७ ॥

---

१. 'ऋचमित्यपि पाठो दृश्यते० ।

२. 'प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे स्वाहा' ख० ग०

(सरला०)

"गृहनिर्माणकर्म"

प्राक्कथन :—प्राणिमात्र की मूलभूत आवश्यकताओं में एक विशेष आवश्यक वस्तु गृह भी है। अतः अष्टका विधि कहकर अब गृह की रचना का प्रकार बतलाते हैं।

हिन्दी :—अब गृह निर्माण की विधि (बतलाई जाती है) ॥ १ ॥ शुभ ऋतु, मास, तिथि, नक्षत्र और वार में गृह का निर्माण आरम्भ करना चाहिए ॥२॥ जिस स्थान पर खम्भे गाड़े जायेंगे [नींव] उस जगह "अच्युता'''." "भूमि के अधिष्ठाता अच्युत के लिए हवि है" इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिये ॥ ३ ॥ होम के बाद चार खम्भों को "इमामुछ्रयामि'''" इन मन्त्रों से खड़ा करता है [और] आवश्यकतानुसार दिवालें बनाता है—"यह मैं भुवन की नाभि गृह की नींव को उठाता हूँ जो धन की धारा और [पशु आदि] धनों को बढ़ाने वाली है। यहाँ मैं एक दृढ़ शाला को स्थापित करता हूँ। यह हमारे लिए घी टपकाती हुई सुख शान्ति से ठहरे। (१) घोड़ों वाली, गौओं वाली और सच्ची मीठी वाणी वाली हुई हे शाले ! तुम खड़ी हो जाओ, बहुत सौभाग्य के लिए तुम्हें नन्हा बच्चा पुकारे, गौएँ [अप्रसूता] और धेनुएँ [प्रसूता गौएँ] तुम्हें पुकारे। (२) युवा कुमार तुम्हें पुकारे, वत्स अपने मित्रों के साथ तुम्हें पुकारे, बहते हुए दूध का घड़ा दही के घड़ों के साथ तुझे पुकारे। (३) तुम सुख की पत्नी, विशाल रूप और अच्छे वस्त्रों वाली हो। हे सौभाग्यवती शाले ! तुम मुझे बड़े वीर्य वाला धन दो, घोड़ों वाला, गौओं वाला और वनस्पति के पत्तों के समान रस से भरा हुआ एवं कल्याण के वस्त्र पहनता हुआ हमारा ऐश्वर्य पूर्ण हो" ॥४॥ [मकान के तैयार हो जाने पर] उसके भीतर आवसथ्याग्नि का स्थापन करके अग्नि कुण्ड के दक्षिण तरफ ब्रह्मा को बैठाकर उत्तर में जलपूर्ण कलश स्थापित करके चरु हविर्द्रव्य पकाकर [घर से] बाहर निकल कर दरवाजे के निकट में खड़े होकर [ब्रह्मा से पूछता है] 'हे ब्रह्मन् ! मैं प्रवेश करता हूँ' इस प्रकार ब्रह्मा से आज्ञा लेते हैं ॥ ५ ॥ ब्रह्मा के आज्ञा देने पर "ऋत'''" इस मन्त्र से [घर में] प्रवेश करता है। "सत्यरूप [इस घर को] प्राप्त होता हूँ, कल्याण रूप [इस घर को] प्राप्त करता हूँ ॥ ६ ॥ घी का संस्कार करके "इहरतिः" इन दो मन्त्रों से घी की आहुति देकर "वास्तोष्पते'''" इन चार मन्त्रों से दूसरी घी की आहुतियाँ देता है। "हे घर के स्वामी हमें स्वीकार करो। हमारे लिए मेरे प्रवेश को शुभ करने वाले और रोगों से बचाने वाले हो जाओ। जो कुछ तुमसे मांगते हैं उसे स्वीकार करो, हमारे पशुओं के लिए कल्याणकारी हो और हमारे मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हो जाओ। १ हे गृहपति ! तुम हमें बढ़ाने वाले हो। गायों और घोड़ों से हमारे प्राणों

(सरला०)

को बढ़ाने वाले हो। हम तुम्हारी मित्रता में कभी भी वृद्ध न हों हमें स्वीकार करो, जैसे पिता पुत्र को [स्वीकार करता है] ॥ २ हे गृहपति ! तुम्हारी सत्संगति में जो सुख रूप, रमणीय और ठीक मार्ग पर ले जाने वाली है उसे हम प्राप्त करें। हमारें योग क्षेम की भलीभाँति रक्षा करो। हे देवताओं ! तुम हमें सदा कल्याण से रक्षित करो ॥ ३ हे गृहपति ! तुम हमारे रोग नाशक [वैद्य] हो। सारें रूपों में प्रवेश करते हुए तुम हमारें सुखदायी साथी हो जाओ[1] (४) ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

अथातः शालाकर्म। अथ अष्टकाकर्मानन्तरं[2] यतः आवसथ्याधानादीनि शालाग्नौ साध्यानि अनुविहितानि, शालाकरणं च नोक्तम्; अतो हेतोः शालाकर्म शालाया गृहस्य क्रिया, 'व्याख्यास्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

पुण्याहे[3] शालां कारयेत्। पुण्यं शुभं मलमासबालवृद्धास्तमितगुर्वादित्यसिंहस्थगुरुक्षयमासादिनत्र्यहक्रूरग्रहाक्रान्तयुक्तनक्षत्रादिदोषरहितं[4] ज्योतिःशास्त्रादिनोक्तगृहारम्भविहितमासपक्षतिथिवारनक्षत्रयोगकरणमुहूर्तचन्द्रताराबललग्नादिगुणान्वितमहः पुण्याहं, तस्मिन्पुण्याहे शालां गृहं कारयेत् निर्माययति[5]। पुनः पुण्याहग्रहणं तूदगयनशुक्लपक्षयोरनियमार्थम्[6]। शालां कारयेदित्युक्तं तच्च शालाकरणं देशमन्तरेण न सम्भवति इति सामान्यतो देशे प्राप्ते—

यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत्।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥

इति वचनात् पारस्कराचार्येणानुक्तमपि [7]गोभिलगृह्यसूत्रोक्त (गो० गृ०

---

१. वाज. संहिता ८।५ ॥ ऋ० ७।५४।५५

२. 'अथान्वष्टका' ख० ग०। ३. 'तद्यथा पुण्याहे' ख० ग०।

४. 'भुक्त' ख० ग०। ५. 'निर्मापयेत्' ख० ग०। ६. 'तु' नास्ति० क०।

७. गोभिलगृह्ये चतुर्थप्रपाठके सप्तमखण्डिकायामधस्तनैः सूत्रैः शालोपयोगिनी भूमिर्निर्णीतादीतानि यथा—अवसानं जोषयेत् ॥१॥ समं लोमशमविभ्रंशि ॥२॥ प्राच्य उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्तेरन् ॥३॥ अक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौषधयः स्युः ॥ ४ ॥ गौरपांसु ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥ लोहितपांसु क्षत्रियस्य ॥ ६ ॥ कृष्णपांसु वैश्यस्य ॥ ७ ॥ स्थिराघातमेकवर्णमशुष्कमनूषरममरुपरिहितमक्लिनम् ॥ ८ ॥ दर्भसंमितं ब्रह्मवर्चसकामस्य ॥ ९ ॥ बृहत्तृणैर्बलकामस्य ॥ १० ॥ मृदुतृणैः पशुकामस्य ॥ ११ ॥ शादासम्मितम् ॥ १२ ॥ मण्डलद्वीपसम्मितं वा ॥ १३ ॥

(हरिहर०)

४–७) देशविशेषमविरोधात् अपेक्षितत्वाच्चात्र लिखामः। तद्यथा—"कीदृशे देशे शालां कारयेत् ? समे लोमशे अविभ्रंशिनि प्राचीनप्रवणे उद-

यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखः स्युः ॥ १४ ॥ तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीत ॥ १५ ॥ उदग्द्वारं पुत्रपशुकामः ॥ १६ ॥ दक्षिणाद्वारं सर्वकामः ॥ १७ ॥ न प्रत्यग्द्वारं कुर्वीत ॥ १८ ॥ अनुद्वारञ्च ॥ १९ ॥ गृहद्वारम् ॥ २० ॥ यथा न संलोकी स्यात् ॥ २१ ॥ वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधमपराद्देशादुत्तराच्चाप्युदुम्बरम् ॥ २२ ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडामक्षामयमुदुम्बरात् ॥ २३ ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षो यमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ २४ ॥

तद्भाष्यं यथा—अवस्यन्ति निवसन्त्यस्मिन्नित्यवसानम् आवासः। गृहार्थं भूस्थानमत्राभिहितम् । ननु गृहमेवेति कुतः ? सममित्येवमादीनां विशेषणानामेवमर्थत्वात् । तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतेति च परस्तान्निर्देशात् । जोषयेत 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' सेवेत परिगृह्णीयादित्यर्थः ॥ १ ॥ कीदृशमित्यत आह—लोमशमिति । समम् अनिम्नोन्नतं लोमशं सतृणं, 'तृणानि भूमिर्लोमानि' इति वचनात् । यद्वा, लोमानीव यत्र मृदूनि तृणानि तल्लोमशम् । अविभ्रंशि यत्र कृतस्य वेश्मनो नदीतीरतडागभेदवृक्षपातमार्गादिभ्यो विभ्रंशो विनाशो न स्यात् तदिदमविभ्रंशि स्थानं, जोषयेतेति सर्वत्रानुषज्यते ॥२ ॥ प्राच्यः प्राङ्मुखाः उदीच्यः उदङ्मुखा वा यत्र यस्मिन् स्थाने आपः प्रवर्तेरन् गच्छेयुः । स चायमिच्छाविकल्पः ॥ ३ ॥ क्षीरिण्यः क्षीरवत्यः न क्षीरिण्यः अक्षीरिण्यः अर्कादिभ्योऽन्याः, अकण्टकाः कण्टकरहिताः गर्बुरादिभ्योऽन्याः यत्रौषधयः स्युर्भवेयुः ॥ ४ ॥ गौराः गौरवर्णाः पांसवो रेणवः यस्मिन्नवसाने तद् गौरपांसु अवसानं तद्ब्राह्मणस्य भवति । उत्तरसूत्रयोरप्येवमेव विग्रहः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ मुद्गरादिभिरपि यदा हन्यमानं न विदार्यते तत् स्थिराघातम् । एकवर्णम् अभिन्नवर्णम् । यत्रोत्पद्यमाना यवौषधयो न शुष्येयुस्तदशुष्कम् । ऊषरम् इरिणं यत्राप्तं न प्ररोहति । न ऊषरम् अनूषरम् । मरुशब्देनोदकरहितः प्रदेश उच्यते । यत्र दूरमपि खनद्भिः किञ्चिदेवोदकमुपलभ्यते । उक्तं च—

द्वीपमुन्नतमाख्यातं शादा चैवेष्टकाः स्मृताः ।
किलिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातोदको मरुः ॥

तया मरुभूम्या यत्परिहितं सर्वतो वेष्टितं स्थानं तन्मरुपरिहितं न मरुपरिहितम् अमरुपरिहितम् । किलिनं प्रत्यासन्नोदकत्वादुदकक्लिन्नमुच्यते । उक्तं च "किलिनं

(हरिहर०)

प्रवणे वा अक्षाराकण्टकाकटुकौषधिवति[1], विप्रस्य गौरपांसौ क्षत्रियस्य लोहितपांसौ वैश्यस्य कृष्णपांसौ, वास्तुशास्त्रमते वैश्यस्य पीतपांसौ,

सजलं प्रोक्तम्" इति ॥ ८ ॥ दर्भसम्मितं दर्भसंयुक्तम् । ब्रह्मवर्चसं व्याख्यातं तत्कामस्य ॥ ९ ॥ बलं भरं भवति विमर्त्तैः तत्कामस्य गृहतृणैर्वीरणादिभिः सम्मितमिति वर्तते ॥ १० ॥ ११ ॥ शादा इष्टका देशान्तरप्रसिद्धेः । उक्तं च—"शादा चैवेष्टकाः स्मृताः" इति । तया सम्मितं तदाकृति चतुरस्रमित्यर्थः । कथं नाम स्थानस्य परिवृत्तमपि चतुरस्रं कार्यमिति ॥ १२ ॥ मण्डलं परिमण्डलं वर्तुलमित्यर्थः द्वीपशब्देनोन्नतमभिधीयते, "द्वीपमुन्नतमाख्यातम्" इति वचनात् । मण्डलं च तद् द्वीपं च मण्डलद्वीपं तत्सम्मितं वा तदाकृति वा । कथं नाम ? उन्नतस्य सतः परिवृत्तिः परिमण्डला कार्या चतुरस्रा वेति ॥ १३ ॥ यत्र वा यस्मिन् स्थाने श्वभ्रा अवटाः स्वयंखाताः स्वयमुत्पन्नाः सर्वतः सर्वासु दिक्षु आभिमुखाः इतरेतराभिमुखेनावस्थिताः स्युः भवेयुः ॥ १४ ॥ तत्र तस्मिन्नेवंगुणविशिष्टे स्थाने अवसानं गृहम् । अयमवसानशब्दो गृहवचनः । कुतः ? पुनरवसानग्रहणात्, अनुद्वारं च गृहद्वारमिति गृहशब्दश्रुतेश्च । प्राग्द्वारं प्राङ्मुखद्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीत । कामशब्दाभ्यासादन्यतरकामो नोभयकामः । यद्युभयमभिप्रेतं स्यात् तथा सति यशोबलकाम इत्यवक्ष्यत् । तस्माद् यशस्कामो बलकामो वेति द्रष्टव्यम् ॥१५॥ अवसानं कुर्वीतेति वर्तते ॥१६॥ दक्षिणाद्वारे वास्तुनि यद् यत् कामयते तद्भवतीति दर्शयति ॥ १७ ॥ १८ ॥ न कुर्वीतेति वर्तते । अनु पश्चाद् द्वारम् अनुद्वारम् । तादृशं गृहद्वारं न कुर्वीतेति । द्विद्वारमित्यर्थः । अथवा द्वारम् अनु गृहद्वारम् न कुर्वीत । कथं नाम ? अन्यगृहद्वाराभिमुखं गृहद्वारं न कुर्वीतेत्यर्थः । तथाच वास्तुविद्भिरुक्तम्—

द्वारगवाक्षस्तम्भैः कर्दमभित्त्यन्तकोणवेधैश्च । नेष्टं वास्तुद्वारं विद्धमनाक्रान्तमार्यैश्च ॥

तथाच गृहद्वारं न कुर्वीत ॥ १९ ॥ २० ॥ यथा येन प्रकारेणायं वास्तूनि सन्ध्योपासनहोमार्चनभोजनादिक्रियाप्रवृत्तो बहिर्वर्तिनां चाण्डालपतितादीनां संलोकी आलोकनगम्यो न स्यात् न भवेत् । अन्ये तु 'यथा न संलोकि स्यात्' इति पठन्ति । तत्रार्थः—यथा गृहमध्ये धनधानादिकं बालसुवासिनीस्नुषादिकं च बहिर्जनस्य संलोकि आलोकनगम्यं न स्यादिति । किमुक्तं भवति ? स्वावृतद्वारं वेश्म कर्तव्यमिति । तस्य च वेश्मनो न परिवृतस्यापि ॥२१॥ अश्वत्थादयः प्रसिद्धाः ॥२२॥ एतैरेतासु दिक्ष्ववस्थितैः किं भवतीत्यत आह—'अश्वत्थादग्निभयम्' इत्यादि । प्रमायुकान् नष्टायुषः । अक्षामयोऽक्षिरोगः । ऋज्वन्यत् ॥२३॥ देवतानिर्देश उत्तरार्थः । ऋज्वन्यत् ॥२४॥

1. 'षितते' ख० ग० ।

(हरिहर०)

शूद्रस्य कृष्णपांसौ स्थिराघाते[1] एकवर्णे अशुष्के अनूषरे[2] मरौ मरुर्निर्जलो देशः। अकिलिने ब्रह्मवर्चसकामस्य, दर्भयुक्ते बलकामस्य, बृहत्तृणयुक्ते पशुकामस्य, मृदुतृणे शादासम्मिते मण्डलद्वीपसम्मिते वा। स्वयंखातश्च भवति वा। यशस्कामस्य बलकामस्य च प्राग्द्वारां, पुत्रपशुकामस्योदग्द्वारां, सर्वकामस्य दक्षिणद्वारां न प्रत्यक्द्वारां मुख्यद्वाररहितां, पूर्वादितः प्रदक्षिणाक्रमेणाश्वत्थप्लक्षवटौदुम्बरवृक्षवर्जितां कारयेत्। "भवनस्य पूर्वादौ वटौदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः सार्वकामिकाः, विपरीतास्स्वसिद्धिदाः" इति। मत्स्यपुराणे यथा—

> कण्टकी क्षीरवृक्षश्च आसन्नः सफलो द्रुमः।
> धनहानिं प्रजाहानिं कुर्वन्ति क्रमशस्तथा॥
> न छिन्द्याद्यदि तानन्यानन्तरे स्थापयेच्छुभान्।
> पुन्नागाशोकवकुलशमीतिलकचम्पकान् ॥
> दाडिमी पिप्पली द्राक्षा तथा कुसुममण्डपम्।

> जम्बीरपूगपनसद्रुममञ्जरीभिर्जातीसरोजशतपत्रिकमल्लिकाभिः।
> यन्नारिकेलकदलीदलपाटलाभिर्युक्तं तदत्र भवनं श्रियमातनोति॥ २॥

तस्या अवटमभिजुहोत्यच्युताय भौमाय स्वाहेति। तस्याः शालाया अवटं स्तम्भारोपणार्थं खातमभिमुखेन जुहोति—अच्युताय भौमाय स्वाहेति। अत्रावटमित्येकवचनमन्येषां त्रयाणामुपलक्षणार्थं संस्कार्यत्वाविशेषात्। गृहं संमार्ष्टीतिवदेकवचनम्। चत्वारोऽवटाः कुत इति चेत्? धवलगृहस्य स्तम्भशालारूपस्य चतुर्षु कोणेषु चत्वारो मूलस्तम्भा भवन्ति। ते च शिलामुच्छ्रीयन्ते, शिलाश्च अवटेषु, इत्यत एव चत्वारः, अतश्चतुर्षु कोणेषु आग्नेयादिषु चत्वारोऽवटा भवन्ति। तेष्वन्येनैवाज्येन होमः॥ ३॥

स्तम्भ मुच्छ्रयतीमामुच्छ्रयामीत्यादि। स्तम्भमुच्छ्रयति उत्थापयति अवटे मिनोतीत्यर्थः। केन मन्त्रेण? इमामुच्छ्रयामि' इत्यादि 'श्रेयोवसानः' इत्यन्तेन। चतुरः। ततोऽनेनैव मन्त्रेण नैर्ऋत्याद्यवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति। इतरगृहेषु चतुर्षु कोणेषु शिलान्यास एव भवति एभिर्मन्त्रैः। प्रपद्यते ततः शालां प्रपद्यते प्रविशति॥ ४॥

अभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकम् श्रपयित्वा निष्क्रम्य द्वारसमीपे स्थित्वा ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन्

---

१. 'स्थिरा श्रेष्ठा ए' क०। २. 'अभूषरे' क०।

(हरिहर०)

प्रविशामिति ब्रह्मानुज्ञातः प्रविशत्यृतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति। अभ्यन्तरतः अर्द्धनिष्पन्नायाः शालाया मध्ये अग्निमावसथ्यमुपसमाधाय पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरतः अग्नेरुत्तरप्रदेशे उदपात्रं जलपूर्णताम्रादिभाजनं प्रतिष्ठाप्य निधाय। अत्र पुनर्ब्रह्मोपवेशनवचनम् उदपात्रप्रतिष्ठापनाऽवसरज्ञापनार्थम्। स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा ब्रह्माणम् ऋत्विजम् आमन्त्रयते सम्बोधयति। कथं ? ब्रह्मन्प्रविशामीति। आमन्त्रितेन ब्रह्मणा प्रविशस्वेत्यनुज्ञातः प्रसूतः प्रविशति शालां "ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये" इति मन्त्रेण ॥ ५ ॥ ६ ॥

आज्यठं० संस्कृत्येहरतिरित्याज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति वास्तोष्पते इत्यादि। अत्र प्राप्तमप्याज्यसंस्कारविधानम् आघारादर्वाक् इहरतिरिति आज्यहोमप्राप्त्यर्थम्। आज्यसंस्कारानन्तरं पर्युक्षणान्ते "इह[1] रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा" (य० सं० ८-५१) इत्येकाम् "उपसृजम्[2]" इत्यादि "सुदीधरत्स्वाहा" इति द्वितीयामाहुतिं जुहोति। वास्तोष्पत इति चतसृभिर्ऋग्भिरपराः प्रत्यृचं चतस्र आज्याहुतिर्जुहोति। ततः आघारावाज्यभागौ हुत्वा ॥ ७ ॥

(जयराम०)

अथातः शालाकर्म, 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः। शाला गृहमित्यनर्थान्तरम् ॥ १ ॥

सा च पुण्याहे कार्या। पुण्याहग्रहणं चोदगयनापूर्यमाणपक्षयोरनादरार्थम् ॥ २ ॥

तस्याः शालाया यो योऽवटस्ते तमभिजुहोति। अवटसंस्कारत्वात्प्रत्यवटं होमः। स्तम्भशालायां चत्वारोऽवटा मूलस्तम्भानाम्। धवलगृहे तु चतुर्षु कोणशिलास्थानेषु होमः, स्तम्भस्थानीयत्वाच्छिलानाम्। तत्र होममन्त्रः–'अच्युताय' इति। अस्यार्थः–

---

१. अस्यार्थः—हे पशवः ! युष्मदीया रतिः रमणम् इह यजमानेषु अस्तु। इहैव यूयं रमध्वम्। युष्माकं धृतिः सन्तोष इह यजमानेषु अस्तु। स्वधृतिः स्वेषां स्वकीयानां धृतिः धारणं पोषणमित्यर्थः। इहैव अस्तु, स्वाहा सुहुतमस्तु इति।

२. उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥ (य० सं० ८-५१) ॥

अस्यार्थः—मात्रे पृथिव्याः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। धरुणं धारयतीति धरुणः तं धारयितारम् अग्निम् उपसृजन् समीपं प्रापयन् मातरं पृथिवीं धयन् पिबन् तत्रोत्पन्नं हविरदन् धरुणः अग्निः अस्मासु रायस्पोषं रायः धनस्य पशुपुत्रसुवर्णादेः पोषं पुष्टिं दीधरत् धारयतु। धारयतेर्लुङि रूपम्। अडभावश्छान्दसः। स्वाहा सुहुतमस्तु इति ॥

(जयराम०)

तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् इन्द्रोऽवटहोमे० । अच्युताय अप्रच्युतस्वरूपाय । भौमाय भूनागायेति ॥ ३ ॥

इमामुच्छ्रयामीत्येवमादिमन्त्राणां विश्वामित्रः क्रमेण त्रिष्टुप्पङ्क्तिजगत्यनुष्टुभः स्तम्भोच्छ्रयणे० । इमां स्थूणां शालाधाररूपामुच्छ्रयामि उत्थापयामि । किंभूताम् ? भुवनस्य भूर्लोकस्य भुवनैकदेशवर्तिनो गृहस्य वा नाभिमाधारं वसोर्धारां वसुनो धनस्य धारां सृतिं[1] धरित्रीं वा । वसूनां गोमहिष्यश्वस्वर्णरत्नादि विविधधनानां प्रतरणीं प्लावनीं प्रसारिणीमिति यावत् । इहैव अत्रैव स्थूणायां शालां गृहं निमिनोमि स्थापयामि । कीदृशीं शालां ? ध्रुवां स्थिराम् । इयं च शाला क्षेमे निरुपद्रवे प्रदेशे घृतं सुखमुक्षमाणा सिञ्चन्ती अस्मान्प्रापयन्ती तिष्ठतु स्थिता भवतु १ ॥ हे शाले त्वमश्वावती अश्वयुक्ता गोमती गोयुक्ता सूनृतावती प्रियसत्यवाक्यवती उच्छ्रयस्व उत्थिता भव । किमर्थं ? महते सौभगाय भाग्योदयाय । हे शाले त्वा त्वामधिष्ठाय शिशुराक्रन्दतु बालकः क्रीडोत्थहासशब्दं करोतु । जातावेकवचनम् । अथवा बाला क्रीडार्थम्परस्परमाह्वयन्तु । तथा धेनवः प्रसूताः गावोऽप्रसूताश्च वाश्यमानाः आक्रन्दन्तु इति क्रियां विपरिणमय्य सम्बन्धः २ ॥ आ त्वा त्वामाश्रित्य तरुणः समर्थः कुमारो वटु आक्रन्दतु वेदघोषं करोतु । एवं वत्सः स्तनन्धयः स्तनपानार्थमाक्रन्दतु मातरमाह्वयतु । जगदैरनुगैं रक्षकैः सह । तथा परिस्रुतः उत्सिञ्चन् कुम्भो दध्नः कलशोऽन्यैश्चंष्यादिकलशैः सह उप मत्समीपे पूर्णशब्दं करोतु । एतैर्युक्ता भवेत्यर्थः ३ ॥ पुनरपि तां स्तुत्वा प्रार्थयते क्षेमस्येति । हे शाले सुभगे सुन्दरि सुसमृद्धे वा त्वं नोऽस्मभ्यं रयिं धनं धेहि[2] देहि, अस्मासु धारयेति वा । किं विशिष्टा त्वं ? क्षेमस्य रक्षणस्य पत्नी स्वामिनी । बृहती स्वरूपेण गुणैश्च महती । सुवासाः शोभनवस्त्रादिसमृद्धा शोभनवसतिर्वा । किञ्च नोऽस्मभ्यं सुवीर्यं शोभनां शक्तिं पुष्कलप्रजाहेतुं वा धेहि । रयिविशेषणं वा । दानादिसुशक्तियुक्तं धनं देहीत्यर्थः । किञ्च भो शाले नोऽस्मान् अभि अभितः अस्मासु सर्वभावेन रयिं धनं पूर्णतां पूर्णं क्रियतां धनेनास्मान्पूरयेत्यर्थः । किंविशिष्टा रयिः ? अश्वावत् अश्ववती । गोमत् गोमती । ऊर्जस्वत् रसवती विस्तृता वा । वनस्पतेः पर्णमिव । यथा वनस्पतेः पर्णानि वसन्तादौ पूर्यन्ते तथा । एकत्वमत्र जात्यां । यद्वा अश्वावदित्यादीनि पर्णविशेषणानि । अश्वावत् अश्वव्यवहारयोग्यमित्यादि । इदं स्थानं वसानः अधिवसन् अहं पूर्यतां पूर्ये पूर्णो भवानीत्यर्थः । अधिवसाने मयि रयिं पूर्यतामिति वा ४ ॥ इतिशब्द उभयत्र सम्बध्यते, तन्त्रत्वात् । इति चतुरः एव चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति । इतरगृहे तु शिला-

---

१. 'सृतिं' ख० । २. 'धेहि' नास्ति ख० ।

(जयराम०)

न्यास एवैतेन मन्त्रेण । ब्रह्मोपवेशनग्रहणं तूदपात्रावसरज्ञापनार्थम् । प्रणीताभ्योऽधिकमेतत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

प्रविशेति ब्रह्मानुज्ञातः प्रविशति—'ऋतम्' इति मन्त्रेण । तदर्थः सुगमः । तत्र परमेष्ठी यजुः शाला तत्प्रवेशे० । ऋतं सत्यभूतं त्वां प्रपद्ये प्राप्नोमि । एवं शिवं कल्याणरूपं त्वां प्रपद्ये ॥ ६ ॥

आज्यठ्ं. संस्कृत्येत्यवसरविधानार्थमाज्याहुतीनाम् । तत आघारादि । अपराश्चतस्रो "वास्तोष्पते" इत्यादिचतुर्भिर्मन्त्रैः । तदर्थः । तत्र वास्तोष्पते इत्यादिचतसृणां वसिष्ठस्त्रिष्टुप् इन्द्रो नवशालायामाज्यहोमे० । 'वसतेर्निवासकर्म' इतिनिरुक्ताद्वास्तुगृंहम् । तस्य वास्तोः पते स्वामिन् इन्द्र ! वास्तोष्पतिर्गोष्पतिरितीन्द्रपर्यायः । अस्मान् रक्षितुं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु, ऊरीकुर्वित्यर्थः । कथं ?, स्वावेशः सुष्ठुप्रवेशो नोऽस्माकं भवा भव । दीर्घश्छान्दसः । अस्मानुत्तमाग्विधाय प्रवेशयेत्यर्थः । किञ्च अनमीवः अमीवं पापं रोगो वा तद्विरोधी । किञ्च यत्किञ्चिद्वयं त्वा त्वाम् ईमहे प्रार्थयामहे तद्वस्तुजातं प्रापय्य नोऽस्मान् जुषस्व प्रीणयस्व प्रीयस्वेति वा । प्रार्थयानानस्मान्प्रीणयित्वा त्वमपि प्रीतो भवेत्यर्थः । किञ्च नोऽस्माकं द्विपदे मनुष्यवर्गाय शं सुमङ्गलस्वरूपो भव । चतुष्पदे पशुवर्गाय शं सुखस्वरूपो भव । स्वाहाकारो मन्त्रावसानज्ञापनार्थः प्रदर्शितः सर्वत्र १ ॥ हे वास्तोष्पते त्वं नोऽस्माकं प्रतरणः आपन्निस्तारकः एधि भव । किंभूतानाम् ? गोभिर्गवादिभिर्द्विशफैः अश्वेभिरश्वादिभिरेकशफैर्युक्तानाम् । किञ्च हे इन्द्र परमेश्वर गयस्फानः प्राणवर्द्धकश्चैधि, 'प्राणा वै गयाः' इति श्रुतेः । किञ्च ते तव सख्ये मैत्र्यां सति वयमजरासः अक्षीणसम्पदः स्याम भूयास्म । पुत्रान्प्रति पितेव वर्तमानस्त्वं नोऽस्मान्प्रति जुषस्व प्रीतो भव २ ॥ हे वास्तोष्पते तव शग्मया सुखरूपया । शिवे शग्ममिति सुखनामनी । संसदा सभया सक्षीमहि सम्बध्येमहि वयम् । षच समवाये । किंभूतया ? रण्वया शास्त्रीयं रणनमुपन्यासं कुर्वाणा रण्वा तया । गातुमत्या यज्ञवत्या त्रयीप्रधानया वा । त्वं च नोऽस्मान् योगे अलब्धलाभे उत अपि क्षेमे लब्धरक्षणे निमित्ते वरं यथा स्यात्तथा पाहि रक्ष । हे इन्द्रानुचराः यूयं नोऽस्मान्स्वस्तिभिः अभीष्टफलैः सदा पात आप्याय्य रक्षत ३ ॥ हे वातोस्तोष्पते इन्द्र त्वम् अमीवहा पापरोगपीडादिनाशको यतः अतो नोस्माकं सखा इहामुत्र बन्धुरेधि भव । किं कुर्वन् ? विश्वा विश्वानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि रूपाभि शरीराण्याविशन् प्रविशन्, सर्वशरीरिरूपेणास्मासु अनुकूलो भवेत्यर्थः । किंभूतः ? सुशेवः शोभनसुखहेतुः ॥ ७ ॥

स्थालीपाकस्य जुहोति—अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान्देवानुपह्वये सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा १॥ सर्वदेव-

जनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम्[1]। वसूꣳश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा २॥ पूर्वाह्णमपराह्णं चोभे मध्यन्दिना सह। प्रदोषमर्द्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ३॥ कर्त्तारं च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ४॥ धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ५॥ स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती। सर्वाश्च देवताः स्वाहा ६॥ इति ॥ ८ ॥ प्राशनान्ते काꣳस्ये सम्भारानोप्यौदुम्बरपलाशानि ससुराणि शाड्वलं गोमयं दधि मधु घृतं कुशान्यवाꣳश्चासनोपस्थानेषु प्रोक्षेत् ॥ ९ ॥ पूर्वे सन्धावभिमृशति—श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १० ॥ दक्षिणे सन्धावभिमृशति—यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ ११ ॥ पश्चिमे सन्धावभिमृशति—अन्नं च त्वा ब्राह्मणश्च[2] पश्चिमे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १२ ॥ उत्तरे सन्धावभिमृशति—ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १३ ॥ निष्क्रम्य दिश उपतिष्ठते—केता च मा सुकेता च पुरस्ताद्गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद्गोपायेतामिति ॥१४॥ अथ दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा[3] च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेतामिति ॥ १५ ॥ अथ पश्चात्—दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद्गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेतामिति ॥ १६ ॥ अथोत्तरतः—अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा

---

१. 'नगेश्वरम्' इत्यपि पाठो दृश्यते। २. 'ब्राह्मणाश्च' इति पाठः।
३. 'रक्षमाण' क०।

वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ १७ ॥ निष्ठितां प्रपद्यते—धर्मस्थूणाराजठ्ं श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणसखायसाधुसंवृतः । ता त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वत इति ॥ १८ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(सरला)

निम्न छः मन्त्रों से स्थालीपाक का होम करना चाहिए—

(i) मैं अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, विश्वेदेव, सरस्वती और वाजी को बुलाता हूँ । तुम सब मुझे अन्नवान् कर दो ।

(ii) सभी सर्प देवताओं के समूह का, हिमालय और सुदर्शन (पर्वत) का, वसु, रुद्र और आदित्यों का और साथियों सहित ईशान (आदि सभी देवताओं) का मैं आश्रय लेता हूँ । तुम सब वेगवान् होकर मुझे घर दो ।

(iii) मध्य दिन के सहित दिन का पहला और अन्तिम प्रहर, प्रदोष (रात का प्रथम प्रहर), अर्धरात्रि और विस्तृत मार्ग वाली उषा देवी आदि सभी की मैं शरण ग्रहण करता हूँ । तुम सब वेगवान् होकर मुझे वास्तु (घर) दो ।

(iv) कर्ता (बनाने वाला कारीगर) और विकर्ता (बदलने वाला) और विश्वकर्मा तथा औषधि और वनस्पति इन सबका आश्रय लेता हूँ । तुम सब वेगवान् होकर मुझें वास्तु (घर) दो ।

(v) धाता, विधाता और उनके साथ खजाने के मालिक—इन सभी का आश्रय लेता हूँ । तुम सब वेगवान् होकर मुझे घर दो ।

(vi) सुखरूप और कल्याणरूप यह वास्तु मुझे ब्रह्मा और प्रजापति (विराट्) और सभी देवता दें ॥ ८ ॥

संस्रव-प्राशन के बाद कांसे के कटोरे में क्षीर (या सुरा) गोबर, दही, शहद, घी और जौ इन सभी सामग्रियों को रखकर बैठने के स्थान पर और पूजा स्थान पर गूलरवृक्ष की पत्ती, दूर्वा और कुश से प्रोक्षण करे अर्थात् छिड़के ॥ ९ ॥

(सरला)

'श्रीश्चत्वा···गोपयेताम्' इस मन्त्र से पूर्व की दीवार का स्पर्श करे—'हे शाले ! लक्ष्मी और कीर्ति पूर्व की दिगन्तर संधि (अर्थात् आग्नेयकोण) में तुम्हारी रक्षा करे ॥ १० ।

'यज्ञश्च···गोपायेताम्' 'हे शाले ! यज्ञ और याज्ञिक दक्षिणा दक्षिण संधि में तुम्हारी रक्षा करे—इस मंत्र से दक्षिण की दीवाल का स्पर्श करें ॥ ११ ॥

"अन्न च···गोपायेताम्" इस मन्त्र से पश्चिम की दीवाल का स्पर्श करे 'हे शाले ! अन्न और ब्राह्मण पश्चिम संधि में तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

उत्तर की दीवाल का स्पर्श 'ऊर्क्‌च···गोपायेताम्' इस मन्त्र से करे 'तेजयुक्त और अच्छी वाणी उत्तर की संधि में तुम्हारी रक्षा करे' ॥ १३ ॥

घर से बाहर निकलकर (निम्न दो मन्त्रों से प्राची आदि प्रमुख चार) दिशाओं की स्तुति करते हैं—'केता च···गोपायेताम्' केता (इच्छाएं) और सुकेत सदिच्छाएँ) पूर्व से मेरी रक्षा करें। अग्नि केता है सूर्य सुकेत है। उन दोनों की मैं स्तुति करता हूँ। उन दोनों को नमस्कार है। वे दोनों पूर्व से मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

इसके बाद 'गोपायमानं···गोपायेताम्' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर मुख करके स्तुति करे—"वह जो बचाता है और वह जो रक्षा करता है दक्षिण दिशा से मेरी रक्षा करे। दिन वही है जो बचावे, रात वही जो रक्षा करे। उनकी मैं स्तुति करता हूँ। उन दोनों को नमस्कार है। दक्षिण से वे मेरी रक्षा करें ॥१५॥

पश्चिम मुख होकर 'दीदिवींश्च···गोपायेताम्' चमकने वाला (सूर्य) और जागृति पश्चिम से मेरी रक्षा करें। अन्न ही चमक है, स्वांस ही जागृति है—उन दोनों की मैं स्तुति करता हूँ। उन दोनों को नमस्कार है। वे दोनों पश्चिम से मेरी रक्षा करें—इस मन्त्र से स्तुति करें ॥ १६ ॥

उत्तर मुख होकर 'अस्वप्नश्च···गोपायेताम्' इस मन्त्र से स्तुति करे—'अनिद्रित और झपकी न लेने वाला उत्तर से मेरी रक्षा करे, चन्द्रमा अनिद्रित (जागने वाला) है और वायु अनवद्राण (सदैव चलने वाला) है उन दोनों की मैं स्तुति करता हूँ। उन दोनों को नमस्कार है। वे दोनों उत्तर से मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

मकान का निर्माण पूर्ण हो जाने पर 'धर्मस्थूणा···सर्वत' इस मन्त्र से घर में प्रवेश करे'—धर्म धरन है, भाग्य और लक्ष्मी खम्भे हैं। रात और दिन द्वारफलक (चौखट) हैं। इन्द्र का घर धन युक्त है और रक्षित है। उनकी मैं अपने

विशेष—(१) द्रष्टव्य–आश्व. २।१।१४।

(सरला)

बाल-बच्चों के साथ और अपने पशुओं के साथ और जो कुछ भी मेरे पास है उससे वास्तोष्पति से आज्ञा प्राप्त करके स्तुति करता हूँ। सभी सम्बन्धियों और मित्रों का आना शुभ है। उनके लिए हे शाले तुम व्याधि रहित हो जाओ और चारों ओर से यह घर अन्न से भरपूर हो जाए ॥ १८ ॥

इसके बाद ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए ॥ १९ ॥

॥ इस प्रकार तृतीय काण्ड में चतुर्थं कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥
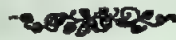
(हरिहर०)

स्थालीपाकस्य जुहोति—अग्निमिन्द्रमित्यादि। ततः स्थालीपाकस्य चरोरग्निमिन्द्रमित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं षडाहुतीर्जुहोति ॥ ८ ॥

प्राणनान्ते कांस्ये सम्भारानोप्यौदुम्बरपलाशानि ससुराणि शाड्वलं गोमयं दधि मधु घृतं कुशान् यवांश्चासनोपस्थानेषु प्रोक्षेत्। ततः स्विष्टकृदादिसंस्रवप्राशनावसाने कांस्ये कांस्यमये पात्रे सम्भारान् वक्ष्यमाणानोप्य कृत्वा औदुम्बरपात्राणि ससुराणि सक्षीराणि शाड्वलं दूर्वा, गोमयम् अरोगिण्याश्चिगोः शकृत, दधि, मधु घृतं, यवान् निगदव्याख्यातान्, आसनानि च उपस्थानानि च आसनोपस्थानानि वास्तुशास्त्रोपदिष्टानि तेषु प्रोक्षेत् अभिषिञ्चेत् इत्यर्थः। अत्र आसनानि नागदन्तादीनि स्थानानि, उपस्थानानि देवतास्थानानि ॥ ९ ॥

पूर्वे सन्धावभिमृशति—श्रीश्च त्वेति। ततः शालायाः पूर्वे सन्धौ अभिमृशति पूर्वसन्धिप्रवेशमालभते "श्रीश्चत्वा" इति मन्त्रेण। एवं दक्षिणे सन्धौ "यज्ञस्य त्वा" इति मन्त्रेण। तथैव पश्चिमे सन्धौ "अन्नं च त्वा" इति। तद्वदुत्तरे "ऊर्क् च त्वा" इति ॥ १०-१३ ॥

निष्क्रम्य दिश उपतिष्ठते। एवं शालायाः पूर्वाभिसन्धीनामभिमर्शनं कृत्वा बहिर्निष्क्रम्य दिशः प्राचीप्रमुखाश्चतस्रः 'केता च मा सुकेता च' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रदक्षिणक्रमेण प्रतिमन्त्रमुपतिष्ठते स्तौति ॥ १४-१७ ॥

निष्ठितां प्रपद्यते—धर्मस्थूणेति। निष्ठितां निर्मितां सम्पूर्णामिति यावत्, प्रपद्यते प्रविशति 'धर्मस्थूणा' इत्यादिना 'सन्तु सर्वतः' इत्यन्तेन मन्त्रेण ।१८।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १९ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथ प्रयोगपद्धतिर्लिख्यते। अथ शालाकर्मोच्यते। तत्र पुण्याहे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्तम्भस्थानावटेषु चतुर्षु प्रत्यवटमाग्नेयकोणादारभ्य 'अच्युताय भौमाय स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेणैकैकामाज्याहुतिं जुहुयात्। इदमच्युताय भौमायेति प्रत्याहुति त्यागः। अथ होमक्रमेण अवटेषु तूष्णीं शिलाः स्थापयित्वा तदुपरि "इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा ॥ १ ॥ अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥ २ ॥ आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप ॥ ३ ॥ क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्। अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव। अभितः पूर्यताᳪ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥ ४ ॥ इत्यनेन मन्त्रेण होमक्रमेणैव चतुर्षु अवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति मिनोति। स्तम्भाभावे अनेनैव मन्त्रेण प्रत्यवटं शिलां स्थापयेत्। अर्द्धनिष्पन्नायां शालायां तन्मध्यप्रदेशे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं स्थापयित्वा ब्रह्माणमुपवेश्या[1]ग्नेरुत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीताप्रणयनं विधाय कुशकण्डिकापूर्वकं चरुं श्रपयित्वा प्रोक्षण्युत्पवनान्ते बहिर्निष्क्रम्य द्वारसमीपे गृहाभिमुखं स्थित्वा—'ब्रह्मन्प्रविशामि' इति ब्रह्माणमामन्त्र्य 'प्रविशस्व' इति ब्रह्मणाऽनुज्ञातः 'ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये' इति मन्त्रेण [2]शालां प्रविशेत्। अथ स्वासने उपविश्य [3]उपयमनकुशादानसमिदाधानपर्युक्षणानि कृत्वा—'इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा' इति[4] आज्याहुतिं जुहुयात्। 'इदमग्नये' इति त्यागं विधाय 'उपसृजं धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा' इति मन्त्रेण[5] पुनर्जुहुयात्। 'इदमग्नये'०। अपराश्चतस्र आहुतयः—वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा। इत्येकाम्[6], इदं वास्तोष्पतये०। वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्व

---

१. 'अग्नेः' नास्ति क०। २. 'शालायां' क०।

३. 'नादाय समि' क०। ४. 'इत्येकां' ख० ग०।

५. 'मन्त्रेण द्वितीयाज्याहुतिं जुहोति। इदमग्नय इति त्यक्त्वा अप' ख० ग०।

६. 'इत्येकां' नास्ति क०।

(हरिहर०)

स्वाहा। इति द्वितीयाम्, इदं वास्तोष्पतये०। वास्तोष्पते शग्मया सꣳ. सदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा। इति तृतीयाम्, इदं वास्तोष्पतये०। अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः स्वाहा। इत्यनेन चतुर्थीं जुहुयात्, इदं वास्तोष्पतये इति चतसृषु त्यागः। तत आघाराबाज्यभागौ हुत्वा चरुणा 'अग्निमिन्द्रम्' इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षडाहुतीर्जुहुयात्। तद्यथा—अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वांश्च देवानुपह्वये। सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा, इदमग्नये इन्द्राय बृहस्पतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः सरस्वत्यै वाज्यै च०। सर्पदेवजनान् सर्वान् हिमवन्तꣳ. सुदर्शनम्। वसूंश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्तवाजिनः स्वाहा, इदं सर्पदेवजनेभ्यो हिमवते सुदर्शनाय वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्य ईशानाय जगदेभ्यश्च०। पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह। प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्। एतान्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा, इदं पूर्वाह्णायापराह्णाय मध्यन्दिनाय प्रदोषायार्द्धरात्राय व्युष्टायै देव्यै महापथायै च०। कर्त्तारं च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा, इदं कर्त्रे विकर्त्रे विश्वकर्मणे ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यश्च०। धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ. सह। एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा, इदं धात्रे विधात्रे निधीनां पतये च०। स्योनꣳ. शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती। सर्वाश्च देवताः स्वाहा,[1] इदं ब्रह्मणे प्रजापतये सर्वाभ्यो देवताभ्यश्च०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृद्धोमं विदध्यात्। ततो महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यान्ता नवाज्याहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा कांस्यपात्रे अनुपहते सक्षीराण्यौदुम्बरपत्राणि दूर्वा गोमयं दधि मधु घृतं कुशयवांश्च संभारान्कृत्वा आसनानि नागदन्तादीनि उपस्थानानि देवतास्थानानि च प्रोक्ष्य तैः सम्भारैः अथ पूर्वे सन्धौ—'श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्' इति मन्त्रेण अभिमर्शनं करोति। ततो दक्षिणे सन्धौ—'यज्ञस्य त्वा दक्षिणाश्च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम्' इति। अनन्तरं पश्चिमे सन्धौ—'अन्नं च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम्' इति। अथोत्तरसन्धौ—'ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम्' इति।

---

१. अत्र षण्णामपि स्वाहाशब्दानामग्रे इति प्रथमाम्, इति द्वितीयाम्, इति तृतीयाम्, इति चतुर्थीम्, इति पञ्चमीम्, इति षष्ठीं, ख० ग०।

(हरिहर०)

अथ गृहान्निष्क्रम्य वक्ष्यमाणैः मन्त्रैः यथालिङ्गं दिश उपतिष्ठते—"केता च मा सुकेता च पुरस्ताद्गोपायेतामिति । अग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम्" इति मन्त्रेण प्राचीं दिशमुपस्थायाथ दक्षिणतः—"गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामिति । अहर्वै गोपायमानꣳ. रात्री रक्षमाणा तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम्"इति दक्षिणां दिशमुपस्थायाथ पश्चात् "दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामिति । अन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेताम्" इति मन्त्रेण पश्चिमामुपस्थायाथोत्तरतः 'अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति । चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम्" इति मन्त्रेणोत्तरामुपतिष्ठते । ततः समाप्तायां शालायां ज्योतिर्विदुपदिष्टे पुण्येऽहनि—'प्रवेशे नववेश्मनः' इति वचनात् मातृपूजाभ्युदयिके विधाय ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनो मङ्गलतूर्यगीतशान्तिपाठेन सजलकलशब्राह्मणपुरःसरः शुक्लमाल्यानुलेपनस्तादृशसकलपुत्रपौत्रकलत्रादिसमेतः सुशकुनसूचिताभ्युदयः तोरणाढ्यां शालां द्वारेण प्रविशति—'धर्मस्थूणाराजꣳ. श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहतः सर्वगणसखायसाधुसंवृतस्तां त्वा शालेऽरिष्टवीरान् गृहान्नः सन्तु सर्वतः" इत्यनेन प्रविशेत् । ततो ब्राह्मणभोजनम् ।

इति शालाकर्म ॥ ४ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीयकाण्डस्य चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

(जयराम०)

अग्निमिन्द्रमित्यादिषण्णां विश्वामित्रोऽनुष्टुप् लिङ्गोक्ता होमे० । अहमग्न्यादीन् देवान् हविर्ग्रहणाय उपह्वये मत्समीपमाह्वयामि । य केवलमेतान् । सरस्वतीं वाचं वाजीमन्नमयीं सीतां च । हे अग्न्यादयो देवाः ! यूयमागत्य मे मह्यं वास्तु गृहं दत्त दद्ध्वं मदायत्तं कुरुतेत्यर्थः । किंभूताः ? वाजिनः अन्नवन्तः वेगवन्तो वा । अनेनोत्तरमन्त्रा अपि व्याकृताः । विशेषास्तूच्यन्ते १ ॥ एतान्सर्पादीनुपह्वय इत्यनुषङ्गः । उपहूय च तान्प्रपद्ये शरणं व्रजेहम् । जगदैरनुचरैः सह वर्तमानान् २ ॥ तत्र व्युष्टामुषसं देवीं द्योतनात्मिकां महापथामनेकमार्गां बहुसुखामित्यर्थः ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ इदं वास्तु स्योनं सुखसेव्यं सुखरूपत्वात् शिवं कल्याणरूपं शान्तं वा वास्तु गृहं मह्यं

(जयराम०)

हे ब्रह्मप्रजापती वेदब्रह्माणौ युवां दत्तं प्रयच्छतम् । हे सर्वा देवताः यूयमपि चकाराद्दत्तेति क्रियाविपरिणामः । स्वाहेति प्रागुक्तम् ६ ॥ ८ ॥

कांस्ये कांस्यपात्रे संभारान् उदुम्बरस्येत्योदुम्बरपलाशादीन् ओप्य संस्थाप्य तत्रौदुम्बरपत्राणि ससुराणि क्षीरेण सुरया वा पृक्तानि । तैरुपहारैश्चासनानि गजदन्तादिनिर्मितानि, उपस्थानानि देवतायतनादीनि च प्रोक्षेत् । आसनान्युपस्थानानि च वास्तुशास्त्रप्रसिद्धानि शालाभवान्येव ॥ ९ ॥

पूर्वसन्धौ कुड्यादौ अभिमृशति स्पृशति—'श्रीश्च त्वा' इति मन्त्रेण । तस्यार्थः—तदादिचतुर्णां प्रजापतिर्यजुर्लिङ्गोक्ताः स्पर्शने० । हे शाले त्वा त्वां पूर्वे सन्धौ श्रीर्लक्ष्मीः यशः कीर्तिश्च गोपायेतां रक्षेताम् । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ॥१०–१२॥

ऊर्क् तेजः प्राणनम् । सूनृता शोभनवाक् ॥ १३ ॥

निष्क्रम्य गृहाद्बहिर्निर्गत्य दिश उपतिष्ठते स्तौति—'केता च मा' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । तदर्थः सुगमः । तत्र चतुर्णां प्रजापतिस्त्रिष्टुप् लिङ्गोक्ता उपस्थाने० । गोपायेतामित्येतत्पदावृत्तिर्गोपनस्याभीष्टत्वेनात्यादरसूचनार्था ॥१४–१७॥

निष्ठितां निष्पन्नां प्रपद्यते प्रविशति—'धर्मस्थूणाराजम्' इतिमन्त्राभ्याम् । तदर्थः । तत्र द्वयोर्ब्रह्मा जगतीबृहत्यौ लिङ्गोक्ता प्रवेशने० । धर्मस्थूणाराजं धर्मयुक्तं स्थूणाराजं महतीं स्थूणां श्रीस्तूपं लक्ष्मीस्वरूपम् । चलदण्डिकारूपस्त्रीयुक्तम् । अगारे हि स्तूपो बध्यते । स्तूप इत्यस्याभिधानम् । अहोरात्रे तद्देवते द्वारफलके द्वारकपाटे लोकालोकरूपत्वात् । इन्द्रस्य इमे गृहाः, इन्द्रदेवतात्वात् । वसुमन्तः धनिनः । वरूथिनः रक्षकाः, बहुप्रजासो वा । तानेतानहं प्रपद्ये अधिवसामि । प्रजया पुत्रादिरूपया सह पशुभिर्गोमहिष्यादिभिश्च सह । यत्किञ्चिन्मे मम वस्त्वस्ति तेन सह वास्तोष्पतिनोपहूतः सन् हे शाले त्वा त्वां याचे । किम् ? नोऽस्मान् गृहान् गृहस्थान्प्राप्य सर्वे देवा इमे गृहा वा अरिष्टवीराः अरिष्टा निराधिव्याधयो वीराः पुत्रादयो येभ्यस्तथा सन्तु सर्वतः सर्वभावेन । किंभूतोऽहम् ? सर्वगणसखायसाधुसंवृतः सर्वैर्गणैः परिवारैः सखायैर्मित्रसमूहैः साधु तथा अन्यैः साधुभिर्वा संवृत आश्रितः ।१८।

तत इत्युक्तार्थम् ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमीं कण्डिका

अथातो मणिकावधानम् ॥ १ ॥ उत्तरपूर्वस्यां दिशि यूपवद्वटं खात्वा कुशानास्तीर्याक्षतानरिष्टकाऽश्चान्यानि[1] चाभिमङ्गलानि च तस्मिन् मिनोति मणिकऽ. [2]समुद्रोऽसीति ॥ २ ॥ अप आसिञ्चति–आपो[3] रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं विभृथामृतं च । रायश्च स्थ स्वपत्यस्य[4] पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयोधादिति ॥ ३ ॥ आपो हिष्ठेति च तिसृभिः ॥ ४ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ५ ॥ ५ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

(सरला)

घड़े का स्थापन

प्राक्कथन–गृहस्थ की आवश्यकताओं में से एक पानी रखने का मटका भी है। अतः शालाकर्म के बाद मणिक (अलिञ्जर = शराव की आकृति का जलपात्र) स्थापन की विधि कही जाती है।

हिन्दी—अब (घर में जल के) मटके का स्थापन (कहेंगे) ॥ १ ॥ उत्तर और पूर्व दिशा के मध्य में यूप गाड़ने की तरह[5] गढ़े को खोदकर, कुशाओं को बिछाकर उसमें जौ [या लावा], रीठा[6] और अन्य मंगल वस्तुएँ[7] डालकर उस

---

१. 'रिष्टकां (सुमनसः कपर्दिकां) श्चान्यानि' ख० ग० ।

२. यजु. १८।४५॥ ३. ऋक. १०।३०।१२॥ ४. 'स्वपत्यस्य' क० ।

५. यूपवत् = यूप की तरह कहने से निम्न विधि अनुष्ठेय होती है—

"देवस्य त्वा सवितु"' यजु. ५।२१। इस मन्त्र से फरसे को पकड़ना चाहिये। "इदमहं रक्षसां"'इस मन्त्र से फरसे से गढ़े के स्थान पर रेखा निकाल कर, फिर जल का स्पर्श करके गढ़ा खोदकर, पूर्व की ओर मिट्टी फेंक कर उस पर कुशा बिछाना चाहिए।

६. अरिष्टकाम् = रीठा ।

७. अभिमङ्गलानि = ऋद्धि वृद्धि सिद्धार्थक—ताम्रपत्र, सुवर्ण, दूर्वा, चाँदी

(सरला०)

[गढ़े में] मटके को "समुद्रोऽसि…[समुद्र हे] इस मन्त्र से स्थापित करता है ॥२॥ [उस मटके में] जल "आपो रेवती…"इस मन्त्र से छोड़ता हैं। "हे जलों! तुम धन वाले हो, तुम भलाई के निवास हो, तुम हमारे लिए उत्तम यज्ञ और [उसके फल स्वरूप] अमृत को सम्पादित करो। तुम हमारें धन और उत्तम सन्तान के स्वामी हो। सरस्वती उसकी स्तुति करने वाले को शक्ति दे" ॥ ३ ॥

हिन्दी—और "आपो हिष्ठा…[हे जलों तुम लोग] इन तीन मन्त्रों[1] से [भी जल भरना चाहिए] ॥ ४ ॥ उसके बाद [अन्त में] ब्राह्मण को भोजन [कराना चाहिए] ॥ ५ ॥

॥ इस प्रकार तृतीय काण्ड में पञ्चम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अथातो मणिकावधानम्। अथ शालाकर्मानन्तरं यतः शालायां मणिकेन भवितव्यम्। अतः मणिकावधानं व्याख्यास्यते[2] ॥ १ ॥

उत्तरपूर्वस्यां दिशि यूपवदवटं खात्वा कुशानास्तीर्याक्षतानरिष्टकांश्चान्यानि चाभिमङ्गलानि च तस्मिन्मिनोति मणिकठं. समुद्रोऽसीति। तत्र शालायाम् उत्तरपूर्वस्याम् ऐशान्यां दिशि यूपवत् अभ्र्यादान[3]परिलेखपूर्वकमवटं मणिकबुध्नावस्थानपर्याप्तं[4]गर्तं खात्वा निखा[5]यान्ततः प्राचः पांसूनपोह्यावटस्योपरि प्रागग्रान् दीर्घान् कुशानास्तीर्य स्तृत्वा[6] अक्षतान्यवान्[7] अरिष्टकान् अरिष्टफलानि अन्यानि[8] च मङ्गलानि ऋद्धिवृद्धि[9]सिद्धार्थकादीनि ओप्य चकारः समुच्चयार्थः तस्मिन्नवटे मणिकम् उदकधानीं मिनोति स्थापयति "समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः" इत्येतावता मन्त्रेण ॥२॥

और सरसों आदि मङ्गल द्रव्यों को।

१. वाज. संहिता ११।५०, ५१, ५२।

२. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग०।

३. 'परिलेखन' ख० ग०। ४. 'गर्तस्य' क०।

५. 'निखाय ततः' ख० ग०। ६. 'कृत्वा' क०।

७. 'यवान् अरिष्टकफलानि' ख० ग०। ८. 'मङ्गलानि शङ्खवृद्धि' क०।

९. 'सिद्धार्थकादीनि तान्यथास्तीर्य ओप्य' ख० ग०।

(हरिहर०)

अप आसिञ्चत्यापो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च । रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोधादिति ॥ तस्मिन्मणिके अप उदकं नद्यादेरशूद्राहृतम् 'आपो रेवतीः' इति मन्त्रेण प्रक्षिपति ॥ ३ ॥

आपो हिष्ठेति च तिसृभिः। 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः इत्यादिभिस्तिसृभि-ऋग्भिः पुनर्मणिके सकृदप आसिञ्चति ॥ ४ ॥

तत ब्राह्मणभोजनम् ॥ ५ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

अथ पद्धतिः—ततो मणिकावधाननिमित्तमातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अग्नेरीशानप्रदेशे "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि" इति [1]मन्त्रेणाभ्रमादाय "इदमहठं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि" इत्यवटं भाण्डानुमानं पारलिख्य [2]उदकस्पर्शं कृत्वा खात्वा प्रत्यञ्चः पांसूनपास्य कुशानास्तीर्य अक्षतान् अरिष्टकान् ऋद्धिवृद्धिहरिद्रादूर्वादिमङ्गलद्रव्यं[3] निक्षिप्य तदुपरि 'समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः' इत्येतावता मन्त्रेण मणिकमवटे अवधाय[4] "आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्च स्थ [5]स्वप्रत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयोधात्" इत्यन्तेन मन्त्रेण[6], "आपो हि ष्ठा मयोभुवः" इत्यादि-तृचेन [7]चमणिके अप आसिञ्चति। [8]ब्राह्मणमेकं च भोजयेदिति मणिकावधानम् ॥ ५ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीयकाण्डस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

(जयराम०)

अथ मणिकस्य अलिञ्जरस्यावधानं स्थापनम्, 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥ अग्नेरुत्तरपूर्वस्यामीशान्यां दिशि। यूपवदिति 'देवस्य त्वा' इत्यभ्यादानम्।

---

१. 'अग्निमादाय' क० ।

२. 'उदकं स्पृष्टा गर्तं खात्वा प्राचः पां' ख० ग० ।

३. 'दुर्वासितसर्षपानि' ख० ग० ।

४. 'निधाय' ख० ग० ।

५. 'स्यपत्यस्य' क० ।

६. 'मन्त्रेण तथा' ख० ग० ।

७. 'च सकृन्मणिके' ख० ग० ।

८. 'ततो ब्राह्मणमेकं भो' ख० ग० ।

(जयराम०)

'आददे नारी' इत्यवटखननम् । तत्र कुशास्तरणम् । अक्षतादीनां च प्रक्षेपः । तत्र मङ्गलानि ऋद्धिवृद्ध्यादीनि । तस्मिन्नवटे मणिकं मिनोति स्थापयति 'समुद्रोऽसि'[1] इत्यादिना 'शम्भूः' इत्यन्तेन मन्त्रेण । एतदन्तता "मयोभूरित्यनुवाकशेषेण" (पा० सू० ३-९-७) इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २ ॥

'आपो रेवतीः' इति मन्त्रेण 'आपो हिष्ठा' इत्यादितिसृभिश्चापस्तत्रासिञ्चति प्रक्षिपति । तस्यार्थः । आपो रेवतीरिति परमेष्ठी त्रिष्टुप् आपोऽपामासेचने० । हे आपः यूयं रेवतीः धनवत्यः हि यस्मात् इत्थं वस्वः वसुनो धनस्य क्षयथा निवासभूताः स्थ भवथ । किञ्च भद्रं श्रेष्ठं क्रतुं यज्ञं बिभृथ धारयथ । अमृतं रसं ब्रह्म वा फलं वा बिभृथ धारयथ । किञ्च रायो धनस्य स्वपत्यस्य शोभनापत्यस्य पत्नीः स्वामिन्यः, यूयं तद्दातुं समर्था इत्यर्थः । तत् युष्मत्स्वरूपं गृणते स्तुवते सरस्वती देवीं वयं आयुरधात् दधातु ददात्वित्यर्थः ॥ ३-५ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

---

१. समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः ॥ (य० सं० ३८-४५) अस्यार्थः-हे वायो ! त्वं समुद्रः सम्यक् उन्दति जलैः क्लिन्नो भवति स समुद्रः, नभस्वान् नभांसि नक्षत्राणि विद्यन्ते यत्र सः, आर्द्रदानुः, आर्द्रं वृष्ट्यवश्यायादिकं ददाति स आर्द्रदानुः, तादृशोऽसि । इति ।

अथ षष्ठी कण्डिका

अथातः शीर्षरोगभेषजम् ॥ १ ॥ पाणी प्रक्षाल्य भ्रुवौ विमार्ष्टि[1] चक्षुर्भ्याᳬं श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि ॥ यक्ष्मठ्ं. शीर्षण्यठ्ं. रराटाद्विवृहामीममिति ॥ २ ॥ अर्द्धं चेदवभेदक विरुपाक्ष[2] श्वेतपक्ष महायशः ॥ अथो चित्र[3] पक्ष शिरो मास्याभिताप्सीदिति ॥ ३ ॥ क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ४ ॥ ६ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डस्य षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

(सरला०)

"सिर दर्द की औषधि"

प्राक्कथन—प्रस्तुत कण्डिका में सिर दर्द के निवारण की औषधि बतलाई गई है। तीसरे काण्ड की छठी कण्डिका से आगे जो भी बातें कही गई हैं, प्रायः वे सभी सुसंस्कृत समाज में प्रचलित नहीं हैं। यह सम्भव है कि अनार्यों के ये रीति-रिवाज रहें हों और संसर्ग से आर्य जाति की निचली जातियों में प्रचलित हो गए हों। जैसा कि इससे पहले भी कई रीति-रिवाज विजातीय लोगों से ली हुई पाई जाती है। फिर भी ऐसे रीति-रिवाज त्याज्य है।

हिन्दी—अब सिर के दर्द की औषधि [बतलाते हैं] ॥ १ ॥

दोनों हाथों को धोकर (उनसे—दाएँ हाथ से दाईं और बाएँ से बाईं) भौओं को "चक्षुर्भ्याम्‌'''विवृहामि" इस मन्त्र से प्रोक्षित करता है (पोंछता है) "दोनों आँखों से, दोनों कानों से, कनपटी से सिर में होने वाले इस दर्द को खींच निकालता हूँ" ॥ २ ॥

यदि आधा सिर दर्द करे तो "अवभेदक''''''ताप्सीत्" इस मन्त्र से [जिस ओर पीड़ा हो, उसी ओर का हाथ गीला करके उसी ओर की भौं को पोंछना चाहिए।] हे फाड़ने वाले ! विकराल नेत्रों वाले, सफेद पंखों वाले और रंग-बिरंगे पंखों वाले ! [हे सिर दर्द] इस (रोगी) के सिर को मत तपाओ" ॥३॥

---

१. 'मिमार्ष्टि' ख० ।

२. 'विरूपाक्षः श्वेतपक्षो महायशाः' क० ।   ३. 'चित्रपक्षः' क० ।

(इस प्रकार करने से); अवश्य ही कल्याण (अर्थात् सिर दर्द ठीक) होता है ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में षष्ठ कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

(हरिहर०)

अथातः शीर्षरोगभेषजम् । अथ मणिकावधानानन्तरं [1]शिरोरोगवान् किञ्चित्कर्म कर्त्तुं न शक्नोति शीर्षणि मूर्धनि रोगस्तस्य भेषजं प्रतीकारः[2] व्याख्यास्यते ॥ १ ॥

पाणी प्रक्षाल्य भ्रुवो[3] विमार्ष्टि चक्षुर्भ्याᳯ्श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि यक्ष्मᳯं शीर्षण्यᳯं रराटाद्विबृहाममीमिति । यदि स्वस्य परस्य वा [4]शिरसि पीडा भवति तत्र पाणी स्वकीयौ हस्तौ प्रक्षाल्य अद्भिरवनेज्य भ्रवौ युगपत्ताभ्यां पाणिभ्यां विमार्ष्टि प्रोक्षति, अन्यस्य वा स्वयं करोति।[5] "चक्षुर्भ्यां श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि यक्ष्मᳯं. शीर्षण्यᳯं. रराटाद्विबृहामीमम्" इत्यनेन मन्त्रेण ॥ २ ॥

अर्द्धं चेदवभेदक विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः । अथो चित्रपक्ष शिरो मस्याभिताप्सीदिति । अर्द्धं चेत् शीर्षं व्यथते तदा पूर्ववत् पाणी प्रक्षाल्य दक्षिणेन पाणिना यदि शिरसो दक्षिणभागे रुक् तदा दक्षिणां[6] वामे वामाम् "अवभेदक[7] विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः । अथो चित्रपक्ष शिरो मास्याभिताप्सीत्,' इत्यनेन मन्त्रेण एकां भ्रुवं विमार्ष्टि ॥ ३ ॥

क्षेम्यो ह्येव भवति । हि स्फुटम् एवं कृते क्षेम्यः शिरोरोगरहित एव भवति॥ ४ ॥ ६ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीयकाण्डस्य षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

---

१. 'यतः शिरो' ख० ग० । २. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग० ।
३. 'मिमार्ष्टि' ख० । ४. 'शिरसि' नास्ति ख० ग० ।
५. 'चक्षुर्भ्यामित्यादि' 'विवृहामि इत्यन्तेन मन्त्रेण' ख० ग० ।
६. 'दक्षिणं वामे वामं' क० ।
७. 'अवभेदकेत्यादिना माऽस्याभिताप्सीदित्यन्तेन मन्त्रेण' ख० ग० ।

(जयराम०)

अथातः शिरोरोगस्य भेषजं निवर्तकं 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

प्रक्षालिताभ्यां पाणिभ्यां सव्यासव्याभ्यां भ्रुवोः सव्यासव्ययोर्यथाक्रमं मार्जनं युगपत् "चक्षुर्भ्याम्' इति मन्त्रेण। तस्यार्थः—तत्र परमेष्ठी अनुष्टुप् वायुरपाकरणे०। चक्षुराद्यङ्गेभ्यः अधि सकाशादिमं यक्ष्मं रोगविशेषं शीर्षाणि भवं शीर्षण्यं विवृहामि पृथक्करोमि निराकरोमीत्यर्थः। तत्र गोदानं शिरोदेशः। छुबुकं चिबुकम्। रराटं ललाटम् ॥ २ ॥

अर्द्धं चेच्छीर्षं रोगेण गृह्यते तदाऽपि पाणी प्रक्षाल्य पीडितभ्रूपार्श्ववर्तिना हस्तेन तद्भ्रूमार्जनम् 'अवभेदक' इति मन्त्रेण। तस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् विरूपाक्षः अपाकरणे०। अव अवाचीनं कृत्वाऽङ्गं भेदयति विदारयति इति हे अवभेदक! विरूपे विकृते अक्षिणी यस्मादिति हे विरूपाक्ष श्वेतपक्षेत्यादीन्यन्वर्थसम्बोधनानि। भो एवंभूत शिरोरोग! अस्य रोगिणः शिरः मा ताप्सीत्। त्वत्प्रसादात् तापयुक्तं माभूत्। यद्वा भवानस्य शिरो मा सन्तापयत्विति ॥ ३ ॥

इत्येवङ्कृते हि निश्चितं क्षेम्यः क्षेमार्होऽयं भवति। एतेनार्द्धशीर्षरोगस्वरूपं प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥ ६ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

अथ सप्तमी कण्डिका

उतूलपरिमेहः ॥ १ ॥ स्वपतो जीवविषाणे स्व[1] मूत्रमासच्यापसलवि[2] त्रिः परिषिञ्चन्परीयात्—परि त्वा गिरेरहं परि मातुः परि स्वसुः । परि पित्रोश्च भ्रात्रोश्च सखिभ्यो[3] विसृजाम्यहम् । उतूल परिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसीति ॥२॥ स यदि भ्रम्यादावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्डूवानि जुहुयात्—परि त्वा ह्वलनो ह्वलनिर्वृत्तेन्द्रवीरुधः । इन्द्रपाशेन [4]सित्वा मह्यं [5]मुक्त्वाऽथान्यमानयेदिति ॥ ३ ॥ क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ४ ॥ ७ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डस्य सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

(सरला)

"भगोड़े दास का वशीकरण"

प्राक्कथन—उत्तर पश्चिम जाति में लोग दास के तौर पर काम करते थे, किन्तु भाग जाया करते । उनको वश में करने का यह उपाय था कि जब वे सोए हों तो उनके चारों ओर निम्न विधियों से मूत्र सेचन किया जाए । तब वे घर जाने के योग्य नहीं माने जाते थे । जैसा कि अब भी कुछ साधुओं में यह प्रचलित है कि वे चेले का सिर मूत्र से मूड़ते हैं क्यों कि मूत्र से मूड़ा हुआ घर जाने के योग्य नहीं रह जाता ।

हिन्दी—दुर्विनीत (भगोड़े) दास को [वशीभूत करने के लिए] उसके चारों ओर [मूत्र] सेचन [अभिषेक की विधि कहेंगे] ॥ १ ॥

(जब दास) सोया हुआ हो तो जीवित पशु के सींग में अपने मूत्र को छोड़कर, अप्रदक्षिण क्रम से तीन बार सभी तरफ छिड़कता हुआ "परित्वा...गमिष्यसि" इस मन्त्र से उसके ऊपर घुमाना चाहिये । 'उस पर्वत से (जहाँ तुम जन्म लिए

---

१. 'स्व' ख० ग० ।
२. अपसलमेवेत्यपि पाठः ।
३. 'सख्येभ्यो' ख० ग० ।
४. 'छित्वा' क० ।
५. 'मा' नास्ति क० ग० ।

हो) माता[1] से, बहन से, माता-पिता से, भाई-बहन से और मित्रों से मैं तुम्हें बिछुड़ाता हूँ। हे भगोड़े दास ! तुम चारों ओर मूत्र से सेचित किये गये हो (अतः) मूत्र से सेचन किये हुये तुम (अब) कहाँ जाओगे ? ॥ २ ॥

वह यदि फिर भी भागे तो (उसको वशीभूत करने के लिये) वनाग्नि स्थापित करके (ब्रह्मा को बैठाने से लेकर प्रथम कण्डिकानुसार पर्युक्षण करके आघार आज्याहुति देने के बाद) घी में भींगे हुये कुश के तीन कुण्डलों (गेडुआ) को "परि त्वा ह्वलन···मानयेत्" इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिये।

हे चञ्चल ह्वलन (चञ्चलता के देवता) ! इन्द्र की औषधियाँ तुम्हारे चारों ओर लपट जायँ और तुम्हें इन्द्र की फाँस से जकड़कर और मेरे लिये खोलकर किसी दूसरे (दास) को लावें" ॥ ३ ॥

(इस[2] प्रकार करने से) अवश्य ही कल्याण होता है (अर्थात् अपने स्वामी के पास वह रहता है) ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में सप्तम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

उतूलपरिमेहः । उतूलस्य दुर्विनीतस्य दासस्य परि समन्तात् मेहः सेचने[3] वशीकरणं[4] कर्म कथ्यते ॥ १ ॥

[5]तद्यथा—

स्वपतो जीवविषाणे स्वमूत्रासिच्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन्परीयात्—परि त्वा गिरेरहं परि मातुः परि स्वसु परि पित्रोश्च भ्रात्रोश्च सखिभ्यो विसृजाम्यहम् । उतूल परिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसीति । ततः[6] स दासः यदा स्वपिति तदा गवादेः पशोर्जीवतः विषाणे शृङ्गे स्वं मूत्रमासिच्य[7] सिक्त्वा तस्य-स्वपतः[8] अपसलवि अप्रादक्षिण्येन विषाणस्थं मूत्रं परि समन्तात् सिञ्चन्

१. मन्त्र में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी प्रयुक्त है।

२. यह सूत्र छठी कण्डिका के चौथे सूत्र से शब्दशः मिलता है।

३. 'सेवनम्' क० ।

४. 'वशीकरणाभिषेक इति यावत्, कथ्यते' ख० ग० ।

५. 'तथा' क० । ६. 'ततः नास्ति' ख० ग० । ७. 'कृत्वा' क० ।

८. 'स्वपतो दासस्य' ख० ग० ।

(हरिहर०)

उक्षन् त्रिस्त्रीन्वारान् परीयात् परिभ्रमेत्–"परि त्वा[1] गिरेरहं परिमातुः परि पित्रोश्च भ्रात्रोश्च सखिभ्यो विसृजाम्यहम् । उतूल परिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसि" इत्यनेन मन्त्रेण ॥ २ ॥

स यदि भ्रम्याद्दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयात्—परि त्वा ह्वलनो ह्वलनिवृत्तेन्द्रवीरुधः । इन्द्रपाशेन[2] सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेदिति । स दासः यदि अस्मिन्कर्मणि कृतेऽपि भ्रम्यात् स्वेच्छया विचरेत्तदा तद्वश्यार्थमिदं[3] कर्म कुर्यात् । तद्यथा[4]–पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं दावाग्निं वनदहनं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्ते आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतिसर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा कुशेण्ड्वानि जुहुयात् कुशानाम् इण्ड्वानि कुण्डलाकाराणि[5] पत्राणि घृताक्तानि त्रीणि 'परि त्वा ह्वल' इत्यादिना 'अथान्यमानयेत्' इत्यन्तेन मन्त्रेण सकृदेव जुहुयात् । इदमिन्द्रायेति त्यागः । ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कर्म[6] कुर्यात् ॥ ३ ॥

क्षेम्यो ह्येव भवति । अस्मिन् कर्मणि कृते हि स्फुटं क्षेम्यः वश्य एव दासो भवति सम्पद्यते ॥ ४ ॥

इत्युतूलदासवश्यकर्म ॥ ७ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीयकाण्डस्य सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

(जयराम०)

उतूलो विवशो दासः तस्य परिमेहो वशीकरणार्थाभिषेकः, 'वक्ष्यते' इति सूत्रभेदः ॥ १ ॥

स्वपतो दासस्योपचारः । जीवतः पशोर्विषाणे शृङ्गे स्वं मूत्रमासिच्य तेनैव दासमपसलवि अप्रदक्षिणं परिषिञ्चन् त्रिवारं परीयात्परिभ्रमेत् "परि त्वा" इति मन्त्रेण । तस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् वायुः सेचने० । भो उतूल ! त्वा त्वां गिरेः पर्वतादपि परि आकृष्य विशिष्टतया सृजामि मय्यनुरक्तं करोमि, मात्रादि-

---

1. 'परि त्वा गिरेरित्यादि गमिष्यसीत्यन्तेन मन्त्रेण' ख० ग० ।
2. 'छित्वा' क० ।
3. 'कर्मान्तरम्' ख० ग० ।
4. 'तथा' क० ।
5. 'पत्राणि' नास्ति ख० ग० ।
6. 'कर्म' नास्ति क० ।

(जयराम०)

भ्यश्च । तत्र भगिनीभ्रात्रोर्मातापित्रोश्चेति षष्ठ्यौ पञ्चम्यर्थे । परिशब्दावृत्तिर्मन्त्रशक्तिदार्ढ्याय, सख्येभ्यः सखिभावमापन्नेभ्योऽपि । परिमीढः मन्त्रशक्त्या सेचनरूपैः पाशैर्बद्ध इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । एवं परिमीढोऽपि ॥ २ ॥

पुनर्यदि भ्रम्यात्तदोपायान्तरमाह—दावाग्निमुपस्थाप्य आगन्तुत्वाच्चतुर्दशाहुत्यन्ते घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि कुशकुण्डलानि त्रीणि जुहुयात् "परि त्वा ह्वलन" इति मन्त्रेण । तस्यार्थः—तत्र परमेष्ठी अनुष्टुप् इन्द्रो होमे० । भो ह्वल चञ्चल इन्द्रस्य ईश्वरस्य वीरुधः पाशात् सेवकः स्वामिभक्तः स्यादित्येवंरूपात् परि समन्ततो निर्वृत्त निर्गत्य स्थितः, अथ अतः त्वा त्वां ह्वलनो ज्वलनोऽयमग्निरिन्द्रपाशेन तेनैव सित्वा बद्ध्वा अन्यं तव मनसि स्थितमनर्थकारिभूतविशेषं मुक्त्वा मोचयित्वा मह्यं मामाश्रयितुमानयेत् आनयतु, मदायत्तं करोत्वित्यर्थः । यद्वा ह्वलनिर्वायुः । वृता वर्तित्ता रक्षिता इन्द्रवीरुधो वेदा येन सः । सशब्दस्य वाय्वात्मकत्वात् एवंभूतो वायुश्चेति योज्यम् । तत्पक्षे त्वेति दासविशेषणमुपक्रान्तत्वात् । शेषं समानम् ।३।४।७।

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

अथ अष्टमी कण्डिका

शूलगवः ॥ १ ॥ स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः ॥ २ ॥ औपासनमरण्यठ्ँ. हृत्वा वितानठ्ँ. साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत ॥ ३ ॥ साण्डम् ॥ ४ ॥ गौर्वा शब्दात् ॥ ५ ॥ वपाॐ श्रपयित्वा स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसाॐ स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति च[1] ॥ ६ ॥ वनस्पतिस्विष्टकृदन्ते ॥ ७ ॥ दिग्व्याघारणम् ॥ ८ ॥ व्याघारणान्ते पत्नीः संयाजयन्तीन्द्राण्यै रुद्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति ॥ ९ ॥ लोहितं [2]पलाशेषु रुद्राय सेनाभ्यो बलिठ्ँ. हरति—यास्ते रुद्र पुरस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः १ ॥ यास्ते रुद्र दक्षिणतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः २ ॥ यास्ते रुद्र पश्चात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः ३ ॥ यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः ४॥ यास्ते रुद्रोपरिष्टात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः ५ ॥ यास्ते रुद्राधस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम इति ॥ १० ॥ ऊवध्यं लोहितलिप्तमग्नौ प्रास्यत्यधो वा निखनति[3] ॥ ११ ॥ अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्रैरुपतिष्ठते प्रथमोत्तमाभ्यां वाऽनुवाकाभ्याम् ॥ १२ ॥ नैतस्य पशोर्ग्रामठ्ँ. हरन्ति ॥ १३ ॥ एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः ॥ १४ ॥ पायसेनानर्थलुप्तः ॥ १५ ॥ [4]तस्य तुल्यवया गौर्दक्षिणा ॥ १६ ॥ ८ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डस्य अष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

---

१. 'च' नास्ति क० ।   २. 'पालाशेषु कूर्चेषु रुद्रा' ख० ग० ।
३. 'निखनन्ति' क० ।   ४. 'रसस्य' क० ।

(सरला०)

शूलगव-यज्ञ

प्राक्कथन—शूलगव कर्म रुद्र के लिये पशु का बलिदान है। यह पशुओं की रोग निवृत्ति के लिये किया जाता है। यह काम्य कर्म हैं; नित्य कर्म नहीं। अतः जिसे स्वर्ग, पशु, पुत्र, धन, यश और दीर्घजीवी होने की इच्छा हो उसे यह कर्म करना चाहिये।

हिन्दी—(अब) शूलगव (यज्ञ का व्याख्यान करेंगे) ॥ १ ॥ (यह यज्ञ यजमान के लिये) स्वर्ग, पशु, पुत्र, धन, यश (और) आयु (देता है) ॥ २ ॥ आवसथ्याग्नि को जंगल में ले जा कर वितान की (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि) की रचना करके रुद्र के लिये पशु[1] का आलम्भन करना चाहिये ॥ ३ ॥ (ऐसा पशु हो जो कि) साण्ड हो (अर्थात् अण्डों सहित हो, नपुंसक नहीं होवे) ॥ ४ ॥ गो शब्द (के उल्लेख) से [यहाँ गौ पशु का] ही [ग्रहण करना चाहिये] ॥५॥ वपा को (पशु में स्थित माँस विशेष), चरु और हृदयादि अङ्गों को पकाकर (उनमें से) रुद्र देवता के लिए वपा [अस्थियों की चर्बी], अन्तरिक्ष के लिये वसा (मांस की चर्बी) और अग्नि के लिए, रुद्र के लिए, शर्व के लिये, पशुपति के लिये, उग्र के लिये, अशनि के लिये, भव के लिये, महादेव के लिये और ईशान इन देवताओं के लिये चरु मिले हुए हृदयादि माँसों के द्वारा आहुति प्रदान करता है ॥६॥ वनस्पति और स्विष्टकृत् आहुति के अन्त में ॥ ७ ॥ [प्रदिशः आदिशः स्वाहा आदि] दिग्व्याघार संज्ञक आहुति [देनी चाहिए] ॥ ८ ॥ दिग्व्याघारण के अन्त में इन्द्राणी के लिए, रुद्राणी के लिए, शर्वाणी के लिए, भवानी के लिए और गृहपति अग्नि के लिए, इन देव पत्नियों के लिए यजन करते हैं ॥ ९ ॥ पशु के खून की पलाश के पत्तों पर और कुश के आसनों पर रुद्र देवता के लिए और उसकी सेनाओं के लिए "यास्ते रुद्र···नमः" इस मन्त्र से बलि देता है। "हे रुद्र ! जो तुम्हारी पूर्व की ओर सेनाएँ हैं उनके लिए यह बलि है उन्हें और तुम्हें नमस्कार है। हे रुद्र, जो तुम्हारी सेनाएँ दक्षिण की ओर हैं उनके लिए यह बलि है। उन्हें और तुम्हें नमस्कार है। हे रुद्र ! जो तुम्हारी सेनाएँ पश्चिम की ओर हैं उनके लिए यह बलि है। उन्हें और तुम्हें नमस्कार है। हे रुद्र ! जो तुम्हारी सेनाएँ उत्तर की ओर हैं

१. यद्यपि इस यज्ञ के पशु की जाति विधायक श्रुति के न होने से यह सन्देह उपस्थित होता है कि किस पशु का आलम्भन किया जाय ? किन्तु "शूलगवः" इस प्रथम सूत्र में भी गो शब्द का उल्लेख है अतः गौ पशु का ही ग्रहण ठीक है। यहाँ वा शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये प्रयुक्त है। गवालम्भन कलियुग मे वर्ज्य है। अतः मात्र स्पर्श करके इसे छोड़ देते हैं।

(सरला)

उनके लिए यह बलि है। उनको और तुम्हें नमस्कार है। हे रुद्र! जो तुम्हारी सेनाएँ ऊपर की ओर हैं उनके लिये यह बलि है। उन्हें और तुम्हें नमस्कार है। हे रुद्र! जो तुम्हारी सेनाएँ नीचे की ओर हैं उनके लिए यह बलि है। उनको और तुम्हें नमस्कार है" ॥ १० ॥ खून से सनी हुई अँतड़ी को अग्नि में डालता है अथवा भूमि में खोदकर गाड़ देता है ॥ ११ ॥ (हवन से बचे हुए शेष) पशु (के अङ्गों) को वायु के सम्मुख रखकर रुद्र मंत्रों से [यजु० के १६ अध्याय से] अथवा प्रथम और अन्तिम अनुवाक से उपस्थापन (स्तुति) करता है ॥ १२ ॥ इस पशु का मांस ग्राम में नहीं लाता है [किन्तु जंगल में ही छोड़ दिया जाता है] ॥ १३ ॥ इसी [शूलगव] की ही विधि से गो-यज्ञ कर्म का उपदेश किया गया है ॥ १४ ॥ (यह यज्ञ) क्षीर से होता है किन्तु अर्थ [अर्थात् प्रधान देवताओं के लिए जो हवन है उस] का लोप नहीं होता है। [अर्थात् जो जो कार्य पशु के मास से शूलगव में किये जाते हैं वे सब गो-यज्ञ में दूध में खीर पकाकर किये जाएँगे। अतः गो-यज्ञ में पशु का वध नहीं होता] ॥१५॥ (इन यज्ञों में) उसी पशु के समान आयु की गाय दक्षिणा (में देनी चाहिये) ॥ १६ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में अष्टम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

(हरिहर०)

शूलगवः। स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः। अथ स्वर्गादिकामस्य शूलगवाख्यं कर्म यागविशेषमनुविधास्यन्नाह—शूलगव इति। स च स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः, पशव्यः पशुभ्यो हितः, पुत्र्यः पुत्रेभ्यो हितः, धन्यः धनाय हितः, यशस्यः यशसे हितः, आयुष्यः आयुषे हितः। अयमर्थः—यदा यजमानः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुषामन्यतमकामो[1] भवति तदाऽनेन शूलगवाख्येन यजेत, अनेककामानां युगपदुत्पत्त्यसम्भवात् ॥ १ ॥ २ ॥

औपासनमरण्यं हृत्वा वितानं साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत। साण्डम्।[2] औपासनम् आवसथ्याग्निम् अरण्यम् अटवीं नीत्वा तत्र वितानं त्रेताग्निविन्यासं साधयित्वा शुल्वोक्तप्रकारेण विरचय्य रौद्रं रुद्रो देवता अस्येति

१. 'आयुष्याद्यन्य' क०।
२. 'औपासनमावसथ्याग्निम् अरण्यमटवीं नीत्वा' नास्ति क०।

(हरिहर०)

रौद्रस्तं[1] रौद्रं पशुं छागम् आलभेत संज्ञपयति। कथंभूतम् ? साण्डं सह अण्डाभ्यां वर्त्तत इति साण्डस्तम्। [2]अनपुंसकमित्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

गौर्वा शब्दात्। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। नैव छागः पशु रौद्रः, अपितु साण्डो गौः। कुतः ? शब्दात् 'शूलगवः' इत्येतस्माच्छब्दात् ॥ ५ ॥

वपाᳬं श्रपयित्वा स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसाᳬं स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति अग्नये इत्यादि। वपां पक्त्वा स्थालीपाकम् अवदानानि च हृदयादीनि सहैव श्रपयित्वा। ननु पशुतन्त्रे विहृत्य शामित्रेऽग्नाववदानश्रपणं वपाश्रपणं चाहवनीये दृष्टम्, अत्र तन्मा भूदिति सह श्रपणमुच्यते—वपां श्रपयित्वा स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि चेति। तत्र रुद्राय वपां जुहोति, अन्तरिक्षाय वसाम्। जुहोतीत्युभयत्राध्याहारः। स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति अग्नये इत्यादि अवदानहोमावसरे हृदयादीन्यवदानानि स्थालीपाकेन चरुणा [3]मिश्राणि संयुतानि जुहोति अग्नौ प्रक्षिपति नवकृत्वः 'अग्नये स्वाहा' इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणैर्नवभिर्मन्त्रैः। [4]अग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवाय ईशानायेति[5] यथामन्त्रं त्यागाः ॥ ६ ॥

वनस्पतिस्विष्टकृदन्ते दिग्व्याघारणम्। वनस्पतिश्च स्विष्टकृच्च वनस्पतिस्विष्टकृतौ[6] तयोर्वनस्पतिस्विष्टकृतोरन्ते व्याघारणं कर्त्तव्यम्। तत्र व्याघारणं दिशां, वसया[7] कुर्यात्। तत्र वनस्पतिहोमः स्विष्टकृद्धोमादर्वाक् पृषदाज्येन भवति, पशौ तथा दृष्टत्वात्। स्विष्टकृद्धोमश्च सर्वावदानपक्षे त्र्यङ्गेभ्यः, असर्वावदानपक्षे [8]तेभ्य एवावशिष्टेभ्यः। अत्र सूत्रे व्याघारणमेव निबद्धं तत्र द्रव्यदेवतापेक्षायां सर्वपशुप्रकृति भूताग्नीषोमीये दर्शनात् वसा द्रव्यं दिशो देवता व्याघारणधर्मतया लभ्यते ॥ ७ ॥ ८ ॥

व्याघारणान्ते पत्नीः संयाजयन्तीन्द्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति। व्याघारणस्य दिशामभिघारणस्य अन्तेऽवसाने पत्नीः पञ्च वक्ष्यमाणाः संया-

---

१. 'रौद्रस्तं' नास्ति ख० ग०। २. 'साण्डस्तं' नास्ति क०।

३. 'मिश्राणि' नास्ति ख० ग०।

४. 'वक्ष्यमाणैः' नास्ति ख० ग०। ५. 'यथामन्त्रं त्यागाः' नास्ति क०।

६. 'तयोरन्तः वनस्पतिस्विष्टकृदन्तः तस्मिन्दिशां व्याघारणं, कर्तव्यमिति सूत्रशेषः तच्च व्या' ख० ग०।

७. 'वसयैव' ख० ग०। ८. 'त्र्यङ्गेभ्यः' क०।

(हरिहर०)

जयन्ति [1]जाघन्य पश्वङ्गेन । कथम् ? 'इन्द्राण्यै' इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः प्रतिमन्त्रम् ॥ ९ ॥

लोहितं पालाशेषु कूर्चेषु रुद्राय सेनाभ्यो बलिꣳ हरति यास्ते रुद्रेत्यादि । ततो महाव्याहृत्यादिहोमान्ते[2] लोहितं तस्यैव पशो रुधिरं पालाशेषु पलाशपत्रेषु कूर्चेषु आसनेषु प्राक्संस्थेषु वा रुद्राय सेनाभ्यः रुद्राय देवतायै सेना रुद्रायसेनाः अलुक्समासः ताभ्यो बलिमुपहारं हरति ददाति, 'यास्ते' इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षट्सु पलाशकूर्चेषु प्रतिमन्त्रं[3] प्रत्येकम् ॥ १० ॥

ऊवध्यं लोहितलिप्तमग्नौ प्रास्यति अधो वा निखनति । ऊवध्यं पुरीषाधानं 'पोटी' इति प्रसिद्धं लोहितेन रक्तेन लिप्तं संसृष्टं लोहितलिप्तम् अग्नौ आहवनीये प्रास्यति प्रक्षिपति, वा अधः भूमौ निखनति निदधाति ॥ ११ ॥

अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्रैरुपतिष्ठते प्रथमोत्तमाभ्यां वाऽनुवाकाभ्याम् । अनुवातं वातमनुलक्षीकृत्या वाताभिमुखमित्यर्थः, पशुम् अवशिष्टं पशुशरीरम् अवस्थाप्य निधाय रुद्रैः 'नमस्ते' इत्यध्यायेनाम्नातैः[4] उपतिष्ठते । यद्वा, प्रथमोत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां[5] मन्त्रसमुदायाभ्याम् ।[6] प्रथमोऽनुवाकः 'नमस्ते' इत्यारभ्य षोडशर्च्चः । उत्तमः अन्तिमः 'द्रापे अन्धसस्पते' इत्यारभ्य विंशतिकण्डिकात्मकः ॥ १२ ॥

नैतस्य पशोर्ग्राममꣳ हरन्ति । एतस्य रौद्रस्य पशोर्मांसं ग्रामं न हरन्ति ग्रामं प्रति न नयन्ति याज्ञिकाः, किन्तु अरण्य एवोत्सृजन्ति ॥ १३ ॥

एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः । एतेनैव शूलगवेनैव,[7] गोयज्ञो गोयज्ञनामधेयो यागः व्याख्यातः कथितः ॥ १४ ॥

तत्र द्रव्यविशेषमाह--पायसेनानर्थलुप्तः । पायसेन पयसा संसिद्धेन चरुणा अनर्थलुप्तः शूलगवप्रधानदेवताहोमलोपरहितः ॥ १५ ॥

तस्य तुल्यवया गौर्दक्षिणा । तस्य पशोः तुल्यवया शूलगवपशोः वयसा तुल्यं समं वयो जन्मातिक्रान्तकालो यस्य गोः स तुल्यवया गौः गोपुङ्गवः दक्षिणा परिक्रयद्रव्यं ब्रह्मणे देयम् ॥ १६ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

---

१. 'जायापत्या पश्वङ्गेन' ख० ग० । २. 'होमान्ते' नास्ति ख० ग० ।
३. 'एकैकम्' ख० ग० । ४. 'आम्नाते रुद्रमन्त्रैरुपतिष्ठते स्तौति' ख० ग० ।
५. 'अनुवाकाभ्याम्' नास्ति क० । ६. 'तत्र प्रथ' ख० ग० ।
७. 'शूलगवोऽनेनैव' क० ।

(हरिहर०)

अथ प्रयोगः—स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामानां शूलगवपशुबन्धो विहितः । तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा औपासनाग्निमादायारण्यं गच्छेत् । तत्र शुचौ देशे गार्हपत्यायतनं सप्तविंशत्यङ्गुलं वृत्तं विधाय तन्मध्यनिखातशङ्कोः अष्टौ, एकादश, द्वादश वा स्वकीयानि पदानि [1]प्राचीं गत्वा तदन्ते शङ्कुं निखाय तयोः शङ्क्वोः उभयतः पाशां रज्जुं प्रसार्याहवनीयायतनं रचयेत् । तद्यथा—

यावत्प्रमाणा रज्जुः स्यात्तावानेवागमो भवेत् ।
आगमार्द्धे च शङ्कुः स्यात्तदर्द्धं च निरञ्छनम् ॥

इति शुल्ववचनानुसारेण । अत्रायं रचनाप्रकारः—पूर्वस्माच्छङ्कोः द्वादशाङ्गुष्ठपर्वपरिमितं देशं पूर्वतः पश्चिमतश्च परित्यज्य तत्र शङ्कुद्वयं निखाय चतुर्विंशत्यङ्गुलां रज्जुं परिमाय तावतीमे[2] वाधिकां गृहीत्वा उभयतः[3] पाशौ कृत्वा रज्जोरागमार्धे शङ्कु स्थाने सूत्रादिनाऽङ्कयित्वा अपरागमार्द्धे निरञ्छनम् आकर्षणसूत्रगुणमोप्यपूर्वार्द्धापरार्द्धयोः[4] शङ्क्वोः तस्या रज्वाःपाशद्वयं[5] निक्षिप्य निरञ्छेन गुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखाय[6] पुनस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शङ्कुस्थाने अपरं शङ्कुं निखनेत् । अथ रज्वाः[7] पाशौ परिवर्त्य पूर्ववन्निरञ्छनगुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखाय पुनस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शंकुस्थाने शङ्कुं निखनेत् ।[8] एवं चतुरस्रं चतुर्विंशत्यङ्गुलायामविस्तारमाहवनीयायतनं सम्पद्यते । ततो गार्हपत्याहवनीयान्तरालसम्मितां रज्जुं षड्गुणां सप्तगुणां वा विधाय षष्ठांशं सप्तमं वा तत्राधिकं निक्षिप्य प्रसार्य त्रिगुणीकृत्य अपरवितृतीये शङ्कुस्थानज्ञानार्थं ङ्कयित्वा गार्हपत्याहवनीयमध्यगतयोः शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य गार्हपत्यायतनाद्दक्षिणत आकृष्य अपरवितृतीयके[9] शङ्कुं निखाय .तस्मिन्शङ्कौ अन्यरज्जुपाशं प्रतिमुच्य षोडशांगुलानि परिमाय वृत्तं मण्डलं विरच्य[10] तन्मध्य-

---

१. 'प्राचीं दिशं ग' ख० ग० ।
२. 'मेवमधिकां' क० ।
३. 'पाशवर्ती' ख० ग० ।
४. 'पूर्वार्द्धापरार्धान्तयोः' ख० ग० ।
५. 'रज्जोः' ख० ग० ।
६. 'निखनेत् । ततस्ताः' ख० ग० ।
७. 'रज्जोः' ख० ग० ।
८. 'निहन्यात्' क० ।
९. 'अपरवितृतीयाङ्के' ख० ग० ।
१०. 'विरचय्य' ख० ग० ।

(हरिहर०)

शङ्कोश्चत्वार्यंगुलान्युत्तरतः परित्यज्य तत्र पूर्वापरायतां मण्डलसम्मितां रज्जुं निपात्य रेखामुल्लिखेत्। एवं धनुषाकृति दक्षिणाग्न्यायतनं सम्पद्यते।[1] अथ तामेव रज्जुं परिवर्त्य आहवनीयादुत्तरतः वितृतीयेनाकृष्य वितृतीयस्थाने उत्करं कुर्यात्। एवं वितानं साधयित्वा तेषु पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा गार्हपत्यायतने औपासनाग्निं[2] स्थापयित्वा मृन्मयेन पात्रेण गार्हपत्यैकदेशमादायाहवनीयायतने आहवनीयं प्रणयेत्।[3] ततः एवमेव[4] दक्षिणाग्निखरे दक्षिणाग्निम्। आहवनीयस्य दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य—'शूलगवेन रौद्रेण पशुनाऽहं यक्ष्ये, तत्र मे त्वं ब्रह्मा भव' इति सुब्राह्मणं[5] प्रार्थ्य 'भवामि' इति तेनोक्तः आसने तमुपवेश्य उत्तरतः प्रणीताः प्रणीय पवित्रच्छेदनादि पवित्रे प्रोक्षणीपात्रं वज्रम् अन्तर्द्धानतृणम्[6] इत्येतानि पञ्च आसादयेत्। ततः रज्जुं शंकुं शम्याम् अभ्रिं[7] पुरीषाहरणम् उदकं सिकताः आच्छादनवस्त्रमित्यष्टौ उपकल्पयेत्। ततः पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्य वज्रमन्तर्द्धानतृणं च प्रोक्ष्य प्रोक्षणीं निधाय वज्रमादाय[8] वेदीं मिमीते स्फ्येन। आहवनीयस्य दक्षिणतः प्राचीं त्र्यरत्निम्, पश्चिमतश्चतुररत्निम् उत्तरतस्त्र्यरत्निम्, पूर्वतश्च त्र्यरत्निम्। एवं परिमितां वेदिं त्रिभिः कुशैः परिसमुह्य उत्तरतो वज्रेणोत्करं परिलिख्य तदन्तिके वज्रं निधाय तदुपरि वेदितृणं कृत्वा सतृणं वज्रमादाय दक्षिणहस्तेन सव्ये पाणावाधाय दक्षिणेनालभ्य तेन वज्रेण पृथिवीमात्मानं वा संस्पृशन् वेद्यामुदगग्रं[9] निधाय तदुपरि तेन प्रहृत्य तदग्रेण पुरीषमादाय (वेदिंप्रेक्ष्य)[10] पुरीषमुत्करे कृत्वा पुनस्तथैव प्रहृत्य पुरीषमादाय वेदिं प्रेक्ष्यामुं पुरीषमुत्करे करोति। एवमेव द्वितीयं करोति। पुरीषकरणान्ते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्याम् उत्करेऽभिन्यासं करोति। ततस्तृतीयं प्रहरणादि तथैव चतुर्थं कृत्वा ब्रह्मन् पूर्वं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीत्यामन्त्रितेन ब्रह्मणा परिग्रहाणेत्यनुज्ञातः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः प्राचीं[11] पश्चिमत उदीचीम् उत्तरतः प्राचीं परिगृह्णाति। अथ वेद्यां

---

१. 'तथा' ख० ग०। २. 'संस्थाप्य' ख० ग०।
३. 'ततः' नास्ति ख० ग०।
४. 'एवमेव गार्हपत्याद्दक्षिणाग्नि' ख० ग०।
५. 'ब्राह्मणं' क०। ६. 'तृणञ्च' ख० ग०।
७. 'अग्नि' क०। ८. 'वस्त्रम्' क०।
९. 'ग्रं तृणे' ख० ग०। १०. कंसान्तर्गतं नास्ति ख० ग०।
११. 'प्राचीं परिगृह्य' ख० ग०।

(हरिहर०)

प्राचीस्तिस्रो लेखा उल्लिख्य अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणाप्रभृतिभ्यो लेखाभ्यः पृथक् पृथक् पुरीषमादायोत्करे प्रक्षिप्य क्रमेण लेखाः सम्मृशति । तत्रैते वेदिमानादिपदार्थाः[1] स्वयंकर्त्तृकाः मन्त्ररहिताश्च, ऋत्विगन्तराभावात्समाम्नायाभावाच्च । अथाहवनीयस्य पुरस्तादुत्तरवेदिस्थाने पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा पूर्वार्द्धे शंकु निखाय द्वात्रिंशदंगुलां शम्यामादाय चतुरस्रामुत्तरवेदिं शम्यामात्रीं मिमीते, ततस्तथैव शम्यायामुत्तरतश्चात्वालं मिमीते । तद्यथा—पश्चादुदीचीं शम्यां निपात्य स्फ्येन तावतीं लेखामुल्लिख्य तथैव पुरस्तादुदीचीं दक्षिणतः प्राचीमुत्तरतः प्राचीं शम्यां निपात्य लेखामुल्लिखेत् । एवं चतुरस्रशम्याप्रमाणं चात्वालं सम्पद्यते । ततश्चात्वालमध्ये स्फ्याग्रेण प्रहृत्य पुरीषमादाय उत्तरवेदौ शंकुसमीपे प्रक्षिप्य अभिन्यासं विधाय पुनरेवं द्विरपरं प्रहृत्य पुरीषमादायोत्तरवेदौ[2] प्रक्षेपमभिन्यासं च कृत्वा चतुर्थवेलायामभ्या चात्वालं खात्वा यावता[3] पुरीषेण शम्यामात्री उत्तरवेदिः ऊर्ध्वा पूर्यते तावत्पुरीषाहरणेन चात्वालादादाय प्रक्षिपेत् । एवमुत्तरवेदिं रचयित्वा मध्ये प्रादेशमात्रीं चतुरस्रां नाभिं कृत्वा प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य सिकतामुपकीर्य वाससाऽऽच्छादयति । अथ गार्हपत्ये पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतं गृहीत्वा आज्यप्रोक्षण्या [4]आहवनीये सोपयमनीकाधिश्रुते इध्मस्याग्नीनुद्यम्य उत्तरवेदिसमीपं गत्वा पुरस्तात्पश्चाद्दक्षिणत उत्तरतश्चोत्तरवेदिं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षणीशेषमुत्तरवेदेराग्नेयकोणसमीपे बहिर्वेदीं निनीय पञ्चगृहीतेन[5] नाभिं व्याघारयति कोणे हिरण्यं पश्यन् ।[6] यथापूर्वंदक्षिणस्यां स्रक्त्यामाघार्योत्तरापरस्यां ततो दक्षिणापरस्यां ततः पूर्वोत्तरस्यां मध्ये[7] चावघार्य शेषमाज्यं[8] स्रुवे उद्यम्योर्ध्वमुत्क्षिपति । ततो नाभिं[9] पैलुदारवैः परिधिभिः[10] परिदधाति ।[11] यथा प्रथममुदगग्रेणपश्चिमतः, ततः (प्रागग्रेण[12] दक्षिणतः, ततः प्रागग्रेणोत्तरतः ।) ततो नाभिमध्ये गुग्गुलुसुगन्धितेजनं वृष्णेस्तुकाः शीर्षधन्याः[13] अभावेऽन्यानि दधाति । तदुपरि उपयमनीगत-

---

१. 'स्वकर्तृका.' ख० ग० ।

२. 'त्तरवेदिपुरीषप्रक्षेपाभिन्यासान्कृत्वा' क० ।

३. 'पुरुषेण' क० ।

४. 'क्षण्याहवनीयसोपयमनीकाधिशुष्मस्याग्नीनुद्यम्य' क० ।

५. 'पञ्चगृहीतेनाज्येन' ख० ग० ।

६. 'पूर्ववद्दक्षिण' ख० ।

७. 'च' नास्ति क० ।

८. 'स्रुवमुद्यम्य' क० ।

९. 'पीतुद्रवैः'' क० ।

१०. 'परिधिः' क० ।

११. 'तद्यथा' ख० ग० ।

१२. 'कंसान्तर्गतं' नास्ति क० ।

१३. 'शीर्षण्याः तदभावे' ख० ग० ।

(हरिहर०)

मग्निं स्थापयति। उपयमनीं[1] च तत्समीपे निवपति चात्वाले वा।[2] प्रणीयमानमग्निं ब्रह्माऽनुगच्छति। ततो यजमानः प्रणीता उत्तरवेदेरुत्तरेण कुशासने प्रणीयाहवनीयं परिस्तीर्य गार्हपत्यं च पात्राण्यासादयाते--आज्यस्थाली सम्मार्गकुशाः सन्नहनावच्छादनानि परिधयः उपयमनकुशाः समिधः स्रुवः आज्यं वपाश्रपण्यौ चरुस्थाली शूलम् उखा तण्डुलाः दक्षिणार्थं तुल्यवया गौश्चेति। [3]उपकल्पनीयान्युपकल्पयति--बर्हिः प्लक्षशाखा पलाशशाखा त्रिगुणरशना [4]उपाकरणतृणं द्विगुणरशना गोपशुः असिः पात्रेजनिः दधि हिरण्यशकलानि षट् पलाशपत्राणि चेति। तत आसादनक्रमेण [5]पात्राणि प्रोक्षति। 'रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इति तण्डुलान्प्रोक्षति। आज्यस्थाल्यामाज्यं निरूप्य गार्हपत्येऽधिश्रित्य [6]पर्यग्निकुर्यात्। ततो वेदिं मध्यसङ्गृहीताभ्रया खात्वा 'ब्रह्मन्नुत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामि' इति ब्रह्माणमामन्त्र्य 'परिगृहाण' इति तेन अनुज्ञातः पूर्ववत् स्फ्येन दक्षिणपश्चिमोत्तरतो वेदिं परिगृह्याऽनुमार्ष्टि। आहवनीयमपरेण प्रोक्षणीरासाद्य प्रणीतोदकेन पाणी अवनिज्य प्रणीतानां[7] पश्चिमतः प्रागग्रं स्फ्यं निधाय तदुपरि इध्माबर्हिषी आसादयति। ततः स्रुवं प्रतप्य[8] सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्। आज्यमुद्वास्य प्रोक्षणीनामपरेण कृत्वोत्पूयावेक्ष्य (प्रोक्षणीरुत्पूय[9] वेदिं प्रोक्ष्य बर्हिश्च प्रोक्ष्य) प्रोक्षण्येकदेशेन बर्हिर्मूलानि सिक्त्वा बर्हिर्विस्रंस्य सन्नहनं च विस्रंस्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय संनहनावच्छादनैरवच्छाद्य वेदिं स्तृणाति। तद्यथा-बर्हिःपुलकं त्रिधा विभज्य प्रथमं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा[10] द्वितीयं भागं[11] (दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा तृतीयं भागं) दक्षिणेनोत्थापितं सव्येन संगृह्याङ्कस्थितं प्रथमभागं दक्षिणेनादाय वेद्यां स्तृणात्युदक्संस्थं, तथैव द्वितीयं भागं [12]गृहीत्वा अङ्के कृत्वा सव्यस्थितं दक्षिणेनादाय अङ्कगतं सव्येन संगृह्य पूर्वस्तृतबर्हिर्मूलानि द्वितीयबर्हिर्भाग[13]ग्रैश्छादयन् स्तृत्वा तृतीयभागं दक्षिणेनादाय स्फ्योपग्रहेण तथैव स्तृणाति पश्चादपवर्गम्। तत उपरि प्लक्षशाखाः स्तृणाति। अथाहवनीयं

---

१. 'च' नास्ति क०।
२. 'वा' नास्ति क०।
३. 'अथ उपक' ख० ग०।
४. 'उपाकरणत्रिगुणं' क०।
५. 'पात्रेण पात्राणि' क०।
६. 'पर्यग्निं कुर्यात्' क०।
७. 'प्रणीतां' क० ग०।
८. 'प्रथमं' क०।
९. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।
१०. 'कृत्वा-हि' क०।
११. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।
१२. 'दक्षिणनोत्थाप्य' ख० ग०।
१३. 'भागाग्रश्वाच्छा' ख० ग०।

(हरिहर०)

कल्पयति। ततो मध्यमदक्षिणोत्तरान्परिधीन् आहवनीये [1]परिधाय आहवनीयमवेक्ष्य अग्रेणाहवनीयं परीत्य पलाशशाखां निखनति। तां त्रिगुणरशनया त्रिः परिव्ययति। तत्र शकलमुपगूहति। 'रुद्राय त्वोपाकरोमि' इत्युपाकरणतृणेन पशुमुपाकरोति। ततो द्विगुणरशनयाऽन्तराशृङ्गं पशुं बध्वा—'रुद्राय नियुनज्मि' इति शाखायां नियुनक्ति। अथ—'रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य शेषमास्य उपगृह्याधस्तादुपोक्षति। तत उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय प्रोक्षणीभिः पर्युक्ष्य पूर्वाघारमाघार्योत्तरान्ते [2]स्रुवाग्रेण ललाटांसश्रोणिषु पशुं समनक्ति। ततः [3]स्रुवाग्राक्ताभ्यां स्वर्वसिभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति। स्वरुमवगृह्य असिमेकतो घृतेनाभ्यज्य निदध्यात्। अथाहवनीयस्योत्तरतः स्फ्येन शामित्राय परिलिख्य आहवनीयस्योल्मुकेन पश्चाज्यशामित्रदेशशाखाचात्वालाहवनीयान् पर्यग्नि कुर्यात्त्रिः। [4]पुनरुल्मुकमा[5]हवनीये प्रक्षिप्य तावत्प्रतिगच्छेत्। पुनरावहवनीयादुल्मुकमादाय पशुं कण्ठे बध्वा वपाश्रपणीभ्यामन्वारभ्य उद्गच्छेत्[6]। तत्र वेदितृणद्वयमादाय शामित्रे उल्मुकं निधाय शामित्रस्य पश्चात् एकं तृणमास्तीर्य तत्र पशुं प्राक्शिरसं प्रत्यक्शिरसम् उदक्शिरसं[7] उदक्पादं वा[8] निपात्य अवाश्यमानं मुखं संगृह्य तमनेन शामित्रेण सञ्ज्ञपयति। सत्यन्यस्मिन् पुरुषे शमितरि यजमान आहवनीयं प्रत्येत्य पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य 'स्वाहा (देवेभ्यः'[9] इत्येकामाज्याहुतिमाहवनीये हुत्वा) संज्ञप्ते पशौ—'देवेभ्यः स्वाहा' इति तेनैवाज्येन अपरां हुत्वा ;तूष्णीमपराः पञ्च जुहोति। अथ वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्य पात्रेजनीभिः[10] पशोः प्राणशोधनं स्वयमेव करोति।[11] तद्यथा—मुखं नासिके चक्षुषी द्वे कर्णौ द्वौ नाभिं मेढ्रं पायुं संहृत्य[12] पादान् एकैकं [13]पात्रेजनीजलेन स्पृशति, शेषेण शिरःप्रभृति कर्णपर्यन्तं[14] पुनस्तथैवाप्याय्य ततोऽङ्गानि निषिच्य शेषं पशोः पश्चाद्भागे निषिञ्चति। तत उत्तानं पशुं कृत्वा नाभ्यग्रे तृणं निधाय

---

१. 'परिदधाति' ख० ग०। २. 'स्रुवाग्रेणालला' क०।
३. 'चात्वाले' क०। ४. 'पुनः' नास्ति क०।
५. 'आवहनीयं' क०। ६. 'उदङ्नयेत्' ख० ग०।
७. 'उदक्शिरसं' नास्ति क०। ८. 'वा' नास्ति क०।
९. कंसान्तर्गतं नास्ति क०। १०. 'पात्नेजनी' ख० ग०।
११. 'तत्' नास्ति क०। १२. 'सहृत्य' क०।
१३. 'पात्नेजनी' ख० ग०। १४. 'मुखनासिके प्रभृति कर्णं' क०।

(हरिहर०)

[1]घृताभ्यक्तासिधारयाऽभिनिधाय[2] तृणां त्वचं छित्त्वा तृणमूलमुभयतो लोहितेनाङ्क्त्वा तृणं भूमौ निरस्य तदुपरि स्वयं पादौ कृत्वा पुनरागत्योपविश्य वपामुत्खिद्य वपाश्रपणीभ्यां प्रोर्णूय [3]सित्वाऽऽज्येनाभिघार्य प्रक्षाल्य पशुं विशास्ति। हृदयादीनि सर्वाणि त्रीणि वा[4] पञ्च वा यथाकाममवदानान्यवद्य जाघनीं चावद्य श्वभ्रे ऊवद्धथमवधाय[5] लोहितं चावधाय चरौ तण्डुलानोप्य वपां शामित्रे प्रतप्य आहवनीयस्योत्तरतः स्थित्वाऽऽहवनीये च प्रतप्य शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य[6] दक्षिणतः स्थित्वा स्रुवेणाज्येनाभिघारयन् श्रपयति गार्हपत्ये स्थालीपाकम्। शामित्रे [7]हृदयाद्यवदानानि प्रतद्य तत्र हृदयं शूले चरुं पर्यग्निकृत्वा वपामभिघारयति। अथ त्रिः प्रच्युते पशौ[8] हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्य इतराण्यवदानान्याज्येन सर्वाणि च त्र्यङ्गवर्जमभिघार्य स्थालीपाकमुद्वास्य अनन्तर मुखां[9] वपाया अङ्गानां च [10]प्राणदानं कृत्वा वपादीनि क्रमेणासाद्य अङ्गानि शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य वेद्यामासाद्य वपामवदानानि चालभ्या ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आज्यभागौ हुत्वा वपा होमाय[11] स्रुवे आज्यमपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय[12] वपां गृहीत्वा पुनर्हिरण्यशकलं दत्त्वा द्विरभिघार्य—'रुद्राय स्वाहा' इति वपां जुहोति। वपाश्रपण्यौ चाग्नौ प्रास्यति। तत ऊखातो वसां गृहीत्वा—'अन्तरिक्षाय स्वाहा' इति जुहुयात्। अथावदानहोमार्थं स्रुवे उपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय हृदयाद्यङ्गेभ्यः प्रत्येकं द्विर्द्विरवदायावदाय स्रुवे क्षिप्त्वा उपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य असर्वाणि चेक्षताभ्यङ्गं कृत्वा 'अग्नये स्वाहा' इति जुहोति। एवं पुनः स्रुवे उपस्तरणहिरण्यशकलावधानद्विर्द्विः [13]प्रधानावदानग्रहणसकृत्स्थालीपाकावदान (हिरण्यशकलावधानाभि[14]) घारणानि कृत्वा अग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्राय अशनये भवाय महादेवाय ईशानायेत्येतैर्नाममन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः एकैकस्मै

---

१. 'घृतप्रज्ञातया' क०। २. 'सतृणां' ख० ग०।
३. 'छित्वा' ख० ग०। ४. 'पञ्च वा' नास्ति क०।
५. 'उपद्धयामव' क०। ६. 'आहृत्य' क०।
७. 'हृदयादीन्यवदानानि चरुं च तत्र हृदयं शूलं चरुं पर्यग्निकृत्वा वपाम् क०।
८. 'पशोः' ख० ग०। ९. 'उखाश्च वपाया' ख० ग०।
१०. 'प्राणादानं' क०। ११. 'होमार्थं' ख० ग०।
१२. 'हिरण्यशकलमवधार्य' क०। १३. 'प्रधान' नास्ति क०।
१४. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।

(हरिहर०)

जुहोति । एवं नवप्रधानहोमाः संपद्यन्ते । ततः पृषदाज्येन वनस्पतये स्वाहेति होमं विधाय स्विष्टकृद्धोमार्थं स्रुवमुपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा सर्वावदानपक्षे (त्र्यङ्गेभ्यो[1] द्विर्द्विरवदाय असर्वावदानपक्षे) तेभ्य एव प्रधानार्थेभ्यो द्विर्द्विरवदाय सकृच्चरोरवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विर्द्विरभिघार्याग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्यग्नेरुत्तरप्रदेशे जुहुयात् । (यथामन्त्रं[2] सर्वत्र त्यागाः ।) ततः स्रुवेण वसां गृहीत्वाऽऽहवनीयस्य पुरस्तात्–दिशः स्वाहा, इदं दिग्भ्यः । दक्षिणतः–प्रदिशः स्वाहा, इदं प्रदिग्भ्यः । पश्चिमतः–आदिशः स्वाहा, इदमादिग्भ्यः । उत्तरतः–विदिशः स्वाहा, इदं विदिग्भ्यः । मध्यतः–उद्दिशः स्वाहा, इदमुद्दिग्भ्यः । (पूर्वार्द्धे दिग्भ्यः[3] स्वाहा, इदं दिग्भ्यः । ततो) जाघनीं गृहीत्वा गार्हपत्यं प्रत्येत्य जाघन्याः स्रुवेणावदायावदाय इन्द्राण्यै स्वाहा, इदमिन्द्राण्यै । रुद्राण्यै स्वाहा, इदं रुद्राण्यै । शर्वाण्यै स्वाहा, इदं शर्वाण्यै । भवान्यै स्वाहा, इदं भवान्यै । अग्नये गृहपतये स्वाहा, इदमग्नये गृहपतये । एताः पञ्च पत्नीसंयाजाहुतीर्जुहुयात् । तत आहवनीये महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यहोमान्ते सꣳस्रवप्राशनानन्तरं शूलगवपशुना तुल्यवयसं गां ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात् । ततः पलाशपत्रेषु षट्सु प्राक्संस्थेषु उदक्संस्थेषु वा पशुलोहितेन यास्ते रुद्र पुरस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्य इति सर्वबलिषु त्यागः । एवं यास्ते रुद्र दक्षिणतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्यः । यास्ते रुद्र पश्चात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्यः । यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्यः । यास्ते रुद्रोपरिष्टात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्यः । यास्ते रुद्राधस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । इदं रुद्राय सेनाभ्यः । ऊवध्यस्य लोहितलिप्तस्याग्नौ प्रक्षेपम् अधो निखननं वा कृत्वा अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्राध्यायेन 'नमस्ते' इत्यादिना प्रथमोक्ताभ्यां वाऽनुवाकाभ्यां रुद्रानुपस्थाय उदकमुपस्पृशेत् । एतस्य पशोर्मांसं ग्रामं नानयेत् । इति समाप्तः शूलगवः ॥

अथ गोयज्ञपद्धतिः–तत्र विहितमातृपूजाभ्युदयिकः स्वर्गपशुपुत्रधनयशःआयुष्यफलानामन्यतमफलकामः औपासनमरण्यं नीत्वा तत्र परिसमूहनादिभिः संस्कृतायां भूमौ स्थापयेत् । तत्र ब्रह्मोपवेशनान्ते विशेषः–सक्षीरं

---

१. कंसान्तर्गतं नास्ति क० । २. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।
३ कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

(हरिहर०)

प्रणयनं कृत्वा पायसं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्ट्वा शूलगवदेवताभ्यः अग्निरुद्रशर्वपशुपत्युग्राशनिभवमहादेवेशानेभ्यः स्वाहाकारान्तैर्नामभिश्च-तुर्थ्यन्तैर्नवभिर्मन्त्रैः पायसेन प्रत्येकं जुहुयात् । ततः स्विष्टकृदादि प्राजाप-त्यहोमान्ते संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात् ॥

इति गोयज्ञपद्धतिः ॥ ८ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये तृतीकाण्डस्य अष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

(जयराम०)

शूलगव इति कर्मनामधेयं स्वर्ग्य इति स्वर्गादिकामैः पर्यायेण सम्बध्यते । नहि युगपत्सर्वकामोत्पत्तिसम्भवः । 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥ २ ॥

औपासनम् आवसथ्याग्निमरण्यं नीत्वा तत्र वितानं साधयित्वा आवसथ्याग्ने-राहवनीयदक्षिणाग्न्योरुद्धरणं कृत्वा रुद्रदेवत्यं पशुं साण्डमनपुंसकमालभेत ॥ ३-४ ॥

तस्य चान्वयाच्छागस्य प्राप्तौ-'गौर्वा' । वाशब्द एवार्थे । गौरेव न छागः । कुतः ? शब्दात् 'शूलगवः' इति वचनम् ॥ ५ ॥

वपां श्रपयित्वेति । विहृतश्रपणे प्राप्ते सहश्रपणार्थोऽयमारम्भः । विहृतश्रपणं कथमिति चेत् ? चोदकपरिप्राप्त्याऽऽज्यासादनोत्तरकालमन्येषां पशूनां शाखानिखननं प्राप्तम् उत्तराघारान्ते च पशुसमञ्जनादि । वपादीनां विहृते शामित्राग्नाव-वदानानां वपायाश्चाहवनीय एव श्रपणं प्राप्तम् । अतोऽत्र वचनात्सहश्रपणमुच्यते । रुद्रायेत्यादौ 'जुहोति' इति शेषः । अवदानानि चरुमिश्राण्यग्न्यादीशानान्तेभ्यो जुहोत्येभिरेव नाममन्त्रैः ॥ ६ ॥

ततो वनस्पतिहोमः पृषदाज्येन, तेनैव दृष्टत्वात् । ततः[1] स्विष्टकृतं हुत्वा दिशां व्याघारणं 'कर्तव्यम्' इति सूत्रशेषः । तच्च वसया भवति । यथाऽग्नीषोमीये ॥७॥८॥

पत्नीसंयाजा अप्येतैर्नाममन्त्रैरपराग्नौ, तत्र दृष्टत्वात् ॥ ९ ॥

ततः प्राशनान्ते पशुना तुल्यवयस्कं गां दत्त्वा लोहितं पशो रक्तं पालाशेषु पलाशपत्रेषु कूर्चेषु च कुशासनेषु बलित्वेन ददाति-'यास्ते रुद्र' इत्यादिषड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । तदर्थः सुगमः । ते तुभ्यं चेति योज्यम् । तत्र षण्णां परमेष्ठी यजुः रुद्रो बलिहरणे० ॥ १० ॥

---

१. इतः पूर्वं 'ततो वनस्पतिहोमः पृषदाज्येन' इति वर्तते ख० ग० पुस्तकयोः, परन्तु आवृत्तमिव प्रतिभातीत्यस्माभिरुपेक्षितम् ।

(जयराम०)

ऊवद्ध्यं पुरीषाधानं पोटीति प्रसिद्धम् आहवनीये प्रक्षिपति ॥ ११ ॥

अनुवातं वाताभिमुखं पशुमवशिष्टं पशुशरीरम् । रुद्रैः रुद्राध्यायाम्नातमन्त्रैः स्तौति । प्रथमोत्तमौ आद्यन्तौ ताभ्यां वा ॥ १२ ॥

'पशोः' अत्र 'मांसं' इति शेषः ॥ १३ ॥

एतेनैव विधानेन गोयज्ञः कर्मविशेषः ॥ १४ ॥

असौ च पायसेन चरुणा अनर्थलुप्तश्च भवति । पायसेन शूलगवदेवतामात्रैरित्येऽत्यर्थः ॥ १५ ॥

तत्र शूलगवपशोर्वयसा तुल्यवया गौर्दक्षिणा देया ॥ १६ ॥ ८ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य अष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

अथ नवमी कण्डिका

अथ वृषोत्सर्गः ॥ १ ॥ गोयज्ञेन व्याख्यातः ॥ २ ॥ कार्तिक्यां पौर्णमास्याᳪं रेवत्यां वाऽऽश्वयुजस्य ॥ ३ ॥ मध्ये गवाᳪंसुसमिद्ध-मग्निं कृत्वाऽऽज्यठ्ं. सठ्ं.सृष्टत्येह रतिरिति षट् जुहोति ॥ ४ ॥ पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्व्वतः ॥ पूषा वाजठ्ं.सनोतु न इति पौष्णस्य जुहोति ॥ ५ ॥ रुद्राञ्जपित्वैकवर्णं द्विवर्णं [1]वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात्सर्वाङ्गैरुपेतो जीव-वत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो यूथे च रूपस्वित्तमः स्यात्तमलङ्कृत्य यूथ मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चालङ्कृत्य एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन [1]क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण ॥ मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैवोत्सृजेरन् ॥ ६ ॥ [1]नाभ्यस्थमभिमन्त्रयते मयो-भूरित्यनुवाकशेषेण ॥ ७ ॥ सर्वासां पयसि वायसठ्ं. श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ ८ ॥ पशुमप्येके कुर्वन्ति ॥ ९ ॥ तस्य शूल-गवेन कल्पो व्याख्यातः ॥ १० ॥ ९ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

(सरला)

"साँड़ का छोड़ना"

प्राक्कथन—"वृषोत्सर्ग" का अर्थ है 'सांड़ को छोड़ना' जिसे फिर से कोई काम में न ले। इस वृषोत्सर्ग-यज्ञ की वही विधि है जो गोयज्ञ की है। जहाँ जहाँ पर गो यज्ञ से भेद है वही प्रस्तुत कण्डिका में वर्णित है। शेष सभी कर्म वैसे ही

---

१. 'वायोः' क०। १. 'चरत' क०। १. 'नभ्यस्थं' ख०।

(सरला)

होंगे जैसे कि गो यज्ञ के होते हैं। 'वृषोत्सर्ग–यज्ञ' भी काम्य कर्म है, नित्य नहीं। इस यज्ञ का वही फल है जो 'शूलगव' और 'गो-यज्ञ' का होता है।

हिन्दी—अब वृषोत्सर्ग [नामक यज्ञ की विधि बतलाते हैं] ॥ १ ॥ [जो कि] गो यज्ञ [की विधि] से करने को कहा गया है ॥ २ ॥ (इस यज्ञ को) कार्तिकमास की पूर्णमासी या आश्विन मास के रेवती नक्षत्र में (करना चाहिये) ॥ ३ ॥ गायों के बीच में [गोष्ठ में] अग्नि को प्रज्ज्वलित करके घी का संस्कार करके 'इह रतिः' इन प्रत्येक मन्त्र को पढ़-पढ़ कर छः आहुतियाँ देनी चाहिए ॥४॥ "पूषा हमारी गायों के पीछे चलें, पूषा हमारे घोड़ों की रखवाली करें, पूषा हमें बल दें" इस मन्त्र से हलुए की आहुति देनी चाहिए ॥ ५ ॥ रुद्र मन्त्रों का जप करके एक रंग वाले साँड़ को जो अपने परिमाण से यूथ [झुण्ड] को ढँक लेता है [अर्थात् अपने सारे यूथ से ऊँचे कद का है] अथवा जिसको यूथ ही ढँक लेता है (अर्थात् छोटे कद का] अथवा लाल रंग का ही हो, सब अङ्गों से युक्त हो, जिस गाय के सभी बछड़े जीते हों, जिस गौ को बहुत दूध होता हो—ऐसी गाय का बछड़ा जो कि सुन्दर रूप वाला हो, उस बछड़े को सजाकर और इसी तरह उन चार बछियों को (घुंघरु आदि माला से) सजाकर जो झुंड में मुख्य हों, उन्हें भी "एतं युवानं···" इस एक मन्त्र से ही दोनों को ही छोड़ देना चाहिए "यह युवा साँड़ तुमको पति के रूप में देता हूँ। तुम इस प्यारे के साथ क्रीड़ा करती हुई हमें शाप मत दो, स्वच्छन्द घूमो। हे स्वभाव से सुहावनी गायों ! हम धन की पुष्टि से और अन्न से तृप्त हों" ॥६॥ बछियों के मध्य में [साँड़ को देखता हुआ] 'मयोभूः' इस अनुवाक शेष से [यजु० १८-२३ अन्तिम छः मन्त्र से] अभिमन्त्रित करता है ॥ ७ ॥ (घर में जितनी गायें दूध देती हों उन] सभी गायों के दूध की खीर पकाकर ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए ॥ ८ ॥ कुछ आचार्यों के मत से पशु भी कई लोग यजन करते हैं ॥ ९ ॥ उसकी विधि शूलगव में वर्णित की गई है ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में नवम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

अथ वृषोत्सर्गः । अथ शूलगवानन्तरं वृषोत्सर्गः वृषस्य वक्ष्यमाणलक्षणस्य उत्सर्गः उत्सर्जनं व्याख्यास्यते[1] ॥ १ ॥

१. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग० ।

(हरिहर०)

स च कामाधिकारात् फलस्य वाऽनभिधानात् किं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः[1] फलं कल्प्यते[2] उत पूर्वोक्तशूलगवानन्तराभिधानात्तत्फलमिति[3] सन्देहः। तत्र विश्वजिन्न्यायस्य सर्वथाऽश्रुतफलकर्मविषयत्वात् नात्र प्रवृत्तिः। कुतः ? सन्निधिश्रुतस्य शूलगवफलस्य स्वर्गादेः [4]स्वान्वययोग्यत्वात्। तस्मा-दयमपि पशुः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामस्यैवेत्यभिप्रेत्याह—गोयज्ञेन व्या-ख्यातः। स च [5]गोयज्ञेन गवा रौद्रेण पशुना यज्ञः गोयज्ञस्तेन व्याख्यातः गोयज्ञ साध्यफलेतिकर्त्तव्यतावानित्यर्थः। ततश्चास्मिन्नपि स्वर्गपशुपुत्रधन-यशआयुष्कामस्याधिकारः ॥ २ ॥

स कदा कर्त्तव्य इत्यपेक्षायामाह—कार्त्तिक्यां पौर्णमास्यां[7] रेवत्यां (वाऽ-श्वयुजस्य[6]। कार्तिक्यां पूर्णिमायाम्, आश्विनस्य रेवत्यां[7]) रेवतीनक्षत्रे वा कर्त्तव्यः[8]। शास्त्रान्तरात्तु चैत्र्यामाश्वयुज्यां वा ॥ ३ ॥

मध्ये गवाᳬंसुसमिद्धमग्निं कृत्वाऽऽज्यᳬं संस्कृत्येह रतिरिति षट् जुहोति प्रति-मन्त्रम्। मध्ये गवां गोष्ठे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं सुसमिद्धं प्रज्ज्व-लितं [9]कृत्वा आज्यसंस्कारानन्तरं पर्युक्षणान्ते 'इह रतिः' इत्यादिभिः[10] षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं षडाज्याहुतीर्जुहोति। अत्र मध्ये गवामिति देश-विशेषनियमानुविधानात् देशान्तरस्येह यागानङ्गत्वम् ॥ ४ ॥

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः[11]। पूषा वाजᳬं सनोतु नः स्वाहेति

---

१. 'सर्गः फलम्' क०। २. 'कथ्यते' क०।
३. 'तत्फलः' ख० ग०। ४. 'अत्रान्वय' ख० ग०।
५. 'साध्य' नास्ति क०। ६. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।

७. अत्र कर्केण जयरामसम्मत एवार्थो वर्णितः विश्वनाथोऽपि तमेवानुसरति। अश्विनस्य पौर्णमास्यां रेवतीनक्षत्रयुतायां वेत्यर्थ इति।

८. 'कर्तव्य इति सूत्रशेषः शास्त्रान्तरे तु चैत्र्यामाश्वयुज्यां वेति कालान्तर-मुक्तम्' ख०।

९. 'आज्यं संस्कृत्य' क०।

१०. 'षड्भिर्मन्त्रैः' क०। 'इह रतिः' 'इह रमध्वम्' 'इह धृतिः' 'इह स्वे धृतिः' 'उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्' 'रायस्पोषमस्मासुदीधरत्' इति (य० सं० ८–५१,५२) कण्डिकोक्तमन्त्रैकदेशैः षड्भिः स्वाहाकारान्तैरित्यर्थः। मन्त्रार्थस्तु (पा० गृ० १–४–७) सूत्रव्याख्यानावसरे ५७१ पृष्ठे उक्त इति।

११. 'सर्वतः' क०।

(हरिहर०)

पौष्णस्य जुहोति । पौष्णः[1] पूषा देवताऽस्येति पौष्णः चरुः[2] तस्य[3]—'पूषा गा' इत्यादिमन्त्रेण सकृत्[4] जुहोति । 'होमसङ्ख्याऽनभिधानात्सकृत्, श्रपणानुपदेशात्सिद्ध एवोपादीयते । अयं पौष्णश्चरुः पिष्टमयो भवति । कुतः ? 'तस्माद्यं पूष्णे चरुं [6]कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव [7]कुर्वन्ति' इति श्रुतेः ॥ ५ ॥

रुद्रान् जपित्वैकवर्णं द्विवर्णं वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात्सर्वैरङ्गैरुपेतो जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो यूथे च [8]रूपस्वित्तमः स्यात्तमलङ्कृत्य यूथे मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चालङ्कृत्यैतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ[9] प्रियेण मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैवोत्सृजेरन् । रुद्रान् 'नमस्ते' इत्यध्यायाम्नातान् जपित्वा सप्तजन्मजपधर्मेण पठित्वा । अत्र शूलगवातिदेशप्राप्तोऽपि रुद्रजपविधिः प्रथमोत्तमानुवाकजपविकल्पनिवृत्त्यर्थः जपावसरज्ञापनार्थो वा । तन्न, अपूर्वश्चायं[10] जप्यत्वेनाप्राप्तत्वात् प्रकृतौ [11]हि रुद्राणां शूलगवस्थाने [12]करणत्वेन विहितत्वात् । एक एव शुक्लादिवर्णो रूपं यस्य स एकवर्णः तम्, अथ वा द्वौ वर्णौ यस्य स [13]द्विवर्णः । विशेषनियममभिधाय अथ वृषस्य परिमाणविशेषनियममाह—यो वृषः यूथं कृत्स्नं वर्गं छादयति स्वपरिमाणेन अधः करोति[14] वा, यं वृषं यूथवर्गः छादयेत् अधः करोति तं वा, यूथादधिकपरिमाणं वा न्यूनपरिमाणं वेत्यर्थः । रोहितः लोहित एव वा स्यात्, एवकारेण लोहितस्य एकवर्णद्विवर्णाभ्यां प्राशस्त्यमुच्यते । पुनः कीदृक् ? सर्वैः अङ्गैरुपेतः समन्वितः, न पुनर्हीनाङ्गः अधिकाङ्गो वा । तथा जीवाः प्राणवन्तो वत्साः प्रसूतिर्यस्याः सा जीववत्सा तस्या गोः पुत्रः[15] । तथा पयः बहु क्षीरं विद्यते यस्याः सा पयस्विनी तस्याः[16] बहुक्षीराया इत्यर्थः । तथा यूथे वर्गविषये रूपमस्यास्तीति

---

१. 'पौष्णः' नास्ति क० ।
२. 'चरुः' नास्ति ख० ग० ।
३. 'तस्य चरोः' ख० ग० ।
४. 'सकृत्' नास्ति क० ।
५. 'धानात्तस्य च श्रपणा' ख० ग० ।
६. 'कुर्वते' क० ।
७. 'कुतः श्रुतेः' क० ।
८. 'रुपवत्तमः' क० ।
९. 'चरत' क० ।
१०. 'एवायं' ख० ग० ।
११. 'माकृतौ' क० ।
१२. 'करणत्वे त्ववि' क० ।
१३. 'वर्णः तं वृषम् । एवं वर्णनियम' ख० ग० ।
१४. 'करोति तं वा, यं वृषं यूथवर्गश्छादयेत् अधः कुर्यात् तं वा' ख० ग० ।
१५. 'पुत्रः' नास्ति क० ।
१६. 'तस्याः गोः पुत्रः तथा' ख० ग० ।

(हरिहर०)

रूपस्वी अतिशयेन रूपस्वी रूपस्वित्तमः वृषः स्यात् । तमुक्तगुणविशिष्टं[1] च वृषमलङ्कृत्य [2]वस्त्रमाल्यानुरूपहेमपट्टिकाग्रैवेयकघण्टादिभिर्वृषोचितभूषणैः भूषयित्वा न केवलं वृषमलङ्कृत्य[3] ताश्च वत्स[4] तरीरप्यलङ्कृत्य, कीदृशीः ? या यूथे स्ववर्गे मुख्या गुणैः श्रेष्ठा वत्सतर्यः । कति ? चतस्रः चतुःसङ्ख्योपेतास्ताः[5] "एतं युवानम्' इत्येतयैवोत्सृजेरन्[6] त्यजेयुः ॥ ६ ॥

[7]नाभ्यस्थमभिमन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण । [7]नाभ्यस्थं वत्सतरीणां मध्ये तिष्ठन्तम् अभिमन्त्रयते[8] आभिमुख्येन मन्त्रैः स्तौति । केन ? [9]'मयोभूरभि

---

१. 'च' नास्ति ख० ग० । २. 'पदिका' क० ।

३. 'वृषमात्रं ताश्च' ख० ग० ।

४. 'तरीरलङ्कृत्य अलङ्कृताः कार्याः यूथे' क० ।

५. 'ताः' नास्ति क० । ६. 'एतयर्चा उत्सृ' ख० ग० ।

७. नभ्यस्थं' ख० ग० । ८. 'आभिमुखो न मन्त्रयते मन्त्रैः' क० ।

९. मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा । मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा । अवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ १ ॥

यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः । ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ २ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः । इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ ३ ॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु न स्कृधि । रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ४ ॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ ५ ॥

स्वर्ण घर्मः स्वाहा । स्वर्णार्कः स्वाहा । स्वर्ण शुक्रः स्वाहा । स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा । स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

एषां मन्त्राणामर्थः । तत्र प्रथममन्त्रपूर्वभागस्य 'समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः' इत्येतस्यार्थो (पा० गृ० ३–५–२) सूत्रव्याख्यानावसरेऽस्माभिर्वर्णितः । हे वायो ! यस्त्वं स्वर्लोकरूपोऽसि 'असौ वै लोकः समुद्रः' इति श्रुतेः । मयोभूः मयः पारलौकिकं सुखं भावयति प्रापयति सः त्वं माम् अभिवाहि मदभिमुखमागच्छ स्वाहा सुहुतं तेऽस्तु । यस्त्वं मारुतः मरुतां पुरो वातप्रभृतीनां वाताानाम् अयं प्रकृतिभूतः मारुतः असि मरुतां शुक्रज्योतिः प्रभृतीनां गणः तन्निवासत्वात् । अन्तरिक्ष-

लोकरूप इति यावत् 'अन्तरिक्षलोको वै मारुतः' इति श्रुतेः। स त्वं शम्भूः मयोभूश्च मा अभिवाहि स्वाहा। यश्च त्वम् अवस्यूः अवनं तर्पणं रक्षणं वा सीव्यति सोऽवस्यूः दुवस्वान् दुवो हविर्लक्षणमन्नं विद्यते यस्य सः। भूलोकरूप इति यावत् 'अयं वै लोकोऽवस्यूः' इति श्रुतेः। स त्वमित्यादि पूर्ववत्। अनेन मन्त्रेण त्रिलोकस्थो वायुः स्तूयते इति भावः ॥ १ ॥

हे अग्ने! याः ते तव रुचः दीप्तयः सूर्ये सूर्यमण्डले वर्तमानाः सत्यः दिवं द्युलोकं रश्मिभिः स्वकिरणैः आतन्वन्ति प्रकाशयन्ति, सर्वाभिः ताभी रुग्भिः नः अस्मान् अद्य अस्मिन् द्यवि रुचे रोचनाय कृधि कुरु। नः जनाय पुत्रपौत्रादिकाय च कृधि। द्युलोकप्रकाशिकाः सर्वाः कान्तीः पुत्रांश्चास्मभ्यं देहीत्यर्थः ॥ २ ॥

हे देवाः हे इन्द्राग्नी हे बृहस्पते या वः युष्माकं रुचः सूर्ये सूर्यमण्डले गोषु धेनुषु अश्वेषु तुरगेषु च सन्ति, सर्वाभिः ताभी रुग्भिः नः अस्मभ्यं रुचं धत्त दत्त तत्समप्रभानस्मान् कुरुतेत्यर्थः ॥ ३ ॥

हे अग्ने! नः अस्माकं सम्बन्धिषु ब्राह्मणेषु रुचं दीप्तिं धेहि आरोपय। नः अस्माकं राजसु क्षत्रियेषु रुचं कृधि कुरु। विश्येषु वैश्येषु शूद्रेषु च रुचं कृधि। मयि च रुचा सह रुचं धेहि अविच्छिन्नां रुचं धेहि इत्यर्थः ॥ ४ ॥

हे वरुण! यजमानः यष्टा हविर्भिः दत्तैः तत् यद्धनपुत्रपौत्रादिकं, तच्छब्दो यदर्थः, द्विस्तच्छब्दोपादानात्। आशास्ते इच्छति यत्कामस्तुभ्यं हविर्दत्ते तद् यजमानेष्टं ब्रह्मणा वेदेन त्रयीलक्षणेन वन्दमानः स्तुवन्नहं त्वा त्वां यामि याचामि। किञ्च हे उरुशंस! शंसनं शंसः स्तुतिः 'शंसु स्तुतौ'। उरुः महान् शंसः स्तुतिर्यस्य तत्संबुद्धौ हे बहुस्तुते वरुण इह अत्र अहेडमानः अक्रुध्यन् त्वं बोधि बुध्यस्व मत्प्रार्थनां जानीहीत्यर्थः। बुद्ध्वा च नः अस्माकम् आयुः जीवनं मा प्रमोषीः खण्डय पूर्णमायुर्देहीति भावः ॥ ५ ॥

स्वःशब्दः सूर्य–अहन्–देव–वाची। न इवार्थे। स्वः न स्वरिव अहरिव दिनमिव यो घर्मः आदित्यः तं स्वाहा अग्नौ जुहोमि। तमग्नाविति शेषः पूरणीयः। आदित्यमग्नौ स्थापयामि "असौ वा आदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति" (९–४–३–१९) इति श्रुतेः। स्वरिव सूर्य इव योऽर्कोऽग्निस्तमादित्ये जुहोमि स्थापयामि "अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति" (९–४–३–२०) इति श्रुतेः। स्वरिव स्वर्देवः नकारो निश्चितार्थः। स्वर्न देव एव यः शुक्र आदित्यस्तमादित्ये एव जुहोमि स्थापयामि "असौ वा आदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति" (९–४–३–२१) इति श्रुतेः। स्वः स्वर्गः न इव ज्योतिरग्निः स्वर्गप्रदत्वादग्नेः स्वर्गोपमानम्। तमग्निमग्नावेव जुहोमि स्थापयामि "अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह ददाति" (९–४–३–२२) इति श्रुतेः। एवमग्निं सूर्ये सूर्यमग्नौ

(हरिहर०)

मा वाहि स्वाहा' इत्यारभ्य 'स्वर्णं सूर्यः स्वाहा' इत्येतदन्तेन [1]अनुवाक-शेषेण ॥ ७ ॥

अथ पायसप्राशनं [2]नाम कर्मान्तरम्——सर्वासां पयसि पायसं श्रपयित्वा ब्राह्मणान् भोजयेत् । यस्य यावन्त्यो गावः दोग्ध्र्यः सन्ति स तासां सर्वासां पयसि दुग्धे पायसं [3]परमान्नं श्रपयित्वा साधयित्वा [4]ब्राह्मणान् त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति भोजयेत्तर्पयेत् ॥ ८ ॥

पशुमप्येके कुर्वन्ति । तस्य शूलगवेन कल्पो व्याख्यातः । एके आचार्याः पशुमपि छागं च कुर्वन्ति आलभन्ते उक्तविधिना पायसश्रपणपूर्वकं ब्राह्मणान्[5] वा भोजयन्ति । तस्य पशोः शूलगवेन शूलगवाख्येन कर्मणा कल्पः इतिकर्त्तव्यताकलापो व्याख्यातः कथितः ॥ ॥ १० ॥

इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

अथ प्रयोगः—तत्र [6]स्वर्गादीनामन्यतमफलप्राप्तिकामः कार्त्तिक्यां पौर्ण-मास्याम् आश्वयुजस्य रेवत्यां वा शास्त्रान्तराच्चैत्र्याम् आश्वयुज्यां वा [7]मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं कृत्वा गोष्ठे गवां मध्ये पञ्चभूसंस्कारा-न्कृत्वा आवसथ्याग्निं स्थापयेत् । [8]प्रणीताप्रणयनकाले [9]प्रणीतापात्रमध्ये पिष्टादिना अन्तर्धानं विधाय मूलदेशे पयः इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयेत् । तण्डुलानन्तरं [10]पौष्णं पिष्टमयं चरुं सिद्धमासादयेत्, प्रणीतेन पयसा पायसं श्रपयेत्, पर्युक्षणान्ते सुसमिद्धेऽग्नौ—'इह रतिः स्वाहा' इदमग्नये० । 'इह

सूर्ये च सूर्यमग्नावग्निं च सन्धाय किं बहुना तयोः संयोगं कृत्वा सूर्यमुत्तमं करोति स्वर्नं सूर्यः स्वाहेति । स्वः न सर्वदेवरूप इव यः सूर्यः तं स्वाहा उत्तमं करोमि । अव्ययानामनेकार्थत्वात् स्वाहाशब्द उत्तमार्थः । सर्वे देवा भिन्ना भ्रान्त्या भासन्ते वस्तुतः सूर्य एव नानारूपोऽस्तीति इव शब्दार्थः । "असौ वा आदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोऽस्य सर्वस्योत्तमः" (६–४–३–२३) इति श्रुतेः । एवमग्न्यर्कयोरैक्यं विधाय सर्वदेवेष्वर्कस्योत्तमत्वं कृतमिति भावः ॥ ६ ॥

१. 'शेषेण इति वृषोत्सर्गसूत्रार्थः' ख० ग० ।
२. 'नामान्तरं कर्म' क० ।
३. 'परमान्नं' नास्ति क० ।
४. 'पञ्च ब्राह्म' ख० ग० ।
५. 'णान् भोजयन्ति च' ख० ग० ।
६. 'फलकामः' क० ।
७. 'दयिकं कृत्वा' क० ।
८. 'प्रणयने' क० ।
९. 'पात्रस्य मध्ये' क० ।
१०. 'पिष्टचरुं' क० ।

(हरिहर०)

रमश्वं स्वाहा' इदमग्नये० । 'इह धृतिः स्वाहा' इदमग्नये० । 'इह स्वधृतिः स्वाहा' इदमग्नये० । 'उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्स्वाहा' इदमग्नये० । 'रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा' इदमग्नये० । इति त्यागसहिताः षडाज्याहुतीर्जुहोति । ततः आधारावाज्यभागान्ते पायसेन शूलगवदेवताभ्योऽग्न्यादिभ्यः [1]ईशानान्तेभ्यः पायसेन नवाहुतीर्हुत्वा पिष्टकचरोः—'पूषा गा अन्वेतु [2]नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजं सनोतु नः स्वाहा' इतिमन्त्रेण एकामाहुतिं हुत्वा 'इदं पूष्णे' इति त्यागं विधाय पायसपौष्णाभ्यां स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनान्ते पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं [3]ब्रह्मणे दद्यात् । अथ 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यारभ्यासमाप्ते रुद्रान्जपित्वा एकवर्णादिगुणविशिष्टं वृषभं चतसृभिर्वत्सतरीभिः सहितं [4]वस्त्रमाल्यहेमालङ्कारादिभिरलङ्कृतम्—'एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण । मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेम' इत्येतया ऋचा उत्सृजेरन् । ततो [5]वत्सतरीमध्यस्थं वृषभं 'मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा' इत्यारभ्य 'स्वर्ण सूर्यः स्वाहा' इत्यन्तेन अनुवाकशेषेणाभिमन्त्रयते । इति वृषोत्सर्गः ।

अत्र यत् प्रेतकृत्यं तदन्योक्तं लिख्यते । तत्र [6]प्रेतपित्रादिगतनानाविधसमुचितस्वर्गादिफलकामस्य, स्वगतपुण्यातिशयाशोकमोक्षगतिकामस्य वाऽधिकारः । तत्र प्रथमसंवत्सराभ्यन्तरे [7]कृतसपिण्डीकरणस्याकृतसपिण्डीकरणस्य च मातृस्थापनपूजनश्राद्धानि [8]न भवन्ति । [9]सूतकान्तन्द्वितीयमहरेवास्य परं वृषोत्सर्गस्य कालो न कार्त्तिक्यादिः, प्रथमसंवत्सरे काम्यकर्माभ्युदयिकयोरनधिकारात् । कुतः ?

तथैव काम्यं यत्कर्म वत्सरात्प्रथमादृते ।

इति वचनात् । 'सूतकान्ते द्वितीयेऽह्नि' इति तु वचनं 'तथैव काम्यं यत् कर्म' इति वचनं बाधित्वैव प्रवर्त्तते इति अनन्यविषयत्वात् । [10]कार्त्ति-

---

१. 'नान्तेभ्यो नवाहुतीः प्रत्येकं हुत्वा पिष्टचरो पूषा' ख० ग० ।

२. 'नः' इत्यादि 'सनोतु नः' इत्यन्तेन स्वाहाकारयुतेन मन्त्रेण' ख० ग० ।

३. 'ब्रह्मणे दक्षिणां द' ख० ग० ।

४. 'माल्यानुलेपहेमालङ्कारादिभिरलङ्कृतस्य 'एतं युवानम्' इत्यादि 'समिषा मेदम' इत्यन्तया ऋचा' ख० ग० ।

५. 'मध्ये स्थं वृषभं' ख० ग० ।

६. 'समुच्चित' ख० ग० ।

७. 'अकृतसपिण्डीकरणस्य च' नास्ति क० ।

८. 'न' नास्ति क० ।

९. 'एवापरं तस्य वृषोत्सर्गकालो' ख०ग० ।

१०. 'वचनं' नास्ति क० ।

(हरिहर०)

क्यादिवचनं तु [1]संवत्सरोत्तरकालीनकार्त्तिक्यादिषु सङ्कोच्यम्, अन्यथा बाधापेक्षत्वाभ्यां वैषम्यापत्तेः। ततश्च संवत्सरानन्तरं [2]कार्त्तिक्यादौ पित्रादिगतनानाविधतृप्त्यादिकामेन क्रियमाणो वृषोत्सर्गो मातृस्थापन-पूजनश्राद्धपूर्वक एव कर्त्तव्यः। तस्य च [3]कार्त्तिकीचैत्र्याश्वयुजीरेवत्यः कालाः। अथ फलश्रुतिः—

उत्सृष्टो वृषभो यस्मिन्पिबत्यथ जलाशये।
शृङ्गेणोल्लिखते भूमिं यत्र क्वचन दर्पितः॥
[4]पितृणामन्नपानं तत् तत्प्रभृत्युपतिष्ठते।
वृषोत्सर्गादृते नान्यत्पुण्यमस्ति महीतले॥

तथा—

वृषभस्य तु शब्देन पितरः सपितामहाः।
आवर्त्तमाना दृश्यन्ते स्वर्गलोके न संशयः॥
जले प्रक्षिप्य लाङ्गूलं तोयं [5]यद्धरते वृषः।
दशवर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः॥
[6]कूले समुद्धृता यावच्छृङ्गे तिष्ठति मृत्तिका।
भक्ष्यभोज्यमयैः शैलैः पितरस्तेन तर्पिताः॥
गवां मध्ये यदा चैव वृषभः क्रीडते तु यत्।
अप्सरौघसहस्रेण क्रीडन्ति पितरस्ततः॥
लाङ्गूलमुद्यमं यावत्तोयेषु क्रीडते तु सः।
अप्सरोगणसङ्घैश्च क्रीडन्ति पितरः सदा॥
सहस्ररत्नपात्रेण कनकेन यथाविधि।
[7]तृप्तिस्तु या पितृणां वै सा वृषेण समोच्यते॥

एतानि [8]चार्थवादकफलानि समुचितान्येव कामनाविषयः।

अथ वृषस्वरूपं—जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो मुखपुच्छपादेषु सर्व-शुक्लः नीलो लोहितो वा वृषः, तथा—

[9]उन्नतस्कन्धककुद ऋजुलाङ्गूलभूषणः।

---

१. 'कार्त्तिक्यादौ' ख० ग०। २. 'कार्त्तिक्यादिकाले' ख० ग०।
३. 'रेवत्यां कालः' क०।
४. 'पानं तत्प्रभृतिमुपतिष्ठते' क०। ५. 'योद्धारं' क०
६. 'कूलात्' ख० ग०। ७. 'स्यात्' ख० ग०।
८. 'अथर्ववादफलानि समुच्चितानि' ख०ग०। ९. 'कुमुद्मान्' क०।

(हरिहर०)

महाकटितटस्कन्धो वैडूर्यमणिलोचनः ॥
प्रवालगर्भश्रृङ्गाग्रः सुदीर्घऋजुवालधिः ।
नवाष्टदशसङ्ख्यैस्तु तीक्ष्णाग्रैर्दशनः शुभैः ॥
मल्लिकाख्यश्च मोक्तव्यस्तथा वर्णस्तु[1] ताम्रकः ।
कपिलो वृषभः श्रेष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते ॥
श्वेतो रक्तश्च कृष्णश्च गौरः पाटल एव च ॥

तथा—

पृथुकर्णो महास्कन्धः सूक्ष्मरोमा च यो भवेत् ।
रक्ताख्यः कपिलो यश्च रक्तशृङ्गगलो[2] भवेत् ॥
श्वेतोदरः कृष्णपृष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते ।
स्निग्धवर्णेन रक्तेन क्षत्रियस्य[3] प्रशस्यते ॥
काञ्चनाभेन वैश्यस्य कृष्णः शूद्रस्य शस्यते ।
यस्य प्रागायते शृङ्गे स्वमुखाभिमुखे सदा ॥
सर्वेषामेव वर्णानां स[4] च सर्वार्थसाधकः ॥

तथा—

मार्जारपादः कपिलस्तथा कपिलपिङ्गलः ।
श्वेतो मार्जारपादश्च[5] तथा मणिनिभेक्षणः ॥

तथा गौरतित्तिरकृष्णतित्तिरसन्निभौ । तथा आकर्णमूलात् श्वेतं यस्य मुखं स नान्दीमुखः विशेषतो रक्तवर्णः । तथा यस्य जठरं श्वेतवर्णं च पृष्ठं च स[6] समुद्रनामा अतसीवर्णो जघन्यः ।

तथा—

भूमौ कर्षति लाङ्गूलं पुनश्च स्थूलवालधिः ।
पुरस्तादुन्नतो नीलः स श्रेयान् वृषभः स्मृतः ॥

तथा—

[7]रक्तशृङ्गाग्रनयनः श्वेतदन्तोदरस्तथा ।
प्रवालसदृशास्येन वृषो धन्यतरः स्मृतः ॥

---

१. 'वर्णेन' ख० ग० । २. 'गलस्तथा' ख० ग० । ३. 'प्रचक्षते' क० ।
४. 'वै' ख० ग० । ५. 'स्यात्' ख० । ६. 'सः' नास्ति क० ।
७. 'रक्तशृङ्गाग्रनयनः श्वेतदन्तः प्रवालसदृशमुखैर्धन्यतरः एते' क० ।

(हरिहर०)

एते सर्वे धनधान्यविवर्द्धनाः । तथा—

[1]चरणानि मुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः ।
लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत् ॥

तथा—

लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स वृषो नील उच्यते ॥

[2]तथा नीलाधिकारे—

एवं वृषं लक्षणसंप्रयुक्तं गृहोद्भवं क्रीतमथापि राजन् ।
[3]मुक्त्वा न शोचेन्मरणं महात्मा मोक्षे मतिं चाहमतो [4]विधास्ये ॥

तदर्थमेव गाथेयम्—

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

अथ वर्जनीया वृषाः—

कृष्णताल्वोष्ठदशना रूक्षशृङ्गशफाश्च ये ।
अशक्तदन्ता ह्रस्वाश्च व्याघ्रभस्मनिभाश्च ये ॥
ध्वाङ्क्षगृध्रसवर्णाश्च तथा मूषकसन्निभाः ।
कुब्जाः काणाश्च खञ्जाक्षाः केकराक्षास्तथैव च ॥
अत्यन्तश्वेतपादाश्च उद्भ्रान्तनयनास्तथा ।
नैते वृषाः प्रमोक्तव्या गृहे धार्याः कथञ्चन ॥

उपादेयश्च वृषस्त्रिहायनः । तथा वत्सतर्योऽपि त्रिहायन्य एव ।

अथ स्नात आचन्तिः प्रेतपुत्रादिरन्यो वा होता ब्रह्मा च, तत्रान्यपक्षे—'ॐ अद्यामुकमासोयामुकतिथौ पित्रादिगतस्वर्गकामो वृषोत्सर्गमहं करिष्ये' इति प्रतिज्ञाय 'अद्यकर्त्तव्ये वृषोत्सर्गहोमकर्मणि भवान्मया निमन्त्रितः' तथैव 'होमकर्मणि [5]कृताकृतावेक्षकत्वेन मया भवान्निमन्त्रितः' इति

---

१. 'चरणाग्रमुखं' ख० ग० । २. 'तथा' नास्ति क० ।
३. 'मुक्तो' क० ।
४. 'विधास्ये इति गाथाऽपि तदर्थेयम्' ख० ग० ।
५. 'कृतावेक्षकत्वेन' क० ।

(हरिहर०)

वस्त्रचन्दन[1]ताम्बूलादिभिः होतृब्रह्माणौ वृणुयात्। ततः स्वयं [2]गवां गोष्ठे पञ्च भूसंस्कारान् [3]कृत्वाऽग्नेः स्थापनं कुर्यात्। होतृब्रह्मप्रणीतानामा[4]सनदानम्। [5]ब्रह्मोपवेशनादि [6]प्रणीतासु क्षीरोदकप्रणयनम्। उदकमात्रप्रणयनमिति केचित्। आज्यतण्डुलाः पौष्णः पिष्टमयः सिद्ध एव चरुः। होतुर्वस्त्रयुगं सुवर्ण[7]कांस्यादि दक्षिणा [8]च। ब्रह्मणः पूर्णपात्रं वरो वा [9]दक्षिणा। प्रोक्षण्युदकेन पात्रप्रोक्षणम्। पवित्रस्य च प्रणीतासु निधानम्, प्रणीतेन पयसा यथाविधि पायसचरुश्रपणम्। [10]तत [11]उद्वासनादि। उपयमनकुशानादाय तिष्ठन्समिधस्तिस्रस्तूष्णीमग्नौ निक्षिपेत् आज्येन होमः। इहरतिरित्याद्याः षडाहुतयः इदमग्नये इति त्यागः। तत आघारावाज्यभागौ। ततः पायसेन अग्नये रुद्रायेत्यादि। ततः पिष्टचरुः 'पूषा गा' इत्यादि। ततः पायसपिष्टचरुभ्यां स्विष्टकृद्धोमः। ततो [12]भूरित्यादिनवाहुतयः [13]संस्रवप्राशनादिदक्षिणान्ते रुद्राञ्जपित्वा एकस्मिन्पार्श्वे [14]चक्रेणापरस्मिन् शूलेन वृषभमङ्कयित्वा [15]वत्सतरीं वृषं च 'हिरण्यवर्णाम्' इति चतसृभिः 'शन्नो देवीः' इति च स्नापयित्वा लोहघण्टिकानूपुरकनकपट्टादिभिः पञ्चाप्यलङ्कृत्य [16]वृषस्य दक्षिणे कर्णे जपेत्—

वृषो हि भगवान्धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि तमहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वतः॥ इति।

---

१. 'ताम्बूलादिहोतृब्राह्मणैः' क०। २. 'गवां मध्ये गो' ख० ग०।
३. 'कृत्वा आवसस्थाग्नि स्थापयेत्। हो' ख० ग०।
४. 'आसनम्' क। ५. 'ब्रह्माणमुपवेश्य' ख० ग०।
६. 'प्रणीतादि क्षीरो' क०। ७. 'कांस्यानि' क०।
८. 'च' नास्ति क०। ९. 'दक्षिणा' नास्ति क०।
१०. 'ततः' नास्ति ख० ग०।

११. 'उद्वासनादि, प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणान्तमाज्येन इहरतिरित्याद्याः षडाहुतयः। इदमग्नय इति षट् त्यागाः। तत आघारावाज्यभागौ ततः पायसेन अग्नय इत्यादीशानान्तशूलगवदेवताभ्यो होमः। ततः पिष्टचरुणा 'पूषा गा अन्वेतु यः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः स्वाहा' इत्येकाहुतिः पूष्णे। ततः पायसपिष्ट' ख० ग०।

१२. 'भूराद्या' ख० ग०। १३. 'संस्रवप्राशनम्। द' ख० ग०।
१४. 'चक्रेण परस्मिन्' क०। १५. 'वत्सतरी वृषभश्च' क०।
१६. 'वृषभस्य' ख० ग०।

(हरिहर०)

तत उत्सर्गः—'ॐ अद्यामुकमासोयामुकतिथौ० [1]'एतं युवानम्' इत्यादि 'समिषा मदेम' इत्यन्तेन, पारस्करेण 'एतयैवोत्सृजेरन्' इति एवकारेणान्यनिषेधात्। तथा च ऋगर्थः—हे वत्सतर्यो वो युष्माकम् [2]'एतं वृषं युवानं तरुणं पतिं भर्तारं ददामि त्यजामीत्यर्थः। हे वत्सतर्यो यूयमपि न मयोपयोक्तव्याः, किन्तु तथा त्यक्ताः सत्य उपवनेषु अनेन प्रियेण पत्या सह [3]क्रीडन्तीः क्रीडन्त्यः चरथ स्वच्छन्दं भ्रमत चरत तृणानि खादतेति वा, चर गतिभक्षणयोः। नोऽस्माकं गृहेषु साप्तजनुषा सप्तजन्मपर्यन्तम् असुभगा मा चरत। किञ्च युष्मत्प्रसादात् रायस्पोषेन धनुपुष्ट्या इषा अन्नेन च सम्मदेम सम्यक् तृप्येम इत्याशंसा।

तदुक्तम्—

ततः प्रमुदितास्तेन [4]वृषेण च समन्विताः।
वनेषु गावः क्रीडन्ति वृषोत्सर्गः [5]प्रसिद्धिषु॥

ततो वत्सतरीमध्यस्थं मन्त्रयते—'मयोभूः' इत्यनुवाकशेषेण। ततो यवतिलयुतं जलं पित्रादिभ्यः पितृतीर्थेन दद्यादनेन मन्त्रेण—

स्वधा पितृभ्यो मातृभ्यो बन्धुभ्यश्चापि तृप्तये।
मातृपक्षाश्च ये केचित् ये चान्ये पितृपक्षजाः॥
गुरुश्वशुरबन्धूनां ये कुलेषु समुद्भवाः।
ये प्रेतभावमापन्ना ये चान्ये श्राद्धवर्जिताः॥
वृषोत्सर्गेण ते सर्वे लभन्तां तृप्तिमुत्तमाम्।
दद्यादनेन मन्त्रेण तिलाक्षतयुतं जलम्॥
उत्सृष्टान्नोपयुञ्जीत स्वामी वाऽन्योऽपि मानवः॥ इति।

[6]ननु यथा वापीकूपतडागादौ उत्सर्गे कृते परस्मिंश्च स्त्रीकारिते निरिष्टके तज्जलगोचरतया सर्वेषामौपादानिकं स्वत्वं भवति, तथेहापि त्यक्तानां वृषादीनां केनचिदप्यस्वीकृतानां निरिष्टकानामौपादानिकं स्वत्वं कुतो न भवति इति आह—

---

१. 'एनम्' क०। २. 'एनम् युवानं पतिं ददामीत्यर्थः' क०।
३. 'कीडन्तीः क्रीडन्त्यः' नास्ति क०। ४. वृषभेण स' ख०।
५. 'प्रसिद्धः' क०। ६. 'ननु यथा' नास्ति क०।

(हरिहर०)

[1]न चाज्यं न च तत्क्षीरं पातव्यं केनचित्क्वचित् ।
न वाह्योऽसौ वृषश्चैषामृते गोमूत्रगोमये[2] ॥ इति ।

ततश्च यथेष्टविनियोग[3]निषेधात्मके श्लोके न किञ्चिदप्युपादानं कार्यम् । [4]ननु औपादानिकस्वत्वानन्तरं विक्रीय कपर्दिकादानमेवास्त्विति-[5]चेत् । न, 'न वाह्यः' इत्यस्य विनियोगमात्रस्योपलक्षणत्वात्, विक्रयस्यापि यथेष्टविनियोगरूपत्वात् । किन्तु गोपशुविक्रयस्य निषेधश्रुतेः कथं तदर्थमुपादानम् । उल्लङ्घितमर्यादो विक्रयं [6]करोति चेत् तस्योच्छृङ्खलत्वेन हेयत्वात्, शास्त्राण्यनधिकृत्य शास्त्राप्रवृत्तेः; सङ्कल्पविरोधाच्च । तर्ह्यनेन प्रियेण वनेष्वनवच्छिन्नकालं चरथेति सङ्कल्पो न तु परोपेतं गोबलीवर्द्दरूपं [7]मुच्यतामिति सङ्कल्पः । वापीकूपादौ तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनादीनि यथेष्टमिह कुर्वन्त्वि[8]त्येतावानेव सङ्कल्पः । यदपि तु वत्सतरीणामपत्यानि केनचिदुपादाय दोह्यन्ते तदऽस्य[9] न दोषः, तत्पर्यन्तं दोहनवाहननिषेधवाक्यस्यातात्पर्यात् भवेद्वचनमिति न्यायाच्च[10] ।

अथ पायसप्राशनं नाम[11]कर्मान्तरं प्रकरणैक्यात्स्वर्गाद्यन्यतमकामस्याभिधीयते । तत्र कालविशेषानभिधानात् प्रकृतोत्सर्गकाल एव गृह्यते । ततश्च वृषोत्सर्गविहितका[12]र्त्तिक्याद्यन्यतमसमये [13]मातृपूजाभ्युदयिकपूर्वकमावसथ्याग्नौ स्वकीयानां सर्वासां दोग्ध्रीणां गवां पय आदाय [14]तस्मिन्पयसि तण्डुलान्प्रक्षिप्य पायसं श्रपयित्वा त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति यथासम्भवं ब्राह्मणान् भोजयेत् । अथवा शूलगवविधिना छागं पशुं च कुर्यात् इति पायस[15]श्रपणम् । एष वृषोत्सर्गविधिः स्वर्गादिकामस्योपासनाग्नौ साग्नेर्भवति । यः पुनः प्रेतगतस्वर्गादि[16]फलस्य साधनभूतो ब्राह्मणादीनां

१. 'नैवाज्यं' ख० ग० ।
२. 'इति' नास्ति क० ।
३. 'निषेधान्मतिस्तोकत्वे न' ख० ग० ।
४. 'ननु' नास्ति क० ।
५. 'चेत् ननु वाह्य इत्यस्य विनियोगरूपत्वात् । किन्तु' क० ।
६. 'करोत्विति' ख० ग० ।
७. 'मुच्यतामिति । वाप्यादौ तु' ख० ग० ।
८. 'इत्यनेन सङ्कल्पः' क० ।
९. 'अस्य' नास्ति क० ।
१०. 'च' नास्ति क० ।
११. 'कर्मानन्तरम्' क० ।
१२. 'कार्तिकाद्य' क० ।
१३. 'मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वाऽऽवसथ्याग्नौ' ख० ग० ।
१४. 'तत्र पय' ख० ग० ।
१५. 'प्राशनम्' ख० ग० ।
१६. 'फलसाधन' ख० ग० ।

(हरिहर०)

वर्णानामेकादशत्रयोदशषोडशैकत्रिंशतमेष्वस्ति वृषोत्सर्गः स्मृत्यन्तरे विहितः, तत्रापि द्विजातीनां साग्निनिरग्नीनां काण्व[1]माध्यन्दिनशाखानुसारिणां लौकिकाग्निनाऽनेनैव [2]विधानेन कर्तव्यो मातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्धं विना, प्रेतसपिण्डानां प्रथमेऽब्दे काम्याभ्युदयिकयोर्निषेधात् । शूद्रस्य मन्त्रवर्जं क्रियामात्रम् । निरग्नीनां तु स्वर्गादिकामानां कार्त्तिक्याद्यन्यतमकाले लौकिकाग्नौ कर्त्तव्यो भवतीति[3] विशेषः । अत्र केचिदाहुः—

एकादशेऽह्नि संप्राप्ते यस्य नोत्सृज्यते वृषः ।
प्रेतत्वं हि स्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि ॥

इत्यादिस्मृतिवचनात् क्षत्रियवैश्यशूद्रैर[4]प्येकादशाह एव आशौचमध्ये नियतकालीनत्वाद् वृषोत्सर्गः कर्त्तव्य इति । तदयुक्तम, अत्र प्रकरणे [5]एकादशाहद्वादशाहादिशब्दाः आशौचसूतकान्तकालोपलक्षकाः । अन्यथा 'अहन्येकादशे नाम' तथा—

आनन्त्यात्कुलधर्माणामायुषश्च परिक्षयात् ।
अस्थितेश्च शरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते ॥

इत्यादिभिर्वचनैर्नामकरणसपिण्डनादिक्रिया ([6]क्षत्रियादीनामशुद्धावेवापद्येत । न तदिष्यते, 'शुचिना कर्म कर्तव्यम्' इति कर्माधिकारे शुद्धेरपेक्षितत्वात् । सा च शुद्धिः) क्षत्रियादीनां त्रयोदशे षोडशे एकत्रिंशत्तमे दिने भवति । तस्मादेकादशाह इत्यादिशब्दाः सूतकान्तमुपलक्षयन्ति ॥ ९ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

(जयराम०)

इदं कर्मान्तरम्—

सर्वासामिति । यावत्यः स्वीया गावस्तावतीनाम् ॥ ८ ॥

पायसप्राशनं च कुर्वन्ति, तस्य कल्पो व्याख्यातः, शूलगववत्सर्वं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ ९ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

---

१. 'माध्यन्दिनीय' क० ।
२. 'विधिना मातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धरहितः कर्ता भवति । प्रेतसपिण्डानां' क० ।
३. 'इति शेषः' क०
४. 'एकादशेऽन्ह्येव' ख० ग० ।
५. 'एकादशाहादिशब्दाः' ख० ग० ।
६. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

अथ दशमी कण्डिका

अथोदककर्म ॥ १ ॥ अद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोराशौचम् ॥ २ ॥ शौचमेवेतरेषाम् ॥ ३ ॥ एकरात्रं त्रिरात्रं वा ॥ ४ ॥ शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति ॥ ५ ॥ अन्तः सूतके[1] चेदुत्थानादाशौचठ्ं सूतकवत् ॥ ६ ॥ नात्रोदककर्म ॥ ७ ॥ द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात्सर्वेऽनुगच्छेयुः ॥ ८ ॥ यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके ॥ ९ ॥

(सरला)

उदक-कर्म (दाह कर्म)

प्राक्कथनः—सपिण्ड अथवा सजातीय के मरने पर जो अशौच होता है उसकी निवृत्ति पिण्ड दानादि क्रियाओं से होती है। जन्म में सूतक लगता है और मरने पर पातक। इन्हीं की निवृत्ति के लिए उदक कर्म का विधान करते हैं।

हिन्दीः—अब जलदान कर्म को कहते ॥ १ ॥ जो पूरा दो वर्ष का नहीं हुआ है उसके मरने पर माता पिता को ही अशौच[2] होता है ॥ २ ॥ दूसरे सजातीयों को शौच ही (शुद्धि) होता है ॥ ३ ॥ [यह अशौच] एक रात-दिन अथवा तीन रात-दिन का होता है ॥ ४ ॥ [ऐसे मृतक के] शरीर को बिना जलाए ही भूमि में गाड़ देते हैं ॥ ५ ॥ यदि एक जनन सूतक के मध्य में ही दूसरा सूतक आ पड़े तो माता के प्रसवशय्या से उठने तक अशौच होता है। इसी सूतक के समान ही मरण अशौच को भी जानना चाहिए ॥ ६ ॥ इसमें (दो वर्ष से कम के बच्चे की मृत्यु में) उदक कर्म (जलदान)[3] नहीं होता है ॥ ७ ॥ दो वर्ष की अवस्था के बाद और उपनयन से पहले मरने वाले मृतक को सभी [सपिण्ड और सजातीय] लोग श्मशान[4] तक उसके पीछे-पीछे जाँय

---

१. 'चेदोत्था' ख० ग०।

२. द्र० मनु ५।६९ और याज्ञवल्क्य ३।१।

३. द्र० मनु ५।६८ और याज्ञवल्क्य ३।१।

४. "श्मशान तक" कहने से उसका दाहकर्म और उदक कर्म होना चाहिए—यह तात्पर्य है।

(सरला)

॥ ८ ॥ कुछ आचार्यों का यह मत है कि ["अहरहर्नीय मानो०" इस] यम गाथा को[1] गाते हुए और "अपेतो [यजु० ३५-१] इस यम सूक्त को जपते हुए जाना चाहिए ॥ ९ ॥

विशेषः—१. तै० आरण्यक ६।५३।२—यम सूक्त ऋ० १०।१४। तु० याज्ञ० ३।२।

(हरिहर०)

अथोदककर्म । अथ पुरुषसंस्कारकर्मक्रमप्राप्तम् उदककर्म उदकेन जलेन कर्म क्रिया, अञ्जलिदानमित्यर्थः । 'व्याख्यास्यते'[1] इति सूत्रशेषः । उपलक्षणमेतत् । येन आशौचादियमनियमा अपि वक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

अद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोराशौचम् । शौचमेवेतरेषाम् । एकरात्रन्त्रिरात्रं वा । द्वे वर्षे वयो यस्य स द्विवर्षः न द्विवर्षः [2]अद्विवर्षस्तस्मिन् प्रेते प्रकर्षेण इतो गतः प्रेतो मृतः तस्मिन्निमित्ते माता च पिता [3]च मातापितरौ तयोः मातापित्रोः आशौचम् अशुद्धिः वर्णाश्रमे[4]विहितकर्मानुष्ठानसङ्कोचावस्येति यावत् । इतरेषां मातापितृभ्यामन्येषां शौचमेव, नाशुद्धिः । [5]पित्रोः कियन्तं कालम् ? एकरात्रम् एकमहोरात्रम् [6]वा अथवा त्रिरात्रम् । अयं विकल्पः प्रेतस्याकृतकृतचूडत्वेन व्यवस्थितः । इतरेषां सद्यः शौचमिति गृह्यकारस्यैव[7] मतम्, स्मृत्यन्तरे तु [8]तेषामप्याशौचस्य विहितत्वात् 'आदन्तजननात्सद्यः' इत्यादिना । यच्च पुंस उपनयनात्प्राक् स्त्रियाश्च विवाहात्प्राक् वयोवस्थाविशेषेण सद्य एकरात्रत्रिरात्रादिकमाशौचमुक्तं [9]तत् सर्ववर्णसाधारणम्, विशेषावगमस्याशक्यत्वात् ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति । ऊनद्विवर्षस्य प्रेतस्य शरीरं कुणपम् अदग्ध्वा अग्निदाहमकृत्वा निखनन्ति गर्त्ते प्रक्षिपन्ति ॥ ५ ॥

---

१. 'वक्ष्यते' ख० ग० ।   २. 'अद्विवर्षः' नास्ति क० ।

३. 'च पितरौ' क० ।

४. 'विहितः कर्मानुष्ठानसङ्कोचावस्थ इतरेषां' क० ।

५. 'पित्रोः' नास्ति क० ।   ६. 'वा' नास्ति ग० ख० ।

७. 'एव' नास्ति क० ।   ८. 'तेषामथा' ख० ।

९. 'तत् सवर्णं वर्णं' क० ।

(हरिहर०)

अन्तः सूतके चेदोत्थानादाशौचं सूतकवत् । [1]चेद्यदि अन्तर्मध्ये सूतके जनननिमित्ताशौचे उत्थानात् उत्थानं सूतकान्तं यावत् आशौचं जननाशौचान्तरमापतति तदा सूतकवत्[2]। एवं मरणाशौचमध्ये यदा मरणाशौचमेवापतति तदाऽपि पूर्वशेषेणैव उत्तरस्य शुद्धिः । एतच्च सपिण्डविषयम् । मातापित्रोस्तु विशेषः । मातरि पूर्वमृतायां [3]यद्याशौचमध्ये पिता म्रियेत तदा पितृमरण[4]निमित्ताशौचान्ते शुद्धिः । यदा पुनः पितरि मृते [5]माता म्रियेत तदा ([6]पितृमरणनिमित्ताशौचान्तात्) पक्षिण्यन्ते द्वादशप्रहरान्ते शुद्धिः । किञ्च यदि सूतके रात्रिमात्रावशिष्टे सूतकान्तरमापद्येत शावे वा रात्रिमात्रावशिष्टे शावान्तर[7]मापद्येत तदा द्व्यहमधिकं [8]वर्द्धते । यदि पुनर्यामिमात्रावशिष्टे सूतके शावे वा सूतकं शावं वा सजातीयम् आपतति तदा त्र्यहमधिकं [9]वर्द्धते । तथा च स्मृतिः—

मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता ।
न पूर्वशेषाच्छुद्धिः स्यान्मातुः कुर्याच्च [10]पक्षिणीम् ॥
रात्रिशेषे द्व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहात् ॥ इति ।

अन्ये तु इदं सूत्रमन्यथा व्याचक्षते । अन्तःसूतके चेद्यदि बालस्य मरणमापद्यते तदा आ उत्थानात् आशौचम् अशुद्धिः सूतकवद्भवति, न त्वाशौचनिवृत्तिः, [11]बालमरणनिमित्ताशौचस्या[12]ल्पकालीनत्वेन बहुकालीनजननिमित्ताशौचशोधनासमर्थत्वात्; यतः समानजातीयस्य समानकालीनस्यैव पूर्वोत्पन्नस्य अन्तरापतितस्य वा [13]शोधकत्वम् ॥ ६ ॥

नात्रोदककर्म । अत्र ऊनद्विवार्षिके प्रेते उदककर्म उदकाञ्जलिदानं न भवति ॥ ७ ॥

---

१. 'चेद्यदि अन्तः सूतकस्य जननानैमित्ताशौचस्य अन्तर्मध्ये उत्थानात्' ख० ग० ।

२. 'वत् पूर्वसूतकशेषणैवोत्तरस्य शुद्धिरित्यर्थः । एतच्च' ख० ग० ।

३. 'यदि' नास्ति क० ।　　४. 'निमित्तशौचान्तोऽशुद्धिः' क० ।

५. 'माता म्रियेत' नास्ति क० ।　　६. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

७. 'आपद्यते' क० ।　　८. 'वर्त्तत' क० ।

९. 'वर्त्तते' क० ।　　१०. 'पक्षिणी' क० ।

११. 'अन्ये बाल' क० ।　　१२. 'अकालीनत्वेन' क० ।

१३. 'शौचकत्वम्' ख० ग० ।

(हरिहर०)

द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात्सर्वेऽनुगच्छेयुर्यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके । [1]द्वे वर्षे वयो यस्य स द्विवर्षः तत्प्रभृतिस्तदादिर्यः प्रेतस्तम् आ श्मशानात् श्मशानावधि सर्वे सपिण्डा अनुगच्छेयुः [2]पश्चाद्व्रजेयुः । श्मशाननयनविधानाद्दाह उपलक्ष्यते । श्मशानशब्देन हि प्रेतदाहभूमिरुच्यते । तस्माद्दाहमपि कुर्युः, दाहसन्नियोगशिष्टमुदकं च दद्युः । एके आचार्याः यमगाथां यमदैवत्यायामृचि गीतं [3]साम गायन्तः पठन्तः, तथा यमसूक्तं यमदैवत्यानामृचां समुदायं सूक्तशब्दवाच्यं जपन्तोऽनुगच्छेयुरित्याहुः ॥ ८-९ ॥

(जयराम०)

'अथोदककर्म' 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः । उदककर्मग्रहणं चाशौचादियमनियमोपलक्षणार्थम् ॥ १ ॥

अद्विवर्षे ऊनद्विवर्षे प्रेते मृते मातापित्रोरेकरात्रं त्रिरात्रं वा, एतत्तु गृह्यकारमतम् । स्मृत्यन्तरे तु सर्वसपिण्डविषयत्वेनाभिहितम् । तद्यथा—

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥
नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव तु ॥ इति ।

अस्थिसञ्चयनाभावोऽनुवाद एव, नहि खनने तत्सम्भवः । अपिच सञ्चयं वैतानिकस्यैव विहितम् । न त्वन्यस्य, उपदेशातिदेशयोरभावात् । एकरात्रादिविधानमपि अकृतकृतचूलत्वेन व्यवस्थापनीयम्,

नृणामकृतचूलानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूलकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥

इति वचनात् । तथा दन्तजननमप्यवधित्वेनाभिहितम्—

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥

---

१ 'विवर्षः द्विवर्षवयस्कः तत्प्रभृतिः' ख० ग० ।
२. 'पश्चाद्व्रजेयुः' नास्ति क० ।   ३. 'ऋषिगीतम्' क० ।

(जयराम०)

इति वचनात् । एवं च सति प्रागदन्तजननान्नैशिक्यशुद्धिः, ऊर्ध्वं तु त्रिरात्रमपि । अन्यदपि सद्यःशौचमाम्नातम्—

वाले प्रेते च संन्यस्ते सद्यः शौचं विधीयते । इति ।

एतत्प्राङ् नामकरणाद् द्रष्टव्यम्, यतः—

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कार्या नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥

इति नामकरणमवधित्वेनाभिहितम् । अतो नामकरणात्प्राक् सद्यः शौचम् । तत ऊर्ध्वं दन्तजननात्प्राङ् नैशिक्यशुद्धिः । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनयनात्त्रिरात्रम् । अत्र च कृतचूडस्यापि प्रागुपनयनात्त्रिरात्रमेव । तर्हि किमर्थं द्विस्त्रिरात्रग्रहणं कृतचूडस्याद्विवार्षिकस्य चेति ? तत्राह—यदूनद्विवार्षिकस्य त्रिरात्रग्रहणं तदग्निदाहोदकदानयोर्विकल्पेन, ऊर्ध्वं तु नियमेनेति । कुत एतत् ? येनैवं वक्ष्यति—'द्विवर्षप्रभृतिप्रेतमाश्मशानात्सर्वेऽनुगच्छेयुः' इति । एतच्च पुरुषविषयम्, स्त्रीविषयस्यान्यवचनान्तरस्य सद्भावात् । तदाह—

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ इति ।

संस्कारश्चात्र वाग्दानम् । तथा—

अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते । इति,

अप्रौढा चात्राकृतचूडोच्यते । तथा—'अहस्त्वदत्तकन्यासु' इति । एतदुक्तं भवति—अकृतचूडासु स्त्रीषु सद्यः शौचम्, चूडाकरणादूर्ध्वं वाग्दानात्प्रागेकाहः, तत उपरि विवाहात्प्राक् त्रिरात्रमिति । एतच्च वयोवस्थाविशेषेण सर्ववर्णसाधारणमवसेयम् । नचात्र वर्णविशेषोऽवातुं शक्यत इति ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

ऊनद्विवार्षिकस्य शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति इति गृह्यकारणतम् मनुना तु विकल्पेन दाहोऽभिहितः । तेनात्रापि विकल्पोऽवसेय इति । अत्राशौचशब्देन वर्णाश्रमविहितेकर्मानुष्ठानसङ्कोचावस्थोच्यते तत्रापि विशेषो वृत्तस्वाध्यायापेक्षवृत्तिसङ्कोचनिमित्तो व्याख्या स्यत ॥ ५ ॥

अन्तःसूतके सूतकमध्ये चेत्सूतकान्तरमापद्येत तदा उत्थानात् आ पूर्वोत्थानपर्यन्तमशुद्धिः । पूर्वस्यैव सूतकाशौचस्योत्थानेनोत्तरस्यापि शुद्धिरित्यर्थः । आशौचं शावं सूतकवद् द्रष्टव्यम् पूर्वशावशुद्धयोत्तरशावस्यापि शुद्धिरित्यर्थः । तथाऽऽह गौतमः—'तच्चेदन्तः पुनरापतेत्तच्छेषेण शुध्येरन्' इति । तच्छब्देनात्र समानजातीयं गृह्यते सूतकोपनिपाते । नतु विजातीयेऽपि, तच्छब्दोपादानसामर्थ्यात् ।

(जयराम०)

शङ्खश्च—'अथ चेदन्तरा म्रियेत जायेत वा शिष्टैरेव दिनैः शुध्येताहःशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिः' इति । अपरे त्वन्यथा वर्णयन्ति । मरणस्योपक्रान्तत्वात् अन्तः सूतके चेद्बालस्य मरणमापद्येत तदा आसूतकस्योत्थानादाशौचं सूतकवद्भवति । मा भूद्बालत्वात्सद्यः शौचमिति ॥ ६ ॥

अत्र ऊनद्विवर्षे उदककर्म उदकदानं न भवति । उदकदानप्रतिषेधाद्दाहोऽपि निरस्तः, सन्नियोगित्वात् । सन्नियोगो ह्यनयोः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः—

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया ॥ इति ॥ ७ ॥

सर्वे इति सर्वशब्दः सपिण्डविषयः । तेन ते सर्वेऽनुगच्छेयुः । श्मशानग्रहणाद्दाहमपि च कुर्युः ॥ ८ ॥

यमगाथां छन्दोविशेषम् । यमसूक्तं तु प्रसिद्धमेव ॥ ९ ॥

यद्युपेतो भूमिजोषणादि समानमाहिताग्नेरोदकान्तस्य गमनात् ॥ १० ॥ शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत् ॥ ११ ॥ तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम् ॥ १२ ॥ संयुक्तं मैथुनं वोदकं याचेरन्नुदकं करिष्यामह इति ॥ १३ ॥ कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्यशतवर्षे प्रेते ॥ १४ ॥ कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन् ॥ १५ ॥ सर्वे ज्ञातयोऽपोऽभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा ॥ १६ ॥ समानग्रामवासे यावत्सम्बन्धमनुस्मरेयुः ॥ १७ ॥ एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः ॥ १८ ॥ सव्यस्यानामिकयाऽपनोद्यापनः शोशुचदघमिति ॥ १९ ॥ दक्षिणामुखा निमज्जन्ति ॥ २० ॥ प्रेतायोदकꣳ सकृत्प्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्त उदकमिति ॥ २१ ॥

(सरला)

यदि उपनीत हो तो दाह भूमि[1] आदि से लेकर स्नान के लिए जलाशय के समीप जाने तक का सभी कार्य अहिताग्नि के समान ही होगा ॥ १० ॥ यदि इस उपनीत ने [गृह्याग्नि का] आधान किया है तो गृह्याग्नि से ही दाह संस्कार करे ॥ ११ ॥ [अग्निहोत्र रहित] दूसरे को ग्राम की अग्नि से बिना मंत्र के चुप होकर [दाह संस्कार करना चाहिए] ॥ १२ ॥ मृतक के साले आदि सम्बन्धी हों तो उनसे 'हम उदक कर्म करेंगे' इन शब्दों में जलदान करने

---

१. तु० शतपथ १३।८।१।६, कात्या० २१।२४।

(सरला)

की अनुज्ञा माँगते हैं ॥ १३ ॥ यदि मृतक सौ वर्ष का बूढ़ा न हुआ तो "कुरुध्वं मा चैवं पुनः" "करो। फिर ऐसा कभी न करना" यह आज्ञा देनी चाहिए ॥१४॥ और यदि वह सौ वर्ष का हो चुका हो तो "करो" इतना ही कहना चाहिए ॥ १५ ॥ सभी अपने वर्ण के सात पुश्त तक के सपिण्ड और दश पीढ़ी तक के समानोदक भी जल में प्रवेश करें¹ ॥ १६ ॥ एक गांव के रहने वालों में जहाँ तक उनको सम्बन्ध का स्मरण हो [वहाँ तक सभी जल में प्रवेश करें] ॥ १७ ॥ केवल एक वस्त्र (धोती) पहने हुए और यज्ञोपवीत दाएँ कन्धे पर धारण किए हुए ॥ १८ ॥ बाएँ हाथ की अनामिका [दूसरी अंगुलि] से "हमारे पाप को दूर करो" इस मन्त्र से जल को किञ्चित् हटा कर ॥ १९ ॥ दक्षिण की ओर मुँह करके स्नान करते हैं ॥ २० ॥ अञ्जलि के द्वारा प्रेत के लिए एक बार 'हे अमुक ! यह तुम्हारे लिए जल है' इस मन्त्र से जल देते हैं ॥ २१ ॥

विशेष—१ तु० (•याज्ञ० ३.३)

(हरिहर०)

युद्युपेतो भूमिजोषणादि समानमाहिताग्नेरोदकान्तस्य गमनात्। यदि उपेतः उपनीतः प्रेतः स्यात् गृह्योक्तसंस्कारेषु तस्याधिकारात्, वैतानिकस्य च मन्त्रब्राह्मणकल्पसूत्रेषु पृथक् संस्काराम्नानात् तदा भूमिजोषणादिकर्म समं तुल्यम्। केन ? आहिताग्नेः कर्मणा। यथा आहिताग्नेः औपासनिकस्य [1]भवति। किं पर्यन्तम् ? आ [2]उदकान्तस्य उदकसमीपस्य गमनात्। एतदुक्तं भवति—यद्युपनीतः प्रेतो भवति तदा[3]ऽस्याऽऽहिताग्नेर्भूमिजोषणादि उदकाञ्जलिदानपर्यन्तं कर्म यथा[4] भवति तथैव कुर्यात् [5]इति ॥१०॥

शालाग्नि दहन्त्येनमाहितश्चेत्। चेद्यदि असौ प्रेतः आहितः कृतावसथ्याधानः स्यात् तदैनं प्रेतं शालाग्निना औपासनेन दहन्ति पुत्रादयः ॥ ११ ॥

तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम्। तूष्णीं मन्त्रवर्जं ग्रामाग्निना लौकिकेन पावकेन इतरमकृतावसथ्याधानम्, दहन्तीत्यनुषङ्गः ॥ १२ ॥

संयुक्तं मैथुनं वोदकं याचेरन्नुदकं करिष्यामह इति। संयुक्तं केनचित् यौनेन सम्बन्धेन [6]सम्बद्धम् मैथुनः [7]मिथुनस्य एकदेशलक्षणया मैथुनशब्दवाच्याया भार्यायाः भ्राता श्याल इत्यर्थः, 'तं वा, उदकं जलं याचेरन् प्रार्थयेरन्—'उदकं करिष्यामहे' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ १३ ॥

---

१. 'भवति' नास्ति क० ।　२. 'उदकं तस्य' क० । ३. 'अस्य' नास्ति क० ।
४. 'यथा भवति' नास्ति क० । ५. 'इति' नास्ति क० ।
६. 'सम्बन्धः' क० ।　७. 'मिथुनस्य' नास्ति क० ।

(हरिहर०)

कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्यशतवर्षे प्रेते । एवं पृष्ठः संयुक्तः शालो वा प्रतिब्रूयात् । किम् ? 'कुरुध्वं [1]मा चैवं पुनः' । क्व ? अशतवर्षे प्रेते शतवर्षेभ्योऽर्वाक् मृते सति ।। १४ ।।

कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन् । इतरः शतवर्षप्रभृतिः तस्मिन् मृते 'कुरुध्वम्' इत्येव [2]एतावदेव प्रतिब्रूयात्, न 'मा चैवं पुनः' इति ।। १५ ।।

सर्वे ज्ञातयोऽपोऽभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा । ज्ञातयः सपिण्डाः समानोदकाश्च सर्वे एव अपोऽभ्यवयन्ति स्नानार्थं नद्यादेर्जलं प्रविशन्ति । किं यावत् ?—आसप्तमात्पुरुषात् सप्तमं पुरुषमभिव्याप्य यावन्तः सपिण्डाः । दशमाद्वापुरुषात् [3]आदशमाद्दशमम्पुरुषमभिव्याप्य [4]वा यावन्तः समानोदकाश्च तावन्त इत्यर्थः ।। १६ ।।

समानग्रामवासे यावत्सम्बन्धमनुस्मरेयुः । समाने एकस्मिन् ग्रामे वासः अवस्थानं समानग्रामवासः तस्मिन् सति [5]यावत्सम्बन्धं यदवधि सम्बन्धः सापिण्डयम्, समानोदकत्वम् सगोत्रत्वं वा अनुस्मरेयुः अस्मिन्पुरुषे वयं सम्बन्ध्यामहे इति जानीयुः तावन्तः अपोऽभ्यवयन्ति[6] इति सम्बन्धः ।।१७।।

एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः । सव्यस्यानामिकयाऽपनोद्यापनः शोशुचदघमिति । दक्षिणामुखा निमज्जन्ति । कथम् ? इत्य[7]पेक्षायामाह—एकं परिधानीयमेव [8]वस्त्रं येषां ते एकवस्त्राः, [9]तथा प्राचीनावीतिनः प्राचीनावीतं विद्यते येषां ते प्राचीनावीतिनः कृतापसव्या[10]इत्यर्थः । तथाभूताः सन्तः, सव्यस्य वामस्य पाणेः अनामिकया उपकनिष्ठिकया[11]उदकमपनोद्य 'अप नः शोशुचदघम्' इत्येतावता मन्त्रेणापसार्य दक्षिणामुखाः [12]याम्यदिगभिमुखाः निमज्जन्ति युगपत्सकृत्स्नान्ति ।। १८ ।। १९ ।। २०।।

प्रेतायोदकं सकृत्प्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्ते उदकमिति । [13]प्रेताय मृताय

---

१. 'मा चैवं पुनः' नास्ति क० ।

२. 'तावदेव' क० ।

३. 'दशमात्' नास्ति क० ।

४. 'वा' नास्ति क० ।

५. 'सम्बन्धम्' नास्ति क० ।

६. 'इति सम्बन्धः' नास्ति क० ।

७. 'अपेक्षायाम्' नास्ति क० ।

८. 'वस्त्र'' नास्ति क० ।

९. 'तथा' नास्ति क० ।

१०. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

११. 'जलम्' ख० ग० ।

१२. 'याम्यदिगभिमुखाः' नास्ति क० ।

१३. 'प्रेताय उदकाञ्जलिं सकृत् प्रसिञ्चन्ति' क० ।

(हरिहर०)

उदकं जलं सकृदेकवारं प्रसिञ्चन्ति शुद्धायां भूमौ प्रक्षिपन्ति। कथम् ? [1]असौ प्रेत एतत्ते उदकम् इत्यनेन मन्त्रप्रयोगेण ॥ २१ ॥

(जयराम)

यदि उपेतः उपनीतः प्रेतः स्यात्तदा भूमिजोषणादि आ उदकान्तस्य गमनात्सर्वमाहिताग्निविधानेन तुल्यं कार्यम् ॥ १० ॥

शालाग्निना आवसथ्येन एनं प्रेतं दहन्ति, यद्यसौ प्रेत आहितः कृतावसथ्याधानः ॥ ११ ॥

इतरमकृतावसथ्यं ग्रामाग्निना लौकिकेनाग्निना तूष्णीं मन्त्रं विनैव दहन्ति ॥ १२ ॥

संयुक्तः सम्बन्धादिना। मिथुनस्यैकदेशलक्षणया मिथुनशब्दवाच्यायाः पत्न्याः भ्राता श्यालक इत्यर्थः। तं वा उदकम् उदकदानार्थं प्रार्थयेरन् 'उदकं करिष्यामहे' इति मन्त्रेण ॥ १३ ॥

पृष्टप्रतिवचनं 'कुरुध्वं मा चैवं पुनः' इति ॥ १४ ॥

इतरः शतवर्षप्रभृतिकः तस्मिन्प्रेते कुरुध्वमित्येव प्रतिवचनम् ॥ १५ ॥

ज्ञातयः सपिण्डा आसप्तमात्पुरुषात्, समानोदकाश्चादशमात्ते सर्व एव अपोऽभ्यवयन्ति जलं प्रविशन्ति ॥ १६ ॥

समानग्रामे एकत्र वासे यावत्सम्बन्धः स्मर्यते अमुष्मिन् वयं सम्बध्यामह इति तावन्तोऽपोऽभ्यवेयुः ॥ १७ ॥

'अप नः शोशुचदघम्' इत्यघापनोदनमन्त्रः ॥ १८–१९–२० ॥

'असावेतत्ते' इति मन्त्रेण जलाञ्जलिदानम्। असौस्थाने प्रेतनामादेशः ॥२१॥

उत्तीर्णाञ्छुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टांस्तत्रैतानपवदेयुः ॥ २२ ॥ अनवेक्षमाणा[2] ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः ॥ २३ ॥ निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति ॥ २४ ॥ त्रिरात्रं ब्रह्म-

---

१: 'असौ अमुकप्रेत' ख० ग०
२. 'अनपेक्षमाणाः' क०।

चारिणोऽधःशायिनो न किञ्चन कर्म कुर्युर्न प्रकुर्वीन्र ॥ २५ ॥ क्रीत्वा लब्ध्वा वा[1] दिवैवान्नमश्नीयुरमाꣳसम् ॥ २६ ॥ प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम् ॥ २७ ॥ मृन्मये ताꣳ रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः प्रेतात्र स्नाहीति ॥ २८ ॥

(सरला)

जल से बाहर निकल कर[2] हरी घास वाले शुद्ध स्थान पर बैठें और वहाँ पर मृतक के पुत्र पौत्रादिकों के लिए दूसरे सुहृद उस (मृतक के) गुण का कथन करें [या दूसरी कथाओं से उनके शोक को दूर करें] ॥ २२ ॥ [फिर सभी] पीछे [मुड़कर] न देखते हुए[3] छोटों को आगे लिए हुए कतार बांध कर गाँव लौट आते हैं ॥ २३ ॥ मृतक के घर के प्रवेश द्वार पर नीम की पत्तियों को दाँतों से चबाकर आचमन करके [अर्थात् मुँह धोकर) जल, अग्नि, गोबर, सफेद सरसों और तिल के तेल को स्पर्श करके पत्थर के ऊपर से चलकर घर में प्रवेश करते हैं[4] ॥ २४ ॥ मृतक को जलाने वाला व्यक्ति तीन दिन तक ब्रह्मचारी रहे, नीचे भूमि पर सोए [और घर का] कोई काम न करे और न तो दूसरे से करवाए[5] ॥ २५ ॥ अवनेजन प्रत्यवनेजन [जल छिड़कना, पिण्ड देना और फिर जल छिड़कना] के जलदान में मृतक का नाम लेकर मृतक के लिए पिण्ड देकर मांस रहित खरीद कर या किसी से पा कर अन्न को केवल दिन में ही खाना चाहिए ॥ २६[6], २७[7] ॥ [जिस दिन दाह कर्म किया हो] उस रात को किसी मिट्टी के वर्तन में दूध और पानी डालकर आकाश के [वृक्षादि किसी ऊँचे स्थान पर टांगकर] "हे मृतक इसमें स्नान करो" इस वाक्य से रखना चाहिए [इस प्रकार यह केवल एक ही दिन का कार्य है] ॥ २८ ॥

---

१. 'दिवान्नम्' क० ।
२. द्र० याज्ञ० ३।७।
३. द्र० याज्ञ० ३।१२।
४. द्र० याज्ञ० ३।१२–१३।
५. द्र० याज्ञ० ३।१६ मनु० ५।७३ वसिष्ठ ४।१५।
६. द्र० याज्ञ० ३।१६ मनु० ५।७३
७. द्र० का० श्रौ० सू० ४१।१०।११

(जयराम०)

पृष्ठ ३१० का शेषांस

अथ वृषोत्सर्गः कर्मविशेषः, 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

व्याख्यात इति पायसेन शूलगवदेवताहोमः कथितः ॥ २ ॥

स च कार्तिक्यामाश्वयुज्यां वा पौर्णमास्यां भवति। रेवत्यामिति तद्विशेषणं फलातिशयार्थम् ॥ ३ ॥

आज्यं संस्कृत्येतिग्रहणमाघारहोमादपि प्रागाज्याहुतयः स्युरिति। तत आघारावाज्यभागौ हुत्वा पायसेन शूलगवदेवताहोमः ॥ ४ ॥

ततः 'पूषा गाः' इत्येकाऽऽहुतिः पिष्टचरोः, संख्याऽनुपदेशात्। स च श्रपणानुपदेशात्सिद्ध एवासाद्यते। अथ मन्त्रार्थः—तत्र परमेष्ठी गायत्री पूषा पिष्टहोमे०। पूषा सूर्यो नोऽस्माकं गाः धेनूरिन्द्रियाणि च अन्वेतु अनुगृह्णातु। अर्वतः अश्वान् वा रक्षतु। वाजमन्नं सनोतु ददातु। पूषाशब्दावृत्तिरादरार्था ॥ ५ ॥

ततः पायसपौष्णाभ्यां स्विष्टकृते हुत्वा प्राशनान्ते रुद्रान् रुद्रमन्त्रान् जपित्वा यो वा महत्त्वेन यूथाच्छादकः तेनैव वा लघुत्वेन छाद्यते। रोहितः लोहित एव स्याद्वा। यथोक्तो वेति विकल्पः। सर्वाङ्गैरुपेत इत्यन्यूनाधिकाङ्ग इत्यर्थः। जीववत्सायाः पुत्र इत्यादिगुणो यः स्यात्तमलङ्कृत्य स्रगादिभिः, यूथे प्रधानाश्चतस्रो वत्सतरीश्चालङ्कृत्योत्सृजेत् 'एतम्' इति मन्त्रेण। तस्यार्थः। तत्र प्रजापतिस्त्रिष्टुप् गाव उत्सर्गे०। भो वत्सतर्यः एतं वृषं पतिं भर्तारं वो युष्मभ्यं ददामि। तेनानेन प्रियेण सह क्रीडन्त्यो यूयं चरथ चरत स्वच्छन्दं विहरतेति यावत्, तृणानि खादतेति वा। नोऽस्माकं स्थाने साप्तजनुषा सप्तजन्मसम्बद्धेन पत्या सह असुभगा मा 'भवत' इति शेषः। वयमपि युष्मत्प्रसादाद्रायस्पोषेण धनादिपुष्ट्या सम्यग्भवेन इषा अन्नेन च मदेम तृप्याम। एतया ऋचा वत्सं वत्सतरीश्चोत्सृजेत् ॥ ६ ॥

मध्यस्थं वत्सतरीमध्यस्थम् ॥ ७ ॥

(हरिहर०)

उत्तीर्णान् शुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टां[१]स्तत्रैतानपवदेयुः। उत्तीर्णान् जलाद्बहिर्निर्गतान शुचौ देशे मूत्रपुरीषभस्मतुषा[२]ङ्गारास्थ्याद्यशुचिद्रव्यरहिते देशे भूभागे। पुनः कीदृशे? शाड्वलं [३]हरिततृणम् अस्ति यस्मिन्निति शाड्वलवान् तस्मिन् शाड्वलवति उपविष्टान् आसीनान् [४]तत्र तदा अन्ये

१. 'तत्रैव सान्' क०। २. 'अङ्गाराख्याद्यशुचि' ख० ग०।
३. 'तृणं तदस्मिन्नस्तीति' क०। ४. 'तत्र तदा' नास्ति क०।

(हरिहर०)

लोकयात्रिकाः सुहृदः एतान् [1]प्रेतस्य पुत्रादीन् अपवदेयुः [2]प्रेतगुणानुकथनै-नैतिहासपुराणादिविचित्रकथाभिः संसारासारताख्यापनेन तान् शोकरहितान् कुर्युः ॥ २२ ॥

अन[3]वेक्षमाणा ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः । [3]अनवेक्षमाणाः पश्चादनवलोकयन्तः रीतीभूताः श्रेणीभूताः पङ्क्तीभूताः कनिष्ठपूर्वाः, कनिष्ठो लघीयान् पूर्वः अग्रिमो येषां ते कनिष्ठपूर्वाः, स्वस्वकनिष्ठानुसारिण इत्यर्थः । ग्रामम् आयान्ति आगच्छन्ति ॥ २३ ॥

निवेशनद्वार पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति । निवेशनस्य[4] प्रेतपतिकस्य गृहस्य द्वारे पिचुमन्दस्य निम्बस्य पत्राणि [5]छदान् विदश्य दन्तैरवखण्डच आचम्य[6] स्मार्त्तमाचमनं विधाय उदकं जलम् अग्निं द्वारि धृतं तथा गोमयमार्द्रं सर्षपान् गौरान् तैलं तिलसम्भवम् एतानि प्रत्येकमालभ्य स्पृष्ट्वा अश्मानं प्रस्तरमाक्रम्य पादेनालम्ब्य प्रविशन्ति गृहम् ॥ २४ ॥

त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणोऽधः शायिनो न किञ्चन कर्म कुर्युर्न प्रकुर्वीरन् । त्रीण्यहोरात्राणि यावद्ब्रह्मचारिणः अकृतस्त्रीप्रसङ्गाः अधः खट्वाव्यतिरेकेण शेरत इत्येवंशीलाः अधःशायिनः किञ्चन किमपि कर्म गृहव्यापारादि लौकिकं [7]स्वयं न कुर्युः, न प्रकुर्वीरन् [8]अन्यैरपि न कारयेयुः अन्तर्भूतोऽत्र णिच् ज्ञेयः ॥ २५ ॥

क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवान्नमश्नीयुरमांसम् । प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम् । क्रीत्वा मूल्येनान्नं गृहीत्वा लब्ध्वा वा अयाचितमन्यतः प्राप्य [9]दिवैव दिवसे एव न रात्रौ अश्नीयुः भुञ्जीरन् [10]मांसवर्जम् । किं कृत्वा ? प्रेताय पिण्डम् आयवपूरकं दत्त्वा । कथम् ? नामग्राहं प्रेतस्य नाम गृहीत्वा । [11]केषु ? अवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु अवनेजनं च

---

१. 'प्रेतपुत्रादीन्' क० ।
२. 'प्रेतस्य गु' क० ।
३. 'अनपेक्ष' क० ।
४. 'नस्य गृह्यपतिविहितगृहस्य' क० ।
५. छदनानि' क० ।
६. 'स्मार्ताचमनम्' ख० ग० ।
७. 'स्वयम्' नास्ति क० ।
८. 'अपि' नास्ति क० ।
९. 'दिवा दिवसे न' क० ।
१०. मांसवर्जितम्' ख० ग० ।
११. 'कुत्र' ख० ग० ।

(हरिहर०)

दानं च प्रत्यवनेजनं च अवनेजनदानप्रत्यवनेजनानि तेषु त्रिरात्रमयं धर्मः[1] ॥ २६ ॥ २७ ॥

मृन्मये ताᳬं रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः—प्रेताऽत्र स्नाहीति। मृन्मये शरावादौ पात्रे कृत्वा तां यस्मिन् दिने [2]प्रेतोऽभूत्तत्सम्बन्धिनीं रात्रीं क्षीरं च उदकं च क्षीरोदके दुग्धपानीये [3]पात्रैकवचनसामर्थ्यादेकीकृते विहायसि आकाशे निदध्युः स्थापयेयुः। [4]कथम् ? 'प्रेतात्र[5] स्नाहि' इत्यनेन मन्त्रेण। विज्ञानेश्वराचार्यस्तु[6] द्रव्यद्वयनिधानसामर्थ्याद् द्वयोः पात्रयोर्भेदेन निधानं मन्यते[7]। मन्त्रं चोहति 'प्रेतात्र स्नाहि [8]पिब चेदम्' इति ॥ २८ ॥

(जयराम०)

उदकादुत्तीर्णान् सतः शाड्वलं हरिततृणं तद्वति प्रदेशे उपविष्टानपरे लौकयात्रिका अपवदेयुः प्रेतगुणानुख्यापनेन तच्छोकमपाकुर्युः ॥ २२ ॥

अनवेक्षमाणाः पश्चादनवलोकयन्तः। रीतीभूताः पङ्क्तिव्यवस्थाः कनिष्ठमग्रतः कृत्वा ग्राममागच्छन्ति ॥ २३ ॥

निवेशनं गृहं तस्य द्वारि पिचुमन्दस्य निम्बस्य पत्राणि विदश्य दन्तैः खण्डयित्वाऽऽचम्यादकादीन्यालभ्याश्मानमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति ॥ २४ ॥

त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणो भवन्ति। अधः आस्तृतभूशायिनश्च। नच किञ्चित्कर्म स्वयं कुर्वन्ति, नचान्यान्प्रकुर्वन्ति कारयन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

दिवाग्रहणं [8]रात्रिप्रतिषेधार्थम् ॥ २६ ॥

पिण्डदानं चावनेजनदानप्रत्यवेनजनेषु नाम गृहीत्वेत्यर्थः ॥ भोजनं च पिण्डदानसमनन्तरम् ॥ २७ ॥

मृन्मये पात्रे तामेकां रात्रिं क्षीरोदके व्यवहिते निधाय तत्पात्रमाकाशे स्थापयेयुः—'प्रेतात्र स्नाहि' इत्येतावता मन्त्रेण ॥ २८ ॥

त्रिरात्रꣳ शावमाशौचम् ॥ २९ ॥ दशरात्रमित्येके ॥ ३० ॥ न स्वाध्यायमधीयीरन् ॥३१॥ नित्यानि निवर्त्तेरन्वैतानवर्ज्जम् ॥३२॥ शालाग्नौ चैके ॥ ३३ ॥ अन्य एतानि कुर्युः ॥ ३४ ॥

---

१. 'धर्मः' नास्ति क० ।

२. 'सम्बन्धिनं रात्रिक्षीरं च उदकं च रात्रिक्षीरोदके' क० ।

३. 'पात्रैकसामर्थ्यात्' क० ।

४. 'कथम्' नास्ति क० ।

५. 'त्रिरात्रप्र' ख० ग० ।

६. 'आचार्यास्तु' ख० ग० ।

७. मन्यन्ते' ख० ग० ।

८. 'पिबस्वेदम्' क० ।

(सरला)

अब सूतक का काल निर्णय करते हैं:—

तीन [दिन और] रात तक मृतक सम्बन्धी अशौच होता है ॥ २९ ॥ कुछ आचार्यों के मत में मृतक सम्बन्धी अशौच दस दिन रात तक होता है ॥ ३० ॥ [जन्म या मृतक किसी भी अशौच के दिनों में] अपने वेद का पाठ उसे नहीं करना चाहिए ॥ ३१ ॥ अग्निहोत्र को छोड़ कर सन्ध्योपासनादिक नित्य कर्मों से निवृत्त रहना चाहिए [अर्थात् सन्ध्या आदि नहीं करना चाहिए] ॥ ३२ ॥ कुछ आचार्यों के मतानुसार अग्निहोत्र से भी निवृत्त रहना चाहिए ॥ ३३ ॥ दूसरे लोग इनके लिए ये कार्य करें ॥ ३४ ॥

(हरिहर०)

त्रिरात्रं शावमाशौचम् । दशरात्रमित्येके । एवं [1]प्रेतस्य पुत्रादीनां मरणदिनकृत्यमभिधायाशौचकालनिर्णयार्थमाह—त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० सू० २–३–५) इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया । तेन सन्ततमाशौचमशुचित्वम् । एके आचार्याः मन्वादयः उपनयनप्रभृति[2] दशाहं दशाहोरात्राणि मन्यन्ते । अत्र प्रकरणे अहःशब्दो रात्रिशब्दश्च अहोरात्रोपलक्षकः[3] । एके त्रिरात्रम्, एके [4]दशरात्रमेतच्च व्यवस्थितं वृत्तिस्वाध्यायापेक्षया । यथाह—

एकाहाच्छुद्धयते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
त्र्यहात् केवलवेदस्तु, निर्गुणो दशभिर्दिनैः ॥ इति ।

एतदपि वृत्तिसङ्कोचे व्यवस्थापकम् । तद्यथा—यदा त्र्यहैकोऽश्वस्तनिको वा स्वाध्यायाग्निसम्पन्नो भवति तदा तस्य वृत्तिसम्पादनाय सद्यः शौचं भवति । यदा तु कुशूलकुम्भीधान्यः[5] केवलस्वाध्यायसम्पन्नश्च तदा त्रिरात्रम् । यदा [6]पुनर्दशरात्रकुटुम्बवृत्तिपर्याप्तातिरिक्तधान्यो [7]वृत्तस्वाध्यायवांश्च तदा दशरात्रम् । वृत्तस्वाध्यायरहितम् वृत्तिहीनस्यापि सर्वदा दशरात्रमेव[8] । अयं च वृत्तिसङ्कोचात् वृत्तस्वाध्यायापेक्षया य आशौचकालसङ्कोचः स वृत्तिसम्पादनविषय एव न पुनः कर्मान्तराधिकारसम्पादनपरः । तेन यस्याशौचिनो या[9] आपद्भवति तदपाकरणार्थम् । वृत्त-

१. 'प्रेतस्य मरणदिने पुत्रादीनां कृत्यम् अभिधा' ख० ग० ।
२. 'दशाहे अत्र' क० ।
३. 'लक्षणपरः' ख० ग० ।
४. 'रात्रं तत् च' क० ।
५. 'धान्यस्तु के' क० ।
६. 'पुनः' नास्ति क० ।
७. 'वृत्तस्य स्वाध्या' क० ।
८. 'रात्रम् । अयं वृत्ति' क० ।
९. 'या' नास्ति क० ।

(हरिहर०)

स्वाध्यायसम्पन्नस्य च आशौचसङ्कोचो नेतरेषाम् । जननाशौचेऽप्येवम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

न स्वाध्यायमधीयीरन् । स्वाध्यायं वेदं नाधीयीरन् न पठेयुः । न चाध्यापयेयुः, येषां यावदाशौचम् ॥ ३१ ॥

नित्यानि निवर्त्तेरन्वैतानवर्जम् । नित्यान्यावश्यकानि सन्ध्यावन्दनादीनि निवर्त्तेरन् अनधिकारान्न प्रवर्त्तन्ते । कथम् ? वैतानवर्जं गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां विस्तारस्तत्र साध्यम् अग्निहोत्रादि कर्म तद्वैतानं तद्वर्जयित्वाऽन्यन्निवर्त्तेत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

शालाग्नौ [1]चैके । अन्य एतानि कुर्युः । शालाग्निरावसथ्याग्निः[2] तत्र शालाग्नौ साध्यानि सायंप्रातर्होमस्थालीपाकादीनि तानि[3] वर्जयित्वा नित्यानि निवर्त्तेरन्नित्येके आचार्याः मन्यन्ते । तस्मिन्पक्षे न स्वयं कुर्युः, किन्त्वन्येन कारयेयुः । गृह्यकारपक्षे न कुर्यान्न च कारयेत् । यथाह कात्यायनः—

सूतके मृतके चैव स्मार्त्तं कर्म निवर्त्तते ।
पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ॥
वैतानिकं स्वयं कुर्यात्तत्त्यागो न प्रशस्यते ॥

तथा—

स्मार्त्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके ।
श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

इति स्मरणात् । राहुदर्शने तु–'राहोरन्यत्र सूतके' [4]इति वचनात् यावद् राहुदर्शनं तावद्राहुदर्शननिमित्तकं स्नानतर्पणदेवार्चनजपहोमदानादि[5] स्मार्त्तं कर्म कुर्यात् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

(जयराम०)

त्रिरात्रमित्यादावेकरात्रमपीच्छन्ति एके,

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च ॥

इति स्मृतेः । एतच्चोपनयनप्रभृति द्रष्टव्यम् , वयोवस्थाविशेषेण हि पूर्वमभिहितम् । व्यवस्थया च विकल्पोऽयं वृत्तस्वाध्यायापेक्षः । वृत्तनिमित्तानि चाध्ययन-

---

१. 'वैके' क० । २. 'अग्निः' नास्ति क० । ३. 'तानि' नास्ति क० ।
४. 'इति' नास्ति क० । ५. 'दानं कु' क० ।

(जयराम)

तदर्थज्ञानानुष्ठानानि । तत्रैकगुणसंयोगेऽर्वाक् सञ्चयनाद्दशाहमाशौचम् । गुणद्वययोगे द्व्यहम् । गुणत्रययोगे एकाहमिति । अपरे त्वेकीयशब्दात्सद्यः शौचमिच्छन्ति । यदा गुणत्रययोगो भवति वृत्तिसङ्कोचश्च त्र्याहिक ऐकाहिको वा भवति तदा सद्यः शौचमिति स्मृत्यन्तरम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

येषां यावदाशौचं ते तावत्स्वाध्यायं वेदं न पठेयुः, न च पाठयेयुः । एते चाशौचविकल्पाः प्रातिस्विकाः, न तु सूतकाशौचवत्सर्वेषां सहेति । तत्र हि—

जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥

इत्यनेन दशाहस्यातिदेशो न चतुरहत्र्यहैकाहानाम् । कुत एतत् ? सञ्चयनकल्पेन व्यवधानात् । अपिच, सर्वकल्पातिदेशे मातुरप्येकाहेन शुद्धिः प्राप्नोति । तच्च नेष्यते, येन—

बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ।

इति पितुस्त्र्यहेण शुद्धिर्मातुश्चैकाहेनेति विरोधः । कथम् ?

रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते । इति ।

तस्मादपि दशाहस्यैवातिदेशः । शावं वाऽनपेक्ष्यैवमेव स्यादिति व्याख्येयम् । एवं च सति 'जननेऽप्येवमेव स्यात्' इति सपिण्डानां दशाहम् । 'मातापित्रोश्च सूतकम्' इति तयोश्च दशाहम् । 'सूतकं मातुरेव स्यात्' इति मातुश्च दशाहम् । अत्र पक्षत्रयेऽपि व्यवस्था युक्तरूपा भवति । तामाह—सपिण्डानां निर्गुणत्वे दशाहम्, वृत्तवत्त्वेऽपि पित्रोश्च दशाहम्, पितुरप्यतिवृत्तवत्त्वे मातुरेव दशाहं भवतीति । अस्मिंश्च पक्षे—

बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ।

इति पितुस्त्र्यहनियम इति व्यवस्था न्याय्या । शावाशौचेऽपि दशाहादीनां व्यवस्था च न्याय्येति । यत्पुनरुक्तम् 'उपस्पृश्य पिता शुचिः' इति, तदग्निहोत्रार्थं न तु व्यवहारार्थम् । तेन सूतकाशौचे पक्षत्रयस्याश्रवणात्तत्र नैवं व्यवस्था युक्तेति । शावे पुनर्वृत्ताद्यपेक्षया प्रातिस्विकैव शुद्धिरिति ॥ ३१ ॥

नित्यानि स्मार्तानि कर्माणि निवर्त्तेरन् । वैतानान्यग्निहोत्रादीनि वर्जयित्वा ॥ ३२ ॥

एके आचार्याः शालाग्नौ कर्मनिवृत्तिमिच्छन्ति, एके नेति विकल्पः ॥ ३३ ॥

यदा चानिवृत्तिस्तदाऽन्य एतानि कुर्युर्न स्वयम् ॥ ३४ ॥

प्रेतस्पर्शिनो ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् ॥ ३५ ॥ रात्रौ चेदादित्यस्य ॥ ३६ ॥ प्रवेशनादि समानमितरैः ॥ ३७ ॥

(सरला)

मृतक को स्पर्श करने वाला जब तक तारे न दिखाई पड़ जायें गाँव में प्रवेश न करें ॥ ३५ ॥ और यदि रात में दाह कर्म किया हो तो सूर्य के (उदय से पहले गाँव में न जाय)[1] ॥ ३६ ॥ ग्राम में प्रवेश और अग्नि स्पर्श आदि कर्म दूसरों के ही समान होता है ॥ ३७ ॥

(हरिहर०)

प्रेतस्पर्शिनो ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् । प्रेतस्पर्शो विद्यते येषान्ते प्रेतस्पर्शिनः सपिण्डाः ग्रामं न प्रविशेयुः [2]न गच्छेयुः । किं यावत् ? आनक्षत्रदर्शनात् नक्षत्राणां दर्शनं नक्षत्रदर्शनं तस्मात् आ अवधेः ॥ ३५ ॥

रात्रौ चेदादित्यस्य । चेद्यदि रात्रौ निशि प्रेतस्पर्शः तदा आदित्यस्य सूर्यस्य दर्शनात्प्राक् 'न प्रविशेयुः' इत्यनुषङ्गः ॥ ३६ ॥

प्रवेशनादि समानमितरैः । प्रवेशनमादौ यस्य निम्बपत्रादिदशनस्य[3] तत्प्रवेशनादि कर्म इतरैरसपिण्डैः समानं तुल्यं कार्यम् ।[4] अयम् असपिण्डानां नियमः । ([5]यतोऽसपिण्डानामेव—)

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।
इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥

इति याज्ञवल्क्योक्तरिच्छतां विकल्पः । संयमः प्राणायामः ॥ ३७ ॥

(जयराम०)

प्रेतस्पर्शिनः सपिण्डा ग्रामं न प्रविशेयुर्नक्षत्रदर्शनादर्वाक् दिवामरणे ॥ ३५ ॥
रात्रौ चेत्प्रेतः स्यात्तदाऽऽदित्यस्य दर्शनादर्वाक् न प्रविशेयुः ॥ ३६ ॥
इतरैरसपिण्डैस्तुल्यं प्रवेशनादि भवति ॥ ३७ ॥

पक्षं द्वौ वाऽऽशौचम् ॥ ३८ ॥ आचार्ये चैवम् ॥ ३९ ॥ मातामहयोश्च ॥ ४० ॥ स्त्रीणां चाप्रत्तानाम् ॥ ४१ ॥

(सरला)

पन्द्रह दिन या दो पक्ष अर्थात् तीस दिन का भी अशौच होता है ॥ ३८ ॥ आचार्य के मरने पर भी और नाना-नानी के मरने पर भी यही रीति-रिवाज किए जाते हैं ॥ ३९, ४० ॥ अविवाहित कन्याओं का [भी इसी प्रकार दो वर्ष

---

१. तु० याज्ञ० ३।१४ । २. 'नागच्छेयुः' क० ।
३. 'दंशनस्य' क० । ४. 'कार्यम्' नास्ति क० । ५. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

(सरला)

की आयु से पूर्व मृतक हो तो गाड़ना, उससे ज्यादा आयु वाला हो तो दाह करना और जलदान आदि कर्म करना चाहिए] ॥ ४१ ॥

(हरिहर०)

एवं ब्राह्मणस्य आशौचमभिधायाधुना इतरवर्णानामाशौचकालनिर्णयार्थमाह—पक्षं द्वौ वाऽऽशौचम् । पक्षं पञ्चदशाहोरात्राणि वैश्यस्याशौचं भवति । द्वौ पक्षौ त्रिंशदहोरात्राणि शूद्रस्य । वाशब्दात् द्वादशाहोरात्राणि क्षत्रियस्याशौचम्,[1] तथा च स्मृत्यन्तरे—

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ इति ॥ ३८ ॥

आचार्ये चैवम् । मातामह्योश्च । आचार्ये उपनयनपूर्वकं वेदाध्यापके च इदमुदकदानादि कर्त्तव्यम् । मातामही च मातामहश्च मातामहौतयोः । द्विवचनं मातामह्यपेक्षया । [2]चकारादेवमेवोदकदानादि सर्वङ्कर्तव्यम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥

स्त्रीणां चाप्रत्तानाम् । अप्रत्तानामपरिणीतानां स्त्रीणां कन्यानाम् । चकारात् एषैव निखननदहनोदकदानप्रभृतीतिकर्त्तव्यता । आशौचेऽपि विशेषो गृह्यकारमते नास्ति, अनभिधानात् । स्मृत्यन्तरे तु पुनर्दृश्यते—'अहस्त्वदत्तकन्यासु' इति । एतच्चूडाकरणानन्तरं दानात्प्राक् । कुतः ?

स्त्रीणां चूडात्तथा दानात्संस्कारादप्यधः क्रमात् ।
सद्यः शौचमथैकाहस्त्र्यहः स्यात् पितृबन्धुषु ॥

इति स्मृतेः । तस्मादपरिणीतानां स्त्रीणां चूडाकरणात्प्राक् सद्यः शौचम्, चूडाकरणात् उपरि दानात् प्राक् एकाहम्, तत उपरि विवाहात्प्राक् त्र्यहमिति निर्णयः ॥ ४१ ॥

(जयराम०)

पक्षं द्वौ पक्षौ वेति प्रेतस्पर्शिनामाशौचमिति केचित् । तन्न, नहि प्रेतस्पर्शनमात्रेणैवेयन्तं कालमाशौचस्य युक्तत्वम् । तस्माद्वर्णान्तरविषयमेवैतत् पक्षं वैश्यस्य, द्वौ पक्षौ शूद्रस्य, वाशब्दात् द्वादशान्यहानि क्षत्रियस्य,

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥

---

१. 'आशौचम्' नास्ति क० । २. 'चशब्दादेवमेवेति । स्त्रीणां' क० ।

(जयराम०)

इति वचनात् ॥ ३८ ॥

आचार्ये च प्रेते एवमेवोदकदानादि कर्म भवति ॥ ३९ ॥

मातामहीमातामहयोश्च चकारादेवमेव ॥ ४० ॥

स्त्रीणां चादत्तानामेवमेवेतिकर्तव्यता भवति ॥ ४१ ॥

प्रत्तानामितरे कुर्वीरन् ॥ ४२ ॥ ताश्च तेषाम् ॥ ४३ ॥ प्रोषितश्चेत्प्रेयाच्छ्रवणप्रभृति कृतोदकाः कालशेषमासीरन् ॥ ४४ ॥ अतीतश्चेदेकरात्रं त्रिरात्रं वा ॥ ४५ ॥

(सरला).

विवाहित स्त्रियों का कर्म पति या देवर आदि दूसरे लोगों को करना चाहिए[1] ॥ ४२ ॥ और वह (स्त्री) उनका (उदक कर्म करें) ॥ ४३ ॥ यदि परदेश जाकर कोई मर जाय तो जिस दिन से मरने का समाचार सुने उस दिन से जितने दिन तक सूतक का समय बचा हो उतने ही दिन तक उदक कर्म करते हुए अशौच धर्म से ही व्यवहार करें[2] ॥ ४४ ॥ यदि अशौच का दिन बीत गया हो तो एक रात-दिन का अथवा तीन रात-दिन [का अशौच होता है] ॥ ४५ ॥

(हरिहर०)

प्रत्तानामितरे कुर्वीरन् । ताश्च तेषाम् । प्रत्तानां परिणीतानां स्त्रीणामितरे भर्त्रादयो दाहादि कर्म कुर्युः, न पित्रादयः । ताश्च प्रत्ताः स्त्रियस्तेषां भर्त्रादीनां यथाधिकारमुदकदानादि कर्म कुर्युः । पित्रादीनामत्र विशेषः—

दत्ता नारी पितुर्गेहे सूयते म्रियतेऽपि वा ।
तद्बन्धुवर्गस्त्वेकेन शुध्यते जनकस्त्रिभिः ॥

इति वचनात् प्रत्तानामपि पितुर्बन्धूनां चाशौचापत्तिमात्रम् ॥४२।४३॥

प्रोषितश्चेत्प्रेयाच्छ्रवणप्रभृति कृतोदकाः कालशेषमासीरन् । प्रोषितः प्रवासं गतश्चेद्यदि प्रेयात् [3]म्रियेत तदा पुत्रादयस्तन्मरणश्रवणकालमारभ्य कृतं दत्तं स्नानपूर्वकमुक्तविधिना उदकं यैस्ते कृतोदकाः कालशेषम् आशौचसमयशेषम् आसीरन् आशौचधर्मेण वर्त्तेरन्नित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अतीतश्चेदेकरात्रं त्रिरात्रं वा । चेद्यदि आशौचकालोऽतीतः[4] ततः प्रोषित-

---

१. तु० वसिष्ठ ४।१९ ।

२. तु० याज्ञ० ३।२१। मनु० ५।७५। गौतम० १४।३७। वसिष्ठ ४।१४ ।

३. 'म्रियते' क० । ४. 'अतीतः प्रोषितमरणे च मृते तदा' क० ।

(हरिहर०)

मरणं च श्रुतं तदा एकरात्रमाशौचं त्रिरात्रं वा । अत्र यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषोऽवगन्तव्यः । कथम् ?

मासत्रये त्रिरात्रं स्यात् षण्मासं पक्षिणी भवेत् ।
अहस्तु नवमादर्वाक् सद्यः शौचमतः परम् ॥

तथा—

पितरौ यन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः ।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥ इति ॥ ४५ ॥

(जयराम०)

प्रत्तानामितरे येभ्यो दत्तास्ते कुर्वीरन् ॥ ४२ ॥

ता अपि तेषां कुर्वीरन् ॥ ४३ ॥

अथ यदि प्रोषितः प्रेयान्म्रियेत तदा तच्छ्रवणकालप्रभृति कृतोदकाः सन्त आशौचकालशेषमाशौचविधानेनासीरन् ॥ ४४ ॥

आशौचकालोऽतीतश्चेदेकरात्रं, त्रिरात्रम्; वाशब्दात्सद्यःशौचमपि,

अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥

इति वचनात् । एकरात्रं तु—

अयने समतिक्रान्ते त्वेकाहाच्छुद्धिरिष्यते ।

इति स्मृत्यन्तरात् ॥ ४५ ॥

अथ कामोदकान्यृत्विक्श्वशुरसखिसम्बन्धिमातुलभागिनेयानाम् ॥ ४६ ॥ प्रत्तानां च ॥ ४७ ॥ एकादश्यामयुग्मान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा मांसवत् ॥ ४८ ॥ प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति ॥ ४९ ॥ पिण्डकरणे प्रथमः पितॄणां प्रेतः स्यात्पुत्रवांश्चेत् ॥ ५० ॥ निवर्तेत चतुर्थः ॥ ५१ ॥

(सरला)

ऋत्विज, ससुर, मित्र [विवाह से हुए] सम्बन्धी, मामा, भाञ्जा और विवाहित स्त्री का जल पिण्ड दानादि कार्य उनकी इच्छा पर निर्भर है [अर्थात् वे चाहें तो करें या न करें] ॥ ४६, ४७ ॥ मरने के ग्यारहवें दिन दो से अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराकर मांस से होने वाले श्राद्ध के समान [पिण्डदानादि कर्म करना चाहिए] ॥ ४८ ॥ किसी आचार्य के मत में मृतक को उद्देश करके

(सरला)

गाय का भी आलम्भन (= स्पर्श) करते हैं ॥ ४९ ॥ पिण्ड दान में यदि वह मृतक पुरुष पुत्र वाला हो तो पहला पिण्डदान पिता को देना चाहिए[1] ॥५०॥ चौथा पिण्ड-दान [पिता के प्रपितामह का] छोड़ देना चाहिए[2] ॥ ५१ ॥

(हरिहर०)

अथ कामोदकान्यृत्विक्श्वशुरसखिसम्बन्धिमातुलभागिनेयानाम् । प्रत्तानां [3]च । अथ नियमेन कृत्यमभिधाय अधुना कामतः कृत्यमाह—कामोदकानि कामेन इच्छया उदकानि उदकदानानि 'भवन्ति' [4]इति सूत्रशेषः । केषाम् ? [5]ऋत्विजः याजकाः, श्वशुरो भार्याया मातापितरौ, [6]सखायः मित्राणि, सम्बन्धिनः वैवाह्याः, मातुला मातृभ्रातरः, भागिनेयाः भगिनीपुत्राः एते-षाम् । प्रत्तानाम् ऊढानां दुहितृभगिन्यादीनां [7]स्त्रीणां चकारात् इच्छया उदकदानम् । अतोऽदाने प्रत्यवायो नास्ति ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

एकादश्यामयुग्मान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा मांसवत् । ([8]एकादश्यामेकाद-शेऽहनि ब्राह्मणः कर्ता चेत् अयुग्मान् त्रिप्रभृतिविषमसङ्ख्याकान् द्विजोत्त मान् भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा एकोद्दिष्टश्राद्धविधिना मांसवत्) मांसेन सहितं पायसौदनादि [9]भवति ॥ ४८ ॥

एके आचार्याः प्रेतमुद्दिश्य गामपि घ्नन्ति । शाखापशुविधानेन तन्मांसेन श्राद्धं कुर्वन्ति । तच्छ्राद्धमग्रे वक्ष्यति—"नद्यन्तरे नावं कारयेत् न वा" (पा० गृ० ३-११-११) इति ॥ ४९ ॥

पिण्डकरणे प्रथमः ([10]पितॄणां प्रेतः स्यात् पुत्रवांश्चेत् । पिण्डानां करणं पिण्डकरणं तस्मिन्नमावास्यायां साग्नेः पुत्रस्य पिण्डपितृयज्ञे तत्र पितॄणां प्रथम) आद्यः स्यात् तत्प्रभृति पिण्डदानमित्यर्थः । चेद्यदि स प्रेतः पुत्रवान्

---

१. पिण्ड के अधिकारी पिता पितामह और प्रपितामह ये तीन होते हैं । जब इनका पिण्डदान करने वाला यदि मर जाय और वह पुत्र वाला हो तो अब उसका पुत्र पिण्डपितृ यज्ञ में अपने पिता को पहला गिने और पिता के प्रपितामह को छोड़ दे—यह विधान करते हैं ।

२. तु० शाङ्खायन ४।२।८

३. 'च' नास्ति ग० ।

४. 'इति सूत्रशेषः' नास्ति क० ।

५. 'ऋत्विक् याजकः' क० ।

६. 'सखा मित्रम्' क० ।

७. 'पञ्च स्त्रीणामिच्छया' क० ।

८. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

९. 'भवति' नास्ति क० ।

१०. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

अधिकृतेन साग्निना पुत्रेण पुत्रीभवति । अयमर्थः—साग्नेः पुत्रस्य यदि पिता म्रियेत तदा पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानानुरोधेन द्वादशेऽहनि सपिण्डीकरणं विधाय अमावास्यायां तत्प्रभृति पिण्डपितृयज्ञे पिण्डदानं पिण्डान्वाहार्यके च श्राद्धे तत्प्रभृति पार्वणमेव श्राद्धं भवतीति । एकोद्दिष्टं तु निरग्निविषयम् ॥५०॥

निवर्त्तेत चतुर्थः । सपिण्डने कृते पित्रादिभ्यास्त्रिभ्यः पिण्डादिदानम्, चतुर्थः पिण्डो निवर्त्तेत' [1]'पिण्डास्त्रिषु'इति श्रुतेः; 'त्रिषु पिण्डः [2]प्रवर्त्तते' इति स्मृतेश्च ॥ ५१ ॥

(जयराम०)

ऋत्विगादीनामिच्छयोदकदानम् ॥ ४६ ॥

प्रत्तानां च स्त्रीणामिच्छयैव ॥ ४७ ॥

एकादश्यामेकादशेऽहनि अयुग्मान् त्रिप्रभृतीन् ब्राह्मणान् भोजयेदिति श्राद्धोपलक्षणम् । तच्च श्राद्धं मासवत्कार्यम् ॥ ४८ ॥

मांसं च प्रेतोद्देशेनैके आचार्या गां घ्नन्ति आलभन्ते ,प्रेतोद्देशवचनात्तदीयम् । शाखापशुरयम्, तमालभ्य तन्मांसेन श्राद्धं कुर्वीत । तच्चोपरिष्टाद्वक्ष्यति "नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा" (पा० गृ० ३–११–११) इति ॥ ४९ ॥

एतदेव पिण्डकरणमापतितम् । तत्र च पितॄणां प्रथमः प्रेतो भवति तत्प्रभृति दानम् । स यदि पुत्रवान्भवति तदा अधिकृतविषयमेतत् । अधिकृतपुत्रेण पुत्रवत्वम् । एतद धिकारश्चाग्निमत्त्वे सति भवति । तेनाग्निमतः पुत्रस्य पार्वणमेव । तच्च सपिण्डीकरणानन्तरम् । एकोद्दिष्टं त्वनधिकृतविषयमिति ॥ ५० ॥

सपिण्डीकरणे च कृते पितृप्रभृति त्रिभ्यो दानं चतुर्थस्य तु निवृत्तिः, 'त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते' इति स्मृतेः ॥ ५१ ॥

संवत्सरं पृथगेके ॥ ५२ ॥ न्यायस्तु न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः ॥ ५३ ॥ अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात् ॥ ५४ ॥ पिण्डमप्येके निपृणन्ति ॥ ५५ ॥ १० ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

१, 'पिण्डादिस्त्रिषु' क० । २. 'प्रवर्तेत' क० ।

(सरला)

किन्तु कुछ आचार्य पृथक् रूप से एक वर्ष पर [पिण्ड देना बतलाते हैं] ॥ ५२ ॥ किन्तु नियम यही है कि "चौथा पिण्ड नहीं होता" (क्योंकि) यह श्रुति कहती है ॥ ५३ ॥ प्रतिदिन इस मृतक को उद्देश करके ब्राह्मण के लिए भोजन और जल का घड़ा देना चाहिए[1] ॥ ५४ ॥ कई आचार्य पिण्ड देना भी कहते हैं[2] ॥ ५५ ॥

इस प्रकार तृतीय काण्ड में दशम कण्डिका की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥

(हरिहर०)

संवत्सरं पृथगेके । एके आचार्याः साग्नेरपि पुत्रस्य संवत्सरं यावत् पृथक् एकस्यैव पितुः पिण्डदानमिच्छति "संवत्सरे सपिण्डीकरणम्" इति स्मरणात् ।

न[3] च असपिण्डीकृतस्य इतरैः सह दानं युज्यते । सपिण्डीकरणमिति शब्दः सह पूर्वजैः समं पिण्डीकरणम् एकीकरणं मेलनमिति यावत् इति व्युत्पत्त्या अन्वर्थः । तेन संवत्सरं यावदसपिण्डीकृतस्य पितुः प्रेतस्य पृथक् दानमिच्छन्त्येके [4]तथा सति 'संवत्सरे सपिण्डीकरणम्' इति स्मृतेरनुग्रहः कृतो भवति ॥ ५२ ॥

एवं प्राप्त उच्यते—न्यायस्तु । तुशब्देन पूर्वपक्षव्यावृत्तिः । नैतदेवं [5]यत्स्मृत्यनुग्रहन्यायेनेदं परिकल्प्यते । कुतः ? श्रुतिविरोधात् । काऽसौ श्रुतिः ? न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः । कथं श्रुतिविरोधः[6] ? शृणु ? अधिकृतस्य पुत्रस्य साग्नेः [7]पृथक् क्रियमाणे चतुर्णामपि निर्वपणेऽधिकारो भवति अमावास्यायां पृथक् प्रेतस्य, पार्वणं च त्रयाणामिति भवति श्रुतिविरोधः । तेनाधिकृतस्य पुत्रस्य साग्नेः सपिण्डीकरणादूर्ध्वम् एकोद्दिष्टं कर्तव्यं न भवति । सपिण्डीकरणन्तु द्वादशाह एव नियतम् । अनधिकृतस्य निरग्नेस्तु

---

१. तु० आप० १।१३।१; बौधा० २।११।३

२. भाष्यकारों के अनुसार यह अनाहिताग्नि के लिए ही है क्योंकि साग्निक के लिए 'पार्वण श्राद्ध ही कर्त्तव्य है ।

३. 'वा' ख० ग० । ४. 'एवं' ख० ग० । ५. 'यत्' नास्ति क० ।

६. 'विरोधः तेनाधिकृतस्य' क० । ७. 'पृथक् पृथक् क्रिय' क० ।

(हरिहर०)

संवत्सरादिषु सपिण्डीकरणकालेषु कृतसपिण्डनस्यापि पितुः संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रतिसंवत्सरमेकोद्दिष्टमेव ॥ ५३ ॥

अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात् । अहरहः प्रतिदिनम् अस्मै प्रेतायोद्दिश्य ब्राह्मणाय सम्प्रदानभूताय अन्नं भोजनपर्याप्तम् उदकुम्भञ्च जलपूर्णं [1]घटं संवत्सरं च यावद्द्यात् प्रयच्छेत् ॥ ५४ ॥

पिण्डमप्येके निपृणन्ति । एके आचार्याः अहरहः पिण्डनिर्वपणमपीच्छन्ति । [2]तच्चानधिकृतनिरग्निविषयम् । अधिकृतस्य हि साग्नेः पार्वणमेव भवति नैकः पिण्डः । न चैतत्प्रतिदिनमन्नोदककुम्भदानं संवत्सरसपिण्डीकरणपक्ष एव । 'प्रागपि संवत्सरात् यदि वा [3]वृद्धिरापद्यते' इत्यादिस्मृतिविहितकालान्तरे सपिण्डीकरणेऽपि तदूर्ध्वं[4]। संवत्सरं यावद्भवत्येव । यतः स्मरन्ति—

अर्वाक् संवत्सराद्यस्य सपिण्डीकरणं भवेत् ।
तस्याऽप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्सांवत्सरं द्विजे ॥ इति ।

तस्मात्साग्निना निरग्निना च पुत्रेणाहरहरन्नोदकुम्भदानं कर्त्तव्यम् । पक्षे यत्पिण्डदानं तन्निरग्नेरेव । इतरस्य त्रिभ्यः पिण्डदानं प्रसज्येत, एकपिण्डनिर्वपणनिषेधात् । तर्हि त्रिभ्योऽपि ददातु । न, प्रेतस्य हि तत् स्मर्यते । [5]याज्ञवल्क्यः—

मृतेऽहनि तु कर्त्तव्यं प्रतिमासन्तु वत्सरम् ।
प्रतिसम्वत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥

इत्येतदेकोद्दिष्टं साग्नेः सपिण्डीकरणात् प्राक् । ऊर्ध्वं तु पार्वणमेव । यथाऽऽह मनुः—

असपिण्डक्रिया कर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥

तथा—

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ इति ।

---

१. 'च घटं' क० । २. 'अनधिकृत्याग्निरग्निविषयम्' क० ।
३. 'आपद्येत' क० । ४. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।
५. 'याज्ञवल्क्यः' नास्ति क० ।

(हरिहर०)

स्मृत्यन्तरं च—

यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक् पिण्डेन योजयेत् ।
विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥ इति ।

एतच्च औरसक्षेत्रजसाग्निपुत्रविषयम्, यतः स्मरन्ति—

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ विधिना पार्वणेन तु ।
दद्यातामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥ इति ।

अत्राशौचप्रसङ्गात् स्मृत्यन्तरोक्त आशौचापवादो लिख्यते—

ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।
सत्रव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥
कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च ।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

एतच्च यज्ञादौ आरब्ध एव । कुतः ?

आरब्धे सूतकं नास्ति अनारब्धे तु सूतकम् ।

इति वचनात् । आरम्भश्चैवम्—

आरम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः ।
नान्दीश्राद्धं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया ॥ इति ॥ ५५ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

अथ पद्धतिः । तत्र ऊनद्विवार्षिकं प्रेतमरण्यं नीत्वा भूमौ निखनेत् । द्विवर्षप्रभृति उपनयनादर्वाक् प्रेतं श्मशानं नीयमानं [१]सर्वे सपिण्डाः [२]यथाज्येष्ठपुरःसरं पङ्क्तीभूता अनुगच्छन्ति । पक्षे यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्तः । ततस्तत्र तं प्रेतं भूमिजोषणादिरहितं दग्ध्वा वक्ष्यमाणविधिना स्नात्वा उदकाञ्जलिं च दत्त्वा गृहमागता यथोक्तमाशौचमाचरेयुः । उपनयनादूर्ध्वं [३]भूमिजोषणाद्युदकान्तगमनपर्यन्तं यथाऽऽहिताग्नेः कर्म तथैव यथासम्भवं भवति । अत्र [४]चौपासनिकं पुत्रादिरधिकारी दुर्बलं ज्ञात्वा स्नापयित्वा शुद्धवस्त्रेणाच्छाद्य [५]दक्षिणाशिरसं दर्भवत्यां भूमौ [६]सन्निवेशयेत् ।

पूर्वपक्षे तु रात्रौ चेत् मृत्युशङ्काऽग्निहोत्रिणः ।
हुत्वाऽत्रशिष्टाः पक्षेऽस्मिन् जुहुयात्सकलाहुतीः ॥

दार्शं ([७]तत्र पिण्डपितृयज्ञं विना आकृष्य कुर्यान्न तु पौर्णमासं शुक्लपक्षे

---

१. 'एव' क० । २. 'ज्येष्ठाः पु' क० । ३. 'जोषणादिरहितं उदका' क० ।
४. 'च' नास्ति क० । ५. 'दक्षिणशि' क० । ६. 'निवेश' क० ।
७. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

(हरिहर०)

आकृष्य कुर्यात् । दिवा सायमाहुतिं च, तत्कर्मणोरप्रारब्धत्वात् । अथ) तत्र वैतरणीं यथाशक्ति यथाश्रद्धं [1]हिरण्यभूम्यादिकं सर्वपापक्षयार्थं दापयित्वा अथ गतासुं [2]ज्ञात्वा घृतेनाभ्यज्य उदकेनाप्लाव्य सुवस्त्रमुपवीतिनं चन्दनोक्षितसर्वाङ्गं पुष्पमालाविभूषितं मुखनासिकाचक्षुःश्रोत्ररन्ध्रेषु निक्षिप्यहिरण्यशकलं[3] वस्त्रेणाच्छाद्य पुत्रादयो निर्हरेयुः । एतच्चावसथ्याग्निसन्निधौ गृहमरणपक्षे । यदा तु गङ्गादितीर्थेऽग्निसन्निधौ अर्द्धजलेमरणं[4] तदा तत्राऽप्येवं स्नपनादिहिरण्यशकलनिधानान्तं कर्म कुर्यात् । निर्हरणपक्षेतु[5] आमपात्रे सन्तावाग्निमादायाग्निपुरःसरं प्रेतं यमगाथां [6]गायन्तो, यमसूक्तं [7]वा जपन्तः पुत्रादयः श्मशानं नयन्ति । तत्राधिकारी पुत्रादिराप्लुत्य भूमिजोषणपूर्वकं दक्षिणोत्तरायतं दारुचयं विधाय चितौ कृष्णाजिनं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोममास्तीर्य तत्रोत्तानं [8]दक्षिणाशिरसमेनं निपात्यदक्षिणनासारन्ध्र आज्यपूर्णं स्रुवं निधाय पादयोरधरारणि[9] प्रागग्रामुरस्युत्तरां पार्श्वयोः सव्यदक्षिणयोः शूर्पंचमसौ [10]मुसलसहितमुलूखलं न्युब्जमूर्वोरन्तराले [11]तत्रैव चात्रमोक्षणी च अरुदन् भयरहितो निदध्यात् अपसव्येन वाग्यतो दक्षिणामुखः सन् । अथोपविश्य सव्यं जान्वाच्यौपासनाग्निं गृहीत्वा [12]'अस्मात्त्वमधिजातोऽसि' इत्यनयर्चा स्वाहान्तया दक्षिणतः शनैरग्निं दद्यात् । अनावसथिकं तु एवमेव ग्रामाग्निना [13]सपिण्डाद्यानीतेन अमन्त्रकं दहति । ततो दाहान्ते नद्याद्युदकसमीपं गत्वा [14]समीपस्थयोनि-

---

१. 'हिरण्यं भू' क० । २. 'ज्ञात्वा' नास्ति क० । ३. 'हिरण्यं सकलं व' क० ।

४. 'मरणं तत्र तत्रैवेदं स्ना' क० । ५. 'तु' नास्ति क० ।

६. 'गायन्तः' नास्ति क० । ७. 'च' ख० ग० । ८. 'दक्षिणशि' क० ।

९. 'अधरारणिमुरस्युत्तरारणिं च प्रागग्रां पार्श्वे ख० ग० ।

१०. 'मुसलमुलूखलं च न्यु' ख० घ० ।

११. 'तत्रैव चात्रमोविली च अ' ख० गा ।

१२. अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ (य० सं० ३५–२२) ॥

अस्यार्थः—हे अग्ने ! त्वम् अस्मात् यजमानात् आधानकाले अधिजातोऽसि उत्पन्नोऽसि । अतः अयं यजमानः पुनः त्वत् त्वत्तः जायताम् उत्पद्यताम् । असौ इति नाम प्रेतस्य गृहीत्वा स्वर्गाय लोकाय स्वर्गलोकप्राप्त्यर्थं स्वाहा सुहुतमस्तु । त्वत्तो ह्ययं जायमानस्त्वद्वंश्य एव स्यादित्यभिप्रायः इति ॥

१३. 'सपिण्डाद्यानीतेन' नास्ति क० ।

१४. 'समीपस्थितं योनिसम्बद्धं श्या' ख० ग० ।

(हरिहर०)

सम्बन्धं श्यालकं वा 'उदकं करिष्यामहे' इत्यनेन मन्त्रेण उदकं याचेरन् सपिण्डादयः। एवं याचिते यदि शतवर्षादर्वाक् प्रेतो [1]भवेत् तदा कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्येवं प्रतिवचनं दद्यात्। अथ शतवर्षादूर्ध्वं प्रेतो [1]भवेत्तदा कुरुध्वमित्येतावदेव। ततः सप्तपुरुषसम्बन्धिनः सपिण्डाः, दशपुरुषसम्बन्धाः समानोदकाश्चैकग्रामवासेयावत्स्मृतं (१२) जलं[3] सम्प्रविशन्ति एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः सन्तः[4]। ततः सव्यहस्तस्यानामिकाङ्गुल्योदकमपनोद्य 'अप नः शोशुचदघम्' इत्येतावता मन्त्रेण [5]दक्षिणमुखं तूष्णीं निमज्जन्ति। ततः [6]प्रेतमुद्दिश्यामुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेतैतत्ते उदकमित्युच्चार्यैकैकमञ्जलिं सकृत् भूमौ प्रक्षिपन्ति। तत उदकादुत्तीर्य शुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टान् [7]सपिण्डान् अन्ये सुहृद इतिहासपुराणादिविदग्धकथाभिः संसारानित्यतां दर्शयन्तोऽपवदेयुः। तथा हि—

[8]'कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाड्वलसंस्थितान्।
[9]स्नातानपवदेयुस्तानितिहासपुराणकैः ॥
मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम्।
करोति यः स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे ॥
पञ्चधा सम्भृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः।
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिवेदना ॥
गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च।
[10]फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥
श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥
इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥
मा शोकं कुरुतानित्ये सर्वस्मिन्प्राणधारिणि।
धर्मं कुरुत यत्नेन यो वः [11]सद्गतिमेष्यति ॥

[12]विष्णुः—'यदुदगयनं तदहर्देवानां [13]दक्षिणायनं रात्रिः संवत्सरो ह्यहो-

१. 'भवति' क०। २. 'यावत्स्मृतेः' क०। ३. जलं नास्ति क०।
४. 'सन्तः ततः' नास्ति क०। ५. 'दक्षिणामुखाः' ख० ग०।
६. 'अमुकगोत्र' क०। ७. 'सपिण्डादीन्' ख० ग०।
८. 'कृतोदकात्' क०। ९. 'इतिहासैः पुरातनैः' ख० ग०।
१०. 'केन प्रख्यः' क०। ११. 'सद्गतिम्' क०।
१२. 'तथाच विष्णुः' ख० ग०। १३. 'देवानाम्' नास्ति क०।

(हरिहर०)

रात्रं तत्त्रिंशता मासो द्वादश [1]मासा वर्षं द्वादशवर्षशतानि दिव्यानि कलियुगं द्विगुणानि द्वापरं त्रिगुणानि त्रेतायुगं चतुर्गुणानि [2]कृतयुगं द्वादशसहस्राणि दिव्यानि चतुर्युगसहस्रं तु कल्पः । स च पितामहस्याहस्तावती चास्य रात्रिरेवंविधेनाहोरात्रेण मासवर्षगणनया सर्वश्रेष्ठस्यैव ब्रह्मणो वर्षशतमायुरेवं ब्रह्मायुषा च परिच्छिन्नः पौरुषो दिवसस्तस्यान्ते महाकल्पस्तावत्येव चास्य निशा [3]पौरुषाणामहोरात्राणामतीतानां संख्यैव नास्ति च भविष्याणामनाद्यन्तत्वात्कालस्य—

एवमस्मिन्निरालम्बे काले सन्ततयायिनि [4]।
न तद्रूपं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद् ध्रुवा ॥
गङ्गायाः सिकताधारा तथा [5]वर्षति वासवे ।
शक्या गणयितुं लोके न व्यतीताः पितामहाः ॥
चतुर्दश विनश्यन्ति कल्पे कल्पे सुरेश्वराः ।
सर्वलोकप्रधानाश्च मनवश्च चतुर्दश ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च ।
विनष्टानीह कालेन मनुष्याणां तु का कथा ॥
राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः ।
देवर्षयश्च कालेन सर्वे ते निधनं गताः ॥
ये समर्था [6]जगत्त्राणे सृष्टिसंहारकारिणः ।
तेऽपि कालेन नीयन्ते कालो हि बलवत्तरः ॥
आक्रम्य [7]सर्वः कालेन परलोकाय नीयते ।
कर्मपथ्योदनो जन्तुस्तत्र का परिवेदना ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
अर्थे दुष्परिहार्येऽस्मिन्नास्ति शोकसहायता ॥
शोचन्तो नोपकुर्वन्ति मृतस्येह जना यतः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥

---

१. 'मासाः' नास्ति ख० ।
२. 'कृतयुगं एवं द्वादशसहस्राणि दिव्यानि चतुर्युगम् तत्सहस्रं तु कल्पः' ख० ग० ।
३. 'पुरुषाणाम्' क० ।
४. 'सततया' क० ।
५. 'वर्षन्ति' क० ।
६. 'जगत्त्राणाः' क० ।
७. 'सर्वे' क० ।

(हरिहर०)

सुकृतं दुष्कृतं [1]चोभे सहायौ यस्य गच्छतः ।
बान्धवैस्तस्य किं कार्यं शोचद्भिरथवा तथा ॥
बान्धवैर्नाम शोचद्भिः स्थितिं प्रेतो न विन्दति ।
अस्वस्थपतितानेष[2] पिण्डतोयप्रदानतः[3] ॥
अर्वाक्सपिण्डीकरणात् प्रेतो भवति वै मृतः ।
[4]प्रेतलोकगतस्यान्नं सोदकुम्भं प्रयच्छति ॥
देवतायतनस्थाने तिर्यग्योनौ तथैव च ।
मनुष्येषु तथा प्रेति श्राद्धं दत्तं स्वबान्धवैः ॥
[5]प्रेतस्य श्राद्धकर्त्तुश्च पृथक् श्राद्धे कृते ध्रुवम् ।
तस्माच्छ्राद्धं सदा कार्यं शोकं त्यक्त्वा निरर्थकम् ॥
एतावदेव कर्त्तव्यं सदा प्रेतस्य बन्धुभिः ।
नोपकुर्यान्नरः शोचन् प्रेतस्यात्मन एव च ॥
दृष्ट्वा लोकमनानन्दं म्रियमाणांश्च बान्धवान् ।
धर्ममेकं सहायार्थे [6]वरयध्वं सदा नराः ॥
मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं मृतं नरम् ।
जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विभिद्यते ॥
धर्मं एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचनगामिनम् ।
[7]तत्रासारे त्रिलोकेऽस्मिन् धर्मं कुरुत मा चिरम् ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥
क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्र गतमानसम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥
न कालस्य प्रियः कश्चिदप्रियो वा [8]न विद्यते ।
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम् ॥
नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥
नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।

---

१. 'यस्य' क० । २. 'पतितान्येव' क० ।
३. 'प्रदायिनः' क० । ४. 'प्रेतलोकम्' ख० ग० ।
५. 'प्रेतश्च' क० । ६. 'चरयध्वम्' ख० ग० ।
७. 'ततो' ख० ग० । ८. 'अपि' ख० ग० ।

(हरिहर०)

त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया वाऽपि मानवम् ॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुविन्दति ॥
आगामिनमनर्थं हि प्रतिष्ठानशतैरपि ।
न निवारयितुं शक्तस्तत्र का परिवेदना ॥

भारते—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥

रामायणे[1] च—

शोचमानास्तु सस्नेहा बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
पातयन्ति जनं स्वर्गादश्रुपातेन राघव ॥
श्रूयते हि नरव्याघ्र पुरा परमधार्मिकः ।
भूरिद्युम्नो गतः स्वर्गं राजा पुण्येन कर्मणा ॥
स पुनर्बन्धुवर्गस्य शोकव्याजेन राघव ।
कृत्स्ने च क्षयिते धर्मे पुनः स्वर्गान्निपातितः ॥
अतः शोकाग्निना दग्धः पिता ते स्वर्गतः प्रभो ।
शपेत्वां मन्युनाऽऽविष्टः तस्मादुत्तिष्ठ मा शुचः ॥

ततः पश्चादनवलोकयन्तः कनिष्ठानग्रतः कृत्वा पङ्क्तीभूता ग्राममायान्ति । आगम्य च गृहद्वारे स्थित्वा निम्बपत्राणि दन्तैरवखण्ड्याचम्योदकमग्निं[2] गोमयं गौरसर्षपांस्तैलं चेति क्रमेणालभ्य पादेनाश्मानमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति । ततः प्रभृति त्रिरात्रं यावत् ज्ञातीनां यमनियमा उच्यन्ते—ब्रह्मचर्यम्, अधःशयनम्, लौकिककर्माकरणम्, अन्येषां कुरु इत्यप्रेरणं, क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैव भोजनं मांसवर्जम् । एते च नियमाः ज्ञातीनां पुत्रादीनां [3]यावदाशौचम् । [4]अथ यस्तेषां मध्ये प्रेतक्रियाधिकारी पुत्रादिः स दशरात्रं यावत् प्रत्यहमेकैकमवयवपूरकं पिण्डं प्रेताय दद्यात् । आशौचदिनहानौ वृद्धौ वा दशैव पिण्डान् दिनानि विभज्य दद्यात् । कथम् ? [5]अमुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत अवनेनिक्ष्व । ततो दर्भानास्तीर्य अमुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेतैष ते शिरःपूरकः पिण्डो मया दीयत इति पिण्डं दत्त्वा पूर्व-

---

१. 'च' नास्ति क० २. 'अग्निगोमयगौरसर्षपांस्तैलमित्यनुक्रमेण' क० ।
३. 'पुनपत्रिदा' क० । ४. 'अथमस्तेषाम्' क० । ५. 'अमुकगोत्र' क० ।

(हरिहर०)

वत्पुनरवनेजनं दत्त्वा ततोऽनुलेपनं [1]ततो पुष्पधूपदीपशीतलतोयऊर्णातन्तु-दानं पिण्डे स्मृत्यन्तरोक्तमपि कुर्यात्। अथ यस्मिन्नहोरात्रे स [2]म्रियते तस्यां रात्रौ मृन्मये [3]पात्रे क्षीरोदके कृत्वा यष्टयादिकमवलम्ब्याकाशे धारयेत् 'प्रेतात्र स्नाहि पिब [4]क्षीरम्' इत्यनेन मन्त्रेण। ततो द्वितीयादिषु [5]नवसु दिनेषु प्रत्यहमनेनैव विधिना एकैकं पिण्डमवयवपूरकं दद्यात् ब्राह्मणः। क्षत्रियश्चेन्नवमेऽहनि नवमं पिण्डं दत्त्वा द्वादशेहनि दशमं पिण्डं दद्यात्। वैश्यश्चेत्पञ्चदशेऽहनि। शूद्रश्चेत्त्रिंशत्तमे [6]इति विशेषः। एकैक-मञ्जलि [7](मेकैकं जलपात्रम्। वृद्धिपक्षे त्वञ्जलीनां पात्राणां च दिन-सङ्ख्यया) एकैकं वर्द्धयेत्। तत्र वाक्यम्—अमुकसगोत्रामुकशर्मन् अमुकप्रेत एष ते तिलतोयाञ्जलिर्मया दत्तस्तवोपतिष्ठताम्। अमुकसोगोत्र प्रेत एतत्ते तिलतोयपात्रं मया दत्तं तवोपतिष्ठताम्। सद्यः शौचपक्षे तु [8]एकस्मिन्नेव दिने क्रमेण [9]दशावयवपूरकान् पिण्डान् तथा पञ्चपञ्चाशत्तोयाञ्जलीन् पञ्चपञ्चाशत्तोयपात्राणि[10] च दद्यात्। त्र्यहाशौचपक्षे तु प्रथमदिने त्रीन् पिण्डान् षडञ्जलीन् षट् पात्राणि च दद्यात्। तृतीयदिने चतुरः पिण्डान्[11] द्वाविंशत्यञ्जलीन् द्वाविंशति पात्राणि, द्वितीयदिवे पुनस्त्रीन्पिण्डान् सप्त-विंशत्यञ्जलीन् सप्तविंशतिपात्राणि च दद्यात्। यतः स्मरन्ति—

प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः।
द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसञ्चयनं तथा॥
त्रींस्तु दद्यात्त्रितीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्ततः॥ इति।

केचित्—प्रथमेऽह्नि एकं पिण्डमेकमञ्जलिमेकं पात्रम्, द्वितीयदिने चतुरः पिण्डाश्चतुर्दशाञ्चलीश्चतुर्दशपात्राणि, तृतीयदिने पञ्चपिण्डाश्चत्वा-रिंशदञ्जलीश्चत्वारिंशत्पात्राणीति मन्यन्ते। एतत्प्रेतकृत्यकरणानन्तरं न पुनः स्नायात्, स्मरणाभावात्। पिण्डैरवयवपूरणं यथा—शिरः प्रथमेन, कर्णाक्षिनासिका द्वितीयेन, गलांसभुजवक्षांसि तृतीयेन, नाभिलिङ्गगुदानि

---

१. 'ततः' नास्ति क०।　　२. 'मृतो भवति' ख० ग०।
३. 'पात्र' नास्ति क०।　　४. 'चेदम्' ख० ग०।
५. 'नवसु दिनेषु' नास्ति ख० ग०।
६. 'इति विशेषः' नास्ति क०।　　७. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।
८. 'एकस्मिन्दिने' ख० ग०।　　९. 'दशपूरकान्तया पञ्च' क०।
१०. 'पात्राणि त्र्युहाशौचे पुनः प्रथमदिने' क०।
११. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।

(हरिहर०)

चतुर्थेन, जानुजङ्घापादाः पञ्चमेन, सर्वमर्माणि षष्ठेन, नाडिकाः सप्तमेन, लोमान्यष्टमेन, वीर्यं नवमेन, शरीरपूर्णत्वं दशमेनेति। एतत्प्रेतनिर्हरणादिकं यतिव्यतिरिक्तानां त्रयाणामाश्रमिणां कुर्यात्। यतेस्तु न किञ्चित्। तथा च स्मृतिः—

त्रयाणामाश्रमाणाञ्च कुर्याद्दाहादिकाः क्रियाः।
यतेः किञ्चिन्न कर्त्तव्यं न चान्येषां करोति सः॥ इति।

तथा—

एकोद्दिष्टं जलं पिण्डमाशौचं प्रेतसत्क्रियाम्।
न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे॥
अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते॥ इति।

ब्रह्मचारी तु आचार्योपाध्यायपितृव्यतिरिक्तानां प्रेतानां निर्हरणादिकं न कुर्यात्। यथाऽऽहमनुः[1]—

आदिष्टी नोदकं [2]कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥ [3]इति।
(म० स्मृ० ५-८८)

तथा—

आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती।
[4]संकटान्नं न चाश्नीयान्न च तैः सह संविशेत्॥
(या० स्मृ० ३-१५) इति।

यदि मोहात्करोति तदा [5]व्रतात् च्यवते, पुनरुपनयनेन शुद्धयति। तथाऽस्थिसंचयनं ब्राह्मणस्य चतुर्थेऽहनि,[6] क्षत्रियस्य पञ्चमे, वैश्यस्य षष्ठे, शूद्रस्यैकादशे ऽहनि कुर्यात्। त्र्यहाशौचे द्वितीयेऽह्नि सर्वेषाम्। [7]सद्यःशौचे तु दाहानन्तरमेव। तत्रास्थिसंचयननिमित्तम् एकोद्दिष्टं श्राद्धं विधाय

---

१. 'याज्ञवल्क्य' का०।
२. 'कुर्याद्व्रतस्य तु स' क०। ३. 'इति नास्ति क०।
४. 'संकटान्नं' क० सकटान्नं' ख०। ५. 'ब्रह्मचर्यव्रतात्' ख० ग०।
६. 'अहनि पञ्चमेऽहनि क्षत्रियस्य, नवमे वैश्यस्य, एकादशे शूद्रस्य त्र्यहाशौचे क०। ७. 'सद्यःशौचे पुनर्दा' ख० ग०।

(हरिहर०)

पुष्पधूपनैवेद्यानि सम्भृत्य–'ॐक्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो नमः' [1]इति मन्त्रेण अर्घादिपूजां कुर्यात् । श्मशाने ततः–'नमः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यः' इति बलिदानम् । तत्र मन्त्रः–

> देवा [2]येऽस्मिन् श्मशाने स्युर्भगवन्तः सनातनाः ।
> तेऽस्मत्सकाशाद् गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्षयम् ॥
> ([3]प्रेतस्यास्य शुभाँल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान् ।
> अस्माकं चायुरारोग्यं सुखं च ददताक्षयम् ॥)

एवं बलिं दत्त्वा विसर्जयेत् । ततोऽपसव्यं [4]कृत्वा पलाशवृन्तेनास्थीनि परिवृत्याङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यामादाय पलाशपुटे धारयति । तत्र [5]शमीं शैवालं कर्दमं च धारयति । ततो घृतेनाक्तसर्वौषधीमिश्राण्यस्थीनि दक्षिणपूर्वायतान् यवाकारान् कर्षून् खात्वा तत्र कुशानास्तीर्य हरिद्रया पीतवस्त्रखण्डं [6]निपात्यैतद्वक्ष्यमाणमन्त्रेण निक्षिपेत्–"ॐवाचा मनसा आर्त्तेन [7]ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया [8]पृथिव्या मक्षिकायापाᳫं रसेन [9]निर्वपाम्यसौ" इति मन्त्रेण । असौ स्थाने प्रेतनामादेशः । ततः कुम्भे तूष्णीं निधाय तं कुम्भम् अरण्ये वृक्षमूले वा भूमौ खात्वा धारयेत् । [10]भस्म चितास्थितं सर्वमेव तोये निक्षिपेत् । चिताभूमिं [11]च गोमयेन विलिप्य तत्र तेनैव पूर्वोक्तबलिमन्त्रेण बलिं दद्यात् । तं च बलिं क्षीरेणाभ्यज्य देवता विसर्जयेत् । [12]चिताभूमिच्छादनार्थं तत्र वृक्षं [13]पट्टकं वा कारयेत् । सभाविश्रामार्थं काष्ठपाषाणविन्यासविशेषः [14]पट्टकः [15]'कट्टहरः' इति कान्यकुब्जे प्रसिद्धः । लोकाचारादेव [16]कुटीं वा । ततः कदाचिदस्थिकुम्भम् [17]उत्थाप्यादाय तीर्थं गच्छेत्,

---

१. 'इति मन्त्रेण' नास्ति क० । २. 'देवा यस्मिन्देव्याः स्युर्भवन्तः' क० ।
३. कंसान्तर्गतं नास्ति क० । ४. 'कृत्वा' नास्ति क० ।
५. 'शमीशैवालम्' क० ग० ।
६. 'आवृत्य तत्रैव' ख० ग० । ७. 'ब्राह्मणा' क० ।
८. 'पृथिव्यामपाम्' क० । ९. 'निपिबामि' क० ।
१०. 'चितास्थितं भस्म तोये सर्वमेव प्रक्षिपेत्' ख० ग० ।
११. 'च' नास्ति क० ।
१२. 'चिताभूमिं छा' क० । १३. 'पदकं' क० ।
१४. 'पदकः' क० । १५. 'पट्टहरः' ख० ग० ।
१६. 'कुड्यं ख० ग० । १७. 'उत्पाद्य' क० ।

(हरिहर०)

अस्थीनि मातापितृवंशजानां नयन्ति गङ्गामपि ये कदाचित् ।
[1]सद्बान्धवोऽस्यापि दयाभिभूतास्तेषां च तीर्थानि फलप्रदानि ॥

ततश्च गङ्गां गत्वा स्नात्वा [2]ततः [3]पञ्चगव्येनास्थीनि सिक्त्वा हिरण्यमध्वाज्यतिलैः[4] संयोज्य [5]ततो मृत्पिण्डपुटे निधाय दक्षिणां दिशं पश्यन्—'नमोऽस्तु धर्माय' इति वदन् जलं प्रविश्य—'स मे प्रीतोऽस्तु'[6] इत्यभिधाय गङ्गाम्भसि [7]निक्षिप्य [8]जलादुत्थाय सूर्यमवेक्ष्य विप्रमुख्याय यथाशक्ति दक्षिणां दद्यात् । एवं कृते प्रेतक्रियाकर्त्तॄः स्वर्गः स्यात् । तथा चोक्तम्—

विगाह्य गङ्गां समियाय तोयमिहास्थिराशिं सकलैश्च गव्यैः ।
हिरण्यमध्वाज्यतिलैस्तु युक्तं ततस्तु मृत्पिण्डपुटे निधाय ॥
यस्यां दिशि प्रेतगणोपगूढो विलोकयंस्तां सलिले [9]क्षिपेत्तम् ।
उत्तीर्य दृष्ट्वा रविमात्मशक्त्या सुदक्षिणां [10]मुख्यद्विजाय दद्यात् ॥
एवं कृते प्रेतपुरस्थितस्य स्वर्गे गतिः स्याच्च महेन्द्रतुल्या ।
क्षीणेषु पुण्येषु [11]पतिन्दिविस्था नैवं व्युदस्य च्यवनं द्युलोकात् ॥
यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति ।
तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥

[12]यमः—

[13]गङ्गातोये च यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात्कदाचन ॥
गङ्गातोये च यस्यास्थि नीत्वा संक्षिप्यते नरैः ।
युगानां तु सहस्राणि तस्यस्वर्गे[14] भवेद् गतिः ॥
मातुः कुलं पितृकुलं वर्जयित्वा नराधमः ।
अस्थीन्यन्यकुलोत्थस्य नीत्वा चान्द्रायणाच्छुचिः ॥

---

१. 'सद्बान्धवास्थीनि दया' क० ।
२. 'ततः' नास्ति ख० ग० ।
३. 'अस्थीनि' नास्ति क० ।
४. 'तिलैश्च' ख० ग० ।
५. 'ततस्तु मृत्पिण्डपुटे' क० ।
६. 'अस्तु' नास्ति क० ।
७. 'प्रक्षिप्य' ख० ग० ।
८. 'उत्तीर्य' ख० ग० ।
९. 'क्षिपन्तम्' क० ।
१०. 'द्विजमुख्याय' ख० ।
११. 'अपतन्ति विष्ठा' ख० ग० ।
१२. 'तथा यमः' ख० ग० ।
१३. 'गङ्गातोयेषु' ख० ग० ।
१४. 'स्वर्गगतिर्भवेत्' ख० ग० ।

(हरिहर०)

एतच्च द्रव्यादिलोभेन नयतः, न श्रेयोऽर्थिनः। अथ साग्नेः पत्नी यदि जीवद्भर्तृका म्रियेत तदा केचिद्देशाचारात् क्षौरं नाहुः। अन्यो विधिः [1]सर्वोऽप्युक्तो भवति। भर्त्तरि मृते यदि [2]म्रियेत तदा अरण्यन्तरं सम्पाद्य ततो निर्मन्थ्येनाग्निना पात्रैर्विना तां दहेत्। तदलाभे लौकिकाग्निना। एवं पश्चान्मृतस्य पुंसोऽपि भवति। अन्वारोहणे तु [3]पृथगाहुतिस्तन्मुखे इति विशेषः। पात्रासादनं तु यजमानदेह एव। अथ यदि साग्नेः शवस्य दाहे क्रियमाणे [4]वृष्ट्याद्याघातेनाग्निनाशे अर्द्धदग्धदेहशेषं वृष्टौ शान्तायां अर्द्धदग्धारणी निर्मन्थ्य तदलाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठं निर्मन्थ्य तदलाभे अश्वत्थादिपवित्रकाष्ठमथनोत्थेनाग्निना पुनर्दहेत्। अथ प्रोषिते तु मृतेऽग्निहोत्रिणि तदस्थीन्यानीयोक्तविधिना त्रेतया पुनर्दहेत्। अस्थ्नामप्यलाभे षष्ट्यधिकत्रिशतमितपलाशवृन्तान्युच्चित्य कृष्णसारचर्मणि पुरुषाकारेण प्रसारिते तदुपरि पुरुषाकारं प्रसार्य तत्र पलाशवृन्तानां चत्वारिंशता [5]शिरः, दशभिर्ग्रीवा, विंशता उरः, विंशत्योदरम्, शतेन भुजद्वयम्, दशभिर्हस्ताङ्गुलीः, षड्भिर्वृषणौ, चतुर्भिः शिश्नम्, शतेनोरुद्वयम् त्रिंशता जानुनी जङ्घे च, दशभिः पादाङ्गुलीः परिकल्प्योर्णासूत्रेण सम्यग् बध्वा तेनैव मृगचर्मणा संवेष्ट्य ऊर्णासूत्रेणैव बध्वा यवपिष्टजलेन सम्प्रलिप्य मन्त्रपूर्वकं पूर्ववत्पात्रैर्दहेत्। एवं पर्णशरे दग्धे[6] (त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। द्वितीयेऽहनि तु तदस्थ्नां वृन्तरूपाणां दग्धानां सञ्चयनम्। एवं मृतबुद्ध्या पर्णशरे दग्धे) तस्य दैवात्पुनरागमने पुनराधानं कृत्वा आयुष्यार्थामिष्टिं कुर्यात्। पर्णशरदाहानन्तरं तु तदस्थ्नां [7]लाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठाग्निमुत्पाद्य तेनाग्निनाऽस्थीनि पुनर्दहेत्। निरग्नेस्तु नास्ति संस्कारः। एवं साग्नेः दहनदिनात् निरग्नेर्मरणदिनाद् गणना। अथैषां प्रेतदेहानां रजस्वलादिस्पर्शे मृन्मये कुम्भे पूर्णजले पञ्चगव्यं प्रक्षिप्य कृतस्नानं शवं तेनोदकेनाभिषिञ्चेत् 'आपो हिष्ठा' इत्यादिभिरब्लिङ्गैर्मन्त्रैर्वामदेव्यादिभिरृग्भिस्तिसृभिरभिषिञ्चेत्।

---

१. 'सर्वो युक्तो' क०। २. 'म्रियते' क०।

३. 'प्रथमाहुतिः पात्रासादनं तु' क०।

४. 'उपघातेन' ख० ग०।

५. 'शिरः' नास्ति क०।

६. 'कंसान्तर्गतं' नास्ति० क०।

७. 'अर्धदग्धकाष्ठानामलाभे त्वस्थ्नां महाजले प्रक्षेपः। बुद्धिपूर्वमात्मघातिनां तु व्यासोक्तनारायणबल्यनन्तरं संस्कारः' ख० ग०।

(हरिहर०)

एवं सूतिकां रजस्वलां चापि एकादशे चतुर्थे वाऽह्नि प्रायश्चित्तं कृत्वा पञ्चगव्येन प्रक्षाल्य वाससा संवेष्टच उक्तविधिना दहेदिति ॥ १० ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

(जयराम०)

संवत्सरमेके आचार्याः पृथगेकस्यैव पिण्डदानमिच्छन्ति । कुत एतत् ? यतः संवत्सरे सपिण्डीकरणं स्मर्यते, न चासपिण्डीकृतस्येतरैः सह पिण्डदानं युज्यत इति । अन्वर्थसंज्ञा ह्येषा यत्सपिण्डीकरणमिति । सहपिण्डक्रिया सपिण्डीकरणम् । तेन संवत्सरं यावत्पितुः प्रेतस्य पृथक् पिण्डदानमिच्छन्त्येके । एवञ्च संवत्सरसपिण्डीकरणस्मृतिरनुगृहीता भवति ॥ ५२ ॥

एवं प्राप्ते आह 'न्यायस्तु' । तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । नैतदेवं संवत्सरं यावत्पृथग् दानमिति । येन संवत्सरस्मृत्यनुग्रहन्यायेनैतत्परिकल्प्यते । तच्च विरुद्धम् । न च श्रुतिविरोधे न्यायो युक्तः । कोऽसौ विरोधः ? 'न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः' पृथक् क्रियमाणे चतुर्णां पिण्डनिर्वपणाधिकारो भवति । पृथक् प्रेतस्य, अमावास्यायां चाधिकृतस्य पार्वणम्, इति श्रुतिविरोधः । तेनाधिकृतस्य पुत्रस्यैकोद्दिष्टं न भवत्येव । अनधिकृतस्य तु संवत्सरादूर्ध्वमेकोद्दिष्टमिति ॥ ५३ ॥

अस्मै प्रेतायार्थे ब्राह्मणायान्नं प्रत्यहं दद्यात्संवत्सरम् । कुम्भं च दद्यात् ॥ ५४ ॥

एके आचार्याः पिण्डनिर्वपणमपीच्छन्ति । एतच्चानधिकृतविषयम् । अधिकृतस्य तु पार्वणमेव भवति नैकः पिण्ड इति । यच्च संवत्सरे सपिण्डीकरणस्मरणं तदूर्ध्वं संवत्सरान्नास्त्येवेति परिज्ञापयितुं, [1]तस्मात् प्रागपि भवति । सपिण्डीकरणं प्रकृत्य सूत्रकार आह—'यदा वा वृद्धिरापद्यते' इति । वृद्धौ ह्याभ्युदयिकं कार्यम् । तच्चासपिण्डीकृतस्य न भवति । अतः संवत्सरात्प्रागपि भवत्यनधिकृतस्य । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

> अर्वाक् संवत्सराद्यस्य सपिण्डीकरणं भवेत् ।
> तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजः ॥ इति ।

एतदेव च तस्य भवति न पिण्डनिर्वपणमिति, त्रिभ्यो दानप्रसङ्गात् । अधिकृतपुत्रस्य तु द्वादशाह एवेत्युक्तमेव । यच्च प्रेतस्य स्मर्यते—

> मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।
> प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ इति,

---

१. 'तस्मात्' नास्ति ग० ।

(जयराम०)

तदेतत्सपिण्डीकरणात्प्रागेकोद्दिष्टम् । ऊर्ध्वं तु पार्वणमेव, तथा च मनुः—

असपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य च ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ इति ।

यावत्सपिण्डता न क्रियते तावदेव तत्कर्तव्यमिति । तथा चाह—

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामन्यधर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ इति ।

सपिण्डक्रियोत्तरकालमनयैव पिण्डक्रियया पिण्डनिर्वपणं सुतैः कार्यम् । केचित्तु अधस्तनश्लोकोपात्तमावृतम् 'अनयैवावृता' इत्यनेनानुवर्तयन्ति, तत्पुनरनुपपन्नार्थम् । उपरितनश्लोकारम्भसामर्थ्यात् । अनारब्धेऽपि तस्मिन्नेकोद्दिष्टं लभ्यत एव, द्विजातेः संस्थितस्य तु' 'अदैवं भोजयेच्छ्राद्धम्' इत्यनेन । अधस्तनश्लोके च विशेषणार्थं वाक्यप्रसङ्गः । सहपिण्डक्रियाकर्मेति द्विजातेः संस्थितस्येत्येवमादिनैव पादत्रयेणार्थस्य सिद्धत्वात् । यत्पुनरुच्यते 'अत ऊर्ध्वं वर्षे वर्षे प्रेतायान्नं दद्यात् यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात्' इति, तदेकत्वविशिष्टस्याभिधानादेकत्वविशिष्टस्य भवति । तन्न, नह्यत्रैकत्वमुपादीयमानं विशेषणं, येन प्रेतोद्देशेन दानविधानमेव विवक्ष्यते । तस्मादविवक्षैकत्वस्य । यथा स्मृत्यन्तरेऽभिहितं तथैव देयमिति ॥ ५५ ॥ १० ॥

॥ इति जयरामभाष्ये दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

अथ एकादशी कण्डिका

पशुश्चेदाप्लाव्यागामग्रेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखान्निहन्ति ॥ १ ॥
परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणान्यावृता कुर्याद्यच्चान्यत् ॥ २ ॥

(सरला)

पशु–यजन करने की विधि

प्राक्कथनः—'उदक–कर्म' में यह जो कहा था कि "ग्यारहवें दिन पशु का आलम्भन करना चाहिए" उसी प्रसंग को लेकर दूसरे भी अर्घ्य पशुओं के कर्म का अभिधान प्रस्तुत कण्डिका में किया गया है।

हिन्दीः—यदि पशु [यजन करना] हो तो गाय को छोड़कर किसी पशु को पहले स्नान कराकर गार्हपत्यादि अग्नियों की प्रदक्षिणा कराके पलाश की डाली का (खम्भा) गाड़ते हैं ॥ १ ॥ कुशा की त्रिवृत रस्सी से खम्भे में [1]पशु का बाँधना कुश से पशु का स्पर्श करना[2] और प्रोक्षण (जल छिड़कना) श्रौतसूत्र में कही गई रीति से [बिना मंत्र के] करना चाहिए और जो कुछ और भी (पशु समंजन या पर्यग्निकरण आदि) कर्म हों उन्हें भी करना चाहिए ॥ २ ॥

(हरिहर०)

एवं तावत्प्रेतायोद्दिश्य ([3]गामप्येके घ्नन्तीति सूत्रकृता एकादशेऽहनि प्रेतमुद्दिश्य) गोपश्वालम्भोऽभिहितस्तत्प्रसङ्गादन्येऽपि यावन्तोऽर्घपशवस्तत्कर्माभिधातुमिदमारभ्यते। [पशुश्चेदाप्लाव्यागामग्रेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखां निहन्ति] चेद्यदि स्मार्त्तः पशुः क्रियते तदा पशुं गोपशुवर्जमाप्लाव्य स्नापयित्वा नियुञ्ज्यात्। गोपशौ आप्लाव्याभावः। पशुनियोजनं यूपे श्रूयते। अस्य कुत्रेत्यपेक्षायामाह–अस्य अग्रेण पुरस्तात् अग्नीन् वितानपक्षे गार्हपत्यादीन्, आवसथ्यपक्षे एकमग्निं, परीत्य प्रादक्षिण्येन गत्वा पलाशस्य ब्रह्मवृक्षस्य [4]शाखां निहन्ति निखनन्ति। आसादनानन्तरं यूपकार्यत्वाच्छाखायाः ॥ १ ॥

परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणान्यावृता कुर्याद्यच्चान्यत्। परिव्ययणं त्रिगुणरशनया शाखायाः, उपाकरणं तृणेन पशोः [5]स्पर्शनम्, नियोजनं

---

१. कात्या० ६।३।१५।
२. कात्या० ६।३।१९–२६
३. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।
४. 'शाखा तां नि' क०।
५. 'स्पर्शनं' नास्ति क०।

(हरिहर०)

द्विगुणरशनया अन्तरा शृङ्गबद्धस्य पशोः पलाशशाखायां बन्धनम् प्रोक्षणीभिरद्भिः पशोरासेचनम्, एतानि परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणानि आवृता पशुप्रकरणविहितया मन्त्रवर्जितया क्रियया कुर्यात् विदधीत। न केवलमेतान्येव अन्यदपि [1]यत् पशुसंस्कारकं पशुसमञ्जनपर्यग्निकरणादिकं [2]तदपि तथैव कुर्यात् ॥ २ ॥

(जयराम०)

प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्तीति शाखापशुमभिधानम्। तत्प्रसङ्गेन यावन्तोऽर्थपशवस्तत्कर्मव्याचिख्यासयेदमभिधीयते। स्मार्तः पशुश्चेत्क्रियते तदाऽगां गोपशुवर्जमाप्लाव्य स्नापयित्वा नियुज्यते। कुत्र इत्यपेक्षायामाह—परीत्य प्रादक्षिण्येन गत्वा अग्रेणाग्नीन् अग्निपूर्वभागे निहन्ति निखनन्ति। सा च यूपार्थे। अतश्चाज्यासादनोत्तरकालं निखननम् ॥ १ ॥

परिव्ययणं त्रिगुणरशनया शाखावेष्टनम्। उपाकरणं तृणेन पशोः, नियोजनं द्विगुणरशनया शृङ्गयोर्बद्धस्य पशोः शाखायां बन्धनम्। आवृता पशुप्रकरणोक्तेतिकर्तव्यतया, विना मन्त्रम्। आवृद्ग्रहणाद्यच्च पशुसंस्कारकं पशुसमञ्जनपर्यग्निकरणादि तदप्यावृता कार्यम् ॥ २ ॥

परिपशव्ये हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च ॥ ३ ॥ वपोद्धरणं चाभिघारयेत् ॥ ४ ॥ देवतां [3]चादिशेदुपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु ॥ ५ ॥ स्थालीपाके चैवम् ॥ ६ ॥ वपाᳬ हुत्वाऽवदानान्यवद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा ॥ ७ ॥ स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति ॥ ८ ॥ पश्वङ्गं दक्षिणा ॥ ९ ॥

(सरला)

[पशु-संज्ञपन के समय] परिपशव्य नामक मंत्रों से[4] (दो) आहुति प्रदान करके अन्य पाँच आहुति बिना मंत्र के चुपचाप देनी चाहिए ॥ ३ ॥ मरे हुए पशु की वपा को निकालकर अभिघारण करे और जिसके लिए आहुति देनी है उस देवता का नाम निर्देश करना चाहिए ॥ ४ ॥ तृण से पशु का स्पर्श, शाखा में पशु बाँधना, प्रोक्षण में और चरु पकाने में इसी प्रकार [देवता का नाम लेना

---

१. 'यत्पशु' नास्ति क०। २. 'तदपि' नास्ति क०।

३. 'च आदिशत्' क०। ४. कात्या० ६।६।१३। आश्व १।११।१०।

(सरला)

चाहिए] ॥ ५ ॥ वपा की आहुति प्रदान करके पशु के हृदयादि सब अवदान[1] भागों को तीन अथवा पांच बार काटता है ॥ ६, ७ ॥ चरु रूप हविर्द्रव्य से मिले हुए हृदयादि अंग के मांसों का हवन करता है ॥ ८ ॥ [इस यज्ञ में] पशु का अङ्ग ही [ऋत्विजों की] दक्षिणा [होती है] ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

परिपशव्ये हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च । पशुसंज्ञपनं परि उभयतो हूयते ये[2] द्वे आज्याहुती—'स्वाहा देवेभ्यः' 'देवेभ्यः स्वाहा' इति ते[3] परिपशव्ये ते हुत्वा तूष्णीं मन्त्रवर्जम् अपराः अन्याः पञ्च आज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

वपोद्धरणं चाभिघारयेत् । पशोर्वपायाः उद्धरणं यथोक्तं कृत्वा तां वपाम् अभिघारयेत् उद्धृत्यैव ॥ ४ ॥

देवतां चादिशेदुपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु । उपाकरणं च नियोजनं च प्रोक्षणं च उपाकरणनियोजनप्रोक्षणानि तेषु देवतां यद्दैवत्यः पशुर्भवति तां देवताम् आदिशेत्—'अमुष्मै त्वा उपाकरोमि' 'अमुष्मै त्वा नियुनज्मि' 'अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इति ॥ ५ ॥

([4]स्थालीपाके चैवम् । स्थालीपाके चरौ च एवन्देवतामादिशेत् । चरो-रुपाकरणनियोजनाभावात्) त्तण्डुलप्रोक्षणे—([5]'अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इति) देवतोद्देशः ॥ ६ ॥

वपाᳬ हुत्वाऽवदानान्यवद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा । वपां[6] यथोक्तेन विधिना हुत्वा अवदानानि पशोः हृदयादीनि अवद्यति छिनत्ति । कति ? सर्वाणि हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वद्वयं यकृत् वृक्यौ गुदमध्यं दक्षिणश्रोणिरित्येकादशप्रधानार्थानि, दक्षिणबाहुं [7]गुदतृतीयाणिष्ठं सव्यां श्रोणिम् इति त्रीणि सौविष्टकृतानि । यद्वा त्रीणि हृदयं जिह्वां [8]'क्रोड-

१. हृदय आदि अवयव जो आहुति में लिए जाते हैं । ये ग्यारह होते हैं—हृदय, जिह्वा, क्रोड़, बाईं भुजा, दोनों पसलियाँ, यकृत, दोनों जबड़े, गुदा और दक्षिण श्रोणि ।

२. 'ये ते परिपशव्ये स्वाहा देवेभ्यः' क० । ३. 'ते' नास्ति क० ।

४. कंसान्तर्गतं नास्ति क० । ५. कंसान्तर्गतं नास्ति क० ।

६. 'यथोक्तेन' नास्ति क० ।

७. 'गुदतृतीयनिष्ठम्' क० । गुदतृतीयानिष्ठम्' ग० ।

८. 'क्रोडानि अ' क० ।

(हरिहर०)

मिति । अथ वा पञ्च हृदयजिह्वाक्रोडसव्यबाहुदक्षिणपार्श्वानि । अत्र पञ्चावदानपक्षे [1]त्र्यवदानपक्षे वातेभ्य एव स्विष्टकृद्यागः । वपाᳬ हुत्वाऽवदानान्यवद्यतीति वदता सूत्रकृता पशुपुरोडाशो निरस्तः ॥ ७ ॥

स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति । स्थालीपाकेन चरुणा मिश्राणि संयुक्तान्यवदानानि [2]हृदयादीनि जुहोति स्थालीपाकस्य च मिश्रणवचनात् सहैव पाकः ॥ ८ ॥

पश्वङ्गं दक्षिणा । पशोः अङ्गं [3]पश्वङ्गम् अस्य पशुबन्धस्य दक्षिणा ॥९॥

(जयराम०)

परिपशव्ये संज्ञपनस्याद्यन्तयोराहुती द्वे–'स्वाहा देवेभ्यः' 'देवेभ्यः स्वाहा' इति हुत्वाऽपराः पञ्च 'जुहोति' इति शेषः ॥ ३ ॥

उद्धृत्य वपाभिघारणम् । स्थालीपाकेऽप्येवं देवतादेशः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

वपां हुत्वाऽवदानग्रहणे उच्यमाने पशुपुरोडाशो निरस्तो भवति । अत आह–'वपां हुत्वेति' असर्वपक्षे तत एव स्विष्टकृत् । क्षताभ्यङ्गश्च देयः ॥ ७ ॥

स्थालीपाकमिश्राणीति ग्रहणात्तस्याज्येन सह श्रपणम् ॥ ८ ॥

पश्वङ्गं दक्षिणेत्यत्र पूर्णपात्रो वरो वेति निवर्तते ॥ ९ ॥

यद्देवते तद्दैवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात्तं च ब्रूयादिममनुप्रापयेति ॥ १० ॥ नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा ॥ ११ ॥ ११ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य तृतीयकाण्डस्य एकादशी कण्डिका ॥११॥

(सरला)

जिस देवता के उद्देश्य से [पशु का संज्ञपन हो] उसी देवता को आहुति देनी चाहिए और उसी के लिए भाग भी रखना चाहिए और उसको यह कहे कि "इसको प्राप्त कराओ" ॥ १० ॥

विशेषः—भाष्यकार हरिहर ने यह आशय प्रकट किया है कि यह कर्म अर्घ्य पशुओं के विषय में कहा गया है। अतः जिस अर्घ्य का जो देवता है वह पशु–याग उसी देवता का होता है। अर्घ्य देवता निम्न हैं—"आचार्य का

---

१. 'त्रीणि पक्षे वा' क० । २. 'हृदयादीनि' नास्ति क० ।

३. 'पश्वङ्गं दक्षिणाऽस्य पशुबन्धस्य' क० ।

(सरला)

बृहस्पति, ब्रह्मा का चन्द्रमा, उद्गता का पर्जन्य, होता का अग्नि, अध्वर्यु के दोनों अश्विनी कुमार, वर का प्रजापति, राजा का इन्द्र, प्रिय का मित्र, स्नातक का विश्वेदेव या इन्द्राग्नि। इस प्रकार पशु का भाग भी उसी अर्घ्य अर्थात् आचार्यादि को देना चाहिए और उसी को उद्देश्य करके यह कहना चाहिए कि "इसे प्राप्त कराओ"।

[यदि मरने के ग्यारहवें रोज पशु संज्ञपन करना हो तो इस] एकादशाह श्राद्ध को नदी के रेत[1] पर करना चाहिए अथवा [पशु वध] न करे ॥ ११ ॥

इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड की एकादश कण्डिका की
डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ११ ॥

(हरिहर०)

यद्देवते तद्देवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात् तं च ब्रूयादिममनुप्रापयेति। एतदर्घ्यपशून्प्रकृत्य कर्माभिहितं, तत्र यस्यार्घ्यस्य आचार्यादेः या देवता तद्देवतः स पशुयागः, तस्मिंस्तद्दैवते यागे तद्देवतम् अर्घ्यदैवतं बृहस्पत्यादिकं च यजेत्। [2]तत्रार्घ्यदेवताः–आचार्यस्य बृहस्पतिः, ब्रह्मणश्चन्द्रमाः, उद्गातुः पर्जन्यः, अग्निर्होतुः अश्विनावध्वर्योः, विवाह्यस्य प्रजापतिः, राज्ञ इन्द्रः, प्रियस्य मित्रः, स्नातस्य विश्वेदेवाः इन्द्राग्नी वेति। तस्मै च अर्घ्याय आचार्यादये भागं [3]च पशोः किञ्चिदङ्गं कुर्यात्। तं च अर्घ्यम् आचार्यादिकम् 'इममनुप्रापय' इति ब्रूयात् ॥ १० ॥

नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा। इदानीं 'प्रेतोद्देशेन गामप्येके घ्नन्ति' इति यदुक्तं तस्य देशविधानार्थमाह–नद्यन्तरे [4]नद्या अन्तरे द्वीपे नावं नवम्

---

1. उदक कर्म में यह जो कहा था कि 'प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति' इसका स्थान नदी का रेत बतलाया है, और प्रस्तुत में 'नावम्' का अर्थ नये श्राद्ध से सम्बन्ध रखने वाला पशु वध कहा है। अतः मरने के ग्यारहवें दिन यह पशु वध करे या न करे यह कर्ता की इच्छा पर निर्भर है। हाँ यदि करे तो नदी के रेत में ही लाकर करना चाहिए।

2. 'अर्घ्या देवता' क०। 3. 'च' नास्ति ख० ग०।

4. 'नद्यन्तरे' क०।

(हरिहर०)

एकादशाहश्राद्धं तदर्थमिमं नावं गोपशुं कारयेत् अनुतिष्ठेत् । कोऽर्थः ? प्रेतोद्देशेन गोपशुः एकादशेऽह्नि नद्यन्तरे आलभेत न वा आलभेत ॥११॥

इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

॥ इति हरिहरभाष्ये एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

(जयराम०)

यद्दैवत्य ऋत्विग्विशेषस्तद्दैवत्यः पशुरालभ्यतेऽर्घपशुषु । तस्यार्घस्य देवतैव देवता यस्य यागस्य स तद्दैवत्यस्तस्मिन् । तद्दैवतं तामेव देवतां यजेदित्यर्थः । तस्मै ऋत्विग्विशेषाय ॥ १० ॥

'नद्यन्तरे' इति । यदुक्तं प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्तीति, तस्यैतत्प्रदेशविधानम् । नवश्राद्धार्थं नावमुच्यते । नद्यन्तरे नावं कारयेदित्यनेन नवश्राद्धार्थः पशुरुपक्रान्तः । नवश्राद्धशब्देन प्रथमैकादशाहिकश्राद्धमुच्यते ॥ ११ ॥ ११ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

अथ द्वादशी कण्डिका

अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥ अमावास्यायां चतुष्पथे गर्दभं [1]पशुमालभते ॥ २ ॥ निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत ॥ ३ ॥ अप्स्ववदानहोमः ॥ ४ ॥

(सरला)

ब्रह्मचर्य व्रत स्खलन का प्रायश्चित्त

प्राक्कथन:—जिस प्रकार शरीर शुद्धि के लिए स्नान एक साधन है उसी प्रकार मनुष्य के दुष्कृत कर्म से शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त होते हैं। अतः अब ब्रह्मचारी के स्वेच्छा वीर्य पतन [स्वप्नदोष] से स्खलित ब्रह्मचर्य व्रत का प्रायश्चित्त ही प्रस्तुत कण्डिका का विषय है।

हिन्दी:—अब अवकीर्णी का प्रायश्चित्त कहेंगे ॥१॥ अमावस्या तिथिमें चौराहे पर गर्दभ पशु का आलम्भन करना चाहिए ॥ २ ॥ पाक यज्ञानुसार (विधि से) निर्ऋति देवता का यजन करना चाहिए ॥३॥ (इस कार्य में) जल में पशु के हृदयादि अंगों का होम (करना चाहिए) ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

एवं तावत्तद्यन्तरे नावं कारयेदित्यनेन नवश्राद्धप्रयोजनपशुरुक्तस्तत्प्रसङ्गान्नैमित्तिकं पश्वन्तरं व्याख्यातुमाह—अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम्। अथ इदानीं यतः पशुरभिहितः अतस्तत्प्रसङ्गात् अवकीर्णिनः स्खलितब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तं शुद्धिसम्पादकं कर्म [2]व्याख्यास्यते ॥ १ ॥

अमावास्यायां चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभते। यो ब्रह्मचारी सन् स्त्रीगमनादवकीर्णी भवति स ([3]पुनः प्रायश्चित्तं चिकीर्षुः) अमावास्यायां कस्यांचित् कृष्णपञ्चदश्यां चतुष्पथे चत्वारः पन्थानः [4]यत्र भूभागे स चतुष्पथः तस्मिन् [5]चतुष्पथे देशे गर्दभं रासभं पशुम् आलभते संज्ञपयति ॥ २ ॥

निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत्। निर्ऋतिं [6]देवतां पाकयज्ञविधानेन पशुना

---

१. 'आलभेद' क०।
२. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग०।
३. कंसान्तगतं नास्ति क०।
४. 'यत्रासो च' क०।
५. चतुष्पथे' नास्ति ख० ग०।
६. 'देवतां०' नास्ति क०।

(हरिहर०)

यजेत् । [1]अत्रावकीर्णिनः अन्योऽपि हविर्यज्ञरूपः पशुरस्ति तेन हेतुना पाकयज्ञेन यजेत् इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

अप्स्ववदानहोमः । अप्सु जलेऽवदानानामेव[2] होमः देवतोद्देशेन प्रक्षेपो भवति [3]नाग्नौ । अवदानग्रहणात् आघारादीनां लौकिकाग्नावेव होमः ॥४॥

(जयराम०)

एतत्पशुप्रसङ्गेन पश्वन्तरं नैमित्तिकमभिधातुमाह—अथेत्यादि । 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः । अवकीर्णी ब्रह्मचारी सन् यः स्त्रियमुपैति ॥ सोऽनेनाधिक्रियते ॥१॥२॥

पाकयज्ञेन यजेतेत्यनेनान्योपि हविर्यज्ञरूपोऽवकीर्णपशुरस्तीत्युक्तम् ॥ ३ ॥

अप्स्वित्ययमग्न्यपवादोऽवदानमात्रस्य । आघारादि त्वग्नावेव ॥ ४ ॥

भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम् ॥ ५ ॥ तां छविं परिदधीत ॥ ६ ॥ ऊर्द्ध्ववालामित्येके ॥ ७ ॥ सम्वत्सरं भिक्षाचर्यं चरेत्स्वकर्म परिकीर्त्तयन् ॥ ८ ॥

(सरला)

भूमि पर पशु के मांस के पुरोडाश-रूप हविर्द्रव्य को पकाना (चाहिए) [कपाल पर नहीं] ॥ ५ ॥ उस गदहे की खाल को [अवकीर्णी पुरुष] धारण करे ॥ ६ ॥ ऊपर को [खाल का] वाल वाला हिस्सा करके [पहनना चाहिए या वाल शब्द का यह भी अर्थ भाष्यकार कहते हैं कि "खाल की पूँछ वाला हिस्सा ऊपर की ओर करके धारण करे] ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ७ ॥

अपने दुष्कर्म का कथन करता हुआ[1] [कि "मैं अवकीर्णी हूँ—मैं अवकीर्णी हूँ"] एक वर्ष तक भिक्षाचरण करना चाहिए ॥ ८ ॥

विशेषः—१. भाष्यकार कहते हैं कि यह श्रुति है कि "निरुक्त वा एनः कनीयो भवति" अर्थात् कहा हुआ पाप छोटा हो जाता है ।

(हरिहर०)

भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम् । भूमौ एव न कपालेषु पुरोडाशस्य श्रपणं पाको भवति, शाखापशौ पुरोडाशाभावात् । इहापूर्वपुरोडाशोऽर्थात् विधीयते, तस्य च संस्कार आज्येन सह क्रियते ॥ ५ ॥

तां छविं परिदधीत । ऊर्द्ध्ववालामित्येके । संवत्सरं भिक्षाचर्यं चरेत्स्वकर्म परिकीर्त्तयन् । ताम् आलब्धस्य गर्दभस्य छविं कृत्तिं परिदधीत प्रोर्णुवीत

---

१. 'तत्र' क० ।   २. 'एव' नास्ति क० ।   ३. 'नत्वग्नौ' ख० ग० ।

(हरिहर०)

आच्छादयीतेति यावत् । एके आचार्याः ताम् ऊर्द्धवालाम् उपरिपुच्छां परिदधीतेति वर्णयन्ति । अपरे तिर्यग्वालाम् । ततश्च विकल्पः । गर्दभपश्वालम्भानन्तरं तच्छविं परिदधानः संवत्सरं यावद्भिक्षाचर्यं सर्वतः चरेत् । किं कुर्वन् ?[1] स्वकर्म स्वीयमवकीर्णित्वं परिकीर्तयन् प्रकथयन् 'अहमवकीर्णी, भवति ! भिक्षां देहि' इत्येव[2] मादिना । स्वकर्म परिख्यापनं कुत इति चेत् ? "निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति" इति श्रुतेः ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

(जयराम०)

'भूमो पशु' इति शाखापशौ पुरोडाशाभावाद्विधानम् । तस्य चाज्येन सह संस्कारानुष्ठानम् ॥ ५ ॥

तामेव गर्दभस्य छविं त्वचं परिदधीत ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वबालां तिर्यग्बालां वेति विकल्पः । बालशब्देन पुच्छमभिधीयते ॥ ७ ॥

स्वकर्म अवकीर्णित्वम् । 'निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति' इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

अथापरमाज्याहुती जुहोति–कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कामाय स्वाहा १ [3]कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि काम कामाय स्वाहेति २ ॥ ९ ॥ अथोपतिष्ठते–सम्मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सम्बृहस्पतिः । सम्माऽयमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन चेति ॥ १० ॥ एतदेव प्रायश्चित्तम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

(सरला)

अब दूसरा [प्रायश्चित्त बताते हैं] घी की दो आहुतियाँ इन मंत्रों से 'हे काम ! मैं अवकीर्णी हूँ, मैं अवकीर्णी हूँ, हे काम ! काम के लिए स्वाहा । हे काम ! मेरे ऊपर द्रोह हुआ है, मेरे ऊपर द्रोह हुआ है, हे काम ! काम के लिए स्वाहा" है ॥ ९ ॥ अब "सम्मासिञ्चन्तु······" इस मन्त्र से मन्त्रोक्त देवता का उपस्थान (स्तुति) करता है । "मरुत मुझे सींचें । इन्द्र, बृहस्पति और यह

---

१. 'स्वकर्म परिकीर्तयन् अवकीर्णित्वं कथयन्' क० ।

२. 'आदिना' नास्ति ख० ग० । ३. 'दुग्धोऽस्म्यभिदुग्धोऽस्मि' क० ।

अग्नि मुझे प्रजा से और धन से सींचें" ॥ १० ॥ यही [गदहे का आलम्भन, एक वर्ष तक भिक्षाचरण और उपस्थान] अवकीर्णी का प्रायश्चित्त है ॥ ११ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में द्वादश कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १२ ॥

(हरिहर०)

अथापरमाज्याहुती जुहोति—कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कामाय स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि काम कामाय स्वाहेति । अथ इदानीम् अपरम् अन्यत् प्रायश्चित्तं अवकीर्णिनो[1] विधीयते । 'कामावकीर्णोऽस्मि' 'कामाभिद्रुग्धोऽस्मि'[2] इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमेकैकामेवमाज्याहुती द्वे जुहोति । 'इदं कामाय' इति[3] उभयत्र त्यागः । ते च द्वे आगन्तुत्वाच्चतुर्दशाहुत्यन्ते, 'आगन्तूनामन्ते निवेशः' इति न्यायात् ॥ ९ ॥

अथोपतिष्ठते—सम्मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सम्बृहस्पतिः । सम्मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन चेति । एतदेव प्रायश्चित्तम् । अथ होमानन्तरमुपतिष्ठते ऊर्ध्वीभूय "सम्मा सिञ्चन्तु"[4] इत्यादि सौत्रमन्त्रेण लिङ्गोक्ता देवताः प्रार्थयते । संवत्सरमित्यत्राप्यनुवर्त्तते । अतः प्रतिदिनं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयित्वा आधारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा-'कामावकीर्णोऽस्मि' 'कामावद्रुग्धोऽस्मि' इत्येताभ्यां[5] मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमाज्याहुतिद्वयं हुत्वा 'सम्मा सिञ्चन्तु' इति मन्त्रेण उपतिष्ठते संवत्सरं यावत् । एतदेव यदुक्तं गदर्भपश्वालम्भरूपम्[6] आज्याहुतिहोमात्मकं च,[7] "तदवकीर्णिनः प्रायश्चित्तद्वयं विज्ञेयम् ॥ १० ॥ ११ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

॥ इति हरिहर भाष्ये द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

---

१. 'अभिधीयते, ख० ग० ।

२. 'एताभ्यां प्रतिमन्त्रणाज्याहुती जुहो' क० ।

३. 'उभयत्र' नास्ति क० ।

४. 'इत्यादिना मन्त्रेण' ख० ग० ।

५. 'मन्त्राभ्यां' नास्ति क० ।

६. 'आलम्भन' ख० ग० ।

७. 'तत्' नास्ति क० ।

(जयराम०)

अथापरं प्रायश्चित्तान्तरं 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः। आज्याहुती द्वे जुहोति—'कामावकीर्णोऽस्मि' 'कामाभिद्रुग्धोस्मि' इत्येताभ्यां मन्त्राभ्याम्। एते आहुती आगन्तुत्वाच्चतुर्दशाहुत्यन्ते भवतः। अथ मंत्रार्थः। तत्र द्वयोः प्रजापतिरनुष्टुप् काम आज्यहोमे०। हे काम क्षोभक अहं कामेन त्वत्कृतक्षोभेण अवकीर्णः अभिभूतोऽस्मि, अतोऽवकीर्णः क्षतव्रतोऽस्मि। अतः कामाय शोधकत्वेन हविः कामयमानाय तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु। एवमभिद्रुग्धो हिंसितः, शिष्टं समानम् ॥ ९ ॥

अथोपस्थानमन्त्रार्थः। तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् लिङ्गोक्ता उपस्थाने०। मरुतो देवा मा मां सम्यक् सिञ्चन्तु अभीष्टप्रदानेन समर्द्धयन्तु, प्रजया च पुत्रादिरूपया तथा धनेन धर्मानुकूलसमृद्धया च, चकारात्सिञ्चन्तु। तथेन्द्रः सम्यक् सिञ्चत्वित्युत्तरत्रापि योज्यम् ॥ १० ॥

'एतदेव प्रायश्चित्तम्'।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।

तपोनिश्चययुग्वृत्तं प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशी कण्डिका

अथातः सभाप्रवेशनम् ॥ १ ॥ सभामभ्येतिसभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नम इति ॥ २ ॥ अथ प्रविशति–सभा च मा समितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ ॥ यो मा न विद्यादुप मा स तिष्ठेत्सचेतनो भवतु शर्ठ्सथे जन इति ॥ ३ ॥

(सरला)

राजसभा में प्रवेश

प्राक्कथन:—आवसथ्य-अग्नि-साध्य कर्मों के विधान के बाद साधारण कर्मों का विधान करते हैं।

हिन्दी:—अब सभा में [न्यायालय या राजसभा में] प्रवेश करने की [विधि बतलाते हैं ॥ १ ॥ "सभामङ्गिरसि···" यह मंत्र कहता हुआ सभा के सामने जाता है। "हे अङ्गिरस सम्बन्धी सभा ! तुम नादि[1] नाम की हो, तुम त्विषि[2] नाम की हो, उस तुमको नमस्कार है।" ॥ २ ॥ उसके बाद "सभा च·······" यह मन्त्र पढ़ते हुए सभा में प्रवेश करता है। "सभा एवं समिति (अर्थात् न्यायालय व कमेटी] और शोभन ज्ञान को देने वाली प्रजापति की दोनों कन्याएँ [मेरी रक्षा करें] जो मुझे न जाने वह मुझसे नीचे हो जाय, हमारे प्रभाव से सभी जन कहने वाले [अर्थात् न्यायाधीश] के विषय में सुबुद्धि [वाणी कुशल] वाले हो जांय ॥ ३ ॥

(हरिहर०)

अथातः सभाप्रवेशनम् ॥ अथावसथ्याग्निकर्मसाध्यविधानानन्तरं साधारणानि कर्माणि अनुविधेयानि यतः, अतो हेतोः सभाप्रवेशनं कर्म[3] व्याख्यास्यते ॥ १ ॥

---

१. नादि = नदन शील अर्थात् पुकारने वाली [जहाँ न्यायार्थी आ कर पुकार करते हैं]

२. त्विषि = चमकने वाली दीप्तिमान सभा [जो न्याय के निर्णय से चमकती है]

३. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग०।

(हरिहर०)

सभामभ्येति—सभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नम इति। यदा द्विजः सभां गच्छति तदा सभाम् अभि आभिमुख्येन एति [1]गच्छति। केन मन्त्रेण ? 'सभाङ्गिरसि' इत्यादिना ॥ २ ॥

अथ प्रविशति—सभा च मा समितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ यो मा न विद्यादुप मा स तिष्ठेत्सचेतनो भवतु शंसथे जन इति। अथाभिमुखमेत्य "सभा च मा सम्" इत्यादिना मन्त्रेण सभां प्रविशति ॥ ३ ॥

(जयराम०)

सभाप्रवेशनम्। 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

तत्र सभां प्रति अभ्येति अभिमुखं गच्छति-'सभाङ्गिरसि' इत्यनेन मन्त्रेण। तस्यार्थः—तत्राङ्गिरा गायत्री सभा तत्प्रवेशने०। सह धर्मेण सद्भिर्वा भातीति सभा। तथा नादिर्नदनशीला नाम नाम्नाऽसि ! हे आङ्गिरसि ! आङ्गिरोदेवते, बृहस्पत्यधिष्ठिते वा त्विषिर्दीप्ता नाम प्रसिद्धमसि, धर्मनिरूपणात्। तस्यै उक्तगुणवत्यै ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ २ ॥

अथ प्रवेशनमन्त्रार्थः। तत्र प्रजापतिस्त्रिष्टुप् सभा समितिश्च प्रवेशने०। सभा च संसत्, समितिश्च सङ्गरः, ते उभे प्रजापतेर्ब्रह्मणो दुहितरौ पुत्र्यौ मा मामवतामिति शेषः। यत एते सचेतसौ शोभनज्ञानदात्र्यौ। अथ सभावचनं सभासदः प्रति। यः पुमान् मां न विद्यात् मद्व्यवहारं न जानीयात् स पुमान् मा मामुपतिष्ठेत् उपासीत। ततोऽसौ शंसथ सम्भाषणाय सचेतनः सुबुद्धिः वादकुशल इत्यर्थः। भवतु मत्प्रभावादित्याशंसा ॥ ३ ॥

पर्षदमेत्य जपेत्—अभिभूरहमागमं विराड [2]प्रतिवाश्याः ॥ अस्याः पर्षद ईशानः सहसा सु दुष्टरो जन इति ॥ ४ ॥

स यदि मन्येत क्रुद्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते—या त एषा रराट्या तनूर्मन्योः[3] क्रोधस्य नाशनी ॥ तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः ॥ द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ[4] ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्यसहासाविति ॥ ५ ॥

---

१. 'गच्छति' नास्ति क०। २. 'प्रतिवाच्यः' क०।
३. 'मन्यो' इत्यपि क्वचित्पाठः। ४. 'तौ भवितः क्रो' क०।

(सरला)

सभा के समीप में पहुँचकर 'अभिभूरहं...' यह मन्त्र जपना चाहिए। "मैं दबाने वाला, चमकने वाला और प्रतिवादी शून्य अर्थात् निरुत्तर करने वाला, यहाँ आया हूँ, इस सभा का स्वामी अपनी शक्ति से अपनी प्रजा में उग्र होता हुआ भी मेरे लिए सुजन हो जाय ॥ ४ ॥ [सभा में जाने पर] वह यदि समझें कि यह [स्वामी] क्रोधित है तो उसको सम्बोधन करते हुए यह मन्त्र पढ़े कि "यह नाश करने वाला जो मन्यु का क्रोध का रूप जो तुम्हारे माथे पर है उसको बुद्धिमान ब्रह्मचारी देवता दूर हटावें। मैं द्यौ हूँ और मैं पृथिवी हूँ [अर्थात् आकाश की की तरह विशाल हृदय वाला हूँ और पृथ्वी की तरह शान्त मन वाला स्वतंत्र हो कर] वे दोनों और हम तुम्हारे क्रोध को [मंत्र के बल से] दूर करते हैं जैसे खच्चरी ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

पर्षदमेत्य जपेदभिभूरहमिति। [1]पर्षदं सभामेत्य प्रविश्य 'अभिभूरहम्' इति मन्त्रं जपेत् ॥ ४ ॥

स यदि मन्येत क्रुद्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते या त एषेति। स सभां प्रविष्टः यदि चेन्मन्येत जानीयात् अयं सभापतिः क्रुद्ध इति, तं क्रुद्धम् अभिलक्षीकृत्य मन्त्रयते क्रोधापनयनाय "या त एषा रराठ्या तनूर्मन्योः क्रोधस्य नाशनी। तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः। द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्यंसहासौ" इत्यनेन मन्त्रेण। असाविति क्रुद्धस्य नाम ॥ ५ ॥

(जयराम०)

पर्षदं सभामेत्यागत्य जपेत्-'अभिभूरहम्' इति मंत्रम्। अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् पर्षत्सभोपस्थाने०। अभिभूः परेषामभिभवनशीलोऽहमागतोऽस्मि। किम्भूतः? अविराट् विरुद्धतया राजते स विराट् रुद्धवीर्यः, न विराट् अविराट्। तथा अप्रतिवाशी प्रतिवादिशून्यः। आः इत्यव्ययं सम्बुद्ध्यर्थम्। यद्वा अप्रतिवाश्या इति पर्षदो विशेषणम्। अप्रतिक्षेपाया अस्याः पर्षदः सभाया ईशानः स्वामी स्वासु प्रजासु दुष्टरोऽपि स मयि सुजनः अस्त्विति शेषः। दुष्टरश्चोग्रः ॥ ४ ॥

साधको यदि सभेशं क्रुद्धं जानीयात्तदा तमभिमन्त्रयते क्रोधापनोदाय-'या त एषा' इति मन्त्रेण। अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् लिङ्गोक्ता क्रोधापनयने०। हे असौ अमुकनामन् सभेश! ते तव रराटं ललाटं तत्र भवा रराट्या या क्रोधस्य

---

१. 'परिषदम्' ख० ग०।

(जयराम०)

तनूः शरीरं ताम् । देवा इन्द्राद्याः, ब्रह्मचारिणश्च सनकाद्या विनयन्तु अपनयन्तु । कथम्भूतस्य क्रोधस्य ? [1]मन्योर्दीप्तस्य किंभूता देवाः ? सुमेधसः स्वबुद्धया क्रोधम्-पाकर्तुं शक्ताः । किम्भूता तनूः ? नाशनी चतुर्वर्गस्येत्यर्थात् । एषा ललाटत्रिवलि-रूपा । मन्त्राभ्यासेनात्मनोप्युत्कर्षमाह-द्यौराकाशरूपोऽहमिति क्रोधावरकत्वमुक्तम् । पृथिवी च क्षितिरूपश्चाहमिति क्रोधाधारत्वेन स्वातन्त्र्यञ्चोक्तम् । अतस्तौ तत्स्वरूपो भूत्वा ते तव क्रोधं नयामसि मन्त्रबलेनापनयामि । कथम् ? यथा अश्वतरी गर्भपुष्टि-मसहमाना अमार्गेण मुञ्चन्ती तथेति व्याख्येयम् ॥ ५ ॥

अथ यदि मन्येत द्रुग्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते—तां ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र यत्र निहिता वाक्तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमधरो [2]मत्त्वं द्यस्वेति ॥ ६ ॥ एतदेव वशीकरणम् ॥ ७ ॥ १३ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

(सरला)

अथवा वह यदि समझे कि यह द्रोही है तो "तान्ते......" इस मंत्र से उसको अभिमुख करके कहे । "तुम्हारी वाणी को मुख में पकड़ता हूँ,[3] तुम्हारी वाणी को हृदय में पकड़ता हूँ । जहाँ-जहाँ तुम्हारी वाणी स्थित है वहाँ-वहाँ से उसे पकड़ता हूँ । जो मैं कह रहा हूँ वह सत्य हो जाय, तुम मुझसे नीचे हो जाओ ।" ॥ ६ ॥ यह ही [अवश पुरुष का या सभा का] वशीकरण है ॥ ७ ॥

इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड में त्रयोदश कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १३ ॥

(हरिहर०)

अथ यदि मन्येत द्रुग्धोयमिति तमभिमन्त्रयते—तां ते वाचमित्यादि । अथ [4]यदि

---

१. 'हे मन्यो क्रोधयुक्त' इत्यपि क्वचित्पाठः । २. 'मत्तद्यस्व' क० ।

३. तु० हिरण्यकेशि १।४।१५।६।

४. 'यदि गोदोहस्य कर्ता अयं मन्येत' क० ।

(हरिहर०)

द्रुग्धो द्रोहकर्त्ता अयमिति मन्यते तर्हि [1]तमभिमन्त्रयते "तां ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र यत्र निहिता वाक् तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमधरो भत्वं ह्यस्व" इत्यनेन[2] मन्त्रेण ॥ ६ ॥

एतदेव अवशस्य वशीकरणम् ॥ ७ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

॥ इति हरिहर भाष्ये त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

(जयराम०)

अथ साधको यदि मन्येतायं सभेशो द्रुग्धो द्रोहकारीति, तदा तमभिमन्त्रयते-'तां ते' इति मन्त्रेण। अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् ईशो वशीकरणे०। हे सभेश भवान् मद्द्रोहकारिणीं वाचमास्ये मुखे वर्तमानामादत्ते उपक्रामति। तामहं ते तव हृदय एवादधे स्थापयामि। किञ्च यत्र यत्र स्थाने वाक् वायु वशान्निहिता तां ततस्ततः स्थानात् आददे मद्वश्यां करोमि। किञ्च, यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमस्तु त्वं च मत् मत्तः अधरो नीचः। ह्य अद्य इदानीं स्व भव। अद्येत्यत्र वर्णलोपः। अधर उ इति छेदः। तत्र उ इति दाढ्यार्थम्। अतिशयेन स्व भूयाः। यद्वा, तां मद्द्रोहकारिणीं वाचम् तव हृदय एव अतिशयेन ह्यस्व अवखण्डय। शिष्टं समानम् ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ १३ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

१. 'तमभिमन्त्रयते' नास्ति क०। २. 'मन्त्रेण अनुमन्त्रणं अवशस्य' क०।

अथ चतुर्दशी कण्डिका

अथातो रथारोहणम् ॥ १ ॥ युङ्क्तेति रथं संप्रेष्य युक्त इत्युक्ते साविराडित्येत्य चक्रे अभिमृशति ॥ २ ॥ रथन्तरमसीति दक्षिणम् ॥ ३ ॥ बृहदसीत्युत्तरम् ॥ ४ ॥ वामदेव्यमसीति कूबरीम् ॥ ५ ॥

(सरला)

रथ पर चढ़ना

प्राक्कथनः—प्राचीन काल में यातायात के साधन बहुत कम थे। रेल गाड़ी या हवाई जहाज आदि नहीं था बल्कि कहीं दूर गमन के लिए एकमात्र साधन रथ ही था। अतः रथ की अत्यावश्यकता के कारण उस पर चढ़ने का कर्म या विधि का वर्णन प्रस्तुत कण्डिका का विषय है। लोग इसलिए इस कर्म को करते रहे हैं कि कहीं राह में कोई अपशकुन न हो और यात्रा शुभ हो।

हिन्दी—अब रथ पर चढ़ना [कहेंगे] ॥ १ ॥ [सबसे पहले] रथ को जोड़ो इस प्रकार [सारथि को] सूचित करके। जोड़ दिया है इस प्रकार [सारथि के] कहने पर यह विराट् है यह [कहता हुआ] [रथ के समीप में] जा कर "तुम रथन्तर [साम] हो" यह कहते हुए दाहिने पहिए को और "तुम बृहत् हो" इससे बाएँ पहिए को स्पर्श करता है ॥ २, ३, ४ ॥ 'तुम वामदेव्य हो' इस मन्त्र से दोनों पहियों को जोड़ने वाले] डण्डे का स्पर्श करना चाहिये ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

अथातो रथारोहणम्। अथ इदानीं[1] कार्यार्थं जिगमिषोः द्विजस्य [2]यतो यानमपेक्षितमतो हेतो [3]रथारोहणं तावत् व्याख्यायते ॥ १ ॥

युङ्क्तेति रथं संप्रेष्य युक्त इत्युक्ते साविराडित्येत्य चक्रे अभिमृशति रथन्तरमसीति दक्षिणं बृहदसीत्युत्तरम्। तत्र युङ्क्तेति सारथिं संप्रेष्याऽऽज्ञाप्य ततः प्रेषितेन सारथिना 'युक्तो रथः' इति प्रोक्ते सति "सा विराट्" इत्यनेन मन्त्रेण एत्य रथसमीपमागत्य चक्रे रथाङ्गे अभिमृशति। कथम् ? 'रथन्तरमसि' इत्यनेन मन्त्रेण[4] दक्षिणम्, 'बृहदसि' इत्यनेनोत्तरं चक्रम्। [बृह[5]द्रथन्तरे सामनी ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

---

१. 'इदानीं' नास्ति क०। २. 'यतो यानारोहणं क०।
३. 'रोहणाख्यं कर्म वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग०।
४. 'मन्त्रेण' नास्ति क०। ५. धनुश्चिन्हान्तर्गतं नास्ति क०।

(हरिहर०)

वामदेव्यमसीति कूबरीम् ।] 'वामदेव्यमसि' इति मन्त्रेण कूबरीम् ईषादण्डाग्रम् 'अभिमृशति' इत्यनुवर्त्तते ॥ ५ ॥

(जयराम०)

अथातो रथारोहणम् । 'वक्ष्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

ततः स्वामी रथं 'युङ्क्त' इति प्रैषेण सारथिं प्रेषयित्वा प्रेषितेन तेनैव 'युक्तः' इति निवेदिते 'सा विराट्' इत्येतावता मन्त्रेण रथमेत्यागत्य चक्रे रथाङ्गे हस्तेनाभिमृशति । तत्र 'रथन्तरमसि' इत्येतावता मन्त्रेण दक्षिणं चक्रम् । 'बृहदसि' इत्येतावता वामम्। अथ मन्त्रार्थः—तत्र त्रयाणां परमेष्ठी यजूंषि अङ्गान्यभिमर्शने० । योऽयं रथः सा विराट् अन्नदात्री देवता-रथंतरादीनि सामानि ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कूबरीं युगन्धरम् ॥ ५ ॥

हस्तेनोपस्थमभिमृशति—अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथ यौ ध्वान्तं वाताग्रमनु संचरन्तौ । दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि तेनोऽग्नयः पप्रयः पारयन्त्विति ॥ ६ ॥ नमो माणिचरायेति दक्षिणं धुर्य्यं प्राजति ॥ ७ ॥ अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्संप्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिक्रम्य पितॄन् ॥ ८ ॥

(सरला)

"अङ्कौ··· " इस मंत्र से हाथ से रथ के बैठने के स्थान को स्पर्श करना चाहिए । "दोनों अङ्क और दोनों न्यङ्क जो रथ के दोनों ओर हैं जो दुर्गम मार्ग में वाताग्र का पीछा करते हैं जिससे शस्त्र दूर रहते हैं और जो इन्द्रियों वाली है और जो पंखों वाली है, हम लोगों के मनोरथ को पूर्ण करने वाली ये अग्नियाँ[1] हमें निर्विघ्न रूप से अभीष्ट स्थान को पहुँचाएँ ॥ ६ ॥ "माणिचर[2] के लिए नमस्कार है" इस मंत्र से [रथ में नधे हुए] दाहिने घोड़े को हाँकता है ॥ ७ ॥ देवताओं के स्थान को पहुँचने से पहले ही रथ से उतर जाना चाहिए । ब्राह्मणों के निकट जा कर, गायों के मध्य में जा कर और पितरों [अर्थात् बड़ों] के पास जा कर [भी रथ से उतर जाना चाहिए] ॥ ८ ॥

---

१. अङ्क न्यङ्क आदि अग्नि विशेषों के नाम हैं । तै. सं. १।७।७।२ और पञ्चविंश ब्राह्मण १।७।५।

२. यह शब्द केवल यहीं मिलता है ।

(हरिहर०)

हस्तेनोपस्थमभिमृशति । उपस्थं रथमध्यम् उपवेशनस्थानमिति [1]यावत् । अभिमृशति आलभते हस्तेनेति सर्वत्र [2]सम्बध्यते । [3]तत्र मन्त्रः—अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनु सञ्चरन्तौ । दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि तेनोऽग्नयः पप्रयः पारयन्तु' इति ॥ ६ ॥

नमो माणिचरायेति दक्षिणं धुर्यं प्राजति । गवां मध्ये स्थापयति 'नमो माणिचराय' इत्यनेन दक्षिणं धुर्यं दक्षिणधुरायां युक्तम्[4] अश्वं वृषभं[5] वा प्राजति प्रतोदेन प्रेरयति, तूष्णीं वामम्[6] । एवं गवां मध्ये[7] रथं स्थापयति ॥ ७ ॥

अप्राप्य देवता प्रत्यवरोहेत् संप्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिक्रम्य पितॄन् । अप्राप्य अनासाद्य दूरत एव देवता हरिहरब्रह्मादिकाः प्रति अवरोहेत् [8]रथादवरोहेत् । संप्रति ब्राह्मणान् संप्रति निकटे प्रत्यवरोहेत् । मध्ये गाः सुरभीः प्राप्य मध्ये प्रत्यवरोहेत् । अभिक्रम्य पितॄन् अभिमुखमेत्य पितॄन् पित्रादीन् मान्यान् प्रत्यवरोहेत् ॥ ८ ॥

(जयराम०)

उपस्थं नीडम् । हस्तेनेति सर्वत्र सम्बध्यते । तत्र मन्त्रः । अङ्कौ न्यङ्काविति । तस्यार्थः—तत्र प्रजापतिस्त्रिष्टुप् अङ्क तद भिमर्शने० । अङ्कौ द्वौ अङ्काख्यगणपावग्निविशेषौ । एवं न्यङ्कावपि । एवंभूतौ यावग्नी अभितो रथं रथस्य सर्वतो रक्षकत्वेन ध्वान्तं दुर्गमं प्राप्य वातस्याग्रं मुखमनु अनुसृत्य सञ्चरन्तौ सम्यग्गच्छन्तौ वर्तेते । ये चापरे दूरेहेतिः बृहज्ज्वालः तथा इन्द्रियं चात्रेन्द्ररथः तथा इन्द्रियानुग्राहकः पतत्रि पक्षिकुलानुग्राहकमग्निवृन्दम् । एतेऽग्नयः नोऽस्मान्पारयंतु निर्विघ्नेनाभीष्टं देशं प्रापयन्तु । किंभूताः ? पप्रयः अस्मन्मनोरथपूरणशीलाः ॥ ६ ॥

ततो दक्षिणं धुर्यं धुरि युक्तं वाहं प्राजति प्रकर्षेणाजयति गमनाय प्रेरयति । अज गताविति धातुः । 'नमो माणिचराय' इति मन्त्रेण । तस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरुष्णिक् माणिचरः प्रेरणे० । माणिचरो रथाधिष्ठात्री देवता । तूष्णीं वामप्राजनम् ॥ ७ ॥

देवता अप्राप्य तद्दर्शनात्प्राक् यावच्छक्ति प्रत्यवरोहेत् रथादवतरेत् । पदाति-

---

१. 'इति यावत्' नास्ति क० । २. 'सम्बध्यते' नास्ति क० ।
३. 'अत्र' ख०,ग० ।
४. 'अश्वं नास्ति क० ।
५. 'वा' नास्ति क० । ६. 'एवं' नास्ति क० ।
७. 'रथं' नास्ति क० । ८. 'अवतरेत्' ख० ग० ।

न स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी स्याताम् । ॥ ९ ॥ मुहूर्त्तमतीयाय जपेदिह रतिरिह रमध्वम् ॥ १० ॥ एके मास्त्विह रतिरिति च ॥ ११ ॥

(सरला)

स्त्री और ब्रह्मचारी को सारथी नहीं बनाना चाहिए ॥ ९ ॥ [जब चलते-चलते] कुछ क्षण हो जाए तो "यहाँ रति है यहाँ रमण करो"[1] [इस मंत्र का] जप करना चाहिए ॥ १० ॥ [किन्तु] कुछ आचार्यों का मत है कि "यहाँ मत आराम करो" यह मंत्र भी [जपना चाहिए] ॥ ११ ॥

(हरिहर०)

न स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी स्याताम् । स्त्री नारी ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी न स्यातां न भवेताम् ॥ ९ ॥

मुहूर्त्तमतीयाय जपेदिह रतिरिह रमध्वमेके मास्त्विह रतिरिति च । मुहूर्तं क्षणम्[2] अतीयाय [3]अभ्येत्य जपेत् 'इह रतिः' इत्यादिकं मन्त्रम् ॥ १० ॥ ११ ॥

(जयराम०)

भूत्वा गच्छेदित्यर्थः । संप्रति दृष्ट्वा ब्राह्मणान्प्रत्यवरोहेदित्यनुषङ्गः सर्वत्र । गाः प्राप्य तन्मध्यं गत्वा । पितॄनभ्यागच्छतः पित्रादिमान्यानभिक्रम्य प्रह्वत्वेनाभिपत्य उत्तीर्य च मुहूर्तमतीयाय अतिवाह्य जपेदिहरतिरित्यमुं मन्त्रम् । तस्यार्थः—तत्र प्रजापतिर्यजुरग्निः रमणे० । हे अग्नयः यूयम् एके मुख्या इह रथे रतिरस्ति अतो मा मां प्राप्य भवतामपि इह मद्रथे सुशोभना रतिरस्तु ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

स यदि दुर्बलरथः स्यात्तमास्थाय जपेदयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषदिति ॥ १२ ॥ स यदि अभ्यास्तम्भमुपस्पृश्य भूमिं वा जपेदेष वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषदिति ॥१३॥ तस्य न काचनार्त्तिर्न रिष्टिर्भवति ॥ १४ ॥ यात्वाध्वानं विमुच्य रथं यवसोदके दापयेदेष उह वाहनस्यापह्नव इति श्रुतेः ॥ १५ ॥ १४ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयकाण्डे चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

१. यजुः ८।५१। पंद्रहवें सूत्र की श्रुति शतपथ १।८।२।९ से उद्धृत है ।
२. 'अभीयाय' क० ।
३. 'अत्येत्य' ख० ग० ।

(सरला)

यदि वह रथ दुर्बल हो तो उस पर चढ़ कर 'अयवाम ......' यह मंत्र जपना चाहिए। "हे अश्विनौ। यह तुम्हारा रथ है। इसे न तो दुर्गम मार्ग में और न तो उलटने से हानि हो" ॥ १२ ॥ यदि वह रथ सीधा न चले तो रथ के झण्डे को या भूमि को स्पर्श करके "एष वाम......" यह मंत्र जपना चाहिए। "हे अश्विनौ ! यह तुम्हारा रथ है। इसे दुर्गम मार्ग में या उलटने में हानि न हो" ॥ १३ ॥ [जो इस मंत्र को जपता है] उसको न कोई पीड़ा और न तो कोई विघ्न ही होता है ॥ १४ ॥ मार्ग के पार पहुँचकर [अर्थात् रास्ता तै करके] रथ को अलग करके [घोड़ों को] चारा [घास आदि] और पानी देना चाहिए क्योंकि यह श्रुति है कि "इस वाहन का श्रमापनयन घास और पानी का देना ही है" ॥ १५ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड के चतुर्दश कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १४ ॥

(हरिहर०)

स यदि दुर्बलरथः स्यात्तमास्थाय जपेत्। सः रथी यदि चेदध्वानं गच्छन् दुर्बलः क्षीणो रथोऽस्येति दुर्बलरथः स्याद् [1]भवेत्तदा [2]तं रथम् आस्थाय आरुह्य वक्ष्यमाणं मन्त्रं जपेत्—"अयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषत्" इति ॥ १२ ॥

सयदि भ्रश्यात् स्तम्भमुपस्पृश्य भूमिं वा जपेत्—एष वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषदिति। स रथः यदि पुनः भ्रश्यात् चलने कुटिलो भवेत् तदा स्तम्भं रथध्वजदण्डं भूमिं वा उपस्पृश्य जपेत्—'एष वामश्विना रथः' इति मन्त्रम् ॥ १३ ॥

तस्य न काचनार्त्तिर्न रिष्टिर्भवति। तस्य रथिनः न काचन अर्त्तिः पीडा न च रिष्टिरुपसर्गो भवति य एवं दुर्बलरथ उद्भ्रान्तरथो वा जपति ॥१४॥

यात्वाऽध्वानं विमुच्य रथं यवसोदके दापयेदेष उ वाहनस्यापन्हव इति श्रुतेः। यात्वा गत्वा अध्वानं मार्गं विमुच्य मुक्त्वा किम् ? रथं रथयुक्तं वाहं [3]यवसोदके यवसं च उदकं च यवसोदके घासपानीये ते दापयेत् [4]यवसोदके

---

१. 'भवेत्' नास्ति क०। २. 'य' क०।
३. 'यवसोदके' नास्ति ख० ग०। ४. 'धश्वेभ्यो यवसोदके' ख० ग०।

(हरिहर०)

दीयेतामिति भृत्यान् प्रेषयेत् । कुतः ? एष उ वाहनस्य अश्वादेः अपह्नवः क्षमापनम् इति श्रुतेः [1]वचनात् । एष कः ? [2]तस्मात् येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात् [3]पाययतैनं सुहितं कुरुत ॥ १५ ॥

इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

(जयराम०)

स साधको यदि दुर्बलरथः दुर्बलो रथो यस्य स तथा स्यात्तदा तं रथमास्थाय जपेत् 'अयं वाम्' इति मन्त्रम् । तस्यार्थः—तत्र द्वयोः प्रजापतिरनुष्टुप् अश्विनौ जपे० । हे अश्विना अश्विनौ अयं वां युवयो रथः दुर्गे विषमस्थाने स्तरः हिंसकाद्वेतोर्मा मां मारिषत् माहिंसिष्ट ! स्तृञ्रिषौ हिंसार्थौ । एतेनोत्तरोऽपि व्याख्यातः ॥ १२ ॥

स रथो यद्येवमभिमन्त्रितोऽपि भ्रम्गात् कुटिलञ्चच्छेत्तदा तद्ध्वजस्तम्भं भूमिञ्चोपस्पृश्य जपेत् 'एष वाम्' इत्यमुं मन्त्रम् ॥ १३ ॥

अर्तिः पीडा । रिष्टिर्विघ्नः ॥ १४ ॥

उ निश्चये । एष घासोदकदानरूपोऽपह्नवः अपराधमार्जनम् ॥ १५ ॥ १४ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये चतुर्दशी कण्डिका ॥ १२ ॥

---

१. 'श्रवणात्' ख० ग० । २. 'कस्मात्' क० ।
३. 'पाययतैतत्सुहितं' क० ।

पञ्चदशी कण्डिका

अथातो हस्त्यारोहणम् ॥ १ ॥ एत्य हस्तिनमभिमृशति—हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसीति ॥ २ ॥ अथारोहति—इन्द्रस्य त्वा वज्रेणा[1]भितिष्ठामि स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ३ ॥ एतेनैवाऽश्वारोहणं व्याख्यातम् ॥ ॥ ४ ॥

(सरला)

हाथी पर सवार होने की विधि

हिन्दी:—अब यहाँ से हाथी पर सवार होने की [विधि बतलाते हैं] ॥ १ ॥ हाथी के पास आकर "हस्तियशस......" इस मंत्र से उसे स्पर्श करता है। "तुम हाथियों के यश हो तुम हाथियों की कान्ति हो" ॥ २ ॥ स्पर्श करने के बाद "इन्द्रस्य......" इस मंत्र से सवार होता है "इन्द्र के वज्र के साथ मैं तुम्हारे ऊपर बैठता हूँ मुझे कल्याणपूर्वक पार पहुँचाओ" ॥ ३ ॥ इस हस्त्यारोहण से ही घोड़े पर चढ़ना भी व्याख्यात है ॥ ४ ॥

(हरिहर०)

अथातो हस्त्यारोहणम् । अथ रथारोहणानन्तरं[2] यतो रथेऽधिकृतस्य हस्त्यारोहणमप्यपेक्षितं भवति अतो हेतोः हस्त्यारोहणं [3]व्याख्यायते ॥ १ ॥

एत्य हस्तिनमभिमृशति । एत्य हस्तिसमोपमागत्य हस्तिनं गजम् अभिमृशति आलभते वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण—"हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि" इति मन्त्रेण ॥ २ ॥

अथारोहतीन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारयेति । अभिमर्शनानन्तरम् आरोहति हस्तिनम् 'इन्द्रस्य त्वा' इति मन्त्रेण ॥ ३ ॥

एतेनैवाश्वारोहणं व्याख्यातम् । एतेन हस्त्यारोहेणैवाश्वारोहणं व्याख्यातं कथितम् । अतश्च अश्वसमीपमेत्य अश्वमभिमृशति—'अश्वयशसमस्यश्व-

---

१. 'यद्यप्यत्र सर्वेषु पुस्तकेषु अग्रे हरिहरव्याख्याने च प्रतीके क० ख० पुस्तकयोः 'भितिष्ठामि' इति पाठ उपलभ्यते तथापि जयरामव्याख्याने 'अधितिष्ठामि' इति प्रतीकोपलब्धेः तदनुसार्यर्थस्य च तेन व्याख्यानाच्च 'अधितिष्ठामि' इति पाठः साधुः प्रतीयते ।

२. 'यतः' नास्ति क० ।   ३. 'वक्ष्यते इति सूत्रशेषः' ख० ग० ।

(हरिहर०)

वर्चसमसि' इति मन्त्रेण । ततोऽश्वमारोहति–'इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभि-तिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारय' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ४ ॥

(जयराम०)

अथातो हस्त्यारोहणम् । 'वक्ष्यते' इति शेषः ॥ १ ॥

हस्तिनमेत्य तं स्पृशति—'हस्तियशसमसि' इत्यनेन मन्त्रेण । तस्यार्थः—तत्र द्वयोर्ब्रह्मा यजुषी हस्तीन्द्रौ देवते स्पर्शनारोहणयोः० । हस्तिनामैरावतस्त्वेन प्रसिद्धं यश एव हस्तियशसं तद्रूपोऽसि । तथा तेषां वर्चो दीप्तिरेव हस्तिवर्चसं तद्रूपश्चासीति ॥ २ ॥

अथ तमारोहति—'इन्द्रस्य त्वा' इति मन्त्रेण । तस्यार्थः–इन्द्रस्य वज्रेणायुधेन सहाहमिन्द्रो भूत्वा त्वा त्वामधितिष्ठामि सर्वशत्रुजयार्थमारोहामि, त्वं च मा मां स्वस्ति कल्याणं यथा तथा पारयेत्युक्तार्थम् ॥ ३ ॥

एवमेवाश्वारोहणं कर्तव्यम् । तत्र मन्त्रोहः । ऊहश्च हस्तिस्थाने अश्वाभिधानम् ॥ ४ ॥

उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते–त्वाष्ट्रोसि त्वष्टृदैवत्यः स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ५ ॥

(सरला)

ऊंट पर यदि चढ़ने की इच्छा हो तो उसको "त्वष्ट्रोऽसि" इस मंत्र से अभिमंत्रित [संबोधन] करना चाहिए । 'हे ऊँट तू त्वष्टा का पुत्र है त्वष्टा तुम्हारा देवता है मुझे कल्याण पूर्वक पार पहुँचाओ ॥ ५ ॥

(हरिहर०)

उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते—त्वाष्ट्रोऽसि त्वष्टृदैवत्यः स्वस्ति मा सम्पारयेति । उष्ट्रं क्रमेलकम् आरोढुमिच्छन् अभिमन्त्रयते–'त्वाष्ट्रोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण ॥ ५ ॥

(जयराम०)

उष्ट्रमारोक्ष्यन् आरोढुमिच्छन् तं दृष्ट्वाऽभिमन्त्रयते–'त्वाष्ट्रोऽसि' इति मन्त्रेण । एतदाद्यर्थः सुगमः । तत्र परमेष्ठी यजुरुष्ट्रस्तदारोहणे० ॥ ५ ॥

रासभमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते–शूद्रजन्माऽऽग्नेयो वै द्विरेताः स्व-

स्ति मा संपारयेति ॥ ६ ॥ [1]पन्थानमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ७ ॥ चतुष्पथमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय [2]चतुष्पथसदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ८ ॥ नदीमुत्तरिष्यन्न-भिमन्त्रयते—नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ९ ॥

(सरला)

गदहे पर सवारी की इच्छा हो तो उसको "शूद्रो…… …" इस मंत्र से संबोधित करना चाहिए। "तुम शूद्र हो, शूद्र से तुम्हारा जन्म है, तुम अग्नि के सम्बन्धी हो, तुम दो वीर्यों वाले हो मुझे कल्याण से पार पहुँचाओ ॥ ६ ॥ पथ को अभिमंत्रित करता है—इस मंत्र से 'रुद्र के लिए नमस्कार है जो मार्ग में रहते हैं। मुझे कल्याण से पार पहुँचाइए' ॥ ७ ॥ चौराहे को अभिमंत्रित करता है इस मंत्र से "रुद्र के लिए नमस्कार है जो कि चौराहे में रहते हैं मुझे कल्याण से पार पहुँचाइए ॥ ८ ॥ नदी को पार करने की इच्छा हो तो "नमो रुद्राया……" इस मंत्र से अभिमंत्रित करना चाहिए। "रुद्र के लिए नमस्कार है जो जलों में रहते हैं। मुझे कल्याण से पार पहुँचाइए" ॥ ९ ॥

(हरिहर०)

रासभमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते—शूद्रोऽसि शूद्रजन्माऽऽग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्ति मा सम्पारयेति। रासभं गर्दभम् आरोढुमिच्छन् 'शूद्रोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेणा-भिमन्त्रयते [3]अभिमुखः सन् मन्त्रं पठति। रासभोऽत्राश्वतरः प्रतीयते, मन्त्र-लिङ्गात् ॥ ६ ॥

चतुष्पथमभिमन्त्रयते—नमो रुद्रायेत्यादि। चतुष्पथं चत्वारः पन्थानो यस्मिन् स चतुष्पथः चतुर्मार्गाभिसरणप्रदेशस्तम् एत्य [4]अभिमन्त्रयते-'नमो रुद्राय चतुष्पथसदे स्वस्ति मा सम्पारय' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ७ ॥ ८ ॥

नदीमुत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते—नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति। नदीं स्रवन्तीम् उत्तरिष्यन् पारं परिगन्तुमिच्छन् 'नमो रुद्रायाप्सुषदे' इत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ ९ ॥

---

१. 'इदं सूत्रं ख० ग० पुस्तकयोः सूत्रपाठे सर्वत्र च भाष्येषु न दृश्यते। तथापि क० पुस्तके सूत्रपाठे हरिहरभाष्येऽग्रेतनसूत्रव्याख्याने 'पथिषदे' इत्यस्य स्थाने 'चतुष्प-थसदे' इत्यस्योपलम्भात्, विश्वनाथकृतवृत्तौ तद्व्याख्याने चोपलम्भादस्माभिर्मूले नोपेक्षितम्। तदर्थश्च—साधको यदा ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छन् पन्थानमेति तदा तम-भिमन्त्रयते—'नमो रुद्राय' इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु सुगमः।

२. 'पथिषदे' ख० ग०।

३. धनुश्चिन्हान्तर्गतं नास्ति क०। ४. 'अभिमन्त्रयते' नास्ति क०।

(जयराम०)

रासभं चाश्वतरं, मन्त्रलिङ्गात् । तदर्थः—तत्र विश्वामित्रः पङ्क्तिः रासभस्तदारोहणे० । हे रासभ त्वं शूद्रः हीनः असि । यतः शूद्रं शोकावहं जन्म यस्य सः । आग्नेयः अग्निदेवत्यः । अश्वाद् गर्दभ्यामुद्भूतत्वाद् द्विरेताः ॥ ६ ॥

चतुष्पथं गच्छस्तमभिमन्त्रयते-'नमो रुद्राय' इति मन्त्रेण । तत्र परमेष्ठी अनुष्टुप् रुद्रो रक्षणे० । पथिषु सीदति तिष्ठतीति पथिषत्तस्मै । एवमुत्तरत्रापि ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते—सुनावमिति ॥ १० ॥ उत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते—सुत्रामाणमिति ॥ ११ ॥ वनमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ १२ ॥ गिरिमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय गिरिषदे स्वति मा संपारयेति ॥ १३ ॥

(सरला)

नौका पर चढ़ने की इच्छा से "सुनाव......"[1] इस मंत्र अभिमंत्रित करना चाहिए ॥ १० ॥ उतरना चाहता हुआ "सुत्रामाणम्......" इस मंत्र से अभिमंत्रित करे ॥ ११ ॥ वन में [प्रवेश करने की इच्छा से] उसे अभिमंत्रित करता है "रुद्र के लिए नमस्कार है जो वनों में रहते हैं वह मुझे कल्याण पूर्वक पार पहुँचावें ॥ १२ ॥ पर्वत पर चढ़ने की इच्छा से "नमो रुद्राय गिरि......" इस मंत्र से अभिमंत्रित करना चाहिए। "रुद्र के लिए नमस्कार है जो पर्वत पर पर रहने वाले हैं वह मुझे कल्याण पूर्वक पार पहुँचाएँ" ॥ १३ ॥

(हरिहर०)

नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते—सुनावमिति । नावं तरीम् आरोढुमिच्छन् "सुनावमारुहे" (य० सं० २१—७) इत्यनयर्चाऽभिमन्त्रयते ॥ १० ॥

उत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते-सुत्रामाणमिति । उत्तरिष्यन्नुत्तर्तुं प्रत्यवरोढुम् इच्छन् तामेवाभिमन्त्रयते "सुत्रामाणम्" (य० सं० २१–६) इत्यनयर्चा ॥ ११ ॥

वनमभिमन्त्रयते-नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मासम्पारयेति । वनं काननं प्रवेष्टुकामः 'नमो रुद्राय वनसदे' इत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ १२ ॥

गिरिमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय गिरिषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति । गिरिं पर्वतम् आरोढुकामोऽभिमन्त्रयते 'नमो रुद्राय गिरिषदे' इति मन्त्रेण ॥१३॥

---

१. यजु० २१।७।

(जयराम०)

"[1]सुनावम्" (य० सं० २१-७) इति मन्त्रेण नावमारुह्यावततुंमिच्छन् 'सुत्रामाणम्'[2] इति मन्त्रेणावतरेत् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

श्मशानमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय पितृषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ १४ ॥ गोष्ठमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥ १५ ॥

(सरला)

कार्यवशात् श्मशान जाने पर "नमो रुद्राय……" इस मंत्र से सम्बोधन करना चाहिए। 'रुद्र के लिए नमस्कार है जो पितरों में रहते हैं। वह मुझे कल्याण पूर्वक पार पहुँचाए ॥ १४ ॥ गोशाला में जा कर "मनो……" इस मंत्र से "रुद्र को नमस्कार है जो गोबर के ढेर में रहते हैं वह मुझे कल्याण पूर्वक पार पहुँचाए ॥ १५ ॥

(हरिहर०)

श्मशानमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय पितृषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति। श्मशानं प्रेतदहनभूमिं कार्यवशात्प्राप्य 'नमो रुद्राय पितृषदे' इत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ १४ ॥

गोष्ठमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति। गोष्ठं गोवाटं 'नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे' इत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥१५॥

---

१. सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्रॐ स्वस्तये ॥ (य० सं० २१-७)

अस्यार्थः—अस्रवन्तीम् अच्छिद्राम् अनागसं निर्दोषां शतारित्रां शतं बहूनि अरित्राणि केनिपातनानि (पतवार इति भाषायां) यस्याः तादृशीं सुनावं शोभनां नौकां स्वस्तये नद्याद्युत्तारणाय आरुहेयम् ॥ इति ॥

२. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्। दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ (य० सं० २१-६)।

अस्यार्थः—सुत्रामणं सुष्ठु त्रायते रक्षति सा सुत्रामा तां पृथिवीं विशालां, लुप्तोपमा वा पृथिवीमिव पालयित्रीम्। द्यां जलोपरिष्ठत्वेनान्तरिक्षगाम् अनेहसं नास्ति एहः क्रोधो यस्यां तादृशीम्। एहः क्रोध इति निघण्टौ। यद्वा, स्वर्गमिव क्रोधरहिताम्। लुप्तोपमा पूर्ववत्। सुशर्माणं साधुशरणभूताम् अदितिम् अखण्डिताम् अदीनां वा सुप्रणीतिं सुष्ठु प्रणयति सा तादृशीं दैवीम् अब्देवताकां स्वरित्रां शोभनानि अरित्राणि यस्याः तादृशीम् अनागसं निर्दोषाम् अस्रवन्तीं निश्छिद्रां नावं नौकां स्वस्तये कल्याणाय आरुहेम अवतरेम। छान्दसो दीर्घः। इति ॥

(जयराम०)

पितृपदे पितृवनवासिने ॥ १४ ॥ १५ ॥

यत्र चान्यत्रापि नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयाद्रुद्रो ह्येवेदर्ठ० सर्वमिति श्रुतेः ॥ १६ ॥ सिचावधूतोऽभिमन्त्रयते—सिगसि न वज्रोसि नमस्तेऽअस्तु मा मा हिर्ठ०सीरिति ॥ १७ ॥ स्तनयित्नुमभिमन्त्रयते—शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः। शिवा नस्ताः सन्तु यास्त्वर्ठ०सृजसि वृत्रहन्निति ॥ १८ ॥

(सरला)

जहाँ और कहीं भी चाहें "नमो रुद्राय" यह ही कहना चाहिए क्योंकि "रुद्र यह विश्वरूप हैं" यह श्रुति कहती है ॥ १६ ॥ अञ्चल से झाड़ा हुआ [अर्थात् आँचल की वायु से आहत होने से] उसे "सिगसि……" इस मंत्र से अभिमंत्रित करता है "तुम आँचल हो, वज्र नहीं हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम मुझे हानि मत पहुँचाओ ॥ १७ ॥ "शिवा नो……"[1] इस मंत्र से कड़कते हुए मेघ को अभिमंत्रित करता है "वर्षा हमारे लिए कल्याणकारी हो जिन्हें तुम छोड़ते हो ॥ १८ ॥

(हरिहर०)

यत्र चान्यत्रापि नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयाद्रुद्रो ह्येवेदठं. सर्वमिति श्रुतेः। यत्र येषु अन्येष्वपि अनुक्तकार्येषु पूर्वं 'नमो रुद्राय' इत्येव ब्रूयात् पश्चात्तत्कार्यं कुर्यात् हि यस्मात् इदं सर्वं रुद्र एव इति श्रुतेः वेदवचनात् ॥ १६ ॥

सिचावधूतोऽभिमन्त्रयते—सिगसीत्यादि। सिचा वस्त्रप्रान्तेनाऽवधूतः तद्वाताहतः सिचमभिमन्त्रयते वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण। 'सिगसि न वज्रोऽसि नमस्ते अस्तु मा मा हिठँसीः' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ १७ ॥

स्तनयित्नुमभिमन्त्रयते—शिवा नो वर्षा इत्यादि। स्तनयित्नुं मेघं गर्जन्तं "शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु [2]हेतयः। शिवा नस्ताः सन्तु यास्त्वठँ सृजसि वृत्रहन्" इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ १८ ॥

(जयराम०)

यत्रेत्यनुक्तप्रसङ्गेष्वपि 'नमो रुद्राय' इत्येव ब्रूयात्। कुतः? हि यत इदं सर्वं रुद्रमेवेति श्रुतेः एवं कृते निर्विघ्नता विध्यनुष्ठानफलं च स्यात् ॥ १६ ॥

---

१. यजु. २१।६।

२. 'विद्युतः' क०।

(जयराम०)

सिच्शब्देन वस्त्रप्रान्तैकदेशो 'दशा' इति प्रसिद्धः, तदुत्थो वायुरमङ्गलः। तथाचापस्तम्बसूत्रम्—'यदा वाऽपहतं सिचा वा शुना वा अन्नमभोज्यं स्यात्' इति। तया सिचाऽवधूतो वीजितस्तदा तामभिमन्त्रयते—'सिगसि' इति मन्त्रेण। तत्र त्रयाणां प्रजापतिरनुष्टुप् लिङ्गोक्ता [1]अभिमन्त्रणे० ॥ १७ ॥

स्तनयित्नुं मेघगर्जितं श्रुत्वाऽभिमन्त्रयते—'शिवा नः' इति मन्त्रेण। अस्यार्थः— हे इन्द्र शिवाः कल्याणकारिण्यो नोऽस्माकं वर्षा वृष्टयः सन्तु। तथा हेतयः ऐन्द्राण्यायुधानि शिवा नोऽस्माकं सन्तु। हे वृत्रहन् याश्च हेतीस्त्वं शत्रुषु सृजसि क्षिपसि ता अपि नः शिवाः सन्तु ॥ १८ ॥

शिवां वाश्यमानामभिमन्त्रयते—शिवो नामेति ॥ १९ ॥ शकुनिं वाश्यमानमभिमन्त्रयते—हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितंगम ॥ यमदूत नमस्तेऽस्तु किन्त्वा काक्कारिणोऽब्रवीदिति ॥ २० ॥ लक्षण्यं वृक्षमभिमन्त्रयते—मा त्वाऽशनिर्म्मा परशुर्मा वातो मा राजप्रेषितो दण्डः ॥ अङ्कुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु अग्निष्टे मूलम्मा हिꣳसीत्स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पत इति ॥२१॥

(सरला)

जब सियारिन बोल रही हो तो "शिवो नामा······"[2] इस मंत्र से उसका अभिमंत्रण करना चाहिए ॥ १९ ॥ काला कौआ जब बोल रहा हो तो "हिरण्यपर्ण······" इस मंत्र से अभिमंत्रित करना चाहिए। "हे सुनहले पंखों वाले शकुनि ! जहाँ तुम्हें देवता भेजते हैं वहाँ जाओ, हे यमदूत ! तुम्हें नमस्कार है। हे कार्कारी शब्द करने वाले तुम्हें [यम ने] क्या कहा है ? ॥ २० ॥ प्रसिद्धि-प्राप्त वृक्ष को [दो ग्रामों का सीमा रूप जो वृक्ष] "मात्वा······" इस मंत्र से अभिमंत्रित करता है। "तुम्हें न बिजली, न कुल्हाड़ी, न आँधी और न तो राजा द्वारा प्रेषित दण्ड ही [नष्ट करे]। तुम्हारे अंकुर बढ़े, वायु से बचाव करके तुम्हारे ऊपर वर्षा हो। अग्नि तुम्हारी जड़ को हानि न पहुँचाए। हे वन के स्वामी तुम्हारा कल्याण हो। हे वन के मालिक [तुम्हारा कल्याण हो।] ॥ २१ ॥

---

१. सिग् वस्त्रप्रान्तैकदेशोऽसि न वज्रः नाशकः असि ते तुभ्यं नमः नमस्कारः अस्तु मा मां मा हिंसीः मा नाशय इति मन्त्रार्थः सुगमत्वात् जयरामेण नोपन्यस्त इति बोध्यम्।

२. यजु. ३।६३।

(हरिहर०)

शिवां वाश्यमानामभिमन्त्रयते। शिवां शृगालीं वाश्यमानां 'शिवो नामासि' (य० सं० ३-६३) इत्यादिना 'मा मा हिꣳसीः' इत्यन्तेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ १९ ॥

शकुनिं वाश्यमानमभिमन्त्रयते-हिरण्यपर्णेत्यादि। शकुनिं पक्षिणं कृष्णकाकमिति यावत्। वाश्यमानं कूजन्तं वक्ष्यमाणमन्त्रेण "हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितंगम। यमदूत नमस्तेऽस्तु किं त्वा क्काक्कारिणोऽब्रवीत्" इत्यनेन मंत्रेणाभिमन्त्रयते ॥ २० ॥

लक्षण्यं वृक्षमभिमन्त्रयते-मात्वाऽशनिरित्यादि। लक्षण्यं वृक्षं शोभनं मङ्गल्यं [1]तरुम् आम्रादिकम् आसाद्य "मा त्वाऽशनिर्मा परशुर्मा वातो मा राजप्रेषितो दण्डः॥ अङ्कुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु अग्निष्टे मूलं मा हिꣳसीत्स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पते" इत्यनेन मंत्रेणाभिमन्त्रयते ॥ २१ ॥

(जयराम०)

शिवां शृगालीं वाश्यमानां शब्दं कुर्वाणामभिमन्त्रयते-"शिवो[2] नामा" (य० सं० ३-६३) इति मन्त्रेण। यद्यप्ययं मन्त्रः क्षुरादाने विनियुक्तस्तथापि नानाशक्तित्वादत्रापि विनियुज्यते ॥ १९ ॥

शकुनिं कृष्णकाकम्। अथ मन्त्रार्थः—प्रागुक्तमृष्यादि। हे हिरण्यपर्ण शीघ्रग हे शकुने! देवानां प्रहितं प्रेषितं स्थानं गच्छतीति देवादिष्टं शुभाशुभं गमयतीति वा भो यमस्य दूत ते तुभ्यं नमोऽस्तु। त्वा त्वां कार्कारिण इति द्वितीयार्थे षष्ठी। कार्कारं काकजात्यनुरूपं शब्दं कुर्वन्तं प्रति यमः किमब्रवीत्? यद्वा, कार्कारिणस्तव स्वामी यमस्त्वां किमब्रवीत् मा ब्रवीस्त्वित्यर्थः ॥ २० ॥

लक्षण्यं प्रसिद्धं यत्प्रसिद्धया ग्रामस्यापि प्रसिद्धिर्भवति तं वृक्षं दृष्ट्वाऽभिमन्त्रयते-'मा त्वा' इति मन्त्रेण। अस्यार्थः—तत्र प्रजापतिरनुष्टुप् वनस्पतिस्तद्रक्षणे०। हे वृक्ष त्वा त्वाम् अशनिर्वज्रो मा हिंसीत् मा नाशयतु। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। परशुः कुठारः, राजप्रेषितो दण्डो राजोपद्रवः अग्निश्च ते तव मूलं मा

---

१. 'तरुं' नास्ति क०।

२. अयं मन्त्रः तदर्थश्च पूर्वं गदाधरेण १० पृष्ठे लिखितस्तत एवावगन्तव्यः।

(जयराम०)

हिंसीत् । ते तव अङ्कुराश्च प्ररोहन्तु पल्लवा उद्गच्छन्तु । निवाते निर्वाते अल्पवायौ त्वा त्वां प्राप्य देवेन्द्रोऽभिवर्षतु । ते तव स्वस्ति कल्याणमस्तु हे वनस्पते, तथा हे वनस्पते मे ममापि स्वस्त्यस्तु ॥ २१ ॥

स यदि किञ्चिल्लभेत तत्प्रतिगृह्णाति—द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति ॥ २२ ॥ साऽस्य न ददतः क्षीयते भूयसी च प्रतिगृहीता भवति ॥ २३ ॥ अथ यद्योदनं लभेत तत्प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य द्विः प्राश्नाति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति ॥ २४ ॥ अथ यदि मन्थंल्लभेत तत्प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य त्रिः प्राश्नाति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु ब्रह्मा त्वा पिबत्विति ॥ २५ ॥ १५ ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

(सरला)

वह ब्राह्मण यदि दान पाए तो "द्यौस्त्वा......" इस मंत्र से उसे लेना चाहिए "द्यौ तुम्हें दे, पृथ्वी तुम्हें स्वीकार करे।" इस प्रकार से ली हुई दक्षिणा देने वाले को क्षीण धन वाला नहीं करती और लेने वाले के लिए बहुत [धन वाली] होती है। और यदि चावल पाए तो "द्यौस्त्वा......" इस मत्र से उसे स्वीकार करके "ब्रह्मात्वा......" इस मंत्र से उसे दो बार खाना चाहिए। "ब्रह्मा तुम्हें खाएँ। ब्रह्मा तुम्हारा प्राशन करें ॥ २१ ॥ और यदि मट्ठे को पाए तो "द्यौस्त्वा ......" इस मंत्र से उसे ले कर "ब्रह्मा त्वा......" इस मंत्र से उसे तीन बार खाएँ। "ब्रह्मा तुम्हें खाएँ, ब्रह्मा तुम्हारा प्राशन करें, ब्रह्मा तुम्हें पीएँ ॥ २२ ॥

इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीयकाण्ड में पन्द्रहवीं कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १५ ॥

(हरिहर०)

स यदि किञ्चित् लभेत तत्प्रतिगृह्णाति—द्यौस्त्वा ददातु पृथिवीत्वा प्रतिगृह्णा-त्विति। स द्विजः यदि चेत् किञ्चिद् गोभूहिरण्यादिकं लभेत प्राप्नुयात् तदा द्यौस्त्वा' इति मन्त्रेण तत् प्रतिगृह्णाति स्वीकुरुते ॥ २२ ॥

साऽस्य न ददतः क्षीयते भूयसी च प्रतिगृहीता भवति। सा दक्षिणा एवं-विधाय दीयमाना अस्य ददतः दातुः उपयुज्यमानाऽपि न क्षीयते न ह्रसति प्रत्युत एवं प्रतिगृहीता सती भूयसी च उत्तरोत्तरमभिवर्धमाना भवति ॥ २३ ॥

अथ यद्योदनं लभेत तत्प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति। अथ कदाचित यदि ओदनं भक्तं लभेत प्राप्नुयात्तदा तं प्रतिगृह्य "द्यौस्त्वा" मन्त्रं पठेत्। मन्त्रपाठस्तु आदानानन्तरं सर्वत्र स्वसत्तापत्तये। तस्य द्विः प्राश्नाति। तस्य लब्धस्योद-नस्य द्विः द्विवारं प्राश्नाति अत्ति। कथम्? ब्रह्मात्वाऽश्नात्विति प्रथमम्, ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु इति द्वितीयम् ॥ २४ ॥

स यदि मन्थं लभेत द्यौस्त्वेति तत्प्रतिगृह्य तस्य त्रिः प्राश्नाति—ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु ब्रह्मा त्वा पिबत्विति। स द्विजः यदि मन्थं दधिमन्थं प्राप्नुयात्तदा तं "द्यौस्त्वा" इत्यनेन प्रतिगृह्य स्वीकृत्य तस्य मन्थस्य त्रिस्त्रीन्वारान्प्राश्नाति—

ब्रह्मा त्वाऽश्नात्विति प्रथमं, ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति द्वितीयम्, ब्रह्मा त्वा पिबत्विति तृतीयमिति त्रिभिर्मन्त्रैः ॥ २५ ॥ १५ ॥

॥ इति हरिहर भाष्ये पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

(जयराम०)

स स्नातको यदि किञ्चिद् गवादिकं लभेत तत्प्रतिगृह्णाति—'द्यौस्त्वा' इति मन्त्रेण। प्रतिग्रहः स्वीकारः। अस्यार्थः— तत्र प्रजापतिरुष्णिक् दक्षिणा स्वीकारे०। हे दक्षिणे द्यौराकाशाभिमानिनी देवता त्वा त्वां ददातु, यजमानो देवरूपो भूत्वा ददात्वित्यर्थः। पृथिवी सर्वंसहा त्वा त्वां प्रतिगृह्णातु, पृथिवीरूपो मानुषो भूत्वा प्रतिगृह्णात्वित्यर्थः। त्वत्पदावृत्तिर्दक्षिणायाः कर्मसाद्गुण्यकर्तृत्वख्यापनार्था। एवं संस्कृता दक्षिणा दातृप्रतिग्राहिणोः सिद्धिकरी भवति। तत्र दातुः सिद्धिरपूर्वो-त्पादकत्वेन। प्रतिग्राहिणोऽपि कर्मानुष्ठानयोग्यत्वात्, 'प्रतिग्रहधना विप्राः' इत्या-दिवचनात् ॥ २२ ॥

(जयराम०)

सा एवं संस्कृता सती अस्य ददतो न क्षीयते, वर्द्धते इत्यर्थः। एवं प्रतिगृहीता सती प्रतिग्रहीतुर्भूयसी प्रचुरतरा भवति । अयं च सर्वप्रतिग्रहे मन्त्रः स्नातकस्य ॥ २३ ॥

ओदनं भक्तम् । तस्य लब्धस्य । अवयवलक्षणा षष्ठीयम् । द्विः द्विवारं प्राश्नाति–'ब्रह्मा त्वा' इति मन्त्रभेदाभ्याम् । प्रशब्देन मन्त्रभेदः ॥ २४ ॥

दधिदुग्धजलानामन्यतममिश्राः सक्तवो मन्थशब्देनाभिधीयन्ते । तं लभेत तदा–'द्यौस्त्वा' इति मन्त्रेण प्रतिगृह्य तस्य त्रिः प्राशनम्–'ब्रह्मा त्वा' इति प्रतिमन्त्रम् । अस्यार्थः सुगमः । एवं प्रतिग्रहेण दोषाभावोऽपि भवति । दोषश्च,

प्रतिग्रहेण विप्राणां ब्राह्मं तेजो विनश्यति ॥ इति,

'यो न धर्मविधिं वेद' इत्यादिवचनात् । यो दाता प्रतिग्राही वा न विधिज्ञः स स्तेनः तद्दण्डेन दण्ड्य इत्यर्थः ॥ २५ ॥ १५ ॥

॥ इति जयरामभाष्ये एकादशी कण्डिका ॥ ११ ॥

अथ षोडशी कण्डिका

अथातोऽधीत्याधीत्यानिराकरणं प्रतीकम्मे विचक्षणं जिह्वा मे मधु यद्वचः ॥ कर्णाभ्यां भूरि शुश्रुवे मा त्वठं हार्षीः श्रुतम्मयि ॥ ब्रह्मणः प्रवचनमसि ब्रह्मणः प्रतिष्ठानमसि ब्रह्मकोशोऽसि सनिरसि शान्तिरस्यनिराकरणमसि ब्रह्मकोशं मे विश । वाचा त्वाऽपिदधामि वाचा त्वाऽपिदधामि ॥ स्वरकरणकण्ठयौरसदन्त्यौष्ठ्यग्रहणधारणोच्चारणशक्तिर्म्मयि भवतु आप्यायन्तु मेऽङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम् ॥ यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु तिष्ठतु ॥१॥१६॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे तृतीयं काण्डम् ॥ ३ ॥

इति श्रीपारस्कराचार्यकृतं कातीयगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

(सरला)

अविस्मरण—कर्म

प्राक्कथनः—प्रस्तुत कण्डिका में पाठ विस्मृत न हो इसकी विधि कहते हैं। वेद का प्रत्येक अध्याय पढ़ कर निम्न मंत्रों से प्रार्थना करनी चाहिए। अतः उसके प्रभाव से अध्ययन विस्मृत नहीं होता।

हिन्दीः—अब पढ़कर [और फिर] पढ़ कर [भी] न भूलना [बतलाते हैं]। मेरा मुख शुद्ध उच्चारण के लिय समर्थ हो, मेरी जीभ वह वाणी बोले जो मधु (मीठी) हो जाए। मैंने कानों से बहुत कुछ सुना है। उसे तुम दूर मत करो जो कुछ हमने [वेद] सुना है। तुम वेद के व्याख्यान हो, तुम वेद की प्रतिष्ठा हो [अर्थात् नींव हो], तुम ब्रह्म के [वेद के] कोश हो, तुम लाभ हो, तुम शान्ति हो, तुम अविस्मरण रूप हो, तुम हमारे ब्रह्मकोश में [हृदय में] प्रवेश करो। वाणी से मैं तुम्हें ढंकता हूं, वाणी से मैं तुम्हें ढंकता हूं। [उदात्तादि] स्वर [प्रयत्नादि] करण तथा कण्ठ, उर, दन्त और ओष्ठय में होने वाले वर्णों

(सरला)

के ग्रहण [की शक्ति], धारण [की शक्ति] और उच्चारण की शक्ति मुझ में हो। मेरे अंग दृढ़ हो कर बढ़ें। मेरी वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, यश और बल [भी बढ़ें]। जो मैंने सुना है और पढ़ा है वह मेरे मन में स्थिर हो। स्थिर हो ॥ १ ॥

विशेष:—तिष्ठतु शब्द की पुनरुक्ति काण्ड की समाप्ति का परिचायक है।

इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के तृतीयकाण्ड में सोलहवीं कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

(हरिहर०)

अथातोऽधीत्याधीत्य अनिराकरणम्। अथ इदानीं द्विजानां प्रतिदिनमध्ययनं विहितम्, अतः कारणात् अधीत्याधीत्य पठित्वा पठित्वा अनिराकरणम् अपरित्यागः कर्त्तव्यः वक्ष्यमाणनिगदेन। तद्यथा—प्रतीक मे विचक्षणं जिह्वा मे मधु यद्वचः। कर्णाभ्यां भूरि शुश्रुवे मा त्वं हार्षीः श्रुतं मयि। ब्रह्मणः प्रवचनमसि ब्रह्मणः प्रतिष्ठानमसि ब्रह्मकोशोऽसि सनिरसि शान्तिरस्यनिराकरणमसि ब्रह्मकोशं मे विश वाचा त्वाऽपिदधामि वाचा त्वाऽपिदधामि ॥ स्वकरणकण्ठ्यौरसदन्त्यौष्ठ्यग्रहणधारणोच्चारणशक्तिर्मयि भवत्वाप्यायन्तु मेऽङ्गानि वाक्प्राणः चक्षुः श्रोत्रं यशो बल यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु तिष्ठत्विति। अस्यार्थः—प्रतीकं मुखं मे मम विचक्षणं साधुशब्दोच्चारणसमर्थम् [1]अस्त्विति शेषः। मे मम जिह्वा यद्वचो [2]वचनं मधु मधुरं [3]रसवत् तद्वदत्विति शेषः। एवमभीप्सितः शेषः सर्वत्र पूरणीयः। कर्णाभ्यां भूरि [4]बहु शुश्रुवे श्रृणुयाम् [5]अहम्। मयि विषये यत् श्रुतमधीतं पठितं वर्त्तते तत्त्वं मा हार्षीः माऽपनय। मयि विषये ब्रह्मणो वेदस्य प्रवचनं [6]पाठनम् [7]अध्ययनं वा असि भवसि भर्वत्वित्यर्थः। तथा ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा स्थितिरित्यर्थः असि। मयीत्यनुवर्त्तते। ब्रह्मकोशोऽसि ब्रह्मणः शब्दरूपस्य कोशः गोपनगृहं गुप्तिस्थानं मयि असि। तथा सनिः समं जीवनम् असि। [8]तथा शान्तिः अनिष्टस्य अनिष्टहेतोश्च शमनमसि। तथा

---

१. 'अस्त्विति शेषः' नास्ति क०। २. 'वचनं मधु' नास्ति क०।
३. 'स्रवत्' क०। ४. 'बहु' नास्ति क०। ५. 'अहं' नास्ति ख० ग०।
६. 'पाठनं' नास्ति क०। ७. 'व्याख्यानं वा' ख० ग०।
८. 'तथा शान्तिरसि शान्तिरसि शान्तिः' क०।

(हरिहर०)

'निराकरणं निराकृतः परित्यागः न निराकरणम् अनिराकरणमसि'[1]। मे मम ब्रह्मकोशं हृदयं विश "सर्वेषां वेदनाᳪ हृदयमेकायनम्" इति श्रुतेः। वाचा गिरा त्वा त्वाम् अपिदधामि छादयामि। [2]आवृत्तिरादरार्था। स्वरा उदात्तानुदात्तस्वरिताः, करणानि शब्दोत्पत्तेः शब्दाभिव्यक्तेर्वा साधनानि उरः कण्ठः शिरो जिह्वामूलदन्तनासिकोष्ठतालूनि इत्यष्टौ। कण्ठे भवाः कण्ठ्याः अवर्णहकारकवर्गविसर्गाः। उरसि भवा [3]औरसा हकाररहिताः वर्गपञ्चमान्तस्थाः। दन्तेषु भवा दन्त्याः लृवर्णतवर्गसकाराः। ओष्ठे भवा ओष्ठ्याः उवर्णपवर्गोपध्मानीयाः। स्वराश्च करणानि च कण्ठ्याश्च औरसाश्च दन्त्याश्च ओष्ठ्याश्च स्वरकरणकण्ठ्यौरसदन्त्योष्ठ्याः एतेषां ग्रहणम् उपादानं, धारणं स्थिरीकरणम्, उच्चारणं प्रयोगः, (ग्रहणं[4] च धारणं च उच्चारणं च) ग्रहणधारणोच्चारणानि तेषु मयि शक्तिर्भवतु स्वरादीनां धारणादिसामर्थ्यमस्तु। मे मम अङ्गानि गात्राणि आप्यायन्तु वर्द्धन्ताम्। न केवलमङ्गानि किन्तु वाक् गीः, [5]प्राणो घ्राणेन्द्रियम्, प्राणवायुसूत्रात्मेति यावत्, चक्षुः नयनेन्द्रियं, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं, यशः कीर्त्तिः, बलं शारीरमोजः, एतान्यपि वागादीनि चाप्यायन्त्वित्यनुषङ्गः। यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु यन्मे मया श्रुतं मीमांसादि अधीतम् ऋगादि तत्सर्वं मे मनसि तिष्ठतु स्थिरीभवतु। अत्र वीप्सा अर्थभूयस्त्वप्रतिपादनार्था ग्रन्थसमाप्तिज्ञापनार्था वा ॥ १ ॥

॥ इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यान-
पूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ तृतीयः काण्डः समाप्तः ॥

(जयराम०)

अथातोऽधीत्याधीत्य आवृत्याऽऽवृत्य अनिराकरणम् अविस्मरणं कर्म कर्तव्यम्, 'प्रतीकं मे विचक्षणम्' इति मन्त्रेणाङ्गालम्भनम्। तस्यार्थः—तत्र परमेष्ठी गायत्री अङ्गानि तदालम्भने०। प्रतीकं मुखं मे मम विचक्षणं विशिष्टवर्णोच्चारणसमर्थम्, 'अस्तु' इति शेषः। मधु मधुरं यद्वचः, 'तद्वदतु' इति शेषः भूरि बहु बहुकालं वा

---

१. 'मसि ब्रह्मणः कोशं मे विश मे मम' क०।
२. 'आवृत्तिरादरार्था' नास्ति क०। ३. 'औरसाः सहकारवर्ग' ख० ग०।
४. कंसान्तर्गतं नास्ति क०।
५. 'प्राणः प्राणवायुः सूत्रात्मेति यावत्' ख० ग०।

(जयराम०)

शुश्रुवे शृणवानि । ब्रह्मन् वेदपुरुष ! मयि विषये यच्छ्रुतं शास्त्रं तज्ज्ञानं च त्वं मा हार्षीः मा हर । तदर्थं स्तौति—ब्रह्मणो वेदस्य प्रवचनमध्ययनं त्वमसि । ब्रह्मणः अधीतस्य वेदस्य प्रतिष्ठानं स्थितिराधार इति यावत् । ब्रह्मणस्तस्य कोशो गोपनगृहम् । सनिः सम्भजनीयम् । शान्तिरनिष्टनिवृत्तिः । अनिराकरणमप्रमादः अविस्मरणमिति यावत् । किञ्च मे मम ब्रह्मकोशं वेदाशयं विश प्रविश, 'सर्वेषां वेदानाꣳ हृदयमेकायनम्' इति श्रुतेः । अहं च वाचा सत्यवाण्या त्वा त्वाम् पिदधामि गोपाये छादयामीति वा । यथा मत्तो नापैषि । अवृत्तिर्दार्ढ्यार्था । स्वरा उदात्तादयः, करणानि संवृतादीनि, कण्ठ्याः कण्ठे भवा अकुहविसर्जनीयाः, औरसाः सहकारा वर्गपञ्चमान्तस्थाः, दन्त्याः लृतुलसाः, ओष्ठ्याः उपूपध्मानीयाः; तेषां ग्रहणमुपादानम्, धारणं स्थिरीकरणम्, उच्चारणं प्रयोगः, तेषु शक्तिर्मेऽस्तु । अङ्गानि गात्राणि आप्यायन्तु । तान्याह—वाक् गीः, प्राणो वायुः प्रधानभूतः, चक्षुर्नेत्रबलम्, श्रोत्रं तत्पाटवम्, यशः कीर्तिः, बलं शारीरम्, एतान्यङ्गानि आप्यायन्त्विति सम्बन्धः । परस्मैपदं छान्दसम् । यन्मे मया श्रुतं मीमांसादि, अधीतमृगादि, यद्वा श्रुतं गुरुमुखात्, अधीतम् अधिगतं वा, तत्सर्वं मे मम मनसि हृदये तिष्ठतु स्थिरमस्तु माऽपयात्वित्यर्थः । वीप्सा ग्रन्थसमाप्त्यवद्योतनार्था ॥१॥१६॥*॥

क्षन्तव्यं तच्च विद्वद्भिर्यन्मया चापलं कृतम् ।
गृह्यभाष्यमलेखीदं दृष्ट्वा कर्कादिकौशलम् ॥ १ ॥
शोधनीयमिदं सद्भिर्मम त्वापत्यचापलम् ।
बाल्यप्रोत्साहितस्यात्र यदत्र स्खलितं मम ॥ २ ॥

श्रीमन्मान्त्रिकमाधवश्रुतिसुधासिन्धोर्विगाहात्तत—
द्वेद्यस्तत्कृपयाऽभवद् द्विजवरः श्रीकेशवस्तादृशः ।
तस्याङ्घ्रिद्वयकस्पृशा कृतमिदं कातीयसूत्रस्य स—
द्भाष्यं सज्जनवल्लभं सुविदुषां प्रेष्ठं शिवप्रीतये ॥ ३ ॥

आचार्यपरनामधेय इति यो दामोदरोऽभूद् द्विजो
भारद्वाजसुगोत्र आत्मरतिरप्यस्यात्मजस्तादृशः ।
नाम्ना श्रीबलभद्र आससुयशास्तत्सूनुनैतत्कृतं
भाष्यं सज्जनवल्लभं जययुजा रामेण मत्यै शुभम् ॥ ४ ॥

कर्कादिद्विजवर्याणां दृष्ट्वा भाष्याणि भूरिशः ।
उपचेतुं तदुच्छिष्टं जयरामोऽलिखत्स्फुटम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्कातीयगृह्यसूत्रभाष्ये सज्जनवल्लभाख्ये जयरामकृतौ
तृतीयकाण्डविवरणं समाप्तम् ॥

पारस्करगृह्यसूत्र-परिशिष्टे

हरिहरभाष्यसहितं-

स्नानसूत्रम्

अथ प्रथमा कण्डिका

अथातो नित्यस्नानम् ॥ १ ॥ नद्यादौ ॥ २ ॥

इस (श्रौत स्मार्त क्रिया के विधान) के अनन्तर अब नित्य (बाह्य रूप से जल से सर्वाङ्ग) स्नान की आवश्यक विधि को कहते हैं ॥ १ ॥ नदी आदि के जल में स्नान करना चाहिए। (किन्तु 'श्रावण आदि दो मासों में नदियाँ रजस्वला होती हैं अतः नदी में स्नान उन दो महीनों में नहीं करना चाहिए—' यह वचन छन्दोगपरिशिष्ट का है। किन्तु वहीं यह भी कहा है कि जो समुद्रगामी गंगा जमुना आदि बड़ी नदियाँ है उन्हें छोड़कर बरसात में अन्य छोटी नदियों में स्नान नहीं करना चाहिए। अब जहाँ गंगा आदि बड़ी नदी नहीं हैं तो वहाँ पर देवखात, (ब्रह्मह्रदे) तडाग, सरोवर, छोटा तालाब और झरने आदि में तथा कृत्रिम जलाशय में पञ्चमृतपिण्ड उद्धरण कर स्नान करे। फिर उपाकर्म-प्रयोग, उत्सर्ग, प्रेतस्नान, चन्द्र एवं सूर्य ग्रहण में नदियों में रजोदोष नहीं होता है। यह अपवाद भी है)॥ २ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

प्रणतोऽस्मि हरेरङ्घ्रिसरसीरुहमादरात्।
यज्जगत्पावनं पाथः प्रासोष्टामरसैन्धवम् ॥ १ ॥

कात्यायनकृतस्नानविधेर्व्याख्यापुरःसराम्।
विधास्ये पद्धतिं विद्वत्सदाचारद्विजप्रियाम् ॥ २ ॥

अथातो नित्यस्नानम्। अथ श्रौतस्मार्तक्रियाविधानानन्तरं यतस्ताः क्रियाः स्नानपूर्विका अतो हेतोर्नित्यं सन्ध्योपासनपञ्चमहायज्ञादिनित्यक्रियानुष्ठानाधिकारसम्पादकत्वेनावश्यकं स्नानं बहिः सर्वाङ्गजलसंयोगं 'विधास्यते' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

तत्स्नानं कुत्र विधेयमित्यपेक्षायामाह—नद्यादौ। ननु—

मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टे नदीस्नाननिषेधात् कथं नद्याद्युच्यते ? सत्यम्,

उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते ॥

इत्यपवादवचनाद् न दोषः। नदी आदिः प्रथमा मुख्या यस्य स्नानाधिकरणस्य देवखाततडागसरोगर्तह्रदप्रस्रवणादेरकृत्रिमजलाशयस्य स नद्यादिः तस्मिन्नद्यादावकृत्रिमजलाशये स्नानं कुर्यादिति यावत्। तत्र नदी कूलद्वयान्तर्गतयोजनाधिकभूभागप्रवाहसलिला लोके नदीशब्देन प्रसिद्धा च। देवखातो देवनिर्मितत्वेन प्रसिद्धः ब्रह्मह्रदः। तडागो गदालोलप्रभृतिः। सरः उत्तरार्कदण्डखातादि। गर्तो योजनभूभागपर्याप्तजलप्रवाहः। ह्रदोऽगाधोऽशोष्यो जलराशिरवस्थितः। प्रस्रवणं पर्वतादेः स्वतः प्रवृत्तो निर्झरः। अकृत्रिमासम्भवे पञ्चमृत्पिण्डोद्धरणपूर्वकं कृत्रिमेऽपि जलाशये स्नायात्॥२॥

मृद्गोमयकुशतिलसुमनस आहृत्य ॥ ३ ॥ उदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य ॥ ४ ॥ प्रक्षाल्य पाणिपादम् ॥ ५ ॥ कुशोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्याचम्य ॥ ६ ॥

मिट्टी, गोबर, कुश तिल, पुष्प स्वयं लाकर (या शूद्र से अथवा अन्य किसी व्यक्ति से मंगाकर) नदी आदि जलाशय के पास जाकर शुद्ध स्थान पर उसे रखकर, पानी और मिट्टी से हाथ-पैर ठीक से धोकर (पहले पैर फिर हाथों को साफ कर) बाएँ हाथ में कुश लेकर, शिखा बँधी हुई रहे और यज्ञोपवीत पहने हुए तथा शास्त्रानुसार आचमन करे (इतना जल तीन बार हाथ में रहे कि जल कण्ठ से नीचे तक पहुँच जाए) ॥ ३–६ ॥

एवं स्नानं तदधिकरणं चानुविधायेदानीं स्नानोपकरणपूर्वकं स्नानेतिकर्तव्यताविधानमुपक्रमते—मृद्गोमयकुशतिलसुमनस आहृत्य। मृत् च गोमयं च कुशाश्च तिलाश्च सुमनसश्च मृद्गोमयकुशतिलसुमनसस्ता आहृत्य स्वयमानीय शूद्रादन्येन वाऽऽहार्य तत्र मृदं शुचिदेशस्थां शर्कराश्मादिरहितामाखुकृष्टवल्मीकपांसुलकर्दमवर्जितां, गोमयमरोगिण्यादिगवां शकृत्, कुशान् यवादिशुचिक्षेत्रादिसम्भवान्, तिलान् ग्राम्यान् आरण्यान्वा, सुमनसः पुष्पाणि सुगन्धीनि अगन्धोग्रगन्धप्रतिषिद्धवर्जितानि शतपत्रादिकानि बिल्वतुलसीप्रभृतिपत्राणि च ॥ ३ ॥

उदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य। उदकस्य पूर्वोक्तनद्यादिसम्बन्धिनः अन्तं समीपं गृहात् गत्वा तत्राप्युपद्रव्यरहिते शुचौ देशे वस्त्राद्यन्तर्हितायां भूमौ स्थाप्य मृदादीनि। अत्रासमासेऽपि ल्यप्प्रयोगश्छान्दसः 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इति वचनात् ॥ ४ ॥

प्रक्षाल्य पाणिपादम्। प्रक्षाल्य मृदा जलेन च प्रकर्षेण क्षालयित्वा, किं? पाणी च पादौ च पाणिपादम्, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (पा० सू०

२–४–२) इति सूत्रेणैकवचनम् । अत्र पाण्योरभ्यर्हितत्वात् पाणिशब्दस्य पूर्वंनिपातः । तेन विप्रो दक्षिणपादोपक्रमेण पादौ प्रक्षाल्य तथैव पाणी प्रक्षालयेन्न पाठक्रमेण ॥ ५ ॥

कुशोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्याचम्य ।

कण्ठादुत्तार्य सूत्रं तु कर्त्तव्यं क्षालनं द्विजैः ।

अन्यच्च सङ्ग्रहे—

अभ्यङ्गे चोदधिस्नाने मातापित्रोः क्षयेऽहनि ।
कण्ठादुत्तार्य सूत्रं तु क्षालयेत्परिशोधयेत् ॥

कुशाः त्रिप्रभृतयो दर्भस्तम्बा उपग्रहाः सव्यहस्ते धृता येन स कुशोपग्रहः । उपग्रहः पवित्रमप्युपलक्षयति,

सव्यः सोपग्रहः कार्यो दक्षिणः सपवित्रकः ।

इति स्मृतेः ।

तेनानन्तर्गर्भसाग्रप्रादेशमात्रदर्भदलद्वयात्मकपवित्राकङ्कृतदक्षिणहस्तो बहुकुशोपग्रहान्वितसव्यहस्तः सन् । बद्धा शिखा चूडाऽस्यास्तीति बद्धशिखी । यज्ञोपवीतं ब्रह्मसूत्रमस्यास्तीति यज्ञोपवीती । अत्र—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।

इति कात्यायनस्मृतेर्बद्धशिखित्वयज्ञोपवीतित्वे प्राप्ते पुनर्वचनं केशबन्धनोत्तरीयवाससोर्निवृत्त्यर्थम् ।[1] यत्तु प्रेतस्पर्शिनां स्नाने "एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः" इति पारस्करगृह्यस्मरणम्, न तत्स्नानान्तरे द्विवस्त्रताज्ञापकम्; यतोऽशुचिस्पर्शादिनिमित्तके स्नाने—'सवासा जलमाविशेत्'इत्यादिवचनैः प्रेतस्पर्शिनामपि स्नानेऽनेकवस्त्रताप्राप्तौ तत्पुनरेकवस्त्रतापरिसंख्यानार्थं न पुनः प्रेतस्नानव्यतिरिक्तस्नाने द्विवस्त्रताज्ञापकम् । यतो वक्ष्यति—'निष्पीड्य वस्त्रम्'इति । योगियाज्ञवल्क्योऽपि 'निष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु' इति स्नानवस्त्रस्यैकत्वं स्मरति । अतः साधूक्तं यज्ञोपवीतीतिपुनर्वचनमुत्तरीयवस्त्रव्युदासार्थमिति । तस्मान्नैमित्तिक एव स्नानेऽनेकवस्त्रता नान्यत्रेति स्थितम् । आचम्य यथाशास्त्रमाचमनं कृत्वा ॥ ६ ॥

उरुꣳ हीति तोयमामन्त्र्यावर्तयेद्ये ते शतमिति ॥ ७ ॥ सुमित्रियान इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत् ॥८॥

---

१. 'बद्धशिखी यज्ञोपवीती' इति स्मरणं सावधानीकरणार्थम्, केशप्रसाधनादौ विशिखत्वप्राप्तेः । इति स्नानदीपिकायाम् ।

इसके बाद 'उरुं हि राजा' इस ऋचा से पानी को मन्त्र से अभिमुख करके 'ये ते शतम्' आदि ऋचा से दाहिने हाथ से उस पानी का आलोडन करके 'सुमित्रियान' आदि यजुः मन्त्र से उदकाञ्जलि लेकर 'दुर्मित्रिया' आदि यजुःमन्त्र से द्वेषी व्यक्तियों के प्रति बगल में फेंके (अर्थात् शत्रु का मन में ध्यान कर भूमि पर डाल देवे। यदि द्वेषी कोई न हों तो काम आदि छः शत्रुओं का मन में ध्यान कर जल निषेक करे) ॥ ७–८ ॥

उरुठं हीति तोयमामन्त्र्यावर्तयेद्ये ते शतमिति। 'उरुठं हि राजा' इत्यनयर्चा तोयं सलिलमामन्त्र्याभिमुखीकृत्य 'ये ते शतम्' (का० सू० मं० २५-१-११) इत्येतयर्चा तत्तोयं दक्षिणहस्तेन प्रदक्षिणं सकृदावर्त्तयेत् आलोडयेत् ॥ ७ ॥

सुमित्रियान इत्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत्। 'सुमित्रियान आपः' इति यजुषा अपो जलमञ्जलिना करद्वयपुटेनादाय उद्धृत्य 'दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु' इति यजुषा द्वेष्यं शत्रुं प्रति निषिञ्चेत्। शत्रुं मनसा ध्यात्वा भूमौ प्रक्षिपेदित्यर्थः द्वेष्याभावे कामाद्यरिषड्वर्गान्मनसाऽभिध्याय निषिञ्चेत् ॥ ८ ॥

कटिं बस्त्यूरू जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्य ॥ ९ ॥ आचम्य नमस्योदकमालभेदङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति ॥१०॥ सूर्याभिमुखो निमज्जेत् ॥ ११ ॥

कमर एवं नाभि के अधोभाग बस्ती, गुद, लिङ्ग आदि को जानु पर्यन्त धोकर दोनो पैरों (अर्थात् जानु से नीचे और तलुवे से ऊपर) तथा दोनों हाथों को तीन-तीन बार मिट्टी से धोकर एवं आचमन करके (अर्थात् कटि आदि अधो अङ्ग के प्रक्षालन के प्रायश्चित्त निमित्त आचमन करके 'उदकाय नमः' इससे जल को प्रणाम करके 'इदं विष्णुः' आदि ऋचा से दाहिने हाथ से गृहीत मिट्टी से मुख से लेकर नाभि पर्यन्त और बाएँ हाथ से गृहीत मिट्टी से नाभि से लेकर पैर पर्यन्त लेप करके सूर्याभिमुख होकर डुबकी लगाकर स्नान करे ॥ ९–११ ॥

कटिं बस्त्यूरू जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्य। कटिर्नाभेः पृष्ठवंशस्य च समन्तात्। तस्या अधोभागो बस्तिः गुदमेढ्रयोरन्तरालम्। ऊरू बस्तितोऽधस्ताज्जानुपर्यन्तौ। जङ्घे जानुतोऽधस्तात् गुल्फपर्यन्ते। चरणौ गुल्फतोऽधस्तात् तलमभिव्याप्य पादौ। करौ मणिबन्धादारभ्य अन्तर्बहिरङ्गुल्यग्रावधी। मृदा सव्यहस्तगृहीतया तावत्कटिं सकृदालिप्य। प्रक्षा-

लनशब्दसामर्थ्यात् अद्भिः सकृत्प्रक्षाल्य । तथैव द्वितीयं तथैव तृतीयं कटिं क्षालयित्वा । एवमेव त्रिबस्तिप्रभृतीनि क्रमेणैकैकशः प्रक्षाल्य ॥ ९ ॥

आचम्य नमस्योदकमालभेदङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति । कटचाद्यधमाङ्गप्रक्षालनसम्भवात्प्रायश्चित्तं(?)शुद्ध्यर्थमाचमनं कृत्वा 'उदकाय नमः' इत्युदकं नमस्य नत्वा 'इदं विष्णुः' इत्येतयर्चा दक्षिणेहस्ते[1] गृहीतया मृदा मुखप्रभृतिनाभिपर्यन्तानि सव्यहस्तस्थया नाभिमारभ्य पादपर्यन्तानि अङ्गानि गात्राणि आलभेत् अनुलिम्पेत् । अत्र नमस्येति छान्दसो ल्यप्, अत्रालभेदिति परस्मैपदं छान्दसम्; 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति'इति वचनात् ॥ १० ॥

सूर्याभिमुखो निमज्जेत् । ततः शनैर्जलाशयं प्रविश्य नाभिमात्रे स्थितः सूर्यस्याभिमुखः सन्निमज्जेत् शिरसा जलमवगाहेत । इदं कात्यायनमतम् । यत्तु 'प्रवाहाभिमुखो मज्जेत्' इति स्मृत्यन्तरं तदन्यशाखीयविषयम् । ननु कात्यायनवचनं स्थावरजलमज्जनविषयं स्मृत्यन्तरं तु प्रवाहजलविषयमिति व्यवस्था किं न स्यात् ? मैवम्, यतः कात्यायनः—'स्नानं नद्यादौ' इत्युपक्रम्य सूर्याभिमुखो मज्जेत् इति सामान्येन स्मरति । योगियाज्ञवल्क्योऽपि—'भास्कराभिमुखो मज्जेत्' इति । षट्त्रिंशन्मते—

प्रवाहाभिमुखो मज्जेद् बह्वृचोऽथर्वसामगाः ।
यजुषां चैव सर्वेषां सूर्याभिमुखमज्जनम् ॥

तस्मात्कात्यायनयोगियाज्ञवल्क्यमतानुवर्त्तिनां वाजसनेयिनां सर्वत्रोदकाशये स्नाने सूर्याभिमुखत्वम् ॥ ११ ॥

आपो अस्मानिति स्नात्वोदिदाभ्य इत्युन्मज्ज्य निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य ॥ १२ ॥ गोमयेन विलिम्पेन्मानस्तोक इति ॥ १३ ॥ ततोऽभिषिञ्चेदिमम्मे वरुणेति चतसृभिर्माप उद्त्तम मुञ्चन्त्ववभृथेति ॥ १४ ॥ अन्ते चैतत् ॥ १५ ॥

अब मार्जन का प्रकार कहते हैं—'आपो अस्मान् मातर' इस मन्त्र से डुबकी लगाए और 'उदिदाभ्य' आदि मन्त्र से ऊपर निकले पुनः चुपचाप स्नान करके आचमन कर गोमय का लेपन दाहिने से नाभि तक बाएँ हाथ से पाद पर्यन्त करे। 'मानस्तोक' आदि मन्त्र से करे। इसके बाद 'इमम्मे वरुण' आदि चार सूत्रपाठ क्रम से पठित आठ मन्त्रों से प्रति मन्त्र मूर्द्धाभिषेक करे। इस 'आप उदुत्तम मुञ्चन्तु' आदि मन्त्र से अवभृथ के अन्त में ॥ १२–१५ ॥

मज्जनप्रकारमाह—आपो अस्मानिति स्नात्वोदिदाभ्य इत्युन्मज्ज्यनिमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य । 'आपो अस्मान्मातरः' इति मन्त्रेण स्नात्वा मज्जित्वा 'उदि-

---

१. 'दक्षिणहस्तगृहीतया' ग० ।

दाभ्यः' इति मन्त्रान्त उन्मज्ज्य उत्क्रम्य निमज्ज्य पुनः तूष्णीं स्नात्वा उन्मज्ज्य तथैवोपक्रम्याचम्य उपस्पृश्य ॥ १२ ॥

गोमयेन विलिम्पेन्मानस्तोक इति । दक्षिणकरगृहीतेन गोमयेन मूर्द्धप्रभृति-नाभिपर्यन्तं वामहस्तगृहीतेन नाभ्यादिपादपर्यन्तं शरीरं विलिम्पेत् । रौद्र-मन्त्राभिधानादुदकं स्पृशेत् ॥ १३ ॥

ततोऽभिषिञ्चेदिमम्मे वरुणेति चतसृभिर्मापि उदुत्तम मुञ्चन्त्ववभृथेति । ततोऽभिषिञ्चेत् 'इमं मे वरुण' इत्येवमादिभिः ४ सूत्रपाठक्रमेण पठि-तैरष्टाभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मूर्द्धानमभिषिञ्चेत् । अत्र पाठादेव गोमया-नुलेपनानन्तरमभिषेके प्राप्ते ततः शब्देनानुलिप्तगात्रस्यैवाभिषेक इति गम्यते ॥ १४ ॥

अन्ते चैतत् । एतदष्टर्चाभिषेचनमन्ते च भवति । सन्निधेरभिषेकोत्तर-मनुष्ठेयस्य पावनस्यान्ते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

निमज्योन्मज्याचम्य दर्भैः पावयेत् ॥ १६ ॥ आपो हि ष्ठेति तिसृभिरिदमापोहविष्मतीर्द्देवीराप इति द्वाभ्यामपोदेवाद्रुपदादिव शन्नो देवीरपाᳪ रसमपो देवीः पुनन्तुमेति नवभिश्चित्पतिर्मेत्योङ्कारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्या चादावन्ते च ॥ १७ ॥

तब डुबकी लगाकर फिर उठकर आचमन करके कुश से अपने को निम्न मन्त्रों से शुद्ध करे—'आपो हि ष्ठा' आदि तीन मन्त्रों से और इदमापो हविष्मतीः देवी राय आदि दो मन्त्रों से 'अपोदेवाद्रुपदादिव शन्नो देवी, अपा रसम्, अपो देवीः पुनन्तु मे' आदि नौ ऋचाओं से शुद्धि करे। 'चित्पतिर्मे' आदि मन्त्र से अन्त में अवसान करे। ओंकार और व्याहृतियों से युक्त आदि और अन्त में गायत्री का जप करे ॥ १६–१७ ॥

निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य दर्भैः पावयेत् । निमज्ज्य तूष्णीं स्नात्वा उन्मज्ज्य उपक्रम्याऽऽचम्य स्नानानन्तरं विहितमाचमनं कृत्वा दर्भैः त्रिभिः कुशस्त-म्बैर्दक्षिणहस्तोपात्तैः प्रादक्षिण्येन नाभित ऊर्द्ध्वं पुनर्नाभिं यावत्पावयेत् ।१६।

पावनमन्त्रानाह—आपो हि ष्ठेति तिसृभिरिदमापो हविष्मतीर्देवीराप इति द्वाभ्यामपो देवा द्रुपदादिव शन्नो देवीरपाᳪ रसमपो देवीः पुनन्तु मेति नवभिश्चि-त्पतिर्मेत्योङ्कारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्या चादावन्ते च । 'आपो हि ष्ठा' इत्यादिभिः 'चित्पतिर्मा' इत्यन्तैर्मन्त्रैः पावयेदित्यन्वयः । किञ्च ॐकारेण प्रणवेन व्याहृतिभिस्तिसृभिः गायत्र्या च 'तत्सवितुः' इत्येतयर्चा पावयेत् । कुत्र ? आदौ 'आपो हि ष्ठा' इत्यादेः पावनस्य । तथाऽन्ते च 'चित्पतिर्मा पुनातु' इत्यस्यावसाने ॥ १७ ॥

अन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत् ॥ १८ ॥ द्रुपदादिवायज्ञौरिति वा तृचं प्राणायामं वा सशिरसमोमिति वा ॥ १९ ॥ विष्णोर्वा स्मरणम् ॥ २० ॥ १ ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनस्नानकल्पसूत्रे प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

जल के मध्य स्नान के समय 'अघमर्षण' एवं 'ऋतञ्च सत्यं' आदि सूक्त को तीन बार जपे ॥ १८ ॥

अथवा 'द्रुपदादिव' आदि ऋचा को या 'आयज्ञौः' आदि से प्राणायम करे अथवा सिर के सहित जल के ऊपर प्राणायाम करे ॥ १९ ॥

अथवा परमात्मा रूप विष्णु का स्मरण करे ॥ २० ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में कात्यायनकृत स्नानकल्पसूत्र में प्रथम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

अन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत् । अन्तर्जले जलस्य मध्ये निमग्नः अघमर्षणम् 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इत्येतत्सूक्तं त्रीन्वारानावर्त्तयेत् अनुच्छ्वसन जपेत् ॥ १८ ॥

द्रुपदादिवायज्ञौरिति वा तृचं प्राणायामं वा सशिरसमोमिति वा । यद्वा— 'द्रुपदादिव' इत्यादिकामृचम् 'आयज्ञौः' इत्यादिकां वा तृचं प्राणायामं वा वक्ष्यमाणलक्षणम् । कथंभूतम् ? सशिरसं सह शिरसा वर्त्तमानम्, 'आपो ज्योतिः' इति मन्त्रः शिरः । अनेन शिरोरहितोऽपि प्राणायामोऽस्तीति गम्यते । ॐ इतिवाऽन्तर्जले त्रिरावर्त्तयेदित्यनुषङ्गः । अत्रैषां पक्षाणां शक्तिश्रद्धापेक्षया विकल्पः ॥ १९ ॥

उत्तमाधिकारिणं प्रत्याह—विष्णोर्वा स्मरणम् । विष्णोः परमात्मरूपेण सर्वव्यापकस्य स्मरणं ध्यानं वा कुर्यात् ॥ २० ॥

इति स्नानविधेः प्रथमकण्डिकासूत्रार्थः ॥ १ ॥

अथ पद्धतिः—तत्राष्टधा विभक्तस्याह्नश्चतुर्थे भागे मृदादीनि स्नानोपकरणान्याहृत्य नद्याद्युदकाशयं गत्वा तत्र तीरं प्रक्षाल्य मृद्गोमयकुशतिलसुमनसो निधाय मृद्भिरद्भिश्च पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य दक्षिणकरे साग्रं प्रादेशमात्रमनन्तर्गर्भं द्विपत्रं कृत्वा वामकरे त्रिप्रभृतिबहून् कुशानुपग्रहं धृत्वा

बद्धशिखी यज्ञोपवीती एकवासा आचमनं कृत्वा–'उरुᳬं–हि राजा' इत्यादिकया 'विघश्रित्' इत्यन्तया शुनःशेपदृष्टया वरुणदेवतया त्रिष्टुभा ज्योतिष्टोमावभृये यजमानवाचने विनियुक्तया तीर्थतोयमामन्त्र्य–'ये ते शतम्' इत्यादिकया स्वाहान्तया शुनःशेपदृष्ट्या वारुण्य त्रिष्टुभा तत्तोयमावर्त्तयेत्। 'सुमित्रिया नः' इति यजुषा प्रजापतिदृष्टेनाब्दैवतेन तोयमञ्जलिना गृहीत्वा 'दुर्मित्रिया' इति यजुषा प्रजापतिदृष्टेनाब्दैवतेनाञ्जलिस्थं जलं द्वेष्यं मनसा स्मृत्वा द्वेष्याभावे कामादीन् स्मृत्वा निषिञ्चेत्। ततो मृदं त्रेधा विभज्य एकस्माद्भागादल्पां मृदं वामकरेणादाय कटिमनुलिप्याद्भिः प्रक्षाल्य तथैव पुनर्द्विवारं प्राक्षल्य एवमेव बस्तिम्, ऊरू, जङ्घे, चरणौ, करौ चैकैकशः प्रक्षाल्याचम्य 'उदकाय नमः' इति तीर्थोदकं नत्वा 'इदं विष्णुः' इत्यृचा मेधातिथिदृष्ट्या गायत्र्या वैष्णव्या दक्षिणपाणिगृहीतया मृदा मुखतो नाभिपर्यन्तम्, वामकरगृहीतया नाभितः पादपर्यन्तमङ्गान्यालिप्य शनैर्नाभिमात्रं जलं प्रविश्य सूर्याभिमुखं स्थित्वा 'आपो अस्मान्' इति मन्त्रेण प्रजापतिदृष्टेनात्यष्टिछन्दस्केनाब्दैवतेन दीक्षायां यजमानस्नाने विनियुक्तेन जले मज्जनम्। 'उदिदाभ्यः' इति मन्त्रेण तद्दैवतर्षिछन्दस्केनोन्मज्जनम्। पुनस्तूष्णीं निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य पाणिभ्यां गोमयमादाय–'मानस्तोके' इत्यृचा कुत्सदृष्टया ऐकरौद्रया जगत्याशतरुद्रिये[१] जर्तिलहोमे विनियुक्तया दक्षिणपाणिस्थेन गोमयेन मुखादिनाभ्यन्तम्, वामकरस्थेन नाभितोऽङ्घ्रिपर्यन्तं शरीरं विलिम्पेत्। 'इमं मे वरुण' इत्यृचा शुनःशेपार्षया गायत्र्या वारुण्या चुलुकेन मूर्द्धानमभिषिच्य तथैव 'तत्वा-यामि' इति शुनःशेपदृष्टया त्रिष्टुभा वारुण्या तथा–'त्वन्नः' 'स त्वन्नः' इत्येताभ्यां वामदेवर्षिभ्यां त्रिष्टुब्भ्यामाग्निवारुणीभ्याम् प्रत्यृचम्, 'आपो ओषधीर्हिᳬंसीः' इत्येतावता यजुषा प्रजापतिदृष्टेन हृदयशूलदैवतेन, 'उदुत्तमम्' इति शुनःशेपदृष्टया त्रिष्टुभा वारुण्या, 'मुञ्चन्तु मा' (य० सं० १२–९०) इति [२]बन्धुदृष्टया अनुष्टुभा ओषधिदेवतया, 'अवभृथ [३]निचुम्पुण' (य० सं० ८–२७) इति प्रजापतिदृष्टया यजुषा यज्ञदेवतयाऽभिषिञ्चेत्। ततस्तूष्णीं निमज्ज्याचम्य त्रिभिर्दर्भैर्दक्षिणकरधृतैः सोदकै-

---

१. जर्तिलशब्देन आरण्यतिलग्रहणम्, तदेतत्कातीयश्रौतसूत्रकर्कभाष्ये स्पष्टम्।

२. 'या ओषधीः सप्तविᳬं॰शतिरनुष्टुभ ओषधिस्तुतिमाथर्वणोभिषङ् मुञ्चन्तु बन्धुर्द्वादशानारभ्याधीता' इति सर्वानुक्रमे। महीधरभाष्येऽप्येवम्।

३. सर्वानुक्रमभाष्ये देवयाज्ञिकः—'अवभृथेत्येतत् यजुर्यज्ञदेवतम्, नपुंसकनिर्देशादस्य यजुष्ट्वम्। अष्टाचत्वारिंशदक्षरत्वाद् ब्राह्मी अनुष्टुप्' इति।

नाभिमारभ्य प्रदक्षिण नाभिपर्यन्तं वक्ष्यमाणैः प्रणवादिभिर्मन्त्रैरात्मानं पावयेत्। तत्र प्रणवस्य ब्रह्म ऋषि,ः परमात्मा[1] देवता, गायत्री छन्दः, ब्रह्मारम्भविरामसर्वकर्मादिषु विनियोगः। व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिरग्निवायुसूर्या देवता, दैवानि [2]गायत्र्युष्णिग्गायत्रीसंज्ञानि छन्दांसि, अग्न्याधाने विनियोगः। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः, सविता देवता, गायत्री छन्दः, गार्हपत्यस्योपस्थाने वि०। 'आपो हि ष्ठा' इति तिसृणां सिन्धुद्वीप ऋषिः आपो देवता, गायत्री छन्दः, उषासम्भरणे पर्णकषायपक्वोदकासेके वि०। इदमाप इति प्रजापतिर्ऋषिः, आपो देवता, त्र्यवसाना महापङ्क्तिश्छन्दः, अन्त्यपादः पावमानः पशौ चात्वाले मार्जने वि०। 'हविष्मतीरिमाः' इति प्रजापतिर्ऋषिः, आपो यजमानाध्वरसूर्याश्च देवता, अनुष्टुप् छन्दः, वरीणामपां ग्रहणे वि०। 'देवीरापः' अपान्नपात्'इति प्रजापतिर्ऋषिः आपो देवता, पङ्क्तिश्छन्दः, अप्सु चतुर्गृहीताज्यहोमे वि०। [3]'कार्षिरसि' इति प्रजापतिर्ऋषिः, आज्यमापश्च देवता, अनुष्टुप् छन्दः, आज्यप्रप्लावने वि०। 'अपो देवाः' इति वरुण ऋषिः, आपो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः, राजसूयेऽभिषेचनीयोषासम्भरणे वि०। 'द्रुपदादिव' इति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य[4] ऋषयः, आपो देवता, अनुष्टुप् छन्दः, [5]वासोऽपासने विनियोगः। 'शन्नो देवीः' इति दध्यङ्ङाथर्वण[6] ऋषिः, आपो देवता, गायत्री छन्दः, शान्तिकरणे वि०। 'अपाꣳ रसम्' इति बृहस्पतिरिन्द्रश्च ऋषिः, रसो देवता, अनुष्टुप् छन्दश्चतुर्थवाजपेयग्रहणे वि०। 'अपो देवीः' इति सिन्धुद्वीप ऋषिः, आपो देवता, न्यङ्कुसारणी छन्दः उत्खातोखानिर्माणार्थं मृद्भूमावपां सेके वि०। 'पुनन्तु मा' इति द्वयोः प्रजापत्याश्विसरस्वत्य ऋषयः, पितरो देवता, अनुष्टुप् छन्दः, सौत्रामण्यां सुराग्रहशेषप्रतिपत्तिसमनन्तरं पवित्रहिरण्यसुराभिः ऋत्विग्यजमानानामात्मपावने वि०। 'अग्न आयू-

---

१. नारायणोपनिषदाचारादर्शयोरग्निर्देवतेति, तदेतत् सर्वानुक्रममहीधरभाष्यविरुद्धम्।

२. 'भूरिति दैवी गायत्री, एकाक्षरत्वात्। भुव इति द्व्यक्षरादैव्युष्णिक्। स्वरित्येकाक्षरा दैवी गायत्री'। इति देवयाज्ञिककृतसर्वानुक्रमभाष्ये स्पष्टम्। अतो ग्रन्थान्तरेषूपलभ्यमानो 'गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् छन्दांसि' इति पाठश्चिन्तनीयः।

३. 'कार्षिराज्यमनुष्टुप् समुद्रस्य समाप आप' इति सर्वानुक्रमे।

४. अत्र कोकिलो राजपुत्रऋषिरित्याचारादर्शे।

५. अवभृथवत्स्नात्वा वासोऽपासनं द्रुपदादिवेति श्रौतसूत्रे।

६. अत्र सिन्धुद्वीप ऋषिरिति नागदवकृताचारदीपे।

-ऽऽंषि' इति प्रजापतिर्वैखानस[1] ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्री छन्दः। 'पुनन्तु मा' इति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः, देवजना धियो विश्वाभूतानि जातवेदाश्च देवता, अनुष्टुप् छन्दः। 'पवित्रेण'इत्यादीनां पञ्चानाम् प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः, प्रथमाया अग्निर्देवता, गायत्रीछन्दः; द्वितीयाया अग्निर्ब्रह्म वा देवता, तृतीयपादस्य ब्रह्मैव देवता, गायत्री छन्दः; तृतीयायाः सोमो देवता, गायत्री छन्दः; चतुर्थ्याः सविता देवता, गायत्री छन्दः; पञ्चम्या विश्वेदेवा देवता, त्रिष्टुप् छन्दः; पूर्वोक्तपावने वि०। 'चित्पतिर्मा' 'वाक्पतिर्मा' 'देवो मा' इति त्रयाणां यजुषाम् प्रजापतिर्ऋषिः' द्वयोः प्रजापतिर्देवता, तृतीयस्य सविता देवता, दीक्षणीयायां यजमानपावने वि०। ॐकारादीनां पूर्ववत्, अत्र पावने विनियोगः। उक्तरीत्या ऋष्यादीन् स्मृत्वा 'ॐ पुनातु' 'ॐ भूः पुनातु' 'ॐ भुवः पुनातु' 'ॐ स्वः पुनातु' गायत्र्यन्ते 'सर्वं पुनातु'। तत 'आपो हि ष्ठा' इति प्रभृतिभिः 'वैश्वदेवी पुनती' इत्यन्ताभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं पावयित्वा 'चित्पतिर्मा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रयते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्' इत्येवं पावयित्वा 'वाकपतिर्मा पुनात्वच्छिद्रेण' इत्यादि 'तच्छकेयम्' इत्यन्तेन; 'देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण'इत्यादि–'तच्छकेयम्' इत्यन्तेन पावयेत्। ततः–'ॐ पुनातु' इति पूर्ववत्पावयित्वा पावनकुशान् परित्यज्य पूर्ववत् 'इमं मे वरुण' इत्यादिभिः 'अवभृथ' इत्यन्ताभिरष्टाभिर्ऋग्भिरभिषिच्यान्तर्जले निमग्नः(?)'ऋतं च सत्यञ्च' इति सूक्तमघमर्षणदृष्टं भाववृत्तिदैवतमानुष्टुभमश्वमेधावभृथे विनियुक्तं त्रिर्जपेत्। 'द्रुपदादिव' इति प्रजापत्यश्विसरस्वतीदृष्टमापमानुष्टुभं सौत्रामण्यवभृथे वासोपासने विनियुक्तम्, 'आयङ्गौः' इत्यृचम् सार्पराज्ञीदृष्टामाग्नेयीं, गायत्रीं प्राणायामं वा शिरः सहितम् ॐ इति वा त्रिर्जपेत्। यद्वा परमात्मानमव्ययं वष्णु स्मरेत्। ततः 'तद्विष्णोः'इत्येतया मेधातिथिदृष्टया वैष्णव्य गायत्र्या चषालोद्वीक्षणे विनियुक्तया त्रिः स्नात्वाऽऽचम्य निर्गच्छेत्।

इति स्नानप्रयोगपद्धतिः ॥ १ ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनस्नानकल्पसूत्रे हरिहर भाष्ये प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

---

१. 'अग्न आयूंऽषि' इतीमां तृतीयामृचं गायत्रीमग्निर्देवता, वैखानसः प्रजापति ऋषिरपश्यत्' इति सर्वानुक्रमभाष्ये तत्पद्धतौ च।

अथ द्वितीया कण्डिका

उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय ॥ १ ॥

अब सन्ध्योपासन की विधि कहते हैं:—

जल से बाहर निकल कर सफेद, घर में धोये हुए सूखे दो वस्त्रों [एक अन्दर और एक बाहर] को पहन कर ॥ १ ॥

ततः किं कुर्यादित्याह—उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय ।

एकपङ्क्त्युपविष्टानां भोजनेन पृथक् पृथक् ।
यद्येको लभते नीलीं सर्वे तेऽशुचयः स्मृताः ॥
यस्य पट्टे शुचौ तन्तुर्नीलीरक्तो हि दृश्यते ।
त्रिरात्रोपोषणं देयं शेषाश्चैकोपवासिनः ॥

एवमुक्तविधिना स्नात्वा उत्तीर्य जलाद् बहिर्निष्क्रम्य धौते अरजक-प्रक्षालिते सदशे शुष्के शुक्ले अनग्निदग्धे अच्छिद्रे अस्यूते अमलिने गैरि-कादिरागेणाविकृते कार्पासवाससी अन्तरीयोत्तरीये द्वे वस्त्रे परिधाय धृत्वा । अत्र यथादेशाचारं परिधानस्य विन्यासविशेषः, प्रान्तद्वयगोपनेन । धौताभावे शाणक्षौमाविक-कुतपानामन्यतमे अभ्युक्षिते । द्वितीयवस्त्राभावे तृतीयमुपवीतं योगपट्टं वा कुशरज्जुं वा सूत्रं वा परिधानीयस्योत्तरार्धं वा उत्तरीयं कुर्यात् ॥ १ ॥

करौ प्रक्षाल्याचम्य ॥ २ ॥

जल से हाथ पैर धो कर और आचमनकरके ॥ २ ॥

मृदोरू करौ प्रक्षाल्याचम्य । मृदा उदकेन च ऊरू पाणी च क्रमेण प्रक्षा-ल्याचम्य प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्य कुशपवित्रोपग्रहपाणिर्ब्राह्म-तीर्थेन त्रिरप आचम्य सोदकेनाङ्गुष्ठमूलेन द्विर्मुखं प्रमृज्य सर्वाङ्गुली-भिरोष्ठौ स्पृष्ट्वा तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणोत्तरे नासारन्ध्रे अनामिका-ङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणोत्तरे अक्षिणी ताभ्यामेव दक्षिणोत्तरौ कर्णौ कनिष्ठा-ङ्गुष्ठाभ्यां नाभिं पाणितलेन हृदयं च कराग्रेण मूर्धानं दक्षिणोत्तरभुज-मूले चोपस्पृशेत् । एवं द्विराचमनं विधाय शिष्टाचारपरिप्राप्तं गङ्गादि-तीर्थमृत्तिकयोर्ध्वपुण्ड्रं तिलकं ललाटे कुर्यात् ॥ २ ॥

त्रिरायम्यासून् ॥ ३ ॥

तीन बार प्राणायाम[1] करके ।। ३ ।।

त्रिरायम्यासून् । त्रिः त्रीन् वारान् असून् प्राणान् आयम्य सन्निरुध्य । प्राणनियमप्रकारश्च—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयम ।। (या० स्मृ० १–२३)

इति योगीश्वरेणोक्तो द्रष्टव्यः ।। ३ ।।

पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्द्धं क्षिप्त्वा ।। ४ ।।

जल में मिले हुए फूलों को ऊपर की ओर सूर्याभिमुख उत्सर्जन [फेंक] कर ।। ४ ।।

पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं क्षिप्त्वा । पुष्पाणि कुसुमानि तदभावे बिल्वादिपत्राणि अम्बुना उदकेन मिश्राणि संयुक्तानि अञ्जलिनाऽऽदाय उत्थाय ऊर्ध्वमुपरि सूर्याभिमुखं क्षिप्त्वा उत्सृज्य प्रणवव्याहृतिपूर्विकया गायत्र्या । शौनकः—

उभौ पादौ समौ कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलीन् ।
गोशृङ्गानूर्ध्वमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ।।

पक्षान्तरे—

ईषन्नम्रः प्रभातेषु मध्याह्ने ऋजुसंस्थितः ।
द्विजोऽर्घं प्रक्षिपेद्देव्यां सायं तूपविशन् भुवि ।।
प्रातर्मध्याह्निकां सन्ध्यां तिष्ठन्नेव समापयेत् ।
उपविश्य तु सायाह्ने जले ह्यर्घं विनिक्षिपेत् ।। ४ ।।

ऊर्ध्वबाहुः सूर्यमुदीक्षन्नुद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरिति गायत्र्या च यथाशक्ति विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरित्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत् ।। ५ ।।

सूर्याभिमुख दोनों हाथों को करके, सूर्य को देखते हुए उद्वयम्०, उदुत्यम्०, चित्रम्०, तच्चक्षु० इति इन [मंत्रों को जपना चाहिए] । और गायत्री मंत्र यथाशक्ति जितना हो सके जपना चाहिए । विभ्राऽ··· ·· इस अनुवाक के द्वारा पुरुष सूक्त, शिव संकल्प मण्डल ब्राह्मणों के मंत्र से, सूर्य की स्तुति करके,

---

१. असून = प्राणावायु, आयम्य = रोककर ।

उन्हीं की प्रदक्षिणा करके और मनसा वाचा कर्मणा नमस्कार करके बैठना चाहिए[1] ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वबाहुः सूर्यमुदीक्षन्नुद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरिति गायत्र्या च यथाशक्ति विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरित्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत् । ऊर्ध्वौ सूर्याभिमुखौ बाहू यस्य स ऊर्ध्वबाहुः सन् सूर्यमादित्यमुदीक्षन् पश्यन् 'उद्वयम्' इत्यादिनोक्ताभिश्चतसृभिर्ऋग्भिस्तथा गायत्र्या यथाशक्ति सहस्रादिसङ्ख्यया आवृत्तया 'विभ्राड्' इत्यनुवाकेन, पुरुषसूक्तेन 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिषोडशर्चेन, शिवसङ्कल्पेन 'यज्जाग्रतः' इत्यादिना षड्चेन, मण्डलब्राह्मणेन 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यादिनोपस्थाय सूर्यं स्तुत्वा तमेव प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य कायवाङ्मनोभिः प्रणम्योपविशेत् आसीत् । एवं त्रिरायम्यासून् इत्यारम्य उपविशेदित्यन्तेन सूत्रसन्दर्भेण कात्यायनाचार्येण सन्ध्योपासनमुक्तं तत् काण्वमाध्यन्दिनानां स्वगृह्योक्तत्वात् शास्त्रानुष्ठानसिद्धिकरम् । यत्पुनः शाखान्तराधिकरणन्यायेनेदमेव कल्पतरुकारप्रभृतिभिर्निबन्धकारैराह्निकपद्धतिकारैश्च स्मृत्यन्तरोक्तसन्ध्योपासनविधिसमुच्चितं लिखितं तत्सर्वशाखाध्येतृसाधारणत्वात्सर्वशाखिनामनुष्ठान(तु)मुचितम् ॥ ५ ॥

दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्याऽऽदावरभ्यवेदम् ॥ ६ ॥ २ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनस्नानकल्पसूत्रे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

कुशासन पर [पूर्वाभिमुख बैठकर] बिना टूटे हुए कुशों को हाथ में ले कर मंत्र ब्राह्मणात्मक वेद को प्रारम्भ करने के लिए यथाशक्ति ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए ।

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में कात्यायन कृत स्नान कल्पसूत्र में द्वितीय कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥

---

१. इस प्रकार "त्रिराय......से ले कर उपविशेत् तक कात्यायन आचार्य ने संध्या की विधि बतलायी है ।

दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्याऽऽदावारभ्य वेदम् । दर्भेषु प्रशस्त-दारुनिर्मितासनोपरिनिहितेषु प्रागग्रेषु उदगग्रेषु वा त्रिषु कुशेषु आसीनः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा दर्भपाणिः दर्भाः पवित्रोपग्रहव्यतिरिक्ताः पाण्योर्यन्यासौ दर्भपाणिः स्वाध्यायं ब्रह्मयज्ञं यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य कुर्यात् । किं कृत्वा? आरभ्य उपक्रम्य । कं? वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकम् । कुत आरभ्य? आदौ आदितः 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यस्मात् । अत्र वेदमित्येकवचनादनेकवेदाध्यायिनोऽप्येकं वेदमारभ्य प्रतिदिन उपर्युपर्यध्ययनेन समाप्यान्यं वेदमारभ्य तथैव समाप्य अथर्वपुराणेतिहासादीन्यपि तथैवादित आरभ्यैकैकं समाप्यापरमपरमारभ्य समापयेत् । न पुनर्यदृच्छया एकदेशमेकदेशम्, आदावारभ्येति नियमात् । वेदशब्दोऽत्रोपलक्षणार्थः । यथाह याज्ञवल्क्यः—

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्याञ्चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥
(या० स्मृ० १–१०१) इति ।

स चायं जपयज्ञः कालान्तरेऽपि स्मर्यते,

यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः ।
स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥
वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेत्यनिमित्तिकात् ॥

इति छन्दोगपरिशिष्टोक्तेः ॥ ६ ॥

इति द्वितीयकण्डिकासूत्रार्थः ॥ २ ॥

अथ प्रयोगः । निर्गम्य पादौ चले स्थले च कृत्वा द्विराचम्य धौते वस्त्रे परिधाय मृदाऽद्भिश्च ऊरू करौ प्रक्षाल्य श्रीपर्णादिप्रशस्तदारुनिर्मिते कुशत्रयाच्छन्ने सुप्रक्षालिते आसने प्रागास्य उदगास्यो वाऽऽसीन उक्तलक्षणपवित्रोपग्रहः सुवर्णरौप्यालङ्कृतपाणियुगल उक्तेन विधिना द्विराचम्य भगवन्तं परमात्मस्वरूपं नारायणं संस्मृत्य सन्ध्योपासनमारभेत् तद्यथा—ॐकारस्य ब्रह्म ऋषिः, परमात्मा०, गायत्री छन्दः, सर्वकर्मारम्भे विनियोगः । भूरादिसप्तव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः, [1]अग्निवायुसूर्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवताः, गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुप्जगत्य-

१. 'अग्निर्वायुः सूर्यो बृहस्पतिर्वरुण इन्द्रो विश्वेदेवा' ख० ।

श्छन्दांसि; 'तत्सवितुः' इति विश्वामित्रऋषिः, सवितादेवता, गायत्री छन्दः; 'आपो ज्योतिः' इति प्रजापतिर्ऋषिः, ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवताः, द्विपदा गायत्रीं छन्दः, सर्वेषाम् प्राणायामे विनियोगः। इत्युक्त्वा प्राणवायुं नियम्य ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवि०—दयात् ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्। एवं नवधाऽऽवृत्य ॐ उपात्तदुरितक्षयाय मध्याह्नसन्ध्यामहमुपास्ये इति प्रतिज्ञाय।

ॐ आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे रुद्रवादिनि।
सावित्रिच्छन्दसां माता रुद्रयोने नमोऽस्तु ते॥

इति मन्त्रेण सन्ध्यामावाह्य 'आपः पुनन्तु' इति मारीचकश्यप[1] ऋषिः, आपो देवता, अनुष्टुप् छन्दः, आचमने विनि०।

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहठ्ँ स्वाहा॥

इत्यनेन मन्त्रेण सकृदप आचम्य स्मार्त्तमाचमनं कृत्वा कुशानादाय 'आपो हि ष्ठा' इति तृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः, आपो देवता, गायत्री छन्दः, पर्णकषायपक्वोदकासेके वि० इति स्मृत्वा कुशाग्रेण ताभिरद्भिः 'आपो हि ष्ठा मयोभुवः' इत्यादि तृचस्य नवभिः पादैः प्रतिपादं शिरोऽभिषिञ्चेत्। ततो 'द्रुपदादिव' इति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः, आपो देवता अनुष्टुप् छन्दः सौत्रामण्यवभृथे वासोपासने वि० इत्यभिधाय चुलुकेन जलमादाय तस्मिन्नासाग्रं निधाय 'द्रुपदादिव मुमुचान० मैनसः' (य० सं० २०-२०) इति जपित्वा तज्जलं भूमावुत्सृज्य 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इति तृचस्य अघमर्षण ऋषिः, भाववृत्तिर्देवता, अनुष्टुप् छन्दः अश्वमेधावभृथे वि० इत्युक्त्वा चुलुकजले नासाग्रमाधाय—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो [2]रात्रिरजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

---

१. विष्णुर्ऋषिरित्याचारादर्शे। याज्ञिक्यो देवता, उपनिषदऋषयः आपः पृथिवी ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म च देवता, अष्टपदा अष्टिछन्दः उदकपाने वि० इति संस्काररत्नमालायाम्।

२. नारायणोपनिषदतिरिक्ताचारग्रन्थेषु 'राञ्यजायत' इति पाठः।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

इति जपित्वा जलं भूमावुत्सृज्य पुष्पाणि पत्राणि वा अम्बुमिश्राण्यञ्जलिनाऽऽदायोत्थाय सप्रणवव्याहृतिकां गायत्रीं पठित्वा आदित्याभिमुखान्यूर्ध्वं क्षिप्त्वा बाहू सूर्याभिमुखावुत्क्षिप्य—'उद्वयम्' इति प्रस्कण्व ऋषिः, सूर्यो देवता, अनुष्टुप् छन्दः जलादुत्क्रमणे वि० । 'उदुत्यम्' इति प्रस्कण्व ऋषिः, सूर्यो देवता, गायत्री छन्दः, दक्षिणहोमे वि० । 'चित्रं देवानाम्' इति कुत्स आङ्गिरस ऋषिः, सूर्यो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः दक्षिणहोमे वि० । 'तच्चक्षुः' इति दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः, सूर्यो देवता, एकाधिका ब्राह्मी त्रिष्टुप् व्यूहेनात्यष्टिर्वा छन्दः, महावीरशान्तिकरणे वि० इत्यभिधाय 'उद्वयम्' 'उदुत्यम्' 'चित्रम्' 'तच्चक्षुः' इत्येताभिर्ऋग्भिः सूर्यमुपस्थाय 'तेजोऽसि' इति यजुः परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः, आज्यं देवता, आज्यावेक्षणे गायत्र्यावाहने वि० इत्युक्त्वा 'गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसे सावदोमा प्रापत्' इति गायत्रीमुपस्थाय प्रणवस्य परब्रह्म ऋषिः, परमात्मा देवता, गायत्री छन्दः; व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः, अग्निवायुसूर्या देवता, दैवानि गायत्र्युष्णिग्गायत्रीसंज्ञानि छन्दांसि; गायत्र्या विश्वामित्रऋषिः, सविता देवता, गायत्री छन्दः, अग्निर्मुखं, ब्रह्मा हृदयं, विष्णुः शरीरं, सांख्यायनगोत्र सर्वपापक्षयार्थे जपे वि० इत्युक्त्वाऽर्कमीक्षमाणो मन्त्रार्थमनुस्मरन् अविक्षिप्तचित्तः स्फटिकपद्माक्षरुद्राक्षपुत्रजीवकुशग्रन्थिहस्तपर्वणां पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरया जपमालया प्रणवव्याहृतिपूर्वां प्रणवान्तां गायत्रीं सहस्रकृत्वः शतकृत्वो वा शक्तितो जपित्वा 'विभ्राट्' इत्यादीनाञ्चतुर्दशानां विभ्राट्प्रस्कण्वागस्त्यश्रुतकक्षसुकक्षप्रस्कण्वकुत्सजमदग्निनृमेधकुत्सहिरण्यस्तूपाङ्गिरसा ऋषयः, सूर्यो देवता, प्रथमा जगती, आद्यास्तिस्रो गायत्र्यः, आनस्त्रिष्टुप्, यदद्येति बृहद्गायत्री, तरणिर्विश्व तत्सूर्यस्य द्वे त्रिष्टुभौ, वण्महां द्वे बृहतीसतो बृहत्यौ, श्रायन्त बृहतीं, अद्या देवा गायत्री, आकृष्णेन त्रिष्टुप् । तम्प्रत्नथेति प्रतीकोक्तानां द्वयोः प्रजापतिर्ऋषिस्तृतीयायाः कुत्सः प्रथमा जगती, द्वितीयातृतीये त्रिष्टुभौ, सर्वमेधे सूर्यसंस्तवे तृतीये हविर्ग्रहणे वि० । 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशानां नारायणपुरुष ऋषिः, पुरुषो देवता, पञ्चदशानामनुष्टुम्, षोडश्यास्त्रिष्टुप् छन्दः, पुरुषमेधे पशुत्वेन नियुक्तानां पुरुषाणां ब्रह्मणा प्रयुक्ता-

भिष्टवे वि० । 'यज्जाग्रत' इति षण्णां शिवसङ्कल्प ऋषिः, मनो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः, अनारभ्याधीतत्वात्कात्यायनवचनाच्च आदित्योपस्थाने वि० । मण्डलब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वादच्छन्दस्कस्यादित्योपस्थाने वि० । इत्यभिधाय विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरुपांशु पठित्वा सूर्यमुपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत् ॥

इति स्मृत्यन्तरोक्तसमुच्चयेन कात्यायनसूत्रविहितं मध्याह्नसन्ध्योपासनम् ।

केवलकात्यायनसूत्रविहितं तु प्राणायामाञ्जलिप्रक्षेपादित्योपस्थानं त्रिकण्डिकासूत्रमात्रानुसारिणां शास्त्रार्थानुष्ठानमात्रकरणम् ।

बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम् ।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत् ॥

इति स्मृतेः ।

अथ ब्रह्मयज्ञं कुर्यात् । आसनोपरि न्यस्तेषु प्रागग्रेषु दर्भेषु प्राङ्मुख उपविष्टः पाणिभ्यां दर्भानादाय 'इषे त्वा' इत्यादिकस्य खं ब्रह्मान्तस्य माध्यन्दिनीयस्य वाजसनेयकस्य यजुर्वेदाम्नायस्य विवस्वानृषिः, वायुर्देवता, गायत्र्यादीनि सर्वाणि छन्दांसि, ब्रह्मयज्ञे वि० । इत्यभिधाय प्रणवं व्याहृतीर्गायत्रीमाम्नाय स्वरेणाधीत्य 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादितो वेदमारभ्यानुवाकशोऽध्यायशो यजुषो वा संहितां ब्राह्मणं चाध्यायशो ब्राह्मणशो वा प्रणवावसानं यथाशक्ति प्रत्यहमधीयानो मन्त्रं ब्राह्मणं च समाप्य पुनरेवमेवारभ्य समापयेत् । प्रणवव्याहृतिगायत्रीपूर्वकं तु प्रतिदिनं पठेत् । एवमितिहासपुराणादीन्यपि ब्रह्मयज्ञसिद्धये जपेत्, तत्रापि–'आध्यात्मिकीं जपेत्' इति योगीश्वरेण पृथगभिधानात् । अत्रानध्यायो नास्ति, 'नास्ति नित्येष्वनध्यायः' इति वचनात् । नित्यश्च ब्रह्मयज्ञः ।

॥ इति ब्रह्मयज्ञविधिः ॥

अथ तृतीया कण्डिका

ततस्तर्पयेद् ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुꣳ रुद्रं प्रजापतिं देवांश्छन्दाꣳसि वेदानृषीन् पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यान्त्संवत्सरं च सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतान् सरितो मनुष्यान् यक्षान् रक्षाꣳसि पिशाचान्त्सुपर्णान् भूतानि पशून् वनस्पती-नोषधीर्भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामिति ॐकारपूर्वम् ॥ १ ॥

तर्पण विधि

(ब्रह्मयज्ञ के बाद) तब तर्पण (अर्थात् प्रसन्न) करना चाहिए। पहले ब्रह्मा को, उसके बाद विष्णु, रुद्र, प्रजापति आदि देवों को, छन्दों को, वेदों एवं ऋषियों, प्राचीन आचार्यों, गन्धर्वों एवं अन्य आचार्यों को, संवत्सर (वर्ष) और सावयव देवी अप्सराओं को, देवानुगों को, नागों को, सागरों, पर्वतों, नदियों तथा मनुष्य एवं यक्षों को, राक्षसों, पिशाचों, सुपर्णों एवं समस्त भूतजात को, पशुओं को और वनस्पति ओषधि, भूत एवं ग्राम को—इस प्रकार इन चार[1] को ॐकार पूर्वक 'तृप्यताम्' कहकर तर्पण करना चाहिए ॥ १ ॥

एवं कृतब्रह्मयज्ञः किं कुर्यादित्यत आह—ततस्तर्पयेद् ब्रह्माणं पूर्वमित्यादि। तर्पयेत् प्रीणयेत्। कं ? ब्रह्माणम्। कथम् ? पूर्वम् आदौ। केषां ? विष्णु-मित्यादीनां भूतग्रामान्तानां देवानाम्। अत्र तर्पयेद् ब्रह्माणमिति तर्पण-क्रियायाः कर्मभूतान् ब्रह्मादीनुद्देश्यत्वेन द्वितीयया अभिधाय भूतग्रामश्चतु-र्विधस्तृप्यतामिति प्रथमया प्रयोगमाचार्यो दर्शयति। ततश्च ॐ ब्रह्मा तृप्यतामित्येवं तर्पणप्रयोगः ॥ १ ॥

ततो निवीती मनुष्यान् ॥ २ ॥

इन (देवताओं आदि) के तर्पण के बाद (दिव्य) मनुष्यों का निवीती होकर (गले में माला की तरह यज्ञोपवीत धारण करके) तर्पण करना चाहिए ॥ २ ॥

ततो निवीती मनुष्यान्। ततो देवतर्पणानन्तरं निवीती कण्ठसंसक्त-

---

१. आचार्य ने 'चतुर्विध' शब्द का प्रथमान्त प्रयोग वनस्पति, ओषधि भूत एवं ग्राम के एकवचन के द्योतनार्थ किया है।

ब्रह्मसूत्रः सन् मनुष्यान् दिव्यान् मानवान् तर्पयेदिति पूर्वोक्तेनाख्यातेनानुषङ्गः ॥ २ ॥

सनकं च सनन्दनं तृतीयं च सनातनम् ।
कपिलमासुरिश्चैव वोढुं पञ्चशिखं तथा ॥ ३ ॥

(वे दिव्य मनुष्य) सनक, सनन्दन, सनातन कपिल, आसुरि, वोढु और पञ्चशिख—ये सात हैं[1] ॥ ३ ॥

के ते मनुष्या इत्यपेक्षायामाह—सनकञ्चेत्यादिना श्लोकेन सप्त ॥ ३ ॥

ततोऽपसव्यं तिलमिश्रम् ॥ ४ ॥

इन (मनुष्यों के तर्पण) के बाद प्राचीनावीती (दाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत रखकर अपसव्य) होकर तिल मिश्रित जल से (तर्पण करना चाहिए) ॥ ४ ॥

ततोऽपसव्यं तिलमिश्रम् । ततो मनुष्यतर्पणानन्तरम् अपसव्यं प्राचीनावीतं कृत्वा तिलमिश्रं तिलैः संयुक्त जलं गृहीत्वा तर्पयेदिति सम्बन्धः ॥४॥

कव्यवाडनलꣳ सोमं यममर्यमणमग्निष्वात्तान् सोमपो बर्हिषदः ॥ ५ ॥

कव्यवाडनल[2], सोम, यम, अर्यमण, अग्निष्वात्तों, सोमपा और बर्हिषद का (तर्पण करना चाहिए) ॥ ५ ॥

कांस्तर्पयेदित्याह—कव्यवाडनलमित्यादिना बर्हिषदः इत्यन्तेन सूत्रेण पठितान् । तत्र कव्यं पित्र्यं हविर्वहतीति कव्यवाट् अनलोऽग्निः कव्यवाट् चासौ अनलश्चेति कव्यवाडनलस्तम् । अत्र केचित् कव्यवाहमनलमिति द्वे देवते मन्यन्ते, तदयुक्तम्, 'हव्यवाहनो वै देवानां, कव्यवाहनः पितृणाम्' इति श्रुतेः कव्यवाड्गुणविशिष्टोऽनलः पितृणामन्तर्गत इति कव्यवाडनल एकैव देवता ॥ ५ ॥

यमांश्चैके ॥ ६ ॥

कुछ याज्ञिकों के मत से १४ यमों का भी तर्पण करना चाहिए ॥ ६ ॥

---

१. यह सूत्र श्लोक बद्ध है ।

२. कुछ विद्वान् कव्यवाड् और अनल को दो देवता मानते हैं । किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि 'हव्यवाहनो वै देवानाम्, कव्यवाहनः पितृणाम्' यह श्रुति वचन एक ही अग्नि के कार्य का समर्थक है । अतः कव्यवाड् गुण विशिष्ट अग्नि एक ही देवता हैं ।

यमांश्चैके । एके आचार्याः यमांश्च तर्पयेदित्याहुः ॥ ६ ॥

यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।
वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥
औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।
वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नम इति ॥ ७ ॥

(दो अनुष्टुप श्लोकों द्वारा इनके नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं)—यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, औदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र, चित्रगुप्त—इन १४ यमों का तर्पण करना चाहिए ॥७॥

तद्यथा—'यमाय धर्मराजाय' इत्येवमादिनोक्तान् ॥ ७ ॥

एकैकस्य तिलैर्मिश्रांस्त्रींस्त्रीन्दद्याज्जलाञ्जलीन् ।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ८ ॥

इनमें से एक-एक का तर्पण तीन-तीन अञ्जलि तिलमिश्रित जल से करना चाहिए। इस तर्पण से जन्म भर का किया हुआ भी पाप तत्क्षण ही नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

पितृतर्पणेऽञ्जलिसङ्ख्यामाह—एकैकस्य तिलैर्मिश्रान् त्रींस्त्रीन्दद्याज्जलाञ्जलीन् । यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति । एकैकस्य प्रत्येकङ्कव्यवाडनलादेः तिलैः कृष्णैः मिश्रान् संयुक्तान् त्रींस्त्रीन् त्रित्वसङ्ख्योपेतान् जलाञ्जलीन् जलेन पूर्णा अञ्जलयो जलाञ्जलयस्तान् । अस्य तर्पणस्य नित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—यावज्जीवकृतं जन्मत आरभ्य यावत्तर्पणदिनं कृतम् आचरितं पापम् अशुभं कर्म तत्क्षणादेव तर्पणसमनन्तरमेव नश्यति क्षीयते ॥ ८ ॥

जीवत्पितृकोऽप्येतानन्यांश्चेतरः ॥ ९ ॥

जिसके पिता जीवित हों, वे पुरुष भी ब्रह्मादि से चित्रगुप्त पर्यन्त देव-ऋषियों का तर्पण कर सकते हैं, और जिसके पिता दिवंगत हो गए हों, वे अपने मृत-पिता आदि का भी तर्पण करें ॥ ९ ॥

जीवत्पितृकोऽप्येतानन्यांश्चेतरः । जीवन् विद्यमानः पिता जनको यस्य सोऽपि एतान् पूर्वोक्तान्ब्रह्मादीन् चित्रगुप्तान्तान् तर्पयेदिति गतेन सम्बन्धः । इतरः जीवत्पितृकादन्यो मृतपितृकः अन्यान् एतेभ्योऽपरान् पित्रादीन् चकारादेतान् ब्रह्मादींस्तर्पयेत् ॥ ९ ॥

उदीरतामङ्गिरस आयन्तु न ऊर्जं वहन्ती पितृभ्यो ये चेह मधुव्वाता इति तृचञ्जपन् प्रसिञ्चेत् ॥ १० ॥

'उदीरताम्' 'अङ्गिरसो नः', 'आयन्तु नः', 'ऊर्जं वहन्ती', 'पितृभ्यः' और 'ये चेह' आदि छः ऋचाएँ तथा 'मधुव्वाता' आदि तृच का जप करते हुए पितृ-तीर्थ से (अँगूठे और तर्जनी के बीच के स्थान से) तर्पण का जल प्रकृष्ट रूप से सिंचित करना चाहिए ॥ १० ॥

तर्पणवाक्यानि प्रयोगे वक्ष्यन्ते। तत्र पितृपितामहप्रपितामहान् तर्पयित्वा प्रसेकाख्यङ्कर्म कुर्यादित्याह—[1]उदीरतामङ्गिरस, आयन्तु न, ऊर्ज्जं-वहन्ती, पितृभ्यो, ये चेह, मधुव्वाता इति तृचञ्जपन् प्रसिञ्चेत्। 'उदीरताम्' इत्यादिप्रतीकोक्ताः षडृचः, 'मधुव्वाता' इति तृचः एवंनवर्चो जपन् उपांशु आम्नायस्वरेण पठन् प्रसिञ्चेत् अञ्जलिगृहीता अपः पितृतीर्थेन तर्पणजलाधिकरणे प्रक्षिपेत् ॥ १० ॥

तृप्यध्वमिति त्रिः ॥ ११ ॥

इनका तर्पण 'तृप्यध्वम्' इस मन्त्र से तीन बार (प्रसिंचन करके) करे ॥ ११ ॥

तृप्यध्वमिति त्रिः। तथा तृप्यध्वमिति प्रसेकमुक्त्वा त्रिः प्रसिञ्चेत्। अत्र केचित् "उदीरताम्" इत्यादिकानामृचां पित्रादितर्पणे अञ्जलिः दानकरणत्वं मन्यन्ते। तदसाम्प्रतम्, सूत्रार्थपर्यालोचनेन करणताया अप्रतीतेः। कथं ? 'जपन् प्रसिञ्चेत्' इत्यत्र जपन्निति शतृप्रत्ययेन मन्त्रान् जपता सता सततं जलप्रसेकः कार्यं इति हि सूत्रार्थः प्रतीयते। करणत्वे तु "मन्त्रान्तैः कर्मादिः सन्निपात्यः" (का० सू० १–३–५) इति परिभाषया मन्त्रे समाप्तेऽञ्जलिर्देयः, तथाच सति जपशब्दस्य शतृप्रत्ययस्य वाऽऽनर्थक्यप्रसङ्गः प्रत्येकशब्दस्य दानार्थताकल्पना च, तस्मात्प्रसेकाख्यमिदं कर्मान्तरम्। तथा च योगियाज्ञवल्क्यः—

---

१. उदीरताम् अङ्गिरसो नः आयन्तु न इति तृचं शङ्खदृष्टं त्रैष्टुभं पितृदैवतं यजमानवाचने विनियुक्तम्। ऊर्ज्जं वहन्ती इति प्रजापतिदृष्टं विराट्छन्दस्कमपां सेचने विनियुक्तम्। पितृभ्य इति प्राजापत्यश्विसरस्वतीभिर्दृष्टं तत्र पितृभ्यः यजुस्त्रिष्टुप्, पितामहेभ्य आसुर्यनुष्टुप्, प्रपितामहेभ्यः साम्न्युष्णिक्, अक्षन् देवी पंक्तिः अमीमदन्त अतीतृपन्त यजुरनुष्टुभौ पितरः यजुर्गायत्री सुराग्रहशेषहोमे अङ्गारोपसेचने जपे च वि०। ये चेह इति प्रजापत्यश्विसरस्वतीभिर्दृष्टं त्रिष्टुप्छन्दस्कं पितृदैवतं श्राद्धभोजने जपे वि०। मधुव्वाता इति तृचं वैश्वदेवं गायत्रीछन्दस्कं गौतमदृष्टं दधिमधुघृतैः कूर्माञ्जने विनियुक्तम्।

पितॄन् ध्यायन्प्रसिञ्चेद् वै जपन्मन्त्रान् यथाक्रमम् । इति ॥ ११ ॥

नमो व इत्युक्त्वा मातामहानां चैवं गुरुशिष्यर्त्विग्ज्ञाति-बान्धवान् ॥ १२ ॥

'नमो वः' आदि मन्त्र कहकर मातामहों (नाना नानी) आदि का और इसी प्रकार गुरु, शिष्य, पुरोहित और चाचा, भ्रातादि बान्धवों का भी तर्पण करना चाहिए ॥ १२ ॥

नमो[1] व इत्युक्त्वा मातामहानाञ्चैवं गुरुशिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान् । "नमो वः पितरो रसाय" इत्यादीन्यष्टौ यजूंषि उक्त्वा पठित्वा माता-महानां मातुः पितृपितामहप्रपितामहानां च एवम् एकैकस्य तिलैर्मिश्र-मञ्जलित्रयेण तर्पणं कृत्वा गुर्वादयोऽपि एकैकाञ्जलिना तर्प्याः। तत्र गुरुम् आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकम् । मनुः—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
[2]साङ्गञ्च सरहस्यञ्च तमाचार्यम्प्रचक्षते ॥ इति ।

(म. स्मृ. २–१४०)

ऋत्विजो याजकान्, ज्ञातीन् पितृव्यभ्रात्रादिसपिण्डसगोत्रान्, बान्धवान् मातुलेयपैतृष्वसेयमातृष्वसेयादीन् ॥ १२ ॥

अतर्पिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति ॥ १३ ॥

इन ब्रह्मादि देव, ऋषि एवं पितरों का यदि तर्पण न किया जाय तो ये शरीर से खून पीते हैं (अतः तर्पण निश्चय ही करना चाहिए) ॥ १३ ॥

अतर्पिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति । एते पूर्वोक्ता ब्रह्मादयः अतर्पिताः सन्तः देहात् अतर्पयितुः शरीरात् रुधिरं पिबन्ति, तर्पणाकरणजप्रत्यवायात् देहस्य रुधिरशोषणं भवतीत्यर्थः। एतदनिष्टापत्तिवचनं तर्पणस्यावश्य-करणीयत्वज्ञापनार्थम् ॥ १३ ॥

वासो निष्पीड्याचम्य ॥ १४ ॥

स्नान के बाद अंगोछा आदि वस्त्र निचोड़कर वस्त्रनिष्पीडन कर आचमन करे ॥ १४ ॥

---

१. नमो व इति प्रजापतिऋँषिः लिङ्गोक्ता देवता आद्यानां पञ्चानां नवाक्ष-राणां यजुर्बृहती आसुरी जगती वा षष्ठस्य एकविंशत्यक्षरा ऋगुष्णिक् अञ्जलि-करणे विनियोगः ।

२. 'सकल्पं' इति मुद्रितमनुस्मृतौ पाठः ।

वासो निष्पीड्याचम्य । बृहत्पराशरः—

> निःपीडयेत्स्नानवस्त्रं तिलदर्भसमन्वितम् ।
> न पूर्वं तर्पणाद्वस्त्रं नैवाम्भसि न पादयोः ॥ इति ।

स्नानवासो निष्पीड्य आचम्य पूर्ववत्, एवं तर्पणं विधाय तदन्ते स्थले वासो निष्पीड्याचम्य ।

> निष्पीडयति यः पूर्वं स्नानवस्त्रमतर्पिते ।
> निराशाः पितरो यान्ति शापं दत्वा सुदारुणम् ॥
> द्वादश्यां पञ्चदश्याञ्च सङ्क्रान्तौ श्राद्धवासरे ।
> वस्त्रं निष्पीडयेन्नैव न च क्षारेण योजयेत् ॥

एतत्तु तर्पणं प्रातःस्नानानन्तरं प्रातः कार्यम् । तदा न कृतञ्चेन्मध्याह्नस्नानानन्तरङ्कार्यम् । मध्याह्ने मन्त्रस्नानं न कृतञ्चेत् तदाऽपराह्णादिषु स्नानङ्कृत्वा कुर्यात् । 'पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्' इति श्रुतिस्तर्पणातिरिक्तविषया । प्रातश्चेत्कृतं तर्पणं मध्याह्नादिषु न कर्तव्यमेव । स्नानाङ्गतर्पणं तु वैधस्नानानन्तरङ्कार्यम् ॥१४॥

ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणैस्तल्लिङ्गैरर्चयेत् ॥ १५ ॥

ब्राह्म, वैष्णव, रौद्र, सावित्र, मित्र और वारुण देवताक मन्त्रों से पूजा करनी चाहिए ॥ १५ ॥

देवतापूजामाह—ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणैस्तल्लिङ्गैरर्चयेत् । ब्राह्मश्च वैष्णवश्च रौद्रश्च सावित्रश्च मैत्रश्च वारुणश्च ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणास्तैः[1], तथा कीदृशैः ? तल्लिङ्गैः तेषां ब्रह्मादीनां लिङ्गं प्रकाशनसमर्थं पदं येषु ते तल्लिङ्गाः तैस्तल्लिङ्गैः । ननु ब्राह्मेत्यादिना देवतातद्धितेन तल्लिङ्गत्वे प्राप्ते पुनस्तल्लिङ्गैरिति किमर्थम् ? उच्यते, श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिर्मन्त्राद्यङ्गविनियोगो भवति सर्वत्र, अत्र तु लिङ्गमेव विनियोजकं येषां ते ग्राह्या इत्यर्थकम् । तल्लिङ्गैरिति मन्त्रैरर्चयेत् ब्रह्मविष्णुरुद्रसवितृमित्रवरुणान् पृथक् पूजयेत् आवाहनादिभिरुपचारैः ॥ १५ ॥

अदृश्रङ्ग् हङ्ग्स इत्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य दिशश्च देवताश्च नमस्कृत्योपविश्य ब्रह्माग्निपृथिव्योषधिवाग्वाचस्पतिविष्णुमहद्भ्योऽ-

---

१. 'णास्ते तथा की' ख० ग० ।

द्भ्योऽपां पतये वरुणाय नम इति सर्वत्र संवर्चसेति मुखं विमृष्टे देवा गातुविद इति विसर्जयेत् ॥ १६ ॥

'अदृश्रमस्य केतवः' और 'हंसः शुचिषत्' इन दोनों ऋचाओं से सब दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से प्रदक्षिणा करते हुए उपस्थान करके दिशा और देवताओं को नमस्कार करके, बैठकर ब्रह्मा, अग्नि, पृथिवी, ओषधि, वाक्, वाचस्पति, विष्णु, महद्, अद्, अपांपति और वरुण के लिए नमस्कार करे। ऐसा सर्वत्र करना चाहिए। 'संवर्चसा' आदि मन्त्र से मुख का प्रक्षालन करे तथा 'देवागातुविदः' आदि मन्त्र से पितरों आदि का विसर्जन करना चाहिए ॥ १६ ॥

अदृश्रर्ं० हर्ठ्स० इत्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य दिशश्च देवताश्च नमस्कृत्योपविश्य ब्रह्माग्निपृथिव्योषधिवाग्वाचस्पतिविष्णुमहद्भ्योऽद्भ्योऽपां पतये वरुणाय नम इति सर्वत्र सम्वर्चसेति मुखं विमृष्टे देवा गातुविद इति विसर्जयेत्। "अदृश्रमस्य केतवः" इति, "हर्ठ्सः शुचिषत्" इत्येताभ्यामृग्भ्यामादित्यं भगवन्तं विवस्वन्तमुपस्थाय प्रदक्षिणमावृत्य दिशः प्राच्याद्या देवताश्च सन्निधानाद्दिशामधिष्ठात्रीरिन्द्राद्या नमस्कृत्य मन्त्राणामनभिधानान्नाममन्त्रैर्नमोयोगाच्चतुर्थ्यन्तैः प्रणम्य उपविश्य आसित्वा ब्रह्मादिवरुणान्तेभ्यो देवेभ्यो नमस्कृत्य योगियाज्ञवल्क्यवचनादुदकदानसहितं 'संवर्चसा' इति मन्त्रेणाञ्जलिना जलमादाय मुखमास्यं विमृष्टे शोधयति 'देवा गातुविदः' इति मन्त्रेण स्नानादिकर्माङ्गभूता देवता विसर्जयेत् स्वस्थानं गमयेत् ॥१६॥

एष स्नानविधिरेष स्नानविधिः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीकात्यायनोक्तं त्रिकण्डिकास्नानसूत्रं समाप्तम् ॥ ३ ॥

यही स्नान विधि है ॥ १७ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में कात्यायन स्नानकल्पसूत्र में तृतीय अन्तिम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

एष स्नानविधिरेष स्नानविधिः। अत्राचार्यो माध्याह्निकक्रियाङ्गस्नानेतिकर्तव्यतामभिधाय इदानीमेष स्नानविधिरित्यनेन स्नानान्तरेऽपि मलापकर्षणाशुचिस्पर्शनादिनैमित्तिकस्नानव्यतिरिक्ते एष एव विधिरितिकर्तव्य-

तेत्यतिदिशति । स च नद्यादौ जलाशये वा । यथाऽऽह कात्यायनश्छन्दोगपरिशिष्टे—

यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः ।
दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गेहे चेत्तदमन्त्रवत् ।। इति ।

अत्र माध्याह्निकस्नानविधिं प्रातःस्नानेऽतिदिशन्नद्यादौ निगमयति । 'गेहे चेत्तदमन्त्रवत्' इति जलाशयादन्यत्र स्नाने मन्त्रनिवृत्ति प्रतिपादयति । अतो यदि गृहे उद्धृतोदकेन उष्णेन वा स्नाति तदा न कश्चिद्विधिः, अमन्त्रवदिति वचनात् । मन्त्रोऽस्यास्तीति मन्त्रवत् मन्त्रसहितं, न मन्त्रवत् अमन्त्रवत् । अथवा अमन्त्रो मन्त्राभाववान् शूद्रो यथा तूष्णीं स्नाति तद्वत्स्नायादित्यर्थः । तद्यथा शुचौ देशे उपविष्टः पादौ करौ मृज्जलैः प्रक्षाल्य कुशपवित्रोपग्रह आचम्यादित्याभिमुखस्ताम्रादिप्रशस्तपात्रस्थं प्रशस्तञ्जलं गङ्गादितीर्थजलबुद्ध्या आदाय पादादिस्वशिरःप्रभृति बहिः सर्वाङ्गेन स्नायात् आवश्यकसन्ध्योपासनाग्निहोमादिकर्मानुष्ठानाधिकारार्थम् । यतः स्मरन्ति—

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि ।
पवित्राणां तथा जप्ये दाने च विधिचोदिते ।।

इदं वारुणं स्नानं मुख्यम् । अस्यासम्भवे प्रशस्तभस्मना सर्वाङ्गोद्धूलनमाग्नेयम् । गवां खुरोत्खातरजसां शरीरेण ग्रहणं वायव्यम् । आपो हि ष्ठादिभिर्द्रुपदादिव शन्नो देवीरिदमापःप्रवहतेत्येतल्लिङ्गैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं कुशाग्रेण मूर्धनि जलाभिषेको मान्त्रम् । आर्द्रेण वाससा सर्वशरीरमार्जनं कापिलम् । आपो हि ष्ठेति ब्राह्मम् । मृदालम्भनं पार्थिवम् । अद्भिरातपवर्षाभिर्दिव्यं स्नानम् । सच्चिदानन्दघनात्मकजगत्कारणविश्वव्यापकवासुदेवस्मरणं मानसम् । दक्षिणावर्त्तशङ्खेन ताम्रपात्रगतोदकस्य शिरसा प्रतिग्रहः, अपरार्कोक्तेश्च विष्णुप्रतिमाशालग्रामशिलास्नानोदकेन च शिरोभिषिञ्चनमित्येतेषां स्नानानुकल्पानामन्यतमेन नित्यकर्मानुष्ठानाधिकारसम्पत्तये शुचौ देश उपविश्य मृदम्भोभिः पादौ पाणी च प्रक्षाल्य कुशोपग्रहपवित्रपाणिराचम्य सूर्याभिमुखः स्नायात् । एते च स्नानानुकल्पाः सर्ववर्णाश्रमाणां सर्ववेदशाखाध्यायिनाञ्च मन्त्रस्नानं विहाय साधारणाः । प्रातःस्नानं नित्यम् । चाण्डालशवयूपरजस्वलाः स्पृष्ट्वा स्नानार्हाः स्नान्ति तन्नैमित्तिकं स्नानम् । दैवज्ञविधिचोदितं पुष्पस्नानादिकं काम्यम् । जपयज्ञदेवपितृपूजनार्थं नद्यादितीर्थेषु यत्स्नानं तत् क्रियाङ्गम् । अभ्यङ्गपूर्वकमलापकर्षणं देवाखातादितीर्थेषु च स्नानं क्रियास्नानम् । कात्यायनो-

क्तस्नानविधिस्तु काण्वमाध्यन्दिनानां नियतः, इतरेषाञ्चानुक्तस्नानविधि-विशेषाणां बह्वृचानां मत्स्यपुराणादिविहितेन स्नानविधिना विकल्पितो बोद्धव्यः। एवञ्च सति यथोक्तविधिस्नानमालस्यादिना अकुर्वतो न कर्माधिकारः। न च फलवतः क्रियास्नानादेः फलावाप्तिः प्रत्युत विहिता-करणात्प्रत्यवायसम्भवो गृहस्थस्यैव यतेश्च तद्धर्मविधौ द्रष्टव्यः। ब्रह्मचारिणो याज्ञवल्क्येनोक्तो यथा—'स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैः' इति। अत्र—'एष स्नानविधिः' इति वचनात् 'यथाऽहनि तथा प्रातः' इति वचनाच्च प्रातःस्नानेऽप्यस्य विधेः प्राप्तौ छन्दोगपरिशिष्टे विशेषः—

अल्पत्वाद्धोमकालस्य महत्त्वात्स्नानकर्मणः।
प्रातर्न तनुयात्स्नानं होमलोपो विगर्हितः॥ इति॥

ततश्च साग्निः पादप्रक्षालनादिगोमयविलेपनान्तं विधाय 'मुञ्चन्तु मा' इति अभिषिच्य निमज्ज्याचम्य दर्भैः प्रणवव्याहृतिगायत्रीभिः प्रतिमन्त्रं पावयित्वा 'मुञ्चन्तु मा' इति पुनरभिषिच्यान्तर्जलेऽघमर्षणादीनामन्यतम-मावर्त्याचम्य निर्गच्छेत्। निरग्निस्तु कृत्स्नमनुतिष्ठेत्, सङ्कोचनिमित्तस्य होमस्याभावात्। जटिनः शिरोरोगिणश्चाकण्ठमज्जनं स्नानम्, सभर्तृक-योषिताञ्च। ग्रहणादिनिमित्तं गङ्गादितीर्थसङ्क्रान्त्यादिपर्वनिमित्तञ्च फलप्रदं जटादीनामपि सशिरस्कमेव। स्त्रीशूद्राणां सर्वत्र तूष्णीम्। यथाऽऽह योगियाज्ञवल्क्यः—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्नानं मन्त्रवदिष्यते।
तूष्णीमेव तु शूद्रस्य सनमस्कारकं स्मृतम्॥

बौधायनश्च—

अम्भोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम्।
मन्त्रवत्प्रोक्षणं वाऽपि द्विजादीनां विशिष्यते॥ इति।

नमस्कारश्च नमो नारायणायेति॥ १७॥ ३॥

॥ इति श्रीअग्निहोत्रिहरिहरचिरचितं कात्यायनस्नान-विधिसूत्रविवरणं समाप्तम्॥ ३॥

अथ प्रयोगः—एवं ब्रह्मयज्ञं विधाय तान्दर्भानुत्तरतो निरस्याचम्य यज्ञोपवीती प्राङ्मुखस्त्रीन्दर्भान् प्रागग्रान्दक्षिणपाणिनाऽऽदाय 'विश्वेदेवास आगता' इति गृत्समददृष्टया वैश्वदेव्या गायत्र्या वैश्वदेवग्रहणे विनियुक्तया

देवानावाह्य 'विश्वेदेवाः शृणुतेमम्' इत्येतां सुहोत्रदृष्टां वैश्वदेवीं त्रिष्टुभं सर्वमेधे वैश्वदेवग्रहणे विनियुक्तां जपित्वा सव्यकरान्वारब्धसकुशदक्षिण-करेणापो गृहीत्वा 'ॐब्रह्मा तृप्यताम्' इत्यभिधाय जलमध्ये करस्था अपः प्रक्षिप्य एवं विष्णुस्तृप्यताम्, रुद्रस्तृप्यताम्, प्रजापतिस्तृप्यताम्, देवास्तृप्यन्ताम्, छन्दांꣳसि तृ०, वेदास्तृ०, ऋषयस्तृ०, पुराणाचार्यास्तृ०, गन्धर्वास्तृ०, इतराचार्यास्तृ०, संवत्सरः सावयवस्तृ०, देव्यस्तृ०, अप्सरसस्तृ०, देवानुगास्तृ०, नागास्तृ०, सागरास्तृ०, पर्वतास्तृ०, सरितस्तृ०, मनुष्यास्तृ०, यक्षास्तृ०, रक्षाꣳसि तृ०, पिशाचास्तृ०, सुपर्णास्तृ०, भूतानि तृ०, पशवस्तृ०, वनस्पतयस्तृ०, ओषधयस्तृ०, भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामिति प्रत्येकमेकैकेनाञ्जलिना तर्पयित्वा उत्तराभिमुखो निवीतो अञ्जलौ तिरश्चः कुशान् कृत्वा अञ्जलिनाऽपो गृहीत्वा—'ॐसनकस्तृप्यताम्' इत्यभिधाय प्रजापतितीर्थेन जलाञ्ज-लिञ्जले दत्त्वा पुनरेवं द्वितीयमञ्जलीं दत्त्वा सनन्दनस्तृ०, सनातनस्तृ०, कपिलस्तृ०, आसुरिस्तृ०, वोढुस्तृ०, पञ्चशिखस्तृ०, एवं द्वौ द्वावञ्जली एकैकस्मै दत्त्वा दक्षिणामुखः प्राचीनावीतो सव्यं जान्ववाच्य तानेव दर्भान्मध्ये भुग्नान् सव्याङ्गुष्ठेन तिलानादाय दक्षिणे पाणौ गृहीत्वा द्विगुणीकृत्य सव्यकरे धृत्वा पितृतीर्थेनाद्भिरञ्जलिं प्रपूर्य 'ॐकव्यवाडनल-स्तृप्यताम्' इत्यभिधाय त्रीनञ्जलीन् दक्षिणे दद्यात्। एवं सोमस्तृ०, यमस्तृ०, अर्यमा तृ०, अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, सोमपाः पितरस्तृ०, बर्हिषदः पितरस्तृ०, ॐयमाय नमः, धर्मराजाय०, मृत्यवे०, अन्तकाय०, वैवस्वताय०, कालाय०, सर्वभूतक्षयाय०, औदुम्बराय०, दध्नाय०, नीलाय०, परमेष्ठिने०, वृकोदराय०, चित्राय०, चित्रगुप्ताय नमः इति प्रतिदैवतं त्रींस्त्रीनञ्जलीन् दद्यात्। 'अमुकगोत्रः अस्मत्पिता अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः' इत्येकमञ्जलिं दत्त्वा एवमपरमञ्जलि-द्वयं पित्रे दद्यात्। ततोऽमुकगोत्रः अस्मत्पितामहः अमुकशर्मा तृप्यतामि-दञ्जलं तस्मै स्वधा नमः' एवमपरमञ्जलिद्वयं पितामहाय दत्त्वा 'अमुक-गोत्रः अस्मत्प्रपितामहः अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः' एवमपरमञ्जलिद्वयं प्रपितामहाय दत्त्वा [1]'अमुकगोत्रः अस्मन्मातामहः

---

१. अत्र प्रपितामहाञ्जलिदानानन्तरं मातृवर्गं विहाय मातामहादित्रिकस्या-ञ्जलिदानप्रदर्शनं भ्रमविजृम्भितम्, "पित्रादित्रयपत्नीनां पृथग्देयं ततो जलम्। ततो मातामहानां च क्रम एष हि तर्पणे॥" इति मरीचिप्रदर्शितक्रमविरुद्धत्वात्, "अन्तर्मातामहान् कृत्वा मातॄणां यः प्रयच्छति। तर्पणं पिण्डदानं च नरकं स तु गच्छति॥" इति संस्कारगणपतौ गोपीनाथीयस्मृतौ नागदेवकृताचारदीपे च

अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः' एवमपरमञ्जलिद्वयं मातामहाय दत्त्वा प्रमातामहाय वृद्धप्रमातामहाय च तथैव त्रींस्त्रीनञ्जलीन् दत्त्वा 'अमुकगोत्रा अस्मन्माता अमुकदेविदा तृप्यतामिदञ्जलं तस्यै स्वधा नमः' इत्येकमञ्जलिं मात्रे दत्त्वा पुनरञ्जलिद्वयं दद्यात्। पितामहीप्रपितामहीभ्यामेवमेकैकमञ्जलिं दत्त्वा पुनरञ्जलिद्वयं दद्यात्। पितृव्यतत्पत्नीभ्रातृतत्पत्नीभगिनीमातुलमातुलानीपितृष्वसृपैतृष्वस्रीयमातृष्वसृमातृष्वस्रीयमातुलेयादिपितृमातृसपिण्डेभ्य एकैकमञ्जलिं दत्त्वा समानोदकसगोत्राचार्यश्वशुरर्त्विक्शिष्ययाज्यादिभ्यः सवर्णेभ्य एकैकमञ्जलिं दद्यात्।

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः।
अर्हन्ति पितरस्त्रींस्त्रीन् स्त्रियश्चैकैकमञ्जलिम्॥

इत्यत्र स्त्रीपदं मात्रादित्रयेतरपरमित्यवगम्यते। यतो नागदेवाचारप्रदीपे शालङ्कायनः—

मातृमुख्याश्च यास्तिस्रस्तासां दद्याज्जलाञ्जलीन्।
त्रींस्त्रींश्चैवं ततश्चान्यास्तासामेकैकमञ्जलिम्॥

पुनस्तत्रैव—

माता पितामही चैव तथैव प्रपितामही।
एतासां पितृवद्द्याच्छेषास्त्वेकैकमञ्जलिम्॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलां यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति॥

इति मन्त्रेण भूमावेकमञ्जलिं प्रक्षिप्य—

ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥

इति मन्त्रेण स्नानवस्त्रं भूमौ निष्पीड्य यज्ञोपवीती भूत्वा तर्पणार्थकुशान् परित्यज्याचम्य जले ब्रह्मादिदेवानावाह्य यथासम्भवमुपचारैर्ब्रह्मविष्णुरुद्रसवितृमित्रवरुणान् तत्तल्लिङ्गैर्मन्त्रैरर्चयेत्। तद्यथा—'ब्रह्म जज्ञानम्प्रथमं पुरस्तात्' इत्येतयर्चा प्रजापतिदृष्टयात्रिष्टुभा ब्रह्मदेवतया रुक्मोपधाने विनियुक्तया ब्रह्माणमावाहनाद्युपचारैरभ्यर्च्य 'इदं विष्णुः'

प्रत्यवायदर्शनात्, 'ताताम्बात्रितयम्' इत्यादिस्वतोवक्ष्यमाणतर्पणादिक्रमविधायकसुप्रसिद्धवचनविरोधात्; शिष्टाचारविरोधाच्च। तस्मान्मातृतर्पणप्रसेकाद्यनन्तरमेव मातामहादितर्पणमिति।

इति मेधातिथिदृष्टया गायत्र्या विष्णुदेवतया सोमयागे पत्नीपाणौ हविर्धानाञ्जलार्थाज्यसंस्रवानयने विनियुक्तया विष्णुमभ्यर्च्य 'नमस्ते रुद्रमन्यवे' इति परमेष्ठिदृष्टया गायत्र्या ऐकरौद्रचा शतरुद्रियहोमकर्मणि जर्तिलहवने विनियुक्तया रुद्रमभ्यर्च्य 'तत्सवितुः' इति विश्वामित्रदृष्टया गायत्र्या सवितृदेवतयाऽग्निहोत्रे गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तया सवितारमभ्यर्च्य 'मित्रस्य चर्षणी घृत' इति विश्वामित्रदृष्टया गायत्र्या मित्रदेवतया पच्यमानोखायाः श्रपणप्रक्षेपणे विनियुक्तया मित्रमभ्यर्च्य 'इमम्मे वरुण' इति शुनःशेपदृष्टया गायत्र्या वारुण्या सौत्रामण्यां विनियुक्तया वरुणमर्चयित्वोत्थाय 'अदृश्रमस्य केतवः' इति प्रस्कण्वसूर्यदृष्टया सौर्या गायत्र्या सूर्यातिग्राह्यग्रहणे विनियुक्तया 'हठ्ँ०सः शुचिषत्' इति वामदेवदृष्टयाऽतिजगत्या सौर्या राजसूये रथारूढस्य यजमानस्यावरोहणे विनियुक्तया च सूर्यमुपस्थाय प्रदक्षिणमावृत्य 'प्राच्यै दिशे नमः' इति प्राचीं दिशं नमस्कृत्य तद्दिग्देवताम् 'इन्द्राय नमः' इति प्रणम्य 'आग्नेय्यै दिशे नमः, अग्नये नमः' 'दक्षिणायै दिशे नमः, यमाय नमः' 'नैर्ऋत्यैदिशे नमः, निर्ऋतये नमः' 'प्रतीच्यै दिशे नमः, वरुणाय नमः' 'वायव्यै दिशे नमः, वायवे नमः' 'उदीच्यै दिशे नमः, सोमाय नमः' 'ईशान्यै दिशे नमः, ईशानाय नमः' 'ऊर्ध्वायै दिशे नमः, ब्रह्मणे नमः' 'अधरायै दिशे नमः, अनन्ताय नमः' इति दिशो देवताश्च नमस्कृत्योपविश्य 'ॐब्रह्मणे नमः, अग्नये नमः, पृथिव्यै नमः, ओषधीभ्यो नमः, वाचे नमः, वाचस्पतये नमः, विष्णवे नमः, महद्भ्यो नमः, अद्भ्यो नमः। अपाम्पतये नमः, वरुणाय नमः इत्येकैकस्मै जलाञ्जलिं दत्वा 'संवर्चसा पयसा सन्तनूभिः' इति परमेष्ठिप्रजापतिदृष्टया त्रिष्टुभा त्वष्टृदेवतया दर्शपूर्णमासयागे पूर्णपात्रस्थजलप्रतिग्रहे विनियुक्तया अञ्जलिनाऽपो गृहीत्वा मुखं विमृश्य 'देवा गातुविदः' इति मनसस्पतिदृष्टया वातदेवतया विराट्छन्दस्कया समिष्टयजुर्होमे विनियुक्तया स्नानादिकर्माङ्गदेवता विसर्जयेत् ॥

॥ इति माध्याह्निकस्नानकर्मपद्धतिः ॥ * ॥

अथ प्रातराह्निकम्—तत्र ब्राह्मे मुहूर्ते प्रबुध्य आत्मस्वास्थ्यं विचिन्त्योत्थाय द्विराचम्य ततः सोपानत्कः सकमण्डलुर्नैर्ऋतीं दिशं गत्वा अयज्ञियैस्तृणरफालकृष्टां भूमिमन्तर्धाय दिवासन्ध्ययोश्चोदङ्मुखो रात्री दक्षिणामुखो दक्षिणकर्णकृतोपवीतो मूत्रपुरीषोत्सर्गं विधाय गृहीतमेहन उत्थाय स्थानान्तरे उपविश्य अर्द्धप्रसृतिपात्रां मृदं सव्येन पाणिनाऽऽदाय पाणौ निधाय जलेन प्रक्षाल्य दशकृत्वो मृज्जलैर्वामपाणिं प्रक्षाल्य सप्तभिर्दक्षि-

णश्च एकया मृदा शिश्नं त्रिर्वामं द्विर्दक्षिणं पाणिं प्रक्षाल्योत्थाय बद्धकक्षः शुचौ देशे प्राङ्मुखो वोदङ्मुखो वा पविश्य मृज्जलैस्त्रिः पादौ करौ च प्रक्षाल्य त्रिरपोऽविकृताः फेनादिरहिता वीक्षिता ब्रह्मतीर्थेनाचम्य खानि चाद्भिरुपस्पृश्य यथोक्तदन्तधावनविधिं विधाय गृहमागत्य स्नानोपकरणान्यादाय नद्यादिजलाशयं गत्वा उक्तविधिना स्नात्वा वासःपरिधानाचमनानन्तरं पूर्ववत्प्राणायामत्रयं कृत्वा 'सूर्यश्च मा'इति नारायण ऋषिः, सूर्यो देवता, गायत्र्युपरिष्टाद् बृहती छन्दः, आचमने विनियोगः' इत्यभिधाय—"सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्च दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा" इति मन्त्रेण सकृदाचम्य स्मार्तमाचमनङ्कृत्वा एवं पूर्ववद्गायत्रीजपान्तं कृत्वा प्रदक्षिणमावृत्य भगवन्तं सवितारं नमस्कृत्योपविश्य 'देवा गातुविदः' इति विसर्जयेत् । सायंसन्ध्यायां तु प्राणायामान्ते 'अग्निश्च मा'इति नारायण ऋषिः, गायत्र्युपरिष्टाद् बृहती छन्दः, अग्निर्देवता आचमने विनियोगः' इत्युक्त्वा "अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्च दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा" इति मन्त्रेणाचम्य मार्जनाद्यघमर्षणान्ते सोदकाञ्जलिरुत्थाय प्रत्यङ्मुखोऽञ्जलिं प्रक्षिप्य प्राञ्जलिः पूर्ववदुपविश्य यावन्नक्षत्रोदयं गायत्रीञ्जपित्वोत्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविश्य—'देवा गातुविदः'इति विसर्जयेत् ।

तताम्बात्रितयं सपत्नजननी मातामहादित्रयं
सस्त्रि स्त्री तनयादि तातजननीस्वभ्रातरः सस्त्रियः ।
तताम्बात्मभगिन्यपत्यधवयुक् जायापिता सद्गुरुः
शिष्याप्ताः पितरो महालयविधौ तीर्थे तथा तर्पणे ॥

॥ इति श्री मिश्राग्निहोत्रिहरिहरकृतौ कात्यायनोक्तस्नानविधिसूत्रव्याख्यानपूर्विका स्नानपद्धतिः समाप्ता ॥

गदाधरभाष्यसहितं

श्राद्धसूत्रम्

प्रथमा कण्डिका

अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत ॥ १ ॥ ऊर्द्ध्वं वा चतुर्थ्याः ॥ २ ॥
यदहः सम्पद्येत तदहर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पूर्वेद्युर्वा ॥ ३ ॥

कृष्ण पक्ष में श्राद्ध कर्म करना चाहिए ॥ १ ॥ अमावस्या हो या कृष्ण पक्ष की चतुर्थी के पश्चात् पञ्चमी आदि जिन तिथियों में अनुकूल हो श्राद्ध करना चाहिए ॥ २ ॥ और एक दिन पहले या उसी दिन ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना चाहिए ॥ ३ ॥

शिवञ्च विघ्नहर्तारं गुरून् वै वामनं तथा ।
अम्बिकां शारदाञ्चापि वन्दे विघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
कात्यायनकृते श्राद्धसूत्रे व्याख्यापुरःसराम् ।
प्रयोगपद्धतिं कुर्वे याज्ञवल्क्यादिसम्मताम् ॥ २ ॥

तत्र "पूर्वां पौर्णमासीमुत्तरां वोपवसेत्" (का०सू० २–१–१) इत्यादिना श्रौतकर्माण्युपदिश्य "अथातो गृह्यस्थालीपाकानाङ्कर्म" (पा० सू० १–१–१) इत्यादिना स्मार्तान्यपि व्याख्यायावशिष्टं श्राद्धं कर्म कर्तव्यमित्यत आह-'अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत' श्राद्धमिति कर्मणो नामधेयम् । तत्र कर्कमते पिण्डदानस्यैव श्राद्धमिति नामधेयम् । ततश्च पिण्डदानाकरणेऽन्यावृत्तिः । पिण्डदानब्राह्मणभोजनाग्नौकरणत्रयाणां कर्मणां समुदायस्येत्यन्ये श्राद्धशब्दः स्फुटीकृतो ब्रह्माण्डे—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत् ।
पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दानं श्राद्धमुदाहृतम् ॥ इति ॥

अपरपक्ष इति कृष्णपक्ष इत्युच्यते समाचारात्, समाचरन्ति हि कृष्णपक्षे श्राद्धमिति । लिङ्गाच्च-'योऽपक्षीयते स पितर' इति । अत्र यद्यपि समस्तमाससम्बन्ध्यपरपक्षस्य श्राद्धकालत्वं प्रतीयते तथाऽपि स्मृत्यन्तरे दर्शनात् कन्याकुम्भसम्बन्धिनो विशिष्टत्वम् । तत्रापि कन्यासम्बन्धिनः पुण्यतमत्वम् । तथा च मनुः—

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञियमन्वहम् ॥ (म० स्मृ० ३-२८१)

ऋत्वपेक्षया–'हेमन्तग्रीष्मवर्षासु' इति यदुक्तं तद्विवेचितं मत्स्यपुराणे–

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
कन्याकुम्भवृषस्थेऽर्के कृष्णपक्षेषु सर्वदा ॥

कन्यासम्बन्धिनि ऋतुपक्षेऽयं विशेषः। तस्या उभयथा सङ्कीर्तनमस्ति क्वापि प्रौष्ठपदाद्यपरपक्षत्वेन, क्वाप्यश्वयुक्कृष्णपक्षत्वेन॥ तथा च विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयः—

उत्तरास्वयनाच्छ्राद्धे श्रेष्ठं स्याद्दक्षिणायनम्।
चातुर्मास्यञ्च तत्रापि प्रसुप्ते केशवेऽधिकम्॥
प्रौष्ठपद्यपरः पक्षस्तत्रापि च विशेषतः।
पञ्चम्यूर्ध्वं ततश्चापि दशम्यूर्ध्वं ततोऽप्यति॥
शस्ता त्रयोदशी राजन् मघायुक्ता ततोऽधिका॥

शङ्खेनाप्युक्तम्—

प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्।
प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन तु॥

ब्रह्मपुराणे—

आश्वयुक्कृष्णपक्षस्य श्राद्धं कार्यं दिने दिने।
त्रिभागहीनं पक्षं वा त्रिभागं त्वर्द्धमेव वा॥
आश्वयुज्याञ्च कृष्णायां त्रयोदश्यां मघासु च।
प्रावृडृतौ यमः प्रेतान्पितॄंश्चापि यमालयम्॥ इति॥

त्रिभागहीनमिति प्रतिपदादिचतुष्टयं चतुर्दशीञ्च विहाय पञ्चम्यादिपक्ष उक्तः। त्रिभागमिति पक्षतृतीयभागम् अनेन दशम्यादिरुक्तः। अर्द्धमिति—

अष्टम्यादि यथाशक्ति कुर्यादापरपक्षिकम्॥ इति॥

प्राच्यास्तु—

पञ्चम्यूर्ध्वञ्च तत्रापि दशम्यूर्ध्वं ततोऽप्यति।

इति विष्णुधर्मोत्तरवाक्यैकवाक्यत्वाय त्रिभागहीनं षष्ठ्यादिविभागमेकादश्यादीत्याहुः। यत्तु तैरर्द्धमित्यस्य तृतीयभागार्द्धं त्रयोदश्यादीत्येवं व्याख्यानङ्कृतम्, तत्पक्षमित्यस्यानन्वयदोषापत्तेरुपेक्ष्यमिति कमलाकरभट्टाः। सूत्रे कुर्वीतेति विधायकं पदम्। अथेदानीं विचार्यते—किं श्राद्धे साग्निकस्यैवाधिकार उत निरग्निकस्यापीति। अत्र कर्काचार्येण निर्णीतम्—अग्नौकरणरूपस्याङ्गस्याग्न्यधिकरणत्वात्तदुपसंहारे साग्निकस्यैव शक्तिर्नेतरस्य,—

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।

इति निषेधात् । अत्र च दारसङ्ग्रहपूर्वकङ्कर्मावसथ्याधानं, तत्पूर्विका च कर्मान्तिरप्रवृत्तिरित्यतोऽपि नानग्निमतोऽधिकारः इति ।

यत्तूक्तम्--

अग्न्यभावेऽपि विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ॥ इति ॥

तदप्यकृतावसथ्याभ्युदयिकविषयम् । 'अनग्निमतोऽपि श्राद्धेऽधिकारः' इत्येवंविधा प्रसिद्धिस्तु--'इह वृक्षे यक्षस्तिष्ठति' इतिवदनिश्रितमूलेति नानग्निमतः श्राद्धाधिकारे प्रमाणमिति । तदिदमनुपपन्नम् । 'नित्यनैमित्तिकेषु हि यथा शक्नुयात्तथा कुर्यात्' इति न्यायात्सर्वाङ्गोपसंहाराशक्तस्याप्यधिकारात् । अग्न्यभावे तु पाणौ होमविधानात् । अस्य विधानस्य चोक्तविषयविशेषव्यवस्थायाः प्रमाणशून्यत्वात्, सन्ति चाग्नौकरणरहितानि श्राद्धानि तेष्वधिकारानिवृत्तेश्च । स्त्रीशूद्रानुपनीतानामपि श्राद्धोपदेशात्साग्निकानग्निकोभयाधिकारेण विहितं श्राद्धं सिद्धमिति हेमाद्रिः ॥ १ ॥

अपरपक्षे प्रतिपत्प्रभृतिदर्शान्तं प्रत्यहङ्कर्तव्यमित्युक्त्वाऽधुना पक्षान्तरमाह-'ऊर्ध्वं वा चतुर्थ्याः' । वाशब्दो विकल्पार्थः । चतुर्थ्या ऊर्ध्वमुत्तरकालं पञ्चमीप्रभृति वा कुर्यात् । तदुक्तङ्गौतमेन-'अथ श्राद्धममावस्यायां पञ्चमीप्रभृति वाऽपरपक्षस्य' इति । मनुस्मृतौ विशेषः--

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ इति ॥ २ ॥

तिथिविषयकं पक्षान्तरमाह-'यदहः सम्पद्येत तदहर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पूर्वेद्युर्वा' । तत्र चतुर्दशीं विना सर्वासु तिथिषु पञ्चम्यादिषु वा तदहर्यस्मिन्नहनि द्रव्यब्राह्मणयोः सम्पत्तिः स्यात्तदहस्तस्मिन्नहनि यथोदितान्ब्राह्मणानामन्त्र्य श्राद्धं कुर्यात् । अथवा यद्दिने मृताहसंज्ञिका तिथिरपरपक्षे स्यात्तदहे पूर्वेद्युर्वा ब्राह्मणान्निमन्त्र्य श्राद्धं कुर्यादिति सम्बन्धः । तचाच पुराणसमुच्चये--

या तिथिर्यस्य मासस्य मृताहे तु प्रवर्तते ।
सा तिथिः प्रेतपक्षस्य पूजनीया प्रयत्नतः ॥ इति ॥

यदहरिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । "नपुंसकादन्यतरस्याम्" (पा० सू० ५-४-१०९) इति नटच्प्रत्ययः। ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियादिप्रतिषेधार्थम् । पूर्वेद्युर्वेति व्यवस्थितविकल्पः । असम्भावितमैथुनान् यत्यादींस्तदहरामन्त्रयेत् । अङ्गानां प्रधानधर्मत्वादिति न्यायेन । सम्भावितमैथुनान् पूर्वेद्युरेवेति व्यवस्था । एतच्च व्यक्तीकृतं मार्कण्डेयपुराणे--

निमन्त्रयेत्तु पूर्वेद्युः पूर्वोक्तांस्तु द्विजोत्तमान् ।
अप्राप्तौ तद्दिने वाऽपि हित्वा योषित्प्रसङ्गिनम् ॥ इति ॥

स्मृतिः—

प्रार्थयीत प्रदोषान्ते भुक्त्वा नशयितान्द्विजान् ।
सर्वार्थासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधविवर्जितैः ॥
भवितव्यम्भवद्भिश्च श्वोभूते श्राद्धकर्मणि ।
अयुग्मानपसव्येन पितृपूर्वान्निमन्त्रयेत् ॥ इति ॥

पितृपूर्वकन्निमन्त्रणं त्वन्यशाखाविषयकम् । कात्यायनमतानुवर्तिनां देवानान्निमन्त्रणम्पूर्वम्, 'दैवपूर्वंठ् श्राद्धम्' (पा० श्रा० सू० २–१ इति वक्ष्यमाणत्वात् । पितृपूर्वन्निमन्त्रणमिति श्राद्धकाशिकाकारः । मात्स्ये विशेषः—

दक्षिणञ्जानुमालभ्य त्वं मयाऽत्र निमन्त्रितः ।
एवन्निमन्त्र्य नियमान्पैतृकाञ्छ्रावयेद्बुधः ॥ इति ॥

राजन्यवैश्ययोश्च पुरोहितादिर्निमन्त्रणं कुर्यात्, 'ऋत्विग् राजन्यवैश्ययोः' इति वचनात् । प्रतिदिनमपरपक्षश्राद्धकरणे स्मृत्यन्तरोक्ततिथ्यादिदोषो नास्ति । तथा च कार्ष्णाजिनिः—

नभस्यापरपक्षे तु श्राद्धं कार्यं दिने दिने ।
नैव नन्दादिवर्जं स्यान्नैव निन्द्या चतुर्दशी ॥

दशम्यादिपक्षत्रये तु चतुर्दशी वर्जनीया । 'कृष्णपक्षे दशम्यादौ' इत्यादि मनुवचनं प्रागुक्तम् ॥ ३ ॥

स्नातकान् ॥ ४ ॥ एके यतीन् ॥ ५ ॥ गृहस्थान् साधून्वा ॥६॥ श्रोत्रियान् ॥ ७ ॥ वृद्धान् ॥ ८ ॥ अनवद्यान्स्वकर्मस्थान् ॥ ९ ॥

श्राद्धकर्म में निमन्त्रण के योग्य, शुद्ध कुलोद्भव, ब्रह्मचर्य व्रत और विद्याओं को पूर्ण कर समावर्तन संस्कार में स्नान किए हुए द्विज हैं ॥ ४ ॥ किसी ऋषि के मत से (सदाचारी वेद का ज्ञाता, वृद्ध, निज वर्णाश्रमोचित कर्मानुष्ठानी) सन्यासी और गृहस्थ भी उस कार्य में निमन्त्रण के योग्य हैं ॥ ५–९ ॥

'स्नातकान्' आमन्त्र्य श्राद्धं कुर्यादिति शेषः । 'त्रयः स्नातका भवन्ति' (पा० गृ० २–५–३३) इत्यादिना स्नातकलक्षणञ्चोक्तं कात्यायनेन । अयञ्चापत्नीकनिमन्त्रणप्रतिषेधे प्रतिप्रसवः, 'विभार्यो वृषलीपतिः' इत्यत्रिणा निषिद्धत्वात् ॥ ४ ॥

'एके यतीन्' । निमन्त्रयन्ति । तदुक्तम्—

सम्पूजयेद्यतिं श्राद्धे पितृणां पुष्टिकारकम् ।
ब्रह्मचारी यतिश्चैव पूजनीयो हि नित्यशः ॥
तत्कृतं सुकृतं यस्मात्तस्य षड्भागमाप्नुयात् ।

मार्कण्डेयोऽपि—

भिक्षार्थमागतान्वाऽपि काले संयमिनो यतीन् ।
भोजयेत्प्रणताद्यैस्तु प्रसादोद्यतमानसः ॥ इति ॥

यतिस्तु त्रिदण्डी, एकदण्डिनां श्राद्धे निरस्तत्वात् । तथाहि—

मुण्डान् जटिलकाषायान् श्राद्धे यत्नेन वर्जयेत् ।
शिखिभ्यो धातुरक्तेभ्यस्त्रिदण्डिभ्यः प्रदापयेत् ॥

यतिं कुटीचरं बहूदकञ्च, इतरयोः कलौ निषिद्धत्वात् । तथाहि—

दीर्घकालम्ब्रह्मचर्यं वानप्रस्थाश्रमं तथा ।
हंसः परमहंसश्च कलौ नैतच्चतुष्टयम् ॥ इति ॥ ५ ॥

'गृहस्थान्साधून्वा' वाशब्दो विकल्पार्थः । पाक्षिकयतिनिमन्त्रण-निषेधार्थो वाशब्द इति केचित् । तथा च जाबालिः—

अश्नन्ति ये तु मांसानि भार्याहीनाश्च ये द्विजाः ।
ये च मातुलसम्बन्धा न ताञ्छ्राद्धे निवेशयेत् ॥

साधून् क्षीणदोषान् गृहस्थान् निमन्त्रयेत् । तथा च विष्णुपुराणे—'साधवः क्षीणदोषास्तु' इति । पुराणसमुच्चये—

गृहस्थाः कुलसम्पन्नाः प्रख्याताः कुलगोत्रतः ।
स्वदारनिरताः शान्ता विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ इति ॥ ६ ॥

'श्रोत्रियान्' । निमन्त्रयेदिति शेषः । श्रोत्रियलक्षणमाह देवलः—

एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥

कल्पस्य पृथग्ग्रहणमादरार्थम् । तथा हि—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥ ७ ॥

'वृद्धान्' ज्ञानतपोवयोवृद्धान्निमन्त्रयेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

'अनवद्यान्स्वकर्मस्थान्' । पितृमातृवंशद्वयविशुद्धान् स्वयमपि लोका-

पवादरहितान् स्वकर्मस्थान् स्वजातिविहितकर्मानुष्ठानरतान्निमन्त्रयेत् ॥९॥

अभावेऽपि शिष्यान्स्वाचारान् ॥ १० ॥ द्विर्नग्नशुक्लविक्लिध-श्यावदन्तविद्धप्रजननव्याधित [1]व्यङ्गश्वित्रिकुष्ठिकुनखिवर्जम् ॥ ११ ॥ अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत् ॥ १२ ॥

यदि उक्त लक्षण के द्विज नहीं मिलते हों तो विद्वानों के अभाव में सदाचारी शिष्यों को निमन्त्रित करना चाहिए ॥ १० ॥ जिसके घर में तीन पीढ़ियों से अग्निहोत्र न हो (द्विर्नग्न) । अति श्वेत, और जिसके दाँत बाहर निकलें हों, कुष्ठी (कुष्ठ रोग), जिसका मुख बस्साता हो, दांत काले हों, गर्मी सुजाक आदि रोगों से ग्रस्त हो और खदड़े हुए नाखून हों इन लक्षण के लोगों को श्राद्ध में नहीं लावे ॥ ११ ॥ लोकापवाद रहित निमन्त्रित द्विज को छोड़कर दूसरे विद्वान् को निमंत्रित न करना चाहिए ॥ १२ ॥

एवं मुख्यकल्पं दर्शयित्वाऽनुकल्पं दर्शयति—'अभावेऽपि शिष्यान्स्वाचारान्' । पूर्वोक्तानां ब्राह्मणानामभावे शिष्यानपि स्वाचारान्निमन्त्रयेत् । शिष्या ब्रह्मचारिणः । स्वाचारानिति अग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषाभिरतान् तेषाञ्चैकान्ननिषेधेऽपि वाचनिकं श्राद्धभोजनम् । व्यासः—

अनिन्द्यामन्त्रितः श्राद्धे विप्रोऽद्याद् गुरुणोदितः ।
एकान्नमविरोधेन व्रतानां प्रथमाश्रमी ॥ इति ॥

अत्रिः—

ऋत्विक्पुत्रादयो ह्येते सकुल्या ब्राह्मणा द्विजाः ।
वैश्वदेवे नियोक्तव्या यद्येते गुणवत्तराः ॥ इति ॥ १० ॥

एवन्निमन्त्रणीयानुक्त्वाऽथ वर्ज्यानाह—'द्विर्न…र्जम्' द्विर्नग्नः दुश्चर्मा स च जन्मान्तरे गुरुतल्पगो भूतः । अथवोभयोर्गोत्रयोर्वेदस्याग्नेश्च विच्छेदः स द्विर्नग्नः । तदुक्तम्—

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येत त्रिपुरुषम् ।
द्विर्नग्नः स तु विज्ञेयः श्राद्धकर्मणि निन्दितः ॥ इति ॥

शुक्लोऽतिगौरो मण्डलकुष्ठी वा । विक्लिधो दन्तुरः । तथोक्तं मनुना—

यस्य नवाधरोष्ठाभ्यां छाद्यते दशनावलिः ।
विक्लिधः स तु विज्ञेयो ब्राह्मणः पङ्क्तिदूषणः ॥

---

१. 'व्यङ्गि' ख० ग०

'विविलघः पूतिगन्धिघोणः' इति गोभिलीयश्राद्धकल्पभाष्ये । श्यावदन्त इति स्वभावात्कृष्णदन्तः । विद्धप्रजननश्छिन्नलिङ्गचर्मा दाक्षिणात्ये प्रसिद्धः । व्याधितो व्याधियुक्तः । व्यङ्गो हीनाङ्गोऽधिकाङ्गो विरुद्धाङ्ग-संस्थितश्चेति, अतः कुब्जवक्रमुखहस्तपादादीनाञ्च प्रतिषेधः सिध्यति । 'हीनाङ्गोऽधिकाङ्गश्च हीनातिरिक्ताङ्गः' इति स्मृतेः श्वित्री श्वेतकुष्ठी । कुष्ठी कुष्ठगलिताङ्गः । कुनखी कुत्सितनखः । एतान्वर्जयित्वा निमन्त्रयेत् । नन्वेतावतैवान्येषां वर्ज्जनं भविष्यति यद् 'एते उपवेष्टव्याः' इत्युक्तम्, किमत्र द्विनग्नादीनान्निषेधः कृतोऽनधिकारार्थत्वात् ? उच्यते, सत्यं भव-त्येवार्थान्निषेधो, यदा विहिता उक्ताः स्युस्तदा तद्व्यातिरिक्तानामर्था-न्निषेधः, किन्तु विहितानां ब्राह्मणानामप्राप्तौ निषिद्धातिरिक्तान्तरालिक-ब्राह्मणप्राप्त्यर्थन्द्विर्नग्नादिवर्जनम् । अन्यथा विहितब्राह्मणालाभे तदति-रिक्तसमस्तवर्जनं तदा श्राद्धकर्मलोपः स्यात् । तस्मात्साधूक्तं द्विर्नग्नादि-वर्जमिति । शास्त्रान्तरगृहीतानप्युपवेशयेत् ॥ ११ ॥

'आनन्त्येनामन्त्रितो नापक्रामेत्' । अनिन्द्यो लोकापवादरहितः, तेन श्राद्धार्थन्निमन्त्रितो विप्रो न व्यतिक्रमं कुर्यात् । तथा चाग्निष्टोमप्रकरणे-ऽध्वरकाण्ड श्रुतिः 'सहोवाचानिन्द्या वेमावृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकमप-क्रमितुमिति । तस्मादुहानिन्द्यस्य वृतो नापक्रामेत्' इति । मनुरतिक्रमे दोषमाह—

> केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
> कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥
>
> (म० स्मृ० ३–१९०)

न केवलं ब्राह्मणस्य व्यतिक्रमे दोषो यजमानस्यापि ब्राह्मणव्यतिक्रमे दोषः स्यात् । तथा हि यमः—

> आमन्त्र्य ब्राह्मणं यस्तु यथान्यायं न पूजयेत् ।
> अतिकृच्छ्रासु घोरासु तिर्यग्योनिषु जायते ॥ इति ॥ १२ ॥

आमन्त्रितो वाऽन्यदन्नं न प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

स्नाताञ्छुचीनाचान्तान्प्राङ्मुखानुपवेश्य दैवे युग्मानयुग्मान्यथा-शक्ति पित्र्ये ॥ १४ ॥ एकैकस्योदङ्मुखान् ॥ १५ ॥

निमंत्रित द्विज भी जिसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया हो उससे दूसरे के अन्न को भोजन न करे ॥ १३ ॥ स्नान आचमन से पवित्र हुए द्विज को श्राद्ध में बैठावे । विश्वे देव सम्बन्धि दो या एक द्विज पूर्व मुख बैठावे । पिता, पितामह,

प्रपितामह के स्थान पर तीन एवं मातामह, प्रमातामह, वृद्ध प्रमातामह के स्थान पर तीन या एक एक उत्तर मुख बैठावें। उभय पक्षों में से जैसी शक्ति हो वैसा करें ॥ १४–१५ ॥

'आमन्त्रितो वाऽन्यदन्नं न प्रतिगृह्णीयात्'। निमन्त्रित विप्रोऽन्योदन्नं श्राद्धादिरूपमामान्नं सिद्धं वा न प्रतिगृह्णीयात् भोजनान्तरं वा न कुर्यात्। यथाऽऽह देवलः—

पूर्वन्निमन्त्रितोऽन्यस्य यदि कुर्यात्प्रतिग्रहम्।
भुक्ताहारोऽपि वा भुङ्क्ते सुकृतं तस्य नश्यति ॥

अन्येनामन्त्रितस्यान्यश्राद्धग्रहणे दोषमाह—मार्कण्डेयपुराणे व्यासः—

भुङ्क्ते श्राद्धन्तु योऽन्यस्य नरोऽन्येन निमन्त्रितः।
दैवे वाऽप्यथ वा पित्र्ये स तु निष्कृष्यते स्वर्गः ॥

यमोऽपि—

आमन्त्रितश्च यो विप्रो भोक्तुमन्यत्र गच्छति।
नरकाणां शतङ्गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते ॥ इति ॥ १३ ॥

अथोपवेशनमाह—'स्नाताञ्छुचीनाचान्तान्प्राङ्मुखानुपवेश्य दैवेयुग्मानयुग्मान्यथाशक्ति पित्र्ये'। उपवेशयेदिति वाक्यशेषः। कीदृशानुपवेशयेत्? स्नातान् कृताप्लवान्। पुनः कीदृशान्? शुचीन् सूतकादिरहितान्। पुनः कीदृशान्? आचान्तान् यथाशास्त्रमाचान्तान्। न यथाकथञ्चित्, एवम्भूतान्। दैवे वैश्वदेवार्थं 'युग्मान्' इति बहुवचनाच्चतुःषडादीन् प्रागग्रेषु कुशेषु प्राङ्मुखानुपवेश्य यथाशक्त्ययुग्मान् त्रिपञ्चादीन् पित्रर्थमुपवेशयेत् द्विगुणमुदगग्रेषु कुशेषु। अयुग्मत्वञ्च नवभ्योऽर्वाग्वेदितव्यम्। तथा च गौतमः 'नवावरान् भोजयेदयुजो यथोत्साहञ्च' इति। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

सामर्थ्येऽपि नवभ्योऽर्वाग्भोजयीत सति द्विजान्।
नोर्ध्वं कर्त्तव्यमित्याहुः केचिद्दोषस्य दर्शनात् ॥ इति ॥

अत्र स्नानग्रहणङ्गौणस्नाननिषेधार्थम्। अथवा स्मृतिप्राप्तमेवानुवदति। अथवा विशिष्टविधिः। तथा च वायुपुराणे—

सुरभीणि तु स्नानानि गन्धवन्ति तथैव हि।
श्राद्धेष्वेतानि यो दद्यादश्वमेधफलं लभेत् ॥ इति ॥

देवलोऽपि—

ततो निवृत्ते मध्याह्ने कृत्तलोमनखान् द्विजान्।
अभिगम्य यथापूर्वम्प्रयच्छेद्दन्तधावनम् ॥

तलमुद्वर्त्तनं स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम् ।
पात्रैरौदुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदेवस्य पूर्वकम् ॥ इति ॥

आचमने विशेषो विष्णुपुराणे—

उपस्पर्शस्तु कर्तव्यो मण्डलस्योत्तरे दिशि ।
कर्त्राऽथ वा द्विजैर्वाऽपि विधिवद्भाम्यतैः सदा ॥
मण्डलस्योत्तरे भागे कुर्यादाचमनं द्विजः ।
सोमपानफलं प्राहुर्गर्गकाश्यपगोतमाः ॥ इति ॥

तथा चापस्तम्बे—

कुर्युराचमनं विप्रा उदीच्यां मण्डलाद् बहिः ।
अन्यदिक्षु यदा कुर्यान्निराशाः पितरो गताः ॥ इति ॥ १४ ॥

अविशेषे प्राप्ते विशेषमाह—'एकैकस्योदङ्मुखान्'। एकैकस्य पित्रादित्रयस्य यथाशक्ति प्रतिपुरुषमुदङ्मुखानयुग्मानुपवेशयेत् ॥ १५ ॥

द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्ये ॥ १६ ॥ एकैकमुभयत्र वा ॥ १७ ॥

पिता, पितामह और प्रपितामह सम्बन्धी विश्वेदेव के स्थान पर एक द्विज और मातामह प्रमातामह वृद्ध प्रमातामह सम्बन्धी विश्वेदेव के स्थान पर एक द्विज, इस प्रकार दो विश्वे देव सम्बन्धी द्विज बैठावे। पिता पितामह और प्रपितामह के स्थान पर तीन एवं मातामह प्रमातामह और वृद्ध प्रमातामह सम्बन्धी तीन इस प्रकार आठ द्विजों को बैठावे ॥ १६ ॥ या पितः, पितामह, प्रपितामह के स्थान पर एक और मातामह प्रमातामह वृद्ध प्रमातामह के स्थान पर एक इस प्रकार चार द्विज का उपवेशन करे ॥ १७ ॥

पक्षान्तरमाह—'द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्ये'। द्वौ वा दैवे देवेभ्यो द्वौ वा। पित्र्ये अत्र—"वाय्वृतुपित्रुषसो यत्" (पा० सू० ४-२-३१) इत्यनेन कमार्थे यत्प्रत्ययः। "रीङ् ऋतः" (पा० सू० ७-४-२७) इति रीङादेशः। 'यस्येति च' (पा० सू० ६-४-१४८) इति ईकारलोपः। पितरो देवता अस्येति पित्र्यं तस्मिन्पित्र्ये कर्मणि त्रीन् पितुरेकं पितामहस्यैकं प्रपितामहस्य चैकम्। याज्ञवल्क्यः—

द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वा ॥ इति ॥
(या० स्मृ० १-२२८)

मनुर्विशेषमाह—

द्वौ दैवे पितृकृत्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेतविस्तरम् ॥
(म० स्मृ० ३-१२५-१२६)

ब्राह्मेऽपि—

यस्माद् ब्राह्मणबाहुल्याद्दोषो बहुतरो भवेत् ।
श्राद्धनाशो मौननाशः श्राद्धतन्त्रस्य विस्मृतिः ॥
उच्छिष्टोच्छिष्टसंसर्गो निन्दादि त्रिषु भोक्तृषु ॥ इति ॥ १६ ॥
देशकालधनाभावे पक्षान्तरमाह-'एकैकमुभयत्र वा'।
शेषान्वित्तानुसारेण भोजयेदन्यवेश्मनि ॥ इति ॥

स्मृतिः—

अयुग्मानपसव्येन पितृपूर्वं निमन्त्रयेत् ।
पित्रादेः सप्त पञ्च त्रीनेकैकस्यैकमेव वा ॥
दैवे षट् चतुरो द्वौ वाऽप्येकैकमुभयत्र वा ॥ इति ॥ १७ ॥

मातामहानामप्येवम्[1] ॥ १८ ॥ तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ १९ ॥
श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत ॥ २० ॥

और मातामह प्रमातामह, वृद्ध प्रमातामह सम्बन्धी श्राद्ध में भी वही पक्ष होंगे ॥ १८ ॥ अथवा विश्वदेव कर्म के द्वारा जो पितरों के लिए हो वे ही कर्म मातामह के लिए भी हों-यह भी पक्ष है ॥ १९ ॥ जो श्राद्ध करे वह अपने समय पर उससे श्रद्धा करे ॥ २० ॥

'मातामहानामप्येवम्'। मातामहानामप्येवं सर्वे पक्षा भवेयुरित्यर्थः। तत्र केचिदिदमुपदेशं मन्यमाना पृथक्कृत्य मातामहश्राद्धमिच्छन्ति। यदा मातामहेभ्यो ददाति तदैवमिति, तदेतदुपेक्षणीयम्।

अपरे तु—

पार्वणं कुरुते यस्तु केवलं पितृहेतुतः।
मातामहं न कुरुते पितृहा सोऽपि जायते ॥

इति स्कन्दपुराणवचनात् पितॄणामिव मातामहानामपि तस्मिन्नेव प्रयोगे दानमिच्छन्ति। तच्चातीव युक्ततरम्। तथा च —

१. 'यद्यपि ख० ग पुस्तकयोः 'मातामहानाञ्चैवम्' इत्ययं पाठ उपलभ्यते तथापि गदाधरे प्रतीकेषु तद्व्याख्याने चोपलब्धपाठानुसारी पाठो मूले स्थापितः। अर्थस्तु तथाऽप्येक एव, चशब्दस्य अप्यर्थकत्वादिति।

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा ध्रुवम ॥ इति ॥ १८ ॥

'तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्'। विश्वेदेवास्तन्त्रेण वा ये एव पितृभ्यो-मातामहेभ्योऽपि ते एव, स चायमन्यः पक्षः। तथाऽन्यदपि ब्राह्मणाभावे—

एक एव यदा विप्रो द्वितीयो नोपपद्यते।
पितॄणां ब्राह्मणो योज्यो दैवे त्वग्निन्नियोजयेत् ॥
प्रणीतापात्रमुद्धृत्य ततः श्राद्धं समारभेत् ॥ इति ॥

तथा हि—

यद्येकम्भोजयेच्छ्राद्धे दैवं तत्र कथम्भवेत्।
अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥
देवतायतने स्थाप्यं ततः श्राद्धं प्रकल्पयेत्।
प्रास्येदग्नौ तदन्नं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥ इति ॥ १९ ॥

'श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत'। नात्र श्रद्धा निमित्तत्वेनोच्यते। यच्छ्राद्धं कुर्वीत स्वकाले तच्छ्रद्धयेत्यर्थः ॥ २० ॥

शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेत् ॥ २१ ॥ मासि मासि वोशन-मिति श्रुतेः ॥ २२ ॥ तदहः शुचिरक्रोधनोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्याद्-ध्वमैथुनश्रमस्वाध्यायान्वर्जयेत् ॥ २३ ॥ आवाहनादिवाग्यत[1] ओप-स्पर्शनात् ॥ २४ ॥ आमन्त्रिताश्चैवम् ॥ २५ ॥ १ ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनश्राद्धसूत्रे
प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

यदि श्राद्ध के समय तण्डुल, मन और दूध घृत आदि उपस्थित न हो तो) शाक, फल आदि जो मिल सके उसीसे श्राद्ध करे। पर बिना किए श्राद्ध का समय न व्यतीत करे ॥ २१ ॥ हर मास के आमावस्या में उष्ण अन्न पित्रों को प्रदान करें" यह वेद की आज्ञा है। (शतपथ ब्रा० का० २ प्र० ३ ब्रा० ४) ॥२२॥ जिस दिन श्राद्ध करना हो उस दिन स्नान आचमन कर पवित्र रहे। क्रोध न करे। प्रमाद न करे। सत्य बोले। कही दूर रास्ते पर न जावे। स्त्री प्रसङ्ग

१. 'वाग्यत उपस्प' ग०

न करे। वेद न पढ़ें, न पढ़ावे ॥ २३ ॥ आवाहन से जल स्पर्श तक यजमान मौन रहे ॥ २४ ॥ और आमंत्रित द्विज लोग भी उक्त नियमों का पालन करें ॥ २५ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र में प्रथम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥
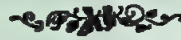
'शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेत्'। यद्यन्नं न लभेत तदा शाकेनाप्यपरपक्षे श्राद्धं कुर्यात्। तथा च ब्रह्मपुराणे—

पयोमूलफलैः शाकैः कृष्णपक्षे तु सर्वदा।
पराधीनः प्रवासी च निर्द्धनो वाऽपि मानवः॥
मनसा भावशुद्धेन श्राद्धे दद्यात्तिलोदकम्॥ इति॥

अनेनावश्यं कर्त्तव्यताऽभिहिता॥ २१॥

तत्र हेतुमाह—'मासि मासि वोशनमिति श्रुतेः'॥ २२॥

अथ धर्मानाह—'तदहः शुचिरक्रोधनोऽत्वरितोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्याद-ध्वमैथुनश्रमस्वाध्यायान्वर्जयेत्'। तदहस्तस्मिन्नहनि श्राद्धदिने एते नियमाः, शुचिर्बाह्याभ्यन्तररक्तवसनरक्तस्नावाद्यशुद्धिरहितः। अथवा शुक्लवासाः शुचिः, काषायादेः प्रतिषिद्धत्वात्। तथा च हारीतः—'शुचयः शुचिवाससः स्युः' इति। अप्रमत्त इति स्मृत्युक्तकालादिषु सावधानः। स्वाध्यायः श्राद्धमन्त्रजपादिव्यतिरिक्तवेदपाठः। मैथुनम्पूर्वदिनेऽपि। सुगममन्यत्। अन्येऽपि दातृभोक्त्रोर्नियमाः स्मृत्युक्ता ग्राह्याः। यमः—

पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्।
सन्ध्यां प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभोक्ताऽष्ट वर्जयेत्॥

मत्स्यपुराणे—

पुनर्भोजनमध्वानं पानमायासमैथुनम्।
श्राद्धकृच्छ्राद्धभुक् चैव सर्वमेतद्विवर्जयेत्॥
स्वाध्यायं कलहञ्चैव दिवास्वापं तथैव च।
पानं सुरापनम्, तच्च यस्य प्राप्तं तस्यैव निषेधः।
दन्तधावनताम्बूलं स्निग्धस्नानभोजनम्।
रत्यौषधपरान्नञ्च श्राद्धकृत्सप्त वर्जयेत्॥ इति॥

दन्तानां धावने प्रायश्चित्तञ्चोक्तं विष्णुरहस्ये—

श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम् ।
गायत्रीशतसम्पूतमम्बु प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ॥

अध्वादिगमने दोषमाह यमः—

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे अध्वानम्प्रतिपद्यते ।
भ्रमन्ति पितरस्तस्य तं मासं पांसुभोजिनः ॥

याज्ञवल्क्यः—

अध्वनीनो भवेदश्वः पुनर्भोजी तु वायसः ।
होमकृन्नेत्ररोगी स्यात्पाठादायुः प्रहीयते ॥

दानन्निष्फलतामेति प्रतिग्राही दरिद्रताम् ।
कर्मकृज्जायते दासो मैथुनी शूकरो भवेत् ॥ इति ॥

मैथुनञ्चाष्टविधम् । दक्षः—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणङ्गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥ इति ॥

शातातपः—

श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे भुञ्जते ये तु मोहिताः ।
पतन्ति पितरस्तेषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

अन्ये च नियमास्तत्र तत्र वक्ष्यन्ते । ते च श्राद्धप्राधान्ये, गौणत्वे च न्यायबाधिताः क्वापि केऽपि न भवति । यथा, तीर्थश्राद्धेऽध्वा उपवासश्च न दोषाय, गर्भाधाननिमित्ते श्राद्धे मैथुनम्, अग्निहोत्रनिमित्ते श्राद्धे होमः, स्वद्वितीयविवाहश्राद्धे प्रतिग्रहः, एवं कन्यादानाभ्युदयिके दानम्, तीर्थयात्राऽऽरम्भसमाप्त्योरप्यध्वयानमेव, तेषां परतन्त्रत्वात् । एवञ्च सर्वत्र स्वयमूहनीयम् ॥ २३ ॥

'आवाहनादि वाग्यत ओपस्पर्शनात्' । आवाहनादि आवाहनादारभ्य आ उपस्पर्शनाद्भोक्तुराचमनपर्यन्तं यजमानो वाग्यतो भवेत् । वाग्यमलोपे वैष्णवमन्त्रजपो विष्णुस्मरणं वा प्रायश्चित्तम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

यदि वाग्यमलोपः स्याज्जपादिषु कथञ्चन ।
व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥

अज्ञानाद्यदि वा मोहात्प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥

तथा च शतपथश्रुतिः—"अथ, यद्वांचंयमो व्याहरति तस्मादुहैष विसृष्टो यज्ञः पराङ्गावर्तते तत्र वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्" इत्यादि ॥ २४ ॥

'आमन्त्रिताश्चैवम्'। आमन्त्रिता ये ब्राह्मणास्तेऽपि एवमेवानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ॥ २५ ॥ १ ॥

॥ इति श्राद्धसूत्रे प्रथमकण्डिकासूत्रार्थः ॥ १ ॥

द्वितीया कण्डिका

दैवपूर्वं श्राद्धम् ॥ १ ॥ पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः पित्र्ये ॥२॥ द्विगुणास्तु दर्भाः ॥ ३ ॥ पवित्रपाणिर्दद्यादासीनः सर्वत्र ॥४॥

वैश्वदेवपूर्वक श्राद्ध करे ॥ १ ॥ (शतपथ ब्राह्मण में लिखे हुए) पिण्ड पितृयज्ञ के समान यहाँ पितृकार्य में भी कार्य होगा ॥ २ ॥ पितृ-कार्य में कुश द्विगुण होते हैं ॥ ३ ॥ विश्वदेव अथवा पित्रादि को आसन अर्घादि कुश का पवित्र धारण कर बैठे हुए अर्घ आदि प्रदान करे ॥ ४ ॥

'दैवपूर्वं श्राद्धम्'। आ उपस्पर्शनादित्यनुवर्तते। निमन्त्रणादि आचमनपर्यन्तं श्राद्धे यत्किञ्चित्क्रियते तत्सर्वं दैवपूर्वकं कर्तव्यमित्यर्थः। तथा च देवलः—

यद्यत्र क्रियते कर्म पैतृकं ब्राह्मणान्प्रति।
तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेवस्य पूर्वकम् ॥ इति १ ॥

'पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः पित्र्ये'। पितृकर्मणि पिण्डपितृयज्ञवत्करणं भवतीत्यर्थः। अनेनापसव्यदक्षिणामुखवामजानुपाताद्यतिदिष्टम्। अतश्च नीवीबन्धनादिपिण्डोत्थापनपर्यन्तं पिण्डपितृयज्ञोक्तधर्मो भवतीति। एतदपवादः—

अपसव्येन कर्तव्यं सर्वं श्राद्धं यथाविधि।
सूक्तस्तोत्रजपं मुक्त्वा विप्राणां च विसर्जनम् ॥

अपि च—

सूक्तस्तोत्रजपं मुक्त्वा पिण्डाघ्राणं च दक्षिणाम्।
आह्वानस्वागते चैव विना च परिवेषणम् ॥
विसर्जनं सौमनस्यमाशिषां प्रार्थनं तथा।
विप्रप्रदक्षिणाञ्चैव स्वस्तिवाचनकं विना ॥
पित्र्यमन्यत्प्रकर्तव्यं प्राचीनावीतिना सदा ॥

इति जमदग्निः ॥ २ ॥

'द्विगुणास्तु दर्भाः' पित्र्ये इत्यनुवर्तते। तु पुनः पित्र्ये हविरुत्सर्गादौ द्विगुणीकृता दर्भा भवन्ति। अर्थाद्दैवे ऋजव इति। अत्राह बौधायनः—

प्रदक्षिणं तु देवानां पितॄणामप्रदक्षिणम् ।
देवानामृजवो दर्भाः पितॄणां द्विगुणाः स्मृताः ॥

कात्यायनस्मृतौ विशेषः—

सपिण्डीकरणं यावदृजुदर्भैः पितृक्रिया ।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं द्विगुणैर्विधिवद्भवेत् ॥ इति ॥

दर्भलक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वे—

कीदृशा यज्ञिया दर्भाः कीदृशाः पाकयज्ञियाः ।
कीदृशाः पितृदेवत्याः कीदृशा वैश्वदेविकाः ॥
हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः ।
समूला पितृदेवत्याः कल्माषा वैश्वदेविकाः ॥
अप्रसूताः स्मृता दर्भाःप्रसूतास्तु कुशाः स्मृताः ।
अमूलाः कुतपा ज्ञेया इत्येषा नैगमी श्रुतिः ॥
प्रादेशादधिका दर्भास्त्रिपत्रादियुताश्च ये ।
कुशास्ते याज्ञिकैः प्रोक्ताः स्नानादिषु पवित्रकाः ॥
दर्भाः किमर्थं दीयन्ते श्राद्धकालेषु किं तिलाः ।
किमर्थं वेदविच्छ्राद्धे किमर्थं यतिरुच्यते ॥
रक्षन्ति राक्षसान्दर्भास्तिला रक्षन्ति चासुरान् ।
वेदविद्रक्षयेच्छ्राद्धं यतीनां दत्तमक्षयम् ॥ इति ॥

दर्भाभावे काशादि गृहीत्वा कर्म कुर्यात् । तथा च स्मृतौ—

दर्भाभावे तु काशाः स्युः काशाः कुशसमाः स्मृताः ।
काशाभावे ग्रहीतव्या अन्ये दर्भा यथोचिताः ॥
दर्भाभावे स्वर्णरूप्यताम्रैः कर्मक्रिया सदा ।
कुशकाशशरा दूर्वा यवगोधूमबल्वजाः ॥
सुवर्णं रजतं ताम्रं दश दर्भाः प्रकीर्तिताः ।
स्नाने दाने तथा होमे स्वाध्याये तर्पणेऽपि च ॥ इति ॥३॥

'पवित्रपाणिर्दद्यादासीनः सर्वत्र' । सर्वत्रग्रहणाद्दैवे पित्र्ये च यत्किञ्चिद्ददाति तत्सर्वमासीनः पवित्रपाणिः सन्दद्यात् । पवित्रपाणिः कुशपाणिः । पवित्रशब्दोऽत्र कुशवचनः,[1] 'पवित्रेस्थ' इति मन्त्रलिङ्गात् । अथवा स्मृति-

---

१. पवित्रेस्थो वैष्णव्यो सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यछिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेगुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ (य० सं० १–१२) ।

प्राप्तं पवित्रपाणित्वमासीनत्वं चात्र सार्थकत्वेनानुवदति। तेन वामहस्ते कुशादानं पितॄणामावाहनेष्वासीनत्वं निषेधतीत्यर्थः। तथा च पठन्ति—

वामहस्तधृतान्दर्भान् गृहे रङ्गवलींस्तथा।
ललाटे तिलकं दृष्ट्वा निराशाः पितरो गताः॥ इति॥

किञ्चावाहनेनागच्छत्सु पितृषु कर्तुरासीनत्वं न युक्तम्। तथा च पुराणोक्तं लिङ्गम्—

अथ प्राञ्जलिरुत्थाय स्थित्वा चावाहयेत्पितॄन् इति॥ ४॥

प्रश्नेषु पङ्क्तिमूर्द्धन्यं पृच्छति सर्वान् वा॥ ५॥

आवाहनादि कार्य के आज्ञार्थ प्रश्न में विश्वदेव और पितृ सम्बन्धी पंक्तियों में बैठे हुये द्विजों में से एक द्विज से अथवा हरएक द्विजों से आज्ञा लेवें॥ ५॥

'प्रश्नेषु पंक्तिमूर्द्धन्यं पृच्छति सर्वान्वा'। वाशब्दो विकल्पार्थः। वक्ष्यमाणेषु आवाहनादिप्रश्नेषु पङ्क्तिमूर्द्धन्यं पङ्क्तेराद्यं ब्राह्मणं पृच्छेत्, सर्वान्वा पृच्छत्। तुल्यविकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वाद् व्यवस्थितविकल्पोयमिति[1] श्राद्धकाशिकाकारः। तुल्यविकल्प एवायमिति कर्काचार्यादयः॥५॥

'आसनेषु दर्भानास्तीर्य विश्वान्देवानावाहयिष्ये इति पृच्छति'। आसनेऽत्र पीठेषु दर्भानास्तीर्याच्छादनं कृत्वा 'विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति पृच्छेत् पङ्क्तिमूर्द्धन्ये, सर्वान्वा। आसनान्याह स्मृतिः—

शमीकाश्मर्यशल्लाश्च कदम्बो वारणस्तथा।
पञ्चासनानि शस्तानि श्राद्धे वा देवताऽर्चने॥

तथा च—

श्रीपर्णी वरुणक्षीरी जम्बूकाम्रकदम्बजम्।
सप्तमं बाकुलं पीठं पितॄणां दत्तमक्षयम्॥ इति।

आसनेषु दर्भानास्तीर्य विश्वान् देवानावाहयिष्य इति पृच्छति॥६॥

सव्य यज्ञोपवीत को धारण किए हुए पूर्व मुख विश्वदेव सम्बन्धी द्विजों के आसन पर उत्तराग्र कुश बिछाकर "विश्वेदेवान् आवाहयिष्ये" इस प्रकार आज्ञा लेवें॥ ६॥

आसनेषु दर्भानास्तीर्य' इति वदता हस्ते विष्टरवद्दानं निराकृतम्।

---

१. 'पृच्छातृप्त्याशीःप्रार्थनादिषु सर्वे; अन्यत्र पङ्क्तिमूर्धन्य इत्यर्थः' इति श्राद्धकाशिकायाम्।

कर्काचार्यास्त्वेवमाहुः—एतदास्तरणं सामर्थ्यात्पूर्वमुपवेशनाद् द्रष्टव्यम्, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलिष्ठत्वात् ॥ ६ ॥

आवाहयेत्यनुज्ञातो विश्वे देवास आगतेत्यनयाऽऽवाह्यावकीर्य विश्वेदेवाः शृणुतेममिति जपित्वा पितॄनावाहयिष्य इति पृच्छति ॥७॥

जब द्विज लोग 'आवाह्य' इस प्रकार आवाहन की आज्ञा देवें तो हाथ में तिल लेकर 'विश्वेदेवासऽआगत शृणुतामऽइमॐ हवम् एदम्बर्हि निषीदत्' इस मन्त्र के अन्त में तिल विखेर देवे तत्पश्चात् विश्वेदेवाः शृणुतोम ॐ हवम्मे ये अन्तरिक्षे लपद्यविष्ठ। ये ऽग्निर्जिह्वाऽउत वा यजत्राऽआसद्यास्मिन्बर्हिषी मादयध्वम्" इस मन्त्र का जप करे।

(अपसव्य होकर हाथ में तिल लिये हुए) "पितॄनावाहयिष्ये" इव प्रकार पितृ सम्बन्धी द्विजों से आवाहन की आज्ञा लेवे और उक्त द्विज लोगों से "आयाह्य" इस प्रकार आज्ञा लेकर यजमान "उशन्तस्त्वा निधिमह्यु शन्तः समिधीमहि उशन्नुशतऽआवह पितॄन्हविषे अत्तवे" इस मन्त्र को पढ़कर पितृ सम्बन्धी द्विजों के सामने तिल विखेर देवें। आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पिथिभिर्देवयानैः अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्" इस मन्त्र का जप करे ॥ ७ ॥

'आवाह···पृच्छति'। ततो ब्राह्मणैः 'आवाहय' इत्यनुज्ञातो विश्वे[1] 'देवास आगत' इत्यनया ऋचा आवाह्य वैश्वदेवब्राह्मणपुरतो यवान्प्रादक्षिण्येनावकीर्य[2] "विश्वेदेवाः शृणुतेमम्" इतीमं मन्त्रं पठित्वा 'पितॄनावाहयिष्ये' इति पृच्छति। अत्र तिलैरवकिरणमिति कर्काचार्या आहुः। अन्ये तु 'यवैरन्ववकीर्य' इति याज्ञवल्क्यवचनाद्यवैः कुर्वन्ति। द्विजाऽनेकत्वेऽपि न प्रतिद्विजमावाहनावृत्तिः, सकृदावाहनेनैवानेकब्राह्मणाधिष्ठाने देवताध्यासनसम्भवात् ॥ ७ ॥

'आवाह···देवीरिति'। 'आवाहय' इति ब्राह्मणैराज्ञापितः[3] 'उशन्त-

---

१. विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमॅं हवम्।
एदं बर्हिर्निषीदत। उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः।
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ (य.सं. ७–३४) ॥

२. विश्वेदेवाः शृणुतेमॅं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ (य. सं, ३३-५३)॥

३. उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ (य. सं. १९–७०) ॥

स्त्वा' इति मन्त्रेण पितृनावाह्य पितृब्राह्मणानामग्रतस्तिलानप्रादक्षिण्येनावकीर्य[1] 'आयन्तु नः पितरः' इति पठेत्। यज्ञमर्हन्तीति यज्ञियाः पालाशादयः, 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ, (पा० सू० ५-१-७१) इति घप्रत्ययः। 'ते वै पालाशाः स्युः' इत्युपक्रम्य 'एते हि वृक्षा यज्ञियाः' इति हविर्यज्ञकाण्डे श्रुतिः। एषामन्यतमेषु चमसेषु अनन्तर्गर्भसाग्रप्रादेशमात्रकुशद्वयसहितेषु[2] "शन्नो देवीरभिष्टये" इत्यनेन एकैकस्मिन्नपो निषिञ्चेत्। चमसानां लक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वे—

चमसानां तु वक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः।
त्र्यङ्गुलन्तु भवेत्खातं विस्तारश्चतुरङ्गुलाः॥
वैकङ्कतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्बिलाश्चमसाः स्मृताः॥

अन्योन्यावपि कार्याः स्युः इति। तत्रैवोक्तम्—'प्रादेशायामाः' इति च। पवित्रलक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—

अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित्॥ इति।

अत्र देवपात्रे द्वे पवित्रे, पितृपात्रे त्रीणि त्रीणि भवन्ति। तदुक्तं चतुर्विंशतिमते—

द्वे द्वे शलाके देवानां तिस्रस्तिस्रस्तु पार्वणे।
एकोद्दिष्टे शलाकैका श्राद्धेष्वर्घेषु निक्षिपेत्॥ इति।

आवाहयेत्यनुज्ञात उशन्तस्त्वेत्यनयाऽऽवाह्यावकीर्यायन्तु न इति जपित्वा यज्ञियवृक्षचमसेषु पवित्रान्तर्हितेष्वेकैकस्मिन्नप आसिञ्चति शन्नो देवीरिति॥ ८॥

यज्ञीय वृक्ष के काष्ठ के बने हुये पात्र में कुश पवित्र रख के उन एक-एक में "शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तुपितये।" शंयोरभी श्रवन्तु नः" इस मन्त्र से जल भरे॥ ८॥

अत्र याज्ञवल्क्यवचनेनावाहनार्घपूरणदानानां यद्यपि काण्डानुसमयः प्रतीयते, तथापि पदार्थानुसमयो बोद्धव्यः, "तुल्यसमवाये सामान्यपूर्व-

---

१. आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ (य. सं. १९-५८)॥

२. शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभिस्रवन्तु नः॥ (य. सं. ३६-१२)॥

मानुपूर्व्ययोगात्" (का० सू० १–५–१०) इति परिभाषितत्वात्। अस्यार्थः–तुल्यानां प्रधानानां समवाये एकप्रयोगानुष्ठाने यत्साधारण-मङ्गजातं तत्सर्वेषां पूर्वं भवति, तथा सत्यानुपूर्व्येण पदार्थाः कृता भवन्ति। यथा–श्राद्धे पित्रादिषड्यागा एकत्र प्रयोगे क्रियन्ते तत्र निमन्त्रणादयः सर्वेषां क्रमेण पदार्था अनुष्ठिता भवन्ति। अन्यथा एकैकस्य पित्रादेः सर्व-यागस्य परिसमाप्तौ द्वितीयोपक्रमे क्रमभङ्गः स्यात्। प्रथमस्य विसर्जने द्वितीयस्यामन्त्रणमापद्येत तथा सत्यानुपूर्वीभङ्गः प्रसज्येत। तच्च निषिद्धम्। तस्मादेकैकं पदार्थजातं सर्वेषामपि निर्वाह्य द्वितीयादिनिर्वाहः कार्यः। एवमपि बहुभिः पदार्थैर्व्यवधानं भवति, तच्च न दोषाय। न हि सजातीयैर्व्यवधानमिष्यते। तस्मात्सर्वेषां निमन्त्रणपाद्यादि। एवमावाहनेऽपि आवाहनावकिरणजपसमुदायरूपम्, जपेऽपि 'आयन्तु नः' इति मन्त्र-लिङ्गात्। अत एव हि एकोद्दिष्टतीर्थश्राद्धनित्यश्राद्धसाङ्कल्पिकश्राद्धेषु आवाहननिवृत्तौ त्रयमपि निवर्तते। कात्यायनस्य पदार्थानुसमय एवाभिमतः। देवावाहनानन्तरं पित्रावाहनोक्तेः 'एकैकस्मिन्नप आसिञ्चति' इति सर्वपात्रेषु तिलप्रक्षेपावगमात्, तदनन्तरम् एकैकस्मिन्नेव तिलानावपति इति विधानात्। अत एकैकत्रार्घपात्रे जलादिपुष्पान्तं प्रक्षिप्यार्घदानान्तं वा निर्वर्त्य पात्रान्तरपूरणमिति मतं न युक्तम्। किञ्च पदार्थानां क्रमानुरोधा-दपि पदार्थानुसमय एवार्हति। अतो निमन्त्रणादावपि पदार्थानुसमय एव ॥ ८ ॥

एकैकस्मिन्नेव तिलानावपति तिलोऽसि सोमदैवत्यो गोसवो देवनिर्मितः। प्रत्नमद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄँल्लोकान् प्रीणाहि नः स्वाहेति ॥ ९ ॥

पिता पितामह प्रपितामह एवं मातामह प्रमातामह वृद्ध प्रमातामह के लिए पृथक् पृथक् अर्घपात्र में जल भरकर हर एक में 'तिलोसि' इस मन्त्र से तिल छोड़ें ॥ ९ ॥

'एकैक…स्वाहेति'[1]। 'तिलोसि' इत्यनेन एकैकस्मिन्पात्रे तिलानावपति

---

१. मन्त्रार्थः—तिलस्त्वमसि। किम्भूतः ? सोमदैवत्यः सोमो देवता अस्येति सोमदैवत्यः। पुनः किम्भूतः ? गोसवः गां स्वर्गं सूते इति गोसवः, तिलो हि दत्तः सन् दातुः पापक्षयं कुर्वाणः स्वर्गं जनयति। पुनः किम्भूतः ? देवनिर्मितः देवेन विष्णुना निर्मितः उत्पादितः। पुनः किम्भूतः ? अद्भिः पृक्तः जलेन मिश्रितः। यतस्त्वमेवंभूतः तस्मादस्माकं पितॄन्लोकान् पितृपितामहप्रभृतीन् प्रत्नं चिरकालं

प्रक्षिपति। आदौ देवपात्रे प्रक्षिप्य ततः पितृपात्रेषु प्रक्षेपः। ननु एकैकस्मिन्नित्यनुवर्तमाने पुनरेकैकस्मिन्निति ग्रहणं किमर्थम्? उच्यते, तिजोऽसीति मन्त्रे 'पितॄन्प्रीणाहि' इति बहुवचनान्तेन पितृशब्देनेकद्रव्यत्वादनूहितः सकृन्मन्त्रः प्राप्नोति, तन्माभूदित्येकैकस्मिन्निति पुनर्ग्रहणम्॥ ९॥

सौवर्णराजतौदुम्बरखड्गमणिमयानां पात्राणामन्यतमेषु यानि वा विद्यन्ते॥ १०॥ पत्रपुटेषु वा॥ ११॥

यदि यज्ञीय वृक्ष का चमस न हो तो सोना, चाँदी, ताम्बा, पत्थर इन पूर्वोक्त पदार्थों में से जो प्राप्त हो उनमें से किसी एक के बने हुए पात्र में अर्घ प्रदान करे॥ १०॥ अथवा पूर्वोक्त धातु के पात्र न मिलने पर पलास के पत्ते के दोने से अर्घ प्रदान करें॥ ११॥

'सौवर्ण···विद्यन्ते'। उदुम्बरं ताम्रमुच्यते, उदुम्बरवृक्षस्य तु 'यज्ञियवृक्षचमसेषु' (पा. सू. श्रा. क. २-८) इत्यनेनैवोक्तत्वात्। मणिमयानि शङ्खशुक्तिस्फटिकादिपात्राणि। एषां मध्ये एकस्य पात्राणि क्रियन्ते। यानि वा विद्यन्ते इति निषिद्धेतराणि मृन्मयादीन्युच्यन्ते।

तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—

आसुरेण तु पात्रेण यस्तु दद्यात्तिलोदकम्।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च॥

कुलालचक्रनिष्पन्नमासुरं मृन्मयं स्मृतम्।
तदेव हस्तघटितं स्थाल्यादि दैविकं भवेत्॥ इति।

राजतं तु पित्र्य एव, तदुक्तं वायुपुराणे—

तथाऽर्घपिण्डभोज्येषु पितॄणां राजतं मतम्।
अमङ्गल्यं तु यत्नेन देवकार्येषु वर्जयेत्॥ इति॥ १०॥

'पत्रपुटेषु वा'। वाशब्दो विकल्पार्थः। पूर्वसूत्रोक्तविहितप्रतिषिद्ध-

---

स्वधया स्वधाकारेण प्रीणाहि प्रीतान् कुरु, स्वाहाकारस्तिलप्रक्षेपे। 'तिलोऽसि' इत्यादि—'स्वधया' इत्यन्तेन तिलं स्तुत्वा त्वमस्माकं पितॄन् प्रीतान् कुर्विति यास्वा वाक्यार्थः। अत्र प्रीणाहीति प्रीधातोर्लोट् सिप् "वा छन्दसि" इति विकल्पेन पित्त्वे सति नित्त्वाभावात् तन्निबन्धन ईकारो न भवति। यद्यपि—'स्वाहा देवहविर्दाने' इत्यत्र पित्र्यकर्मणि स्वाहाकारोऽयुक्तः, तथापि कात्यायनेन महर्षिणा स्वाहान्तस्यैव पाठादनुपपत्तिर्नाशङ्कनीया।

निषेधार्थं इति श्राद्धकाशिकाकारः। पूर्वोक्तानामलाभे पालाशादियज्ञिय-वृक्षपत्रपुटेषु वाऽर्घं पूरयेत्। तथाचोक्तं ब्रह्मपुराणे—

अथ पत्रपुटे दत्त्वा मुनीनां वल्लभो भवेत्॥ इति॥ ११॥

एकैकस्यैकैकेन ददाति सपवित्रेषु हस्तेषु या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या आन्तरिक्षा उत पार्थिवीर्याः। हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः शꣳ स्योनाः सुहवा भवन्त्वित्यसावेष तेऽर्घ इति॥१२॥

पवित्र धारण किये हुए हर एक द्विजों के हाथ पर 'या दिव्या०' इस मन्त्र से अर्घ प्रदान करे। "अमुक गोत्र अमुकवर्मन्नस्मत्पितर एष तेऽर्घः स्वधा नमः" इस प्रकार हर एक पिता पितामह के नाम से अर्घ प्रदान करे॥ १२॥

तानि च पात्राणि पितृभ्यो मातामहेभ्यश्च त्रीणि क्रियन्ते। यत 'आह–एकैक…तेऽर्घं इति'। अत्र–"सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" (पा. सू. ७१–३९) इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी विभक्तिः। एकैकस्य पित्रादेः सम्बन्धिब्राह्मणहस्तेषु सपवित्रेषु 'या दिव्याः' इति मन्त्रेण अमुकशर्मन् एष ते अर्घं इति अर्घं दद्यात्। असावित्यत्र यथादेवतं नामग्रहणं कार्यम्, "असावित्यपनोदे" (का. सू. १–१०–१७) इति परिभाषायामुक्तत्वात्। तस्यायमर्थः-- यत्र मन्त्रमध्ये असावित्येवं सर्वनामपदं पठितं भवति तत्र तत्सर्वनामपदमपनोदे अपनये वर्तते, तस्यापनोदमपनयं निष्कासनं कृत्वा तस्य स्थाने यद्विवक्षितं तस्य नाम्नः प्रक्षेपः कार्यः। 'सपवित्रेषु' इत्यनेन तन्त्रेण सर्वब्राह्मणहस्तेषु सूचितम्। न प्रतिहस्तं मन्त्रावृत्तिः। 'एकैकस्य' इत्यनेन प्रतिपुरुषं हस्तार्घदानमिति सूचितम्। अत्राह कात्यायनः—

अर्घेऽक्षय्योदके चैव पिण्डदानावनेजने।
तन्त्रस्य तु निवृत्तिः स्यात्स्वधावाचन एव च॥ इति।

अत्रायं प्रकारः–पितुर्यावन्तो ब्राह्मणास्तेषां सपवित्रेषु ज्येष्ठोत्तरहस्तेषु पितुरेकस्यैकोऽर्घो दातव्यः। एवं पितामहप्रपितामहयोः। मातामहानामप्येवं ज्ञेयम्। पवित्राणि यान्यस्तंर्द्धायोदकमासिक्तं तान्येव भवन्ति, प्रकृतत्वात्। अत्रैके पवित्रान्तरमुत्पादयन्ति, एषामेकत्र विनियुक्तानां विनियोगान्तराभावात्। तदयुक्ततरम्। यथा मन्त्राणां क्रियया पुनः पुनर्विनियोगः, एवं कुशानामपि। तथाहि—

दर्भाः कृष्णाजिनं मन्त्रा ब्राह्मणाश्च विशेषतः।
न ते निर्माल्यतां यान्ति योज्यमानाः पुनः पुनः॥ इति।

तस्मात्तान्येव भवन्ति। अत्र केचित् "एकद्रव्ये कर्मावृत्तौ सकृन्मन्त्रवचनं कृतत्वात्" (का. सू. १–७–८) इति न्यायेन सकृन्मन्त्रवचनमिच्छन्ति। कर्कमते तु प्रतिप्रक्षेपं मन्त्रो ग्रहणवत्। तथाऽस्माकमपि। अत्र केचिद्दैवं परयित्वा तदनन्तरं चार्घं दत्वा ततः पित्र्यस्य पात्रजातस्य पूरणादि कुर्वन्ति। तदसत्, नहि काण्डानुसमयस्यात्र प्रमाणमस्ति। पदार्थानुसमयोऽयम्, तस्मात् समानं पूरणम्। ततो दानम्। स्मृत्यन्तरसम्भवेऽपि प्रवाहो यद्यस्ति ततो विकल्पोऽयमिति। अत्रैके "पूरयेत् पात्रयुग्मं तु" इति मत्स्यपुराणोक्तेः—

एकैकस्य तु विप्रस्य अर्घं पात्रे विनिक्षिपेत्।

इति प्राचेतसोक्तेश्च वैश्वदेविकं ब्राह्मणसंख्यया पात्राणि कुर्वन्ति। कर्कमते त्वेकमेव पात्रं दैवे। केचिद् द्विजहस्तधृतं पवित्रं पुनरर्घपात्रे गृह्णन्ति। तदतीव मन्दम्, दत्तस्योपादाने प्रमाणाभावात्। "या दिव्याः" इत्यस्यार्थः–आपः पानीयानि पयसा सम्बभूवुः सङ्गमना बभूवुः। माधुर्यशीतत्वादिना एकीभूताः। कस्ता आपः? या दिव्याः दिवि स्वर्गे भूताः उत अपि या आन्तरिक्षाः आकाशे भूताः। उत अपि पार्थिवीर्याः पृथिव्यां भूताः। उतशब्द उभाभ्यां सम्बध्यते। किंभूताः? हिरण्यवर्णाः हिरण्यं रजतं तत्समानवर्णाः शुक्लवर्णा इत्यर्थः। पुनः किंभूताः? यज्ञिया यज्ञार्हाः। ता आपः नः अस्माकं शिवाः क्षेमा भवन्तु। न केवलं क्षेमाः, अपि शं कल्याण्यो भवन्तु। स्योनाः सुखदा भवन्तु। सुहवाः सुष्ठु ब्राह्मणहस्ते कृता भवन्त्वित्यनेनैव सम्बन्धः। स्योना इति सुखस्य नाम इति यास्कः। 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्पक्षेऽपि पित्र्यपात्रत्रयं कार्यम् ॥ १२ ॥

प्रथमे पात्रे सꣳस्रवान्समवनीय पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं निदधाति ॥ १३ ॥

पूर्वोक्त विधि से अर्घ प्रदान कर पितामह और प्रपितामह के अर्घ पात्रों के शेष जल को पिता के अर्घ पात्र में गिरा कर "पितृभ्यः स्थानमसि" इस वाक्य से अर्घ पात्रों को अधोमुख रख देवे ॥ १३ ॥

'प्रथमे…धाति'। संस्रवशब्देनार्घपात्रलग्ना अवयवा अभिधीयन्ते, "सꣳस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति' इति श्रुतिवाक्यात्। प्रथमे पात्रे पितुः प्रथमे अर्घपात्रे संस्रवान् समवनीय निक्षिप्य "पितृभ्यः स्थानमसि" इत्यनेन मन्त्रेण तत्प्रथमं पात्रं न्युब्जमधोमुखन्निदध्यात्।

अत्राह यमः—

पैतृकं प्रथमं पात्रं तस्मिन्पैतामहं न्यसेत्।

प्रपितामहं ततो न्यस्य नोद्धरेन्न विचालयेत् ॥

पैतामहं संस्रवमित्यर्थः पुराणे विशेषाः—

आसिच्य प्रथमे पात्रे सर्वपात्रस्थसंस्रवान् ।
ताभिरद्भिर्मुखं सिञ्चेद्यदि पुत्रमभीप्सति ॥

चतुर्विंशतिमते—

संस्रवान्प्रथमे पात्रे निर्णीयाद्भिर्मुखं स्पृशेत् ।

अद्भिर्मुखस्पर्शनस्य पुरुषार्थत्वाद्विकल्पावप्रवृत्तिः । तच्च न्युब्जीकरणं पित्र्यब्राह्मणस्य वामपार्श्वे । तथा मत्स्यपुराणे—

या दिव्येत्यर्घमुत्सृज्य दद्याद् गन्धादिकं ततः ।
वस्त्रोत्तरं चानुपूर्वं दत्त्वा संस्रवमादितः ॥
पितृपात्रे प्रदायाथ न्युब्जमुत्तरतो न्यसेत् ॥ इति ।

उत्तरशब्दो वामवचनः । स चाचाराद् भोक्तुरेव । ब्राह्मणहस्तगलितार्घोदकानि पितृपात्रे प्रसिच्य दक्षिणाग्रेषु कुशेषु पितृभ्यः स्थानमसीति सपवित्रं न्युब्जं कृत्वा तस्योपर्यर्घ्यपात्रपवित्राणि क्षिप्त्वा तिलपुष्पादि क्षिप्त्वा तत्पात्रमासमाप्तेर्न चालयेत् । मातामहेषु चैवमिति स्मृत्यर्थसारे ॥

अत्र गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम् ॥ १४ ॥ २ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनश्राद्धसूत्रे द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

यहाँ पर चन्दन, पुष्प, धूप, दीप और वस्त्र से विश्वदेव और पितरों की पूजा करे ॥ १४ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र परिशिष्ट के कात्यायन श्राद्धकल्प सूत्र में द्वितीय कण्डिका की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥२॥
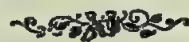
'अत्र गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम्' । अत्रास्मिन्नवसरे विप्रेभ्यो गन्धादिकं दद्यात् । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः । "चन्दनकुङ्कुमकर्पूरागुरुपद्मकाष्ठान्यनुलेपनार्थे" इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पे पद्मोत्पलमल्लिकायूथिकाशतपत्रचम्पकानि गन्धरूपसम्पन्नान्यपि श्वेतानि ।

धूपे घृतमधुसंयुक्तं गुग्गुलं श्रीखण्डागुरुरसादि दद्यात्। प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थे न दद्यात्। दीपे शङ्खः—

घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः।
वसामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

वस्त्रे—शुक्लं शुद्धमहतं सदशं वस्त्रं दद्यात्। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन सत्यां सम्पत्तौ सूत्रोक्तेभ्योऽन्यदपि दातव्यम्। तथा वायुपुराणे—

लोके श्रेष्ठतमं सर्वमात्मनश्चापि यत्प्रियम्।
सर्वं पितॄणां दातव्यं तदेवाक्षयमिच्छता॥ इति॥
यज्ञोपवीतं यो दद्याच्छ्राद्धकाले तु धर्मवित्।
पावनं सर्वविप्राणां ब्रह्मदानस्य तत्फलम्॥

दानं च पितृसम्प्रदानकम्। प्रतिपत्तिस्तु ब्राह्मणेषु। अत्र यद्यपि गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानां मिलितानां प्रदानं प्रतीयते, तथापि स्मृत्यन्तरदर्शनाद् गन्धादीनामेकैकं देवादिमातामहाद्यन्तमुत्सृज्य दद्यात्। तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—

गन्धोदकं च दातव्यं सन्निकर्षक्रमेण तु।
गन्धान्ब्राह्मणसात्कृत्वा पुष्पाण्यृतुभवानि च॥
धूपं चैवानुपूर्व्येण अग्नौ कुर्यादतः परम्॥ इति।

वस्त्राभावे मूल्यं वा अलाभे उत्तरीयं यज्ञोपवीतं वा दद्यादिति स्मृत्यर्थसारे। अस्मिन्नवसरे ब्राह्मणाग्रे भोजनानि निधाय मण्डलानि कुर्यात्। अत्राह शङ्खः—

चतुःकोणं द्विजाग्र्यस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य तु।
मण्डलाकृति वैश्यस्य शूद्रस्याभ्युक्षणं स्मृतम्॥ इति।

ब्रह्मपुराणे—

मण्डलानि च कार्याणि नैवारैश्चूर्णकैः शुभैः।
गौरमृत्तिकया वाऽपि प्रणीतेन च भस्मना॥

प्रणीत आवसथ्याग्निस्तदीयेन भस्मना। तत्र मन्त्रः—

यथा चक्रायुधो विष्णुस्त्रैलोक्यं परिरक्षति।
एवं मण्डलभस्मैतत्सर्वभूतानि रक्षतु॥ १४॥

इति द्वितीया कण्डिका॥ २॥

तृतीया कण्डिका

उद्धृत्य घृताक्तमन्नं पृच्छत्यग्नौ करिष्य इति ॥ १ ॥

कर्त्ता हवि में घृत छोड़कर उसी हवि को मेक्षण में लेकर "अग्नौ करिष्ये" इस प्रकार द्विजों से होम करने की आज्ञा लेवे ॥ १ ॥

'उद्धृ···रिष्य इति'। वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य घृताक्तमन्नं घृतप्लुतं पात्रान्तरे कृत्वा ततः पृच्छति 'अग्नौ करिष्ये' इत्यनेन मन्त्रेण। प्रश्नस्वरूपनिर्देशार्थं इतिकारः। अतश्च पर्यायान्तरेण प्रश्नाभावः। घृताक्तमिति निष्ठा भूतेऽर्थे। ततश्चाधिश्रितस्यैवाभिघारणम्। श्रुतिः "ताꣳ श्रपयति तस्मिन्नधिश्रित आज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवम्पितॄणाम्' इति। पिण्डपितृयज्ञे हेतूपन्यासात् पित्र्यत्वस्यात्रापि तुल्यत्वात्। घृताक्तग्रहणं सूपशाकादिनिवृत्त्यर्थम्। तथा च विष्णुपुराणे—'जुहुयाद्व्यञ्जनक्षारवर्जम्' इति ॥ १ ॥

कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धुत्वा हुतशेषं दत्त्वा पात्रमालभ्य जपति—पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि स्वाहेति ॥ २ ॥

जब 'कुरुष्व' इस प्रकार द्विजों की आज्ञा होवे तो 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। इदमग्नये कव्यवाहनाय न मम सोमाय पितृमते स्वाहा। इदꣳ सोमाय पितृमते न मम" इन दोनों मंत्रों से पिण्डपितृ यज्ञ के समान आहुति प्रदान करे। (मेक्षण को अग्नि में छोड़ देवे)।

आहुति प्रदान कर होम शेष अन्न को द्विजों को भोजनार्थ देकर भोजन के पात्र को स्पर्श किये हुए "पृथिवी ते पात्रम्" इस मन्त्र का जप करे ॥ २ ॥

'कुरुष्वे···स्वाहेति'। ततः पङ्क्तिमूर्द्धन्येन सर्वैर्वा कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धुत्वा हुतशेषं ब्राह्मणभाजनेषु दत्त्वा पात्रमालभ्य समन्तात् स्पृष्ट्वा 'पृथिवी ते' इति मन्त्रं जपेत्। पात्रमालभ्य जपः, न तु मन्त्रान्ते आलभेत। पात्रस्योद्देश्यमानत्वात्प्रतिपात्रमालम्भनम्। "पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः" (का० श्रा० सू० २–१) इत्यनेन पिण्डपितृयज्ञातिदेशश्चोक्तः, पुनः पिण्डपितृयज्ञग्रहणं परिस्तरणादिपदार्थनिवृत्त्यर्थं द्रष्टव्यम्। होममात्रस्यात्रातिदेशः। स चायमग्नौकरणहोमः साग्निनाऽऽवसथ्येऽग्नौ कर्तव्यः। तथा च याज्ञवल्क्यः—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।
दायकालाहृये वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥ इति ।

स्मार्तमत्र श्राद्ध, तदङ्गभूतः अग्नौकरणहोम आवसथ्येऽग्नौ भवति । न च प्रकृतिविकृतिभावेनास्य श्रौतत्वम्, कार्यातिदेशात् । स्वरूपातिदेशे तु अवहननफलीकरणपूर्वकचर्वादिप्रवृत्तिरपि स्यात् । कार्यातिदेशे तु पुनरितिकर्तव्यतामात्रमेव प्राप्नुयात् । अतः स्मार्तत्वादावसथ्याग्नावेव होमः ।

आहिताग्निस्तु जुहुयाद्दक्षिणाग्नौ समाहितः ।

इति यन्मार्कण्डेयेनोक्तं तत्सर्वाधानपक्षे ज्ञातव्यम् ।

आहृत्य दक्षिणाग्निं तु होमार्थं वै प्रयत्नतः ।
अग्न्यर्थं लौकिकं वाऽपि जुहुयात्कर्मसिद्धये ॥

इति वायुपुराणीयमपि औपवसथ्याहरणपक्षे वेदितव्यम् । अग्न्यभावे मनुराह—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ इति ।

कात्यायनः—

पित्र्ये यः पङ्क्तिमूर्द्धन्यस्तस्य पाणावनग्निकः ।
कृत्वा मन्त्रवदन्येषां तूष्णीं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ इति ।

द्विजाभावे मत्स्यपुराणे—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ वाऽथ जलेऽपि वा ।
अजकर्णेऽश्वकर्णे वा गोष्ठे वाऽथ शिवान्तिके ॥ इति ॥

पाणिहोमपक्षे अनुज्ञावचने न स्तः, प्रतिकृतित्वात् । हुतशेषदाने विप्रतिपत्तिः । हुतशेषानुल्लेखात्साधारण्याद्दैवे पित्र्ये च देयमिति कर्काचार्यमतम् । कल्पतरुहेमाद्रिमिताक्षराकाराणां मते पित्र्य एव । एतदुभयं समूलम् । [1]शाटचायनिः—'हुतशेषं पूर्वं दैवे दत्त्वा पश्चात्पित्र्ये दद्यात्' इति । यमः—

अग्नौकरणशेषं तु पित्र्ये तु प्रतिपादयेत् ।
प्रतिपाद्य पितॄणां तु न दद्याद्वैश्वदेविके ॥ इति ।

धर्मप्रदीपके—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य हस्ते हुत्वा तु दक्षिणे ।
शेषयेत्पितृविप्रार्थं पिण्डार्थं शेषयेत्ततः ॥ इति ।

---

१. 'शाटचायनिः' ख०

'पात्रमालभ्य जपति' इत्यत्र पात्रस्थान्नालम्भ इति केचित्। तदतीव मन्दम्। यथा–"गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधायालभते" (का. सू. २-३-१) इत्यत्र कर्काचार्यैः पात्रालम्भ उक्तस्तथाऽत्रापि पात्रालम्भ एव। ब्रह्मपुराणे विशेषः—

दक्षिणं तु करं कृत्वा वामोपरि निधापयेत्।
दैवं पात्रमथालभ्य पृथिवी ते पात्रमुच्चरन्॥

दक्षिणोपरि वामं च कृत्वा पित्र्यपात्रस्थालम्भनमिति। पृथिवी ते पात्रमित्यस्यार्थः–हे अग्नौकरणशेष! ते तव पात्रम् आधारः पृथिवी विश्वाधारभूता, अपिधानं द्यौः आकाशं त्वाममृतं हुतशेषे ब्राह्मणस्य मुखे जुहोमि। किंलक्षणे? अमृते अभक्ष्यभक्षणादिभिरदूषित इत्यर्थः। ब्राह्मणस्य इत्यर्थः। ब्राह्मणस्य मुखे अग्निसदृशे त्वाममृतञ्जुहोमीति वाक्यार्थः। ब्राह्मणस्याग्निसदृशत्वमाहापस्तम्बः—'पितरोऽत्र देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थः' इति॥ २॥

वैष्णव्यर्चा यजुषा वाऽङ्गुष्ठमन्ने ऽवगाह्यापहता इति तिलान् प्रकीर्य[1]॥ ३॥ उष्णꣳ स्विष्टमन्नं दद्यात्॥ ४॥ शक्त्या वा॥ ५॥

द्विजों के भोजन पात्र में अङ्गुष्ठ लगा कर "इदं विष्णु०" इस विष्णु देवताक-ऋचा को और यजुर्वेद के 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' मन्त्रों को पढ़ें 'अपहता' इस मन्त्र से भोजन पात्र में तिल छोड़े॥ ३॥ अच्छे अच्छे गरम गरम भोजन के पदार्थों को श्राद्धकर्ता देवे॥ ४॥ अथवा जो देने की शक्ति हो उसे बार बार देवे॥ ५॥

'वैष्णव्यर्चा···न्प्रकीर्य'। वाशब्दो विकल्पार्थः। नियताक्षरपादावसाना ऋक्। अनियताक्षरपादावसानं यजुरुच्यते। अत्र ऋग्[2] "इदं विष्णुः" 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' इति यजुः।

इदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्॥

इति वचनात् तयोरन्यतरेण ब्राह्मणभाजनस्थिते अन्ने द्विजाङ्गुष्ठमधोमुखं निवेश्य 'अपहताः' इति मन्त्रेण ब्राह्मणानामग्रतो भूमावेव तिलान् प्रकिरेत्। रक्षोघ्नत्वादुदङ्मुखानामिति कर्कः। अविशेषादितरेषामपीति केचित्। तन्न, स्वत एव रक्षोघ्नत्वात्तेषाम्॥ ३॥

---

१. 'न्विकीर्य' ख०

२. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा॥ (य० सं० ५–१५)॥

परिवेषणमाह–'उष्णठ्ँ स्विष्टमन्नं दद्यात्' । यावदुष्णं भवेदन्नं तावद्देयम् । स्विष्टं यद् ब्राह्मणाय प्रेताय कर्त्रे वा रोचते । अन्नं भक्ष्य-भोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं पञ्चविधम् । यद्यप्यत्र सूत्रकृता सामान्येनोक्तमन्नं दद्यादिति, तथापि स्मृत्यन्तराद्धविष्यं, व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्न-कालशाकशुण्ठीमरिचहिङ्गुगुडशर्करा कर्पूरसैन्धवसंभारपनसनारिकेलकदलीय-दरगव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांस प्रभृतीनि दद्यात् ।

सस्यं क्षेत्रगतं प्राहुः सतुषं धान्यमुच्यते ।
आमान्नं वितुषं ज्ञेयं पक्वमन्नमुदाहृतम् ॥

इति परिभाषणात्केचिदत्र पक्वमेवान्नमित्याहुः । परिवेषणं तूभाभ्या-मपि हस्ताभ्यामादाय कुर्यात् । तदुक्तं मनुना—

उभाभ्यामुपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम् ॥ इति ।

विशेषमाह कार्ष्णाजिनिः—

अपसव्येन कर्तव्यं पित्र्यं कृत्यमशेषतः ।
अन्नदानादृते सर्वमेवं मातामहेष्वपि ॥ इति ।
अपसव्येन यस्त्वन्नं ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
विष्ठानश्नन्ति पितरस्ते च सर्वे द्विजोत्तमाः ॥ इति ।

तदेतद्दानं परिवेषणमेव ॥ ४ ॥

'शक्त्या वा' । स्विष्टान्नाभावे यदन्नमेव शक्त्या दातुं शक्यते तद्देय-मित्यर्थः । अस्मिन्समये अन्नसङ्कल्पः कार्यः । तत्रैवं प्रयोगः–'इदमन्नं यद्दत्तं यच्च दास्यमानं तृप्तिपर्यन्तं तत्सर्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । (ततः) अमुकसगोत्रेभ्योऽस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्योऽमुकामुकशर्मभ्यो वसुरुद्रादित्यस्वरूपेभ्यः इदमन्नं यद्दत्तं यच्च दास्यमानं तृप्तिपर्यन्तं तत्सर्वं तेभ्यः स्वधा' इति । मातामहानामप्येवं सङ्कल्पं कुर्यात् । यद्यप्यत्र ब्राह्मण-हस्तेषूदकदानमाम्नातं नास्ति, तथापि शाखान्तरसूत्रात्कर्तव्यम् । द्विजैश्च पर्युक्षणादिप्राणाहुत्यन्ताः सर्वेऽपि भोजननियमा विधेयाः । केवलं भूमौ बलिहरणमेव न कार्यम्, तत्र बलिहरणे महादोषश्रवणात् ॥ ५ ॥

अश्नत्सु जपेद्व्याहृतिपूर्वाङ्गायत्रीॐसप्रणवाॐ सकृत् त्रिर्वा राक्षोघ्नीः पित्र्यमन्त्रान्पुरुषसूक्तमप्रतिरथमन्यानि च पवित्राणि ॥६॥

द्विजों के भोजन करने के समय ओंकार और व्याहृतियों के सहित गायत्री मन्त्र का एक अथवा तीन बार जप करे । यहाँ पर रक्षोघ्नसूक्त, पितृसूक्त, पुरुषसूक्त और पावमानीय सूक्त को भी पढ़ें ॥ ६ ॥

'अश्नत्सु ... वित्राणि'। एकवारमिति सकृत्। वारत्रयमिति त्रिः। अत्र संख्याभ्यावृत्तिगणनेऽर्थे "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" (पा० सू० ५-४-१८) इति सूत्रेण कृत्वसुचोऽपवादत्वेन त्रीत्यस्याग्रे सुच् प्रत्ययः। "एकस्य सकृच्च" (पा० सू० ५-४-१९) इति सूत्रेणैकस्य सकृदादेशः सुच् प्रत्ययश्चोक्तार्थे। अश्नत्सु ब्राह्मणेषु व्याहृतिपूर्वां गायत्रीं सप्रणवां सकृत्त्रिर्वा जपेत् संहितास्वरेण पठेत्। तत्रायं क्रमः—

प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तदनन्तरम्।
सावित्रीं चानुपूर्व्येण ततो वर्णान्समुच्चरेत्॥

राक्षोघ्नीः[1] "कृणुष्व पाजः" इत्याद्याः पञ्चर्चः। पित्र्यमन्त्रान् [2]उदीर-

---

१. कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाꣳ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ १॥
तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनुस्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूꣳष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो विसृज विष्वगुल्काः॥ २॥
प्रति स्पशो विसृजतूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्याऽअदब्धः।
यो नो दूरे अघशꣳसो यो अन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरादधर्षीत्॥ ३॥
उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्वन्यमित्राꣳ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिꣳ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥ ४॥
ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने। अव स्थिरा तनुहि यातजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून्। अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि॥ ५॥
(य० सं० १३-९, १०, ११, १२, १३)

२. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु॥१॥ (य० सं० १९-४९)॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ २॥
ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ३॥
त्वꣳ सोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳ रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्द्रो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः॥ ४॥
त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीꣳरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ५॥
त्वꣳ सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ।
तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

तामवर" इत्यादिकास्त्रयोदशर्चः। पुरुषसूक्तं[1] "सहस्रशीर्षा" इत्यादिकाः

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ७ ॥
आहं पितॄन् सुविदत्राँ२ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ८ ॥
उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ९ ॥
आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ १० ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन ॥ ११ ॥
ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराड्वसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ १२ ॥
अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १३ ॥
(य० सं० १९-६१) ॥

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ (य० सं० ३१-१) ॥
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूꣳस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

षोडशर्चः। अप्रतिरथम्[1] "आशुः शिशानः" इत्याद्याः सप्तदशर्चः द्वादशर्चा

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १३ ॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥
(य० सं० ३१-१६) ॥

१. निम्नलिखितमन्त्राणां सर्वेषामपि पाठः कार्यः, तत्रत्यानामाद्यानां द्वादशानां वेति विकल्पः। ते यथा—

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतꣳ सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ १ ॥
(य० सं० १७-३३)
संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ २ ॥
स इषुहस्तैः सनिषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३ ॥
बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन् सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥ ४ ॥
बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥ ५ ॥
गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳरभध्वम् ॥ ६ ॥

वा। अन्यानि रुद्रप्रभृतीनि। '"अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा" इत्यादीन्पित्र्यमन्त्रान् जपेत्। अत्र च व्यपदेशस्तानस्वरबाधनार्थः। मनुः—

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि॥ इति।

मत्स्यपुराणे विशेषः—

ब्रह्मविष्णवर्करुद्राणां स्तोत्राणि विविधानि च।
इन्द्रेशसोमसूक्तानि पावमानीश्च शक्तितः॥
बृहद्रथन्तरं तद्वज्ज्येष्ठसाम सरौरवम्।
मण्डलब्राह्मणं तद्वत्प्रीतिकारि च यत्पुनः॥

अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्रयुत्सु॥ ७॥
इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ ८॥
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुताꣳ शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ ९॥
उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनाꣳसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ १०॥
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥ ११॥
अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १२॥
अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसꣳशिते।
गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः॥ १३॥
प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥ १४॥
असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन्॥ १५॥
यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।
तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥ १६॥
मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृते नानुवस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु॥ १७॥
(य० सं० १७-४९)॥

१. अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा। अपहता असुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः॥ १॥ (य० सं० २-२९)॥

विप्राणामात्मनश्चैव तत्सर्वं समुदीरयेत् ॥

इन्द्रादिसूक्तानि च ऋग्वेदे प्रसिद्धानि। [1]"पुनन्तु मा" इत्याद्याः पावमान्यः। [2]"त्वामिद्धि हवामहे" इत्यस्यामृचि गीयते यत्तद् बृहत्साम। [3]"अभि त्वा

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान् लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥ २ ॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमा वृषायिषत ॥ ३ ॥

नमो वः पितरो रसाय। नमो वः पितरः शोषाय। नमो वः पितरो जीवाय। नमो वः पितरः स्वधायै। नमो वः पितरो घोराय। नमो वः पितरो मन्यवे। नमो वः पितरः पितरो नमो वः। गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्म। एतद्वः पितरो वास आधत्त ॥ ४ ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥
ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ६ ॥ (य० सं० २–३४) ॥

१. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वाभूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ (य० सं० १९–३९) ॥
पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँरनु ॥ २ ॥
यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥ ३ ॥
पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा ॥ ४ ॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः ॥ ५ ॥
वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः। तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥ (य० सं० १९–४४)

२. त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्रसत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ १ ॥ (य० सं० २७–३७) ॥
स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वꣳ रथ्यमिन्द्र संकिर सत्रावाज न जिग्युषे ॥ २ ॥ (य० सं० २७–३८)
एतद् ऋग्द्वयं बृहत्साम्नो योनिरिति बोद्धव्यम्।

३. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥ (य० सं० २७–३५) ॥
न त्वा अन्यो दिव्या न न पार्थिवो जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥ (य० सं० २७–३६)॥
एतद् ऋग्द्वयं रथन्तरसाम्नो योनिः ॥

शूर नोनुमः" इति रथन्तरम् । [1]"मूर्द्धानन्दिव" इति ज्येष्ठसाम। "पुनानः सोम" इति रौरवम् [2]"ऋचं वाचम्" इति शान्तिकाध्यायः। "यदतन्मण्डलम्" इत्यग्निरहस्ये मण्डलब्राह्मणं प्रसिद्धम्। 'इयं पृथिवी' इति बृहदारण्यकं मधुब्राह्मणम्। गरुडपुराणे—

---

१. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविंᳬ सम्राजमतिथिं जनानामसन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ १ ॥
(य० सं० ७–२४) ॥

२. ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहोजा मयि प्राणापानौ ॥ १ ॥ (य० सं० ३६–१) ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥
भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
कया नश्चित्र आभुवदूती सदा वृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ ४ ॥
कस्त्वा सत्यो मदानां मᳬहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु ॥ ५ ॥
अभी षुणः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥
कया त्वं न ऊत्याभि प्रमन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्य आभर ॥ ७ ॥
इन्द्रो विश्वस्य राजति। शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥
शं नो वातः पवताᳬ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ १० ॥
अहानि शं भवन्तु नः शᳬ रात्रीः प्रतिधीयताम्।
शं न इन्द्राग्नीभवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शं न इन्द्रापूषणावाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ ११ ॥
शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्रवन्तु नः ॥ १२ ॥
स्योना पृथिवी नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥
द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳬ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

यो विष्णुहृदय मन्त्रं श्राद्धेषु नियतः पठेत् ।
पितरस्तर्पितास्तेन पयसा च घृतेन च ॥
"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्" ॥

इति विष्णुहृदयमन्त्रः । 'ओ श्रावय' इति चत्वारि अक्षराणि, 'अस्तु श्रौषट्' इति चत्वारि, 'यज' इति द्वे, 'ये यजामहे' इति पञ्च, 'वौषट्' इति द्वे, एतैर्यो हूयते स यज्ञपुरुषो विष्णुर्मम प्रसीदत्वित्यर्थः । एतदनुसारि शतपथे वाक्यम् । "तदेतदद्य ज्ञानस्यायातयामो श्रावय" इत्यारभ्य "ओ श्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति द्व्यक्षरं ये यजामहे इति पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कारः" इति । उक्तजपासम्भवे मत्स्यपुराणे—

अभावे सर्वविद्यानां गायत्रीजपमाचरेत् । इति ॥ ६ ॥

तृप्तान् ज्ञात्वाऽन्नं प्रकीर्य सकृत्सकृदपो दत्त्वा पूर्ववद्गायत्रीं जपित्वा मधुमतीर्मधुमध्विति च ॥ ७ ॥

अब भोजन कर तृप्त हो गये जब ऐसा ज्ञात हो तो उन लोगों के आगे अन्न

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥१८ ॥
दृते दृꣳह मा ज्योक् ते संदृशि जीव्यासं ज्योक् ते संदृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥
नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥
नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥
यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ २२ ॥
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥ (य० सं० ३६–२४) ॥
अयं सर्वोऽपि षट्त्रिंशोऽध्यायः शान्तिकाध्यायः ।

बिखेर कर द्विजों के हाथ पर एक एक वार जल देकर, पहले के जैसे गायत्री मन्त्र का तथा 'मधुव्वाता' और मधुमधु इत्यादि मन्त्रों का जप करे ॥ ७ ॥

'तृप्तान्''' 'ह्विति च'। तृप्तान् ब्राह्मणान् ज्ञात्वा ब्राह्मणानामग्रतोऽन्नं विकिरेदिति। मनुः—

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा।
परिक्षिपेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥

बृहस्पतिः—

सोदकं विकिरेदन्नं मन्त्रं चेमं समुच्चरेत्।
अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम ॥
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु पराङ्गतिम् ॥ इति।

तत्रैवं सर्वमन्नमेकत्र पात्रे कृत्वोदकं निषिच्याचामेत्। ब्राह्मणानामग्रतोऽन्नं प्रकिरेदिति कर्काचार्याः। पङ्क्तिमूर्द्धन्यस्योत्तरदिग्भागे अरत्निमात्रे विकिरं दद्यादिति हेमाद्रिः। तीर्थश्राद्धे विकिराभावः। सकृत्सकृदिति वीप्सा ब्राह्मणापेक्षया, तेन वैश्वदेविकद्विजपूर्वक्रमेकैकस्य पाणौ तु उत्तरापोशनार्थं सकृत्सकृदुदकं दद्यात्। पूर्ववदिति प्रणवेन व्याहृतिभिश्च सर्वां गायत्रीं सकृत्त्रिर्वा जपेत्। मधुमतीरिति "मधुवाता" इति तिस्र ऋच उच्यन्ते, मधु मध्विति चेति च मधु मधु मध्वित्येवं त्रिरुच्चारणं कर्तव्यम् ॥ ७ ॥

तृप्ताः स्थेति पृच्छति ॥ ८ ॥

जप करने के पश्चात् "तृप्तास्स्थ" इस प्रकार पूछे ॥ ८ ॥

'तृप्ताः स्थेति पृच्छति'। 'तृप्ताः स्थ' इत्येवं ब्राह्मणान्प्रति पृच्छति प्रश्नं करोति। अत्र बहुवचनात्सर्वे प्रष्टव्याः ॥ ८ ॥

तृप्ताः स्म इत्यनुज्ञातः शेषमन्नमनुज्ञाप्य सर्वमन्नमेकतोद्धृत्योच्छिष्टसमीपे दर्भेषु त्रींस्त्रीन् पिण्डानवनेज्य दद्यात् ॥ ९ ॥

जब द्विज लोग "तृप्ताः स्म" इस प्रकार कहें तो पाकशाला में भोजन से बचे हुये सब प्रकार (चावल-दाल आदि) के पक्वान्नों को एक थाली में रख कर जूठी थाली के समीप कुशों पर तीन-तीन पिण्ड प्रदान करे ॥ ९ ॥

'तृप्ता'''दद्यात्। ततस्तैर्द्विजैः तृप्ताः स्मः इत्यनुज्ञातः शेषमन्नमनुज्ञाप्य उर्वरितस्यान्नस्यानुज्ञां दापयित्वा सर्वमन्नं सर्वप्रकारं माषान्नवर्जं पिण्डपर्याप्तमेकस्मिन्पात्रे उद्धरेत्। दर्भेषु त्रींस्त्रीन्पिण्डानिति दर्भग्रहणमुपमूलसकृदाच्छिन्नोपलक्षणार्थम्। त्रींस्त्रीनिति वीप्सा मातामहाभिप्रायेण। "पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः" (का० श्रौ० सू० २-१) इति सूत्रि-

त्त्वादत्र पिण्डपितृयज्ञवत्पिण्डदानम्। तेन "उल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वा। उल्मुकं परस्तात्करोति" (का० सू० ४-१-७, ८) इत्यारभ्य "वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वा" (का० सू० ४-१-१८) इत्यन्तं लभ्यते। अत्राह याज्ञवल्क्यः—

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः।
उच्छिष्टसन्निधौ पिण्डान्दद्याद्वै पितृयज्ञवत्॥ इति।

अत्र पदार्थक्रमः—उल्लेखनम्, उदकालम्भ, उल्मुकनिधानम्, अवनेजनम्, सकृदाच्छिन्नास्तरणम्, पिण्डदानम्, "अत्र पितरः" इत्युक्त्वोदङ्ङात्मनम्, आवृत्य जपः, पुनरवनेजनम्, नीवीविसर्गः, "नमो वः" इति षण्णमस्काराः, सूत्रदानम् स्मृत्युक्तं पूजनम्—इति क्रमः॥ ९॥

आचान्तेष्वित्येके॥ १०॥

किसी-किसी ऋषि की सम्मति है कि आचमन करने के पश्चात् उपविष्ट द्विजों के हाथ पर पिण्ड प्रदान करे॥ १०॥

'आचान्तेष्वित्येके'। एके आचार्याः आचान्तेषु ब्राह्मणेषु पिण्डदानमिच्छन्ति॥ १०॥

आचान्तेषूदकं पुष्पाण्यक्षतानक्षय्योदकं च दद्यात्॥ ११॥

आचमन करने के पश्चात् "शिवा आपः सन्तु" इस मन्त्र से जल और 'पुष्पाणि पान्तु' इससे पुष्प तथा "अक्षताः पान्तु" इससे अक्षत और "शिवा आपः सन्तु" इससे पुनः जल प्रदान करे॥ ११॥

'आचा···दद्यात्'। ब्राह्मणेषु सत्सु तेभ्य उदकादिकं च दद्यात्। पुष्पाणि चाप्रतिषिद्धानि पद्मोत्पलमल्लिकायूथिकाशतपत्रचम्पकाद्यानि गन्धरूपसंपन्नान्यन्यान्यपि दद्यात्। तत्रायं प्रयोग उक्तश्छन्दोगपरिशिष्टे—

अथात्र भूमिमासिञ्चेत्प्रोक्षितमिति।
शिवा आपः सन्त्विति युग्मानेवोदकेन च॥
सौमनस्यमस्त्विति पुष्पदानमनन्तरम्।
अक्षतं चारिष्टं चास्त्वित्यक्षतान्प्रतिपादयेत्॥
अक्षय्योदकदानं तु ह्यर्घदानवदिष्यते।
षष्ठ्यैव नियतं कुर्यान्न चतुर्थ्या कदाचन॥

युग्मानिति वृद्धिपरं प्रकरणात्। पित्राद्युल्लेखाभावाद्धस्ते प्रक्षेपमात्रस्य विधानादिदं जलादित्रिकं दैवे पित्र्ये च कार्यम्। "यज्ञोपवीतिना देयम्" इति शङ्खधराचार्यः। तथा शातातपोऽपि—

ततः पुष्पाणि सव्येन उदकानि पृथक्-पृथक् । इति ।

इदं जलादिदानं दैवे सव्येनेति, पित्र्ये त्वपसव्येनेति कर्काचार्याः। हस्ते प्रतिपादितानामपां चिरधारणे प्रयोजनाभावाच्छुचौ देशे स्थापनमेव। पुष्पाणां त्वत्र ब्राह्मणा यजमानायाशिषं प्रयच्छन्ति। मत्स्यपुराणे—

आचान्तेषु पुनर्दद्याज्जलपुष्पाक्षतोदकम्।
दत्त्वाऽऽशीः प्रतिगृह्णीयाद् द्विजेभ्यः प्राङ्मुखो द्विजः॥

अक्षय्योदकशब्देन दत्तान्नपानादेरानन्त्यप्रार्थनसम्बन्धि जलमभिधीयते। तच्च पितृब्राह्मणेभ्य एवेति कर्कः। सर्वेभ्यो दद्यादिति स्मृत्यर्थसारे ॥११॥

अघोराः पितरः सन्तु सन्त्वित्युक्ते गोत्रं नो वर्धतां वर्धतामित्युक्ते दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ १२ ॥

यजमान 'अघोराः पितरः सन्तु' इस प्रकार कहे और द्विज लोग 'सन्तु' कहें तथा गोत्रन्नो वर्धतां आदि इस मन्त्र को पढ़ें ॥ १२ ॥

'अघोरा···स्त्विति'। आशीःप्रार्थनं प्रपञ्चयति। तत्र यजमानः— "अघोराः पितरः सन्तु" इति ब्रूयात्। ब्राह्मणाश्च 'सन्तु' इति ब्रूयुः। तैस्तथोक्ते यजमानो 'गोत्रन्नो वर्द्धताम्' इत्याह। ब्राह्मणैश्च 'वर्द्धताम्' इत्युक्ते यजमानो 'दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्' इति ब्रूयात्। द्विजैः 'वर्द्धन्ताम्' इत्युक्ते कर्ता 'वेदा वर्द्धन्ताम्' इति ब्रूयात्। तैः 'वर्द्धन्ताम्' इत्युक्ते यजमानः 'सन्ततिर्वर्द्धताम्' इति। 'वर्द्धताम्' इति ब्राह्मणाः। 'श्रद्धा च नो मा व्यगमत्' इति यजमानः। 'मागात्' इति ब्राह्मणाः। 'बहुदेयं च नोऽस्तु' इति कर्ता। 'अस्तु' इति ते ब्रूयुः। अत्र मनुराह—

दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्। इति ॥ १२ ॥

आशिषः प्रतिगृह्य स्वधावाचनीयान्त्सपवित्रान् कुशानास्तीर्य स्वधां वाचयिष्य इति पृच्छति ॥ १३ ॥

आशीर्वादात्मक वचनों को ग्रहण करके स्वधावाचनीयसंज्ञक (पिण्ड के पश्चिम) आग्रभाग सहित कुशों को बिछा कर 'स्वधावाचयिष्ये' इस प्रकार सब द्विजों से पूछे ॥ १३ ॥

'आशिषः···पृच्छति'। उक्तप्रकारेणाशीर्ग्रहणं कृत्वा स्वधावाचनीय-संज्ञकान्सपवित्रान्कुशानास्तीर्य पिण्डसमीपे भूमौ स्तृत्वा "स्वधां वाच-

यिष्ये" इति पङ्क्तिमूर्द्धन्यं सर्वान्वा पृच्छेत् । सपवित्रान्साग्रानित्यर्थः । न्युब्जपात्रोपरिस्थितपवित्राण्यर्घपवित्रैः सह समानीय पिण्डानां पश्चिमतो दक्षिणाग्राणि निधाय 'स्वधां वाचयिष्ये' इति पृच्छेदिति हेमाद्रिः । सकुशानि पवित्राणि पिण्डानामुपर्यास्तीर्य 'स्वधां वाचयिष्ये' इति पृच्छेदिति देवयाज्ञिकाः ॥ १३ ॥

वाच्यतामित्यनुज्ञातः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यः प्रमातामहेभ्यो वृद्धप्रमातामहेभ्यश्च स्वधोच्यतामिति ॥ १४ ॥

जब द्विज लोग 'वाच्यताम्' ऐसा कहें तो यजमान 'पितृभ्यः' इसको पढ़ें ॥१४॥

'वाच्य···च्यतामिति' । ततस्तैर्द्विजैर्वाच्यतामित्यनुज्ञातः 'पितृभ्यः' इत्यादि 'स्वधोच्यताम्' इत्येवं मन्त्रमुदाहरेत् ॥ १४ ॥

अस्तु स्वधेत्युच्यमाने स्वधावाचनीयेष्वपो निषिञ्चति ऊर्जमिति ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् (अस्तु स्वधा) कहने पर ऊर्ज्जंव्वहन्तिरमृतङ्घृम्पयः कीलाल परिश्रुतम् । स्वधावाचनीयों पर "स्वधास्थ तर्प्पयत में पितॄन्" इस मन्त्र से जल का सेचन करे ॥ १५ ॥

'अस्तु···र्जमिति' । अस्तु स्वधेत्युच्यमाने सति स्वधावाचनीयेषूदकं निषिञ्चति "ऊर्जम्" इत्यनेन मन्त्रेण । आसेचनप्रयोगानामङ्गाङ्गीभावः, अवसरनिर्देशकत्वाच्छानचः । अतो वृद्धिश्राद्धेऽपि भवति । मन्त्रश्चायं समवेतार्थः । अतोऽस्य मातृश्राद्धे 'मातृभ्यः' पितामहीभ्यः' इत्याद्यूहः संख्यासमवेतार्थः । अतश्चैकोद्दिष्टे नोहः ॥ १५ ॥

उत्तानं पात्रं कृत्वा यथाशक्ति दक्षिणां दद्याद् [1]ब्राह्मणेभ्यः ॥१६॥

अर्घ पात्र को उत्तान (सीधा) करके द्विजों को यथा शक्ति दक्षिण देवे ॥ १६ ॥

'उत्ता···दद्यात्' । शक्तिमनतिक्रम्येति यथाशक्ति । अत्र शातपथी श्रुतिः–"स एष यज्ञो [2]हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयँस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम" इति । स्मृतौ—

---

१. गदाधरभाष्यपर्यालोचने 'ब्राह्मणेभ्यः' इति प्रक्षिप्तं प्रतिभाति ।

२. 'न ददक्षं फलं जनयितु न शशाक' इति सायणाचार्यभाष्ये ।

गोभूहिरण्यवासांसि कन्याभवनभूषणम् ।
दद्याद्यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेव च ॥ इति ।

अदक्षिणं च श्राद्ध न कुर्यात् । तथा च श्राद्धकल्पे—

न कुर्याद्दक्षिणाहीनं दहेच्छ्राद्धमदक्षिणम् ॥ इति ।

तथा च शतपथब्राह्मणे–"तस्मान्नादक्षिणठ्ं हविः स्यात् ॥ १६ ॥

विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति दैवे वाचयित्वा वाजे वाजेऽवतेति विसृज्य ॥ १७ ॥

विश्वेदेव सम्बन्धी द्विज से "विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्" ऐसा कहें और द्विज लोग भी "प्रीयन्ताम्" इस वाक्य को कहें ।

वाजे वाजेऽवत व्वाजिनों नोधनेषु विवप्राःअमृताऽऋतज्ञाः । अस्य मध्वः पिवतमादयध्व तृप्तायात पथिभिर्देवयानैः" इस मन्त्र से पितरों को विसर्जन करे ॥ १७ ॥

'विश्वे···सृज्य' । वाचयित्वेति कारितत्वादध्येषणा भवति 'विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति ब्रूहि' इति । दैवब्राह्मणाश्च 'विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्' इति ब्रूयुः । ततः [1]"वाजे वाजेऽवत' इति मन्त्रेण विप्रान्विसर्जयेत् । विसर्जनं तु पितृपूर्वकम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

वाजे वाजे इति प्रीतः पितृपूर्वं विसर्जयेत् । इति ।

निमन्त्रणादिपदार्थजातं देवपूर्वं भवति । विसर्जनं तु पितृपूर्वमिति मेधातिथिः । देवलोऽपि—

पूर्वमुत्थापयेत्पितॄन्वाच्यतामिति च ब्रुवन् ।
उत्थितानुगच्छेत्तु तेभ्यः शेषं च संहरेत् ॥
पश्चात्तु वैश्वदेविकान्विप्रानुत्थापयेत्तथा ।
एते हि पूर्वमासीनाः समुत्तिष्ठन्ति पश्चिमाः ॥ इति ॥ १७ ॥

आ मा वाजस्येत्यनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्योपविशेत् ॥ १८ ॥ ३ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनश्राद्धसूत्रे तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

---

१. वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १ ॥
(य० सं० २१-११) ॥

'आ मा व्वाजस्य प्रसवो जगम्म्यादेमे द्यावापृथिवीं विश्वरूपे । आ मा गन्ताम्पितरा मातरा चामा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्' इस मन्त्र से द्विजों के पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाकर प्रदक्षिणा और नमस्कार करे। तत्पश्चात् गृह पर आकर विश्राम करे। (यही 'पार्वण श्राद्ध') है ॥ १८ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र परिशिष्ट के कात्यायन श्राद्धकल्पसूत्र में
तृतीय कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

'आमा' · 'विशेत्' । [1]"आ मा वाजस्य" इति मन्त्रेणानुव्रज्यानु पश्चात् द्विजान्सीमान्तं गत्वा प्रदक्षिणीकृत्य स्वगृहं प्रविशेत् ॥ १८ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

अथ प्रयोगपद्धतिः—तत्र कालाः—अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् । विषुवत्सूर्यसङ्क्रमो व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणयुगादिमन्वादयश्च । तथा विशिष्ट देशे गयादौ विशिष्टे काल च मृताहादौ द्रव्यब्राह्मणसम्पत्सु चात्मरुचिश्चेत्याद्याः कालाः ।

अथ श्राद्धाधिकारिनिर्णयः—प्रमीतयोः पित्रोर्मुख्यो गौणाश्च पुत्राः श्राद्धं कुर्युः । तदभावे दायहरः, पौत्रः पुत्रिकापुत्रो वा, तदभावे सहोदराः तत्सन्ततिर्वा, तदभावे पुरोहितः, तदभावे भृत्याः, सुहृदश्च कुर्युः । सर्वाभावे नरपतिस्तज्जातीयैः कारयेत्, "नरपतिः सर्ववर्णानां बान्धवः" इति स्मरणात् । ब्राह्मविवाहोढा साध्वी चेत्पुत्राभावे पत्न्येवाधिकारिणी यदि क्रयक्रीता न भवति,

क्रयक्रीता च या नारी न सा पत्नी विधीयते ।
न या दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां केवलां विदुः ॥

सर्वाभावे त्वस्या अप्यमन्त्रके श्राद्धेऽधिकारः । एक एव चेत्पुत्रस्तदाऽसावनुपनीतोऽपि कृतचौलश्चेदमन्त्रकं श्राद्धं कुर्यात् ।

---

१. आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे । आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात् । वाजिनो वाजजितो वाजठं् ससृवाठं्सो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥ १ ॥ (य० सं० ९–१९)

अपुत्रायाः पतिर्दद्यात्सपुत्रायाश्च न क्वचित् ।
पित्रा श्राद्धं न कर्तव्यं पुत्राणां च कदाचन ॥
भ्रात्रा चैव न कर्तव्यं भ्रातॄणां च कनीयसाम् ।
अपि स्नेहेन कुर्याच्चेत्सपिण्डीकरणं बिना ॥
गयायां तु विशेषेण ज्यायानपि समाचरेत् ।

धनहारित्वादिनियमाभावे प्रीत्या यस्य कस्यापि वर्णस्य श्राद्धे कृते महत्फलमाह शातातपः—

प्रीत्या श्राद्धं तु कर्तव्यं सर्वेषां वर्णलिङ्गिनाम् ।
एवं कुर्वन्नरः सम्यङ् महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥

ब्राह्मणो ह्यसवर्णस्य यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद्वर्णत्वमवाप्नोति इह लोके परत्र च ॥

दौहित्रेण तु सपिण्डीकरणादिव्यतिरेकेण यदा यदा पितृश्राद्धं तदा तदा मातामहश्राद्धं कर्तव्यमेव—

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा अपि ।
अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत् ॥

तत्पिण्डपितृयज्ञव्यतिरिक्तविषयम् । अन्वष्टकासु पूर्वं सुरातर्पणेन तथैव पश्चादन्वष्टक्यां त्रिपार्वणं सपिण्डीकरणम् । यः पुनर्धनहारी दौहित्रस्तेन त्ववश्यं नवश्राद्धाद्यपि कार्यमेव । क्षयाहे तु एकपार्वणमेव साग्निकानामेकोद्दिष्टं वा, "यो यत आददीत स तस्यैव श्राद्धं कुर्यात्" इति स्मरणात् । मातामह्यं नवश्राद्धमवश्यं धनहारिणा दौहित्रेण कार्यम्—

दौहित्रेणार्थनिष्कृत्यै कर्तव्यं विधिवत्सदा ।
आदेहपतनात्कुर्यात्तस्य पिण्डोदकक्रियाम् ॥

यस्तु केवलं मातामहेन सम्बद्धः पुत्रिकापुत्रः स मातामहस्यैव नियमेन श्राद्धं कुर्यात् । पुत्रिकापुत्रश्राद्धे विशेषमाह मनुः—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयमपि तत्पितुः ॥

द्व्यामुष्यायणे पुत्रिकापुत्रे उशनसोक्तो विशेषः—

मातामह्यं तु मात्रादि पैतृकं पितृपूर्वकम् ।
मातृतः पितृतो यस्मादधिकारोऽस्ति धर्मतः ॥ इति ।

क्षेत्रजे तु द्व्यामुष्यायणं देवलोक्तम्—

द्व्यामुष्यायणका दद्युर्द्वाभ्यां पिण्डोदकं पृथक् ॥ इति ।

द्वाभ्यां पितृवर्गाभ्यामित्यर्थः ।

द्विपितुः पिण्डदानं स्यात्पिण्डे पिण्डे द्विनामता ।
षण्णामत्र त्रयः पिण्डा एकैकं तु क्षयेऽहनि ॥

पोषकः प्रथमः, ततो जनकः । अत्र क्रमविशेषमाह मरीचिः—

सगोत्रो वाऽन्यगोत्रो वा यो भवेद्विधवासुतः ।
पिण्डश्राद्धविधानं च क्षेत्रिणे प्राग् विनिर्वपेत् ॥
बीजिने तु ततः पश्चात्क्षेत्री जीवति चेत्क्वचित् ।
बीजिने दद्युरादौ तु मृते पश्चात्प्रदीयते ॥ इति ।

जीवत्पितृकस्यापि क्वचित्क्वचिच्छ्राद्धाधिकारः । तत्र मैत्रायणीय-परिशिष्टे विशेषो दर्शितः—

उद्वाहे पुत्रजनने पित्र्येष्टयां सौमिके मखे ।
तीर्थे ब्राह्मण आयाते षडेते जीवतः पितुः ॥

पुत्रस्य श्राद्धकाला इति शेषः । जीवत्पितृकेण आश्विनप्रतिपदि माता-महश्राद्धं फलातिशयप्राप्तये नियमेन कार्यम्—

जातमात्रोऽपि दौहित्रो विद्यमानेऽपि मातुले ।
कुर्यान्मातामहश्राद्धं प्रतिपद्याश्विने सिते ॥ इति ।

अथ श्राद्धार्हब्राह्मणलक्षणम् । तत्र महाभारते—

विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि ।
सदाचारपराश्चैव विज्ञेयाः सर्वपावनाः ॥
पाङ्क्तेयांस्तु प्रवक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पङ्क्तिपावनाः ।
तृणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ॥
ब्रह्मदेयानुसन्तानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः ।
मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ॥
ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पङ्क्तिं पुनात्युत ॥
अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
सत्यवादी धर्मशीलः स्वकर्मनिरतश्च यः ॥
ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः ।
मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृथप्लुताः ॥
अक्रोधना ह्यचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान्निमन्त्रयेत् ॥ इति ।

यथोक्तगुणाभावे किञ्चिद्धीनगुणाश्च वैश्वदेविकार्थमुपवेशनीयाः। पित्र्ये तु यथोक्तगुणा एव भोज्याः। गयायां तु निर्गुणा अपि तत्रस्था एव द्विजा भोज्याः। यथोक्तद्विजाभावे मातामहमातुलस्वस्रीयश्वशुरदौहित्रजामातृऋत्विग्याज्यशिष्या अपि गुणवन्तश्चेच्छ्राद्धे भोजनीयाः। अथैकस्यापि ब्राह्मणस्यालाभे अनुकल्पान्तरमुक्तं प्रभासखण्डे—

अलाभे ब्राह्मणस्यैव कौशः कार्यो वटुः प्रिये।
एवमप्याचरेच्छ्राद्धं षड्दैवत्यं समाहितः॥
विभक्तिङ्कारयेद्यस्तु पितृहा स प्रजायते॥

कौशः कुशमयो वटुः लघुमनुष्यप्रकृतिः, तं बटुं ब्राह्मणत्वेन परिकल्प्य सर्वं श्राद्धं समाचरेत्। विभक्तिः कर्मणश्छेदः, लोप इति यावत्। तन्न कुर्यात्।

पात्राभावेऽखिलं कृत्वा पितृयज्ञविधिं नरः।
निधाय वा दर्भबटूनासनेषु समाहितः॥
प्रैषानुप्रैषसंयुक्तं विधानं प्रतिपादयेत्।
सर्वाभावे क्षिपेदग्नौ गवे दद्यादथाप्सु वा॥
नैव प्राप्तस्य लोपोऽस्ति पैतृकस्य विशेषतः॥ इति देवलः।

प्रैषानुप्रैषसंयुक्तमिति 'श्राद्धं सम्पन्नम्' इत्यादिप्रैषप्रतिवचने स्वयमेव वदेदित्यर्थः।

अथ नियमाः—मनोवाक्कर्मभिरहिंसा निमन्त्रितब्राह्मणापरित्याग-स्ताम्बूलक्षुरकर्माभ्यञ्जनदन्तधावनपरित्यागश्चेति कर्तृनियमाः। निमन्त्रणमभ्युपगम्यानपक्रमणमन्यत्राभोजनमेकत्रनिमन्त्रितस्यान्येषामन्नादेर-प्यग्रहणम्, आहूतस्य कुतपकालाद्यनतिक्रमणम् इति द्विजनियमाः। निमन्त्रणादुपरि श्राद्धान्नव्यतिरिक्तभोजनपुनर्भोजनासत्यवादिताशौचमत्व-रितत्वमृतौ स्वदारेष्वपि नियुक्तस्यापि मैथुनाकरणं विशेषतः शूद्रायाः परिहरणम्, श्रमस्वाध्यायक्रोधक्रौर्यकलहद्यूतभारोद्वहनप्रतिग्रहप्रमाद [1]मद-मोहलोभाहङ्कारकार्पण्यस्तेयवर्जनम् इत्युभयनियमाः।

अथ श्राद्धदिनात्प्राचीनदिनकृत्यम्—तत्र कर्ता स्वगृहे निरामिषं भुक्त्वा ब्राह्मणनिमन्त्रणं प्रदोषान्ते करोति। विष्णुस्मरणं प्राणायामत्रयं कृत्वा यज्ञोपवीती उदङ्मुखः प्राङ्मुखस्य द्विजस्य दक्षिणञ्जानूपस्पृश्य—'ॐ दैवे क्षणः क्रियताम्' इति वदत। 'ॐ तथा' इति प्रत्युक्तिः। 'प्राप्नोतु भवान्'

१. 'मुद' ख०

इत्युक्ते 'प्राप्नवानि' इति प्रत्युक्तिः। ततः—"अक्रोधनैः" इत्यादि श्रावयेत्। एवं मातामहविश्वदेवसम्बन्धिनिमन्त्रणम्। ततः प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुख उदङ्मुखद्विजस्य दक्षिणञ्जानूपस्पृश्य—'ॐअमुकगोत्रस्यामुकशर्मणोऽस्मत्पितुः सपत्नीकस्य श्राद्ध क्षणः क्रियताम्' इत्यादि। एवमयं पितुरयं पितामहस्यायं प्रपितामहस्येत्यादिनिर्द्धारणं कृत्वा मातामहद्विजान्निमन्त्रयेत्। यावत्संख्याश्च पितृद्विजास्तावत्संख्या एव मातामहद्विजास्तथैव निमन्त्रणीयाः। ततः—

अक्रोधनैः शौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः।
भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकारिणा॥

इति नियमाञ्छ्रावयेत्। तन्त्रेण वा वैश्वदेविकम्। इति श्राद्धदिनात् प्राचीनदिनकृत्यम्।

पूर्वदिने निमन्त्रणासम्भवे श्राद्धदिने प्रातर्निमन्त्रणम्।

अथ श्राद्धदिनकृत्यम्—तत्र दन्तधावनवर्जं प्रातःकालिकं कर्म कृत्वा उद्वर्त्तनद्रव्यस्नानीयतिलामलककल्कांस्ताम्रपात्रे सम्भृतान्कृत्तश्मश्रुनखेभ्यो निमन्त्रितद्विजेभ्यो देवपूर्वकं प्रेष्यद्वारा दापयेत्। ततः पाकभूमेर्गोमयोपलेपादिसंस्कारकरणं महानसे च। सचैलस्नातः सपत्नीको यजमानः स्वयं पाकमारभेत। असम्भवे तु शुचिभिः स्नातैः सवर्णैर्वा कारयेत्। ततः श्राद्धसम्भारोपकल्पनम्। अथाह्नः षष्ठे मुहूर्ते नद्यादौ नित्यस्नानं ततः कर्माङ्गस्नानम्। ततः श्राद्धार्थमुदकमानीय पत्न्या सह शुचिः शुक्लवासाः श्राद्धदेशमागत्योदकं स्थापयेत। अथापराह्णकृत्यम्—तत्रागतान्द्विजान्दृष्ट्वा 'भवतां स्वागतम्' इति प्रत्येकं ब्रूयात्। 'सुस्वागतम्' इति द्विजैर्वक्तव्यम्। ततस्तेभ्य उदकदानम्। मण्डलकरणम्। आचमनार्थञ्जलदानम्। तैश्चाचमनकरणम्। ततो यजमानस्य पादप्रक्षालनपूर्वकं द्विराचमनम्। ब्राह्मणानामुपवेशनम्। अस्मिन्नवसरे दीपानां स्थापनम्। ततः कर्तोपविश्य 'गङ्गायै नमः' 'गदाधराय नमः' इति वदेत्। पुण्डरीकाक्षं स्मृत्वा—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमोनमः॥

इति त्रिः पठेत्। ततः अद्येत्यादिकालज्ञानं कृत्वा अमुकसगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानां सपत्नीकानां वसुरुद्रादित्यस्वरूपाणां तथा मातामहादीनां सङ्कीर्तनं कृत्वा पार्वणद्वयविधिनाऽमुकनिमित्तं श्राद्धं करिष्ये इति सङ्कल्पं कुर्यात्। ततः—

निहन्मि सर्वं यदमेध्यमत्र निहन्मि सर्वानपि दानवासुरान्।
यक्षाश्च रक्षांसि पिशाचगुह्यका हता मया यातुधानाश्च सर्वे॥

इति पठेत्। नीवीबन्धनम्। ततः—

तिला रक्षन्त्वसुरान्दर्भा रक्षन्तु राक्षसान्।
पंक्तिं वै श्रोत्रियो रक्षेदतिथिः सर्वरक्षकः॥

इति द्वारि तिलकुशनिक्षेपः।

अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम्।
तथा बर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरस्तथा॥
प्रतीचीमाज्यपास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः।
ऊर्ध्वतस्त्वर्यमा रक्षेत्कव्यवाडनलोऽप्यधः॥
रक्षोभूतपिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः।
सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे॥

इति यथालिङ्गं दिशि दिशि तिलान्प्रकिरेत्। रक्षोभूतेति सर्वतः प्रकिरणम्। ततः कर्मार्थं जलाभिमन्त्रणं दर्भैरालोडयन्[1] "यद्देवा" इति [2]तृचेन। अत ऊर्ध्वं जलकार्यमनेन। 'दुष्टदृष्टिनिपातनादिदूषितः पाकः पूतो भवतु' इति पाकप्रोक्षणम्। सव्यम्। पुरूरवार्द्रवसञ्ज्ञकानां विश्वेषान्देवानामिदमासनम्। हस्तप्रक्षालनम्। अपसव्यम्। गोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणामिदमासनम्। हस्तप्रक्षालनम्। एव मातामहादीनाम्। सव्यं 'पुरूरवार्द्रवसंज्ञकान्विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति प्रश्नः। 'आवाहय' इति प्रत्युक्तिः। दक्षिणं जान्वालभ्य "विश्वेदेवासः" इत्यावाहनम्। यव[3] विकिरणम्। "विश्वेदेवाः शृणुतेमम्" इति जपः। "आगच्छन्तुः" इत्यपि जपेत्। अपसव्यम्। 'अमुकगोत्रान्पितॄनावाहयिष्ये' इति प्रश्नः। 'आवाहय' इति प्रत्युक्तिः। 'उशन्तस्त्वा' इत्यावाहनम्। तिलविकिरणम्।[3] "आयन्तु नः" इति जपः। एवं मातामहादीनाम ावाहनम्। ततः सव्यं कृत्वा वैश्वदेविकं पात्रं निधाय पवित्रान्तर्हिते "शन्नो देवीः" इति जलमासिच्यापसव्यं कृत्वा पितृपात्राणि निधाय पवित्रान्तर्हितेषु "शन्नो देवीः" इति जलासेकः। सव्यम्—

यवोऽसि धान्यराजो वा वारुणो मधुसंयुतः।
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः॥

---

१. यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः॥ १॥ (य० सं० २०.१८

२. 'त्र्यृचेन' ग०। ३, 'विकिरणम्' ख०।

इति देवपात्रे यवप्रक्षेपः। "यवोसि यवयच" इति मन्त्रेण वा यवप्रक्षेपः। तिलपक्षे तु–'तिलोसि' इति मन्त्रेण। तिलोसीति पितृपात्रेषु मन्त्रावृत्या तिलप्रक्षेपः। सर्वपात्रे चन्दनपुष्पप्रक्षेपो देवपितृधर्मेण। सव्यम्। वैश्वदेविकपवित्रदानम्। पूजनम्। "या दिव्याः" इत्यर्घदानम्। एवं सर्वत्र। प्रथमे पात्रे संस्रवान्समवनीय–'पितृभ्यः स्थानमसि' इति पात्रन्युब्जीकरणम्। तदुपरि कुशनिधानम्। पुत्रकामश्चेत्संस्रववन्दनम् "आपः शिवाः" इति। ततो गन्धादिदानम्। तत्रैवम्। सव्यम्। यथादत्तं गन्धाद्यर्चनं पुरूरवाद्रवसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। अपसव्यं कृत्वैवं पितृभ्यो दानम्। आचमनं प्राणायामः। ब्राह्मणाग्रे भोजनानि निधाय उक्तप्रकारेण मण्डलानि कुर्यात्। अपसव्यम्। अन्नमुद्धृत्य 'अग्नौ करिष्ये' इति प्रश्नः। 'कुरुष्व' इति प्रत्युक्तिः। ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, इदमग्नये कव्यवाहनाय न मम। ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा, इदं सोमाय पितृमते न ममेति द्वयोस्त्यागौ। स्वयंकर्तृके त्यागाभाव इति हेमाद्रिपद्धतौ। हुतशेषं पात्रे दत्त्वा पात्रमालभ्य जपति "पृथिवी ते" इति प्रतिपात्रं मन्त्रावृत्तिः। वैष्णव्यर्चा यजुषा वाऽन्नेऽङ्गुष्ठावगाहनम्। तिलविकिरणम्। परिवेषणम्। सङ्कल्पः पूर्वोक्तप्रकारेण। सकृत्सकृदुदकदानं विप्रहस्तेषु। ततोऽश्नत्सु जपो यथोक्तः। तृप्तान् ज्ञात्वोक्तप्रकारेणान्नप्रकिरणम्। आचमनम्। सकृत्सकृदुदकदानं विप्रहस्तेषु। पूर्ववद्गायत्रीजपः। मधुव्वाता० भवन्तु नः, मधु मधु मधु, इति जपेत्। 'तृप्ताःस्थ' इति प्रश्नः। 'तृप्ताः स्मः' इति प्रत्युक्ते 'शेषमन्नप्यस्ति' इति ब्रूयात्। 'इष्टैः सह भुज्यताम्' इति प्रतिवचनम्। हेमाद्रिणा कर्कमते 'पिण्डार्थमुपयुज्यताम्' इति प्रयोगो दर्शितः। सर्वमन्नमेकत उद्धृत्य उल्लेखनम्–'अपहता' इति। साग्निकस्य वज्रेण, इतरस्य तु कुशमूलेन। जलस्पर्शः। अग्निमत उल्मुकनिधानं प्रतिपार्वणम्। अमुकगोत्र पितरमुकशर्मन्निस्यवनेजनम्। एवं पितामहप्रपितामहयोर्मातामहादीनां च। सकृच्छिन्नास्तरणम्। अमुकगोत्र पितरमुकशर्मन्नेतत्तेऽन्नं स्वधेति पिण्डदानम्। इदममुकाय न ममेत्येवमुभयत्र। सर्वत्र मातामहानामप्येवमेव विधेयम्। "अत्र पितरः" इत्युक्त्वा उदङ्ङातमनम्। आवृत्य 'अमीमदन्त' इति जपः। पूर्ववदवनेजनम्। नीवीविसर्गः। "नमो वः" इति षडञ्जलिकरणम्। "एतद्वः" इति सूत्रदानम्। पञ्चाशद्वर्षादूर्ध्वं यजमानहृदयलोम्नां वा दानम्। पिण्डपूजनम्। चन्दनपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि गोत्रेभ्यः पितृपितामहप्रपितामहेभ्यः स्वधेति। एभिः पिण्डदानैरस्मत्पितृणामक्षय्या तृप्तिरस्तु। काले श्राद्धं भवतु इति प्रार्थना। आचमनम्। 'सुप्रोक्षितोऽयं देशोऽस्तु' इति जलेन भूमिं सिञ्चेत्। 'शिवा आपः सन्तु'

इति उदकदानं ब्राह्मणेभ्यः। 'सौमनस्यमस्तु' इति पुष्पदानम्। 'अक्षतं चारिष्टं चास्तु' इत्यक्षतदानम्। अमुकगोत्रस्य पितुरमुकशर्मणो दत्तं श्राद्धमुदकं चाक्षय्यमस्तु। एवं पितामहप्रपितामहयोः। ततो द्विजानां प्रार्थना। येषामुद्दिष्टं तेषामक्षय्यमस्तु। अस्त्विति प्रत्युक्तिः, अघोराः पितरः सन्त्विति प्रश्नः। सन्त्विति प्रत्युक्तिः। गोत्रन्नो वर्द्धतामिति प्रश्नः। वर्द्धतामिति प्रत्युक्तिः। दातारो नोऽभिवर्द्धन्तामिति प्रश्नः। वर्द्धन्तामिति प्रत्युक्तिः। वेदा वर्द्धन्तामिति प्रश्नः। वर्द्धन्तामिति प्रत्युक्तिः। संततिर्वर्द्धतामिति प्रश्नः। वर्द्धतामिति प्रत्युक्तिः। श्रद्धा च नो मा व्यगमत्। मागादिति प्रत्युक्तिः। बहुदेयं च नोऽस्तु। अस्त्विति प्रत्युक्तिः। पात्रोपरि स्थापित-कुशानां भूमावास्तरणम्। ततः स्वधापितृन्वाचयिष्ये इति प्रश्नः। वाच्यतामित्युक्ते "पितृभ्यः स्वधोच्यतां पितामहेभ्यः स्वधोच्यतां प्रपितामहेभ्यः स्वधोच्यतां मातामहेभ्यः स्वधोच्यतां प्रमातामहेभ्यः स्वधोच्यतां वृद्धप्रमातामहेभ्यः स्वधोच्यताम्" इति मन्त्रं पठेत्। अस्तु स्वधेति प्रत्युक्ते आस्तृतकुशेषु "ऊर्जम्" इत्युदकासेकः। पात्रोत्तानकरणम्। ततः श्राद्धस्य प्रतिष्ठाभिवृद्ध्यर्थं दक्षिणां मुखवासताम्बूलं च विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, इदं वि० न मम। अस्य श्राद्धस्य प्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं दक्षिणां मुखवासताम्बूलं चामुकगोत्रेभ्य इत्यादि स्वधा नममेति त्यागः। विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति वदेत्। प्रीयन्तामिति प्रत्युक्तिः। विश्वेदेवाः शान्तिदाः पुष्टिदा वरदा भवन्तु। भवन्त्विति द्विजः। अन्नं च नो बहु भवेत्। बहु भूयात्। अतिथींश्च लभेमहि। लभध्वम्। याचितारश्च नः सन्तु। सन्तु। मा च याचिष्म केचन। मा याचेथाः। एता एवाशिषः सन्तु। इति प्रार्थना।

ततः स्वयमेव तिलककरणम्। पिण्डानां प्रत्यवधानम्। सव्यम्। पिण्डावघ्राणम्। सकृदाच्छिन्नानामग्नौ प्रक्षेपः, पश्चादुल्मुकस्य च। भोजनपात्राणि चालयित्वा संचराभ्युक्षणम्। कालज्ञानं कृत्वा अमुकपितृणां कृतस्य श्राद्धविधेर्यन्न्यूनातिरिक्तं तत्परिपूर्णमस्तु। अस्तु परिपूर्णमिति ब्राह्मणोक्तिः। "वाजे वाजे" इति पितृपूर्वं विसर्जनम्। "आमावाजस्य" इत्यनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य गृहप्रवेशः॥

अथ साग्निकनिरग्निकादीनां दर्शाष्टकादिश्राद्धे निमित्ततः पिण्डाभाव उच्यते। तदाह कार्ष्णाजिनिः—

> मौञ्जीबन्धाद्विवाहाच्च वर्षोर्ध्वं वर्षमेव वा।
> पिण्डान्सपिण्डा नो दद्युः सपिण्डीकरणादृते॥

अत्र सपिण्डीकरणे पिण्डविधानात्तत्पूर्वेषामुत्क्रान्तप्रभृतीनां श्राद्धा-

नामर्थात्पिण्डदानमनुज्ञातमिति । उद्वाहे कृतेऽपि महालयगयाश्राद्धमृताहेषु पिण्डान्दद्युः तदुक्तं—

महालये गयाश्राद्धे मातापित्रोर्मृतेऽहनि ।
कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिण्डनिर्वपणं सुतः ॥ इति ॥

गयाशब्देन तीर्थान्युपलक्ष्यन्ते, मृतेऽहनीति मातापित्रोस्तद्व्यतिरिक्तानामपि च मृताहेऽनुमासिकेषु च । सङ्ग्रहेऽपि—

विवाहोपनयादूर्ध्वं वर्षार्द्धं वर्षमेव वा ।
न कुर्यात्पिण्डनिर्वापं न दद्यात्करणानि च ॥

करणान्यावाहनार्घादीनि । विवाहादिनिमित्तेनोक्तकालपर्यन्तममावास्याष्टकासु साङ्कल्पिकं श्राद्धं कुर्यात् । श्रुतिबलात्पिण्डपितृयज्ञस्तु भवत्येव ।

अथ सांवत्सरिके विशेषः ।

तत्र विभक्ताश्चेत्सर्वे, नो चेज्ज्येष्ठ पुत्र एव । मातृसांवत्सरिके यथोचित ऊहः कार्यः । यत्र च मात्रा स्वामिचित्यारोहणं कृतं तत्रैकमेव पाकं कृत्वा पितृश्राद्धं पृथक् कृत्वैकबर्हिषि षट् पिण्डान्दद्यात् । विप्रपङ्क्तौ सुवासिनीं चाधिकां भोजयेदिति श्राद्धभास्करे । एकदिनेऽनेकश्राद्धप्रसक्तौ पूर्वं पितुः पश्चात्पितृव्यादीनां श्राद्धं कार्यम् । मृताहे ग्रहणं चेदामेन हेम्ना वा आब्दिकं कार्यम् । क्षयाहे आशौचादिप्रतिबन्धे तदन्ते कर्तव्यम् । मातृपितृक्षयाहे श्राद्धकर्तुः स्त्री स्त्रीकर्तृके वा श्राद्धे सा रजस्वला चेत्पञ्चमेऽहनि श्राद्धं कुर्यात् ।

अथ महालये विशेषः—

तत्रोद्देश्या उच्यन्ते । पितृव्यभ्रातृपुत्रपितृपुत्राः पितृष्वसृमातुलमातृष्वसृभार्यापितृव्यपुत्रभ्रातृपुत्रभगिनीदुहितृभागिनेयाचार्यश्वशुरश्वश्रूपाध्यायगुरुसखिद्रव्यदशिष्यादय इति । संन्यासविषये वायुपुराणे विशेषो दर्शितः—

संन्यासिनोऽप्याब्दिकादि पुत्रः कुर्याद्यथाविधि ।
महालये तु यच्छ्राद्धं द्वादश्यां पार्वणेन तु ॥

अथ भाद्रपदापरपक्षभरणीश्राद्धे विशेषः । तदुक्तं मात्स्ये—

भरणी पितृपक्षे तु महती परिकीर्तिता ।
तस्यां श्राद्धं कृतं येन स गयाश्राद्धकृद्भवेत् ॥

तत्र सपत्नीकपितृपितामहप्रपितामहान्सपत्नीकमातामहादींश्चोद्दिश्य साङ्कल्पिकं श्राद्धं कुर्यात् । भविष्यपुराणे—

अग्नौकरणमर्घं चावाहनं चावनेजनम् ।
पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने निवर्तते ॥

पिण्डनिर्वापरहितं यत्र श्राद्धं विधीयते ।
स्वधावाचनलोपोऽस्ति विकिरस्तु न लुप्यते ॥
अक्षय्यदक्षिणास्वस्तिसौमनस्यं यथा स्थितम् ॥ इति ।

चतुर्दश्यां पित्रादित्रयमध्ये एकस्य द्वयोर्वा विषशस्त्राद्युपघातैर्मृतयोः पितृव्यादेर्वा तथाविधस्यैकोद्दिष्टविधिना श्राद्धं कुर्यात् । इदं चैकोद्दिष्टं सदैवम् । तथाच सङ्ग्रहे—

प्रेतपक्षे[1] चतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधानतः ।
दैवयुक्त तु यच्छ्राद्धं पितृणामक्षयं भवेत् ॥ इति ॥

अथ तीर्थश्राद्धे विशेषः—

तच्च षट्पुरुषोद्देशेन । तत्र दिग्बन्धनावाहनार्घद्विजाङ्गुष्ठनिवेशनतृप्तिप्रश्नविकिरा न कर्तव्याः । ब्राह्मणपरीक्षा च न कार्या । न च दृष्टिदोषादिविचारः । षट्पुरुषपिण्डदानानन्तरं किञ्चिद्दूरे हविःशेषेण मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यः पिण्डदानमात्रम् । तदनन्तरं मात्रादिपिण्डपूर्वतः कुशेषु ज्ञातिवर्गमुद्दिश्यैको बृहत्पिण्डो दातव्यः । पिण्डानां तीर्थसलिले प्रक्षेपः ।

अथ नित्यश्राद्धे विशेषः—

सङ्कल्पः । पुष्पाक्षतादिभिरासनादिदीपान्तोपचारैर्ब्राह्मणपूजनम् । मण्डलं कृत्वा भाजनानि विधाय परिवेषणम् । पात्रालम्भादिब्राह्मणभोजनान्तं कृत्वा किंचिद्दद्यात् । नात्र कर्तृभोक्तृनियमाः । भोज्याद्यशक्तावन्नमुद्धृत्य स्वशक्तितः षोढा विभज्य पितृनुद्दिश्य त्यजेदिति नित्यश्राद्धम् ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये पार्वणश्राद्धविधिः ॥

---

१. 'प्रेतपक्षे' नास्ति ख०

चतुर्थी कण्डिका

अथैकोद्दिष्टम् ॥ १ ॥

अब एकोद्दिष्ट श्राद्ध की विधि कहते हैं। (एकोद्दिष्ट श्राद्ध उसे कहते हैं जो केवल एक ही के लिए किया जाए) ॥ १ ॥

सर्वश्राद्धप्रकृतिभूतं पार्वणमुक्त्वाऽधुना विकृतिभूतमेकोद्दिष्टमारभ्यते— 'अथैकोद्दिष्टम्'। अथ पार्वणानन्तरमेकोद्दिष्टं व्याख्यास्यते। अथान्वर्थसंज्ञा चैषा। एकमुद्दिश्य यत्क्रियते तदेकोद्दिष्टमिति ॥ १ ॥

एकोऽर्घ एकं पवित्रमेकः पिण्डः ॥ २ ॥

इस एकोद्दिष्ट श्राद्ध में भी सब कार्य वैसे ही होंगे जैसे कि उपरोक्त सूत्रों में लिखा है। विशेष केवल इतना ही है कि इस श्राद्ध में) एक ही द्विज का उपवेशन होगा। अर्घ, पवित्र और पिण्ड प्रदान भी एक ही होंगे ॥ २ ॥

'एकोऽर्घं एकं पवित्रमेकः पिण्डः'। अस्मिन्नेकोद्दिष्टे एकोऽर्घः एकं पवित्रमेकः पिण्डश्च स्यात्। अर्घस्यैकत्वश्रवणात्पात्रमप्येकमिति ज्ञायते। अतः प्रथमशब्दस्यानुपपत्तेः 'पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यस्यानुपपन्नत्वात्संस्रवस्य बहुत्वाभावाच्चात्र पात्रन्युब्जीकरणाभावः ॥ २ ॥

नावाहनं नाग्नौकरणं नात्र विश्वेदेवाः स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः। सुस्वदितमितीतरे ब्रूयुरुपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थानेऽभिरम्यतामिति विसर्गोऽभिरताः स्म इतीतरे ॥ ३ ॥ ४ ॥

॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टे कात्यायनश्राद्धसूत्रे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥
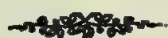
इस श्राद्ध में पितरों का आवाहन नहीं करना चाहिए। न 'अग्नये कव्यवाहनाय" इन मन्त्रों से आहुति प्रदान होगी और न तो यहाँ विश्वेदेव का उपवेशन करना चाहिए। ("तृप्ता स्थ" इस पद के स्थान पर) 'स्वदितम्' ऐसा यजमान तृप्ति प्रश्न पूछे। द्विज "सुस्वदितम्" ऐसा यजमान से कहे। "(अघोराः पितर"

इसके स्थान पर) "उपतिष्ठताम्" ऐसा कहना चाहिए। ("वाजे वाजे०" इस मन्त्र को न कहकर) "अभिरम्यताम्" ऐसा कहकर विसर्जन करे। "अभिरताः स्मः" ऐसा कहकर द्विज वहाँ से प्रस्थान करे ॥ ३ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र में चतुर्थ कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

'नावाहनं नाग्नौकरणं नात्र विश्वेदेवाः स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः। सुस्वदितमितीतरे ब्रूयुरुपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थानेऽभिरम्यतामिति विसर्गोऽभिरताः स्म इतीतरे'। स्पष्टमेतत्। अत्राग्नौकरणनिषेधादेव पात्रालम्भनिषेधो हुतशेषदानानन्तरं तस्य विहितत्वात्। "अमृतं जुहोमि" इति मन्त्रलिङ्गाद्धुतशेषस्यैव परामर्शात्। हुतशेषाभावे पात्रालम्भाभाव इति निश्चीयते। इति हलायुधभाष्ये ॥ ३ ॥

॥ इति गदाधरभाष्ये चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

अथ प्रयोगः। निमन्त्रणम्। ततो मध्याह्नस्नानम्। ततः कर्माङ्गस्नानम्। द्विजेभ्य उदकदानम्। मण्डलकरणम्। द्विजैराचमनकरणम्। पादप्रक्षालनम्। ब्राह्मणस्योपवेशनम्। दीपस्थापनम्। "देवताभ्यश्च" इति पाठः। सङ्कल्पः। ततो "निहन्मि सर्वम्" इति पाठः। नीवीबन्धनम्। "तिला रक्षन्तु" इत्यारभ्य दिशि दिशि प्रकिरणान्तम्। जलाभिमन्त्रणम्। पाकप्रोक्षणम्। आसनदानम्। हस्तप्रक्षालनम्। नावाहनम्। नावकिरणम्। जपः। एकस्यार्घस्य पूरणम्। दानम्। न पात्रन्युब्जीकरणम्। न संस्रवदानम्। ततो गन्धादिदानम्। नाग्नौकरणम्। पात्रालम्भो न भवतीति हलायुधमतम्। अन्येषां मते तु भवत्येव। अङ्गुष्ठस्यान्नेऽवगाहनम्। तिलविकिरणम्। परिवेषणम्। सङ्कल्पः। उदकदानम्। जपः। अन्नप्रकिरणम्। आचमनम्। उदकदानम्। जपो यथोक्तः। 'न स्वदितम्' इति तृप्तिप्रश्नः। "सुस्वदितम्" इति ब्राह्मणा ब्रूयुः। शेषान्नस्यानुज्ञापनादि पिण्डपूजान्तं च पूर्ववत्। एकः पिण्डो देयः। ततः सुप्रोक्षितार्द्यक्षतदानान्तम्। अक्षय्योदकदानम्। उपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थाने। प्रार्थनादि उदकासेकान्तम्। दक्षिणादानम्। न विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति प्रैषः। प्रार्थनाऽपि न। तिलकम्। पिण्डप्रत्यवधानम्। सव्यम्। अवघ्राणम्।

अग्निमत उल्मुकसकृदाच्छिन्नयोरग्नौ प्रक्षेपः। पात्रचालनम्। सञ्चराभ्युक्षणम्। ततः 'अद्य पूर्वोच्चरित' इत्यादि। "अभिरम्यताम्" इति विसर्जनम्। 'अभिरताः स्मः' इति प्रयुक्तिः। अनुगमनम्। गृहप्रवेशः॥

॥ इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये एकोद्दिष्टपद्धतिः॥

अथैकोद्दिष्टप्रसङ्गात्क्रियापद्धतिर्लिख्यते—तत्र सायमाहुत्यां हुतायां यजमानस्य मरणशङ्का चेत्तदैव प्रातराहुतिर्दातव्या। जीवेत्पुनः काले प्रातराहुतिर्नैव होतव्या। पौर्णमासेष्ट्यनन्तरं प्राग्दर्शाद्यदा यजमानस्य मरणशङ्का स्यात्तदैव पिण्डपितृयज्ञवर्जिताममावास्येष्टिं कुर्यात्। तत्पर्यन्तं पक्षहोमः। आह्रियमाणं हविषि चेन् म्रियेत तदा हविषो दक्षिणाग्नौ प्रक्षेपः। ग्रहणप्रभृतिप्राग्घविरासादनान्मरणं चेद्गार्हपत्य हविषां दहनम्। आसादनोत्तरकालमाहवनीये। एवं वैश्वदेवपर्वणि कृते यजमानस्य मरणशङ्कायामवशिष्टपर्वणां समापनं कार्यम्। सकलेष्ट्यसम्भवे वाऽऽज्यं संस्कृत्य पुरोनुवाक्यायाज्याभ्यां स्वस्वहविषा यागः कार्यः। तदसम्भवे च केवलेनाज्येन चतुर्गृहीतेन प्रधानदेवतायागमात्रं कुर्यात्। तस्याप्यसम्भवे प्रतिदैवतं पूर्णाहुतिं जुहुयात्। अग्नये स्वाहा, विष्णवे स्वाहा, इन्द्राय स्वाहेति। असन्नयतस्तु अग्नये, विष्णवे, इन्द्राग्निभ्यामिति। एवं स्मार्तं पक्षादि सकलङ्कर्म ज्ञेयम्। चरुहोमासम्भवे देवतानामाज्याहुतिमात्रं वा। यद्यमावास्यापर्यन्तं यजमानो जीवति तदाऽमावास्यायां दक्षिणाग्निमुद्धृत्य पिण्डपितृयज्ञः कार्यो नाग्न्यन्वाधानम्। न ब्रह्मासनम्। न चामावास्येष्टिः, कृतत्वात्। सर्वङ्कर्म मरणान्तं भवति, कर्तुरसम्भवात् हविःप्रतिपत्तिविधानाच्च। अग्निहोत्रहोमेऽप्याहृते हविषि दक्षिणाग्नौ ग्रहणादिप्रागासादनाद्गार्हपत्ये दहनम्। आसादनाद्याहवनीये, एवमेव पशुयागसोमयागादावारब्धेऽन्तरा मरणशङ्कायां यथासम्भवं समापनङ्कार्यम्। मृते पुत्रादिः स्नातः कृतापसव्यः सकृत्सकृत्परिसमूहनादिसंस्कारान्कुर्यात्। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्न्योर्विहरणम्। तिस्र एव स्थालीरेष्टवै इत्यध्वर्यराह। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु तिसृणां गोमयशंवलवतीनां मृन्मयीनामुखानामधिश्रयणम्। अत्र सर्वङ्कर्मापसव्येन दक्षिणामुखेन कर्तव्यम्। सभ्यावसथ्ययोरुखाधिश्रयणं न कुर्यात्। तौ प्रत्यक्षावेव स्थाल्योर्मध्ये निधाय नीयेते। सर्वासु स्थालीषु चिह्नकरणम्। अथ मरणस्थाने एकोद्दिष्टविधिना श्राद्धम्। तत्र सङ्कल्पः—मरणस्थाने एकोद्दिष्टश्राद्धमहङ्करिष्ये। उपहारप्रोक्षणम्। आचमनम्। आमान्नसङ्कल्पः। पिण्डदानम्। आवाहनार्घार्चनपात्रालम्भनावगाहनविकिरावनेजनरेखाप्रत्यवनेजनगन्धाद्यर्चनाक्ष—

ध्योदकदानाशीःस्वधावाचनीयनीषेकाभावः । सव्येन दक्षिणादानम् । दक्षिणाकाले माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । इति मरणस्थाने एकोद्दिष्ट-विधिना श्राद्धम् । ततो मृतस्थाने शवनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकगोत्र ! अमुकशव ! इति प्रयोगः । सजलमाषान्नकुम्भदानम् । ततः पूर्ववदेकोद्दिष्ट-विधिना द्वितीयं द्वारदेशे श्राद्धम् । श्राद्धान्ते तत्रैव पान्थनाम्ना पिण्ड-दानम् । पान्थ ! एतत्ते इति प्रयोगः । माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । सन्तापजानग्नीनादायानसि शरीरमारोप्य दक्षिणागमनम् । यमगाथाङ्गा-यन्ता यमसूक्तं च जपन्त इत्येके आहुः ।

अहरहर्नीयमानो गामश्वं पुरुषं ह्यजम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराप इव दुर्मतिः ॥

इति यमगाथा "अपेतो यन्तु पणयः" इत्ययमध्यायो यमसूक्तम् । ततश्चत्वरे प्रेतनाम्ना पिण्डदानम् । माषान्नजलयुक्तघटदानम् । ग्रामश्म-शानयोरर्द्धमार्गे नीते तत्र पूर्ववदेकोद्दिष्टविधिना श्राद्धम् । अमुकप्रेतस्य दाहार्थं श्मशानं नीयमानस्य अर्द्धमार्गे विश्रामस्थाने श्राद्धमहङ्करिष्ये, इति सङ्कल्पः । श्राद्धान्ते भूतनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकभूत ! एष ते पिण्डः । माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । समे बहुलतृणे देशे क्षीरिण्याद्या उद्धृत्य वितानसाधनम् । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु सकृत्सकृत्संस्कार-करणम् । तत्र गार्हपत्यादीनां स्थापनम् । सभ्यावसथ्ययोश्चितेरुत्तरतः सप्तसु प्रक्रमेषु स्थापनम् । ततो गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये काष्ठैश्चितिं सञ्चिनुयात् ततः प्रेतस्य केशश्मश्रुनखलोम्नां छेदनम् । केशादीनान्नि-खननम् । प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमं कृष्णाजिनं चितायामास्तीर्य तस्मिन् यजमानं प्राक्शिरसमादधाति । ततः प्रेतस्य करे प्रेतनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकप्रेत एतत्त इति । माषान्नजलयुक्तकुम्भदानम् । ततः प्रेतस्याज्येनाभ्यञ्जनम् । मुखे दक्षिणोत्तरनासिकाचक्षुःश्रोत्रेषु हिरण्यशकलप्रासनम् । श्रुतौ चिति-चयनात्प्राक् हिरण्यशकलप्रासनमाम्नातम् । सूत्रे तु शाखान्तरादयङ्क्रमोऽ-वसितः । चितिचयनात्पूर्वं वा कर्तव्यम् । प्रेतस्य वस्त्रैकदेशं सञ्चयनार्थं गृहीत्वा सुगुप्तन्निदधाति । सर्वाणि पात्राणि प्रागग्राण्युत्तानानि वक्ष्यमाण-विधिना प्रेतशरीरे निदधाति । जुहूं घृतेन पूरयित्वा दक्षिणे हस्ते साद-यति । सव्ये पाणौ रिक्तामुपभृतम् । हृदये ध्रुवां रिक्ताम् । दक्षिणनासि-कायां वैकङ्कतं स्रुवम् । कर्णयोः प्राशित्रहरणे । शिरसि रिक्तं प्रणीता-प्रणयनं चमसम् । कपालानि वा शिरसि । अप्सु वा प्रक्षेपः कपालानाम् । पार्श्वयोः शूर्पे दक्षिणपार्श्वे ऐष्टिकम् । उत्तरपार्श्वे प्रतिप्रस्थातृकर्तृकवरुण-

प्रघासिकमैष्टिकम्। अकृतवरुणप्रघासस्य ऐष्टिकमेव द्विधा कृत्वा पार्श्व-योरेकैकखण्डमासादयेत्। उदरे पृषदाज्यवतीमिडापात्रीम्। शिश्नसमीपे शम्याम्। अण्डयोः समीपे अरणी। तत्समीपे अधोमुखमुलूखल मुसलं च। उपवेषाभ्रिस्रुतावदानपुरोडाशपात्रीपूर्णपात्रषडवत्तकूर्चप्रमुखानि सर्वाणि पात्राणि ऊर्वोर्मध्ये आसादयेत्। स्मार्तपात्राण्यप्यरणीसहितानि वरुणप्रघासिकानि च तत्रैवासादयेत्। मृन्मयाश्ममयानामप्सु प्रक्षेपः। लोहमयानां च ब्राह्मणाय दानमप्सु प्रक्षेपो वा। त्रेताग्निभिश्चितेरा-दीपनम्। तत्रैवम्—अग्निचितिपर्यन्तं तृणैराच्छादनं कृत्वा ततस्तान्प्रदी-पयेत्। आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्न्युत्पन्नज्वालया चितेरादीपनं यथा भवति तथा विधेयम्। पुत्रो वा भ्राता वाऽन्यो वा ब्राह्मण आहुतिं जुहुयात्। ब्राह्मण एव क्षत्रियवैश्ययोराहुतिं जुहुयात् न पुत्रो भ्राता वा। गार्हपत्ये आज्यसंस्कारः। अग्निहोत्रहवण्यां सकृद् गृहीत्वा आहवनीये समित्पूर्वकं जुहोति। तत्र मन्त्र—"अस्मात्त्वमधिजातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण होमः। ॐ इदमग्नये न ममेति त्यागः। असौ स्थाने प्रेतस्य प्रथमान्तं नामग्रहणम्। अस्य मन्त्रस्य स्त्रियामप्यूहः। ततोऽग्निहोत्रहवणीं मुखे प्रागग्रामासादयेत्। खादिरं स्रुवं सव्यनासिकायाम्। स्फ्ये दक्षिणहस्ते। आज्यस्थाल्या ऊर्वोरन्तर प्रक्षेपः, पात्रत्वाविशेषात्। मृन्मयी चेदप्सु प्रासनम्॥

अथ प्रसङ्गादावसथ्यसम्बन्धिपात्रप्रतिपत्तिरुच्यते। उक्तं च—

आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः।
अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनेतरे जनाः॥
अथ पुत्रादिराप्लुत्य कुर्याद्दारुचयं बहु।
भूप्रदेशे शुचौ युक्ते पश्चाच्चित्यादिलक्षणम्॥
तत्रोत्तानं निपात्यैनं दक्षिणाशिरसं मुखे।
हिरण्यं न्यस्य शिरसि प्रणीताचमसं तथा॥
शूर्पे तत्पार्श्वयोरेकश्चोद्विधा पूर्ववन्न्यसेत्।
श्रवणाकर्मसम्बन्धि द्वितीय पिण्डयज्ञियम्॥
अण्डयोररणी तद्वत्प्रोक्षणीपात्रमादितः।
पात्राणि चान्तरे ऊर्वोर्मृन्मयान्यम्भसि क्षिपेत्॥
अथाद्यंसजात्वको(?) दद्याद्दक्षिणतः शनैः।
पूर्ववज्जुहुयाद्वह्नौ समिद्वर्जं स्रुवेण सः॥
दक्षिणायां स्रुवं दद्यान्नसि स्फ्यं दक्षिणे करे।
समिधो वा ततो वह्नि शेषं स्यादाहिताग्निवत्॥

उखाधिश्रयणात्पूर्वोत्तरे पात्रप्रक्षेपान्तं सर्वमाहिताग्निवत्। केवलोपासनाग्निं चितौ मृतं दक्षिणाशिरसं निदध्यान्न प्राक्शिरसमिति विशेषः। इत्यावसथ्यसम्बन्धिपात्राणां प्रतिपत्तिः।

अथ सूतिकामरणे विशेषः। सूतिकायां मृतायां कुम्भे उदकं कृत्वा तत्र पञ्चगव्यं प्रक्षिप्य—"आपो हि ष्ठा" "इदमापः" इत्यादिपुण्यर्भिरभिमन्त्र्य ब्राह्मणानुज्ञया पञ्चदश प्राजापत्यान्कृत्वा तेन कुम्भोदकेन शतकृत्वस्तां स्नापयित्वा वस्त्रान्तरेण सर्वां वेष्टयित्वा दाहः कार्यः। रजस्वलामरणेऽप्येवम्। उदक्या सूतको वा यं स्पृशति तस्याप्येष एव विधिः। दाहे जाते किञ्चित्परिशेषणीयम्, "निःशेषस्तु न दग्धव्यः" इति वचनात्॥

अथ स्मार्तमुदककर्मोच्यते। नद्याद्युदकसमीपे गमनम्। समीपे स्थितं योनिसम्बन्धिशालकं वा 'उदकं करिष्यामहे' इति मन्त्रेणोदकं याचयेयुः सपिण्डादयः। यदि शतवर्षादर्वाक् प्रेतो भवेत् तदा 'कुरुध्वम्' इति वचनमित्युक्ते सप्तपुरुषसम्बन्धिनः सपिण्डाः दशपुरुषसम्बन्धिनः समानोदकाश्चैकग्रामनिवासे यावत्स्मृतं जलं प्रविशन्त्येकवस्त्राः अशिखाः प्राचीनावीतिनः सन्तः। ततः सव्यपाणेरनामिकयाङ्गुल्या जलम् 'अप नः शोशुचदघम्' इत्येतावता मन्त्रेणापनोद्य दक्षिणाभिमुखास्तूष्णीं निमज्जन्ति। कर्कादिभाष्यकाराणां मतेऽपनोदने मन्त्रः। देवयाज्ञिकादिमते निमज्जने। ततः प्रेतमुद्दिश्यैकैकमञ्जलिं सकृद्भूमौ प्रक्षिपन्ति। अमुकसगोत्रामुकशर्मन्प्रेत एतत्ते उदकमित्यनेन मन्त्रेण। तत उदकादुत्तीर्य शुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टान्सपिण्डादीनन्ये सुहृद इतिहासपुराणादिकथाभिः संसारस्यानित्यतां दर्शयन्तो वदेयुः। शाड्वलं हरिततृणमस्ति यस्मिन्निति शाड्वलवान् तस्मिन् शाड्वलवति भूमौ उपविष्टानित्यर्थः। रोदनं न कर्तव्यम्। तदुक्तम्—

> श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
> अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः॥ इति।

ततः पश्चादनवलोकयन्तः पङ्क्तिव्यवस्थानेन कनिष्ठानग्रतः कृत्वा ग्राममागच्छन्ति। गृहद्वारसमीपे आगत्य सर्वे त्रीणि त्रीणि निम्बपत्राणि दन्तैरवखण्ड्याचम्योदकमग्निं गोमये गौरसर्षपांस्तैलमित्येतानि प्रत्येकं स्पृष्ट्वा पादेन पाषाणमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति। ततः प्रभृति ब्रह्मचारिणोऽधःशायिनो न किञ्चन कर्म कुर्वन्ति न कारयन्ति। क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवा प्राश्नीयुः। अमांसं पिण्डं दत्त्वा ततो भोजनम्। भोजनकाले भोज्यादन्नाद्भक्तमुष्टिञ्च प्रेतोद्देशेन भूमौ निक्षिपेत्। अमुकसगोत्रामुकप्रेत भक्त-

मुष्टिरुपतिष्ठतामिति । यावत्प्रत्यहमेकैकमवयवपूरकं पिण्डं प्रेताय दद्यात् । तत्र विधिः—स्नानं कृत्वाऽहते आर्द्रे वाससी परिधाय पिण्डपितृयज्ञवत्तूष्णीं पिण्डदानम् । तूष्णीं प्राणायामः । आचमनम् । देशकालौ स्मृत्वाऽमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं क्षुत्तृषानिवृत्त्यर्थं शिरोनिष्पत्त्यर्थं च पिण्डदानं कुम्भभोजनदानमुदकदानं चाहं करिष्ये इति सङ्कल्पः । अवनेजनम्—अमुकसगोत्रामुकप्रेतावनेनिक्ष्वेति । दर्भास्तरणम् । पिण्डदानम्-अमुकसगोत्रामुक प्रेतैष ते शिरःपूरकपिण्डो मया दत्त इति । पूर्ववत्पुनरवनेजनम् । अनुलेपनपुष्पधूपदीपशीतलतोयकुम्भोर्णातन्तुदानं पिण्डं स्मृत्यन्तरोक्तमपि कुर्यात् । ततः पिण्डसमीपे भूमौ एकाञ्जलितोयदानम् । अमुकगोत्रामुकप्रेत एष ते तोयाञ्जलिरुपतिष्ठताम् । इदं योयपात्रं ते उपतिष्ठताम् । अमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्यानेन प्रेतत्वनिवृत्तिरस्तु । क्षुत्तृषानिवृत्तिरस्तु । शिरोनिष्पत्तिरस्तु । पिण्डमुदके प्रक्षिप्य स्नात्वा नवश्राद्धं कुर्यात् । ततस्तूष्णीं पूर्ववत्कर्म । युग्मा विप्राः ।तूष्णीं निमन्त्रणादि ।पादप्रक्षालनम् । आचमनम् । उपवेशनम् । तूष्णीं प्राणायामः । द्विराचमनम् । देशकालौ स्मृत्वाऽमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थमेकोद्दिष्टविधिना प्रथमदिवसनिमित्तं नवश्राद्धमहं करिष्ये । उपहारप्रोक्षणम् ।तिलदर्भविकिरणम्। आचमनम् । आमान्नसङ्कल्पः । इदमामान्नं ते उपतिष्ठतु । तिलविकिरणम् ।दक्षिणाग्रदर्भास्तरणम् ।अमुकसगोत्रामुकप्रेतैष ते पिण्ड इति पिण्डद्वयं दद्यात् । अवनेजनप्रत्यवनेजने न स्तः ।प्रत्येकं गोत्रोच्चारणादि सूत्रदानम् । न पूजनम् । आचमनम् । आमान्नसंकल्पः । अक्षय्योदकदानम् । अमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य दत्तमुपतिष्ठताम् । दक्षिणादानम् । पिण्डोद्धरणम् । कृतस्य नवश्राद्धविधेर्यन्न्यूनं यदतिरिक्तं तत्सर्वमित्यादि । पिण्डयोरुदके प्रक्षेपः ।एत एव पदार्था अत्र भवन्ति नान्ये । पूर्वंन्नवश्राद्धं वा पश्चात्पिण्डदानम् । गर्ते तैलकल्कोष्णोदकानां प्रेतोद्देशेन प्रक्षेपः ।अमुकसगोत्रामुकप्रेतात्र जलेन स्नाहीत्यादि । अथ यस्मिन्नहोरात्रे स मृतो भवति [1]तस्मिन्नेकस्मिन्मृन्मये पात्रे उदकं द्वितीये क्षीरं कृत्वा यष्टयादिकमवलम्ब्याकाशे धारयेत् । अमुकसगोत्रामुकप्रेतात्र स्नाहि पिबेदमिति मन्त्रेण । इति प्रथमदिनकृत्यम् ॥

अथ द्वितीयदिने प्रेतस्य कर्णाक्षिनासिकानिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम् । कुम्भभोजनदानम् । द्वावञ्जली द्वे तोयपात्रे । त्रय उदकाञ्जलय एव वा देया न पात्रे । इति द्वितीयदिनकृत्यम् ॥

तृतीये गलांसभुजवक्षोनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम् । त्रयोऽञ्जलयः । त्रीणि

१. 'भवति (तस्य वा) तस्मिन्' ख० ।

तोयपात्राणि ॥ अथ वा पञ्चोदकाञ्जलय एव । प्रथमदिवसवन्नवश्राद्धम् । इति तृतीयदिनकृत्यम् ॥

अथ चतुर्थेऽहनि सञ्चयननिमित्तमेकोद्दिष्टश्राद्धम् । तच्च प्रथमदिनवत् । अत्रैक एव पिण्डः । श्मशानवासिदेवतानां बलिहरणम् । पुष्पधूपदीपनैवेद्यानि संभृत्य "ॐक्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो नमः" इति मन्त्रेणार्घादिना पूजां कुर्यात् । ततः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो बलिदानम् । तत्र मन्त्रः—

देवा येऽस्मिम् श्मशाने स्युर्भगवन्तः सनातनाः ।
तेऽस्मत्सकाशाद् गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्षयम् ॥
प्रेतस्यास्य शुभांल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान् ।
अस्माकमायुरारोग्यं सुखञ्च श्रियमुत्तमाम् ॥ इति ।

एवं बलिं दत्त्वा विसर्जयेत् । पलाशवृन्तेनास्थीनि प्रकटानि कृत्वा अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामादाय पलाशपुटे प्रासनम् । तत्र शमीशैवालकर्दमानां च प्रासनम् । ततो घृतेनाभ्यज्य सर्वसुरभिमिश्चन्दनागुरुकर्पूरकेसरकस्तूरिकाभिर्मिश्रणम् । दक्षिणपूर्वायतां कर्षूं खात्वा तत्र कुशास्तरणम् । हरिद्रालापितवस्त्रखण्डमास्तृत्य तस्मिन्वस्त्र—"वाङ्निवपामि" इत्यनेन मन्त्रेणास्थिप्रक्षेपः "ॐ आ त्वा मनसानार्तेन वाचा ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया पृथिव्यामक्षिकायामपाᳩरसे निवपाम्यसौ" इत्यनेन मन्त्रेण वा । असौस्थाने प्रेतनामोद्देशः । पितृमेधं चिकीर्षतः कुम्भे अस्थिसञ्चयनं कर्तव्यम् । अस्मिन्पक्षे कुशास्तरणं हरिद्रालापितवस्त्रास्तरणं कुम्भे एव कर्तव्यम्, अस्थिसंस्कारत्वात् । क्वचिद्भूप्रदेशे कुम्भनिधानं तूष्णीम् । कुम्भमध्येऽस्थिप्रक्षेप मन्त्रो भवत्येव । इत्यस्थिसञ्चयनम् ॥

चिताभूमिङ्गोमयेनोपलिप्य तत्र तेनैव पूर्वोक्तबलिमन्त्रेण बलिं दद्यात् । ततश्चतुर्थदिवससम्बन्धिपिण्डदानम् । नाभिलिङ्गगुदनिष्पत्त्यर्थं कुम्भभोजनदानम् । जलाञ्जलयश्चत्वारः चत्वारि जलपात्राणि च । अथ वा सप्ताञ्जलय एव । इति चतुर्थदिनकृत्यम् ॥

पञ्चमेऽहनि जानुजङ्घापादनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम् । कुम्भो जलपूरितः, पञ्च जलाञ्जलयः पञ्च पात्राणि च । नवाञ्जलय एव वा । ततो नवश्राद्धं प्रथमदिनवत् । इति पञ्चमदिनकृत्यम् ॥

षष्ठे सर्वमर्मनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम् । कुम्भदानम्, षट् जलाञ्जलयः, षट् तोयपात्राणि । अथ एकादशाञ्जलय एव वा । इति षष्ठदिनकृत्यम् ॥

सप्तमेऽहनि नाडिकानिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम् । कुम्भभोजनदानम्

सप्ताञ्जलयः, सप्त पात्राणि। त्रयोदशाञ्जलय एव वा। प्रथमदिनवन्नव-श्राद्धम्। इति सप्तमदिनकृत्यम्॥

अष्टमेऽहनि लोमदन्तनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। अष्टाञ्जलयः, अष्टौ पात्राणि। पञ्चदशाञ्जलय एव वा। इत्यष्टमदिन-कृत्यम्॥

नवमेऽहनि वीर्यनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। नवाञ्ज-लयो, नवपात्राणि। सप्तदशाञ्जलयः एव वा। ततो नवश्राद्धं प्रथमदिन-वत्। इति नवमदिनकृत्यम्॥

दशमेऽहनि शरीरपूरणार्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। दशाञ्ज-लयो, दशपात्राणि। एकोनविंशतिर्जलाञ्जलयो वा। अथ वा दशाहमध्ये प्रत्यहं दशाञ्जलय एव देयाः, न पात्राणि। अत्र पिण्डत्रयदानम्। एकं तत्सखिभ्यो, द्वितीयं प्रेताय, तृतीयं यमाय। तत्र देशकालौ स्मृत्वा प्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं पिण्डदानमहङ्करिष्ये। [1]प्रेतसखायः। अवनेनिग्ध्वम्। गोत्र! प्रेत! अवनेनिक्ष्व। यम! अवनेनिक्ष्व। दर्भास्तरणम्। अवनेजन-क्रमेण पिण्डदानं प्रत्यवनेजनञ्च। पिण्डानामुदके प्रक्षेपः। ततः सूतक-निवृत्त्यर्थं सर्वे केशश्मश्रुवपनं कारयेयुः नखलोमनिकृन्तनञ्च। ततः सर्वेषां सचेलस्नानम्। इति दशाहसम्बन्धि कर्म समाप्तम्।

दशाहमध्ये दर्शपाते दर्शदिन एव सर्वं दशाहिकं कर्म समापनीयम्, न त्रिरात्रादर्वागिति केचित्। पित्रोस्तु यावदाशौचं दशाहे एवेति मदनपारि-जातकारः। अन्येषां तु मातृपितृव्यतिरिक्तानां प्रथमदिनप्रभृतिदर्शपाते सर्वं समापनीयमेव। एतच्च प्रेतनिर्हरणादिकं यतिव्यतिरिक्तानां प्रथम-त्रयाणामाश्रमाणां कुर्यात्। तथा च स्मृतिः—

त्रयाणामाश्रमाणाञ्च कुर्याद्दाहादिकाः क्रियाः।
यतेः किञ्चिन्न कर्तव्यं न चान्येषाङ्करोति सः॥ इति।

तथा—

एकोद्दिष्टं जलं पिण्डमाशौचं प्रेतसत्क्रियाम्।
न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे॥
अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते॥ इति।

ब्रह्मचारी त्वाचार्योपाध्यायमातृपितृव्यतिरिक्तानां निर्हरणादिकं न कुर्यात्। यथाह याज्ञवल्क्यः—

---

१. 'प्रेतसखिभ्यः' ग०।

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं दत्त्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।। इति ।
आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती ।
सूतकान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ।। इति ।

यदि च मोहात्करोति तदा ब्रह्मचर्यव्रतात्प्रच्यवते । पुनरुपनयनेन शुद्ध्यतीति । सपिण्डीकरणान्तानि श्राद्धानि लौकिकाग्निना कार्याणि । तदुक्तम्—

सपिण्डीकरणान्तानि प्रेतश्राद्धानि यानि वै ।
तानि स्युर्लौकिके वह्नावित्याह चाश्वलायनः ।।

अथैकादशाहविधिः

तत्र साग्नेर्दाहदिनादारभ्यैकादशाहे, निरग्निकस्य तु मरणदिनादारभ्यैकादशाहे कर्ता विधिवत्स्नात्वा षोडशोपचारैर्विष्णोः पूजनं तर्पणं च कुर्यात् । तत्र समन्त्रकप्राणायामत्रयं विधाय देशकालौ सङ्कीर्त्यामुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं श्रीविष्णोः षोडशभिरुपचारैः पूजनपूर्वकं तर्पणमहङ्करिष्ये । तत्र सर्वौषधितुलसीदुग्धमिश्रमञ्जलिं कृत्वा दक्षिणाभिमुखो यज्ञोपवीती ऋजुदर्भैर्देवतीर्थेन हस्तेनैव तर्पणं कुर्यान्न शङ्खेन । "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इति षोडशभिः प्रत्यृचं तर्पणम् ।

अनादिनिधनो देवः शङ्खचक्रगदाधरः ।
अक्षय्य पुण्डरीकाक्ष प्रेतमोक्षप्रदो भव ।।

पापहा महाविष्णुस्तृप्यतु । गोविन्दस्तृप्यतु । नारायणस्तृ० । युञ्जते मनः० इदं विष्णुः इरावती० देवश्रुतौ देवेषु० विष्णोर्नु कं० दिवोवा० प्रतत्० विष्णोरराटम्० इत्यष्टौ । अदित्यै० । दिवि विष्णुः० । अग्नेस्तनूः० रक्षोहणं० । रक्षोहणोवो० । अत्यन्याम्० । विष्णोः कर्माणि० । तद्विष्णोः । वाचस्पतये० । उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा० । विष्णोः क्रमोसि० । तद्विप्रासः० । त्रीणि पदा० । अनेन विष्णुतर्पणेन प्रेतत्वनिवृत्तिरस्तु । इति पुराणोक्तं विष्णुतर्पणम् ।।

अथ वृषोत्सर्गः

तत्र देशकालौ स्मृत्वा प्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थमेकादशाहश्राद्धादिकर्तृयोग्यताप्राप्त्यर्थं च वृषोत्सर्गङ्करिष्ये इति सङ्कल्पः । ततो वस्त्रचन्दनपुष्पताम्बूलादिना होतृब्रह्माणौ वृणुयात् । कर्कमते तुब्रह्मवरणमात्रम्, होमस्य स्वकर्तृकत्वात् । अस्माकं तु पुराणे दृष्टत्वादुभयवरणमत्र । ततः स्वयं पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा आवसथ्याग्नेः स्थापनम् । ततोऽष्टानां कलशानां स्थापनम् । ततः प्रतिष्ठा । इमे कलशाः सुप्रतिष्ठिता भवन्तु ।

होतृब्रह्मप्रणीतानामासनदानम् । ब्रह्मोपवेशनम् । प्रणीतापात्रमध्ये पिष्टादिना व्यवधानं कृत्वा मूलदेशे पय इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयनमग्नेरुत्तरतो निधानं परिस्तरणमग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा पात्रासादनम् । तद्यथा—पवित्रच्छेदनानि । पवित्रे द्वे । प्रोक्षणीपात्रम् । आज्यस्थाली । सम्मार्गकुशाः । उपयमनकुशाः । समिधस्तिस्रः । स्रुवः । आज्यम् । तण्डुलाः । पौष्णश्चरुः पिष्टमयः । तस्य च श्रपणानुपदेशात्सिद्ध एवोपादीयते । होतुर्वस्त्रयुग्मं सुवर्णकांस्यादिदक्षिणा च । ब्रह्मणः पूर्णपात्रं वरो वा दक्षिणा । इति पात्रासादनम् । चरुस्थालीमेक्षणयोरुपकल्पनम् । पवित्रकरणम् । प्रोक्षणी संस्कारः । ततो यथाऽऽसादितानां पात्राणां प्रोक्षणम् । असञ्चरे प्रोक्षणीनान्निधानम् । आज्यस्थाल्यामाज्यनिर्वापः । चरुस्थाल्यां प्रणीतोदकं पय आसिच्य सपवित्रायां तण्डुलावापः । ब्रह्मण आज्याधिश्रयणम् । स्वयमेव चरोरधिश्रयणम् । उभयोः पर्यग्निकरणम् । स्रुवप्रतपनम् । स्रुवं संमृज्य पुनः प्रतपनम् । प्रणीतोदकेनाभ्युक्ष्य देशे निधानम् । आज्योद्वासनम् । उत्पूयावेक्षणम् । प्रोक्षण्युत्पवनम् । उपयमनकुशादानम् । समिधोऽभ्याधानम् । प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणम् । ततः "इह रतिः" इति षडाहुतीर्जुहुयात् । ॐ इह रतिः स्वाहा, ॐ इह रमध्वर्ठ् स्वाहा, ॐ इह धृतिः स्वाहा, ॐ इह स्वधृतिः स्वाहा । एतेषाम् 'इदं पशुभ्यः' इति त्यागः, "इह रतिः पशुदेवत्यः" इति सर्वानुक्रमण्यामुक्तत्वात् । ॐ उपसृजन्धरुणम्मात्रे धरुणो मातरं धयन्स्वाहा, इदमग्नये । ॐ रायस्पोषमस्मासुदीधरत् स्वाहा, इदमग्नये । तत आघारावाज्यभागौ । ॐ प्रजापतये स्वाहा । ॐ इन्द्राय स्वाहा । ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ सोमाय स्वाहा । ततः पायसचरोर्होमः । ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ रुद्राय स्वाहा । ॐ शर्वाय स्वाहा । ॐ पशुपतये स्वाहा । ॐ उग्राय स्वाहा । ॐ अशनये स्वाहा । ॐ भवाय स्वाहा । ॐ महादेवाय स्वाहा । ॐ ईशानाय स्वाहा । यथादैवतं त्यागाः । ततः पिष्टचरुहोमः । ॐ पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजान्सनोतु नः स्वाहा । इत्येकामाहुतिं जुहुयात्, इदं पूष्णे० । ततः पायसपिष्टचरुभ्यां स्विष्टकृत् । ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते० ततो भूराद्या नवाहुतयः । ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, ॐ त्वन्नो अग्ने०, ॐ सत्वन्नो अग्न०, ॐ अयाश्चाग्ने०, ॐ ये ते शतं०, ॐ उदुत्तमम्०, ॐ भवतन्न० । ॐ प्रजापतये स्वाहा । संस्रवप्राशनम् । आ० पवित्राभ्यां मार्जनम् । अग्नौ पवित्रप्रतिपत्तिः ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरस्य दक्षिणात्वेन दानम् । प्रणीताविमोकः । ततोऽश्वत्थपत्रयुक्तकलशे रुद्रमावाह्य गन्धमाल्यादिभिः सम्पूज्य हस्तेन कलशं स्पृशन् रुद्राध्यायं

जपेत्। ततः पुरुषसूक्तम्। कूष्माण्डीसंज्ञकम्। "यद्देवा देवहेडनम्" इति तिस्र ऋचः। षडङ्गरुद्रजपो वा, गरुडपुराणवचनात्। ततो वृषवत्सतरीणां लापनम्, अलङ्कारणम्, चक्रत्रिशूलकरणम्, अङ्कनम्। वृषस्य कर्णे जपः—

वृषो हि भगवान्धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणे हि तमहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वतः॥

ततो गृहीतपुष्पाञ्जलिर्वृषं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कुर्यात्। ततो वृषवत्सतरीणां वस्त्रेण संश्लेषः—

अयं हितो मया दत्तः सर्वासां पतिरुत्तमः।
तुभ्यं चैता मया दत्ता पत्न्यः सर्वा मनोरमाः॥

ततश्चतुःकृत्वोऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य वत्सतरीणामग्निप्रदक्षिणाश्चतस्रः कारयित्वा पुच्छे पुरुषसूक्तेन प्रेतनाम्ना च तर्पणं कार्यम्। तत उत्सर्गः— अद्येत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा एतं वृषं रुद्रदैवतं यथाशक्त्यालङ्कृतं गन्धाद्यर्चितमेवंविधवत्सतरीसहितममुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वमुक्तयेऽहमुत्सृजामि।

"एतं युवानं पतिं वा ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण।

सा नः साप्तजनुषा सुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेम" इति सव्येन पाणिना वृषपुच्छं गृहीत्वा दक्षिणेन कुशतिलसहिता अप आदाय अमुकगोत्रायामुकप्रेताय एष एवं मया दत्तः सन्तारयितु सर्वदा इत्युच्चार्य तिलहिरण्यसहितमुदकं भूमौ निक्षिपेत्। ततो वत्सतरीमध्यास्थितस्य वृषस्य "मयोभूरभिमा वाहि स्वाहा" इत्यादि "स्वर्ण सूर्यः स्वाहा" इत्यन्तेनानुवाकशेषेणाभिमन्त्रणम्। ततो दक्षिणस्कन्धेन वृषप्रेरणम्— 'यथेष्टपथं पर्यट' इति। ततः शक्त्यनुसारेण पायसेन ब्राह्मणानां भोजनम्। सहिरण्यस्य रुद्रकुम्भस्य धनोश्च होत्रे प्रदानम्। इति वृषोत्सर्गः॥

ततस्तन्त्रेण चत्वारि श्राद्धानि। आद्यन्नवश्राद्धं प्रथमदिनवत्। तदुक्तं गरुडपुराणे स्मृतौ च—

प्रथमेऽह्नि तृतीये वा पञ्चमे सप्तमेऽपि वा।
नवमैकादशे चैव नवश्राद्धानि कारयेत्॥ इति।

पूर्वदिवसमारभ्य न कृतञ्चेदेकादशेऽह्नि कुर्यात्। नवश्राद्धानामन्त्यमासिकानामाद्यं स्वतन्त्रमेकोद्दिष्टमेवेति। तत्र स्वतन्त्रैकोद्दिष्टे क्रियमाणे देशकालकर्त्रैक्यात्तन्त्रेणानुष्ठानसिद्धिः पृथगनुष्ठानपक्षे त्वादौ स्वतन्त्रैकोद्दिष्टं ततो नवश्राद्धं ततो मासिकमिति स्मृत्यर्थसारे। तत्रैकादशाहे

आद्यमासिकश्राद्धे एकादशब्राह्मणानामामन्त्रणम्। पूर्वेद्युः स्नात्वा विप्रेषु प्रेतनियोजनम्—

गतोऽसि दिव्यलोके त्वं कृतान्तविहितात्पथः।
मनसा वायुभूतेन विप्रे त्वाऽहन्नियोजये॥
पूजयिष्यामि भोगेन एवं विप्रे निवेदयेत्॥

अस्तमिते विप्रनिवेशनम्। पाद्यं दत्त्वा नमस्कृत्य तैलेन पादौ प्रक्षालयेत्। उदिते विप्रस्य केशश्मश्रुनखच्छेदं कारयित्वा स्नानाभ्यञ्जनं च दद्यात्। ततो भूमिभागग्रहणम्। महास्थण्डिलस्य करणम्। नद्यादौ सचैल स्नात्वा तीर्थानि मनसा ध्यात्वा आत्मनोऽभ्युक्षणम्। एवं शुद्धिङ्कृत्वा ब्राह्मणानामावाहनम्। आगतं दृष्ट्वा स्वागतकरणम्। अर्घ्यपाद्यदानम्। आसनोपकल्पनम्। आसने उपवेशनम्। छत्रोपानहदानम्। तिलोपचारकरणम्।

नामगोत्रमुदाहृत्य प्रेताय तदनन्तरम्।
शीघ्रमावाहयेद्विप्रे दर्भहस्तोऽथ भूतले॥

तत्र मन्त्रः—

इह लोकं परित्यज्य गतेऽसि परमाङ्गतिम्।
मनसा वायुरूपेण विप्रे त्वां योजयाम्यहम्॥
एवमावाह्य ते गन्धपुष्पधूपैः समर्चयेत्॥

ततो वस्त्राभरणदानम्। पक्वान्नदानम्। अष्टादशपदार्थवर्जितं सकलं श्राद्धम्। वासोहिरण्यदास्युपानच्छत्रोदकुम्भानां गुणवते ब्राह्मणाय दानम्। ततः स्नानम्। तत एकादशभिर्ब्राह्मणै रुद्रश्राद्धम्। ततः स्नानम्। विष्णुपूजनम्। प्रेतोद्देशेन त्रयोदशकुम्भदानम्। त्रयोदशपददानम्। भाजनानि सतिलानि त्रयोदश देयानि। मुद्रिकावस्त्रयुग्मच्छत्रोपानहदानम्। अश्वरथगजमाहषीशय्यादानम्। गोभूतिलहिरण्यादिदानम्। ताम्बूलपूगदानम्। एकादशाहादारभ्याब्दं यावत्सान्नघटदानम्। देवालये पाषाणे वा उपदानदानम्। ऋणधेनुदानम्। ततो वैश्वदेवः॥

॥ इति क्रियापद्धतिः॥ ४॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये एकोद्दिष्टप्रकरणम्।
इति चतुर्थी कण्डिका॥ ४॥

अथ पञ्चमकण्डिका

ततः संवत्सरे पूर्णे त्रिपक्षे द्वादशाहे वा यदहर्वा वृद्धिरापद्येत चत्वारि पात्राणि सतिलगन्धोदकानि पूरयित्वा त्रीणि पितृणामेकं प्रेतस्य ॥ १ ॥

इसके बाद (इसी एकोद्दिष्ट की विधि से दशगात्र, मासिक आदि सब श्राद्धों को करना चाहिए । मासिक आदि सोलहो श्राद्धों के बाद मरण अथवा दहन से) साल पूरा होने पर (सपिण्ड श्राद्ध करना चाहिए । अथवा मासिक आदि श्राद्धों को) तीन ही पक्ष में (समाप्त कर सपिण्डन करे । यदि पुत्र अग्निहोत्री हो तो) १२ दिन के मध्य में (मासिक आदि श्राद्धों को समाप्त कर सपिण्डन करे) । अथवा (एकादशाह के पश्चात् और वर्ष पूरा होने के प्रथम दिन दहनकर्त्ता को) पुत्र उत्पन्न हो जाय तो उसी दिन मासिक आदि श्राद्धों को समाप्त कर सपिण्डन श्राद्ध कर पश्चात् पुत्रोत्पन्न होने के उत्साह में नान्दी श्राद्ध करे । यही पूर्वोक्त सपिण्डन श्राद्ध के समय है ॥ (इस श्राद्ध की विधि वही है जो कण्डिका छः से आठ तक है । पर इसमें यह विशेष है कि यहाँ मातामह आदिकों का पक्ष न होगा । पिता, पितामह, प्रपितामह और एक प्रेत इस प्रकार चारों को यहाँ पिण्डदान किया जाएगा । यदि स्त्री प्रेता हो तो स्त्रियों के साथ ही सपिण्डन होगा । अतः पूर्वोक्त सब कार्यों के पश्चात्) पृथक् पृथक् चार अर्घ पात्रों में ("शन्नो देवी०" इस मन्त्र से) जल भरकर उसमें तिल चन्दन आदि छोड़े । ("या दिव्या०" इस मन्त्र से पिता, पितामह प्रपितामह) तीन पितरों को और एक प्रेत को (पार्वण में लिखी हुई विधि से अर्घ प्रदान करे) ॥ १ ॥

सपिण्डीकरणमाह—'तत ' ' 'प्रेतस्य' । संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं कार्यम् । अथवा त्रिपक्षे द्वादशाहे वा वृद्धिप्राप्तौ वा कुर्यात् इति चत्वारः पक्षा दर्शिताः । तत्रेयं व्यवस्था—द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणमग्निमता सपिण्डीकरणं विना पिण्डपितृयज्ञस्यासिद्धेः;—

> साग्निकस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमान्भवेत् ।
> द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥

इति वचनात् । निरग्निकस्तु त्रिपक्षे वृद्धिप्राप्तौ संवत्सरे वा कुर्यात् । यदा प्राक्संवत्सरात्सपिण्डीकरणं तदा षोडशश्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरण-

कार्यं, उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकालं तानीति संशयः, उभयथा वचन-दर्शनात् ।

श्राद्धानि षोडशादत्त्वा नतु कुर्यात्सपिण्डनम् ।
श्राद्धानि षोडशापाद्य विदधीत सपिण्डनम् ।। इति ।

षोडश श्राद्धानि च—

द्वादशाहे त्रिपक्षे च षण्मासे मासि चाब्दिके ।
श्राद्धानि षोडशैतानि संस्मृतानि मनीषिभिः ।।

इति दर्शितानि । तथा—

यस्यापि वत्सरादर्वाक् सपिण्डीकरणं भवेत् ।
मासिकश्चोदकुम्भश्च देयं तस्यापि वत्सरम् ।। इति ।

तत्र सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाले तानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः, अप्राप्तकालत्वेन प्रागनधिकारात् । यदपि वचनं षोडशश्राद्धानि कृत्वैव सपिण्डीकरणं संवत्सरात्प्रागपि कर्तव्यमिति सोऽयमापत्कल्पः । यदा त्वापत्कल्पेन प्राक् स चेत्सपिण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति तदैकोद्दिष्ट-विधानेन कुर्यात् । यदा तु मुख्यकल्पेन स्वकाल एव तानि करोति तदा-ऽऽब्दिकं यो यथा करोति पार्वणमेकोद्दिष्टं वा तथा मासिकानि कुर्यात्,

सपिण्डीकरणादर्वाक् कुर्वञ्छ्राद्धानि षोडश ।
एकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ।।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः ।
प्रत्यब्दं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि ।।

इति स्मरणात् । चत्वारि पात्राणि पूरयित्वेति चतुर्ग्रहणात्त्रिभ्यः प्रेतस्य पितृपितामहप्रपितामहेभ्य एव दानम् । नच षड्भ्योऽपि । तत्र च त्रीणि पात्राणि पितृणाम् एकं प्रेतस्य भवति ।। १ ।।

प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चति—ये समाना इति द्वाभ्याम् ।। २ ।।

प्रेत के अर्घ को पिता पितामह और प्रपितामह के अर्घ में ''ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषाँल्लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ।। ये समानः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः । तेषा ३ँ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳪं समाः ।। इन दोनों मन्त्रों से छोड़ें ।। २ ।।

'प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चति ये समाना इति द्वाभ्याम्' । प्रेतसम्बन्धि पात्रं गृहीत्वा पितृपितामहप्रपितामहपात्रेषु ''ये समानाः'' इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामासिञ्चति प्रत्यासेकं मन्त्रौ भवतः । आसेकप्रकारो ब्रह्मपुराणे—

चतुर्थ्यश्चार्घपात्रेभ्य एकं वामेन पाणिना ।
गृहीत्वा दक्षिणेनैव पाणिना सतिलोदकम् ॥
संसृजेच्च तथाऽन्येषु ये समाना इति स्मरन् ।
प्रेतं प्रेतस्य हस्तेषु चतुर्भागजलं क्षिपेत् ॥
ततः पितामहादेस्तु तन्मन्त्रैश्च पृथक् पृथक् ॥ इति ।

वाजसनेयिभिस्तु पूर्वं पितृभ्यो देयं पश्चात्प्रेताय दानम् ॥ २ ॥

एतेनैव पिण्डो व्याख्यातः ॥ ३ ॥

इसी से सपिण्डन श्राद्ध की व्याख्या हो जाती है। अर्थात् इसी परिशिष्ट की कण्डिका आठ सूत्र ३ से दस तक लिखे हुए कार्यों को समाप्त करे। प्रेत के पिण्ड का तीन टुकड़े कर पितरों के पिण्डों में "ये समानाः०" इन्हीं दोनों मन्त्रों से मिला देवे) ॥ ३ ॥

'एतेनैव पिण्डो व्याख्यातः'। यथा प्रेतार्घपात्रस्थं जलं "ये समानाः" इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां पात्रत्रये स्थापितम्, एवमेव प्रेतपिण्डमपि त्रेधा कृत्वा पिण्डत्रितये निदध्यादित्यर्थः। तत्प्रकारश्च ब्रह्मपुराणे—

दत्त्वा पिण्डमथाष्टाङ्गं ध्यात्वा तञ्च सुभास्वरम् ।
सुवर्णरौप्यदर्भैस्तु तस्मिन्पिण्डं ततस्त्रिधा ॥
कृत्वा पितामहादिभ्यः पितृभ्यः प्रेतमर्पयेत् ॥

तथा—

सुवर्तुलांस्ततस्तांस्तु पिण्डान्कृत्वा प्रपूजयेत् ।
अर्घैः पुष्पैस्तथा धूपैर्दीपैर्माल्यानुलेपनैः ॥ इति ।

एतच्च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तधनेषु बहुषु भ्रातृषु सत्स्वपि एकेनैव कृतेनालं, न सर्वैः कर्तव्यम् ।

नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश ।
एकेनैव तु कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि ॥

इति स्मरणात् । मातुः पिण्डदानादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः। भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा देयम्, उभयथा वचनदर्शनात् । मातुः सपिण्डीकरणे विरुद्धानि वाक्यानि दृश्यन्ते । तत्रापि पितामह्यादिभिः सह सपिण्डीकरणं स्मृतमिति। तथा भर्त्राऽपि भार्यायाः स्वमात्रादिभिः सह सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति । पैठीनसिराह—

अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्सपिण्डताम् ।
श्वश्र्वादिभिः सहैवास्याः सपिण्डीकरणं भवेत् ॥इति ।

पत्या सह सपिण्डीकरणं यम आह—

पत्या चैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः ।
सा मृताऽपि हि तेनैक्यं गता मन्त्राहुतिव्रतैः ॥ इति ।

उशनसा तु मातामहेन सह सपिण्डीकरणमुक्तम्—
पितुः पितामहे यद्वत्पूर्णे संवत्सरे सुतैः ।
मातुर्मातामहे तद्वदेषा कार्या सपिण्डता ॥ इति ।

एवंविधेषु वचनेषु सत्सु अपुत्रायां भार्यायां प्रमीतायां भर्ता स्वमात्रैव सापिण्ड्यं कुर्यात् । अत्राचारादनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

अत ऊर्ध्वं संवत्सरे संवत्सरे प्रेतायान्नं दद्यात् यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात् ॥ ४–५ ॥

इति कातीयश्राद्धसूत्रे पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

(कण्डिका ८ के सूत्र ११ से १७ तक लिखे कार्य को समाप्त करे) इस (सपिण्डन श्राद्ध) के पश्चात् उस प्रेत प्राणी को पितरों के साथ पार्वण विधि से पिण्ड प्रदान करे । पर प्रतिवर्ष में जिस मास की जिस तिथि में व्यक्ति मरा हो, उस तिथि में (एकोद्दिष्ट विधि से उसका) श्राद्ध किया करे ॥ ४ ॥

॥ इस प्रकार कात्यायन श्राद्धकल्प सूत्र में पाँचवी कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

'अत ऊर्ध्वं···प्रेतायान्नं दद्याद्यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात्' । अतः सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वंप्रेतायान्नं दद्याद्यस्मिन्नहनि यस्यान्तिथौ प्रेतः स्यादित्यर्थः । यद्यप्यत्र प्रेतायत्येकवचननिर्देशस्तथाऽपि स्मृत्यन्तरात्त्रिभ्यो देयम् । मासश्चात्र चान्द्रो ग्राह्यः ।

यथा परमेष्ठी—

आब्दिके पितृकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते ।
विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनः स्मृतः ॥ इति ॥४॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

अथ प्रयोगः—द्वादशाहे विधिवत्स्नात्वा विष्णुं सम्पूज्य ऊनमासिकमेकोद्दिष्टं कुर्यात् । ततः स्नानम् । प्रेतोद्देशेन सान्नानं सजलानां द्वादशघटानां दानम् । एका वर्द्धनी पक्वान्नजलपूरिता विष्णवे देया । एको धर्मराजाय घटो देयः, एकश्चित्रगुप्ताय । ततो मासिकानि चतुर्दश श्राद्धान्येकतन्त्रेण । तत्र क्रमः । द्वितीयमासे, त्रिपक्षे, तृतीयमासे, चतुर्थमासे पञ्चममासे, षष्ठे, ऊनषष्ठे, सप्तमे, अष्टमे, नवमे, दशमे,-एकादशे, द्वादशे, ऊनाब्दे चेति प्रेतैकोद्दिष्टवत्कार्याणि । ततः स्नात्वा सपिण्डीकरणं कुर्यात् । तत्र पूर्वं वैश्वदेवश्राद्धम् । देवपादप्रक्षालनम् । ततः पार्वणं प्रेतस्य पितृपितामहप्रपितामहानाम् । तदर्थं त्रयाणां पादप्रक्षालनम् । तत्र सर्वम्पार्वणे पार्वणवत्, एकोद्दिष्टे एकोद्दिष्टवत् । अत्राद्यमासे पक्षे तिथौ अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य वसुरुद्रादित्यलोकप्राप्त्यर्थं प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं च अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य अमुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणां वैश्वदेवपूर्वकं सैकोद्दिष्टं पार्वणविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धं युष्मदनुज्ञयाऽहङ्करिष्ये । आसनम् । आवाहनम् । विश्वेषां देवानां पितॄणां प्रेतस्य चार्घपात्राणि पूरयित्वाऽभ्यर्च्य विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्घं दत्त्वा ततः प्रेताय जलम्, प्रेतपात्रे जलचतुर्थभागेनार्घं दत्त्वाऽवशिष्टमर्घपात्रस्थितञ्जलं पित्रादिपात्रेषु विभज्य तृतीयांशन्निनयेत् । तत्र प्रेतपात्रं पितृपात्रेषु संयोजयिष्ये इति पृष्ट्वा 'संयोजय' इत्यनुज्ञातोऽर्घं संयोजयेत् । एवं पिण्डयोजनेऽप्यनुज्ञाप्रार्थनम् । तत्रेदं "ये समानाः" इति मन्त्रद्वयं पठित्वा अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्यार्घः अमुकगोत्रस्य प्रेतस्य पितुरमुकशर्मणोऽर्घेण सह संयुज्यताम्, वसुलोकप्राप्तिरस्त्विति वदेत् । एवं पितामहपात्रे प्रपितामहपात्रे च । ततस्तेभ्योऽर्घं दद्यात् । पार्वणे नियमेन विकिरः । पिण्डदाने पूर्वम्पार्वणसम्बन्धिनः पिण्डान्निरूप्य पश्चात्प्रेतपिण्डं त्रेधा विभज्य तत आद्यं भागमादाय "ये समानाः" इति मन्त्रद्वयं पठित्वा अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य पिण्डः अमुकगोत्रस्य प्रेतस्य पितुरमुकशर्मणः पिण्डेन सह संयुज्यतामित्युक्त्वा प्रथमं पिण्डं संयोज्य प्रथमं पिण्डं वर्तुलं

कुर्यात् । ततो वसुलोकप्राप्तिरस्त्विति वदेत् । एवमितराभ्यां पिण्डाभ्यां संयोजनम् । अनन्तरं रुद्रलोकप्राप्तिरस्तु, आदित्यलोकप्राप्तिरस्तु इति यथाक्रमं वदेत् । अत ऊर्ध्वम्—"अत्र पितरः" इति जपादि । पूजनानन्तरं पिण्डानभिमृश्येदं वदेत्—

एष वोऽनुगतः प्रेतः पितरस्तं दधामि वः ।
शिवमस्त्विति शेषाणां जायतां चिरजीवितम् ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहा सती ॥

अत ऊर्ध्वं प्रेतशब्दो नोच्चार्योऽक्षय्यादिषु । श्राद्धं समाप्य मोक्षधेनु-सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये सपिण्डीकरणप्रयोगः ॥

॥ इति पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

अथ षष्ठकण्डिका

आभ्युदयिके प्रदक्षिणमुपचारः ॥ १ ॥ पूर्वाह्णे ॥ २ ॥

(पुत्र जन्म अथवा विवाह आदि पारिवारिक अभ्युदय के समय जो श्राद्ध करते हैं उसे 'आभ्युदयिक श्राद्ध' या 'वृद्धि श्राद्ध' अथवा 'नान्दी श्राद्ध' कहते हैं ।) इस आभ्युदयिक श्राद्ध में प्रदक्षिण (अर्थात् यज्ञोपवीती के द्वारा प्राक्संस्थ, उदक्संस्थ अथवा प्राङ्मुख) होकर कार्य करना चाहिए ॥ १ ॥

(यह आभ्युदयिक श्राद्ध) पूर्वाह्ण में करना चाहिए (अपराह्ण में नहीं करे और पुत्र जन्म में तो तत्काल ही वृद्धि श्राद्ध करे) ॥ २ ॥

वृद्धिश्राद्धमाह—'आभ्युदयिके प्रदक्षिणमुपचारः'। पुत्रजन्मविवाहादौ अभ्युदये यच्छ्राद्धं तदाभ्युदयिकशब्देनोच्यते। तत्र प्रदक्षिणमुपचारः। प्रदक्षिणग्रहणेन यज्ञोपवीतिना प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा प्राङ्मुखेन वा कार्यमिति लभ्यते। शातातपः—

अनिष्ट्वा पितृयज्ञेन वैदिकं किञ्चिदाचरेत्।
तत्रापि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥
अकृत्वा मातृयागन्तु वैदिकं यः समाचरेत्।
तस्य क्रोधसमाविष्टा हिंसामिच्छन्ति मातरः ॥ इति।

मातृगणस्तु भविष्यपुराणे निरूपितः—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह ॥ इति।

विष्णुपुराणे—

कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनः।
शुभकर्मणि बालानां चूडाकर्मादिके तथा ॥
सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने।
नान्दीमुखान्पितृनादौ तर्पयेत्प्रयतो गृही ॥ इति।

जाबालिः—

यज्ञोद्वाहप्रतिष्ठासु मेखलाबन्धमोक्षयोः।
पुत्रजन्मवृषोत्सर्गे वृद्धिश्राद्धं समाचरेत् ॥

मातृश्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणां तदनन्तरम् ।
ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥ इति ।

वैदिककर्मसु प्रतिप्रयोगं श्राद्धावृत्तिप्रसक्तावाह कात्यायनः—

असकृद्यानि कर्माणि क्रियेरन्कर्मकारिभिः ।
प्रतिप्रयोगन्नैताः स्युर्मातरः श्राद्धमेव च ॥ इति ।

सत्यपि वैदिककर्मत्वेऽष्टकादिषु न श्राद्धं कर्तव्यमित्याह—

कात्यायनः—

नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते ।
न सोष्यन्तीजातकर्मप्रोषितागतकर्मसु ॥ १ ॥

'पूर्वाह्णे' । एतदाभ्युदयिकं पूर्वाह्णे भवति नापराह्णे । पुत्रजन्मादौ तु तत्काल एव ॥ २ ॥

पित्र्यमन्त्रवर्जं जपः ॥ ३ ॥ ऋजवो दर्भाः ॥ ४ ॥ यवैस्तिलार्थाः ॥ ५ ॥ सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः ॥ ६ ॥

('उदीरताम्' आदि तेरह) पित्र्यमन्त्रों को छोड़कर (आयन्तु नः आदि का) जप करना चाहिए । (अर्थात् भोजन में जो जप है उसका इस सूत्र के द्वारा निषेध किया गया है) ॥ ३ ॥

कुश सीधे रहें (पितृतर्पण के समय द्विगुण रहते हैं वैसा यहाँ रहे) ॥ ४ ॥

यहाँ (आभ्युदयिक श्राद्ध में) तिल के स्थान पर सभी कार्य जौ से ही करना चाहिए । (अर्थात् मन्त्र में भी 'यवोऽसि' आदि ऊह करके कार्य करे क्योंकि यही मुख्य द्रव्य का अभिधायक मन्त्र है) ॥ ५ ॥

('तृप्ताः स्थ') इस तृप्ति प्रश्न के स्थान पर 'सम्पन्नम्' यह प्रश्न किया जाता है । ('सुसम्पन्नम्' कहने पर ही शेष अन्न निवेदित करना चाहिए) ॥ ६ ॥

'पित्र्यमन्त्रवर्जञ्जपः' । अयञ्चाश्नत्सु यो जपः स निषिध्यते, न तु 'आयन्तु नः' इत्ययम् । "उदीरताम्" इति त्रयोदशर्चं पित्र्यमिति पित्र्यमन्त्रसंज्ञा तस्यैव श्रवणात् ॥ ३ ॥

'ऋजवो दर्भाः' । अत्र ऋजवो दर्भा भवन्ति न द्विगुणाः ॥ ४ ॥

'यवैस्तिलार्थाः' । अत्र तिलार्थाः सर्वे यवैः कार्याः । तदत्र मन्त्रेऽपि 'यवोऽसि'इत्यूहः कार्यः, मुख्यद्रव्याभिधायकत्वात् ॥ ५ ॥

'सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः' । तृप्ताः स्थेति पृच्छतीत्यत्र तृप्ताः स्थेत्यस्य स्थाने सम्पन्नमित्ययं प्रश्नो भवति । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—

सम्पन्नमिति तृप्ताःस्थप्रश्नस्थाने विधीयते।
सुसम्पन्नमिति प्रोक्ते शेषमन्नं निवेदयेत् ॥ इति ॥ ६ ॥

सुसम्पन्नमितीतरे ब्रूयुर्दधिबदराक्षतमिश्राः पिण्डाः ॥ ७ ॥

इतर जन 'सुसम्पन्नम्' यह कहें। (नान्दी श्राद्ध में) दही, बदरीफल (बेर) और अक्षतों से मिश्रित पिण्ड देना चाहिए ॥ ७ ॥

'सुसम्प···पिण्डाः'। दध्ना बदरीफलैरक्षतैश्च मिश्राः पिण्डा अत्र देयाः ॥ ७ ॥

नान्दीमुखान् पितॄनावाहयिष्य इति पृच्छति ॥ ८ ॥ आवाहयेत्यनुज्ञातो नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यक्षय्यस्थाने ॥ ९ ॥

('पितॄनावाहयिष्ये' के स्थान पर) 'नान्दीमुखान् पितॄनावाहयिष्ये' यह पूँछता है ॥ ८ ॥

'आवाहयेत्' इस प्रकार अनुज्ञावचन कहने पर 'नान्दीमुखः पितरः प्रीयन्ताम्' यह अक्षय्य स्थान पर प्रयोग होता है ॥ ९ ॥

'नान्दी···पृच्छति'। क्व ? 'पितॄनावाहयिष्ये' इत्यस्य स्थाने नान्दीमुखान्पितॄनावाहयिष्य इत्ययं प्रश्नो भवति ॥ ८ ॥

'आवा···स्थाने'। प्रयोगो भवतीति शेषः ॥ ९ ॥

नान्दीमुखान् पितॄन्वाचयिष्य इति पृच्छति ॥ १० ॥

('पितॄन् आवाहयिष्ये' के स्थान पर) 'नान्दीमुखान् पितॄन् वाचयिष्ये' पूँछता है ॥ १० ॥

'नान्दी··पृच्छति'। 'पितॄनावाहयिष्ये' इत्यस्य स्थाने इत्यर्थः ॥ १० ॥

वाच्यतामित्यनुज्ञातो नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहाः मातामहाः प्रमातामहाः वृद्धप्रमातामहाश्च प्रीयन्तामिति ॥ ११ ॥

'वाच्यताम्' (द्विजों द्वारा) इस अनुज्ञा वचन पर नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः···'प्रीयन्ताम्' तक पढ़ें ॥ ११ ॥

'वाच्यता···प्रीयन्तामिति'। द्विजैर्वाच्यतामित्यनुज्ञातो 'नान्दीमुखाः पितरः' इत्यादि 'प्रीयन्ताम्' इत्यन्तं पठेत् ॥ ११ ॥

न स्वधां प्रयुञ्जीत ॥ १२ ॥ युग्मानाशयेदत्र ॥ १३ ॥ ६ ॥

इति कातीयश्राद्धसूत्रे षष्ठी कण्डिका ॥६॥

(नान्दी श्राद्ध में) 'स्वधा' का उच्चारण न करे ॥ १२ ॥

इस (आभ्युदयिक श्राद्ध) में दो ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ १३ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र परिशिष्ट के कात्यायन श्राद्धकल्पसूत्र में षष्ठ कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

'न स्वधां प्रयुञ्जीत' । स्वधोच्चारणन्न कुर्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

'युग्मानाशयेदत्र' । अत्रास्मिन्नाभ्युदयिके युग्मान्ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥१३॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

अथ प्रयोगः । तत्र पूर्वं देशकालौ स्मृत्वा अमुकनिमित्तं मातृपूजापूर्वकं वसोर्द्धारापूर्वकं च नान्दीश्राद्धमहं करिष्य इति सङ्कल्पः । ततः क्षालितैः शुक्लतण्डुलैः पीठस्योपरि गौर्यादिषोडशमातृः स्थापयेत् तद्यथा—ॐ भूर्भुवः स्वः गणपतिं स्थापयामि । एवङ्गौरीं स्थापयामि, पद्मां, शचीं, मेधां, सावित्रीं, विजयां, जयां, देवसेनां, स्वधां, स्वाहां, मातृः, लोकमातृः, धृतिं, पुष्टिं, तुष्टिम्, आत्मनः कुलदेवतां स्थापयामि । तत आसां "मनोजूतिः" इति प्रतिष्ठापनं च । ततः पूजा—गणपतिसहितषोडशमातृभ्यो नमः गन्धं समर्पयामि । पुष्पं धूपं नैवेद्यं ताम्बूलं दक्षिणाः । गणपतिसहितानां षोडशमातृणां पूजनविधेर्यन्न्यूनं यदतिरिक्तं तत्परिपूर्णमस्तु । इति मातृपूजनम् ॥

अथ वसोर्द्धारापूजनम् । द्रवीभूतं घृतं गृहीत्वा कुड्यादिषु "वसोः पवित्रमसि" इति धाराः पञ्च सप्त वा उदक्संस्थाः कुर्यात् । "मनोजूतिः" इति प्रतिष्ठापूर्वकं वसोर्द्धारादेवताभ्यो नम इति पञ्चोपचारैः पूजयेत् । इति वसोर्द्धाराकरणम् ।

अथ नान्दीश्राद्धम् । तच्च यथाकुलदेशाचारेण सपिण्डकमपिण्डकं वा कार्यम् । तदुक्तं भविष्यपुराणे—

पिण्डनिर्वपणं कुर्यान्न वा कुर्याद्विचक्षणः ।
वृद्धिश्राद्धे कुलाचारो देशकालाद्यवेक्ष्य हि ॥

अपिण्डकेऽग्नौकरणादीनामपि निषेधः । तथाहि—

अग्नौकरणमर्घं चावाहनं चावनेजनम् ।

पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने निवर्तते ॥
पिण्डनिर्वापरहितं यत्र श्राद्धं विधीयते ।
स्वधावाचनलोपोऽस्ति विकिरस्तु न लुप्यते ॥
अक्षय्यं दक्षिणा स्वस्ति सौमनस्यं यथास्थितम् ॥ इति ।

तच्च सपिण्डकमाभ्युदयिकं लिख्यते । आचमनम् । प्राणायामः । वैश्वदेवार्थे मात्राद्यर्थे पित्राद्यर्थे सपत्नीकमातामहाद्यर्थे च द्वौ द्वौ विप्रौ युग्माः शक्तितो भोज्याः । अमूला ऋजवो दर्भाः । यज्ञोपवीती प्राङ्मुखो दद्यात् । तिलार्थे यवाः । नान्दीमुखाः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एतद्वः पाद्यम्पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् एषोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पं च । अमुकगोत्राः मातृपितामहीप्रपितामह्यः नान्दीमुख्यः एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् । एष वोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पम् । अमुकगोत्राः पितृपितामहप्रपितामहाः नान्दीमुखाः युग्मरूपाः एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् । एष वोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पम् । अमुकगोत्राः मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहाः नान्दीमुखा युग्मरूपा एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् । एष वोऽर्घः इ० । तत आचमनं दिग्बन्धनम्—

अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम् ।
तथा बर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरस्तथा ॥
प्रतीचीमाज्यपास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः ।
ऊर्ध्वंतस्त्वर्यमा रक्षेत्कव्यवाडनलोऽप्यधः ॥
रक्षोभूतपिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः ।
सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे ॥
तिला रक्षन्त्वसुरान्दर्भा रक्षन्तु राक्षसान् ।
पङ्क्तिं वै श्रोत्रियो रक्षेदतिथिः सर्वरक्षकः ॥

"निहन्मि सर्वं यदमेध्यवत्" इत्यादि 'सर्वे' इत्यन्तेन मन्त्रेण नीवीबन्धनम् । 'श्राद्धभूमौ गयाम्' इत्यारभ्य 'गयायै नमः' इत्यन्तं पठेत् । ततः कर्मार्थं जलाभिमन्त्रेण—"यद्देवा" इति तिसृभिर्ऋग्भिः । ततः पाकप्रोक्षणम् । दुष्टदृष्ट्यादिशूद्रसम्पर्कदोषाः पाकादीनां पवित्रताऽस्त्विति । देशकालपाकपात्रद्रव्यश्राद्धसम्पदस्तु । अद्येत्यादि देशकालौ स्मृत्वा अमुकगोत्राणां मातृपितामहीप्रपितामहीनां नान्दीमुखीनाम्, तथाऽमुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानां नान्दीमुखानां युग्मरूपाणाम्, तथाऽमुकगोत्राणां मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानां सपत्नीकानां नान्दीमुखानां युग्म-

रूपाणां पार्वणत्रयविधिना आभ्युदयिकं श्राद्धमहं करिष्ये । सत्यवसुसंज्ञकानां विश्वेषां देवानामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनम् । उपग्रहविष्टः । गोत्राणां मातृपितामहीप्रपितामहीनां नान्दीमुखीनामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनमुपग्रहविष्टः गोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहीनां नान्दीमुखानामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनमुपग्रहविष्टः । गोत्राणां मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानां नान्दीमुखानामित्यादि । सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवानावाहयिष्ये । 'आवाहय' इत्युनुज्ञातो "विश्वे देवास" इत्यावाहयेत् । ततो यवैरवकीर्य "विश्वेदेवाः शृणुतेमम्" इति जपेत् । "आगच्छन्तु०" "भवन्तु ते" इति पठेत् । गोत्राः मातृपितामहीप्रपितामहीः नान्दीमुखीः आवाहयिष्ये । "आवाहय" इत्यनुज्ञातः "उशन्तस्त्वा" इत्यनया आवाहयेत् । ततो यवैरवकीर्य "आयन्तु नः" इति जपेत् । गोत्रान्पितृपितामहप्रपितामहान् नान्दीमुखानावाहयिष्ये । 'आवाहय' इत्यनुज्ञात "उशन्तस्त्वा" इत्यावाहयेत् । यवैरवकीर्य "आयन्तु नः" इति जपेत् । गोत्रान्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहान्सपत्नीकान्नान्दीमुखानावाहयिष्ये । 'आवाहय' इत्यनुज्ञात आवाहनावकिरणजपाः पूर्ववत् । ततोऽर्घपूरणम् "शन्नो देवीः" इत्यनेन । ततो यवावपनं "यवोऽसि सोमदैवत्यः" इति । इदमत्र चन्दनं पुष्पं च । अर्घं गृहीत्वा "या दिव्याः" इतिमन्त्रेण सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एष वोऽर्घ इति दद्यात् । या दिव्या इति पठित्वा अमुकगोत्रा मातृपितामहीप्रपितामह्य एष वोऽर्घं इति । एवं सर्वत्र । प्रथमे पात्रे संस्रवान्समवनीय "पितृभ्यः स्थानमसि" इति न्युब्जं पात्रं करोति । ततो गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम् । सत्यवसुसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति दत्त्वा गोत्राभ्यो मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यो नान्दीमुखीभ्यो यथादत्तङ्गन्धाद्यर्चनम् । गोत्रेभ्यः पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो नान्दीमुखेभ्यो यथादत्तं गन्धाद्यर्चनम् । गोत्रेभ्यो मातामहप्र० भ्यो० नान्दी० भ्यो यथाद० । आचमनम् । उद्धृत्य घृताक्तमन्नं पृच्छत्यग्नौ करिष्य इति । 'कुरुष्व' इत्यनुज्ञातस्ततो मेक्षणेनाहुती जुहोति—अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहा इति । निरग्निकस्तु विप्रपाणौ जले वा कुर्यात् । हुतशेषं दत्त्वा पात्रमालभ्य जपति—"पृथिवी ते पात्रं० स्वाहा" इति । इदं विष्णुर्वि० सुरे इत्यङ्गुष्ठमन्नेऽवगाह्य "अपहता" इति यवान्विकीर्य एवं सर्वत्र उष्णं स्विष्टमन्नं दद्याच्छक्त्या वा । ततः पित्र्यमन्त्रवर्जं जपः । अन्नप्रकिरणम् । आचमनम् । सकृत्सकृद्ब्राह्मणेभ्य उदकदानम् । ततः सप्रणवां गायत्रीं "मधुव्वाता" इति तृचं च पठेत् । ब्राह्मणाः सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः । सुसम्पन्नमिति प्रतिवचनम् । शेषमन्नमप्यस्ति ? इष्टैः सह भुज्यताम् ।

अपहता इत्युच्छिष्टसमीपे उल्लेखनम्। उदकोपस्पर्शनम्। साग्निकस्योल्मुकनिधानम्। अवनेजनम्। सकृदाच्छिन्नास्तरणम्। पिण्डदानम्, दधिबदराक्षतमिश्रं यथोक्तम्। अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्मुख आस्ते, आतमनात्। आवृत्या 'अमीमदन्त' इति जपः। ततोऽवनेजनम्। नीवीविसर्गः। 'नमो वः' इति षडञ्जलिकरणं घोरशोषवर्जम्। 'एतद्वः' इति सूत्रदानम्। पिण्डानामभ्यर्चनादिनैवेद्यान्तम्। आचमनम्। ततः सुप्रोक्षितादि ऊर्ज्जमित्युदकनिषेकान्तम्। "नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्" इत्यक्षय्योदकदानम्। तत ऊर्ज्जमित्युदकनिषेकान्तं स्वधावाचनवर्जम्, पात्रोत्तानकरणम्। ततो दक्षिणादानादिगृहप्रवेशनान्तम् ॥ ६ ॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये आभ्युदयिकश्राद्धप्रयोगः ॥

अथ सप्तमकण्डिका

अथ तृप्तिः ॥ १ ॥ ग्राम्याभिरोषधीभिर्मासं तृप्तिः ॥ २ ॥

अब पितरों की तृप्ति कहते हैं ॥ १ ॥

(चावल, माष, तिल, आदि) ग्राम में होने वाली औषधियों की हवि से पितरों को एक मास की तृप्ति होती है ॥ २ ॥

'अथ तृप्तिः'। उच्यत इति शेषः ॥ १ ॥

'ग्राम्या···तृप्तिः'। पितृणामिति शेषः। ताश्च यवव्रीहिमाषतिलाद्याः। मनुः—

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलैः फलेन वा।
दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ इति ॥ २ ॥

तदभाव आरण्याभिः ॥ ३ ॥ मूलफलैरोषधीभिर्वा ॥ ४ ॥

उन (चावल आदि हवियों) के अभाव में बन में होने वाले (नीवार फल कन्द आदि से श्राद्ध करें) ॥ ३ ॥ अथवा, कन्द-मूल, फल और ओषधियों से पितरों को तृप्त करे ॥ ४ ॥

'तद···ण्याभिः'। मासं तृप्तिरिति वर्तते। ग्राम्याणामभावे आरण्याभिः श्यामाकनीवाराद्याभिः ॥ ३ ॥

'मूल·· भिर्वा'। स्पष्टमेतत् ॥ ४ ॥

सहान्नेनोत्तरास्तर्पयन्ति ॥ ५ ॥ छागोस्रमेषानालभ्य क्रीत्वा लब्ध्वा वा न स्वयंमृतानाहृत्य पचेत् ॥ ६ ॥

अथवा आगे जो (पदार्थ लिखा) है उसे अन्न के साथ देकर पितरों को तृप्त करे ॥ ५ ॥

छाग या मेष को स्वयं संज्ञपन कर या इनके मांस को मूल्य लेकर या किसी से बिना मूल्य मिले हुए मांस पकाकर पितरों को प्रदान करे। पर अपने से मरे हुए पशुओं के मांस को न पकावें ॥ ६ ॥

'सहा···यन्ति'। उत्तरा अग्रे वक्ष्यमाणाः पदार्थाः छा[1]गोदयः सर्वे अन्नेन मूलफलौषधीभिः सह दत्तास्तर्पयन्तीत्यर्थः। न तु केवलाः ॥ ५ ॥

---

१. 'शाखोदयः' ग०।

'छागोस्र···पचेत्'। 'छागोस्रमेषाणां मध्येऽन्यतममन्येन हतं क्रयेण गृहीत्वा अथ लब्धं वाऽऽनीय पितॄंस्तर्पयेत् न तु स्वयंमृतानामाहरणम् ॥६॥

मास द्वयं तु मत्स्यैर्मासत्रयं तु हारिणेन चतुर औरभ्रेण पञ्च शाकुनेन षट् छागेन सप्त कौर्मेणाष्टौ वाराहेण नव मेषमाᳫंसेन दश माहिषेणैकादश पार्षतेन संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा वार्ध्रीणसमाᳫंसेन द्वादश वर्षाणि ॥ ७ ॥ ७ ॥

॥ इति कातीयश्राद्धसूत्रे सप्तमीकण्डिका ॥ ७ ॥

मछली से दो मास, हरिण के मांस से तीन मास, बन के भेड़ा के मांस से ४ मास, पक्षी के मांस से ५ मास, बकरे के मांस से छः मास, कछुए के मांस से सात मास, सूअर के मांस से ८ मास, ग्राम के भेड़ा के मांस से ७ मास, महिष के मांस से दस मास, पार्षत के मांस से ११ मास, गो के दूध या उसी में खीर पकाकर देने से और वार्ध्रीणस के मांस से १२ वर्ष पितरतृप्त रहते हैं ॥ ७ ॥ ७ ॥

॥ इस प्रकार कात्यायन श्राद्धकल्प में डॉ० सुधाकर मालवीय कृत सप्तम कण्डिका की हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

'मासद्वयं तु ··वर्षाणि'। पाठीनादयो मत्स्याः। हरिणादयो मृगाः। उरभ्र आरण्यो मेषः। शकुनिः पक्षी, सोऽप्यनिषिद्धो ग्राह्यः। मेषश्चित्रमृगः। वार्ध्रीणसो निगमोक्तः—

त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम्।
वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः श्राद्धकर्मणि॥

त्रिपिबमित्युदकपानसमये मुखं कर्णद्वयं चोदकमध्ये पततीति त्रिपिबः॥७॥

इति नवकण्डिका गदाधारभाष्ये सप्तमी कण्डिका ॥ ७॥

१. छागो बर्करः। उस्रस्तूपरः। स च हीनश्छागादिः इति श्राद्धकाशिकायाम्। 'उस्रावेतम्' इति मन्त्रव्याख्यानावसरे 'हे उस्रो अनड्वाहो' इति महीधराचार्याः। अनड्वाहो युनक्तधुस्रावेतमितीति, छागोस्रमेषाः पश्वभिधानाद्यथालिङ्गम् इति च कातीयश्रौतसूत्रम्। लोहितलिङ्गेनोस्रो गौः इति च तद्भाष्ये।

अथ अष्टमकण्डिका

अथाक्षय्यतृप्तिः ॥ १ ॥ खड्गमाꣳसं कालशाकं लोहच्छाग-माꣳसम् ॥ २ ॥

अब (पितरों की) अक्षय-तृप्ति (देने वाले पदार्थों) को कहते हैं ॥ १ ॥

'अथाक्षय्यतृप्तिः' । उच्यत इति शेषः ॥ १ ॥

किमक्षय्यकं द्रव्यमित्यत आह—'खड्ग' 'सम्' । ललाटे शृङ्गवान्पशुः खड्गः । रक्तच्छागो लोहच्छागः ॥ २ ॥

मधु महाशल्कः ॥३॥ वर्षासु मघाश्राद्धꣳ हस्तिच्छायायाञ्च ॥४॥

बड़ी-बड़ी सींगों वाले (बारहसिंहे) पशु का मांस और लाल रंग वाले बकरे का मांस एवं ऋतु-फल तथा शाक-सब्जी, मधु और रोहू मछली से पितरों की अक्षय्य तृप्ति होती है ॥ २—३ ॥

महालय में, मघा नक्षत्र में हरित छाया योग से श्राद्ध करने से पितरों की अक्षय्य तृप्ति होती है ॥ ४ ॥

'मधु महाशल्कः' । मत्स्यविशेषः ॥ ३ ॥

'वर्षासु' 'यायां च' । श्राद्धं तृप्तिकरमिति शेषः ॥ ४ ॥

मन्त्राध्यायिनः पूताः शाखाध्यायी षडङ्गविज्ज्येष्ठसामगो गायत्रीसारमात्रोऽपि पञ्चाग्निः स्नातकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णी द्रोणपाठको ब्राह्मोढापुत्रो वागीश्वरो याज्ञिकश्च नियोज्याः ॥ ५ ॥

अपनी संहिता (वेद) का अध्ययन करने वाले, आचरण से पवित्र, स्व-शाखाध्यायी, षडङ्ग वेद का जानने वाले और ज्येष्ठ साम गान करने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध में निमन्त्रित करना चाहिए । (इनके अभाव में) गायत्री मन्त्र को भी जानने वाले को ही निमन्त्रित करे । किन्तु आहवनीय आदि पञ्चाग्नि वाला ब्राह्मण होना चाहिए । ब्राह्मण को स्नातक त्रिणाचिकेत, त्रिमधु और त्रिसुपर्णी (सूक्तों) को पढ़ने वाले, ब्राह्म विवाह से परिणीत स्त्री वाले के पुत्र एवं विद्वान् तथा यजन-याजन कराने वाले द्विज को श्राद्ध में निमन्त्रित करना चाहिए ॥ ५ ॥

'मन्त्रा' 'नियोज्याः' । एते मन्त्राध्यायिमुख्या याज्ञिकान्तास्ते सर्व पङ्क्तिपावनाः श्राद्धे नियोज्याः । एतेषां नियोजनेन पितृणामक्षय्यतृप्ति-

रित्यर्थः। मन्त्राध्यायिनः संहिताध्यायिनः। पूता आचरणेन पूताः। षडङ्ग-वित् शिक्षाकल्पादीनामर्थतो ग्रन्थतश्च वेत्ता। ज्येष्ठसाम्नः सन्ततगाता ज्येष्ठसामगः। अथ ज्येष्ठसाम छन्दोगानां व्रतं साम च तद्योगाज्ज्येष्ठ-सामगः। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निसभ्यावसथ्याग्निमान् पञ्चाग्निः। त्रिणाचिकेतः यजुर्वेदभागस्तद्व्रतं च तदुभयं योऽधीते यश्च करोति सोऽपि तद्योगात्त्रिणाचिकेतः। त्रिमधुः ऋग्वेदैकदेशः तदधीते तद्व्रतं चरति यः स त्रिमधुः। त्रिसुपर्णी अध्वर्युवेदभागस्यार्थतो ग्रन्थस्याध्येता। द्रोणपाठको धर्मशास्त्रपाठकः। ब्राह्मोढापुत्रो ब्राह्मणविवाहपरिणीतापुत्रः वागीश्वरो विद्वान् ॥ ५ ॥

अभावेऽप्येकं वेदविदं पङ्क्तिमूर्धनि नियुञ्ज्यात्, आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनातीति वचनात् ॥ ६ ॥ ८ ॥

इति कातीयश्राद्धसूत्रे अष्टमीकण्डिका ॥ ८ ॥

यदि पूर्वोक्त लक्षणों वाले द्विज का अभाव हो तो एक वेद भी पढ़ने वाले द्विज को ही भोजन करावे क्योंकि एक विद्वान् (के समान हजारों मूर्ख मिलकर भी नहीं हो सकते) अतः वह एक ही पंक्ति को पवित्र करने वाला होता है ॥६॥

विशेष—**पञ्चाग्नि**—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्य और आवसथ्य ये पाँच अग्नियाँ हैं। **त्रिणाचिकेतः**—यजुर्वेद-भाग को तथा उसके व्रत (यज्ञीय) को और दोनों को जो पढ़ता है और करता है वह त्रिणाचिकेत है। **त्रिमधु**-ऋग्वेद एक देश वाला, उसे जो पढ़े, जो उसका यज्ञीय व्रतादि करे वह 'त्रिमधु' है। **द्रोणपाठक**—धर्मशास्त्र के पाठक को द्रोणपाठक कहते हैं। **ब्राह्मोढापुत्र**—ब्राह्मण विवाह से परिणीता का पुत्र 'ब्राह्मोढापुत्र' कहा जाता है ॥

॥ इस प्रकार कात्यायन श्राद्धकल्पसूत्र में आठवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

'अभावे···वचनात्' ॥ ६ ॥

॥ इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये अष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

नवमी कण्डिका

अथ काम्यानि भवन्ति स्त्रियोऽप्रतिरूपाः प्रतिपदि द्वितीयायाᳬं स्त्रीजन्मा[1]श्वास्तृतीयायां चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवः पुत्राः पञ्चम्यां द्यूतर्द्धिः षष्ठ्यां कृषिः सप्तम्यां वाणिज्यमष्टम्यामेकशफं नवम्यां दशम्यां गावः परिचारका एकादश्यां धनधान्यानि द्वादश्यां कुप्यᳬं हिरण्यं ज्ञातिश्रैष्ठ्यं च त्रयोदश्यां युवानस्तत्र म्रियन्ते शस्त्रहतस्य चतुर्दश्याममावास्यायाᳬं सर्वमित्यमावास्यायाᳬं सर्वमिति ॥ १ ॥ ९ ॥

इति कातीयश्राद्धसूत्रे नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

अब (कामना से किए जाने वाले) 'काम्यश्राद्ध' कर्म को कहते हैं ॥ प्रतिपदा तिथि को श्राद्ध करने से अद्वितीय रूप वाली भार्या को प्राप्त करता है। इसी प्रकार यदि कन्या की कामना हो तो द्वितीया को, कुत्ते की कामना हो तो तृतीया को, बकरी आदि क्षुद्र पशुओं की कामना हो तो चतुर्थी को, पुत्रों की कामना हो तो पञ्चमी को, जुए में विजय की कामना हो तो षष्ठी को, अन्नोत्पादन की कामना हो तो सप्तमी को, व्यापार में अच्छे फल की कामना हो तो अष्टमी को, घोड़े की कामना हो तो नवमी को, गायों की कामना हो तो दशमी को, दास-दासियों की कामना हो तो एकादशी को, धन-धान्य आदि की कामना हो तो द्वादशी को, (काम्य श्राद्ध करना चाहिए)। कुप्यम् अर्थात् सोना-चांदी को छोड़कर ताम्र आदि तथा ज्ञाति जन में श्रेष्ठता की कामना से और जवान के मरने पर भी त्रयोदशी को काम्य श्राद्ध करे। शस्त्र से मारे गये (या जलादि से अप मृत्यु) की श्राद्ध चतुर्दशी को करे। अन्ततः सभी कामनाओं से अमावस्या तिथि को श्राद्ध करना चाहिये ॥ १ ॥ ९ ॥

॥ इस प्रकार कात्यायन श्राद्धकल्पसूत्र में नवम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

---

१. 'स्त्रीजन्म श्वाः' ग०

'अथ'''सर्वमिति । प्रतिपदादयश्च कृष्णपक्षजाः । स्त्रीजन्म कन्योदयः। क्षुद्रपशव अजादयः। कृषिः कृषिफलम् । वाणिज्यं वाणिज्यफलम् । परिचारका दासादयः कुप्यं सुवर्णरूप्यव्यतिरिक्तं ताम्रादि । यूनां मृतानां त्रयोदश्यां श्राद्धं देयम् । शस्त्रहतस्येति जलादिव्याघ्रिशदुमरणेन मृताना-मुपलक्षणम् । प्रतिपदादितिथिष्वभिहितानि यानि फलानि तेषु स्वीयमन-सोऽभीष्टान्सर्वान्कामानमावास्यायां श्राद्धदः प्राप्नोति । अत्र यद्यपि सर्व-कामप्राप्तिरविशेषेण कथिता, तथापि न युगपत्सर्वकामनाप्राप्तिः, अपितु अमावास्यायामनुष्ठितेन श्राद्धेनैकेनैककामनाप्राप्तिः । एवममावास्यान्तरा-नुष्ठितेनान्येन श्राद्धेनान्यः काम इति ॥ १ ॥ ९ ॥

इति श्रीत्रिरग्निर्रा टसम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षित-गदाधरकृते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

यमलजननशान्तिसूत्रम्

तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—'अथातो यमलजनने प्रायश्चित्तं व्याख्यास्यामो यस्य भार्या गौर्दासी महिषी वडवा वा विकृतं प्रसवेत्प्रायश्चित्ती भवेत्सम्पूर्णे दशाहे चतुर्णां क्षीरवृक्षाणां काषायमुपसंहरेत्प्लक्षवटौदुम्बराश्वत्थशमीदेवदारुगौरसर्षपास्तेषामपो हिरण्यदूर्वाङ्कुराग्रपल्लवैः प्रकल्प्य तैरष्टौ कलशान्प्रपूर्य सर्वौषधीभिर्दम्पती स्नापयेत् 'आपो हिष्ठा' इति तिसृभिः, 'कया नश्चित्र' इति द्वाभ्यां, पञ्चैन्द्रेण, पञ्चवारुणेनेदमापो अद्येति द्वाभ्यां स्नात्वाऽलङ्कृत्य तौ दर्भोपर्युपवेश्य तत्र मारुतं स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति । पूर्वोक्तैः स्नपनमन्त्रैः स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, पवमानाय स्वाहा, पावकाय स्वाहा, मरुताय स्वाहा, मारुताय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाह, ब्रह्मणे स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इति । एतदेव ग्रहोत्पातनिमित्तेषूलूकः कङ्कः कपोतो गृध्रः श्येनो वा गृहं प्रविशेत्स्तम्भं प्ररोहेद्वल्मीकं मधुजालं वा भवेदुदकुम्भप्रज्वलनाशनशयनयानभङ्गेषु गृहगोधिकाकृकलासशरीरसर्पणे छत्रध्वजविनाशे सार्पे नैर्ऋते गण्डयोगेष्वन्येष्वप्युत्पातेषु भूकम्पोल्कापातकाकसर्पसङ्गमप्रेक्षणादिष्वेतदेव प्रायश्चित्तं ग्रहशान्त्युक्तेन विधिना कृत्वाऽऽचार्याय वरं दत्त्वा ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वस्तिवाच्याशिषः प्रतिगृह्य शान्तिर्भवति शान्तिर्भवतीति ।

इस सम्बन्ध में याज्ञिक इस प्रकार कहते हैं—

अब इस (गर्भाधान) के अनन्तर दो पुत्रों के (या दो कन्याओं के या कन्या और पुत्र के) एक साथ जन्म होने पर प्रायश्चित्त के विधान की व्याख्या की जाती है । जिस पुरुष की स्त्री, गौ, नौकरानी, भैंस, घोड़ी आदि भी यदि विकृत युगल को जन्म दें तो स्वामी को प्रायश्चित्त करना चाहिए । दस दिन जन्म से पूर्ण होने पर चार क्षीर वृक्षों का क्वाथ बनावे । प्लक्ष, वट, गूलर, पीपल, शमी,

देवदारु, पीली सरसों में से किन्हीं चार पेड़ों का कषाय (क्वाथ) करे। पूर्वोक्त कषायों से तथा हिरण्य (सोना), दूर्वाङ्कुर, आम्रपल्लव तथा सर्वौषधियों में से आठ घड़े प्रकल्पित कर उनसे आठ कलश पूर्ण करके सर्वौषधियों से दम्पति स्नान करें। 'आपो हिष्ठा' आदि तीन मन्त्रों से, 'कया नश्चित्र' आदि दो मन्त्रों से पञ्चेन्द्र तथा पञ्चवारण देवता वाले 'इदमापो प्रवहेति' आदि दो मन्त्रों से स्नान कर एवं अलंकृत करके उन दोनों को दर्भ के ऊपर बैठाकर वहीं मरुत्देवताक स्थाली पाक बनाकर; आज्य भागाहुतियाँ तथा आज्याहुतियाँ पूर्वोक्त स्नान मन्त्रों से देवे, फिर स्थाली पाक की आहुति दे—अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, पवमानाय स्वाहा, पावकाय स्वाहा, मरुताय स्वाहा, मारुताय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। ग्रहोत्पात होने पर भी यही विधि की जाती है। यदि उल्लू, कङ्क, गिद्ध, कबूतर, या श्येन (चील) गृह में प्रवेश करें तब भी यही विधि की जाती है। स्तम्भ प्ररोह करे, वल्मीक बने, या मधुमक्खी का जाला बने, उदकुम्भ, प्रज्ज्वल-नाशन, शयन या यान के भग्न होने पर, गृहगोधिका (गोह), कृकलास (गिरगिटान) शरीर के सर्पण होने पर, छत्रध्वज के विनाश पर, सार्प=आश्लेषा नामक नक्षत्रपुंज के नैर्ऋत कोण में होने पर, गण्डयोगों में, और अन्य उत्पातों में जैसे भूकम्प; उल्कापात, काक मैथुन या सर्प मैथुन के देख लेने पर यही प्रायश्चित्त कर्म और उक्त विधि से ग्रह शान्ति करके आचार्य को दक्षिणा द्रव्य देकर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर, उनसे स्वस्तिवाचन कराकर, उनसे आशीर्वाद लेकर शान्ति होती है। यह ग्रह आदि की शान्ति है।

पृष्टोदिविसूत्रम्

केशान्तादूर्ध्वमपत्नीक उत्सन्नाग्निरनग्निको वा प्रवासी ब्रह्मचारी वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा "अन्वग्निः" इत्यनयर्चाऽग्निमाहृत्य पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा "पृष्टोदिविपृष्टो अग्निः पृथिव्याम्" इत्यनयर्चाऽग्नेः स्थापनं व्याहृतिभिः ताठं सावितुः तत्सवितुर्विश्वानि देवसवितरित्येताभिस्तिसृभिः सावित्रीभिः प्रज्वालनमग्नेः अथ तस्मिन्नग्नौ अक्षतहोमपञ्चमहायज्ञपिण्डपितृयज्ञपक्षाद्याग्रायणादि[1] कुर्यात्पूर्ववद्[2] गृह्योक्तं पृष्टोदिविविधानम् ॥ १ ॥

प्राक्कथन—पृष्टोदिवि सूत्र में धर्म की जिज्ञासा की जाती है कि नष्टाग्नि पुरुष का क्या धर्म है ?

हिन्दी—केशान्त संस्कार के बाद पत्नीरहित या नष्टाग्नि या अनग्नि अथवा प्रवासी किंवा ब्रह्मचारी को होम किस प्रकार करना चाहिए—यह कहते हैं। यह सब मातृपूजा तथा आभ्युदयिक श्राद्ध के बाद करे। उसे चाहिए कि 'अन्वग्नि०' आदि ऋचा से ग्राम से अग्नि को लाकर 'पृष्टोदिविपृष्टो अग्निः पृथिव्याम्' आदि ऋचा से अग्नि का स्थापन करे। तीन व्याहृतियों से युक्त करके 'तां सवितुः तत्सवितुर्विश्वानि देवसवितः' इन तीन सावित्रियों से अग्नि को प्रज्वलित करे। इसके बाद उस अग्नि में अक्षत होम, पञ्चमहायज्ञ, पिण्डपितृयज्ञ, पक्षाद्याग्रयण आदि पूर्ववत् कर्म करे। इस प्रकार 'पृष्टोदिवि' गृह्योक्त कर्म का विधान है ॥१॥

---

१. 'सायंप्रातर्होम' ख० ग०

२. 'कुर्यात् । मणिकावधानादि सर्वमावसथ्याधानादिवत् । अनुदिते च होमः । एवं कृते न वृथा पाको भवति । न वृथा पाकं पचेन्न वृथा पाकमश्नीयात् न वृथा पाकमश्नीयादिति' । ख० ग०

शौचसूत्रम्

अथातः शौचविधिं व्याख्यास्यामो दूरं गत्वा दूरतरं गत्वा यज्ञोपवीतरठ्ं शिरसि दक्षिणकर्णे वा धृत्वा तृणमन्तर्धानं कृत्वोपविश्याहनीत्युत्तरतो निशायां दक्षिणत उभयोः सन्ध्ययोरुदङ्मुखो नाग्नौ न गोसमीपे नाप्सु नागे वृक्षमूले चतुष्पथे गवाङ्गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ दहनभूमिं भस्माच्छन्नं देशं फालकृष्टभूमिं च वर्जयित्वा मूत्रपुरीषे कुर्यात् । ततः शिश्नं गृहीत्वोत्थायाद्भिः शौचं गन्धलेपहर विदध्यात् । लिङ्गे देया सकृन्मृद्वै त्रिवारं गुदे दशधा वामपाणावुभयोः सप्तवारं मृत्तिकां दद्यात् । करयोः पादयोः सकृत्सकृदेव मृत्तिका देयेति शौचं गृहस्थानां, द्विगुणं ब्रह्मचारिणां, त्रिगुणं वनस्थानां, चतुर्गुणं यतीनामिति ॥ यद्दिवा विहितं शौचं तदर्धं निशाया भवति मार्गे चेत्तदर्धमार्त्तश्चेद्यथाशक्ति कुर्यात् ॥ १ ॥

प्रक्षालितपाणिपादः शुचौ देश उपविश्य नित्यं बद्धशिखी यज्ञोपवीती प्रागुदङ्मुखो वा भूत्वा जान्वोर्मध्ये करौ कृत्वाऽशूद्रानीतोदकैर्द्विजातयो यथाक्रमं हृत्कण्ठतालुगैराचामन्ति । न तद्भिन्नोष्ठेन न विरलाङ्गुलिभिर्न तिष्ठन्नैव हसन्नापि फेनबुद्बुदयुतम् । ब्रह्मतीर्थेन त्रिः पिबेत् द्विः परिमृजेत् । ब्राह्मणस्य दक्षिणहस्ते पञ्च तीर्थानि भवन्ति अङ्गुष्ठमूले ब्रह्मतीर्थं कनिष्ठिकाङ्गुलिमूले प्रजापतितीर्थं तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमूले पितृतीर्थमङ्गुल्यग्रे देवतीर्थं मध्येऽग्नितीर्थमित्येतानि तीर्थानि भवन्ति ॥ २ ॥ प्रथमं यत्पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणाति, द्वितीयं यत्पिबति तेन यजुर्वेदं प्रीणाति, तृतीयं यत्पिबति तेन सामवेदं प्रीणाति, चतुर्थं यदि पिबेत्तेनाथर्ववेदेतिहासपुराणानि प्रीणाति, यदङ्गुलिभ्यः स्रवति तेन नागयक्षकुबेराः सर्वे वेदाः प्रीणन्ति, यत्पादाभ्युक्षणं पितरस्तेन प्रीणन्ति, यन्मुखमुपस्पृशत्यग्निस्तेन प्रीणाति,

यन्नासिके उपस्पृशति वायुस्तेन प्रीणाति, यच्चक्षुरुपस्पृशति सूर्यस्तेन प्रीणाति, यच्छ्रोत्रमुपस्पृशति दिशस्तेन प्रीणन्ति, यन्नाभिमुपस्पृशति ब्रह्मा तेन प्रीणाति, यद्धृदयमुपस्पृशति तेन परमात्मा प्रीणाति, यच्छिर उपस्पृशति रुद्रस्तेन प्रीणाति, यद्बाहू उपस्पृशति विष्णुस्तेन प्रीणाति, मध्यमानामिकया मुखं तर्जन्यङ्गुष्ठेन नासिकां मध्यमाङ्गुष्ठेन चक्षुषी अनामिकाङ्गुष्ठेन श्रोत्रं कनिष्ठिकाङ्गुष्ठेन नाभिं हस्तेन हृदयं सर्वाङ्गुलिभिः शिर इत्यसौ सर्वदेवमयो ब्राह्मणो देहिनामित्याह इत्येवं शौचविधिं कृत्वा ब्रह्मलोके महीयते, ब्रह्मलोके महीयते इत्याह भगवान् कात्यायनः ॥ * ॥

॥ इति कात्यायनकृतं परिशिष्टशौचसूत्रं समाप्तम् ॥

इसके बाद शारीरिक शुद्धि की विधि (नित्य कर्म) को कहते हैं। घर से दूर जाकर और अत्यन्त दूर जाकर यज्ञोपवीत शिर पर या दाहिने कान पर चढ़ाकर पृथ्वी पर एक पत्ता रखकर बैठते हुए, दिन में उत्तर की ओर और रात्रि में दक्षिण की ओर किन्तु दोनों ही सन्ध्याओं के समय उत्तर मुख करके ही शौच करना चाहिए। अग्नि में, गो के समीप, जल में, पर्वत पर, वृक्षमूल में, चौराहे पर, गायों के गोष्ठ में, देव और ब्राह्मण की सन्निधि में, दहनभूमि पर, भस्म से आच्छन्न प्रदेश में और जोती हुई भूमि में मूत्र या पुरीष (विष्ठा) का विसर्जन न करे। इसके बाद लिङ्ग को पकड़कर उठकर जल से शौच (शुद्धि) करना चाहिए। लिङ्ग पर एक बार मिट्टी लगावे और तीन बार गुदा पर, दस बार बाएँ हाथ में और दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए। हाथ-पैर में एक-एक बार मिट्टी लगाकर गृहस्थ को धोना चाहिए। किन्तु ब्रह्मचारी को दो बार, वानप्रस्थी को तीन बार और सन्यासी को चार बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए। जितना शौच कर्म दिन में विहित है, रात में उसका आधा ही विहित होता है और मार्ग में उसका भी आधा तथा रोगी होने पर जितना यथाशक्ति हो सके करना चाहिए॥ १॥

हाथ और पैर धोकर, शुद्ध स्थान में बैठकर नित्य शिखा बाँधे हुए और यज्ञोपवीत धारण किए हुए पूर्व या उत्तर मुख होकर, दोनों हाथों को घुटनों के मध्य रखकर शूद्र द्वारा आनीत जल से नहीं किन्तु स्वयं या कोई शूद्र से अन्य

द्वारा लाए गए जल से द्विजाति के लोग यथाक्रम हृदय, कण्ठ और तालु तक जल चला जाय उतना पानी लेकर आचमन करें। उससे भिन्न ओष्ठ से नहीं, विरल अङ्गुलियों से नहीं, खड़े होकर नहीं, हँसते हुए भी नहीं और फेन बुद्बुद उठाकर भी आचमन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मतीर्थ (हस्त मूल) से तीन बार जल पीना चाहिए और दो बार प्रक्षालन करे। ब्राह्मण के दाहिने हाथ में पाँच तीर्थ होते हैं—१. अङ्गुष्ठ मूल में ब्रह्मतीर्थ, २. कनिष्ठिका अङ्गुली के मूल में प्रजापति तीर्थ होता है, ३. तर्जनी (प्रथम अङ्गुली) और अँगूठे के बीच में पितृतीर्थ होता है, ४. सभी अङ्गुलियों के अग्रभाग में देवतीर्थ तथा ५. हाथ के मध्य भाग हथेली पर अग्नि तीर्थ होता है—इतने ही तीर्थ होते हैं ॥ २ ॥

पहले से जो पीता है तो वह उससे ऋग्वेद को प्रसन्न करता है। द्वितीय से जो पीता है तो वह उससे यजुर्वेद को प्रसन्न करता है। तृतीय से जो पीता है तो वह उससे सामवेद को प्रसन्न करता है। यदि चतुर्थ से पीता है तो वह उससे अथर्ववेद तथा इतिहास एवं पुराणों को प्रसन्न करता है।

जो अङ्गुलियों से जल गिरता है उससे नाग, यक्ष एवं कुबेर तथा सभी वेद प्रसन्न होते हैं। जो वह पैर का अभ्युक्षण करता है तो उससे पितर प्रसन्न होते हैं। जो वह मुख का स्पर्श करता है तो वह उससे अग्नि को प्रसन्न करता है। जो वह नाक का स्पर्श करता है तो उससे वह वायु को प्रसन्न करता है। जो वह आँख को धोता है तो वह उससे सूर्य को प्रसन्न करता है। जो वह कान का उपस्पर्श करता है तो उससे दिशाएं प्रसन्न होती हैं। जो वह नाभि को धोता है उससे वह ब्रह्मा को प्रसन्न करता है, जो वह हृदय को स्पर्श करता है उससे वह परमात्मा को प्रसन्न करता है। जो वह सिर पर स्पर्श करता है तो वह उससे रुद्र को प्रसन्न करता है। जो वह भुजाओं को छूता है तो उससे वह विष्णु को प्रसन्न करता है।

मध्यमा और अनामिका (तर्जनी तीसरी अंगुली) से मुख को, तर्जनी (पहली अंगुली) और अँगूठे से नासिका को, मध्यमा (द्वितीय अंगुली) और अंगुठे से दोनों नेत्रों को, कनिष्ठिका और अंगुठे से कानों को, नाभि को हाथ से, हृदय को सभी अंगुलियों से और शिर को 'असौ सर्वदेवेभ्यो ब्राह्मणो देहिनाम्' यह कहकर स्पर्श करे। इस प्रकार से शौच (शुद्धि अर्थात् शरीर की बाह्य शुद्धि) करने वाला व्यक्ति अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है—ऐसा भगवान् कात्यायन का वचन है कि वह निश्चय ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥

॥ इस प्रकार कात्यायनकृत शौचसूत्र की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

—:o:—

भोजनसूत्रम्

वन्दे श्रीदक्षिणामूर्त्तिं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
सर्वार्थानां प्रदातारं शिवादेहार्धधारिणम् ॥ १ ॥

अथातः श्रुतिस्मृतीरनुसृत्य भोजनविधिं व्याख्यास्यामः ॥ आचान्तो धृतोत्तरीयवस्त्रो धृतश्रीखण्डगन्धपुण्ड्रो भोजनशालामागत्य गोमयेनोपलिप्य शुचौ देशे विहितपीठाधिष्ठितो नित्यं प्राङ्मुखो न दक्षिणामुखो न प्रत्यङ्मुखो न विदिङ्मुखः । श्रीकामश्चेत्प्रत्यङ्मुखः सत्कामश्चेदुदङ्मुखो यशस्कामश्चेद्दक्षिणामुखो जीवन्मातृकवर्जं हस्त-पादास्येषु पञ्चस्वार्द्रो नीवारचूर्णैर्गोमृदा भस्मनोदकेन वा मण्डलं कुर्यात् । चतुष्कोणं ब्राह्मणस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य मण्डलाकृति वैश्य-स्याभ्युक्षणमं शूद्रस्य । यथा चक्रायुधो विष्णुस्त्रैलोक्यं परिरक्षति । एवं मण्डलभस्मैतत्सर्वभूतानि रक्षत्विति । तत्र भूमौ निहितपात्रेऽन्ने परिविष्टे पितुन्नुस्तोषमित्यमठ्ं स्तुत्वा मानस्तोके नमो वः किरि-केभ्यो नमः शम्भवायेत्यभिमन्त्र्य प्रोक्षयेत् । सत्यं त्वर्तेन परिषिञ्चा-मीति प्रातर्ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायम् । तेजोऽसि शुक्र-मस्यमृतमसीति यजुषाऽन्नमभिमृश्याग्निरस्मीत्यात्मानमग्निं ध्यात्वा भूपतये भुवनपतये भूतानां पतय इति चित्राय चित्रगुप्ताय सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इति दिवा प्रणवादिकैः स्वाहा नमोन्तैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं बलीन् हरेत्, अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ॥ त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं विष्णोः परमं पदम् । अमृतोपस्तरण-मसि स्वाहेति विष्णुमन्त्रमभिध्यायन्नाचम्यान्नममृतं ध्यायन् मौनी हस्तचापल्यादिरहितो मुखे पञ्च प्राणाहुतीर्जुहोति ॥ १ ॥ प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा समानाय स्वाहोदानाय स्वाहेति क्रमं याज्ञवल्क्यो मन्यते । उदानाय स्वाहेति शौनकबौधायनौ ।

याज्ञवल्क्योदितक्रमो वाजसनेयिनाम् । दन्तैर्नोपस्पृशेत् । जिह्वया ग्रसेदङ्गुष्ठप्रदेशिनीमध्यमाभिः प्रथमामङ्गुष्ठमध्यमाऽनामिकाभिर्द्वितीयामङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिस्तृतीयां कनिष्ठिकातर्जन्यङ्गुष्ठैश्चतुर्थीं सर्वाभिरङ्गुलीभिः साङ्गुष्ठाभिः पञ्चमीम् । अङ्गुष्ठानामिकाग्राह्याश्चैता आहुतय इति हारीतव्याख्यातारः । सर्वाभिरेता इति बौधायनः ।

मौनं त्यक्त्वा प्राग्द्रवरूपमश्नीयान्मध्ये कठिनमन्ते पुनर्द्रवाशी स्यान्मधुरं पूर्वं लवणाम्लौ मध्ये कटुतिक्तादिकान् पश्चाद्यथासुखं भुञ्जति भुञ्जानो वामहस्तेनान्नं न स्पृशेन्न पादौ न शिरो न वस्ति न पराभोजनं स्पृशेदेवं यथारुचि भुक्त्वा भुक्तशेषमन्नमादाय

"मद्भुक्तोच्छिष्टशेषं ये भुञ्जते पितरोऽधमाः ।
तेषामन्नं मया दत्तमक्षय्यमुपतिष्ठतु" ॥

इति पितृतीर्थेन दत्त्वाऽमृतापिधानमसि स्वाहेति हस्तगृहीतानामपामर्धं पीत्वाऽर्धं भूमौ निक्षिपेत् ।

रौरवे पूयनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम् ।
अर्थिनां सर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठतु ॥

तस्माद्देशादपसृत्य गण्डूषशलाकादिभिस्तर्जनीवर्जमास्यं शोधयेत् ॥ २ ॥ न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्न भार्यया सह, न सन्ध्ययोर्न मध्याह्ने, नार्धरात्रे, नायज्ञोपवीती, नाऽऽर्द्रशिरा, नार्द्रवासा, नैकवासा, न शयानो न ताम्रभाजने, न भिन्नं न राजतसौवर्णशङ्खस्फाटिककाँस्यभाजनवर्जं, न लौहे, न मृन्मये, न सन्धिसंस्थिते, न भुवि, न पाणौ, न सर्वभोजी स्यात्किञ्चिद्भोज्यं परित्यजेदन्यत्र घृतपायसदधिसक्तुपललमधुभ्यः । शाध्वाचान्तो दक्षिणपादाङ्गुष्ठे पाणिं निःस्रावयेदङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः । ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुगिति श्वात्राः पीता इति नाभिमालभेत । अमृता इत्यतः प्रागगस्त्यं वैनतेयं च शनिं च वडवानलम् ॥ आहारपरिणामार्थं स्मरेद्भीमं च पञ्चममित्युदरमालभ्य—

शर्यातिं च सुकन्यां च च्यवनं शक्रमश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेन्नित्यं तस्य चक्षुर्न हीयते ॥

इति स्मृत्वा मुखशुद्धिं कुर्यान्नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय, नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय ॥

अर्धं शरीर में पार्वती के शरीर को धारण करने वाले तथा सभी पुरुषार्थों के प्रदाता सत्, चित् एवं आनन्द के विग्रह 'श्रीदक्षिणामूर्त्ति' भगवान् शङ्कर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

इस (स्नान विधि, श्राद्ध एवं तर्पण) के अनन्तर श्रुतियों और स्मृतियों का अनुसरण करके भोजन की विधि की व्याख्या करता हूँ। आचमन करके, उत्तरीय वस्त्र धारण करके, श्रीखण्ड (दही), सुगन्ध और तिलक लगाकर भोजनालय में आकर गोबर से लिपे हुए शुद्ध स्थान पर विहित पीढ़े पर बैठकर नित्य पूर्व मुख होकर भोजन करना चाहिए। न दक्षिण मुख, न पश्चिम मुख और न विदिक् मुख होकर ही भोजन करे। यदि श्री की कामना हो तो पश्चिम मुख और कुछ भी कामना न हो तो उत्तर मुख तथा यदि यश की कामना हो तो दक्षिणमुख। जीवित यदि माता हो तो उन्हें छोड़कर हाथ एवं पैरों में पाँचों में आर्द्र चावल के चूर्ण तथा गेहूँ के आटे से भस्म अथवा जल से ही एक मण्डल बनाना चाहिये। यह मण्डल ब्राह्मण का हो, तो चतुष्कोण (चौकोर) यदि। क्षत्रिय का हो तो त्रिकोण, वैश्य का हो तो एक मण्डल (गोला) तथा यदि शूद्र का हो तो मात्र उसे अभ्युक्षण करना चाहिए।

'यथा चक्रायुधः'''रक्षतु' आदि वाक्य अर्थात् जैसे सुदर्शन चक्र धारण करने वाले विष्णु भगवान् त्रैलोक्य की रक्षा करते हैं वैसे ही यह मण्डलभस्म सर्वभूतजात की रक्षा करे'—कहना चाहिए। वहाँ भूमि पर निहितपात्र में अन्न निकाल कर 'पितुन्नुस्तोषम्' आदि से अन्न की स्तुति करके 'मानस्तोके नमो वः किरिकेभ्यो नमः शम्भवाय' आदि मन्त्र से अभिमन्त्रित करके प्रोक्षण करना चाहिये। 'सत्यं (वर्तन परिषिञ्चामि' इस मन्त्र से प्रातः और 'ऋतं त्व सत्येन परिषिञ्चामि' इस मन्त्र से सायंकाल प्रोक्षण करें। 'तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि' आदि यजुः मन्त्र से अन्न का अभिमर्षण करके 'अग्निरस्मि' आदि से अपने में अग्नि का ध्यान करके 'भूपतये भुवनपतये भूतानां पतये' आदि से और 'चित्राय चित्रगुप्ताय सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः' इस मन्त्र से दिन में प्रणव आदि लगाकर स्वाहा और नमः पद अन्त में रखकर इन मन्त्रों से प्रतिमन्त्र कहते हुये बलि देनी चाहिये। 'अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं विष्णोः

परमं पदम् । अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'—इस विष्णु मन्त्र का ध्यान करते हुये, आचमन करके अन्न को अमृत समझते हुये मौन होकर हाथ आदि की चपलता से रहित मुख में पहले पाँच प्राणाहुतियों को डालना चाहिये। 'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा—प्राणाहुतियों का यह क्रम याज्ञवल्क्य मानते हैं। किन्तु उदानाय स्वाहा आदि से शौनक और बौधायन आचार्य अपना क्रम कहते हैं। वाजसनेयि शाखा वालों के लिये याज्ञवल्क्य द्वारा प्रवर्तित क्रम ही अभीष्ट है। दाँतों से ग्रास को न तोड़े। जिह्वा से ग्रास ग्रहण करना चाहिये। अंगुष्ठ प्रदेश एवं मध्यमा अंगुलियों से प्रथम प्राणाहुति लेनी चाहिए। अंगुष्ठ, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से द्वितीय, अंगुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठिका से तृतीय, कनिष्ठिका, तर्जनी और अंगुष्ठ से चौथी तथा सभी अंगुलियों एवं अँगूठे से पाँचवी प्राणाहुति लेनी चाहिए। अंगुष्ठ और अनामिका से ही इन आहुतियों को ग्रहण करना चाहिए। यह हारीत आदि व्याख्याकारों का कहना है। किन्तु सभी अंगुलियों से प्राणाहुतियों को ग्रहण करना चाहिए। यह बौधायन आचार्य का कथन है।

मौन छोड़कर पहले द्रव पदार्थ का भक्षण करना चाहिए। मध्य में कड़े पदार्थ का तथा अन्त में पुनः द्रव पदार्थ को भक्षित करे। पहले मधुर (मीठा) खाए। फिर नमकीन और खट्टा पदार्थ मध्य में और कड़ुवा एवं तीता आदि पदार्थ बाद में खाए। आनन्दपूर्वक जितना हो सके खाए। खाते समय बाएं हाथ से अन्न न छूए। उसे भोजन के समय बाएँ हाथ से पैर, सिर, बस्ति और अन्य भोजन भी नहीं छूना चाहिए। इस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार भोजन करके भोजन से बचे हुए अन्न को लेकर 'मद्भुक्तोच्छिष्टशेषं ये भुञ्जते पितरोऽधमाः। तेषामन्नं मया दत्तमक्षय्यमुपतिष्ठतु'—इस मन्त्र से पितृतीर्थ से देकर 'अमृतापिधानमसि स्वाहा'—इस मन्त्र से हाथ में गृहीत आधे जल को पीकर आधे को पृथ्वी पर गिरा देवे। मन्त्र है—'रौरवे पूयनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम्। अर्थिनां सर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठतु'। उस प्रदेश से थोड़ा दूर हटकर कुल्ला एवं शलाका आदि से तर्जनी वर्जित मुख का शोधन करना चाहिए॥ २॥

भार्या के समक्ष भोजन न करे और न ही भार्या के साथ भोजन करे। दोनों संध्या समय या अपराह्न के समय, अर्ध रात्रि के समय, यज्ञोपवीतरहित, आर्द्र सिर, गीले वस्त्र या एकमात्र वस्त्र पहनकर सोये हुए, तांबे के पात्र में या टूटे पात्र में भोजन न करे। चाँदी, स्वर्ण, शङ्ख एवं स्फटिक तथा काँसे के पात्र को छोड़कर न लोहे के पात्र में और न मिट्टी के पात्र में भोजन करे। घर की ड्योढ़ी पर, पृथ्वी पर (अर्थात् बिना कुछ बिछाए आसन के), हाथ पर रखकर भोजन

न करे। सब भोजन भी न खा जाय। कुछ भोज्य पदार्थ जरूर छोड़ दे अर्थात् अन्यत्र घृत, दूध, दही, सतुआ, रोटी और मधु में से कुछ अलग रख दे।

अच्छी तरह से आचमन करके दहिने पैरके अँगूठे पर पानी गिरावे—'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो अंगुष्ठं च समाश्रितः। ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुक्'—इस मन्त्र से (पानी गिराए)। श्वात्रा (पात्रविशेष) से पीकर नाभि का आलम्भन करे॥ 'अमृता' आदि मन्त्र से पहले अगस्त्य, गरुड़, शनि तथा वडवानल को भोजन के पाचन के लिए स्मरण करे और भीम का पाँचवा नाम स्मरण कर उदर का आलम्भन करके शर्याति, सुकन्या च्यवन, शक्र (इन्द्र) और अश्विनद्वय का भोजन के अन्त में नित्य ही स्मरण करना चाहिए जिससे नेत्र ज्योति कभी कम नहीं होती है। इस प्रकार स्मरण करते हुए ही मुख शुद्धि करना चाहिए।

बाजसनेय भगवान् याज्ञवल्क्य को नमस्कार है॥ ३॥

॥ अथ श्रीमद्योगीश्वरद्वादशनामानि ॥

वन्देऽहं मङ्गलात्मानं भास्वन्तं वेदविग्रहम्॥
याज्ञवल्क्यं मुनिश्रेष्ठं जिष्णुं हरिहरप्रभम्॥ २॥

मैं मङ्गलात्मक दीप्तिमान् वेदविग्रह; विष्णु हरि एवं हर की प्रभा वाले मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य की वन्दना करता हूँ॥ १॥

जितेन्द्रियं जितक्रोधं सदा ध्यानपरायणम्॥
आनन्दनिलयं वन्दे योगानन्दं मुनीश्वरम्॥ २॥

इन्द्रियजयी, क्रोध को जीतने वाले, सदा ध्यान में संलग्न, आनन्द के निलय योगानन्द मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ॥ २॥

एवं द्वादशनामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः॥
योगीश्वरप्रसादेन विद्यावान्धनवान् भवेत्॥ ३॥

इस प्रकार इन बारह योगीश्वर याज्ञवल्क्य के नामों को जो तीनों सन्ध्या के समय पढ़ता है वह योगीश्वर याज्ञवल्क्य के प्रसाद से विद्यावान् तथा धनवान् होता है॥ ३॥

॥ इस प्रकार डा० सुधाकर मालवीय कृत पारस्कर गृह्यसूत्र की हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥

उत्सर्गसूत्रम्

अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब [वापी आदि श्रेयस्कर है] इसलिए बावली कुआँ, तालाब, बगीचा और देवालयों की प्रतिष्ठा करने की व्याख्या करते हैं ॥ १ ॥

'अथा···स्यामः'। अथशब्दो मङ्गलार्थः, आनन्तर्यस्य पाठादेव सिद्धेः। अतःशब्दो हेत्वर्थः। यतोऽप्रतिष्ठितं वाप्यादिकमश्रेयस्करम् अतः प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञा शिष्यबुद्धिसमाधानार्था ॥ १ ॥

तत्रोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरुꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति—त्वं नो अग्ने सत्वन्नो अग्ने इमं मे वरुण तत्त्वायामि येते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुꣳ हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनीकमिति ॥ २ ॥

उस प्रतिष्ठा को उत्तरायण सूर्य होने पर शुक्ल पक्ष में [शास्त्रोक्त] शुभ तिथि में और शुभ वार नक्षत्रकरण से युक्त होने पर [करना चाहिए]। उस प्रतिष्ठापन में वरुण सम्बन्धी जौ रूप चरु [कुश कण्डिका में कही गई विधि से] पकाकर आघार और आज्यभाग आहुतियों के बाद, त्वं···मिति = त्वन्नोऽग्न, सत्वन्नोऽग्न, इयं मे वरुणा, तत्त्वायामि; ये ते शतम्, अयाश्चाग्न, उदुत्तमम्, उरुं हि राजा, वरुणास्योत्तम्भनम्, अग्नेरनीकम् इन दस मन्त्रों से आहुति दी जाती है ॥२॥

'तत्रो···कमिति'। तत्रेति तस्मिन् प्रतिष्ठापने उदगयनादिकाले यथोक्तं चरुं कुशकण्डिकोक्तप्रकारेण श्रपयित्वा आघारावाज्यभागौ हुत्वोक्तैर्दशभिर्मन्त्रैर्दशाज्याहुतीर्जुहोति। उदगयनमुत्तरायणम्, आपूर्यमाणपक्षः शुक्लपक्षः, पुण्याह इति शास्त्रान्तरोक्तकालः। तिथिवारनक्षत्रकरणानां गुणान्वितत्वं शास्त्रान्तरविहितत्वम्। तच्च किञ्चित्संक्षेपेण प्रदर्श्यते। तथा मदनरत्नोदाहृतवह्निपुराणे—

वापीकूपतडागानां तस्मिन्काले विधिः स्मृतः।

सुदिने शुभनक्षत्रे प्रतिष्ठा शुभदा स्मृता ॥
कर्कटे पुत्रलाभश्च सौख्यं तु मकरे भवेत् ।
मीने यशोऽर्थलाभश्च कुम्भे वसुबहूदकम् ॥
वृषे च मिथुने वृद्धिर्वृश्चिकेऽल्पजलं भवेत् ।
पितृतृप्तिस्तु कान्यायां तुलायां शाश्वती गतिः ॥
सिंहो मेषो धनुर्नाशं लक्ष्म्याश्च द्विज यच्छति ॥ इति ।

तत्रैव भविष्योत्तरेऽपि—

तस्मिन् सलिलसम्पूर्णे कार्तिके च विशेषतः ।
तडागस्य विधिः कार्यः स्थिरनक्षत्रयोगतः ॥
मुनयः केचिदिच्छन्ति व्यतीतेऽप्युत्तरायणे ।
न कालनियमस्तत्र सलिलं तत्र कारणम् ॥ इति ।

एवमादिग्रन्थान्तरादवगन्तव्यं विस्तरभयान्न लिख्यते । चकारात् योगेऽपि गुणान्विते वैधृतिव्यतीपातादिवर्जिते इत्यर्थः । वयमयं चरुं श्रपयित्वेत्येतावतैव सिद्धे यद्वारुणग्रहणं तद्वरुणस्य । प्राधान्यज्ञापनार्थम् । ततश्च तदन्तराये पुनः स्थालीपाकस्योत्पत्तिः । कृतोऽपि देवतान्तरहोमः पुनरावर्तनीयः । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनाचार्यैः—

प्रधानस्याक्रिया यत्र साङ्गं तत्क्रियते पुनः ।
तदङ्गस्याक्रियायां तु नावृत्तिर्नैव तत्क्रिया ॥ इति ।

देवतान्तरान्तराये तु प्राक् समाप्तेरनादिष्टप्रायश्चित्तपूर्वकं स्थालीपाकात्तस्य होमः । तदलाभे त्वाज्येनैव । ऊर्ध्वं समाप्तेस्तु विष्णुस्मरणमेवेति प्रयोजनम् । श्रीमदनन्तदेवस्वामिचरणैस्तु प्रयोजनान्तरमुक्तम्—वारुणमिति तद्धितेन वरुणस्यैव चरुदेवतात्वावगमे वक्ष्यमाणाहुतिषु यथालिङ्गमग्न्यादिशब्दैर्वरुणं ध्यात्वेदमग्नये इत्येव त्यागो बोध्यः । आग्नेया इति तु स्थितिरिति नैरुक्तविधिवशेन प्रयाजेषु समिदादिशब्दैरग्नि ध्यानपूर्वकमिदं समिद्भ्य इत्यादि त्यागवदिति ॥ २ ॥

दशर्चं ऽ्हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोति—अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा वरुणाय स्वाहा यज्ञाय स्वाहोग्राय स्वाहा भीमाय स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टचै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति ॥ ३ ॥

उपरोक्त दस मन्त्रों से आहुति देने के बाद, स्थाली पात्र के अवयवों को अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, यज्ञाय स्वाहोग्राय स्वाहा, भीमाय स्वाहा, शतक्रतवे स्वाहा, व्युष्टयै स्वाहा, स्वर्गाय स्वाहा—इन मन्त्रों से आहुति दी जाती है ॥ ३ ॥

'दशचंठं्.'''स्वाहा'। दशचंठं्. हुत्वेत्ययमनुवाद आहुतीनामपि मन्त्रसमसंख्यत्वप्राप्त्यर्थः। ततश्च "समं स्यादश्रुतत्वात्" (जै. सू. १०-२-१३-५३) इति न्यायेन एकैकेन मन्त्रेणैकैकाहुतिः। यद्वा, वरुणस्योत्तम्भनमित्यत्र पञ्चानामपि वाक्यानां मन्त्रैकत्वज्ञापनार्थम्। तदित्थम्—"ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः" (का. सू. १-३-१) इति भगवता कात्यायनाचार्येण ऋगादीनां चतुर्णां पृथक् मन्त्रत्वमुक्तम्। ततश्च सामान्यत एका ऋक् एको मन्त्रः। एकं यजुरेकः। एकं सामैकः। एको निगदश्चैकः। तत्र तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षं मिथः सम्बद्धमिति ते[1] न, भगवता जैमिनिना च "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" (जै. सू. २-१-१४-४६) इति वाक्यलक्षणमप्युक्तम्। अत्र च पञ्चस्वप्याख्यातभेदेन लक्षणस्य भिद्यमानत्वात्पञ्चवाक्यान्येतानि। ततश्च पञ्चैते मन्त्राः। अत एवानुक्रमणिकाकारेण—'वरुणस्य पञ्च वारुणानि'इति पञ्चसंख्याविशिष्टो यजुर्भेद उक्तः। एवं च सति न्यायतः करणमन्त्राणां समुच्चयाभावाद्वाचनिकोऽयं समुच्चयः—'चतुर्भिरादत्ते' इतिवत्। ततश्च प्रकृते नवऋचो नव मन्त्राः। पञ्चभिर्मिलितैर्यजुर्भिश्चैकः। किञ्च स्मार्त्ते कर्मणि सर्वत्रोत्सर्गतः कण्डिकान्तो मन्त्र इत्याचारोऽप्यनुगृहीत एव। तथाच गृह्यकारिकाकारः—

> गृह्यकर्मसु ये मन्त्रा ज्ञेयाः स्वाध्यायपाठतः।
> किञ्च मध्यमवृत्त्या ते न द्रुता न विलम्बिताः॥ इति।

ऋक्पदं तु कण्डिकापरम्, यथा—

> गौतमादीनृषीन्सप्त कृत्वा दर्भमयान्पुनः।
> पूजयित्वा विधानेन तर्पयेदृचमुद्धरन्॥

इत्यत्र बोधायनीयवाक्ये ऋक्पदमृग्यजूभयसाधारण्येन कण्डिकापरमित्यङ्गीकृतमुत्सर्गकारिकाकारेण।

> [2]मन्त्रैर्द्वाभ्यां च मूर्द्धेति माछन्दस्त्रितयेन च।

---

१. कात्यायनाचार्येण।

२. मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः। क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दः। विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दः। विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दः। वस्तो वयो विवलं छन्दः। वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः। पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दः। व्याघ्रं वयोऽनाधृष्टं छन्दः। सिंहो वयश्छदिश्छन्दः। पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दः। उक्षा वयः ककुप् छन्दः। ऋषभो वयः सतो बृहती छन्दः॥ १॥

अनड्वान् वयः पंक्तिश्छन्दः। धेनुर्वयो जगती छन्दः। त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दः।

एवः षोडशभिर्मन्त्रैः सप्तर्षय इत्येकया ॥

दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः । पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दः । त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्दः । तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः । लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् । त्वम् । इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् । ता अस्य सूददोहसः—सोमँ श्रीणन्ति पृश्नयः । जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः । इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्र व्यचसं गिरः । रथीतमँ रथीनां वाजानाँ सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

(य० सं० १४–९, १०) इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् ।

मा छन्दः । प्रमा छन्दः । प्रतिमा छन्दः । अस्रीवयश्छन्दः । पङ्क्तिश्छन्दः । उष्णिक् छन्दः । बृहती छन्दः । अनुष्टुप् छन्दः । विराट् छन्दः । गायत्री छन्दः । त्रिष्टुप् छन्दः । जगती छन्दः ॥ १ ॥

पृथिवी छन्दः । अन्तरिक्षं छन्दः । द्यौश्छन्दः । समाश्छन्दः । नक्षत्राणि छन्दः । वाक् छन्दः । मनश्छन्दः । कृषिश्छन्दः । हिरण्यं छन्दः । गौश्छन्दः । अजा छन्दः । अश्वश्छन्दः ॥ २ ॥

अग्निर्देवता । वातो देवता । सूर्यो देवता । चन्द्रमा देवता । वसवो देवता । रुद्रा देवता । आदित्या देवता । मरुतो देवता । विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिर्देवता । इन्द्रो देवता । वरुणो देवता ॥ ३ ॥ (य० सं० १४–१८, १९, २०) इति मन्त्रत्रयेण

एवश्छन्दः । वरिवश्छन्दः । शम्भूश्छन्दः । परिभूश्छन्दः । आच्छश्छन्दः । मनश्छन्दः । व्यचश्छन्दः । सिन्धुश्छन्दः । समुद्रश्छन्दः । सरिरं छन्दः । ककुप् छन्दः । त्रिककुप् छन्दः । काव्यं छन्दः । अंकुप् छन्दः । अक्षरपंक्तिश्छन्दः । विष्टारपंक्तिश्छन्दः । क्षुरो भ्रजश्छन्दः ॥ १ ॥ (य० सं० १५–४) ॥

आच्छश्छन्दः । प्रच्छश्छन्दः । संयच्छन्दः । वियच्छन्दः । बृहच्छन्दः । रथन्तरं छन्दः । निकायश्छन्दः । विवधश्छन्दः । गिरश्छन्दः । भ्रजश्छन्दः । सँस्तुप् छन्दः । अनुष्टुप् छन्दः । एवश्छन्दः । वरिवश्छन्दः । वयश्छन्दः । वयस्कृच्छन्दः । विष्पर्धाश्छन्दः । विशालं छन्दः । छदिश्छन्दः । दूरोहणं छन्दः । तन्द्रं छन्दः । अङ्काङ्कं छन्दः ॥ २ ॥ (य० सं० १५–५) ॥

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व । प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व । अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व । सन्धिनाऽन्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व । प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व । विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व । प्रवयाऽह्नाऽहर्जिन्व । अनुया रात्र्या रात्रीं जिन्व । उशिजा वसुभ्यो वसून् जिन्व । प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्यान् जिन्व ॥ ३ ॥

(य० सं० १५–६) ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व । सँसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व । ऐडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्व । उत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व । वयोधसाऽधीतेनाधीतं जिन्व । अभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ४ ॥ (य० सं० १५–७) ॥

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वा । अनुपदस्यनुपदे त्वा । सम्पदसि सम्पदे त्वा । तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ५ ॥ (य० सं० १५-८) ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा । प्रवृदसि प्रवृते त्वा । विवृदसि विवृते त्वा । सवृदसि सवृते त्वा । आक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा । संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वा । उत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वा । उत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वा । अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ६ ॥ (य० सं० १५-९)

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥७॥ (य० सं० १५-१०) ॥

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु॥८॥ (य० सं० १५-११) ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ ९ ॥ (य० सं० १५-१२) ॥

स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविᳬशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजᳬ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १० ॥ (य० सं० १५-१३) ॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिᳬशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याᳬ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताᳬ शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ ११ ॥ (य० सं० १५-१४) ॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनाग्रामण्यौ ।

यथोक्तꣳ स्विष्टकृत् ॥ ४ ॥ प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वाऽलङ्कृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन् ॥ ५ ॥ [1]वासोयुग्मꣳ धेनुर्दक्षिणा च ॥ ६ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ७ ॥

इति उत्सर्गसूत्रं समाप्तम् ॥

स्विष्टकृत् आदि गृह्योक्त विधि से होम हो जाने पर ॥ ४ ॥

पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १२ ॥ (य० सं० १५–१५) ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथे चित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १३ ॥

(य० सं० १५–१६)

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १४ ॥

(य० सं० १५–१७)

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ । विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१५॥ (य० सं० १५-१८)

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ । उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥ (य० सं० १५–१९) एतैः षोडशभिर्मन्त्रैरित्यर्थः ।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥१७॥ (य० सं० ३४–५५) ॥

१. अत्र सर्वपुस्तकेषु 'जपन्नाचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासाꣳसि धेनुर्दक्षिणा' इत्येव पाठ उपलभ्यते कामदेवाचार्येण च पाठान्तरतयोल्लिखितस्तथाप्यस्माभिर्भाष्यकारसम्मत एव मूले स्थापित इति बोध्यम् ।

संस्रव प्राशन के बाद [यदि बावली की प्रतिष्ठा हो तो] उसमें मछली आदि जल जीवों को छोड़कर, सींग आदि को सजाकर गाय को उसमें तैराकर, पुरुषसूक्त का जप करते हुए उत्सर्ग करे ॥ ५ ॥

आचार्य के लिए स्वीकृति देकर कर्णवेष्टक, वस्त्र और गाय दक्षिणा स्वरूप देनी चाहिए ॥ ६ ॥

उसके बाद [दस या ग्यारह] ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ ७ ॥
विशेषः—'अथ' शब्द मङ्गलार्थ है जिसका अर्थ आनन्तर्य है। 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त है ॥ ७ ॥

॥ इस प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट के उत्सर्ग सूत्र की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥

इत्यादिना। एवमत्रापि ज्ञेयमित्यलं विस्तरेण। स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी, 'स्थालीपाकस्यावयवं जुहोति' इत्येवम्। यद्वा, कर्मणि षष्ठी ॥ ३ ॥

'यथोक्तठं. स्विष्टकृत्'। स्विष्टकृदादि गृह्योक्तप्रकारेण कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

'प्राश···पन्'। स्विष्टकृद्धोमानन्तरं भूरादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं च कृत्वा पूर्णपात्रवरयोरन्यतरद्ब्रह्मणे दत्त्वा जलचराणि मत्स्यादीनि प्रत्यक्षाणि प्रतिमारूपाणि वा जलमध्ये प्रक्षिप्य सौवर्णशृङ्गाद्यलङ्कृतां गां 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशर्चं पुरुषसूक्तं त्रैस्वर्येण पठन् ऐशानाभिमुखीं जलेऽवगाह्य ब्राह्मणाय प्रतिपादयेत्। अत्र मदनरत्ने मत्स्यपुराणोक्तो विशेषः—

जलाशयं च त्रिवृता सूत्रेण परिवेष्टयेत्।
पात्रीमादाय सौ[1] वर्णीं पञ्चरत्नसमन्विताम् ॥

ततो निक्षिप्य मकरं मत्स्यादींस्तांश्च सर्वतः।
धृतां चतुर्भिर्विप्रैस्तु वेदवेदाङ्गपारगैः ॥

महानदीजलोपेतां दध्यक्षतविभूषिताम्।
उत्तराभिमुखो न्युब्जां जलमध्ये तु कारयेत् ॥

---

१. 'सौवर्णीम्' ख०।

आथर्वणेन साम्ना तु पुनर्मामित्यृचेति च।
आपोहिष्ठेति मन्त्रेण क्षिप्त्वाऽऽगत्य च मण्डपम् ॥ इति ।

आथर्वणं साम—'शं नो देवी' इत्यस्यामृचि गीतमिति व्याख्यातं च। भविष्योत्तरेऽपि—

सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलम् ।
रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥

एवं जलं जले क्षिप्त्वा पूजयेज्जलमातरः ।
तोष्याः कर्मकराः सर्वे कुद्दालानि च पूजयेत् ॥ इति ।

बह्वृचगृह्यपरिशिष्टे तु जलावतारितगोदानान्ते 'तत उत्सर्गं कुर्यात्—देवपितृमनुष्याः प्रीयन्तामिति, यश्चोत्सृजत इत्याह शौनकः' इत्युत्सर्ग उक्तः । मत्स्यादीनां विशेषोऽपि मदनरत्न एव—

सौवर्णौ कूर्ममकरौ राजतौ मत्स्यदुन्दुभौ ।
ताम्रौ कुलीरमण्डूकावायस्कः शिशुमारकः ।

दुन्दुभो राजिलः । एते स्वर्णपात्र्यां स्थाप्या इति ॥ ५ ॥

'वासो···क्षिणा च'। चकारो द्रव्यसमुच्चयार्थः, वासोयुग्मं धेनुश्च दक्षिणेति यावत् । इयं च दक्षिणा आचार्यस्यैव । ततश्च तस्यापि वरणम् । ब्रह्मणस्तु पूर्णपात्रादिकैव, तथाच पाठान्तरम्—'गां तारयित्वाऽऽचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनुर्दक्षिणा च' इति । यद्वा स्मार्ते कर्मणि यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति भाष्यकारीयसिद्धान्तात् 'उपदिष्टेनातिदिष्टं बाध्यते' इति न्यायात्पूर्णपात्रा[1]दिकं बाधित्वैव प्रवर्तते धुर्यौ दक्षिणेतिवत् । अत एव प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वेत्यत्र प्राशनान्तग्रहणं प्राकृतकाल-विशिष्टदक्षिणाबाधार्थम् । जलचरप्रक्षेपादेरपूर्वत्वेन न्यायात्प्राशनान्त एव प्राप्तत्वात्पश्चादग्नेर्भद्रपीठ इत्यादिवत् । पाठान्तरपक्षे तु वैवाहिकवरदान-वदुपद्रष्टृविषया स्वकीयाचार्यविषया वा इयमधिका अन्यैव ॥ ६ ॥

'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । 'कर्तव्यम्' इति सूत्रशेषः । दशैकादश वाऽवश्यं भोजनीयाः,

गर्भाधानादिभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणान् भोजयेद्दश ।

इति परिशिष्टकारोक्तेः ।

ततः सहस्रं विप्राणामथवाऽष्टशतं तथा ।
भोजयेच्च यथाशक्त्या पञ्चाशद्वाऽथ विंशतिम् ॥

---

१. 'पात्रादिकाम्' ग० ।

इति मत्स्यपुराणोक्तवचनं तु ममर्थविषयम् ॥ ७ ॥

इति श्रीदीक्षितकामदेवकृतं गृह्यपरिशिष्टकण्डिकाया भाष्यं समाप्तम् ।

अथ प्रयोगः—तत्र कालविशेषो मदनरत्ने—'अनधिकालुप्तसंवत्सरे असिंहमकरस्थगुरौ अगुर्वादित्ये अमलमासक्षयमासे अलुप्तदिनद्वये पक्षे अनवमदिनादौ भूकम्पाशन्युल्काद्यद्भुतदोषरहिते काले उत्तरायणे माघफाल्गुनचैत्रवैशाखज्येष्ठाषाढान्यतममासे रविशुद्धावयनद्वयविषुवद्वयकन्यामीनधनुरन्यतमसंक्रान्तौ शुक्लपक्षे द्वितीयातृतीयापञ्चमीसप्तमीदशमीत्रयोदशीपौर्णमाशीनामन्यतमतिथौ शनिमङ्गलान्यवारेषु भरणीकृत्तिकाऽऽर्द्रापुनर्वस्वाश्लेषामघापूर्वाफाल्गुनीविशाखाव्यतिरिक्तनक्षत्रेषु विष्कम्भातिगण्डव्याघातवज्रव्यतीपातपरिघवैधृतिव्यतिरिक्तकरणेषु यजमानस्य चन्द्रताराविशुद्धौ बुधशुक्रगुरुचन्द्रनिरीक्षिते लग्ने जलाशयोत्सर्गं कुर्यात्' इति । एवमुक्तकाले जलाशयस्योदगैशान्यप्राक्पश्चिमान्यतमदिशि समीपे एव प्रागुदक्प्रवणे सुसमे भूभागे पूर्वं दशहस्तादिमण्डपं विधायालङ्कृत्य तत्र स्वासने प्राङ्मुख उपविश्य पवित्रपाणिः स्वाचान्तः प्राणानायम्य श्रीविष्णुस्मरणपूर्वकं देशकालादिसङ्कीर्तनान्ते—'श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं तडागप्रतिष्ठापनमहं करिष्ये' । एवमारामादिष्वप्यूहेन सङ्कल्पं कृत्वा 'तदङ्गत्वेन गणपतिपूजानान्दीश्राद्धनवग्रहयज्ञांश्च करिष्ये' इति पुनः सङ्कल्प्य क्रमेणैतानि कुर्यात् । ऋत्विग्वरणानन्तरं वा पुण्याहवाचनम् । ततो ग्रहमखानन्तरं प्रधानाङ्गत्वेन पुनराचार्यस्य ब्रह्मणश्च वरणं कुर्यात् । तत्र वाक्यम्—'कर्तव्यामुकजलाशयप्रतिष्ठापनेऽमुकगोत्रामुकशर्मन् ! त्वमाचार्यो भव' इति । 'भवामि' इति प्रतिवचनम् । एवं—'ब्रह्मा भव' इति । ततो यथाशक्ति तयोः पूजनं क्रमेण प्रार्थनञ्च—

> आचार्यस्तु यथा स्वर्गे शक्रादीनां बृहस्पतिः ।
> तथा त्वं मम यज्ञेऽस्मिन्नाचार्यो भव सुव्रत ॥
> यथा चतुर्मुखो ब्रह्मा सर्ववेदविशारदः ।
> तथा त्वं मम यज्ञेऽस्मिन् ब्रह्मा भव द्विजोत्तम ॥ इति ।

सदस्यवरणं कृताकृतम् । पक्षे आचार्यवरणस्याप्यभावः । ततो वृतश्चेदाचार्यः अथवा यजमानः स्थण्डिले पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्निं स्थापयित्वा वारुणं यवमयं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा आज्यभागान्ते आज्येनैव 'त्वं नो अग्ने' इत्यादिभिर्दशभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं दशाहुतीर्जुहुयात् । तद्यथा—ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये० । १ । ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय० । २ । ॐ अग्नये स्वाहा, इदमग्नये० । ३ । ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय० । ४ । त्वं नो अग्न इति वामदेवऋषिः अग्नीवरुणौ देवते त्रिष्टुप् छन्दः

आज्याहुतिहोमे वि० । ॐ त्वं नो अग्ने० प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा, इदमग्नीवरुणाभ्यां न मम ॥ १ ॥ स त्वम् इति वामदेवऋषिः अग्नीवरुणौ देवते-त्रिष्टुप् छन्दः आज्याहु० । ॐ सत्वं नो० एधि स्वाहा, इदमग्नीवरुणाभ्यां० । २ । इमं म इति शुनःशेप० वरुणो दे० गायत्री० आज्या० । ॐ इमं मे० चके स्वाहा, इदं वरुणाय० । ३ । तत्वायामीति शुनःशेप० वरुणो दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ तत्वायामि० प्रमोषीः स्वाहा, इदं वरुणाय० । ४ । येते शतमिति वामदेव० त्रिष्टुप्० वरुणः सविता विष्णुर्विश्वेदेवा मरुतः स्वर्का देवताः आज्या० । ॐ येते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः स्वाहा, इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्क्केभ्यश्च न मम । ५ । अयाश्चाग्ने इति वामदेव० त्रिष्टुप्० अग्निर्देवता आज्या० । ॐ अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि । अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजठं्. स्वाहा, इदमग्नये० । ६ । 'अयसे' इत्यधिकमिति केचित् । उदुत्तममिति शुनःशेप० वरुणो दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ उदुत्तमं० स्याम स्वाहा, इदं वरुणाय न मम । ७ । उरुठं्. हि राजेति शुनःशेप० त्रिष्टुप्० वरुणो दे० आज्या० । ॐ उरुठं्. हि राजा० श्चित् स्वाहा, इदं वरुणाय न मम । ८ । वरुणस्योत्तम्भनमिति पञ्चयजुषां प्रजापति० वरुणो० यजूठं्षि आज्या० । ॐ वरुणस्योत्तम्भन० मासीद स्वाहा, इदं वरुणाय० । ९ । अग्नेरनीकमिति प्रजापति० अग्निर्दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ अग्नेरनीक० रुण्यत्स्वाहा इदमग्नये । १० ।

अभिघार्य स्थालीपाकं जुहुयात् । तत्र मन्त्राः—ॐ अग्नये स्वाहा, इदमग्नये० । १ । ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय० । २ । ॐ वरुणाय स्वाहा, इदं वरुणाय० । ३ । ॐ यज्ञाय स्वाहा, इदं यज्ञाय० । ४ । ॐ भीमाय स्वाहा, इदं भीमाय० । ५ । ॐ उग्राय स्वाहा, इदमुग्राय० । ६ । ॐ शतक्रतवे स्वाहा, इदं शतक्रतवे० । ७ । ॐ व्युष्टयै स्वाहा, इदं व्युष्टयै० । ८ । ॐ स्वर्गाय स्वाहा, इदं स्वर्गाय० । ९ । अथ ब्रह्मणाऽन्वारब्ध ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते० । १० ।

तत आज्येन भूरादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्जुहुयात् । तद्यथा—ॐ भूः स्वाहा, इदमग्नये० । १ । ॐ भुवः स्वाहा, इदं वायवे० । २ । ॐ स्वः स्वाहा, इदं सूर्याय० । ३ । ॐ त्वन्नो अग्ने । ४ । ॐ सत्वं नो अग्ने । ५ । ॐ अयाश्चाग्ने । ६ । ॐ ये ते शतम् । ७ । ॐ उदुत्तमम् । ८ । ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये० । ९ ।

ततः संस्रवप्राशनम् । १ । पवित्राभ्यां मार्जनम् । २ । पवित्रप्रतिपत्तिः । ३ । प्रणीताविमोकः । ४ । ब्रह्मणे पूर्णपात्रदानम्—कृतैतदुत्सर्गहोमसाङ्गतासिद्ध्यर्थमिदं पूर्णपात्रं ब्रह्मन् तुभ्यमहं सम्प्रददे, तेन श्रीकर्माङ्गदेवता प्रीयताम् । ५ ।

अथ शास्त्रान्तराज्जलाशयं त्रिवृता सूत्रेण ईशानादिप्रादक्षिण्येन परिवेष्टय तत्र जलचराणि प्रक्षिपेत् । तत्र प्रकारविशेषो यथा मदनरत्ने मत्स्यपुराणोक्तः—पञ्चरत्नसमन्वितां संस्थापितमकरादिकां सौवर्णीं पात्रीं समादाय जलाशयसमीपे प्राङ्मुखस्तिष्ठन् दक्षहस्तेनैव पूर्वं मकरं प्रक्षिप्य ततः सर्वतो मत्स्यादीन् प्रक्षिपेत् । तेऽपि—

सौवर्णौ कूर्ममकरौ राजतौ मत्स्यदुन्दुभौ ।
ताम्रौ कुलीरमण्डूकावायसः शिशुमारकः ॥

इति द्रव्यविशेषतो ज्ञेयाः । ततस्तां पात्रीं गङ्गादिमहानदीजलोपेतां दध्यक्षतविभूषितां कृत्वा उत्तराभिमुखस्तिष्ठन् 'आपोहिष्ठा' इति तिसृभिर्ऋग्भिर्जलमध्ये न्युब्जां कुर्यात् । आपोहिष्ठेति तिसृणां सिन्धुद्वीप ऋषिः आपो देवता गायत्री छन्दः पात्रीन्युब्जीकरणे विनियोगः । 'ॐ आपोहिष्ठा" च नः' इति तां न्युब्जीकुर्यात् । ततः सुवर्णशृङ्गादियथाशक्त्यलङ्कृतां गां पुरुषसूक्तं जपन् तारयेत् । विशेषः पाराशरस्मृतौ—

अरोगां वत्ससंयुक्तां सुरूपां भूषणान्विताम् ।
गोवत्सौ वस्त्रबद्धौ तावाग्नेय्यां दिशि संस्थितौ ॥
वायव्याभिमुखौ तत्र तारयेद्वारिमध्यतः ॥ इति ।

पुरुषसूक्तस्य नारायणः पुरुष ऋषिः जगद्बीजं पुरुषो देवता पञ्चदशानामनुष्टुप् छन्दः जले गोरवतारणे विनियोगः । ॐ—सहस्रशीर्षा० देवाः ।

ततो यजमानो नित्यतर्पणवद्देवर्षिपितृतर्पणं गोपुच्छाग्रे कुर्यात् । प्राङ्मुखः स्वयमुदक्स्थितायाः पुच्छाग्रे नित्यतर्पणं कृत्वा ततो—

ब्रह्माद्या देवताः सर्वे ऋषयो मुनयस्तथा ।
असुरा यातुधानाश्च मातरश्चण्डिकास्तथा ॥
दिक्पाला लोकपालाश्च ग्रहदेवाधिदेवताः ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु गोपुच्छोदकतर्पिताः ॥
विश्वेदेवास्तथाऽऽदित्याः साध्याश्चैव मरुद्गणाः ।
क्षेत्रपीठोपपीठानि नदा नद्यश्च सागराः ॥ ते० ।
पातालनागकन्याश्च नागाश्चैव सपर्वताः ।
पिशाचा गुह्यकाः प्रेता गन्धर्वा गणराक्षसाः ॥ ते० ।

पृथिव्यापश्च तेजश्च वायुराकाशमेव च ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च ये च पातालवासिनः ॥ ते० ।
शिवः शिवास्तथा विष्णुः सिद्धिर्लक्ष्मीः सरस्वती ।
तपोवनानि भगवानव्यक्तः परमेश्वरः ॥ ते० ।
क्षेत्रौषधिलता वृक्षा वनस्पत्यधिदेवताः ।
कपिलः शेषनागश्च तक्षकोऽनन्त एव च ॥ ते० ।
अन्ये जलचरा जीवा असंख्यातास्त्वनेकशः ।
चतुर्दश यमाश्चैव ये चान्ये यमकिङ्कराः ॥ ते० ।
सर्वेऽपि यक्षराजानः पक्षिणः पशवश्च ये ।
स्वेदजोद्भि[1]ज्जजा जीवा अण्डजाश्च जरायुजाः ॥ ते० ।
अन्येऽपि वनजीवा ये दिवा निशि विहारिणः ।
अजागोमहिषीरूपा ये चान्ये पशवस्तथा ॥
शान्तिदाः शुभदास्ते स्युर्गोपुच्छोदकतर्पिताः ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं ये चान्ये गोत्रिणो मृताः ॥ ते० ।
सर्पव्याघ्रहता ये च शस्त्रघातमृताश्च ये ।
संस्काररहिता ये च रौरवादिषु गामिनः ॥ ते० ।
वृक्षत्वं च गताः केचित् तृणगुल्मलताश्च ये ।
यातनासु च घोरासु जातीषु विविधासु च ॥ ते० ।
नरकेषु च घोरेषु पतिताः स्वेन कर्मणा ।
देवत्वं मानुषत्वं वा तिर्यक्प्रेतपिशाचताम् ॥
कृमिकीटपतङ्गत्वं याता ये च स्वकर्मभिः ॥ ते० ।
पितृवंशे० ज्ञाता २ कुले मम ।
ते पिबन्तु मया दत्तं गोपुच्छस्य तिलोदकम् ॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
ते पिब० गोपुच्छस्य तिलोदकम् ।
आब्रह्मस्तं० इदमस्तु तिलोदकम् ॥

गोप्रार्थना—

पञ्च गावः समुत्पन्ना मथ्यमाने महोदधौ ।
तासां मध्ये तु या नन्दा तस्यै देव्यै नमो नमः ॥

चन्दनपुष्पैः पूजयेत् । यथा–पृष्ठे ब्रह्मणे नमः । गले–विष्णवे नमः । मुखे–रुद्राय नमः । मध्ये–देवगणेभ्यो नमः । रोमकूपे–महर्षिभ्यो नमः ।

---

१. 'उद्भिज्जजाः' ग० ।

पुच्छे—नागेभ्यो नमः। खुराग्रे कुलपर्वतेभ्यो नमः। मूत्रे गङ्गादिनदीभ्यो नमः। नेत्रयोः शशिभास्कराभ्यां नमः।

एते यस्याः स्तनौ देवाः सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे ॥

अथ दानम्! केचिदीशानकोणमार्गेण तां निष्काश्य ब्राह्मणाय दद्यादित्याहुः, तत्र वचनमन्वेषणीयम्।

आज्यपात्रं करे कृत्वा कनकेन समन्वितम्।
निक्षिप्य पुच्छं तस्मिँस्तु घृतदिग्धं प्रगृह्य च ॥
सतिलं विप्रपाणौ तु प्रागग्रं तन्निधाय च।
सतिलं सकुशं चापि गृहीत्वा दानमाचरेत् ॥

ततो गोपुच्छं हस्ते गृहीत्वा कुशयवजलान्यादाय—'अद्येत्यादि० दशपूर्वं-दशपरात्मीयपुरुषसहितात्मनः सम्भावितनरकोद्धरणपूर्वकम् ऐहिकसकल-समृद्धिप्राप्तिपूर्वकसवत्सगोरोमसमसङ्ख्यवर्षस्वर्गप्राप्तिकामः इमां गां रुद्रदैवतां सुवर्णशृङ्गीं रौप्यखुरां ताम्रपृष्ठीं कांस्यदोहां मुक्तादामघण्टा-चामरविभूषितां रत्नपुच्छीं सुवस्त्राच्छादितां कृतैतदुत्सर्गसाङ्गतासिद्धय-र्थममुकगोत्रायामुकशाखाध्यायिनेऽमुकशर्मणे ब्राह्मणाय तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम, इति प्रागग्रं पुच्छं विप्रहस्ते दद्यात्। ॐ स्वस्ति इति विप्रः। ततः कामस्तुतिं पठेत्—'कोऽदात्' इति मन्त्रः। गोदानसाङ्गतासिद्धयर्थं दक्षिणां दद्यात्। कूपवाप्योस्तूपरि गोस्त्रि[1]र्भ्रामणमिति निबन्धकाराः ॥

अथात्र सूत्रानुक्तमपि पौराणिकमुत्सर्गादिकं फलाधिक्यात्कर्तव्यम्। तद्यथा—यजमानः कुशाक्षतजलान्यादाय प्राङ्मुखः सन् पठेत्—

सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलम्।
रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥

इति जलमध्ये जलप्रक्षेपेणोत्सर्गं कुर्यात्। यद्वा देवपितृमनुष्याः प्रीयन्ता-मित्युत्सर्गमन्त्रः। ततो जलाशये गङ्गोदकादितीर्थोदकानि। जलाशयं स्पृष्ट्वा पञ्चमन्त्रान् पठेत्—

कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा प्रभासः पुष्कराणि च।
एतानि पञ्चतीर्थानि तडागे निवसन्तु मे ॥
वितस्ता कौशिकी सिन्धुः सरयूश्च सरस्वती।
एतानि पञ्च० ॥

---

१. 'त्रिभिः' ग०।

दशार्णा मुरला सिन्धुरयावर्त्तदृषद्वती ।
एतानि पञ्च तीर्थानि० ॥

यमुना नर्मदा रेवा चन्द्रभागा च वेदिका ।
एतानि पञ्च० ॥

गोमती वाङ्मती शोणो गण्डकी सागरस्तथा ।
एतानि पञ्च० ॥

कूपोत्सर्गपक्षे—'निपाने निवसन्तु मे' इत्यूहः । 'प्रवाप्यां निवसन्तु' इति च वाप्यामूहः ततो जलमातृपूजा चन्दनपुष्पादिना । [1]सा यथा—'ॐ ह्रियै नमः' । 'ॐ श्रियै नमः' । ॐ शच्यै नमः' । 'ॐ मेधायै नमः' । 'ॐ विश्वायै नमः' । 'ॐ लक्ष्म्यै नमः' । इत्येतैर्मन्त्रैः 'जलमातृभ्यो नमः' इत्यनेन वा जलमातृपूजनं कृत्वा—

तोष्याः कर्मकराः सर्वे कुद्दालानि च पूजयेत् । इति ।

ततो मण्डपमागत्य वस्त्रयुग्मं धेनुं च दक्षिणामाचार्याय दद्यात् । अत्र पाराशरस्मृतौ विशेषः—

अर्द्धं शतं शतं वाऽपि विंशमष्टोत्तरं शतम् ।
गोसहस्रं शतं वाऽपि शतार्द्धं वा प्रदीयते ॥
अलाभे चैव गां दद्यादेकामपि पयस्विनीम् ।
अरोगां वत्ससंयुक्तां सुरूपां भूषणान्विताम् ॥ इति ।

पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्, तथा सत्येवं ११०० वा १०५० वा १०८ वा १०० वा ५० वा २० वा १ । कृतस्यामुकजलाशयस्य प्रतिष्ठाकर्मणः साङ्गतासिद्धयर्थम् इदं बार्हस्पत्यं वासोयुग्मं रुद्रदैवतां धेनुं च दक्षिणामाचार्याय तुभ्यमहं संप्रददे न मम, तेन श्री कर्माङ्गदेवताः प्रीयन्तामिति । ततः—

शरण्यं सर्वलोकानां लज्जाया रक्षणं परम् ।
सुवेषधारि त्वं यस्माद्वासः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
धेनो त्वं पृथिवी सर्वा यस्मात्केशवसन्निभा ।
सर्वपापहरा नित्यमतः शान्ति प्रयच्छ मे ॥

इति दानमन्त्रौ पठेत् । 'ॐ द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु' इत्याचार्यस्य प्रतिग्रहमन्त्रः । पाराशरीये—

---

१. 'ता यथा' ग०

वस्त्रयुग्मानि विप्रेभ्यश्छत्रिका मुद्रिकाः शुभाः ।
दद्याद्विप्रेभ्यः सन्तोष्य छत्रोपानहमेव च ॥
सुहेमपुरुषयुक्तां शय्यां दद्याच्च शक्तितः ॥

सुहेमपुरुषो लक्ष्मीनारायणप्रतिमा ।

आसनानि च शस्तानि भाजनानि निवेदयेत् ।
प्रसादयेद् द्विजान्भक्त्या इच्छन् पूर्तफलं नरः ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा विप्राणामग्रतः स्थितः ।
ब्रूयाद्देवा भवन्तोऽत्र सर्वे विप्रवपुर्धराः ॥
तटं यूयं तारयध्वं[1] संसारार्णवतो द्विजाः ।
आगता मम पुण्येन पूर्तधर्मप्रसाधकाः ॥

इति विप्रप्रार्थना ।

ततः सहस्रं विप्राणामथवाऽष्टशतं तथा ।
भोजयेच्च यथाशक्त्या पञ्चाशद्वाऽथ विंशतिम् ॥

इति मात्स्यवचनम् । यद्वा—

गर्भाधानादिभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणान् भोजयेद्दश ॥

इति परिशिष्टकारोक्तेः 'दशावरान् ब्राह्मणान् भोजयिष्ये' इति सङ्कल्पः । ततस्तानविलम्बेन भोजयेत् । दीनानाथेभ्यो भूयसीश्च दत्त्वा कर्म ईश्वरार्पणं कुर्यात्—कृतैतत्कर्म लक्ष्मीनारायणार्पितमस्तु । तत आचार-प्राप्तं तिलकाशीर्वादादि आरामप्रतिष्ठायां तु वृक्षाणां वस्त्रैरभावे सूत्रैर्वेष्ट-नम् । जलमातृकापूजास्थाने—'वनस्पतिभ्यो नमः' इति वृक्षेषु वनस्पति-पूजनम् । 'देवपितृमनुष्याः प्रीयन्ताम्' इत्यनेनैव पाक्षिक उत्सर्गः । कृतस्यारामप्रतिष्ठापनकर्मणः साङ्गतासिद्ध्यर्थम्० इति दक्षिणादानादौ प्रयोगः । गोभ्रमणं मध्ये । उत्तरतो निष्कासनम् । जलचरप्रक्षेपस्य जला-शयस्पर्शजपादेश्चाभावः । एवं देवालयप्रतिष्ठायां सूत्रादिना वेष्टनम् । आचारादुपरि ध्वजबन्धनम् । 'अमुकदेवतायतनाय नमः' इति पूजनं च । कृतस्य देवायतनप्रतिष्ठाकर्मणः साङ्गतासिद्ध्यर्थम्० इति दक्षिणादानादौ प्रयोगः । चतुःषष्टिपदवास्तुपूजनमपीति विशेषः । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् । यजमानस्य स्वकर्तृत्वपक्षे तु आचार्यवरणाभावः । दक्षिणादानं ब्रह्मणे पूर्णपात्रादिस्थाने । यद्वा वैवाहिकवरदानवदुपद्रष्ट्रे, उपनयनपूर्वकवेदा-

---

१. 'तारयध्वं (मां) सं' ग० ।

ध्यापकाचार्याय वा । ग्रहयज्ञस्य प्रधानेन सह 'समानतन्त्रता वा। तत्राज्यभागान्ते—'वरुणस्योत्तम्भनम्' इति कण्डिकया आज्याहुतिरेका। ततः समिद्धोमः। ततो दशर्चेन ग्रहचरुहोमपूर्वको वरुणचरुहोमः। ततस्तिलहोमादि। एवमासादनादावपि क्रमो बोद्धव्यः। ग्रहयज्ञाङ्गत्वेन मण्डपकरणपक्षे तु शत[2] पदवास्तुबलिदानमण्डपप्रतिष्ठादिकमप्यधिकम्। प्रासादप्रतिष्ठायां तु मण्डपाभावपक्षेऽपि नियमेन चतुःषष्टिपदो वास्तुरित्युक्तम्। इत्यलं ग्रन्थगौरवेण ॥ * ॥

इति श्रीमदग्निचिद्दीक्षितविश्वामित्रात्मजदीक्षितकामदेवकृता उत्सर्गसूत्रकण्डिकायाः सभाष्यपद्धतिः समाप्तिं पफाण ॥ * ॥

१. 'समानं तंत्रता' ग० ।
२. 'शतपदं वास्तु बलिदान' ख० ।

ग्रन्थ–ग्रन्थकारानुक्रमः

---*---

मन्त्रानुक्रमः

सूत्रानुक्रमः